ओ३म

सामवेद

भाषा - भाष्य

आर्य समाज, रामकृष्णपुरम

सामवेद

भाषा-भाष्य

भाष्यकार
हरिशरण
सिद्धान्तालंकार

With Best wishes and
Deep Regards presented to
Dr Kalyan Dass ji
by Arya Samaj R.K. Puram

ओं
मे मनसा आकूति सत्या सन्तु..

स्वामी सत्यपति
५. 12. 62.

ओ३म्

सामवेद

(भाषा—भाष्य)

—पूर्वार्चिक—

●

भाष्यकार

पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार

●

प्रकाशक

आर्यसमाज

१/२४८ रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली-२२

●

प्रमुख-वितरक—मधुर-प्रकाशन, बाजार सीताराम, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण] दीपावली २०२९ [मूल्य १४) रुपये

प्रकाशक :—
आर्यसमाज
१/२४८ रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली-२२

◆

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

◆

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान
मधुर प्रकाशन,
आर्यसमाज मन्दिर, बाजार सीताराम, दिल्ली-६

◆

मूल्य—१४ रुपये
प्रथम संस्करण—१९७३

◆

विराट् प्रिंटिंग एजेन्सी
द्वारा
सैनी प्रिंटर्स, दिल्ली-६ में मुद्रित

ओ३म्

आर्यसमाज रामकृष्णपुरम् की ओर से––

प्रकाशकीय निवेदन

प्रभु की शाश्वत् अमर वाणी श्रेष्ठ पाठकगणों को भेंट

वेद प्रभु की वाणी है। सृष्टि के आरम्भ में विश्व के कल्याणार्थ प्रभु ने चार आदि ऋषियों द्वारा वेदविद्या की अमूल्य निधि को मानव-जाति को प्रदान किया। सामवेद का प्रकाश सर्वप्रथम आदित्य ऋषि द्वारा हुआ। यह वैदिक धर्म ही कणाद ऋषि के कथनानुसार 'यतोऽभ्युदय निः श्रेयस् सिद्धिः स धर्मः' इहलौकिक व पारलौकिक दोनों ही को मानवहेतु सुख, शांति व आनन्दप्रद बनाने वाला है।

सामवेद में उपासना काण्ड प्रधान है। इसमें प्रभु की स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना के मंत्रों का संकलन है, जिनकी संख्या १८७५ है। इसके दो भाग हैं—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में ६५० व उत्तरार्चिक में १२२५ मंत्र हैं।

साम का अर्थ गायन माना जाता है। यह वेद (अथवा ज्ञान) प्रभु अर्चना का है। अतः जब भक्त प्रेम में विह्वल होता है तो स्वाभाविक है कि आत्म विभोर होकर गुनगुनाये। वेद के गायन की विधि तथा पाठ के अनेक प्रकार हैं। साम गायन द्वारा यदि मानव सोम को पान करे तो निःसन्देह ही चरमलक्ष्य मोक्ष्यामृत को प्राप्त कर सकता है।

कृष्ण ने गीता में सामवेद को सर्वोत्तम माना है। इसकी अनेक शाखाएं, कुछेक ब्राह्मण ग्रन्थ तथा केन व छान्दोग्य दो उपनिषद् हैं। यह प्रभु की उपासना का वेद होने के कारण चारों वेदों में छोटा व नित्यप्रति स्वाध्याय तथा परमात्मा के स्तवन की पुस्तक है।

सामवेद के कुछेक भाष्य पहले से उपलब्ध हैं; परन्तु यह भाष्य जिसके रचयिता पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार हैं अपनी अनूठी विशेषताओं से परिपूर्ण है। पंडित जी की शैली अद्वितीय, महर्षि दयानन्द सरस्वती की पद्धति के अनुसार, व्याकरण धातुपाठ आदि से संयुक्त एवं जहां यह भाष्य उद्भट् विद्वानों तथा पंडितों के लिये विचार-विमर्श व ज्ञान-चर्चा की विषय-सामग्री है, वहां यह साधारण जन सामान्य के लिये रोचक, प्रेरणादायक सरस, सरल, सुबोध तथा सहज ही हृदयंगम होने वाला है।

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'—अतः 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' का नारा सफल होवे, इस पवित्र भावना से इस समाज ने यह गुरुतर भार संभाला और हम सबकी यही कामना है कि प्रत्येक समाज वैदिक साहित्य के प्रकाशन, प्रचार व प्रसारण में उसी आस्था व श्रद्धा से कार्य करे जैसे कि हम नित्यप्रति संध्या, यज्ञ-हवन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

हमारी समाज के मान्य प्रधान श्री हरवंशलाल जी पुरी तथा समाज के वरिष्ठ श्री मंत्री जगदीशसिह जी वर्मा के अनथक प्रयास से, जिन्होंने अपना तन-मन-धन लगाकर इस पावन कार्य को सफलता की प्रथम सीढ़ी तक पहुंचाया, इन दोनों का हम कैसे व किन शब्दों में धन्यवाद करें। श्री पं० पुरुषोत्तम जी शर्मा, श्री पं० मनोहर जी विद्यालंकार, आचार्य जगदीश जी विद्यार्थी, श्री अजयकुमार जी, श्री विजयकुमार जी इन सबसे पदे पदे वेद-प्रकाशन यज्ञ की सफलता हेतु मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा। श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार जिन्होंने हमें यह वेद-भाष्य आशीर्वाद सहित प्रकाशनार्थ दिया तथा श्रद्धेय महात्मा आनन्द स्वामी जी सरस्वती, जिन्होंने यह सूचना पाते ही आर्यसमाज रामकृष्णपुरम् सामवेद भाष्य प्रकाशन कर रहा है, तुरन्त स्वयमेव ५००) रु० की पुष्कल शुचि राशि अपने शुभाशीर्वाद सहित हमको दी, इन दोनों महान् विभूतियों का तथा श्री पं० राजपाल सिह जी शास्त्री (मधुर प्रकाशन) जो रात-दिन परिश्रम करके प्रूफ एवं प्रकाशन आदि कार्य में पूर्ण सहयोग दे रहे हैं और श्री शोभाराम जी आर्य जिनकी देखरेख में मुद्रण कार्य चल रहा है तथा अन्य अनेक दानी महानुभावों का जिन्होंने इस वेद-प्रकाशन-यज्ञ में आहुति दी है, उन सबके हम हृदय से आभारी हैं।

स्वामी सर्वानन्द जी महाराज (वैदिक संस्थान दीना नगर), स्वामी ओमानन्द जी तथा स्वामी सत्यव्रत जी महाराज—इन तीनों दिव्य विभूतियों ने वेदभाष्य वितरण में अपना आशीर्वाद प्रदान किया है—अतः हम इनके प्रति चिर-कृतज्ञ रहेंगे।

प्रभु की वेदवाणी की स्वर लहरी दशों दिशाओं में गूंजे तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती का वेद-प्रचार उद्देश्य सफलता की ओर अग्रसर होवे, इसी दृष्टि से यह सामवेद-भाष्य प्रकाशन कार्य आप विज्ञ पाठकों के भरोसे इस समाज ने पर्याप्त सामर्थ्य न रखते हुवे भी संभाला, जिसकी प्रथम अर्चिका आपकी सेवा में अर्पित है। पूर्ण प्रयास करने पर भी यदि कुछ त्रुटियां रह गई हों तो कृपया सूचित करें जिससे कि द्वितीय संस्करण में संशोधन कर दिया जाय।

वही प्रभु सर्वान्तर्यामी, वह है महागुणों की खान;
सकल जगत नाना प्रकार से, उस ही का करता है ध्यान;
स्तुति, प्रार्थना और उपासना, प्रभु प्रदत्त निज मंत्रों से;
ऋषि मुनि ज्ञानी और विद्वद्गण, करते सामवेद से गान ॥

—देवीचरण बंसल
संयोजक
वेद-प्रकाशन समिति व कार्यकर्ता प्रधान।

आर्यसमाज, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-२२।

* * *

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिदारुजे वसु ॥२॥६८३॥

ओ३म्

प्रारम्भिक वक्तव्य

प्रिय पाठको !

प्रभु कृपा से यह सामवेद का भाष्य संपन्न हो पाया है आर्यसमाज रामकृष्णपुरम् के उत्साह से यह प्रकाशित होकर आपके सम्मुख प्रस्तुत है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के भाष्य भी संपन्न होकर तैयार हैं। 'पाठकों की सहायता व उत्साह से वे भी शीघ्र छप सकेंगे' ऐसी हमें पूर्ण आशा है। अपनी ओर से हमने यह प्रयत्न किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठें कि 'समझ नहीं आया'; और एक विद्वान् यह न कह सके कि 'यह व्याकरण के दृष्टिकोण से ठीक नहीं है।'

अपने से पूर्व के सब भाष्यकारों के प्रति तो हम कृतज्ञता को प्रकट करते ही हैं। उनके भाष्यों से हमें जो साहाय्य प्राप्त हुवा है, उसे भूलना तो संभव ही नहीं। साथ ही महर्षि स्वामी दयानन्द को इस अवसर पर न याद करना सबसे अधिक कृतघ्नता की बात होगी। वस्तुतः उन्होंने ही वेदार्थ करने का ठीक मार्ग हम सबको दर्शाया है। उनका ऋण हम एक ही प्रकार से उतार सकते हैं, और वह इस प्रकार कि हम प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करें—इसके पढ़ने को पुण्य-पाठ समझें। आचार्य के शब्दों में यही परम धर्म है।

अन्त में सब विद्वानों से यही निवेदन है कि इसे पढ़ने पर वे जो भी निर्माणात्मक सुझाव देने का अनुग्रह करेंगे, तदर्थ हम उनके आभारी होंगे।

आपके सौहार्द का आकांक्षी

—हरिशरण

* * *

ओ३म्

ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय ।
ज्योति यच्छन्त्यजस्रम् ।। यजु० ३.३३

—०—

परमपिता परमात्मा के वही प्रिय पुत्र हैं जो मनुष्यों को जीवन लाभ तथा सुख शान्ति व धन के लिये दिव्य वेदज्ञान की अक्षय निधि में दान तथा विस्तार के लिये जीते हैं।

आर्यसमाज रामकृष्णपुरम के अधिकारियों ने जो अत्यन्त प्रशंसनीय और अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है वे निःसन्देह पूरे-पूरे आदर और हार्दिक सहयोग के पात्र हैं।

ब्रह्मोपासना के प्रतिपादिक सामवेद जैसे पवित्र शुभ्र ज्योति प्रतिभा प्रकाशक मन्त्रों का सरल हिन्दी भाषा में वरिष्ठ शुनः अनुचान पं० हरिशरण जी द्वारा भाष्य रूप में प्रकाशित किया है। परमेश्वर की अपार कृपा से वह—

"साधय धियः"

हमारे इस मङ्गल संकल्प को सफल बनावें।

वेदविद्यानुरागी

स्वामी सत्यव्रती (भजया मुनि)

दान-दाताओं की सूची

१. श्री शिव सहाय सिंह जी ग्राम और डाकखाना सुजरा मेरठ	५०१)
२. श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज नई दिल्ली	५००)
३. श्री ईश्वरचन्द्र जी आर्य, यज्ञ सदन 3/51 पंजाबी बाग	५००)
४. श्रीमती शकुन्तला पुरी, धर्मपत्नि श्री हरवंशलाल पुरी, प्रधान आर्यसमाज रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली	५००)
५. श्री स्वामी सत्यव्रत जी महाराज रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली	५००)
६. श्री के० डी० दत्त जो, 4 नार्थ-ऐवन्यू रोड, पंजाबी बाग, नई दिल्ली	५००)
७. श्री सतीशचन्द्र विज, 4/566 रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली	२०१)
८. श्री सुखूराम जी चौपड़ा, 382 डबल स्टोरी, न्यू राजेन्द्रनगर	१२५)
९. श्री रायसाहब चौधरी प्रतापसिंह, 57-L मौडल टाउन, करनाल	१०१)
१०. श्रीकृष्णलाल बंसल, E-21 आनन्द निकेतन, न्यू दिल्ली	१०१)
११. श्री केवलराम जी वर्मा मेघराज बिस्कुट कम्पनो, 82 फतेहपुरी, दिल्ली-६	१०१)
१२. आर्यसमाज करौल बाग, नई दिल्ली	१००)

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥६६७॥

ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥३॥६॥६६८॥

॥ ओ३म् ॥

सामवेद का सुबोध भाष्य

पूर्वार्चिकः

आग्नेयकाण्डम् (प्रथमः अध्यायः)

प्रथमा दशतिः

॥१॥ ऋषिः—१, २, ४, ७, ९ भरद्वाजः; ३ मेधातिथिः; ५ उशना; ६ सुदीतिपुरुमीढौ तयोर्वान्यतरः; ८ वत्स ; १० वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रकाश 'अन्धकार नाश'

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये,
१ २र ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ।

१—हे [**अग्ने**] 'आगे ले चलने वाले' प्रभो ! आपका 'अग्नि' यह नाम ही वेद में सबसे अधिक बार आया है। यह मानव जीवन के लक्ष्य का भी संकेत कर रहा है कि 'तूने मोक्ष तक पहुंचना है। पहुंचना होगा प्रभु कृपा से।' सो, हे प्रभो ! आप [**आयाहि**] आइये और [**वीतये**] हमारे हृदयान्धकार का ध्वंस कर दीजिये। (वी=असन=परे फेंक देना।) उस प्रभु के प्रकाश में वृत्र का अन्धकार कहाँ ? उस ज्योति में तो काम भस्मीभूत हो जाता है।

२—[**गृणानः**] (गृणाति आह्वयति भक्तान् कल्याणवर्त्मनि) हमें कल्याण के मार्ग का उपदेश देते हुए [**हव्य-दातये**] प्रीणयितव्य (हुः प्रीणनार्थोऽपि) भक्तों के कर्म बन्धनों के उच्छेद के लिये हूजिये। जो भक्त नहीं वे तो प्रभु का आह्वान सुनने ही क्यों लगे हैं ? हव्य वे जीव हैं जो प्रभु में श्रद्धा से उसके कृपा-पात्र बनते हैं।

३—[**होता**] महान् उपदेशक प्रभो ! (ह्वेञ् शब्दे) [**बर्हिषि**] (बर्ह् इस्=नष्ट करना)= जिसमें वासना व अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो गया है उस हृदयान्तरिक्ष में आप [**नि सत्सि**] निरन्तर विराजमान होते हैं। सर्वव्यापक प्रभु का दर्शन पवित्र हृदय में ही होता है। आपके साक्षात्कार से, आपके संपर्क में आकर, शक्तिसम्पन्न बन कर, मैं इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज'='अपने में शक्ति को भरने वाला' बन पाऊँ।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है। इस प्रकाशमय हृदय में सन्मार्ग की प्रेरणा देते हुए प्रभु भक्तों के कर्म बन्धनों का उच्छेद करते हैं। वासना शून्य हृदय में ही उस महोपदेशक की प्रेरणा सुनाई देती है।

करने वाला वह प्रभु है

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
त्वमग्ने यज्ञानाꣳहोता विश्वेषाꣳहितः।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
देवैभिर्मानुषे जने ॥ २ ॥

१—हे [**अग्ने**] आगे और आगे ले चलने वाले प्रभो [**त्वं**] आप [**विश्वेषां**] सब [**यज्ञानां**] श्रेष्ठतम कर्मों के [**होता**] सम्पादयिता हैं। जीव के द्वारा होते हुए सब शुभ कर्म उस प्रभु की दी हुई शक्ति से ही हो रहे हैं। जीव उन सब शुभ कर्मों को स्वयं करने का सामर्थ्य नहीं रखता। जब जीव अल्पज्ञता के कारण उस शक्ति का ठीक प्रयोग नहीं करता तभी अशुभ कर्म हो जाते हैं और इनका उत्तरदायी वह जीव ही होता है। एक

उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक डाक्टर रोगी को देख कर उसके लिए औषधपत्र (Prescription) लिख देता है, कम्पाऊण्डर उसको तैयार कर दे देता है। रोगी ठीक हो जाता है। डाक्टर की प्रशंसा होती है—कम्पाऊण्डर को कौन स्मरण करता है? पर औषधपत्र को ठीक न पढ़ कम्पाऊण्डर दवाई बना देता है, रोगी का कष्ट बढ़ जाता है। हैरानी होती है। पूछताछ होतो है, कम्पाऊण्डर को भर्त्सना मिलती है। वस्तुतः 'यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोशसंभवम्'—

जहाँ-जहाँ विभूति, श्री व ऊर्ज है वह सब उस प्रभु के तेज से ही है।

२—और आप [**देवेभिः**] दिव्य गुणों के द्वारा [**मानुषे जने**] मानवता (मननशीलता) से युक्त प्राणी में [**हितः**] प्रतिष्ठित होते हैं। सर्वथा एक होते हुए भी प्रभु का निवासस्थान मानवता से युक्त प्राणी ही है। अर्थात् हम अपने अन्दर दिव्यगुणों की वृद्धि करके ही उस प्रभु का साक्षात्कार कर सकते हैं। और तभी उसका साक्षात्कार करने वाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज'=शक्ति-सम्पन्न बन सकेंगे।

भावार्थ—संसार में सब उत्तम कर्म उस प्रभु की शक्ति से ही हो रहे हैं और उसका साक्षात्कार दिव्यगुणों से ही मनुष्यों को हुआ करता है।

तपस्या की अग्नि में भक्त

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
३ २ ३१ २ ३१२
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥३॥

१—हम तो [**अग्निं**] उस अग्र-स्थान के प्रापक प्रभु को [**वृणीमहे**] वरते हैं। जीव के सामने यह चुनाव है कि 'प्रकृति को वर ले या प्रभु को।' प्रकृति 'प्रेयोमार्ग' का प्रतीक है, प्रभु 'श्रेयोमार्ग' का। मन्दमति प्रेयोमार्ग का ही वरण करता है, उसकी हरियावल उसे मनोहर प्रतीत होती है, उसकी मधुरता से वह छला जाता है। परन्तु वह प्रभु तो [**दूतं**] उपतापक हैं (दु-उपतापे)। प्रभु अपने भक्तों को तपस्या की अग्नि में तपा कर 'काञ्चन' सोना बनाना चाहते हैं। किस प्रभु भक्त को कष्ट नहीं सहने पड़े? क्या राम, क्या युधिष्ठिर, क्या हरिश्चन्द्र—सभी अधिकाधिक कष्ट की अवस्थाओं में से गुजरे। भागवत कहती है—

'तं भ्रंशयामि संपद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्'

भक्त को भगवान धन से पृथक् करते ही हैं। परन्तु [**होतारं**] परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर सब सम्पत्तियों के देने वाले भी वही हैं (हु-दाने), [**विश्ववेदसम्**] वही तो सब सम्पत्तियों के ईश हैं। प्रकृति भी तो प्रभु की ही है। प्रभु के मिलने पर प्रकृति तो मिल ही जाती है। दुर्गा के उपासक के पांवों को उसका वाहन सिंह चूमता ही है। परन्तु सीधे सिंह को अपनाने वाले का अनुभव कटु होता है। प्रकृति का विलास क्षणिक प्रीति के बाद शक्ति विनाश का कारण बनता है।

२—एवं प्रभु का वरण ही ठीक है, और जिस प्रकार वधू वर का वरण कर उसके प्रति अपना समर्पण कर देती है, उसी प्रकार जीव को भी अपना समर्पण उस प्रभु के प्रति कर देना चाहिये। तब वह प्रभु ही [**अस्य**] इस [**यज्ञस्य**] जीवनयज्ञ के [**सुक्रतुम्**] उत्तम कर्ता होते हैं। हमारी जीवन यात्रा को वे ही ठीक-ठीक ले चलते हैं। अर्जुन ने अपने रथ का चालक कृष्ण को बना दिया, ठीक उसी प्रकार हम अपने शरीर रथ का चालक उस प्रभु को बना डालें। अब यदि हम प्रकृति के विलासों की ओर न जाकर प्रभु की प्रेरणा के अनुसार ही जीवन का यापन करेंगे तो इस बुद्धि-मार्ग को अपनाने के कारण सचमुच इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' बनेंगे।

भावार्थ—वह प्रभु तपस्या से परिपक्व हुए भक्त को सब इष्ट सुख प्राप्त कराते हैं, और उसकी जीवन यात्रा को सुन्दर प्रकार से पूर्ण करते हैं।

काम संहार

३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया ।
१ २ ३ १र २र
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥४॥

मनुष्य मात्र का यह अनुभव है कि वह चाहता हुआ भी काम क्रोधादि वासनाओं को विनष्ट नहीं कर पाता। ये वासनायें अत्यन्त प्रबल हैं। मनुष्य की समझ पर परदा डाले रहती हैं, और उसको अपना शिकार बना लेती हैं। गीता में कहा है कि—

'आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'

ज्ञानी के नित्य वैरी इस काम से ज्ञान आवृत हो जाता है। इसीलिये इस वासना को 'वृत्र' कहते हैं।

इस वृत्र को वह [**अग्निः**] प्रभु ही [**जंघनत्**] नष्ट करता है। परमेश्वर का स्मरण ही एकमात्र उपाय है कि जिससे वासनाओं का संहार होता है।

परन्तु वह अग्नि [**द्रविणस्युः**] है द्रविण को चाहता है। यदि मनुष्य धन का संचय अपने पास किये रखे और यह चाहे कि प्रभु उसकी वासनाओं को विनष्ट कर दें तो यह नहीं हो सकता। द्रविण प्रभ को लौटायेंगे तभी प्रभु हमारे लिये यह कार्य भी करेंगे। वस्तुतः [**विपन्यया**] विशिष्ट स्तुति के द्वारा ही हम यह कार्य प्रभु से करा पाते हैं। और उस प्रभु की विशिष्ट स्तुति तो यही है कि हम उसी से प्रीति करें, हमें धन से प्रीति न हो। प्रभु की यही 'ऐकान्तिकी भक्ति' है। प्रभु और धन दोनों की उपासना युगपत् सम्भव नहीं है। सो हम धन उस प्रभु का अर्पित कर दें। और तब हमारी इस विशिष्ट स्तुति से वह प्रभु हमारे लिये वृत्रों का संहार करेगा।

प्रभु की प्राप्ति का क्रम यह होता है कि हम उसे अपने हृदयों में [**समिद्धः**] दीप्त करते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य, व्यवस्था आदि से उसका आभास [**दीप्ति**] हमारे हृदयों में होता है। तब हम उसकी ओर चलते हैं। वह हमारे से [**शुक्रः**] [**गतः**] जाया जाता है (**शुक् गतौ**) और अन्त में उसकी ओर चलते-चलते हम उसे प्राप्त कर लेते हैं, वह [**आहुतः**] हमारे से सर्मपित होता है। हम उसके चरणों में पहुंचकर उसके प्रति आत्मसमर्पण करते हैं। किसी भी वस्तु की प्राप्ति का क्रम 'ज्ञान, गमन और प्राप्ति' ही है। हमने प्रभु के प्रति अपना अर्पण किया और उसने हमें 'वृत्र विनाश रूप' कार्य के लिये शक्तिसम्पन्न बनाया और हम इस मंत्र के ऋषि 'भरद्वाज' कहलाये।

भावार्थ—अनन्य भक्ति स्तुति के अनुरूप व्यवहार से आराधित प्रभु जीव की वासनाओं का विनाश करते हैं।

यात्रा का रथ

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
प्रेष्ठं वो अतिथिꣳस्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
२ ३ २ २ १र २र
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥५॥

उपदेशक, इस मन्त्र का ऋषि 'उशना' सब का हित चाहने वाला, अपने श्रोतृवृन्द (Audience) से कहता है कि [**प्रेष्ठं**] अत्यन्त कान्तिमान् वह प्रभु हैं। 'दिवि सूर्यसहस्रस्य' इस गीता वाक्य के अनुसार हज़ारों सूर्यों की दीप्ति के समान उस प्रभु की दीप्ति है। वह 'आदित्यवर्ण' है। परन्तु इतना कान्तिमान् होता हुआ भी वह प्रभु [**वः**] तुम्हारा तो [**अतिथिं**] मेहमान की तरह ही है। जिस प्रकार अतिथि के दर्शन घर पर कभी ही होते हैं, उसी प्रकार उस प्रभु का भी दर्शन तुम्हें कभी ही होता है। इस पर भी वह प्रभु [**मित्रम् इव**] स्वाभाविक स्नेह करने वाले मित्र की तरह [**प्रियम्**] जीव को विविध आवश्यक वस्तुओं की सृष्टि करके तृप्त करने वाले हैं। जीव प्रभु की ओर अपनी दृष्टि करे या न करे, प्रभु तो अपनी कृपा दृष्टि ही उस पर बनाये रखते हैं। माता-पिता के स्नेह में भी कुछ स्वार्थ हो सकता है, पर उस स्वाभाविक मित्र का स्नेह स्वार्थ की गन्ध से परे है।

वह प्रभु [**अग्ने**] (अग्नि) जीव को आगे ले

चलने वाला है । [**रथं न**] रथ की तरह [**वेद्यम्**] जानने योग्य है । जिस प्रकार रथ से यात्रा की पूर्ति में सहायता मिलती है, उसी प्रकार मानव जीवन की यात्रा भी इस प्रभु रूप रथ पर आरूढ़ होने से ही पूर्ण होगी । इस भावना को उपनिषदों में 'ब्रह्म-निष्ठ' शब्द से स्पष्ट किया गया है । यही 'ईश्वर-प्रणिधान'=अपने को ईश्वर में रख देना है । प्रकृति को अपना आधार बना कर हम इस यात्रा को सफलता से समाप्त नहीं कर सकते । वह तो यात्रा में भाररूप हो विघ्न ही हो जाती है । इस जीवन यात्रा में होने वाले विविध विघ्नों को जीतने का एक ही उपाय है—ब्रह्मरूपी रथ में स्थित होना ।

ऋषि उशना कहते हैं कि इस ब्रह्म का ही [**स्तुषे**] मैं स्तवन करता हूं, इसी के गुणों का गायन करता हूं । यही तो कल्याण का मार्ग है ।

भावार्थ—वे प्रभु अत्यन्त कान्तिमान्, जीव के मित्र, उसकी उन्नति के साधक तथा उसके लिये जीवन यात्रा में रथ के समान हैं ।

दो चीजों से दूर

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः ।
३ २ ३ १र २र
उतः द्विषो मर्त्यस्य ॥६॥

ऐ [**अग्ने त्वं**] आप [**नः**] हमें [**विश्वस्याः**] सब [**अरातेः**] अदान की भावना से [**उत**] और [**मर्त्यस्य**] मनुष्य के [**द्विषः**] (द्वेषणं द्विट्) द्वेष से [**महोभिः**] तेजस्विता के द्वारा [**पाहि**] बचाओ ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । उसके सामाजिक जीवन के अन्दर दो बड़े दोष आ जाते हैं—एक तो 'अदान' की भावना और दूसरा 'द्वेष' । यदि मनुष्य के अन्दर देने की वृत्ति न हो तो किसी भी सामाजिक कार्य के हो सकने का सम्भव ही नहीं । सारी सामाजिक उन्नति इस दान की वृत्ति पर ही निर्भर है । इसी बात का ध्यान करते हुए 'दानं तेषां परायणम्' दान को गुणों में प्रमुख स्थान दिया गया है । नरक=दुर्गति में ले जाने वाली वैतरणी नदी वितरण=दान से ही तैरी जाती है । यज्ञ भी देवपूजा से प्रारम्भ होकर दान में ही स्थित होता है । देवों ने देना सीखा, असुरों ने अपने ही रमण (मौज) को महत्त्व दिया । परिणामतः देवः स्वर्गवासी हुए, असुर पाताल में पहुंचे, अर्थात् उनकी अधिक से अधिक अधोगति हुई ।

जिस प्रकार अदान की वृत्ति समाज के लिए घातक है उसी प्रकार द्वेष की । द्वेष में मनुष्य की शक्ति अपने उत्थान में न लग कर, दूसरे के पतन (गिराने) में लगती है । परिणामतः द्वेष से उन्नति का सम्भव ही नहीं । द्वेष में हम दूसरे से प्रीति न कर वैर ठान लेते हैं । इसी के कारण युद्धों की अग्नि भड़क उठती है, और उसमें समाज भस्म हो जाता है ।

इन दोनों अदान और द्वेष रूप सामाजिक दोषों से ऊपर उठने का उपाय [**महोभिः**] शब्द से सूचित हो रहा है । महस् का अर्थ है तेजस्विता । तेजस्वी पुरुष इन वृत्तियों को आत्म-सम्मान की भावना से विपरीत समझता है और इसलिये इनसे दूर रहता है । एवं तेजस्वी बनने का महत्त्व स्पष्ट है । प्रभु कृपा से हम 'सुदीति' खूब दान देने वाले तथा 'पुरुमीढ' द्वेष न करके खूब सुखों के सेचन करने वाले ही बनें । ये ही दो तो इस मन्त्र के ऋषि हैं ।

भावार्थ—हम तेजस्वी बन कर अदान व द्वेष से दूर हों । तभी हम समाज व राष्ट्र को स्वर्ग बना सकेंगे ।

प्रभु सामीप्य का परिणाम

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
३ १ २ ३ १ २
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥७॥

ऐ [**अग्ने**] प्रभो [**आ इहि**] आप मेरे हृदय में आइये । चूंकि [**ते**] आपके सामीप्य से [**इतराः**] सामान्य व्यवहार की बातों को भी [**इत्था**] सत्य ही [**ब्रवाणि**] बोलता हूं । प्रभु के सन्निकर्ष से

मानव जीवन में यह कितनी बड़ी क्रांति उत्पन्न हो जाती है कि वह सदा सत्य का पालन करता है। 'यह तो साधारण सी बात है' ऐसा सोच कर वह असत्य की ओर झुकाव वाला नहीं होता। उसका व्यवहार शुद्ध होता है। उसको किसी भी बात का भय सत्य के मार्ग से विचलित नहीं कर पाता। ये लोग सत्य के पालन में प्राणों की भी परवाह नहीं करते। इनके जीवन में सत्य के पालन से ऐसी निर्भीकता आ जाती है कि भय इन्हें विचलित नहीं कर पाता और लोभ इन्हें आकृष्ट नहीं कर सकता। इनकी दृढ़ता लोगों के आश्चर्य का कारण बनती है। इनके जीवन में उन्हें कोई महान् शक्ति कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है। दूसरे शब्दों में, इनके जीवन लोगों के सामने प्रभु की महिमा को प्रकट करते हैं। इसी लिये मन्त्र में कहा है कि [**एभिः**] इन [**इन्दुभिः**] शक्तिशाली पुरुषों से (इन्द्=to be powerful) [**वर्धासि**] आप वृद्धि को प्राप्त करते हैं। आपकी लोगों में ख्याति होती है। ये लोग सत्य पर दृढ़ता से चलने से सभी दिव्यगुणों से युक्त होकर इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' बनते हैं।

भावार्थ—उपासना से मनुष्य का व्यवहार सत्यमय होता है और इन उपासकों में परमेश्वर की महिमा प्रकट होती है।

प्रभु का प्यारा क्या चाहता है ?

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्।
२ ३ १ २ ३ २
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥८॥

[**ते वत्सः**] ऐ प्रभो ! तेरा यह प्यारा, व सदा सत्य व्यवहार करने वाला [**परमात्**] सबसे उत्कृष्ट [**सधस्थात्**] प्रभु के साथ रहने के लोक अर्थात् मोक्ष लोक से [**चित्**] भी [**मनः**] अपने मन को [**आ यमत्**] काबू करता है अर्थात् अपने मन में उस मोक्षलोक की प्राप्ति की कामना को भी नहीं करता। 'मोक्षलोक में पहुंच कर मैं आनन्द से विचरूँगा, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होगा' इस ऊँची स्थिति को अपेक्षा इस लोक में रह कर ही मैं तो यह चाहता हूं कि [**अग्ने**] ऐ प्रभो [**गिरा**] वाणी से [**त्वाम्**] तुम्हें [**कामये**] चाहूं। अर्थात् संसार में रहते हुए सदा सत्य का पालन करता रहूं। आप सत्यस्वरूप हैं। मेरी वाणी उस सत्य को ही चाहे।

एक प्रभु भक्त को संघर्षशून्य मोक्ष की बजाय संघर्षमय संसार में रह कर असत्य पर विजय पाने में अधिक आनन्द आता है। इसीलिये यह मुक्तात्मा प्रायः 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्' इस गीता वाक्य के अनुसार असत्य के प्रबल हो जाने पर जन्म लेते हैं और सत्य की विजय के लिये प्रयत्नशील होते हैं। और अपने सुखों को तिलांजलि दे सर्वहित-साधन में प्रवृत्ति होने के कारण प्रभु के 'वत्स' प्यारे बनते हैं। वत्स ही तो इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—सर्वदा सत्य ही विचारना, सत्य ही बोलना और सत्य का ही आचरण करना मोक्ष के आनन्द से भी अधिक आनन्दप्रद है।

प्रभु दर्शनार्थ दो बातें

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
३ १र २र ३ १ २
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥९॥

इस संसार में अस्थिर चित्तवृत्ति वाले पुरुष को तो उस प्रभु का दर्शन हुआ ही नहीं करता। उस प्रभु का मन्थन व ज्ञान तो अथर्वा ही कर पाता है। इसी से मन्त्र में कहते हैं कि [**अग्ने**] हे प्रभो [**त्वाम्**] आपको [**अथर्वा**] निश्चल चित्तवृत्ति वाला पुरुष [**पुष्करात्अधि**] इस हृदय देश में [**निरमन्थत**] अवगाहन कर जान पाता है। अर्थात् आपका दर्शन इस निरुद्ध चित्तवृत्ति वाले योगी को ही हृदय में हुआ करता है।

परन्तु क्या यह योगी केवल हृदय के इस विकास व नैर्मल्य से ही प्रभु दर्शन कर सकता है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मन्त्र में कहा है कि उस प्रभु के ज्ञान का मन्थन [**मूर्ध्नः**] मस्तिष्क से होगा। कौन से मस्तिष्क से? [**विश्वस्य**] सारे ब्रह्माण्ड के ज्ञान को [**वाघतः**] धारण करने वाले मेधावी के मस्तिष्क से।

एवं यह स्पष्ट है कि प्रभु का दर्शन केवल पवित्र हृदय से न होकर मेधावी के ज्ञानपरिपूर्ण मस्तिष्क से होता है। हृदय व मस्तिष्क दोनों का ही विकास आवश्यक है। जैसे दो अरणियों से रगड़ कर अग्नि को पैदा किया जाता है, उसी तरह उस प्रभु रूप अग्नि को प्रकट करने के लिये हृदय व मस्तिष्क रूपी दोनों अरणियों की आवश्यकता है। वज् धातु ज्ञान व गमन की वाचक है। उस प्रभु के ज्ञान और उस प्रभु की ओर जाने की भावना से भरा हुवा व्यक्ति इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' कहलाता है।

भावार्थ—प्रभु दर्शन के लिये उत्तम गुणों का पोषण करने वाले (पुष्कर) हृदय, व विश्व के ज्ञान से परिपूर्ण मस्तिष्क दोनों की ही आवश्यकता है।

ज्ञानियों के सम्पर्क में

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने विवस्वदा भरास्मभ्यमूतये महे।
३ १र २र ३ २
देवो ह्यसि नो दृशे ॥१०॥

ऐ [**अग्ने**] आप [**देवः हि असि**] निश्चय से देव हैं। [**देवः दानात् दीपनात् द्योतनाद्वा।**] आप सब कुछ देने वाले हैं, स्वयं दीप्तिमय ज्योतिर्मय होते हुए औरों को ज्ञान की दीप्ति देने वाले हैं। आप [**अस्मभ्यम्**] हमारे लिये भी [**विवस्वन्तं**] ज्ञानी पुरुष को [**आभर**] प्राप्त कराइये (विवस्वान्=विवस्वन्तं में विभक्ति व्यत्यय है) ताकि :—

१—[**ऊतये**] उनसे उत्तम ज्ञान को प्राप्त कर हम अपनी रक्षा के योग्य हों। संसार के तत्त्व को न समझने से, इन विषयों की चमक से आकृष्ट होकर, उनमें कहीं फंस न जायें। ज्ञान ही हमें इन विषयों के जाल में फंसने से बचा सकता है।

२—[**महे**] (महसे) तेज के लिए भी हमें ज्ञानियों को प्राप्त कराइये। ज्ञान द्वारा विषयासक्ति से बच कर, भोगों में न फंस कर, हम अपनी शक्तियों को जीर्ण न कर बैठेंगे। "सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः" ये भोग ही तो इन्द्रिय तेजों को जीर्ण करते हैं।

३—[**नः दृशे**] हमें इसलिये भी ज्ञानियों को प्राप्त कराइये कि हम उनसे शब्दब्रह्म का=सृष्टि-विद्या का ज्ञान प्राप्त करके आपकी महिमा को प्राकृतिक रचनाओं में अनुभव करते हुए आपका दर्शन व साक्षात्कार कर सकें। आपके साक्षात्कार से सब मलिनता को भस्म करके सुन्दर गुणों वाले इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' बन पायें।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर हम (१) विषय-जाल से अपनी रक्षा करके, (२) भोगों में शक्ति को जीर्ण न कर तेजस्वी बनते हुए (३) प्रभु के साक्षात्कार करने वाले बनेंगे।

* * *

॥ २ ॥ ऋषिः—१ आयुङ्क्ष्वाहिः; २ वामदेवः; ३, ८, ९ प्रयोगः; ४ मधुच्छन्दाः; ५, ७ शुनःशेपः; ६ मेधातिथिः; १० वत्सः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भक्ति से शक्ति की प्राप्ति

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः।
१ २ ३ १ २
अमैरमित्रमर्दय ॥१॥

ऐ [**अग्ने! ओजसा**] प्रभो! बल प्राप्ति के हेतु से [**ते नमः**] तेरे लिये हम नमस्कार करते हैं। अनन्त शक्ति के स्रोत आप ही हैं, भक्ति के द्वारा आप से सम्बद्ध हो हम भी उस शक्ति को अपने अन्दर प्रवाहित करते हैं। भक्ति से वह शक्ति प्राप्त होती है जो कि पर्वत तुल्य कष्टों में भी मनुष्य को विचलित न होने योग्य बनाती है।

२—परन्तु ऐ [**देव**] सब आवश्यक पदार्थों के देने वाले प्रभो ! [**कृष्टयः**] कृषि करने वाले मनुष्य ही [**गृणन्ति**] तेरी सच्ची आराधना करते हैं। वे ही अन्न वस्त्रादि को जुटाकर आपकी तरह आवश्यक पदार्थों के देने वाले हैं। और यह बात भी है कि प्रकृति के अधिक सम्पर्क में रहते हुए बीज को शतशः बीजों में परिणत होते देख वे कदम-कदम पर आपकी महिमा का अनुभव करते हुए आपका गायन करते हैं।

३—[**अमैः**] शक्तियों से [**अमित्रं**] शत्रु को [**अर्दय**] समाप्त करिये। ऐ प्रभो ! शारीरिक शक्ति से, तेज व वीर्य से हम रोग कृमि रूप शत्रुओं को नष्ट करने वाले हों। मानस ओज व स्नेह के बल से हम काम, क्रोधादि को नष्ट कर विश्व-प्रेम को अपने जीवन में ला सकें। बौद्धिक ज्ञान के बल से अज्ञान रूप शत्रु को हम समाप्त कर दें। ऐ प्रभो ! यह सब हमारे लिये आपने ही करना है। इन सब के लिये हमें आपसे ही शक्ति प्राप्त होनी है। इस सब के लिये हमारे जीवन का आदर्श वाक्य (**आयुङ्क्ष्व**) "काम में लगे रहो" तथा 'अहि' (अ-हन्) "समय को नष्ट मत करो" यह बने। तथा हम इस मन्त्र के ऋषि 'आयुङ्क्ष्वाहि' बनें।

भावार्थ—(१) भक्ति से शक्ति मिलती है। (२) सच्ची भक्ति के लिये कृषक का जीवन आदर्श है। (३) शक्ति से शत्रुओं की समाप्ति हो जाती है।

दो प्रकार की परीक्षा

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम् ।
१ २ ३ २
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥२॥

[**वः**] तुम सब भक्तों के [**दूतं**] सन्तापक, सन्ताप की अग्नि में डालकर परीक्षा करने वाले वे प्रभु हैं। कष्ट पर कष्ट देकर वह प्रभु भक्तों की परीक्षा लेता है कि कहां तक इसने धैर्य को अपने जीवन का अंग बनाया है। इसके बाद [**विश्ववेदसं**] सम्पूर्ण धनों वाला प्रभु है। कष्टों की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर वह विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त कराकर दूसरी परीक्षा लेता है कि यह सम्पत्तियों के लोभ में कहां तक नहीं फँसता। योगमार्ग में सिद्धियों की प्राप्ति भी तो ऐसी ही परीक्षा के लिये होती है। इन दोनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण व्यक्ति ही हव्य हैं=प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति डालने वाले हैं। वह प्रभु [**हव्यवाहं**] इन हव्य मनुष्यों को अपने समीप ले जाने वाले हैं। (वह्=प्रापणे=to carry)। [**अमर्त्यं**] और इन अपने सच्चे भक्तों को अमर्त्य करने वाले हैं। जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करने वाले हैं। और [**यजिष्ठम्**] अधिक से अधिक अपने साथ संगत करने वाले हैं। अर्थात् अपने समीप प्राप्ति रूप मोक्ष के देने वाले हैं। इस प्रभु को (गिरा) मैं अपनी वाणी से [**ऋञ्जसे**] प्रसाधित=आराधित करता हूं। अपनी वाणी से सदा उसी के गुणगान करता हूं और इस गुणगान से स्वयं भी उत्तम गुणों में प्रीति वाला बन कर इस मन्त्र का ऋषि 'वामदेव' बनता हूं।

भावार्थ—मनुष्य आपत्तियों और सम्पत्तियों की परीक्षाओं से उत्तीर्ण होकर ही मोक्ष का अधिकारी बनता है।

वायु के समान बल की प्राप्ति

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः ।
३ १र २र
वायोरनीके अस्थिरन् ॥३॥

[**हविष्कृतः**] (त्वयि एव हूयते निधीयते न तु विषयेषु इति हविः=शुद्धं मन. दानपूर्वकमदनशीलं मनः,=हु दानादनयोः तत्करोति, तस्य) दानपूर्वक अदन=भक्षण को अपना स्वभाव बना लेने वाले पुरुष की [**त्वा उप**] तेरे समीप [**जामयः**] गति करने वाली अर्थात् तेरी समीपता से कभी इधर उधर न भटकने वाली, [**देदि शतीः**] निरन्तर तेरा निर्देश

करती हुई [**गिरः**] वाणियां भक्त को [**वायोः अनीके**] वायु के बल में=वायु के समान शक्ति में [**अस्थिरन्**] स्थित करती हैं ।

जब एक मनुष्य अपने जीवन को भोगप्रधान न बना कर अपनी शक्तियों को जीर्ण न होने देगा तो उसको वायु के समान अत्यधिक शक्ति क्यों न प्राप्त होगी ? परन्तु जीवन को भोगप्रधान न बनने देने का साधन क्या है ? यह साधन ही इस मन्त्र में "उप त्वा जामयो गिरः" इन शब्दों से वर्णित हुआ है :—'निरन्तर तेरे समीप प्राप्त होने वाली वाणियां ।' जागते-सोते, खाते-पीते, उठते-बैठते सदा हमारी वाणी उस प्रभु का स्मरण करे, तभी ऐसा सम्भव है । 'देदिशतीः' हमारी वाणियां उस प्रभु का ही निर्देश करती हों । शरीर से कार्य चल रहे हों, पर मन व वाणी उस प्रभु का ध्यान व जप कर रहे हों । यदि इस प्रकार सब क्रियाओं को करते हुए भी हमारा सम्पर्क उस प्रभु से बना रहेगा, तो इस प्रकृष्ट योग=सम्बन्ध के कारण हम इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' बनेंगे ।

भावार्थ—'हमारा प्रत्येक कार्य प्रभु स्मरण पूर्वक चल रहा हो'—यही मार्ग है भोगों के शिकार न होने का, और शक्ति के लाभ का ।

ज्ञानपूर्वक कर्म ही उपासना है

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
२ ३ १ २ ३ १ २
नमो भरन्त एमसि ॥४॥

ऐ [**अग्ने ! दोषावस्तः**] (वस आच्छादने, छद् अपवारणे) दोषों को समन्तात् अपवारित=दूर करने वाले प्रभो ! आप तो हमारे लिये उस छत के समान हैं जो कि ओलों आदि से बचाती है; आप उसी के समान सब ओर से आक्रमण करने वाले दोषों से हमें बचाते हैं । [**वयम्**] हम कर्मतन्तु का विच्छेद न करने वाले आपके भक्त [**दिवे दिवे**] प्रतिदिन [**त्वा उप**] तेरे समीप [**धिया**] ज्ञानपूर्वक कर्म से [**नमो भरन्तः**] विनय का सम्पादन करते हुए [**एमसि**] प्राप्त होते हैं ।

इस मन्त्र में स्पष्ट है कि वे प्रभु तो 'दोषावस्तः' दोषों से हमें सब ओर से सदा बचाते ही हैं । परन्तु उसके लिए हमारा कर्तव्य है कि हम सदा 'धिया' ज्ञानपूर्वक कर्म में लगे रहें । धी शब्द ज्ञान और कर्म दोनों ही अर्थों का वाचक है । और इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कर्म करने की भावना को व्यक्त करता है । मनुष्य शब्द का निर्वचन भी यास्क ने 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' (सोच कर कर्म करता है) यह किया है । एवं, धिया शब्द की भावना को अपनाने से ही हम अपने मनुष्य नाम को चरितार्थ करते हैं । और बड़ी बात यह है कि सोचकर कर्म करने से हमें सदा अपनी तुच्छता और कार्य सिद्धि में उस सर्वाधार शक्ति आदि की भी कारणता दीखती है और परिणामतः हमारा अभिमान नष्ट होता है । हमें "Man proposes and God disposes" "अन्यथा चिन्तितं यत्तु अन्यथैव प्रजायते" "चाहा कुछ हुआ कुछ" का अनुभव इसी परिणाम पर पहुंचाता है कि संचालक शक्ति कोई और है । ऐसी ही घटनायें हमारे अभिमान के पतंग को तोड़कर हमें नतमस्तक कर देती हैं, और हम विनीत होकर उस प्रभु के चरणों में उपस्थित होते हैं । हमारा अभिमान गल जाता है और हम आसुर कामनाओं को छोड़कर उत्तम इच्छाओं वाले बनते हुए इस मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दाः' होते हैं ।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक कर्म ही प्रभु की सच्ची विनय है ।

दीखने वाली स्तुति

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
१ २ ३ १ २ ३ २
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥५॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि [**जराबोध**] जरा=बुढ़ापा उसमें बुध्यते=जो चेतता है । अर्थात् यौवन के नशे में मनुष्य की बुद्धि विलुप्त हो जाती है, मानव जीवन का लक्ष्य भूल जाने से वह भ्रष्ट हो जाता है और प्रायः शक्तियों के जीर्ण हो जाने पर

जरावस्था के आने पर उसे होश आती है। पर इस प्रकार तो सब जीवन ही व्यर्थ चला जाता है। सो प्रभु कहते हैं कि ऐ जराबोध! [**विशेविशे**] प्रत्येक वाणी में [**यज्ञियाय**] संगति करण में=संपर्क में श्रेष्ठ उस [**रुदाय**] क्रियात्मक उपदेश देने वाले प्रभु के लिये (रुत्+र) 'तनु विस्तारे' [**तद्**] विस्तृत [**दृशीकं**] जो आँखों से दिखे (visible) न कि केवल वाणी से बोला जाय, ऐसे [**स्तोमं**] स्तोत्र को=स्तुति समूह को (विविड्ढि) व्याप्त कर।

प्रभु प्रत्येक प्राणी में व्याप्त है। किसी से उन्हें घृणा नहीं और इस प्रकार जीव को भी वे क्रियात्मक उपदेश दे रहे हैं कि मेरी स्तुति का प्रकार यही है कि तेरा भी संपर्क अधिक से अधिक प्राणियों से हो। Greatest good of the greatest number=यद्‌भूतहितमत्यन्तं=अधिक प्राणियों का हित करना ही तेरा लक्ष्य हो। इसी उद्देश्य से तेरे सारे कर्म चलें। ये तेरे कर्म ही वस्तुतः उस प्रभु की दृश्य स्तुति होंगे। वे प्रभु केवल वाणी से होने वाली व मन से की जाने वाली स्तुति से आराधित नहीं होते। उन्हें तो 'दृशीक स्तोम' चाहिए। पर्वत-कन्दरा में समाधिस्थ योगी नहीं परन्तु लोक संग्रह करता हुआ क्रियावान् संन्यासी ही उस प्रभु का सच्चा आराधक है। जिसने लोक हित के लिये समाधि के आनन्द का भी संन्यास कर दिया, प्रभु उसी की आरधना को स्वीकारते हैं। इसी मार्ग से चल कर ही हम वास्तविक सुख का (शुनः) निर्माण करने वाले (शेप) इस मन्त्र के ऋषि 'शुनःशेप' बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु का अर्चन लोक हित के कर्मों द्वारा होता है, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य कर्म ही उसके 'दृशीक स्तोम' हैं।

मैं यज्ञ करूँ, प्रभु रक्षक हों

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
प्रति त्य चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे।
३ १ २ ३ १ २
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥६॥

[**त्यं**] उस [**चारुं**] चरणीय, करने के योग्य (**चर गतौ**) [**अध्वरं प्रति**] हिंसा रहित यज्ञ में [**गोपीथाय**] इन्द्रियों की रक्षा के लिए (गावः इन्द्रियाणि, पीथं=पानम्) हे [**अग्ने**] आप [प्रहूयसे] हमारे से पुकारे जाते हैं। मनुष्य का कर्तव्य है कि अपनी प्रत्येक इन्द्रिय से यज्ञ=उत्तम कर्मों का अनुष्ठान करे। यही उसका कर्तव्य है। उसकी यही दिनचर्या होनी चाहिए। इसी बात को मन्त्र का 'चारु' शब्द व्यक्त कर रहा है। हमारा कोई भी कार्य हिंसा की प्रवृत्ति वाला न हो। कार्य की श्रेष्ठता व यज्ञरूपता की यही कसौटी है। 'अ-ध्वर'=नहीं हिंसा। हमारे कार्य अधिक से अधिक प्राणियों का भला करने वाले हों। परन्तु मनुष्य मात्र का यह अनुभव है कि इन इन्द्रियों पर आसुर वृत्तियों का आक्रमण होता है और ये इन्द्रियां यज्ञों को छोड़ ध्वंसक कार्यों में लग जाती हैं। सो यज्ञ में प्रवृत्त इन इन्द्रियों की रक्षा के लिए हम प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु का स्मरण ही आसुर वृत्तियों के दूर करने का उपाय है। मन्त्र में उस प्रभु से प्रार्थना है कि हे प्रभो! [**मरुद्भिः**] प्राणों के साथ [**आगहि**] आइये, हमें प्राप्त हूजिये। इस प्रकार वेद का यह संकेत स्पष्ट है कि इन्द्रिय रक्षा के लिये प्राणों की साधना ही उपाय है। उपनिषदों का कथानक है कि असुर सब इन्द्रियों को आक्रान्त कर परास्त कर सके। पर जब वह प्राणों पर आक्रमण करने लगे तो इस प्रकार उनका ध्वंस हो गया जैसे कि पत्थर से टकरा कर मिट्टी के ढेले का। सो हम प्राणों की साधना द्वारा इन्द्रियों का संयम कर यज्ञ को नष्ट न होने दें। भोगवाद क्षणिक प्रीति का हेतु होता हुआ भी अनुपादेय है। प्राण साधना द्वारा इन्द्रिय संयम ही श्रेयोमार्ग है। बिरले धीर ही इसे अपनाते हैं। हम भी उन्हीं बिरले धीरों में से एक होते हुए इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' बनें।

भावार्थ—प्राण साधना से जितेन्द्रिय वन जीवन को यज्ञमय बनाओ।

प्रभु रक्षण से ही यज्ञ चलते हैं

२ ३ २ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः ।
३ १ २ ३ १ २
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥७॥

[**वार-वन्तं**] प्रशस्त रूप से शत्रुओं के निवारण रूप कार्य को करने वाले (वार=निवारण, मतुप् प्रशंसायाम्) [**अश्वं न**] घोड़े के समान उस [**अग्नि**] प्रभु को [**नमोभिः**] नमस्कारों से [**वन्दध्या**] वन्दन के लिए हम प्रवृत्त हुए हैं। किस प्रभु को? [**अध्वराणां**] सब यज्ञों के [**सम्राजं**] सम्राट् [**तं**] उस प्रभु को।

पिछले मन्त्र में यह भावना स्पष्ट थी कि इन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त रहें इसके लिए प्रभु चिन्तन आवश्यक है। प्रभु चिन्तन ही उनको असुरों के आक्रमण से बचाता है। इस मन्त्र में इसी भावना को इन शब्दों में कहा गया है कि जैसे उत्तम घोड़ा शत्रुओं पर आक्रमण करके उनको दूर भगा देता है, उसी प्रकार वह प्रभु भी यज्ञध्वंसक सब बुरी वृत्तियों को दूर करके यज्ञ को निर्विघ्न पूरा किया करते हैं। मनुष्य को तो यूं ही उन यज्ञों को सफलता से पूर्ण करने का गर्व हो जाया करता है। सब अध्वरों के सम्राट् वे प्रभु ही हैं। उन्हीं की शक्ति उन यज्ञों में दीप्त हो रही है। मनुष्य को सदा इस तत्त्व को समझते हुए प्रत्येक सफलता के अवसर पर उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होना चाहिए। तभी हम अपने वास्तविक सुख का निर्माण कर सकेंगे, और 'शुनःशेप' कहलाने के योग्य होंगे। (शुनं इति सुखनाम, शेप=to make बनाना)। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—परमेश्वर रक्षक न हो तो हम किसी भी कार्य को सफलता से सम्पन्न नहीं कर सकेंगे। सो कभी भी सफलता का गर्व न करना चाहिये।

तीन उपासक

३ १ २र ३ १ २र
और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे ।
३ १ ३ १ १ २
अग्निं समुद्रवाससम् ॥८॥

इस मन्त्र में कहा है कि और्व की तरह, भृगु की तरह, और अप्नवान की तरह शुचि, अग्नि और समुद्रवासस् उस प्रभु को [**आहुवे**] आह्वयामि=पुकारता हूं। वैदिक संस्कृति में एक नियम है कि उपासना का ठीक प्रकार यही है कि उपास्य जैसा बनने का यत्न किया जाय। 'विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्'=विष्णु बनकर ही विष्णु की उपासना की जाती है।

इसी नियम के अनुसार मन्त्र में प्रथम बात यह कही गयी है कि वे प्रभु तो [**शुचि**] हैं, निर्मल हैं। उनकी उपासना [**और्व**] बनने से होगी। और्व शब्द का अर्थ है उरोरपत्यं=उरु की सन्तान=विशाल का पुत्र अर्थात् अत्यन्त उदार हृदय वाला। विशालता का पवित्रता से सम्बन्ध है। संकोच में अपवित्रता है। शुचि प्रभु का उपासक तो वही है जो विशाल हृदय रखता है, जिसके हृदय में अपकारियों के लिये भी स्थान है।

द्वितीय उपासक 'भृगु' है जो 'अग्नि' की उपासना करता है। प्रभु ज्ञानाग्नि के पुञ्ज हैं। उनकी उपासना आचार्य के समीप रह कर तपस्या की अग्नि में अपना परिपाक करके ज्ञानी बनने वाला भृगु (भ्रस्ज् पाके) ही करता है।

तृतीय उपासक 'अप्नवान्' है जो 'समुद्रवासस्' को अपना उपास्य बनाता है। 'अप्न' शब्द निघण्टु में कर्मवाचक है, 'वान' का अर्थ कोश में Living=जीवन है। एवं "Activity is Life" क्रिया ही जीवन है, इस तत्व को अपने जीवन में अनूदित करने वाला व्यक्ति 'अप्नवान' है। वानं शब्द का अर्थ weaving=बुनना भी है। सो जिसका जीवन कर्मों के ताने-बाने से बुने वस्त्र के समान है वही 'अप्नवान' है। यही 'समुद्रवासस्' प्रभु का उपासक है। मुद्=हर्ष। स=सहित। सदा आनन्द के साथ है निवास जिनका वे प्रभु समुद्रवासस् हैं। वे तो वस्तुतः आनन्दमय हैं। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'—क्रिया उनका स्वभाव है, यही उनकी आनन्दमयता का रहस्य है। मनुष्य भी अप्नवान=क्रियामय जीवन वाला बनकर आनन्द में निवास कर सकता है। एवं क्रियाशीलता ही आनन्द है,

निष्क्रियता आनन्द की समाप्ति है। अप्नवान से पूर्व भृगु का उल्लेख ज्ञानपूर्वक क्रिया का संकेत कर रहा है। ज्ञानी बन कर हम कर्म करें, यही आनन्द प्राप्ति का साधन है। उस समय हमारे सब कर्म उदार व पवित्र होंगे, उनमें शुचिता होगी और उनका परिणाम वास्तविक आनन्द का लाभ होगा।

भावार्थ—हम विशाल हृदयों वाले बनें, तपस्या में अपना परिपाक कर ज्ञान का संचय करें, तथा क्रियाशीलता को ही जीवन समझें। इसी प्रकार हम इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' होंगे, उत्तम कर्मों में कुशलता वाले बनेंगे, या प्र=प्रकृष्ट, योग= उपासना वाले होंगे। ऐसा बनना ही प्रभु की सच्ची उपासना है।

कर्म का सेवन

३ १ २ ३ १ २२ ३ १ २ ३ १ २
अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
३ १ २ ३ १ २
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥९॥

[**मर्त्यः**] मनुष्य [**मनसा**] मन के द्वारा, चिन्तन के द्वारा [**अग्नि**] इस संसार के संचालक प्रभु को [**इन्धानः**] अपने हृदय में दीप्ति करता हुआ [**धियं**] ज्ञानपूर्वक कर्म का [**सचेत**] सेवन करे। प्रभु अग्नि है, (अग्=गतौ) गतिशील है। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' क्रिया उसका स्वभाव है। मनुष्य को भी चाहिये कि प्रभु के इस स्वरूप का चिन्तन करता हुआ कर्मशील बने, इसी में मानव उन्नति का रहस्य छिपा हुआ है।

'धियं' शब्द भी बड़ा महत्वपूर्ण है। निरुक्त में उसके 'ज्ञान और कर्म' दोनों ही अर्थ दिये हैं 'ज्ञानपूर्वक कर्म करना' धी शब्द का वाच्य है। मनुष्य शब्द की निरुक्ति भी तो 'मत्वा कर्माणि सीव्यति'=विचार कर कर्म करता है, यही है। सो मनुष्य तो उन्हीं कर्मों को करता है जो धी शब्द से कहे जाते हैं।

'यह ज्ञान=प्रभु का ज्ञान प्राप्त कैसे होगा?' इस विषय पर वेद कहता है कि [**अग्नि**] उस आगे ले चलने वाले प्रभु को [**विवस्वभिः**] ज्ञानियों के साथ अर्थात् उनके सत्संग से [**इन्धे**] (इन्धाम)=दीप्त करे। प्रभु का ज्ञान विद्वानों के संग से, उनके उपदेशों के श्रवण से होगा। इस प्रकार ज्ञानियों के साथ सम्पर्क रखने वाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'प्र–योग'=प्रकृष्ट सम्बन्ध वाले बनेंगे।

भावार्थ—सत्संग से प्रभु का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य विचारपूर्वक कर्म करे।

वासर ज्योति का दर्शन

२उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् ।
३ २उ ३ १ २ ३ २
परो यदिध्यते दिवि ॥१०॥

[**यद् दिवि**] जिस दिन [**परः**] क्लेश कर्म विपाकादि से परे होने वाला वह प्रभु [**इध्यते**] दीप्त किया जाता है [**आत्-इत्**] ठीक उसी समय (तब ही) [**प्रत्नस्य रेतसः**] उस सनातन शक्ति की=प्रभु की [**वासरम्**] वसाने वाली [**ज्योतिः**] ज्योति को [**पश्यन्ति**] देखते हैं।

पिछले मन्त्र में ज्ञानपूर्वक कर्म करने का वर्णन था। 'मनुष्य उन कर्मों को अपनी शक्ति से होता हुआ न समझ ले, उसे इस प्रकार का भ्रम होकर अभिमान न हो जाय।' इसलिये इस मन्त्र में कहा गया है कि सनातन शक्ति तो वह प्रभु ही है। उसी से शक्ति को प्राप्त कर जीव भी कर्म किया करता है। कर्म करने के सब साधन उसी से तो जुटाये गये हैं। उन साधनों के अभाव में जीव कर ही क्या सकता है? 'परन्तु बुरे कर्म भी उसी से हो रहे हैं, यह सोचकर जीव उनके फल से छूट नहीं सकता। चूंकि वह प्रभु तो 'वासर-ज्योति' है। वह तो निवासक हैं, न कि ध्वंसक। उस प्रभु ने 'निर्माणात्मक कार्यों' के करने के लिये ही शक्ति दी है—उजाड़ने के लिये नहीं। जीव उसका अपने अज्ञान के कारण दुरुपयोग करता है। दण्ड उपयोग का नहीं मिला करता वह तो दुरुपयोग का है। वह

प्रभु निवासक ज्योति है। यह देख कर जीव भी शक्ति का प्रयोग बसाने में करे, न कि उजाड़ने में। तभी वह प्रभु का प्रिय बनेगा और इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स' होगा।

भावार्थ—उस वासर ज्योति का दर्शन कर हम शक्ति का प्रयोग निर्माण के लिये करें, न कि ध्वंस के लिये।

● ● ●

॥ ३ ॥ ऋषिः—१ प्रयोगः; २, ५ भरद्वाजः; ३, १० वामदेवः; ४, ६ वसिष्ठः; ७ विरूपः;
८ शुनःशेपः; ९ गोपवनः; ११ प्रस्कण्वः; १२ मेधातिथिः; १३ सिन्धुद्वीप आम्बरीषः;
त्रित आप्त्यो वा; १४ उशना ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः

उस प्रभु की ओर

३ १   २ ३ १ २   ३ १ २   ३ १ २
अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।
२ ३ २   ३ १ २
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥१॥

जीव के पास अल्पज्ञता के कारण आनन्द नहीं। उसकी खोज में वह इधर-उधर जाता है। जाने के स्थान दो ही हैं :—या तो प्रकृति की ओर, या प्रभु की ओर। 'प्रकृति में आनन्द नहीं' इस ज्ञान के न होने से वह उसकी ओर भी जाता है। उसकी ओर भी क्या, उसकी ओर ही जाता है—चूंकि चमकीली होने से उसे वह आकृष्ट कर लेती है। औरों के कहने पर भी वह स्वयं देखना चाहता है, और प्रकृति की ओर जाकर स्वयं अनुभव लेना चाहता है कि वहां आनन्द है या नहीं। वेद कहता है कि ऐ जीवो! [**अग्निं अच्छा**] उस प्रभु की ओर चलो [**वो वृधन्तम्**] जो कि तुम्हारा सब तरह से बढ़ाने वाला है। अरे! प्रकृति तो अपने में फंसा कर उन्नति में विघ्न डालने वाली है। [**अध्वराणां**] हिंसारहित उत्तम कर्मों का [**पुरूतमम्**] सर्वोत्तम पालन व पूरण करने वाला वह प्रभु ही है। प्रकृति तो पारस्परिक कलह व विध्वंस की भावना को जन्म देने वाली है।

प्रकृति की ओर न जाकर प्रभु की ओर क्यों जाना? इसका कारण स्पष्ट करते हुए वेद कहता है—[**'नप्त्रे'**] अपने को न गिरने देने के लिये और [**'सहस्वते'**] बलवान् बनने के लिये। प्रभु-प्रवण व्यक्ति पतित नहीं होता, प्रकृति में फंसा कि गिरा। प्रभु के सम्पर्क से शक्ति प्राप्त होती है--प्रकृति के सेवन से शक्ति जीर्ण हो जाती है। नचिकेता के शब्दों में ये प्राकृतिक भोग सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करते हैं। 'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।' एवं प्रकृति का सम्पर्क हीन है, प्रभु का सम्पर्क ही उत्तम है। प्रभु कृपा से हम इस उत्तम योग=सम्पर्क को करते हुए इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' बनें।

भावार्थ—सर्वाङ्गीण उन्नति, उत्तम कर्मों की पूर्ति, अपतन तथा शक्ति की प्राप्ति के लिये प्रभु की ओर चलो।

अत्रियों का निमन्त्रण

३ २   ३   १ २   ३   २   ३   २ ३ २   ३ २   ३ १ २
अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यंसद्विश्वं न्या३त्रिणम्।
३ १ २   ३ २
अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥२।

[**'अग्निः'**] वह आगे ले चलने वाला प्रभु=अग्र मोक्ष स्थान को प्राप्त कराने वाला प्रभु [**'तिग्मेन'**] अति तीक्ष्ण [**'शोचिषा'**] ज्ञान की दीप्ति से [**'विश्वं'**] हमारे अन्दर प्रवेश कर जाने वाले [**'अत्रिणम्'**] और हमें खा जाने वाले अर्थात् हमारी आत्मिक उन्नति को समाप्त कर देने वाले काम क्रोध लोभ को [**'नियंसत्'**] नियन्त्रित करता है।

काम, क्रोध, लोभ अनियन्त्रित अवस्था में मनुष्य के शत्रु हैं। नियन्त्रित होकर ये शत्रु न रह

मित्र हो जाते हैं। 'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः' ये मनु के शब्द वेदाध्ययन व वेदमूलक कर्मकाण्ड को काम से ही होने वाला कह कर काम की उपादेयता को स्पष्ट कर रहे हैं। विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्ति में जितना कम सन्तोष हो उतना ही ठीक है तथा 'संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने। त्रिषु चैव न कर्तव्यो दाने तपसि पाठने'=दान, तप और पाठन में लोभ होना ही चाहिये। 'मृदुदण्डः परिभूयते' 'अत्यन्त मृदु का पराभव ही होता है' ये चाणक्य के शब्द क्रोध की भी मर्यादित रूप में आवश्यकता को स्पष्ट कर रहे हैं। एवं इनका नाश न कर नियमन ही ठीक है।

इन नियन्त्रत कामादि से मनुष्य धर्मपूर्वक अर्थ को कमा कर वांछनीय वस्तुओं को जुटाता है और जीवन यात्रा को सफल कर उसकी समाप्ति पर मोक्ष को भी प्राप्त करता है। परन्तु इन सब [**रयिम्**] धनों को=उत्तम पदार्थों को [**नः**] हमारे लिये [**अग्निः**] वह प्रभु ही [**वंसते**] (Wins) विजय करता है। मनुष्य को कभी यह गर्व न होना चाहिये कि रयि का विजेता मैं हूं। उत्तमोत्तम स्थिति में पहुंच कर यदि उस स्थिति-लाभ का गर्व हो गया, तब तो एक तरह से सब किया कराया मिट्टी में मिल गया। इसलिये इस भावना को अपने अन्दर सदा जागरित करना चाहिये कि 'सब करने कराने वाला वह प्रभु ही है, मैं तो निमित्तमात्र हूं।' 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' यह गीता वाक्य न भूलना चाहिये। प्रभु कृपा से काम, क्रोध, लोभ रूप महान् शत्रुओं को भी वशीभूत करने में समर्थ होकर मैं सचमुच ही इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बन सकूंगा। पर उस शक्ति के गर्व का त्याग भी तो मुझे करना ही होगा।

भावार्थ—ज्ञान से काम क्रोधादि नियन्त्रित=वशीभूत रहते हैं, और उत्तम धर्मों की प्राप्ति होती है।

सुख किसे प्राप्त होता है

१ २ ३२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २र
अग्ने मृड महां अस्यय आ देवयुं जनम्।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
इयेथ बर्हिरासदम् ॥३॥

[**अग्ने**] ऐ आगे ले चलने वाले प्रभो! [**मृड**] हमें सुखी करो। [**महान् असि**] आप अत्यन्त महान् हो—सर्वव्यापक हो। सो आप सबको सुखी कर सकते हो।

इस प्रार्थना का उत्तर प्रभु निम्न शब्दों में देते हैं:—

[**देवयुं जनं**] शुभ गुणों को चाहने वाले मनुष्य को [**अयः**] शुभावह विधि=good fortune=good luck=उत्तम संपत्=कल्याण [**आ**] आगच्छति=प्राप्त होता है।

जो व्यक्ति शुभ गुणों को अपनाने का संकल्प करता है, वह अशुभ भावनाओं को अपने हृदय से उखाड़ता है। उसमें से आसुरी भावनाओं को दूर करता है। उन्हें दूर करके हो दिव्य गुणों के बीज का वहां वपन होता है। बृह् धातु का अर्थ उत्पाटन है, सो दुर्गुणों का जिसमें से उत्पाटन हुआ उस हृदय को भी 'बर्हि' नाम दिया गया है।

इस [**बर्हि**] शुद्ध हृदयाकाश में [**आसदम्**] बैठने के लिये ऐ प्रभो! आप [**इयेथ**] आते हो। शुद्ध हृदय में ही उस दिव्य ज्योति का दर्शन होता है। और इस प्रकार सुख प्राप्ति के लिये हमने प्रयत्न किया। सुख को तो पाया ही, साथ ही प्रभु को भी हम पा गये। प्रभु करें कि हम 'देवयु जन'=शुभ गुणों को चाहने वाले जनों में से हों। तथा प्रयत्न करके उत्तम गुणों को अपना कर इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' हों।

भावार्थ—'दिव्य गुणों को अपनाना' मनुष्य को सुखी करता है और प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाता है।

उन्नति का लक्षण

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने रक्षा णो अंहसः, प्रतिस्म देव रीषतः।
१ २ ३ १ २
तपिष्ठैरजरो दह ॥४॥

[**अग्ने**] ऐ आगे ले चलने वाले प्रभो [**नः**] हमें [**अंहसः**] पाप से [रक्षा] बचाइये। 'उन्नति' पाप से बचने का ही नाम है। सामान्यतः हम सांसारिक दृष्टिकोण से ही उन्नति को आँका करते हैं। परन्तु वह उन्नति गौण है, मुख्य उन्नति तो यह अध्यात्म उन्नति ही है। अधिक धन का उपार्जन करने लगना, ऊँचे पद पर पहुंचना या प्रधान बन जाना आदि बातों का कुछ महत्त्व नहीं यदि हम अपने जीवन को निष्पाप नहीं बना पाते।

ऐ देव ! [**रीषतः**] हिंसा करते हुए शत्रुओं में से [**प्रतिरक्षा**] एक-एक से हमारी रक्षा करिये। बाह्य शत्रुओं से रक्षा की आराधना तो होती ही है परन्तु इन काम, क्रोधादि अन्तःशत्रुओं में प्रत्येक से रक्षा के लिए यहाँ प्रार्थना करते हैं। प्रभु को यहाँ देव शब्द से संबोधन करने का अभिप्राय ही यह है कि हम भी देव बनें।

देव बनने के लिए मन्त्र के अन्त में उपदेश है कि [**तपिष्ठैः**] तपस्वी जीवनों से [**अजरः**] न जीर्ण होता हुआ [**दह**] तू इन काम आदि को भस्म कर डाल। क्या बाल्य जीवन, क्या यौवन, क्या वार्धक्य, हमारे तीनों जीवनकाल तपस्वी हों। भोग हमें जीर्ण कर डालते हैं। उनमें न फंसते हुए हम अजर बने रहें और इस प्रकार इन जीर्ण कर देने वाले काम आदि को जला डालें। और इस प्रकार कामादि को पूर्णरूपेण वशीभूत करके हम इस मन्त्र के ऋषि 'वशिष्ठ' बनें।

भावार्थ—तपस्वी बन कर ही काम आदि को जलाया जा सकता है। और इस प्रकार मनुष्य देव बनता है और पापों से बच कर वास्तविक उन्नति का करने वाला होता है।

कैसे घोड़े ?

१ २ ३ १ २र ३ १ २
अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः।
२ ३ १ २ ३ १ २
अरं वहन्त्याशवः ॥५॥

मन्त्र का सरलार्थ इस प्रकार है कि ऐ [**अग्ने**] ऐ देव [**ये**] जो [**तव**] तेरे [**साधवः**] यात्रा को सिद्ध करने वाले [**अश्वासः**] घोड़े हैं उन्हें [**हि**] ही [**युङ्क्ष्वा**] हमारे रथ में जोड़िये, जो कि [**आशव.**] शीघ्र मार्ग को व्याप्त करने वाले [**अरं**] सुन्दरता से खूब (अलं=भूषण तथा पर्याप्ति) [**वहन्ति**] रथ का वहन करते हैं।

यहाँ घोड़ों की तीन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है। [**साधवः**] यात्रा को सिद्ध करने वाले। [**आशवः**] शीघ्रता से मार्ग को व्याप्त करने वाले। तथा [**अरं**] सुन्दरता से और खूब=न थकते हुए वहन करने वाले।

इस मन्त्र को पढ़ते ही उपनिषदों के उस रूपक की ओर ध्यान जाता है जिसमें कि शरीर को रथ कहा है, ये दस इन्द्रियां उस रथ के घोड़े हैं, मन लगाम, बुद्धि सारथि तथा आतमा रथी है। यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति के लिए इनमें से एक-एक चीज का महत्व है। क्या रथ, क्या घोड़े, क्या लगाम, और क्या सारथि—किसी एक का भी अभाव यात्रा को विघ्नित कर देने के लिए पर्याप्त है। रथी के न होने पर तो यात्रा का कुछ अभिप्राय ही नहीं रह जाता।

इन सब चीजों में यहाँ घोड़ों का विशेष रूप से उल्लेख है। ये इन्द्रिय रूप घोड़े कैसे होने चाहिए, इस बात का यहाँ प्रतिपादन इस प्रकार है कि:—

१—साधवः=सिद्ध करने वाले, निर्माण करने वाले न कि नाश करने वाले। हम प्रयत्न करें कि हमारी इन्द्रियां अपना-अपना कार्य ठीक रूप से करती हुई हमारे जीवन का सुन्दर निर्माण करें। ये इन्द्रियां भोगों के भोगने में ही न लगी रहें। कहीं हम इन दसों इन्द्रियों को भोग-भोगने का

साधन बना सचमुच दस मुखों वाले रावण न बन जांय।

२—अरं=सुन्दरता से खूब। ये इन्द्रियां जो भी काम करें कुशलता से करें, उस कार्य में सौन्दर्य हो–अनाड़ीपन न टपके। यही तो योग है 'योगः कर्मसु कौशलम्'। और ये इन्द्रियां अनथक हों। अन्यथा जीवन यात्रा कैसे पूर्ण होगी? अर्थात् हम कभी अलसा न जायें।

३—आशवः (अशू=व्याप्तौ)। शीघ्रता से मार्ग को व्यापने वाली यह जीवन-यात्रा अत्यन्त लम्बी है। प्राणायाम मन्त्र में इसकी सात मंजिलों का सुन्दर वर्णन है। सो सुस्ती से तो यहाँ काम चल ही नहीं सकता। अपने इन्द्रिय रूप घोड़ों को शक्तिशाली बनाकर ही तो हम इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' बन पायेंगे।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियां कार्यों को सिद्ध करने वाली हों, अपने कार्य को सुन्दरता से न थकती हुई करती रहें, और उनमें तेजस्विता के कारण मन्दता व शैथिल्य न हो।

प्रभु का किस रूप में ध्यान?

१ २ ३ १ २ ३ २
नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम्।
३ १ २
सुवीरमग्न आहुत ॥६॥

ऐ [**नक्ष्य**] गन्तव्य प्रभो! [**वयं**] हम [**त्वा**] आपको [**नि धीमहे**] ध्यान करते हैं व धारण करते हैं। आप ही गन्तव्य हैं। प्रकृति की ओर जाने में तो मनुष्य का कल्याण नहीं। प्रथम तो उस मार्ग में सन्तोष नहीं, फिर संपत्ति व तज्जन्य भोग मानव शक्तियों को जीर्ण करते हैं और जब प्रकृति में आनन्द नहीं तो वस्तुतः वह आनन्द दे ही कैसे सकती है। इसलिए गन्तव्य तो प्रभु ही हैं। वह गन्तव्य क्यों है? चूंकि [**विश्पते**] वह प्रजाओं का पालक है। संसार में भी जो कोई पालक वृत्ति वाला होता है वही सभी दुःखियों का शरणस्थान बन जाता है। वह पालक क्यों है? चूंकि [**द्युमन्तम्**] वह ज्योतिर्मय है। जो जितना ज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ेगा उतना ही वह स्वार्थ को छोड़ परार्थ में लगेगा।

वह प्रभु [**सुवीरम्**] (सु+वीः, तां ईरयति, वी गतौ) शोभन गति को प्राप्त कराने वाला है और इसीलिये उत्तम वीर भीं है। सुवीर वही जो औरों का हित करे।

[**अग्ने**] वह सबको सदा अग्र स्थान की ओर ले चल रहा है। और इसलिए ही वह [**आहुत**] है। उसने चारों ओर उत्तम पदार्थों को हमें प्राप्त कराया है। (आ=समन्तात् हुतं=दानं यस्य) हमारे उत्कर्ष साधन के लिए सभी आवश्यक पदार्थ उसने जुटा दिये हैं। हमारे ज्ञान की कमी से हम उनका प्रयोग न कर सकें यह और बात है। उल्लिखित रूप में प्रभु का ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने को भोगवाद का शिकार नहीं होने देता। वह अपने पर काबू करने वाला इस मन्त्र का ऋषि 'वशिष्ठ' बनता है।

भावार्थ—प्रभु की तरह हम भी गन्तव्य बनें, इसके लिए प्रजा पालक बनें, ज्ञान प्राप्त कर प्रजा-पालन की योग्यता को बढ़ायें। औरों को दुःख से छुड़ा उत्तम स्थिति प्राप्त कराने में ही वीरता समझें। औरों का पथप्रदर्शन करते हुए अग्नि बनें, उसके लिए अधिक से अधिक त्याग करें।

शिखर पर

३ २ ३ ४ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ २
अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
३ १ ३र
अपां रेतांसि जिन्वति ॥७॥

[**अग्निः**] जीवन तो वह है जो अपने को आगे ले चलता है (अग्रे नयति)। आगे कहाँ तक? [**मूर्धा**] शिखर तक, जो चोटी पर पहुंच कर ही दम लेता है। भर्तृहरि ने ठीक हो लिखा है कि 'कुसुमस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते बन एव वा' उत्तम मन वाले पुरुष की दो प्रकार की मनोवृत्ति होती है। या तो वह शिखर पर पहुंचता है, या वन में ही तपस्या से अपने को क्षीण कर देता है। उनकी सारी साधना शिखर

पर पहुंचने के लिए होती है। किसके शिखर पर ? [**दिवः ककुत्**] ज्ञान के शिखर पर। वह व्यक्ति ज्ञान रूप का पर्वत के शिखर पर पहुंचने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का वस्तुतः यही लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने-ज्ञान को चरम सीमा तक ले चले।

ज्ञान को प्राप्त करने के लिये ही [**पतिः पृथिव्याः अयम्**] यह इस पार्थिव शरीर का पति बना है। जो भी इस पार्थिव=भौतिक शरीर की भौतिक वासनाओं को संयम में रखता है, उन वासनाओं पर काबू पाता है, वही अपने ज्ञान को बढ़ाने में समर्थ होता है। संयम के अभाव में ज्ञान-वृद्धि संभव नहीं। किसी भी इन्द्रिय का व्यसन लगा और प्रज्ञा का विनाश हुआ।

इस संयम यज्ञ की सिद्धि के लिए वह [अपां रेतांसि जिन्वति] जल देवता के अंशावतार ('आपः रेतो भूत्वा'—ऐतरेय) वीर्यशक्ति से अपने शरीर को परिणित करता है। अर्थात् वीर्य का अपव्यय नहीं करता। ब्रह्मचर्य को धारण करता है। यही तो ब्रह्म की ओर जाने का मार्ग है। यह व्यक्ति सांसारिक व्यवहारों की सिद्धि के लिये धनादि का अर्जन करता हुआ इस ज्ञान के शिखर पर पहुँचने रूप महान् लक्ष्य को कभी नहीं भूलता। इसका जीवन अन्य मनुष्यों के जीवन से एक विशेषता को लिये हुए होता है। और चूंकि इसका जीवन विशिष्ट रूप वाला होता है सो यह 'विरूप' कहलाता है। यही तो इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—मानव जीवन का लक्ष्य ज्ञान-पर्वत के शिखर पर पहुंचना है—इसी के लिये उसने संयमी बनना है।

देवों के तीन पाठ

३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २
अग्ने देवेषु प्रवोचः ॥८॥

ऐ [**अग्ने**] हमारी उन्नति व अग्रगति के साधक प्रभो [**त्वं**] आप [**अस्माकं**] हमारे [**देवेषु**] देवों में (चक्षु आदि के रूप में अंग-प्रत्यंग में निवास करने वाले सूर्यादि देवों में) [**इमं**] इस [**सनिं, गायत्रं, नव्यांसं**] सनि आदि का [**उ**] निश्चय से [**सु**] अच्छी तरह [**प्रवोचः**] प्रवचन कर दें।

ऐ प्रभो ! आप हमारे अंग-प्रत्यंग को इन सनि आदि का अच्छी तरह पाठ पढ़ा दें।

पहला पाठ 'सनि' का है (षणु दाने व षण संभक्तौ) हमारी प्रत्येक इन्द्रिय दान व संविभाग का पाठ पढ़े। आँख ज्ञान को प्राप्त करे तो उस ज्ञान को औरों के लिए भी दे। हमारा हाथ धन कमाये तो उसे दान करना भी आये। हमने सब वस्तुएँ संविभागपूर्वक ही सेवन करनी हैं।

दूसरा पाठ 'गायत्र' का है (गायतिः अर्चनकर्मा) निघण्टु में इसका अर्थ अर्चन=पूजन है। हमारा अंग-प्रत्यंग प्रभु की अर्चना करे। हम उसके अनन्य उपासक हों। उसका भक्त गीता के अनुसार 'सर्वभूतहिते रतः' होता है। सो हम प्रजा व प्राणियों के सेवक बनें।

तीसरा पाठ [**नव्यान्**] का है। (नू स्तुतौ) हमारा अंग-प्रत्यंग खूब स्तुति करने वाला हो। हमारे से किसी की निन्दा न हो। हम प्रशंसा ही प्रशंसा करें। निन्दात्मक शब्द न उच्चारण करें, न सुनें। यदि हम ऐसा करते हैं तो उसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हमारी वाणी व श्रोत्र असुरों से पराजित हो गए हैं, अतएव अपकथन व अपश्रवण में वे लगे हैं। यदि हमारी इन्द्रियां सचमुच 'सनि' गायत्र और नव्याम्' अर्थात् दान, अर्चना व स्तुति का पाठ पढ़ेंगी तो हमारा जीवन तो उत्तम बनेगा ही, और साथ ही हम इस संसार के अन्दर सुख की वृद्धि का कारण बनेंगे और तब इस मन्त्र के ऋषि 'शुन-शेप' (सुख का निर्माण करने वाला) कहलाने के अधिकारी होंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन दानमय, प्राणी सेवा में लगा हुआ व सदा सब के लिए शुभ भावना वाला हो।

गो-पवन

१ २ ३ १२ ३१२ २२
तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अंगिर. ।
१ २ ३ १२
स पावक श्रुधो हवम् ॥९॥

ए [**अग्ने !**] आगे ले चलने वाले प्रभो या ज्ञानाग्नि से वासनाओं को भस्म कर देने वाले प्रभो ! [**अंगिरः**] अङ्ग-अङ्ग में बल का संचार करने वाले प्रभो ! [**तं**] उस [**त्वा**] तुझे [**गोपवनः**] अपनी इन्द्रियों को पवित्र करने वाला व्यक्ति ही [**गिरा**] वाणी से=संकीर्तन के द्वारा [**जनिष्ठत्**] आविर्भूत करता है ।

प्रभु केवल कीर्तन से प्रकट नहीं होते । कीर्तन तो दम्भ के लिए भी होता है । धर्मध्वजी स्वार्थ-लिप्सा के लिए उसका आश्रय लिया करते हैं । अर्थ व यश को प्राप्त करने के लिए धर्म उनका साधन मात्र होता है, और कई बार तो उनकी अनुचित वासनायें धर्म के आवरण में सुरक्षित रहती हैं । केवल कीर्तन ही प्रभु को रिझा लेगा, सो बात नहीं है ।

प्रत्येक कीर्तन करने वाला उस प्रभु को नहीं पा सकता । वेद कहता है कि प्रभु का आभास तो 'गोपवन' को ही होता है । गोपवन है गो=इन्द्रियों को, पवन=पवित्र करने वाला । इन्द्रियों को पवित्र करने के लिए ही इससे पूर्व के मन्त्र में आराधना थी कि मेरी इन्द्रियां दान, अर्चना व स्तुति का पाठ पढ़ें । इन तीन क्रियाओं में लगाकर इन्द्रियों को पवित्र बनाने वाला व्यक्ति ही प्रभु दर्शन का अधिकारी होता है । प्रभु दर्शन कर वह उस 'सहस्रधार' में स्नान कर और भी अधिक पवित्र हो जाता है ।

सो हम सब भी उस प्रभु से आराधना करते हैं कि ऐ प्रभो ! [**स**] वे आप [**पावक**] पवित्र करने वाले हैं । [**हवं**] मेरी भी प्रार्थना को—पुकार को [**श्रुधि**] सुनिये । मुझे भी पवित्रता प्राप्त करने की कामना है—मैं भी आपको पुकार रहा हूं । पर यह तो निश्चित ही है कि जैसे माता बच्चे की पुकार को तभी सुनती है जब वह उस पुकार को सत्य समझती है, उसी प्रकार मेरी भी पुकार तभी सुनी जायेगी जब वह सत्य होगी । पर प्रभो ! यह पवित्रता की सच्ची भूख भी तो आपकी कृपा से ही लगेगी । प्रभु करें कि हम अपनी इन्द्रियों को पवित्र करने वाले होकर इस मन्त्र के ऋषि 'गोपवन' बनें ।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को पवित्र कर प्रभु कीर्तन के अधिकारी बनें ।

समर्पण

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
२ ३ १ २ ३ १ २
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥१०॥

[**वाजपतिः**] सब अन्नों का पति, और [**कविः**] क्रान्तदर्शी अन्तः प्रविष्ट होकर उन पदार्थों के तत्वों को अच्छी प्रकार जानने वाला और जीवों की स्थिति को भी ठीक-ठीक समझने वाला, अतएव [**अग्निः**] ठीक-ठीक पदार्थों को प्राप्त कराके अग्रगति व उन्नति को सिद्ध करने वाला वह प्रभु [**हव्यानि**] दानपूर्वक अदन योग्य इन पदार्थों को (हु दान+अदन) [**परि अक्रमीत्**] चारों ओर व्याप्त कर रहा है । वह प्रभु अनगिनित अन्नों का स्वामी है । उसने सब प्राणियों के निवास स्थानों में, उस-उस स्थान के जल-वायु के अनुकूल खाद्य पदार्थ प्राप्त कराये हैं । जो भी व्यक्ति [**दाशुषे**] आत्मसमर्पण करता है उसके लिए वह प्रभु [**रत्नानि**] उत्तम पदार्थों को [**दधत्**] धारण करते हैं ।

उत्तमोत्तम पदार्थ हमारे चारों ओर मौजूद हैं । 'उनमें कौनसा हमारे लिए इस समय उपादेय है कौनसा नहीं' यह बात अल्पज्ञता वश हम ठीक ठीक नहीं समझते । वह प्रभु क्रान्तदर्शी=तत्त्वज्ञ होने से ठीक-ठीक समझते हैं । हमें चाहिए कि प्रभु के

प्रति आत्मार्पण करते हुए हम परिश्रम के परिणाम के रूप में पदार्थों के प्राप्त कराने का भार उस प्रभु पर ही डाल दें। वे ठीक पदार्थों को=रत्नों को=सर्वोत्तम वस्तुओं को प्राप्त करा कर हमारी अग्रगति का साधन करेंगे। इसीलिए तो वे प्रभु अग्नि कहलाते हैं। हमने आत्मार्पण न करके स्वयं वस्तुओं का चुनाव किया तो कदम-कदम पर गलती करके अपनी हानि कर बैठेंगे। सो यही ठीक है कि 'जो प्रभु ठीक समझें वही हमें प्राप्त करायें।'

जिस स्थान में हम उत्पन्न हुए हैं, वहां प्रभु ने जो पदार्थ उत्पन्न किये हैं—अर्थात् उस भूमि में जो वस्तुएँ उत्पन्न हो सकती हैं, क्या उन्हीं का खाना हमारे लिये उचित व उन्नति का कारण नहीं है? दुनिया भर के-कोने कोने से पदार्थों को मंगा कर खाना क्या व्यर्थ के कार्य में शक्ति को लगाना नहीं है? क्या ६००० फ़ीट की ऊँचाई पर पैदा होने वाले पदार्थ समुद्रसमपृष्ठभूमि पर रहने वाले मनुष्यों के लिये अत्यन्त ऊष्ण प्रमाणित नहीं होंगे?

एवं प्रभु के प्रति आत्मार्पण करने वाला व्यक्ति सहज प्राप्त पदार्थों का ही सेवन करता है। जैसे वह बालक जो कि माता से कहता है कि जो वस्त्र मेरे लिये ठीक हों वही ले दीजिये, जैसे मरीज वैद्य से कहता है कि जो औषधि आप ठीक समझें दीजिये, और जैसे शिष्य गुरु से कहता है कि जैसे उचित समझें उसी प्रकार मेरा शिक्षण करिये, इसी प्रकार जीव को भी चाहिये कि प्रभु के प्रति अर्पण कर दे और यही आराधना करे कि जिस स्थिति में ठीक समझते हैं, रखिये। तभी हम अपने जीवन को उत्तम गुणों से सम्पन्न बनाकर इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना समर्पण करें, वे हमें रत्नों को देंगे।

दर्शन

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
३१र २र ३ १ २
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥११॥

पिछले मन्त्र में समर्पण का विषय चल रहा था। समर्पण उसी के प्रति होता है जिसे कि हम देख पायें। अनदिखे के प्रति अर्पण क्या! बच्चा कष्ट में होता है तो माता दिखे तो माता के प्रति, पिता दिखे तो पिता के प्रति, नौकर दिखे तो नौकर ही के प्रति भागता है। इसी प्रकार कष्ट पतित जीव को भी प्रभु दिखेंगे तभी तो उनके प्रति अर्पण करेगा। तो समर्पण के बाद दर्शन का विषय आता है।

[**उत् उ**] ऊपर उठ कर ही। जब तक जीव प्राकृतिक भोगों में उलझा हुआ है तब तक तो प्रभु दर्शन कर ही नहीं सकता। जब तक साड़ी के रंग ने ही हमारे ध्यान को आकृष्ट किया हुआ है तब तक उस प्रभु के दर्शन का प्रसंग ही क्या! सो इन बातों का तो एक बार निर्णय कर इनमें फिर शक्ति न लगाना ही ठीक है। जिस दिन इस प्रकार हम इन प्रकृति की उलझनों से [**उत्**] out=बाहर निकल जायेंगे उसी दिन [**त्यं**] उस दूर से दूर सर्वत्र विद्यमान [**जातवेदसं**] प्रत्येक पदार्थ के अन्दर मौजूद [**देवं**] ज्ञानाग्नि से दीप्त (देवो दीपनात्) [**सूर्यम्**] सबको प्रकाशित करने वाले उस प्रभु को [**केतवः**] ज्ञानी विचारशील होकर ही (कित ज्ञाने) [**वहन्ति**] धारण करेंगे।

परमेश्वर की सत्ता हमारे हृदयों में है, पर ज्ञान के अभाव में उसकी सत्ता हमारे लिये न होने के ही समान है। सो विचारशील बनने पर उस प्रभु को ज्ञानी अपने अन्दर धारण करते हैं।

पर ये ज्ञानी उस प्रभु का दर्शन कर उस अद्भुत रस में ही निमग्न नहीं हो जाते अपितु [**विश्वाय दृशे**] (सर्वेषां दर्शनाय) जगत् रूपी जंगल में भटकते हुए अन्य जीवों को भी उस प्रभु का वे दर्शन कराने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये भी वे स्वार्थी नहीं बन जाते। इनका जीवन ही यह प्रमाणित करता है कि ये स्वार्थ की गन्ध से दूर हैं। परिणामतः मूर्खता से भी दूर हैं। ये वस्तुतः मेधावी हैं, इस मन्त्र के ऋषि 'प्रस्कण्व' बनने के योग्य हैं।

भावार्थ—ज्ञानी चिन्तन करके, प्रकृति को उलझनों से ऊपर उठ, उस प्रभु का दर्शन करते हैं और अन्य मनुष्यों को भी उसका दर्शन कराने का प्रयत्न करते हैं।

चार रूपों में स्मरण

३ २ ३१र २र ३ १ २ ३ २
कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे ।
३ १ २ ३ १ २
देवममीवचातनम् ॥१२॥

ऐ जीव ! [**अ-ध्वरे**] इस ध्वर (हिंसा) रहित जीवन यज्ञ में [**अग्निम्**] उस आगे ले चलने वाले प्रभु को [**उपस्तुहि**] समीप से स्तुति कर। जीवन का स्थूल सिद्धान्त तो यह होना चाहिये कि हमारे से किसी की हिंसा न हो। हम यथासम्भव औरों का कल्याण ही कल्याण करें। इस स्थिति में हमारे लिये वे प्रभु अवश्य अग्नि=आगे ले चलने वाले होंगे। एवं संक्षेप में, अहिंसा का मार्ग ही उन्नति का मार्ग है।

इस जीवन में हम उस प्रभु की समीप से रक्षा करें। उसको सदा समीप समझते हुए उत्तम गुणों में प्रीति वाले बनें। ये उत्तम गुण इस मन्त्र के चार शब्दों से सूचित हो रहे हैं।

क. अमीवचातनम्=नीरोगता
ख. देवं =दीपन, प्रकाश
ग. सत्यधर्माणम् =सत्य का धारण
घ. कविम् =क्रान्तदर्शी होना

अन्नमय कोश के दृष्टिकोण से उस प्रभु को हम [**अमीवचातनम्**] के रूप में स्मरण करें। वह रोगों का नाश करने वाला है (अमीव=रोग, चातन=नाशक)। उस प्रभु के स्मरण से मानव जीवन भोग-प्रधान नहीं बनता और परिणामतः रोग भी नहीं होते। मनुष्य स्वभाव की कमज़ोरी से अचानक कोई रोग हो भी जाय, तो प्रभु ने विविध औषधों का आयोजन किया ही है। स्तोता का कर्तव्य है कि शरीर को स्वस्थ रखे।

प्राणमय कोश के दृष्टिकोण से वे प्रभु [**देव**] हैं (देवोद्योतनात्) सब प्राणों, सब इन्द्रियों को (प्राणाः वावइन्द्रियाणि) वे द्योतित करने वाले हैं। ज्ञान के लिये साधनभूत ये इन्द्रियां ज्योतिर्मय हैं। इनको यह ज्योति उस प्रभु से ही प्राप्त करायी गयी है। प्रभु के स्मरण करने वाली ये इन्द्रिय-शक्तियां क्षीण नहीं होती।

मनोमय कोश के विचार से वे प्रभु [**सत्य धर्मा**] हैं। सत्य के द्वारा इस मन की पवित्रता की प्रभु ने व्यवस्था की है। यह सत्य मन को रागद्वेषादि मलों से दूर रखता है। एक स्तोता ने इस सत्य के द्वारा मन के नैर्मल्य का सम्पादन करना है।

विज्ञानमय कोश के दृष्टिकोण से मन्त्र में प्रभु को [**कवि**] कहा गया है। वह क्रान्तदर्शी है। स्तोता ने भी क्रान्तदर्शी बनना है। इस मार्ग पर चलना ही बुद्धिमत्ता है। प्रभु कृपा होगी तो हम भी बुद्धिमान् ही बनेंगे और इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' होंगे।

भावार्थ—प्रभु रोगों से दूर, ज्योतिर्मय सत्य स्वरूप व ज्ञान-धन हैं। स्तोता ने भी इस प्रकार बनना है। स्तुति का तो लाभ ही उस प्रभु के गुणों में प्रीति है।

दिव्य बुद्धियां (Libraries)

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो भवन्तु पीतये ।
२उ ३ १ २
शं योरभि स्रवन्तु नः ॥१३॥

१—[**देवीः**] दिव्य बुद्धियां, [**नः शम्**] हमारे लिये शान्ति को देने वाली हों। ज्ञान ही मनुष्य को वास्तविक शान्ति प्राप्त करा सकता है। पूर्ण अज्ञान में भी तामस निश्चलता (शान्ति) है ही, परन्तु वहाँ सुख का अनुभव भी नहीं। ज्ञान की पराकाष्ठा में ही वह शान्ति है जो वस्तुतः सुखी करती है।

२—[**अभिष्टये**] ये दिव्य बुद्धियां ही आक्रमण के लिये होती हैं। हमारे पर जो भी आसुर

भावनायें आक्रमण करती हैं, उनसे ज्ञान ही प्रत्याक्रमण द्वारा हमारी रक्षा करता है। मानस आधियों की तरह शारीरिक व्याधियों पर भी ज्ञान ने ही आक्रमण करना है। संसार में रोगों के औषध तो उस प्रभु ने पैदा किये ही हैं, पर ज्ञान से ही तो उनका ठीक प्रयोग कर हम सर्वथा नीरोग हो पायेंगे।

३—[**शं नः भवन्तुः पीतये**] इस प्रकार नः= हमारे शम्=रोगों को शान्त करते हुए ये जल पीतये— रक्षा के लिये भवन्तु=हों। ज्ञान का अभाव विनाश का मार्ग है। ज्ञान ही वह कवच है जो आधि-व्याधियों से मानव की रक्षा करता है।

४—[**शंयोः**] ये शान्ति के देने वाली तथा सब भय व रोगों का निवारण करने वाली दिव्य बुद्धियां [**नः**] हमारे [**अभिस्रवन्तु**] चारों और बहें। अर्थात् हम सदा ज्ञान के वातावरण में रहें। हमारे चारों ओर ऋषि-महर्षि अपने ग्रन्थों के रूप में उपस्थित हों और उनके संग में हम सदा अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए शान्ति, शक्ति, रक्षा तथा नीरोगता आदि का अनुभव करें। और ज्ञान के द्वारा तीनों प्रकार के कष्टों से उत्तीर्ण होकर इस मन्त्र के ऋषि 'त्रित' बनें।

भावार्थ—ज्ञान के समान पवित्र करने वाली कोई वस्तु नहीं है। हम ज्ञान समुद्र में डुबकी लगाने का अभ्यास करें।

ज्ञान से सनी वाणियां

१ २ ३१र २र ३ १ २
कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
गोषाता यस्य ते गिरः ॥१४॥

(१) [**सत्पते**] ऐ सज्जनों के रक्षक प्रभो! यह शब्द हमें बोध दे रहा है कि हम सज्जन बनें, वे प्रभु हमारी रक्षा करेंगे।

(२) [**नूनं**] निश्चय से आप [**कस्य**] सुख की [**परीणसि**] पालन व पूरण करने वाली (पृ=पालनपूरणयोः) [**धियः**] बुद्धियों को [**जिन्वसि**] देते हो। इस वाक्य का बोध स्पष्ट है कि प्रभु की दी हुई प्रेरणायें हमारे कल्याण की साधिका हैं। हम उन्हें सुनेंगे तो हमारा कल्याण अवश्य होगा। हृदयस्थ उस प्रभु की आवाज को हम न भी सुन पायें तो वेदस्थ उसके शब्दों को तो पढ़ व सुन ही सकते हैं। हमें उन्हें सुनना और अपने जीवन को कल्याणमय बनाना चाहिये।

३—ऐ प्रभो [**यस्य**] जिस, [**ते**] आपकी, [**गिरः**] वाणियां, [**गोषाता**] (**गो+सन्**) ज्ञान से सनी हुई हैं। प्रभु की वेद वाणियां ज्ञान रस परिपूर्ण हैं। वेद क्या हैं? "रायः समुद्रान् चतुरः" ये ज्ञान के चार समुद्र हैं। समुद्र भी रत्नाकर होते हैं, ये भी ज्ञानरत्नों से भरे पड़े हैं, इससे हमें भी यह बोध लेना चाहिये कि हमारी वाणियां ज्ञान से भरी हों। हमारी परस्पर बातचीत हमारे ज्ञान को बढ़ाने वाली हो। क्या इस बोध के लेने पर हमारी बातें स्तुति व निन्दा से भरी हुई हो सकती हैं? नहीं। तब तो हम सभी के साथ प्रेम करने वाले, सभी का हित चाहने वाले इस मन्त्र के ऋषि 'उशना' बनेंगे।

भावार्थ—हम सज्जन बनें, प्रभु प्रेरणा को सुनें, हमारे वार्तालाप भी प्रकाशमय हों।

* * *

॥ ४ ॥ ऋषिः—१, ३ शंयुः; २ भर्गः; ४ वसिष्ठः; ५ भारद्वाजः; ६ प्रस्कण्वः; ७ तृणपाणिः; ८ विरूपः; ९ शुनःशेपः; १० सौभरिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्द—बृहती ॥ स्वर. मध्यमः ॥

अमर व ज्ञानी बनना

प्रिय मित्र (की स्तुति) का शंसन

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३१र
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं
२र
न शंसिषम् ॥१॥

बृहस्पति पुत्र 'शंयु' सबकी शान्ति को (कल्याण को) चाहने वाले इस मन्त्र के ऋषि हैं। वे कहते हैं कि [**वयम्**] हम [**अ-मृतं**] उस अमर [**जात-वेदसम्**] प्रत्येक पदार्थ के जानने वाले सर्वत्र विद्यमान प्रभु की [**प्रियं मित्रं न**] प्यारे मित्र की तरह [**प्र प्र शंसिषम्**] स्तुति करते हैं और खूब स्तुति करते हैं।

स्तुति का अभिप्राय गुणों में प्रीति करना है। हम भी प्रभु की तरह अमर व ज्ञानी बनने का प्रयत्न करते हैं। शंयु के लिये ऐसा करना आवश्यक ही है, चूंकि "यद्-यद् आचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेत्तरो जनः।" उसे देख कर ही तो सामान्य लोग भी इसी मार्ग का अनुसरण करेंगे। इसीलिये मन्त्र में भी कहते है कि [**वः**] तुम्हारे [**यज्ञायज्ञा**] (तृतीया में टा का डा करके यह रूप बना है) यज्ञों के द्वारा [**अग्नये**] अग्रगति के लिये [**च**] और [**गिरा गिरा**] वेदवाणियों द्वारा [**दक्षसे**] योग्य बनने के लिए हम उस प्रभु का अमर व सर्वज्ञ रूप में शंसन करते हैं।

मनुष्य यज्ञों के द्वारा ही उन्नत होता है और अमरता का लाभ करता है। एवं ये यज्ञ उसके अभ्युदय (उन्नति) व निःश्रेयस (अमरता) का कारण बनते हैं।

इसी प्रकार वेदवाणी से मनुष्य का ज्ञान व योग्यता बढ़ती है। मनुष्य के साम्ने ये ही दो लक्ष्य हों कि यज्ञों के द्वारा अमर व वेदवाणी के द्वारा योग्य बनाना है। तभी हमें चाही हुई शान्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—मनुष्य यज्ञों से अपनी उन्नति साधे और वेदवाणी से अपने ज्ञान को बढ़ाये।

चार वाणियों के द्वारा रक्षा

३ १ २ ३ १२ ३ २ २ ३ १ २
पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाहि
२ ३ १ २
चतसृभिर्वसो ॥२॥

हे [**अग्ने**] आगे ले चलने वाले प्रभो! [**एकया**] ऋग् रूपी प्रथम वाणी से [**नः**] हमारी रक्षा कीजिये [**उत**] और [**द्वितीयया**] यज्ञरूप द्वितीय वाणी से भी [**पाहि**] रक्षा कीजिये।

ऋग्=विज्ञान वेद है। विना विज्ञान के मनुष्य की उन्नति सम्भव नहीं। संसार में जिन जातियों ने विज्ञान में प्रगति की, वे आगे बढ़ गईं। विज्ञान के अभाव में जातियां पिछड़ गईं। परन्तु इसी अग्रगति के लिये 'यजुरूप वाणी' से भी रक्षा की प्रार्थना की गई है। यजुर्वेद कर्मवेद है। उसमें उत्तम कर्मों का प्रतिपादन है। लोकहित के लिये कर्म करने का उपदेश है। वास्तव में विज्ञान का प्रयोग यज्ञमय कर्मों में न कर, नाशक कर्मों के लिये जब किया जाता है, तब वही विज्ञान अवनति का कारण बन जाता है। एवं ऋग् और यजु मिलकर (विज्ञान व उत्तम कर्म इकट्ठे होकर) हमारी उन्नति करें और इस प्रकार हमारे रक्षक हों।

हे [**ऊर्जाम्पते**] सामर्थ्यों के स्वामिन्! [**तिसृभिः**] पहली दो वाणियों के साथ तृतीय साम रूप वाणी से भी [**पाहि**] रक्षा कीजिये। यह साम ही उपासना है, परमेश्वर के सम्पर्क में आना है, और ट्राईन के शब्दों में 'In tune with the Infinite' अनन्त के साथ एक तान में होना है। तभी तो उसकी शक्ति का प्रवाह हमारे में हो सकता है, और हम भी उसकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं। इसी को आत्मिक शक्ति व मानस शक्ति नाम दिया जाता है। यह शक्ति ही महापुरुषों को सामान्य पुरुषों से भिन्न करती है।

[**वसो**] हे निवासक प्रभो! हमें [**चतसृभिः**] प्रथम तीन के साथ चौथी अथर्व रूप वाणी से भी [**पाहि**] सुरक्षित कीजिये। यह अथर्व वाणी मुख्य रूप से दो संकेत कर रही है। एक तो 'अ-थर्व'= नहीं डांवाडोल होना और दूसरा 'अथ-अर्वाङ्= अब अपने अन्दर अर्थात् औरों का अध्ययन करते रहने की बजाय अपना ही अध्ययन करना। ये ही दो बातें हमारे बसने व न उजड़ने का मुख्य साधन

है। डांवाडोल होना, दृढ़ निश्चय से कार्यों को न करना तथा दूसरों के दोषों का दर्शन करते रहने की बजाय आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने दोषों को जान उनको दूर करना ही वसु=उत्तम निवास वाले बनने का साधन है। इस प्रकार चारों वेदों की ज्ञानाग्नियों से अपने को परिपक्व कर हम इस मन्त्र के ऋषि 'भर्ग' (भ्रस्ज् पाके) बनेंगे और इस प्रकार प्रभु का सच्चा गायन करने वाले 'प्रगाथ' होंगे।

भावार्थ—हम विज्ञान का यज्ञों में प्रयोग कर आगे बढ़ें। भक्ति द्वारा मानस बल को बढ़ायें। तथा स्थिर संकल्प व स्वाध्याय से वसु (उत्तम बसने व बसाने वाले) बनें।

प्रभु का प्रकाश किन में ?

३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
३१ २ ३ १ २ ३१
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठच रेवत्
२
पावक दीदिहि ।३।।

ऐ [**अग्ने**] आगे ले चलने वाले प्रभो! [**बृहद्भि**] वृद्धि की कारणभूत [**अर्चिभिः**] पूजाओं से, तथा ऐ [**देव**] ज्ञान से दीप्यमान प्रभो! [**शुक्रेण**] तीव्र [**शोचिषा**] ज्ञान की दीप्ति से [**भरद्वाजे**] अपने में शक्ति को भरने वाले में [**समिधानः**] प्रकाशित होते हुए आप [**यविष्ठ**] सर्वदा युवतम [**रेवत्**] ज्ञानधन सम्पन्न [**पावक**] पवित्र करने वाले [**दीदिहि**] दीप्त हूजिये।

प्रभु का प्रकाश पूजा करने वाले के हृदय में होता है। प्रभु की पूजा उसकी आज्ञाओं के पालन से ही होती है। ये आज्ञा के पालन ही हमारी वृद्धि के साधन हैं। इसी मन्त्र में 'बृहद्भिः' विशेषण दिया गया है। परमेश्वर की आराधना शम, दम, दया, दानादि से होती है। ये ही उसके आदेश हैं।

प्रभु का प्रकाश देदीप्यमान ज्ञान की ज्योति से होता है। हम अपने मस्तिष्क को निर्मल ज्ञान का निधान बनायेंगे, तभी उसके प्रकाश का अनुभव करेंगे।

प्रभु निर्बलों को प्राप्त नहीं होते। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' सो हम अपने में शक्ति का संचय करेंगे, तभी उस प्रभु को पाने के अधिकारी होंगे।

वे प्रभु 'पावक' हैं। हम उस प्रभु का स्मरण करते हुए शम, दमादि गुणों से अपने हृदयों को पवित्र करें। वे प्रभु 'रेवत्' हैं। ज्ञान के सर्वोत्तम धन से पूर्ण हैं। हम भी स्वाध्यायादि द्वारा अपने ज्ञान को दीप्त करें।

प्रभु 'यविष्ठ'=सर्वदा युवतम, अनन्त शक्तिशाली हैं, हम भी अपने अन्दर शक्ति को भरें।

जो भी पुरुष 'शंयु' शांति की कामना वाला है, उसे अपना जीवन ऐसा बनाना ही होगा।

भावार्थ—पवित्र मन से, दीप्त मस्तिष्क से व शक्तिसम्पन्न शरीर से ही प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है।

प्रभु के प्यारे कौन ?

१ २ ३ १२ ३१ २
त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१र
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं
२र ३ १ ४
दयन्त गोनाम् ।।४।।

ऐ [**स्वाहुत**] जिन आपने जीव के हित के लिये अपनी उत्तम आहुति दी हुई है! उस प्रभु ने अपना किसी प्रकार का स्वार्थ न रखते हुए पूर्ण रूप से अपने को जीवों के हित के लिये दिया हुआ है। इसी भावना को वेद में दूसरे स्थान पर 'आत्म-दा' शब्द से कहा है। [**अग्ने**] अग्रगति के साधक प्रभो! [**त्वे**] तुझे [**प्रियासः**] प्रिय [**सन्तु**] हों। कौन?

१—[**सूरयः**] ज्ञान को पैदा करने वाले। विद्वान्, स्वाध्यायशील लोग। प्रभु ने मनुष्य को

सर्वोत्तम उपकरण बुद्धि ही दिया है। उसका जो विकास नहीं करता वह प्रभु को प्रिय नहीं होता।

२—[**यन्तारः**] मन का नियमन करने वाले। जो मन को वश में नहीं कर पाते वे मूढ़ विषयासक्त हो प्रभु से दूर ही रहते हैं।

३—[**ये**] जो [**जनानां**] = मनुष्यों में [**मघवानः**] इन्द्र बनते हैं। इन्द्र ने जिस प्रकार जम्भ, वल, शुष्ण, शंवर, नमुचि आदि असुरों को मारा, उसी प्रकार जो इन 'जम्भ' हर समय खाने की वृत्ति, 'वल' निर्बलों पर अत्याचार, 'शुष्ण' ईर्ष्या, 'शंवर' क्रोध तथा 'नमुचि' अभिमान आदि को नष्ट करते हैं, वे ही प्रभु के प्रिय होते हैं। और जो—

४—[**गोनां**] इन्द्रियों के [**ऊर्व**] समूह को [**दयन्ते**] सुरक्षित करते हैं। वाणी आदि इन्द्रियों पर असुरों का आक्रमण नहीं होने देते। असुरों से आक्रान्त होकर ही तो ये वाणी आदि इन्द्रियाँ अशुभ शब्दादि को बोलने लगती हैं। जो इनको इन आक्रमणों से बचाते हैं, वे प्रभु के प्रिय होते हैं। ये ही इन्द्रियों को वश में रखने वाले इस मन्त्र के ऋषि 'वशिष्ठ' बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी, मनस्वी, आसुर वृत्तियों के संहार करने वाले, इन्द्रिय रक्षक पुरुष ही प्रभु को प्रिय हैं।

न भटकने वाला

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २
अग्ने जरितर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षस ।
१ २ ३ १ २
अप्रोषिवान् गृहपते महां असि
३ २ ३ १ २ ३ २
दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥५॥

आत्मा परमात्मा की स्तुति करता है—

ऐ प्रभो! आप [**अग्ने**] आगे ले चलने वाले हैं, [**जरितः**] पापों को जीर्ण करने वाले हैं, [**विश्पतिः**] सब प्रजाओं के पालक हैं। [**देव**] विजेता रूप में [**रक्षसः**] राक्षसों के—आसुर भावनाओं के [**तेपानः**] सन्तापक, नाशक हैं।

इस प्रकार जब जीव प्रभु की आराधना करता है, तो प्रभु जीव से कहते हैं—ऐ [**गृहपते !**] अपने शरीर रूप घर के रक्षक! [**अप्रोषिवान्**] यदि तू अन्यत्र भटकता नहीं रहता अर्थात् यदि आत्मालोचन करने के स्थान में परालोचन ही नहीं करता रहता, अथवा यदि तेरी सारी शक्तियां धनादि बाह्य वस्तुओं के जुटाने में ही समाप्त नहीं हो जातीं और तू अपने घर की रक्षा की चिन्ता करता है। [**महां असि**] यदि तू हृदय के दृष्टिकोण से महान् बनता है तथा [**दिवः पायुः**] विज्ञानमय कोश के दृष्टिकोण से ज्ञान का रक्षक बनता है अथवा अपनी दिव्यता को नष्ट नहीं होने देता तो तू [**दुरोणयुः**] अपने इस मिट्टी के घर को (दुरोणं = गृहम्) [**यु**] पृथक् करने वाला होता है अर्थात् मोक्ष के लिए समर्थ होता है। तब ही तूने अपना ठीक परिपाक किया होता है और तू 'भर्ग' कहलाने का अधिकारी बनता है।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु की आराधना तो करे, पर साथ ही स्वयं आत्मालोचनशील, विशाल-हृदय और दिव्यता की ओर झुकाव वाला बने और इस प्रकार मुक्ति का अधिकारी हो।

ज्ञान के लिये ज्ञानियों का संग

२ ३ १ २ ३१ २ ३१र २र
अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या
३ १ २ ३ १ २
देवाँ उषर्बुधः ॥६॥

हे [**अग्ने ! अमर्त्य**] पूर्ण उन्नत अमरणधर्मा प्रभो, [**जातवेदः**] सर्वज्ञ परमात्मन्, मैं भी आप जैसा अग्नि अमर्त्य और ज्ञानी बन सकूँ, इसलिये [**उषसः**] अज्ञान के (उच्छति विवासयति पथ्यापथ्यविचारमिति) [**विवस्वत्**] निवर्तक (विवस्वान् = विवासनवान्) [**चित्रं**] ज्ञान के दायक (चित् + र) [**राधः**] ब्रह्मज्ञान रूप धन को [**दाशुषे**] मुझ समर्पण करने वाले के लिये [**आवहा**] प्राप्त

कराइये। इस ज्ञान के लिये [**त्वम्**] आप (उषर्बुधः) प्रातः जागरणशील अथवा अविद्या रूप नींद से जो जागरित हो चुके हैं उन (देवान्) विद्वानों को (आवहा) प्राप्त कराइये।

मनुष्य के अन्दर अग्नि, अमर्त्य व जातवेद बनाने की कामना होनी चाहिये। अग्नि=प्रगतिशील वह है जो कि 'अमर्त्य' हो। अर्थात् उन्नति करते-करते मरणधर्मा न रहे अर्थात् मुक्त हो जाय।

अमर्त्य वह बनता है जो कि जातवेद=ज्ञानी हो। ज्ञानी वह बनता है जो कि ज्ञानियों के सम्पर्क में आ पाये। ज्ञानी वे बनते हैं जो कि उषर्बुध होते हैं। इस प्रकार यहाँ मन्त्र के शब्दों का क्रम बोध दे रहा है। प्रभु कृपा से हम भी ज्ञानी बन कर इस मन्त्र के ऋषि 'प्रस्कण्व' उत्तम मेधावी बनें।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें।

यह (ज्ञान रूप) धन

१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय।
३ २ ३१र २र ३ १२ ३ २ ३ २
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं
३१र २र
तुचे तु नः ॥७॥

ऐ [**वसो**] सबके बसाने वाले न कि उजाड़ने वाले प्रभो! [**त्वं**] आप [**नः**] हमें [**ऊत्या**] रक्षा के हेतु से (यहां हेतु में तृतीया है) [**चित्र**] ज्ञान देने वाले हैं। चित्+र। प्रभु जीवों के उत्तम निवास के लिये शतशः साधनों को जुटाते हैं, पर जीव उनका ठीक प्रयोग न करके कई बार लाभ के स्थान में अपनी हानि सिद्ध कर लेता है। तथा प्रभु ने जीव को अपनी रक्षा के लिये सर्वोत्तम साधन बुद्धि ही दी है। कवि कहा करते हैं कि देव जिसका नाश चाहते हैं उसकी बुद्धि को हर लेते हैं, और जिसे जिलाना चाहते हैं उसे बुद्धि दे देते हैं। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' बुद्धि गयी तो मनुष्य गया।

इसलिये ऐ प्रभो! आप [**राधांसि**] सर्व कार्य साधक ज्ञानरूप धनों को [**चोदय**] हमें प्राप्त करिये। (राध संसिद्धौ) यह ज्ञान रूप धन हमारे पास हुआ तो हम संसार में सफल ही सफल होंगे। चाणक्य यही आराधना करता है कि सब कुछ चला जाय पर 'बुद्धिस्तु मा गान्मम' =मेरी बुद्धि न जाय। इस ज्ञानरूप धन के लिये मैं और किससे याचना करूँ! [**अस्य रायः**] इस धन के तो ऐ [**अग्ने त्वं**] आप ही [**रथीः**] असी=नियन्ता स्वामी हैं। इसको तो आपने ही प्राप्त कराना है। लौकिक धन तो और भी दे सकते हैं, यह उत्कृष्ट धन तो अपकी कृपा से ही प्राप्त होता है।

आप [**नः**] हमारे (तुचे) नौजवान सन्तानों के लिये भी [**गाधं**] गम्भीर ज्ञान को [**विदा**] प्राप्त कराइये। नौजवानों में कई बार जोश होता है, गम्भीरतापूर्वक न विचारने से वे बदले की भावना में कई अकार्य कर जाते हैं। तुच् शब्द तुर्वी धातु से बना है जिसके अर्थ 'हिंसा, वृत्ति और पूर्ति' हैं। सम्मिलित अर्थ बनता है हिंसा के द्वारा अपनी जीविका व पूर्ति करने में संकोच न करने वाला, नौजवानी के मद में यह संभावना होती है। सो प्रार्थना है कि हमारे नौजवानों को गम्भीर ज्ञान दीजिये; वे भी सोचकर बदले की भावना में न बह जायं। बदले की भावना सदा अकार्यों का कारण बनती है। बुद्धि व ज्ञान ही हमारे कर्मों को निर्मल करता है।

इस गम्भोर गान को महत्व देने पर ही हम सच्ची शान्ति को फैला सकेंगे। तभी हम इस मन्त्र के ऋषि 'शंयु' होंगे। ऐसा न हो कि हम सोने-चांदी को ही महत्व देने वाले बने रहें और अन्त में यह अनुभव लें कि हम तो 'तृणपाणि' ही रह गये।

भावार्थ—ज्ञान रूप धन तो प्रभो! आप ही दे सकते हैं। आप हमें और हमारे नौजवानों को गम्भीर ज्ञान प्राप्त कराइये।

प्रभु के उपासक कौन ?

ज्ञानी ही प्रभु की उपासना करता है :—

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
त्वमित् सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः ।
१र २र ३ १
त्वां विप्रास समिधान दीदिव आ
२ ३ १ २
विवासन्ति वेधसः । ८॥

ऐ [**अग्ने ! त्वम्**] आप [**इत्**] ही [**स-प्रथाः**] विस्तार वाले [**असि**] हैं, [**त्रातः**] त्राण करने वाले, [**ऋतः**] सत्यस्वरूप, [**कविः**] क्रान्तदर्शी हैं। इन शब्दों में प्रभु की स्तुति करते हुए हम भी विस्तार वाले, अपना त्राण करने वाले सत्यव्रती और ज्ञानी बनें। सामान्यतः अन्नमय कोश के दृष्टिकोण से विस्तार वाले, प्राणमय के दृष्टिकोण से रक्षा करने वाले, मनोमय के दृष्टिकोण से सत्यव्रती, तथा विज्ञानमय के दष्टिकोण से कान्तदर्शी ज्ञानी बनने का ध्यान करें।

हमारा शरीर विस्तृत हो; पतले-दुबले संकुचित से शरीर वाले हम न हों। आत्मरक्षा के लिये हम सदा परतन्त्र न बने रहें। हमारी इन्द्रियां सुरक्षित हों, हम उन पर असुरों का आक्रमण न होने दें। परिणामतः कानों से भद्र ही सुनें और आँखों से भद्र ही देखें। मन को हम सदा सत्य के द्वारा पवित्र रखें। तथा बुद्धि को तीव्र बनाकर कवि बनने का यत्न करें।

ऐ प्रभो ! आप [**समिधान**] सम्यक् ज्ञान से दीप्त हैं, [**दीदिव**] ज्ञान ज्योति से जगमगा रहे हैं। [**त्वाम्**] अपको [**विप्रासः**] विशेष रूप से ज्ञान के द्वारा अपना पूरण करने वाले [**वेधसः**] मेधावी ही [**आ विवासन्ति**] पूजते हैं। आपकी भक्ति तो ज्ञानी ही कर पाता है। गीता में ज्ञानी भक्त को आपने आत्मतुल्य कहा है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' एवं ज्ञान का महत्व स्पष्ट है। यही हमें पवित्र करके आपकी गोद में पहुंचाता है। प्रभु कृपा से हम भी अपने को इस ज्ञानाग्नि में परिपक्व कर इस के ऋषि 'भर्ग' बनें।

भावार्थ—ज्ञानी बन कर स्वकर्म करना ही सच्ची प्रभु-भक्ति है।

'ज्ञानधन' व 'प्राकृतिक धन'

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम् ।
१ २ ३ २३
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं
१ २ ३ १ २
सुनीतो सुयशस्तरम् ॥९॥

इस मन्त्र में [**रयिं**] धन को [**नः**] हमें [**आ रास्व**] चारों ओर से प्राप्त कराइये—इन शब्दों में धन के लिये प्रार्थना की गई है। 'वह धन ज्ञान रूप है या प्राकृतिक' इस प्रश्न का उत्तर [**अग्ने**[[**पावक**] व [**उपमाते**] विशेषणों से मिल सकता है। इनके अर्थ क्रमशः 'आगे बढ़ाने वाले, पवित्र करने वाले, तथा उप=समीप रहकर माति= निर्माण करने वाले' हैं। ज्ञान रूप धन हमें आगे बढ़ाने वाला है जब कि प्राकृतिक धन के लिये निःसंकोच ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह पतन का भी कारण हो जाता है। ज्ञान के समान कोई पवित्र करने वाली वस्तु नहीं, जबकि धन अपवित्र विचारों का कारण भी बन जाता है। ज्ञान रूप धन को तो प्रभु हमारे हृदयों में बैठे हुए बना ही रहे हैं। 'ऋचो यस्मादपातक्षन्'=अग्नि इत्यादि के हृदयों में ऋचाओं का प्रभु द्वारा निर्माण हुआ। सो बे 'उपमाति' हैं। प्राकृतिक धन के लिये ऐसी बात नहीं कही जा सकतीं। एवं इस मन्त्र में ज्ञान रूप धन के लिये ही प्रार्थना है। इन दोनों धनों का अन्तर निम्न विशेषणों से स्पष्ट है :—

१—[**वयोवृधम्**] जीवन को उन्नत करने वाले। ज्ञान मानव जीवन को उन्नत करने का प्रमुख साधन है। स्वास्थ्य, धन इत्यादि की ज्ञान के लिये आवश्यकता होती है। जीवन का उत्कर्ष तो ज्ञान से ही संभव है। सांसारिक सम्पत्ति तो व्यसनों में फंसाने का कारण हो जाती है।

२—[**शंस्यम्**] प्रशंसा के योग्य अथवा विज्ञान

की वृद्धि करने वाले (शंसः=Science)। बाह्य धन ज्ञान की तुलना में प्रशस्य नहीं। यह भावना संक्षेप में 'स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' इस वाक्य से किसी कवि ने कही है। 'राजा अपने देश में पर विद्वान् सब जगह पूज्य होता है।'

३—[**पुरु स्पृहम्**] (पुरु च स्पृहं च) जो पालन व पूरण करने वाला है और अतएव वाञ्छनीय है (पृ=पालनपूरणयोः, स्पृह्=to desire, aspire) ज्ञान मनुष्य की रक्षा करता है और उसकी न्यूनताओं को दूर करता है। बाह्य धन मृत्यु का कारण हो जाता है (पत्नी भी विष दे देती है!) और कई न्यूनताओं को उत्पन्न कर देता है। सो इतना वाञ्छनीय नहीं। शंकराचार्य ने तो 'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्' शब्दों में इसे अनर्थ मूल कह करके एकदम अवाञ्छनीय कहा है।

४—[**सुनीती सुयशस्तरम्**] उत्तम मार्ग पर ले चलने के द्वारा खूब उत्तम यश का कारण। ज्ञान मनुष्य को पवित्र मार्ग पर ले चल कर उसे यशस्वी बनाता है। धन विपरीत मार्ग पर ले जाकर अपयश का हेतु होता है।

एवं, इस मन्त्र में ज्ञान-धन की याचना की गई है।

भावार्थ—प्रभो! हमें ज्ञान देकर पवित्र जीवन वाला करिये। यही ज्ञान हमें परिपक्व करके 'भर्ग' बनायेगा।

प्रधान कर्त्तव्य 'ईश-स्तुति'

२उ ३ १२३ २३ १ २ ३ १र २र
यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
२ ३१र २र ३ १ २ ३ १र २र
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा
३ १ २
यन्त्वग्नय ॥१०॥

[**यः**] जो [**होता**] दाता [**विश्वा वसु**] सब निवास के साधन भूत पदार्थों को (**दयते**) देता है और इस प्रकार सब आवश्यकताओं को पूर्ण करता [**जनानाम्**] मनुष्यों का [**मन्द्रः**] आह्लाद करनेवाला है, उस (**अग्नये**) अग्नि के लिये [**प्रथमा**] सबसे पहले अतिथि को प्राप्त कराये जाते हुए [**मधो पात्रा न**] जल के पात्रों की तरह [**स्तोमाः**] स्तुति समूह (**प्रयन्ति**) प्रकर्षेण (**खूब**) प्राप्त होते हैं।

वह प्रभु पुरुषार्थ करने वालों की सब आवश्यकताओं को पूर्ण किया करते हैं। मनुष्य (मत्वा कर्माणि सीव्यति) विचारपूर्वक कर्म करता चले—आवश्यकता पूण करना प्रभु का काम है। गाता का यह कथन 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' ठीक ही है कि पुरुषार्थ में सतत लगे हुओं के योगक्षेम को प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। और इस प्रकार इन नित्य (अभियुक्त) उद्योगों में लगे हुए पुरुषों का जीवन आनन्दमय रहता है।

जीव का कर्त्तव्य है कि शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन प्रभु चिन्तन से अपने जीवन को प्रारम्भ करे। प्रभु को उसकी स्तुतियां सर्वप्रथम उसी प्रकार प्राप्त हों जैसे अतिथि को सर्वप्रथम जल-पात्र प्राप्त होता है। इसी प्रकार करने से हमारे अन्दर उस शक्ति के स्रोत से शक्ति का प्रवाह चलेगा। और हम अपने को उस शक्ति से खूब भरने वाले 'सौभरि' होंगे।

भावार्थ—हमारा प्रतिदिन का प्रथम कर्त्तव्य प्रभु-गुण-स्मरण होना चाहिये।

* * *

।।५।। ऋषिः—१ वसिष्ठः; २ भर्गः; ३, ७ सौभरिः; ४ मनुः; ५ सुदीतिपुरुमीढौ; ६ प्रस्कण्वः, ८ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च; ६ विश्वामित्रः; १० कण्वः ।। देवता—१—७, ६, १० अग्निः; ८ इन्द्रः ।। छन्दः—बृहती ।। स्वरः—मध्यमः ।।

स्तुति के लाभ

३ १   २ ३ १र   २र ३   १र   २र ३ १   २
एना वो अग्नि नमसोर्जो नपातमा हुवे ।
३ १र   २   ३   १ २ ३ १र   २र
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य
३ २ ३ १ २
दूतममृतम् ।।१।।

(**वः**)तुम सबके (**अग्नि**) आगे ले चलने वाले प्रभु को (**एना**) इस (**नमसा**) नम्रता के द्वारा (**आहुवे**) पुकारता हूं। वस्तुतः प्रभु की आराधना नमन से ही सम्भव है। यदि मनुष्य को ज्ञान, बल व धन का गर्व न हो तो वह प्रभु का सच्चा आराधक होता है।

इस आराधना का लाभ मन्त्र में प्रभु के कुछ विशेषणों द्वारा प्रकट किया गया है:—

१—[**ऊर्जो न पातम्**] वे प्रभु शक्ति को न गिरने देने वाले हैं। प्रभु की आराधना से मनुष्य का सम्पर्क शक्ति के स्रोत प्रभु से बना रहता है और इस प्रकार आराधक में शक्ति का प्रवाह चलता रहता है।

२—[**प्रियम्**] प्रभु के आराधक का मन प्रभु दर्शन के परिणाम रूप प्रसन्नता से सदा भरा रहता है।

३—[**चेतिष्ठम्**] (अतिशयेन चेतयते)आराधक के हृदय में स्थित ये प्रभु उसे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

४—[**अरतिम्**] (अविद्यमाना रतिर्यस्मात्) प्रभु दर्शन के बाद विषयों में रस व प्रीति समाप्त हो जाती है (रसोप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते)। ब्रह्मानन्द की तुलना में विषयानन्द तुच्छ लगने लगता है।

५—[**स्वध्वरम्**] शोभनः अध्वरः यस्मात्= यह प्रभु का आराधक हिंसा शून्य उत्तम कर्मों में सदा रत रहता है।

६—[**विश्वस्य दूतम्**] यहां विश्व शब्द विशेषण व सर्वनाम न होकर संज्ञावाची है। विश् to enter से बना है। इसका अर्थ है—'जो घुस आये हैं' उनका। वेद के अनुसार 'देवानां पूः' यह शरीर देवनगरी है। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'= सात ऋषियों का आश्रम है। परन्तु असुर इस देवगृह में बलात् घुसने की करते हैं। उनको यहाँ 'विश्व' शब्द से कहा गया है। यह प्रभु इन आसुर वृत्तियों का उपतापक है। उनको दूर भगाने वाला है। और इस प्रकार :—

७—[**अमृतम्**] मोक्ष का साधक है—मृत्यु से बचाने वाला है। यह सब प्रभु की आराधना से होता है, और प्रभु की आराधना नम्रता से। नम्रता अभिमान आदि वृत्तियों को पूर्ण रूप से वशीभूत कर लेने पर आती है। यदि हम ऐसा कर सकेंगे तो मन्त्र के ऋषि 'वशिष्ठ' कहलायेंगे। सबसे बड़ा विजेता अपने को विजय करने वाला होता हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना नम्रता से होती है। आराधना के सात लाभ हैं:—शक्ति, प्रसन्नता, प्रतिभा (Intuitional knowledge), विषय अरुचि, यज्ञशीलता,कामादि संहार व अमृत प्राप्ति।

प्रभु का निवास किन में ?

२ ३ १ २   ३ २ ३ २   ३ १ २
शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते ।
१ २   ३ १ २   ३ २३ २उ   ३ १ २
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद् देवेषु
राजसि ।।२।।

ऐ प्रभो ! आप [**वनेषु**] वनों में(वन=to win) विजयशील पुरुषों में और [**मातृषु**] निर्माण करने वालों में [**शेषे**] शयन करते हैं=निवास करते हैं। वेद में निवास करने के लिये 'शयन करना' इसका प्रयोग बहुधा पाया जाता है। गिरौ शेते=गिरिशः—शिव का नाम है=कैलाश पर शयन करने वाले।

पुरि शेते=पुरुषः=जीव का नाम है=शरीर रूपी नगरी में शयन करने वाला।

जो हृदय-स्थली में चलने वाले देवासुर संग्राम में असुरों से पराजित नहीं हो जाते, वे विजयी हैं। असुरों का वे संहार करते हैं। वस्तुतः वे ही सदाचारी हैं। आचार्य ने इसी लिये लिखा है कि 'विजय ही सदाचार है, पराजय ही अनाचार है।' अपराजित विजयी पुरुषों में ही प्रभु रहते हैं। तथा माता=निर्माताओं में उनका निवास है। निर्माता पुरुष ध्वंसक वृत्ति वाले नहीं होते। 'तृणं न छिन्द्यात्' यह मनु वाक्य इस वृत्ति को न पनपने देने के लिये ही लिखा गया है। ये पुरुष मर्ज से घृणा करते हैं, मरीज़ से नहीं। मर्ज को दूर करके मरीज़ की उत्तम स्थिति के निर्माण के लिये प्रयत्नशील होते हैं। ये पाप से घृणा करते हैं, पापी से नहीं। सो ये पापी को निष्पाप बनाने का प्रयत्न करते हैं। ये शत्रु से घृणा नहीं करते। अपितु उससे शत्रुता की भावना को दूर करने के लिये प्रयत्न शील होते हैं। ऐसे निर्माणशील पुरुषों में प्रभु का निवास होता है।

[**मर्तासः**] (मृङ् प्राणत्यागे) जो धन व समय का ही नहीं, अपने छोटे-मोटे सुखों का ही नहीं, अपितु अपने प्राणों का भी त्याग करना सीखते हैं, वे मर्त ही [**त्वा**] तुझे [**समिन्धते**] अपने में दीप्त करते हैं। लोक संग्रह के लिए जो प्राणत्याग कर सकते हैं, उन्हीं में प्रभु का प्रकाश होता है।

[**हविष्कृतः**] इन अपने जीवनों को हविरूप बनाने वालों के [**हव्यं**] देय=देने योग्य पदार्थों को [**अतन्द्रः**] बिना आलस्य के (not tardily) आप [**वहसि**] प्राप्त कराते हैं। ये आत्मत्यागी लोग भूखे नहीं मरते। वस्तुतः ये जब परमेश्वर की प्रजा के हित में लगते हैं, तो प्रभु इनके परिवार के पालने में। बस, इस प्रकार, वन=विजयी जितेन्द्रिय, माता=निर्माता=निर्माण की वृत्ति वाला, हविष्कृत्=अपने जीवन को हविरूप बना देने वाला मनुष्य, मनुष्य श्रेणी से ऊपर उठ जब देव बन जाता है, तो इन [**देवेषु**] देवों में [**आत् इत्**] तब निश्चय से आप [**राजसि**] शोभायमान होते हो। उनकी एक-एक क्रिया में प्रभु की ज्योति दीखती है। सामान्य जनता को ये प्रभु के अवतार प्रतीत होते हैं।

जीवन का पूर्ण विकास व परिपाक करने वाले ये व्यक्ति इस मन्त्र के ऋषि 'भर्ग' होते हैं। ये ही प्रभु की क्रियात्मक भक्ति करने के कारण 'प्रागाथ' =उत्तम गायन करने वाले कहलाते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय, निर्माता, प्राणों को भी प्राजापत्य यज्ञ में निछावर करने वाले बनें।

प्रभु को कौन देखता है ?

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अर्दर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
२ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो
१ २
गिरः ॥३॥

[**अग्निं**] आगे ले चलने वाले उस प्रभु को [**नः**] हमारी [**गिरः**] वाणियाँ [**नक्षन्तु**] प्राप्त हों। अर्थात् उस प्रभु को सदा पुकारें, उसी का दरवाज़ा खटखटायें (नक्ष्=knock at) जो प्रभु [**आर्यस्य**] उन्नति के मार्ग पर नियम पूर्वक चलने वाले का (ऋ=गतौ, इयर्ति इति आर्यः) [**वर्धनम्**] उत्साहित करने वाला है। [**उ**] और [**उप षु जातं**] समीप उत्तम प्रकार से प्राप्त होने वाला है। जो आर्य पुरुष इस देवमार्ग पर नियमपूर्वक चलते रहते हैं, वे एक दिन उस प्रभु के समीप पहुंच जाते हैं।

किस प्रभु के समीप ? [**यस्मिन् व्रतानि आदधुः**] जिसकी प्राप्ति के निमित्त (निमित्त सप्तमी) विविध व्रतों को धारण किया करते हैं। उपनिषद् कहती है 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'= जिस प्रभु को चाहते हुए ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक उत्तम व्रत हमें उस प्रभु के कुछ समीप ही ले जाता है।

इस प्रभु को [**अर्दशि**] देखता है। कौन ? [**गातुवित्तमः**] (गातु+वित्+तम) अतिशयेन उस देवमार्ग को प्राप्त करने वाला। जो व्यक्ति सर्वाधिक इस देवमार्ग पर चलता है। (विद्लृ लाभे)। हम सब अपने अन्दर आर्यता, व्रतशीलता तथा उत्तम मार्ग आदि पर चलने की भावनाओं को भर कर इस मन्त्र के ऋषि 'सौभरि हों।

भावार्थ—पिछले मन्त्र में देवमार्ग का उल्लेख हुआ था, जो इस पर नियम से चलता है वह प्रभु के समीप पहुंच उसका दर्शन करता है।

वरेण्य अव (चाहने योग्य रक्षा)

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो
१ २
वरेण्यम् ॥४॥

१—[**उक्थे**] स्तुति होने पर [**अग्निः**] आगे ले चलने वाला वह प्रभु [**पुरः**] सामने [**हितः**] निहित, रखा हुआ, होता है। हम प्रभु की स्तुति करेंगे, हमें उस प्रभु का अवश्य साक्षात् होगा। 'प्रभु का सच्चा उपासक कौन है?' इस विषय में वेद ही कह रहा है कि 'पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितः अभिस्तोमैरनूषत'—अग्नि के समान तेजस्वी, राग-द्वेष से शून्य, शुचि मन वाले महान ज्ञानी ही प्रभु के उपासक हैं। जो ऐसा बनता है वह प्रभु का उपासक होता है और प्रभु के दर्शन करता है।

२—[**अध्वरे**] हिंसा रहित यज्ञों, उत्तम कर्मों, के होने पर [**ग्रावाणः**] इन्द्रियां (गृ=गिरन्ति, विविध रूपादि विषयों का भोजन करती है, अथवा गृणन्ति=रूपादि विषयों का ज्ञान देती हैं) [**बर्हिः**] खूब वृद्ध होती हैं (बृहि वृद्धौ) हिंसात्मक कर्मों से ही इन्द्रियों की शक्ति जीर्ण होती है। हम औरों से बदला लेने के कार्यक्रम ही बनाते रहें, तो अवश्य हमारी शक्तियां क्षीण होंगी। क्रोधी खिझने वालों को ही जीर्णता प्राप्त होती है।

३—[**ऋचा**] विज्ञान से व मधुर भाषण से (ऋच्=स्तुतौ=पदार्थों का गुणवर्णन अर्थात् विज्ञान, स्तुति=निन्दा न करना, मधुर ही शब्द बोलना) [**वरेण्यं अवः**] चाहने योग्य रक्षा को [**यामि**] प्राप्त होता हूं। संसार में ज्ञान का अभाव पदार्थों के अयुक्त उपयोग के द्वारा रोगों का कारण होता है तथा कटुवाणी पारस्परिक कलहों व युद्धों का मूल हुआ करती है। सो यह स्पष्ट है कि विज्ञान व मधुर भाषण से मनुष्य वरणीय रक्षण प्राप्त करता है। पदार्थों के युक्त उपयोग से वह रोगों को अपने से दूर रखता है, तथा मधुर वाणी के प्रयोग से प्रेम का प्रसार होकर कलह व वैर की उत्पत्ति ही नहीं हो पाती। इस विज्ञान व मधुर भाषण को जीवन का अंग बनाने के लिये निम्न सम्बोधन उपाय वत रहे हैं।

१—[**मरुतः**] हे प्राणों! (**प्राणाः वाव** मरुतः) प्राणों के संयम से बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होगी—हम ऊँचे ज्ञानी बनेंगे। तथा इन्द्रियों के दोषों को दूर करके हम भद्र वाणी वाले होंगे।

२—[**ब्रह्मणस्पते**] हे ज्ञान के पति प्रभो! प्रति दिन प्रातः सायं उस ज्ञानमय प्रभु के सम्पर्क में आने पर हमारा ज्ञान क्यों न बढ़ेगा और परस्पर भ्रातृत्व की भावना में वृद्धि होकर कलहों की इतिश्री अवश्य ही होगी।

३—[**देवाः**] प्राकृतिक शक्तियो व विद्वानो! विद्वानों के सम्पर्क में आने पर भी हम ज्ञानी व शिष्ट बनेंगे, इसके साथ पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, वायु आदि के सम्पर्क से भी हम इन दिशाओं में अवश्य उन्नत होंगे। हमारे साहित्य में महादेव जी निर्वस्त्र, धूलिधूसरितांग ही तो हैं। अखाड़े में लोटना भी स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। अस्तु, हम इन सब उपायों से अपने ज्ञान को बढ़ा कर तथा सदा व्यवहार में मधुरता का मनन करते हुए सच्चे मनुष्य बनें और इस मन्त्र के ऋषि 'मनु' हों।

भावार्थ—सच्चे स्तोता बनकर प्रभु दर्शन करें।

प्रभु किसको शरण देते हैं ?

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
३ २ ३ १ २ ३२उ ३ १ २ ३ १ २
अग्नि राये पुरुमीढ श्रुतं नरोऽग्निः सुदीतये
३ २
छर्दिः ॥५॥

१—ऐ मनुष्य ! तू [**अवसे**] रक्षा के लिये [**शीर**] (शृ हिंसायाम्) हिंसक है [**शोचिषम्**] ज्ञानाग्नि की ज्वालायें जिसकी उस [**अग्नि**] प्रभु की [**गाथाभिः**] गायन के द्वारा [**ईडिष्व**] स्तुति कर। मनुष्य पर प्रतिक्षण काम-क्रोधादि वासनाओं का आक्रमण हो रहा है। उस आक्रमण से अपने बचाव के लिए एक ही उपाय है कि मनुष्य प्रतिक्षण उस प्रभु का चिन्तन करे। जैसे गडरिये अपनी रक्षा के लिये वन में चारों ओर अग्नि को प्रज्वलित कर लेते हैं, उसी प्रकार हम काम-क्रोधादि रूप हिंस्र पशुओं से इस भव कान्तार में अपने बचाव के लिये उस ज्ञानाग्नि के पुञ्ज प्रभु को अपने चारों ओर सदा दीप्त रखें।

२—ऐ [**पुरुमीढ**] धन की खूब वर्षा करने वाले पुरुष ! तू तो धन की वर्षा करता ही रह। धन समाप्त हो जाने की चिन्ता न कर। [**राये**] धन के लिये [**अग्निम्**] उस प्रभु को [**ईडिष्व**] स्तुत कर। अर्थात् देता जा, और धन के लिए उस प्रभु को पुकारता चल। तू बांट, बांटने के लिए धन प्रभु प्राप्त करायेंगे।

३—ऐ [**नरः**] मनुष्यो ! [**श्रुतं**] (शृणुत) सुनो। [**अग्निः**] वह प्रभु [**सुदीतये**] खूब दान देनेवाले के लिये [**छर्द्दिः**] गृह, आश्रय, रक्षणस्थान (Shelter) हैं। जो खूब देता है, वह कभी वासनाओं का शिकार नहीं हो पाता। पञ्च यज्ञ करके यज्ञशेष को खाने वाले के पास विलास के लिये धन बचता ही नहीं।

प्रभु करें कि हम इस मन्त्र के ऋषि 'सुदीति' खूब देने वाले और 'पुरुमीढ' खूब धन की वर्षा करने वाले बनें।

भावार्थ—प्रभु रक्षक हैं। ऐ मनुष्य ! तू दान देने वाला बन। प्रभु तुझे धन भी प्राप्त करायेंगे और तुझे वासनाओं से भी बचायेंगे।

हृदय में किन का वास हो ?

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्-
१२ ३ २
यावभिरध्वरे ॥६॥

ऐ [**अग्ने**] आगे ले चलने वाले [**श्रुत्कर्ण**] ज्ञान को विकीर्ण करने वाले प्रभो ! (श्रूयते इति श्रुत्, तद् विकिरति) आप [**आप देवैः**] दिव्य गुणों के साथ तथा [**मित्रः**] स्नेह की देवता और [**अर्यमा**] दान की देवता (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) ये सब [**अध्वरे**] हिंसा की भावना से शून्य [**बर्हिषि**] बढ़े हुये (विशाल, महान्) मेरे हृदय में [**आसीदतु**] आकर विराजमान हों।

मैं हृदय को द्वेष की, घातपात की, भावनाओं से रहित बनाऊँ तथा उसे विशाल बनाने का प्रयत्न करूँ। तभी इस मेरे हिंसा-शून्य विशाल हृदय में ज्ञान देने वाले उस प्रभु का, सब दिव्य भावनाओं का विशेषतः स्नेह व देने की भावना का निवास होगा। संकुचित हृदय प्रेम व दान का निवासस्थान नहीं होता।

ये दिव्य भावनायें कैसी हैं :—

(क) [**वह्निभिः**] ये मुझे उस प्रभु के समीप ले जाने वाली हैं (Vehere=to carry) जितनी जितनी दिव्यता हम प्राप्त करेंगे उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचते जायेंगे।

(ख) [**सयावभिः**] (सह यान्ति) ये सब दिव्य गुण साथ-साथ चलने वाले हैं। एक भी दिव्य गुण को अपनाने का हम यत्न करेंगे तो बाकी दिव्य गुण स्वतः हमें प्राप्त होंगे। वस्तुतः व्यास के 'सत्याकारास्त्रयोदश'' इस वाक्य के अनुसार ये सब एक ही हैं। रूपभेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहे हैं, और

अतएव समय-समय पर सभी महान् प्रतीत होते हैं।

(ग) [**प्रातर्याविभिः**] (प्रातः यान्ति) ये सबेरे सबेरे प्राप्त करने के योग्य हैं। प्रातः उठते ही दिव्य भावनाओं के धारण का संकल्प करना चाहिए। यदि हम अपने हृदयों में दिव्य भावनाओं को न बिठायेंगे तो यह नहीं कि हमारे हृदय शून्य बने रहेंगे, वहाँ आसुर भावनायें एक बार बैठ जायेंगी तो इन्हें हटाना कठिन हो जायगा। "व्यसनानि दुरन्तानि" ये व्यसन मुश्किल से अन्त करने योग्य हैं। बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम इन अशुभ भावनाओं को दूर ही रखें। इस मन्त्र का ऋषि 'प्रस्कण्व'=बुद्धिमान् है। वह इस रहस्य को खूब समझता है।

भावार्थ—मेरा हिंसाशून्य विशाल हृदय प्रभु का, देवताओं का, स्नेह का, तथा देने की वृत्ति का निवासस्थान बने।

मोक्ष प्राप्ति के चार साधन

१र २र ३ २ २उ ३ २ ३ १ २
प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
१ २ ३ १ २ ३ १२ २र ३ १र
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य
१ २
शर्मणि ॥७॥

लौटनाः—(१) [**मातरं पृथिवीं अनु**] इस भूमि माता पर रहने के पश्चात् [**वि वावृते**] लौट जाता है, और [**नाकस्य**] मोक्षलोक के [**शर्मणि**] सुख में [**तस्थौ**] ठहरता है।

मन्त्र के इस उत्तरार्ध के वाक्य में यह स्पष्ट कहा गया है कि जीव का यह पृथ्वी पर निवास अस्थायी है, उसे यहाँ से लौटना है। जैसे कि यात्रा में प्रवास से लौटकर मनुष्य फिर घर में आता है, उसी प्रकार यह पृथिवी वास हमारा प्रवास है, यहाँ से हमें लौटना है। हमारा वास्तविक घर तो ब्रह्मलोक है जहां कि हम सब यात्रा के कष्टों से मोक्ष पाकर आनन्द से ठहरेंगे।

यह जीवन जब यात्रा रूप है तो यात्रा के दो सिद्धान्तों का हमें यहाँ ध्यान रखना ही चाहिये। (१) यात्रा में आदमी अधिक से अधिक हलका रहना चाहता है, यात्रा में बोझ रुकावट बनता है। सो हमें भी यहां जीवन यात्रा में बहुत बड़े-बड़े मकान, ट्रङ्क व अनावश्यक सामान नहीं जुटाने हैं। (२) यात्रा में आदमी आराम को ध्येय न बनाकर कुछ कष्ट से जैसे-तैसे गुजारा कर लेता है। हमारा भी जीवन-यात्रा का ध्येय आराम न होकर आश्रम=exertion=परिश्रम हो तभी हमारी यात्रा पूर्ण होगी और हम मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिए अपने घर ब्रह्मलोक में पहुँच सकेंगे। यह कैसे हो? इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि:—

(१) [**दैवोदासः**] देव का सेवक। हमें प्रभु का उपासक बनना है न कि प्रकृति का गुलाम। प्रभु के सेवक के उठने-बैठने में यह विशेषता होती है कि वह स्वाद के लिये न खाकर शरीर धारण के लिये खाता है, वह आमोद-प्रमोद के लिये ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग न करके उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है।

(२) [**अग्निः**] अग्रे-णीः। अपने को आगे पहुँचाने वाला। हमारा जीवन का यह सूत्र हो कि हमने शरीर, मन व बुद्धि तीनों दृष्टिकोणों से आगे बढ़ना है। हमारा शरीर गत वर्ष से इस वर्ष अधिक स्वस्थ बने, मन अधिक विशाल बने, व बुद्धि अधिक तीव्र हो।

(३) [**देवः**] (दिवु=क्रीड़ा) हम संसार को क्रीड़ामय समझें, तभी हम चोटों को हंसते हुये सहेंगे और चोट लगाने वाले से खिझेंगे नहीं।

(४) [**इन्द्रो न**] (न=इव, इदि परमैश्वर्ये) परमैश्वर्य वाले उस प्रभु के समान हम बनें। उस प्रभु का अन्तिम ऐश्वर्य 'सहोऽसि' सहनशीलता है। मैं भी उसके समान तेजस्वी बनकर सहनशील बनूं। पर यह होगा कैसे? प्रमज्मना=प्रकर्षेण उसमें लीन हो जाने के द्वारा। **मस्ज्=Merge=लीन हो जाना। जैसे**

लोहे का गोला अग्नि में लीन होकर अग्निमय हो जाता है, उसी प्रकार उस परमैश्वर्य वाले में लीन होकर हम भी तन्मय हो जायें। इस प्रकार इस प्रकार इस यात्रा को खूब उत्तम प्रकार से पूरा करने वाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'सौभरि' होंगे।

भावार्थ—यह जीवन एक यात्रा है—इसको पूर्ण करने के लिये (१) हम प्रभु भक्त बनें (२) हमारा जीवन का सूत्र आगे बढ़ना हो (३) हमारे अन्दर खिलाड़ी की आदर्श मनोवृत्ति हो (४) हम सदा खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते प्रभुमय अपने को बनाये— रखें। इस प्रकार यात्रा को पूर्ण कर हम मोक्ष सुख में स्थित होंगे।

इसी मानव देह से

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि।
३ १ २ ३क२र ३२उ ३ १ २
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ॥८॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि [**जात**] ऐ उच्च योनि में उत्पन्न आत्मन्! तुझे मैंने सर्वोच्च योनि में जन्म दिया है। मानव योनि से उत्कृष्ट योनि है नहीं। सो तू [**सुक्रतो**] उत्तम प्रज्ञा, उत्तम कर्मों तथा उत्तम मनोजवों (संकल्पों) वाला होकर [**पृण**] सुखी हो। मनुष्य को चाहिये कि इस मानव देह का प्राप्त करके अपने प्रज्ञा, कर्मों व संकल्पों को उत्तम बनाकर मस्तिष्क, भुजायें व हृदय सभी का ठीक विकास करे। यह शरीर इसी लिए मिला है।

यह सब बात कैसे होंगी? प्रभु कहते हैं कि 'गिरा मम'=इस मेरी वेदवाणी के द्वारा। सृष्टि के आरम्भ में दिया गया यह वेद-ज्ञान मनुष्य का सर्वहितकारी है। इसी से मानव कल्याण संभव है। प्रभु कहते हैं कि इस वेदज्ञान को अपना कर अया=अनया=इस तन्वा=मानवदेह से [**वर्धस्व**] तू वृद्धि को प्राप्त हो, आगे बढ़ और मोक्ष में अवस्थित हो। इस मानव देह से ही मनुष्य मोक्ष तक पहुंच सकता है। अन्य पक्षियों के शरीर से यहां पहुँचने में समर्थ नहीं

सो मनुष्य ने आगे बढ़ना है। कहां? [**अधज्मः**] पृथ्वी से ऊपर। [**अथवा दिवः**] और अन्तरिक्ष से ऊपर। तथा [**बृहतो**] इस विशाल [**रोचनात्**] देदीप्यमान द्युलोक से [**अधि**] ऊपर। यदि हम सारा समय केवल स्वास्थ्यनिर्माण में समाप्त कर देते हैं तो हम पृथ्वी लोक से ऊपर नहीं उठे। द्वेषादि की भावना को दूर कर हृदय के परिमार्जन में लगे रहते हैं तो अन्तरिक्ष लोक में ही हम स्थित हैं। इससे भी ऊपर उठकर हमें अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक को ज्ञान की ज्योति से ज्योतिर्मय करना है। परन्तु यहां भी रुक तो नहीं जाना। यह ज्ञान भी तो सात्विक बंधन ही है। इससे भी ऊपर उठकर हमें स्वयं देदीप्यमान ज्योति को (ब्रह्म को) प्राप्त करना है।

इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि' व 'मेध्यातिथि' हैं। अत् धातु का अर्थ 'निरन्तर जाना' होता है जो निरन्तर मेधा की ओर चल रहा है वह मेधातिथि है, और वही मेध्य=पवित्र प्रभु की ओर जाने वाला भी बनता है। द्युलोक में पहुँच कर हम मेधातिथि होते हैं, और उससे भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक में पहुंच हम मेध्यातिथि बनते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी को अपना कर हम इस मानव देह में आगे बढ़ें, और मोक्ष सुख में अवस्थित हों।

आगे जाकर लौट पड़ना ठीक नहीं

१ २ ३२उ ३१र २र ३ २
क्रायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः।
१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३२उ
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे
३ १ २
सन्निहाभुवः ॥९॥

प्रभु कहते हैं कि [**अग्ने**] ऐ आगे बढ़ने वाले जीव! [**त्वं**] तू [**वना**] उपासना तथा प्रकाश की

किरणों अर्थात् ज्ञान (Worshipping, Ray of light) को [**कायमानः**] (कामयमानः) चाहता हुआ [**यद्**] जो [**मातृः**] धन का निर्माण करने वाले (मा) और अतएव धन में और आसक्त करके उपासना व ज्ञान से दूर लाने वाले और अतएव हिंसक [**अपः**] कर्मों का [**अजगन्**] प्राप्त हुआ है [**ते**] तेरे [**तत्**] उस [**निवर्तनं**] फिर लौट पड़ने को [**न**] नहीं [**प्रमृषे**] क्षमा करता हूं। अच्छा नहीं समझता हूँ।

धन का एक अच्छा पहलू भी है। धन की उपयोगिता विवादास्पद नहीं। परन्तु इसके काले पहलू में एक बात यह भी है कि यह मनुष्य को लोभाभिभूत कर देता है। इसकी हानियों को देखता हुआ भी मनुष्य इससे दूर नहीं हो पाता। यह आध्यात्मिक उन्नति के लिये विघातक व अनावश्यक है। देखो एक आदमी उपासना व ज्ञान की ओर चला था, परन्तु इस माया से आकृष्ट हो वह फिर उन्हीं धनार्जन के कामों में उलझ गया। यह फिर लौट पड़ना अवनति का कर्म है और अतएव त्याज्य है। प्रभु जीव से कहते हैं कि ऐ जीव! यह जो 'दूरे सन्'— बहुत दूर आगे बढ़ा हुआ होकर 'इह आभुवः'–फिर वहीं काम्य कर्मों में रह गया, यह ठीक नहीं।

जिस प्रकार, गृहस्थ आश्रम बड़ा सुन्दर है। ब्रह्मचर्य के बाद एक व्यक्ति गृहस्थ में प्रवेश करता है तो सभी उसका सन्मान करते हैं। परन्तु वह गृहस्थ के बाद वनस्थ हो, संन्यासी बन, फिर गृहस्थ में लौट पड़े तो अखरता है, ठीक नहीं लगता। स्मृतिकारों के अनुसार तो" षष्टीवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते क्रमिः" ६० हजार वर्ष तक मल कीड़ा उसे बनना पड़ता है। इसी प्रकार इन काम्य कर्मों से ऊपर उठकर फिर उन्हीं में उलझना ठीक नहीं। काम्य कर्म में उलझने वाला रागद्वेष से ऊपर उठ रागद्वेष से परे पहुँच जायेंगे तो इस मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' बनेंगे।

भावार्थ—मानव जीवन का सूत्र आगे बढ़ना है, न कि फिर (पछड़ जाना) नीचे की ओर लौट पड़ना।

निवृत्त होकर प्रवृत्त होना

तू तो मनुष्य के लिये प्रकाश था

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र३ १ २
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति
३ १ २
कृष्टयः ॥१०॥

अग्नि से ही प्रभु कहते हैं कि [**अग्ने**] ऐ अपने को आगे प्राप्त कराने वाले जीव! [**त्वाम्**] तुझे तो [**मनुः**] ज्ञानी प्रभु ने [**शश्वते**] 'शश्वत् इति बहुनाम' अनेकविध (शश् गतौ) क्रियाओं को करती हुई [**जनाय**] प्रजाओं के लिए [**ज्योतिः**] प्रकाश के रूप में [**निदधे**] रखा था।

इस सकामता से ऊपर उठकर काम करने वाले के आदर्श को देखकर ही अन्य लोग क्रियायें करते हैं यदि इसका जीवन क्रियाशून्य हो जाय तो इसे देख अन्य लोग भी अकर्मण्य हो जायं। "सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत। कुर्याद् विद्वान् तथासक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्" गीता का यह वाक्य यही कह रहा है कि अविद्वान् लोग आसक्तिपूर्वक जिन कर्मों को करते हैं, विद्वान् पुरुष भी आसक्ति को छोड़कर लोकसंग्रह की दृष्टि से उन कर्मों को करता रहे।

अब, यह विद्वान् पुरुष भी यदि आसक्तिमय हो जाय तो लोगों के लिये उसका जीवन प्रकाश को देने वाला न रहेगा। प्रभु कहते हैं कि तू तो [**दीदेथ**] (दीप्तसेस्म) चमकता था—तेरा जीवन तो प्रकाशमय था। [**'कण्व'**] तू मेधावी था। कण-कण करके तूने उत्तम ज्ञान का संचय किया था। [**ऋतजातः**] ऋत से, नियमित गति से तूने अपना प्रादुर्भाव विकास किया था। [**उक्षितः**] (उक्ष् सेचने) तेरा हृदय करुणा आदि उत्तम वृत्तियों से सिंचा था। एवं तूने बौद्धिक, शारीर व मानस सभी उन्नतियों को सिद्ध किया था। और इसीलिये [**कृष्टयः**] सब मनुष्य [**यं**] जिस तुझको [**नमस्यन्ति**] नमस्कार

करते थे, वह तू यदि लौट पड़े और आर्थिक बन्धनों में फिर से जकड़ा जाये तो क्या ठीक है ? नहीं । तुझे इस प्रकार इन बन्धनों में फिर नहीं फंसना । बच्चे का जीवन व्यर्थ नहीं लगता, वह तैयारी कर रहा है, पढ़ रहा है । गृहस्थ में प्रवेश करते हुये तो युवक यह समझता है कि मैं ही संसार का बोझ उठाये हुये हूं । पर बालकों को कार्य में लगा कर, कुमारियों को यथास्थान पहुँचा कर आदमी सोचता है कि अब तो निवृत्त हो गया । उसे अपना जीवन व्यर्थ सा लगने लगता है । वेद कहता है कि नहीं । तुझे तो प्रभु ने विविध क्रियाओं को करते हुये लोगों के लिये ज्योति के रूप में रखा है । तूने अब घर के धन्धों से निवृत्त हो, लोकहित में प्रवृत्त होना है । 'निवृत्त हो प्रवृत्त होना' यही मानव जीवन की सार्थकता है । सो हम भी ज्ञानियों की तरह निष्काम कर्म करने वाले बनें, यदि इस मन्त्र के ऋषि 'कण्व' मेधावी हों ।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि बुद्धिमान्, संयमी व करुणाशील बन कर सामान्य मनुष्यों के लिये 'प्रकाश-स्तम्भ' हो ।

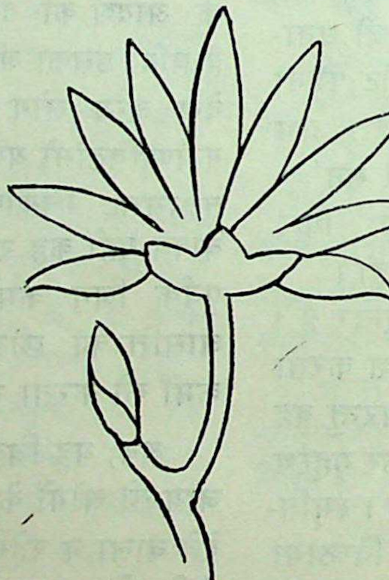

प्रथम प्रपाठक का द्वितीय अर्ध

॥१॥ ऋषिः—१, ७ वसिष्ठः; २, ३, ५ कण्वः; ४ सौभरिः; ६ उत्कीलः; ८ विश्वामित्रः ॥ देवता—
१, ४—८ अग्निः; २ ब्रह्मणस्पतिः; ३ यूपः ॥ छन्दः - बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

दया का उमड़ता हुआ समुद्र
(Overflowing Kindness)

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ २
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वम्
१र २र ३ १ २
आदिद् वो देव ओहते ॥१॥

ऐ मनुष्यो ! [(**उद्**) **सिञ्चध्वम्**] अपने हृदयों को दया की भावना से इतना सींचो कि वह दया तुम्हारे हृदयों से [**उत्**] बाहर प्रवाहित होने लगे। जैसे कि बर्तन भरकर प्रवाहित होने लगता है, उसी प्रकार हमारा हृदय दया से पूर्ण हो जाय और उसमें से दया का प्रवाह बहने लगे। [**वा**] और [**उप**] दुःखियों के समीप पहुँच कर [**पृणध्वम्**] उनके जीवन को सुखी बनाओ (पृण=सुखी करना)।

दुःखी पुरुष जब हमारे समीप आयें तो हम उनकी सहायता करें यह भी भद्रता है। परन्तु प्रभु इससे कुछ अधिक चाहते हैं। प्रभु की इच्छा है कि हम दुःखियों के आने की प्रतीक्षा क्यों करें, हम उनके समीप पहुंच कर उनको सुख पहुंचाने का ध्यान करें। जब इस प्रकार हमारे हृदय दया भाव से उमड़ते हुये होंगे और हम पीड़ितों के पास पहुँच उनकी पीड़ा को दूर करेंगे तो वेद कहता है कि [**आत् इत्**] उसके बाद अवश्य ही [**वः**] तुम्हें [**देवः**] प्रभु [**ओहते**] प्राप्त होते हैं। प्रभु प्राप्ति इन 'सर्व-भूत-हिते रताः, को ही होती है।

वह प्रभु [**पूर्णां आसिचं**] हृदय में दया की भावना के पूर्ण सेचन को चाहते हैं। दया की न्यूनता हमें प्रभु से दूर रखती है।

यह तो ठीक है कि इस प्रकार पूर्ण करुणामय व्यक्ति जब सब की सहायता करता है तो उसके पास स्वयं अपनी आवश्यकताओं के लिये धन की कमी हो जाती है। और कई बार ऐसा विचार आने लगता है कि इतने श्रम से कमाये हुये धन को इस प्रकार औरों पर कैसे व्यय कर दें ? इस प्रश्न का उत्तर वेद इस रूप में देता है कि [**वः**] तुम्हें [**देवः**] वह प्रभु ही [**द्रविणोदाः**] धन को देने वाले हैं। मनुष्यों ने क्या धन का विजय करना ! धन सब उस प्रभु का है। उस प्रभु के धन को प्रभु की प्रजा के कल्याण में व्यय कर देना ही ठीक है।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये दो बातें आवश्यक हैं। हृदय का दया से पूर्ण होना और दुःखियों की सेवा करना। यह दोनों बातें तभी हो सकती हैं जब हम अपने मन को वश में करके इस मन्त्र के ऋषि 'वसिष्ठ' बनें।

यज्ञ के विस्तार के लिये आवश्यक तीन बातें

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३क२र ३ १ २
प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।
१ २ ३१र २र ३ १ २
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं,
३ २ ३ १ २
देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥२॥

मानव जीवन एक यज्ञ है। इस जीवन को यज्ञमय बनाना ही दोनों लोकों को सुखी बनाने का साधन है। 'हमारा यह जीवन यज्ञमय बना रहे' इसके लिये तीन बातें आवश्यक हैं:—

(क) [**ब्रह्मणस्पतिः**] ज्ञान का पति सर्वज्ञ प्रभु [**प्र एतु**] हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। प्रातः सायं तो हम उसका चिन्तन करें ही, और दिन-रात सभी

क्रियाओं को करते हुए हम उसे स्मरण करें। वह हमें प्राप्त हो अर्थात् हमारा ध्यान सदा उस में लगा हो।

इसको एक हीनोपमा से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि जैसे एक चञ्चल-चित्त युवति पति की सब प्रकार से सेवा करती हुई ध्यान अपने प्रेमी में ही लगाये रखती है, उसी प्रकार हम संसार की सब क्रियाओं को करते हुये भी ध्यान उस प्रभु में ही लगाये रखें। इस प्रकार उस प्रभु के स्मरण से हम भोग-विलास में न फंसेंगे और हमारा जीवन यज्ञमय बना रहेगा।

(ख) [**सूनृता**] (सु ऊन् ऋत) उत्तम दुःखों का परिहाण करने वाला सत्यवाणी रूप [**देवी**] दिव्य गुण [**प्र एतु**] हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। सत्य के साथ सभी उत्तम गुण हमारे जीवनों का अङ्ग बनते हैं और हमारा जीवन यज्ञमय बना रहता है। राजा हरिश्चन्द्र ने व रामचन्द्र ने सत्य को अपना कर कष्टों को सहा और विलास के शिकार न हुए। ऐसे जीवन ही यज्ञिय बन सकते हैं।

(ग) [**देवाः**] सब प्राकृतिक शक्तियां व सब विद्वान् ऐसी व्यवस्था करें कि हमारे इस [**यज्ञ अच्छा**] यज्ञिय जीवन की ओर [**वीरं**] ऐसे सन्तान को [**नयन्तु**] प्राप्त करायें जो कि [**नर्यं**] नरहितं =लोकहित करने वाला हो तथा [**पंक्तिराधसं**] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद पांचों के हित-कर कार्यों को सिद्ध करने वाला हो। यज्ञिय जीवन बिताने वाले पुरुष को सन्तान यज्ञिय वृत्ति वाली मिल जाय तो उसके यज्ञ में और भी प्रगति आ जाती है। सन्तान की प्रतिकूलता में उस यज्ञ में कुछ शिथिलता आ जानी स्वाभाविक है।

हम पूर्ण प्रयत्न करके अपने इस जीवन को यज्ञिय बनायें, भोग मार्ग धीर पुरुषों का मार्ग नहीं। यज्ञमय जीवन वाला धीर पुरुष ही इस मन्त्र का ऋषि 'कण्व'=मेधावी होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, सत्य को धारण करें व यज्ञिय प्रवृत्ति वाली सन्तान को प्राप्त करें, ताकि हमारा यह जीवन यज्ञमय बना रहे।

प्रभु की रक्षा किन को प्राप्त होती है ?

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
३ १र २र ३ १ २ ३
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता
२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥३॥

[**सविता**] सब पदार्थों को उत्पन्न करने वाला वह प्रभु [**देवः न**] (देवो दानात्) दाता की तरह [**नः**] हमारी [**सु ऊतये**] उत्तम रक्षा के लिये [**ऊर्ध्व. तिष्ठा**] ऊपर ही खड़ा है अर्थात् तैयार पर तैयार है। और वह [**वाजस्य**] शक्ति का [**सनिता**] देने वाला [**ऊर्ध्वः**] सदा शक्ति को देने के लिये उद्यत है। यद्=ज्योंही हम [**अञ्जिभिः**] (अञ्ज्=व्यक्ति) विषय का स्पष्टीकरण करने में निपुण [**वाघद्भिः**] ज्ञान को खूब धारण करने वाले (वह to carry) विद्वानों के साथ [**विह्वयामहे**] विशेष रूप से बातें (ज्ञानचर्चायें) करते हैं (ह्वेञ् शब्दे) तथा उनके साथ स्पर्धा करते हैं, उनसे भी आगे बढ़ने के लिये प्रयत्नशील होते हैं। (ह्वेञ् स्पर्धायाम्)। 'अति समं क्राम' बराबर वाले से आगे लांघ जाओ—इस वेद-वाक्य के अनुसार यह स्पर्धा उचित ही है। संसार का नियम है 'उन्नति या अवनति' (Either progress or regress)। सो हम आगे बढ़ेंगे तो ठीक है, अन्यथा अवनत हो जायेंगे। और इन विद्वानों की स्पर्धा में आगे बढ़ने-पर ही हम प्रभु की रक्षा के पात्र होंगे, तभी प्रभु हमें रक्षा के पात्र व शक्ति देने योग्य समझेंगे।

मानव जीवन के निर्माण में दो चीजों का हाथ है। एक बीज तथा दूसरी परिस्थिति। बीज हमें माता-पिता से वसीयत में प्राप्त होता है पर परि-स्थिति को हमें स्वयं बनाना होता है और चूंकि बीज की अपेक्षा परिस्थिति का जीवन निर्माण में तीन गुणा भाग है, सो अपने भाग्य का निर्माण बहुत कुछ मनुष्य के अपने ही हाथ में है। 'Man is the architect of his own fate' यह कहावत ठीक

ही है। उत्तम परिस्थिति हमें उत्तम बनायेगी, अधम परिस्थिति में हम अधम बन जायेंगे। सब से उत्तम परिस्थिति सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहना है। सो मन्त्र में कहा है कि अध्ययन व प्रवचन में निपुण ज्ञानियों से हम सदा वार्तालाप करें और आगे बढ़ने में उन्हीं के साथ हमारी स्पर्धा हो। ऐसा करने पर प्रभु हमारी रक्षा भी करेंगे, शक्ति भी देंगे!

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में रहकर प्रभु की रक्षा व शक्तिदान के पात्र बनें। ज्ञान व शक्ति का कण-कण करके संचय करने वाले इस मन्त्र के ऋषि 'कण्व' बनें।

उत्तम सन्तान किसे प्राप्त होती है ?

२उ ३१२ २२ ३
प्र यो राये निनीषति,
२ ३ १ २ ३ १ २
मर्तो यस्ते वसो दाशत् ।
२ ३१ २
स वीरं धत्ते अग्न
३ २ ३ १ २ ३ १ २
उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ॥४॥

[**यः**] जो [**मर्तः**] मनुष्य [**राये**[धन के लिये [**प्र निनीषति**] औरों को भी प्रकर्षेण ले चलना चाहता है। अर्थात् जिस मनुष्य की वृत्ति केवल अपने लिये ही धन बटोरने की नहीं है, जो यह नहीं चाहता कि सारा धन मुझे ही मिल जाय। जो औरों को विपत्ति में देख उन्हें भी धनी बनाने के प्रकारों को सोचता है। उदाहरणार्थ—पारसियों में अब तक देखा जाता है कि वे निर्धन पारसी के लिये एक व्यापारिक वस्तु की दुकान करा देंगे, सभी उसी से खरीदेंगे, और इस प्रकार उसकी भी आर्थिक स्थिति को ठीक कर डालेंगे। यदि राष्ट्र शासक इस विचार वाले होंगे तो वे चोरों को केवल कैद न कर देंगे, अपितु उन्हें जेल में कोई शिल्प सिखायेंगे और मुक्ति पर उन्हें कार्य में लगाने का ध्यान करेंगे। एक गृहस्थ भी थोड़ा बहुत औरों को धन प्राप्ति योग्य कार्यों के सिखाने की दशा में काम कर ही सकता है।

पर इस वृत्ति के होने पर हमारे पास धन लोक हित के लिये ही जुट पायेगा, और हमें अपने सुखों को तिलाञ्जलि देनी होगी। सो मन्त्र कहता है कि [**यः**] जो [**ते**] तुझे [**वसो !**] ऐ बसाने वाले प्रभो! [दाशत्] आत्म समर्पण कर देता है। हमें अपनी मौज को समाप्त करके प्रभु की प्रजा के हित के कार्यों में जुटना पड़ेगा। उन कार्यों को करते हुए भी हमें यह नहीं अभिमान करना कि अमुक पुरुष को बसाने में हमारा हाथ है। 'वसु' तो प्रभु हैं। बसाने वाले हम कौन ? इस प्रकार निरभिमानिता से प्रभु-कार्य में जो लगा रहता है [स] वह[**अग्ने**] ऐ आगे ले चलने वाले प्रभो! आप की कृपा से [**वीरं**] पुत्र को [**धत्ते**] प्राप्त करता है। कैसे पुत्र का ? (१) [**उक्थशंसिनं**] उक्थों—स्तुतियों—के द्वारा प्रभु के कीर्तन करने वाले को। जिस सन्तान का झुकाव प्रभु कीर्तन की ओर होगा वह सन्तान पाप में न फसेगा। प्रभु 'शुद्धम् अपापविद्धम्' है, यह भी वैसा ही बना रहेगा। (२) [**त्मना सहस्रपोषिणम्**]यह अपने द्वारा हजारों का पोषण करने वाला होगा। औरों का हित करने वालों की सन्तान ऐसी ही होनी चाहिये।

इस प्रकार प्रभु के प्रति आत्मा अर्पण करने वालों की सन्तान, दूसरों का बुरा न करने वाली ही नहीं अपितु औरों का भला करने वाली होती है। प्रभु करें कि हम स्वयं सदा औरों का उत्तम हित करने वाले, उत्तम पोषण करने वाले इस मन्त्र के ऋषि 'सौभरि' बने रहें।

भावार्थ—लोकहित करने वालों को उत्तम सन्तति की प्राप्ति होती है।

सूक्तों का आश्रय

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे
२उ ३ २ ३ १ २
यं समिदन्य इन्धते ॥५॥

[वः] मनुष्यों में से [पुरूणां] जो अपना पालन व पूरण करने वाले हैं, आसुर वृत्तियों के आक्रमण से अपनी इद्रियों की रक्षा करने वाले हैं, तथा अपनी न्यूनता को देखकर उसे दूर करने वाले हैं, [विशां] दूसरों के दुःखों में प्रवेश करने वाले और इस प्रकार उनके दुःखों को दूर करके शान्ति लाभ करने वाले हैं। [देव-यतीनाम्] (देवान् आत्मन इच्छन्तीनां) दिव्य गुणों को अपनाने की इच्छा करने वाले हैं। उनका जो [प्र] खूब [यह्वम्] (यातश्य हूतश्च भवति) जाने योग्य व पुकारने योग्य है। अर्थात् पुरु, विश् और देवयति लोग सदा उस प्रभु के चरणों में उपस्थित रहते हैं तथा सदा उसी को पुकारते हैं—दूसरे से याचना नहीं करते। इस [अग्निं] आगे ले चलने वाले प्रभु को [सूक्तेभिः] मधुरता से बोले गये [वचोभिः] वचनों से [वृणीमहे] हम वरते हैं। [यं] जिस प्रभु को [अन्ये इत्] अन्य भी लोग जप, तप, दान, अध्ययनादि द्वारा [समिन्धते] दीप्त करते हैं।

संसार में बालक दो प्रकार के हैं। एक वे जो सदा अपनी माता के चरणों में उपस्थित रहते हैं किसी भी कार्य के लिए जाना हो तो उससे पूछ कर जाते हैं। यदि माता मना कर दे तो नहीं जाते दूसरे वे बालक हैं जो सदा दूर भागे रहते हैं, साथियों के साथ खेलने में लगे हैं और माता की पुकार को सुनकर भी अनसुना कर देते हैं। हमें यह देखना है कि उस जगत्-जननी के प्रति अपने व्यवहार से हम किन बालकों की श्रेणी में आते हैं यह ठीक है कि खेलने वाले बालक भी भूख से पीड़ित हो माता के समीप दौड़ते हैं। इसी प्रकार कट्टर से कट्टर नास्तिक को भी "God is nowhere' के प्रचारक को भी आपत्ति आने पर "God is now here' दिखने लगता है और वे 'अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति' नास्तिक भी उस प्रभु के चरणों में पहुंचते हैं। इस प्रकार प्रभु सभी के लिये 'यह्व' हैं ही, पर हमें तो पुरु, विश् और देवयति बनकर सदा प्रभु की शरण में रहना चाहिये। ऐसा व्यक्ति कड़वे शब्द बोल ही कैसे सकता है? सबसे बड़ी मूर्खता कटु शब्द बोलना है। मधुर शब्दों से मनुष्य का लाभ ही लाभ है और आर्थिक व्यय भी कुछ नहीं। इसके विपरीत कटु शब्दों से हम उस व्यक्ति के अन्दर स्थित परम आत्मा का भी निरादर कर रहे होते हैं। सो हमें मधुर शब्दों को अपनाकर 'कण्व' मेधावी ही बनना है, न कि मूर्ख।

भावार्थ—हम मधुर भाषण द्वारा प्रभु का बरण करें।

अग्नि के तीन लक्षण

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
अयमग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य ।
३ १ २ ३ २ ३
राय ईशे स्वपत्यस्य
१ २ ३ १ २ ३ १ २
गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥६॥

[**अयम्**] यह [**अग्नि**] आगे बढ़ने के स्वभाव वाला जीव [**सुवीर्यस्य**] उत्तम वीर्य का [**ईशे**] ईश होता है। भोजन के अनुरूप शरीर में शक्ति का निर्माण होता है—तामस भोजन से तामस शक्ति, राजस से राजस व सात्विक से सात्विक। उत्तम शक्ति यदि हमारे प्रत्येक कार्य में सौन्दर्य को ले आती है तो अधम शक्ति भद्देपन का भी कारण बनती है इसीलिये सज्जन जहाँ शक्ति का प्रयोग रक्षा में करते हैं, वहां दुर्जन परपीड़न में उसका विनियोग करते हैं। मन्त्र में कहा है कि चूंकि अग्नि सुवीर्य का ईश है [हि] इसीलिये निश्चय से [**सौभगस्य**] उत्तमता व सौंदर्य का भी ईश है अग्नि का यही पहला लक्षण है।

दूसरा लक्षण यह है कि यह अग्नि [**रायः**] (रा दाने) देने योग्य धन का [**ईशे**] ईश होता है। और चूंकि यह सदा धन का दान में विनियोग करता है इसीलिये [**'स्वपत्यस्य**] उत्तम सन्तान का भी ईश बनता है। "श्रदस्मै वचसे नरो दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः" प्रभु कहते हैं कि इस वचन पर श्रद्धा करो कि दिल खोलकर दान

देने वाले पति-पत्नी सुन्दर सन्तान प्राप्त करते हैं। दान लोभ को नष्ट कर सब व्यसनों को नष्ट कर देता है। सो पवित्र पति-पत्नी उत्तम सन्तान क्यों न पायेंगे?

इस अग्नि का तीसरा लक्षण यह है कि यह [**गोमतः**] गोमानों का [**ईशे**] मुखिया होता है। उस समय जबकि सब गौ रखते थे, सभी गौमान् थे। उन गोमानों में भी जो खूब उत्तम गौवें रखता है वह गोमानों का ईश [**वृत्रहथानाम्**] वृत्र को मारने वालों का भी ईश बनता है। कामादि वासनायें वृत्र हैं, गो दुग्ध का प्रयोग करने वाला उनसे बचा रहता है। यह दुग्ध सात्विक होने से सात्विक भावों को ही जागरित करता है। इसीलिये वेद में गौ को रुद्र और आदित्यों को पैदा करने वाली कहा है।

भावार्थ—सुवीर्य का ईश बन सौभाग्य का ईश बनें। धन को दान करते हुए उत्तम सन्तान को प्राप्त करें। गो-दुग्ध के सेवन से सात्विक वृत्ति वाले बनें।

इस प्रकार इन तीन उत्तम नियमों के बन्धन में अपने को बांध कर हम मन्त्र के ऋषि 'उत्कील' बनें।

वरणीय पदार्थ प्राप्त करने का मार्ग

मोक्ष मार्ग

१२ ३१२३ १र २र ३२
त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे।
१र २र ३१२३
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता
२३ १ २ ३ १२
यक्षि यासि च वार्यम् ॥७॥

(१) इस मन्त्र में (अग्नि) प्रगतिशील जीव को सम्बोधन करके कहा कि [**अग्ने**] ऐ अग्नि! [**त्वं**] तू [**गृहपतिः**] गृह का पति है। यह शरीर गृह है, इसका अग्नि मालिक है। हमारे अन्नमय कोश के मालिक कभी-कभी रोग-कृमि भी बन जाते हैं। अग्नि "मिताशी स्यात् कालभोजी" इस चरक के वाक्य को आदर्श बनाकर कृमियों को प्रबल नहीं होने देता। हमारे प्राण-मय कोश पर असुरों का आक्रमण हो तो इन्द्रियाँ अशुभ कार्यों में प्रवृत्त हो जाती हैं। पर अग्नि प्राणायाम के द्वारा इन्द्रिय दोषों का दहन कर डालता है। मनोमय कोश राग द्वेष, मोह आदि मलों से मलिन हो जाता है पर यह अग्नि उसे सत्य का व्रत धारण कर निर्मल बनाये रखता है। हमारी बुद्धि असद् विचारों का केन्द्र बन जाती है, पर अग्नि स्वाध्याय के द्वारा बुद्धिको अपना सच्चा सारथि बनाये रखता है। हमें आनन्दमय कोश का नाममात्र भी ध्यान नहीं होता। पर यह अग्नि 'अयुतता'=अपृथक्ता=सबके साथ एकता का ध्यान करता हुआ आनन्दमय का अधिपति बन पूर्णरूपेण गृहपति बनता है।

(२) ऐ [**अग्नि**] [**नः**] हमारे में से [**त्वं**] तू [**अध्वरे**] हिंसा रहित कर्मों में [**होता**] आहुति देने वाला है। यह अग्नि कभी कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे कि दूसरे की हिंसा हो। किसी को supercede करने की कोशिश नहीं करता, किसी के व्यापार को हानि पहुंचा कर अपना लाभ करने का ध्यान नहीं करता।

(३) और इसिलिये [**त्वं**] तू [**पोता**] अपने को पवित्र बनाता है। अपवित्रता के होने पर मनुष्य न्याय-अन्याय सभी साधनों से धन कमाने में लग जाता है। पर यह अग्नि अपने को इन अशुभ मार्गों से बचाकर ठीक मार्ग पर ही चलता है।

(४) और इसी लिये [**विश्ववार**] सभी से चाहने योग्य, सभी का प्यारा बनता है।

(५) और [**यक्षि**] अपने को यह यज्ञ रूप बना डालता है। इसने तन, मन, धन की प्राजापत्य यज्ञ में आहुति दी है। [**च**] और परिणामतः [**वार्यम्**] वरणीय पदार्थ [**यासि**] प्राप्त करता है प्राणिमात्र से वरणीय होने के कारण मोक्ष वार्य है। सभी छुटकारा चाहते हैं, कभी रोग से, कभी कष्टों से। छुटकारा ही मोक्ष है, चाहने योग्य होने से यही

वरणीय है—वार्य है। इस मोक्ष को यह अग्नि ही गृहपति, अध्वर में होता, पोता, विश्ववार व यज्ञशील बन कर प्राप्त करता है। पूर्ण जितेन्द्रिय होने से वह इस मन्त्र का ऋषि 'वसिष्ठ' होता है।

भावार्थ--मोक्ष मार्ग की पांच मजिलें ये हैं—गृहपति बनना, किसी कि हिंसा न करना, पवित्रता, विश्वप्रिय बनना और यज्ञशील होना।

प्रभु की रक्षा का क्रम

१ २ ३१र २र ३ १ २
सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तास ऊतये।
३१र २र ३ १२
अपां नपातं सुभगं
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुदंससं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥८॥

प्रभु ने चूंकि जीव को स्वतन्त्रता दी है सो प्रभु जीव की रक्षा तभी करते हैं, जब जीव उन्हीं को रक्षक के रूप वरे। लायक से लायक डाक्टर किसी मरीज का बिना कहे स्वयं इलाज शुरू नहीं कर देते। प्रभु ने तो हमें स्वतन्त्रता दी है, वह बिना कहे उसमें क्यों हस्ताक्षेप करें! पर जो समझदार हैं वे अपने डाक्टर के रूप में प्रभु का वरण करते हैं। [**सखायः**] तेरे सखा बनकर [**त्वा**] तुझे [**ववृमहे**] वरते हैं। प्रभु से रक्षा चाहने का हक भी तो हमें तभी है जब हम कुछ उस जैसे बनने का प्रयत्न करें। यही भावना 'सखा' शब्द से व्यक्त की गई है। सखा=समान ख्याति वाले कुछ, कुछ उस जैसे स्वरूप वाले (God like)।

[**देवं**] आप तो सदा देने के लिये तैयार ही हो [**मर्तासः**] हम मर्त हैं, सदा मृत्यु=रोगों का शिकार हैं; क्या शारीरिक और क्या मानस, आधि व्याधियां हमें सदा परेशान किया करती हैं। [**ऊतये**] रक्षा के लिये हम मर्त तुझ देव का वरण करते हैं।

प्रभु की रक्षा का प्रकार मन्त्र के उत्तरार्ध में दिये गये ५ विशेषणों से स्पष्ट हो रहा है। (१) [**अपां न पातं**] आप शक्ति (आपः=रेतः) को नहीं नष्ट होने देने वाले हो। प्रभु स्मरण से वीर्य रक्षा होती है चूंकि प्रभु स्मरण के साथ वासना संभव नहीं। (२) [**सुभगम्**] आप उत्तम कर्मों में प्रेरित करने वाले हो तथा (४) [**सुप्रतूर्ति**] अच्छी प्रकार खूब ही अज्ञान का ध्वंस करने वाले हो (तुर्वी=हिंसायाम्) और इस प्रकार (५) [**अनेहसं**] Sinless=पवित्र बनाने वाले हो। इन्हीं ५ क्रमों से प्रभु हमारी रक्षा करते हैं।

भावार्थ—हम सखा बन उस प्रभु को रक्षक के रूप में वरने के अधिकारी बनें। प्रभु का सखा प्राणिमात्र का मित्र होता है, सो हम इस मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' बनेंगे।

* * *

॥ २ ॥ १ ऋषिः—श्यावाश्ववामदेवौ; २ उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः; ३ बृहदुक्थः; ४ कुत्सः; ५, ६ भरद्वाजः; ७ वामदेवः; ८, १० वसिष्ठः; ९ त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—१, ३, ५—९ त्रिष्टुप्; २, ४ जगती; १० त्रिपाद् विराड् गायत्री ॥ स्वरः—१, ३, ५—९ धैवतः; २, ४ निषादः; १० षड्जः ॥

हवि के द्वारा मार्जन (दान) से अपना शोधन

१ २ ३ १ २ ३
आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं
१र २र ३ १ २
नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम्।
३ २ ३ १र २ ३ १ २
इडस्पदे नमसा रातहव्य
३ १ २ ३ २ ३क २र
सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

प्रभु अपने सखा से कहते हैं कि (१) 'आजुहोता'=सर्वशः आहुति देने वाले बनो। तन, मन,

धन से लोकहित करने वाले बनो। यह हवि तुम्हें पवित्र बनायेगी। [**हविषा**] हवि के द्वारा [**मर्जयध्वम्**] अपना मार्जन करो। जिसके अन्दर (हवि) दान की वृत्ति उपजी, उसका अन्तःकरण पवित्र हुआ। दान शब्द 'डु दाञ् 'दाने,' 'दो अवखण्डने' तथा 'दैप् शोधने' धातुओं से बन कर 'देना' दोषों का खण्डन करना और अपना शोधन' इस क्रम को व्यक्त कर रहा है। दान वस्तुतः लोभ को नष्ट कर व्यसन-वृक्ष के मूल को ही समाप्त कर देता है।

(२) इस दान की वृत्ति को उपजाने के लिये [**नि**] in=अपने अन्दर [**होतारं**] होतृत्व की भावना को तथा [**गृहपतिं**] गृहपतित्व की भावना को [**दधिध्वम्**] धारण करो। हमें चाहिये कि हम सदा सोचें कि हमने होता बन कर गृहपति बनना है। होता बनना गृहपति बनने का साधन हो जाता है। जो होता बनेगा वह व्यसनों में न फंसेगा—परिणामतः अपने स्थूल शरीरादि का स्वयं पति बना रहेगा, अन्यथा भोगों का शिकार हो जायगा। प्रारम्भ से ही हमारे अन्दर होता बनने की भावना होगी तो हम बड़े होकर ऐसा क्यों नहीं बनेंगे ?

(३) यह होतृत्व हमारे अन्दर स्थिर रहे—इसके लिए हमें चाहिये कि [**इडः पदे**] अपनी वाणी के स्थान में [**नमसा**] नम्रता से उस प्रभु की [**सपर्यता**] पूजा करें, जो प्रभु [**रातहव्यम्**] सब हबि के योग्य अर्थात् पवित्र पदार्थों के देने वाले हैं। अपवित्रता व दुर्गन्ध तो हमारे दुष्प्रयोग का परिणाम है, 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च'=प्रभु ने तो पुण्य ही गन्ध को उपजाया है। यह प्रभु जब सब पदार्थों के देने वाले हैं तो हमें भी प्रभु के दिये पदार्थों को प्रभु के प्राणियों को ही देते हुये क्यों संकोच होगा ? तथा वे प्रभु [**पस्त्यानाम्**] सब घरों के साथ [**यजतं**] संगति करने वाले या उनको देने वाले हैं। हम भी एक ही घर से अपना सम्बन्ध क्यों समझें ? सभी घरों को अपना घर समझते हुये, वस्तुतः सर्वभूतहिते-रत बन कर, सच्चे प्रभु-भक्त बनें।

भावार्थ—(१) पवित्रता के लिये अपने को हविरूप बनाना आवश्यक है। (२) हविरूप बनने के लिये प्रारम्भ से होतृत्व का लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिये, तथा (३) इस लक्ष्य को क्रियान्वित करने के लिये सभी को सब कुछ देने वाले उस प्रभु की विनय सहायक होती है।

आदरणीय मानव जीवन की चार मंजिलें

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २उ
चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १
मातरावन्वेति धातवे। अनूधा यदजीजनदधा
२ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
चिदा ववक्षत् सद्यो महि दूत्यां३
१ २
चरन् ॥२॥६४॥

मानव जीवन की प्रथम मंज़िल ब्रह्मचर्यकाल है। इसमें [**शिशो**] शिशु का (शो तनूकरणे) अपनी बुद्धि को तीव्र करने वाले तथा [**तरुणस्य**] तरुण का (तृ) वासनाओं को तैर जाने वाले का [**वक्षथः**] विकास (वक्ष्=to wax=to grow) [**चित्र इत्**] सचमुच अदभुत है। ब्रह्मचर्य काल में यदि उसने दो ही बातों का ध्यान रखा कि (१) बुद्धि को तीव्र करना है तथा (२) वासनाओं का शिकार नहीं होना तो यह उसकी प्रशंसनीय सफलता होगी।

इसके बाद गृहस्थ में वह [**धातवे**] पालन पोषण के लिये [**मातरौ अनु**] माता-पिता के पीछे [**ए नति**] नहीं जाता तो यह प्रशंसनीय है। गृहस्थ में तो प्रवेश ही तब करना चाहिये जबकि 'धोश्री स्त्रीम्'=ज्ञान व धन का उसने सम्पादन कर लिया हो। धन न कमाने वाले को विदुर के शब्दों में समुद्र में डुबा देना चाहिये। "ध्रुवैधिपोष्येमयि" पोषण करने वाले पति में ही पत्नी ने स्थिर होकर के रहना है। गृहस्थ बन कर तो उसे स्वयं माता-पिता की सेवा करनी है, न कि उनसे सेवा लेनी।

अब गृहस्थ का सम्यक् पालन करने के बाद [**यद्**] जब वह 'अनूधाः'=secret apartments

=अन्तःपुर=निज घर के बिना [**अजीजनत्**]अपने को कर लेता है अर्थात् वानप्रस्थ बन जाता है और उसकी कुटिया का द्वार सदा सब के लिये खुला होता है तो यह भी बड़ी प्रशंसनीय बात है।

[**अधा चिद्**] अब इस वानप्रस्थ के बाद ही, संन्यासी बन [**सद्यः**] वह शीघ्र ही [**महि दूत्यां**] महान् दूत कर्म को, [**चरन्**] करता हुआ [**आववक्षत्**] वेद ज्ञान को सर्वत्र ले जाता है अर्थात् पहुंचाता है। इस प्रकार अपने जीवन की चारों मञ्जिलों को प्रशंसनीय प्रकार से बिताता हुआ यह सचमुच इस मन्त्र का ऋषि 'उपस्तुत' बनता है। 'हृदय की वासना के उद्वर्हण के कारण स्तुति किये जाने से यह' वार्हिष्टव्य' (वर्हि+स्तव+य) कहलाता है।

भावार्थ—जीवन की चारों मंजिलों को हम बड़े सुन्दर प्रकार से तय करें।

[**मातरौ**] इसका अर्थ माता-पिता करना कुछ कठिन है, उस में 'मातापितरौ' या 'पितरौ' बनता है। यहाँ वास्तव में माता और mother in-law से अर्थ है। आजकल युवक, पिता न भी दे तो माता से मांग लेते हैं और mother-in-law से मांगना तो अपना हक़ ही समझते हैं। वे भी तंग हैं—यह तंगी 'जामाता दशमो ग्रहः' इस वाक्य से व्यक्त है।

तीन ज्योतियां

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इदं त एकं पर ऊ त एकं, तृतोयेन ज्योतिषा
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सं विशस्व। संवेशनस्तन्वे३ चारुरेधि प्रियो
३ १ २ ३ २ ३ १ २
देवानां परमे जनित्रे ॥३॥६५॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि (१) [**इदं ते एकं**] (ज्योतिः) यह तेरी प्रथम ज्योति है। स्वास्थ्य से प्राप्त होने वाली शरीर की कान्ति ही जीव की प्रथम ज्योति है। यदि एक व्यक्ति सदा स्वस्थ रहे, तो उसके शरीर पर एक चमक होगी। जिस प्रकार एक फल पकने के साथ-साथ अधिकाधिक श्री वाला होता जाता है उसी प्रकार स्वास्थ्य के ठीक रहने की दशा में मनुष्य का देह कान्तिमय और अधिक कान्तिमय होता चलता है। और अन्त में जैसे पूर्ण परिपक्व फल वृक्ष से अलग होकर गिर पड़ता है, इसी प्रकार मनुष्य भी पूर्ण परिपक्वावस्था में शरीर को आराम से छोड़ जाता है। यही स्वाभाविक मृत्यु है।

शरीर में अग्नि (जठराग्नि) का कार्य ठीक चलता रहे तो रोग नहीं आते और स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। इसीलिये जिस प्रकार पृथ्वी की ज्योति अग्नि है उसी प्रकार पार्थिव शरीर की ज्योति भी इसी जाठर-अग्नि से उत्पन्न होती है। इसके बाद प्रभु कहते हैं कि :—

(२) [**उ**] और [**ते**] तेरी [**एकं**] एक [**परं**] (ज्योतिः)इस शारीरिक ज्योति से [**पर**] अधिक उत्कृष्ट ज्योति है जिसे 'मानस ज्योति' कहा जाता है। शरीर को स्वस्थ रखने से जैसे शारारिक कान्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार मन को स्वस्थ रखने से यह मानस ज्योति उपलब्ध होती है। इसी को गीता में 'मनः प्रसादः' नाम से सर्वोत्तम कहा है। मन में किसी के प्रति द्वेष न होने, रागद्वेषमोहादि मलों से शून्य होकर मन के शुचि होने से जो मानस आनन्द प्राप्त होता है वह एक अनुपम आनन्द है। उस समय अंन्तरिक्ष की ज्योति चन्द्रमा की तरह यह हृदयान्तरिक्ष की ज्योति मन भी खूब दीप्तिमय होता है। निर्मल चन्द्र आह्लाद को उत्पन्न करता है, निर्मल मन भी उसी प्रकार आह्लादमय होता है।

(३) एवं जीव ने शरीर के स्वास्थ्य से प्रथम ज्योति को प्राप्त किया, मन को निर्द्वेषता से दूसरी ज्योति को। पर प्रभु कहते हैं कि तू अब[**तृतीयेन**] तीसरी[**ज्योतिषा**] ज्योति के साथ [**संविशस्व**] आनन्द को लेने वाला बन (संविश्) (to enjoy) तथा प्रतिक्षण उसी के प्राप्त करने में लगा रह (संविश्= to be engaged in)। यह तृतोय

॥ ओ३म् ॥
वेद - प्रकाशन समिति
आर्यसमाज, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-२२
प्रधान कार्यालय १/२४८, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-२२

रसीद संख्या 613 दिनांक 5/12
श्रीमान् [illegible] जी से
पूरा पता [illegible]
रुपये [illegible] मध्ये
सधन्यवाद प्राप्त हुए।
रु० 51.00
ह० प्राप्तकर्ता

होती है। "पावक-वर्णाः शुचयो विपश्चितः अभिस्तोमैरनूषत" अर्थात् अग्नि के समान कान्ति वाले, पवित्र विद्वान् ही वस्तुतः स्तुति-समूहों से प्रभु की स्तुति करते हैं। शरीर प्रभु का मन्दिर है, उसे नीरोग, निर्द्वेष, निर्जड़ (निष्कुण्ठ) रखना ही प्रभु का आदर करना है। इसी महान् स्तुति को करने वाला 'वृहदुक्थ' इस मन्त्र का ऋषि है। वृहत्= महान् उक्थ=स्तुति वाला।

भावार्थ— प्रभु की सच्ची स्तुति यही है कि

स्वस्थ, द्वेष रहित व तीव्र बुद्धि वाले बनने का
त्न करें।

यह स्तोम (स्तुति)

उ ३ १ २ ३ १ २ ३ . १ २ ३ १ १
ं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा
२ ३२उ ३ १ २ ३१र २र
ीषया। भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने
ार २र ३१र २र
ये मा रिषामा वयं तव ॥४॥६६॥

[**इमं स्तोमं**] इस स्तुति को, जिसका कि
ले मन्त्र में तीन ज्योतियों के सम विकास के
ं उल्लेख हुआ है, हम [**अर्हते**] प्रशंसनीय
भु के लिये [**संमहेमा**] संस्कृत करते हैं। इन
ज्योतियों का विकास हमने क्या किया है?
करने वाला तो वह प्रभु ही है। यह सब
उसी की है। जहां-जहां विजय व सफलता
का करने वाला वही है, चूंकि वह[**जात-**
प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है (जाते जाते
)। नासमझ व्यक्ति इन विजयों को अपना
गर्वान्वित हो जाया करते हैं पर समझदार
जयों को अपना न समझ प्रभु का ही जानते
ी से मन्त्र में कहा है कि [**मनीषया**] बुद्धि
इस स्तुति को उस प्रशंसनीय सब में
न प्रभु के लिये उसी प्रकार संस्कृत करते हैं
जैसे एक बढ़ई [**रथम्**] रथ को।

ा प्रकार रथ हमें यात्रा के अन्त तक
है, उसी प्रकार यह प्रभु की स्तुति भक्त
न यात्रा के लिये रथ का काम देती है।
हमारी जीवन यात्रा इस स्तुति के होने पर निर्विघ्न पूर्ण होती है। चूंकि जब हम उस प्रभु का स्मरण करते हैं तो पाप हमारे पर आक्रमण कर ही नहीं सकते। [**अस्य**] इस प्रभु की संसदि=समीपता में सम्यक् बैठने से [**नः**] हमारी [**प्रमतिः**] बुद्धि [**हि**] निश्चय से [**भद्रा**] कल्याणी, शुभ विचारों वाली बनी रहती है। अशुभ विचार आते ही मनुष्य व्यसनों में फंस यात्रा की प्रगति को समाप्त कर लेता है। और उसकी महान् हानि (महती

=अन्तःपुर=निज घर के बिना [**अजी**
को कर लेता है अर्थात् वानप्रस्थ वन
उसकी कुटिया का द्वार सदा सब के
होता है तो यह भी बड़ी प्रशंसनीय बात

[**अधा चिद्**] अब इस वानप्रस्थ
संन्यासी बन [**सद्यः**] वह शीघ्र ही
महान् दूत कर्म को, [**चरन्**] करता
वक्षत्] वेद ज्ञान को सर्वत्र ले जा
पहुंचाता है। इस प्रकार अपने जीव
मञ्जिलों को प्रशंसनीय प्रकार से
यह सचमुच इस मन्त्र का ऋषि 'उप
है। 'हृदय की वासना के उद्बर्हण के
किये जाने से यह' वार्हिष्टव्य' (वर्हि
कहलाता है।

भावार्थ—जीवन की चारों मं
बड़े सुन्दर प्रकार से तय करें।

[**मातरौ**] इसका अर्थ माता-पि
कठिन है, उस में 'मातापितरौ'
बनता है। यहाँ वास्तव में माता
in-law से अर्थ है। आजकल युवक
दे तो माता से मांग लेते हैं और mo
से मांगना तो अपना हक़ ही समझ
तंग हैं—यह तंगी 'जामाता दशमो ग्र
से व्यक्त है।

तीन ज्योतियां

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
इदं त एकं पर ऊ त एकं, तृती
१ २ ३ १ २ ३ १
सं विशस्व । संवेशनस्तन्वे३ चारुरेधि प्रियो
३ १ २ ३ २ ३ १ २
देवानां परमे जनित्रे ॥३॥६५॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि (१) [**इदं ते एकं**] (ज्योतिः) यह तेरी प्रथम ज्योति है। स्वास्थ्य से प्राप्त होने वाली शरीर की कान्ति ही जीव की प्रथम ज्योति है। यदि एक व्यक्ति सदा स्वस्थ रहे, तो उसके शरीर पर एक चमक होगी। जिस प्रकार

को उत्पन्न करता है, निर्मल मन भी उसी प्रकार आह्लादमय होता है।

(३) एवं जीव ने शरीर के स्वास्थ्य से प्रथम ज्योति को प्राप्त किया, मन को निर्द्वेषता से दूसरी ज्योति को। पर प्रभु कहते हैं कि तू अब [**तृतीयेन**] तीसरी [**ज्योतिषा**] ज्योति के साथ [**संविशस्व**] आनन्द को लेने वाला बन (संविश्) (to enjoy) तथा प्रतिक्षण उसी के प्राप्त करने में लगा रह (संविश्= to be engaged in)। यह तृतीय

ज्योति मस्तिष्क रूप द्युलोक की ज्योति बुद्धिरूप सूर्य है। जीव के कर्त्तव्य की परिनिष्ठा स्वास्थ्य व निर्द्वेषता के साथ नहीं हो जाती, उसे तो बुद्धि का विकास करके ही विश्रान्ति लेनी है। वास्तव में तो बुद्धि के विकास के बिना निर्द्वेषता व स्वास्थ्य भी पूर्ण संभव नहीं। सूर्य के बिना अग्नि व चन्द्र की सत्ता नहीं हो सकती, उसी प्रकार बुद्धि निर्द्वेषता व स्वास्थ्य को जन्म देती है।

मनुष्य ने केवल स्वास्थ्य पर ध्यान दिया तो उसने हाथी बनने को ही अपना लक्ष्य समझ लिया। केवल निर्द्वेषता को लक्ष्य बनाकर हम गौ, भेड़ से ऊपर नहीं उठ सकते। मनुष्य तो बुद्धि का विकास करके ही मनुष्य बन पाता है।

एवं शारीरिक, मानस व बौद्ध तीनों ज्योतियों को प्राप्त करने में लगे रहने वाला व्यक्ति 'संवेशन' कहलाता है। यह[**संवेशन**] ही वस्तुतः तन्वे= शरीर में (तन्वाम्=तन्वे) [**चारुः**] बड़ा सुन्दर बन करके [**एधि**] रह रहा है। एकांगीन उन्नति करने वाले के जीवन में वह सौन्दर्य नहीं जो इस सर्वाङ्गीण उन्नति से उत्पन्न होता है।

यह तीनों उन्नतियों का करना ही [**परम**] उत्कृष्ट [**जनित्र**] विकास (प्रादुर्भाव) है। सम विकास ही परम विकास है। इसी में सौन्दर्य है। इस[**परमे**] [**जनित्रे**] परम विकास के होने पर ही मनुष्य [**देवानां**] विद्वानों का [**प्रियः**] प्रिय होता है। समझदार लोग इस समविकास वाले का ही आदर करते हैं।

परमेश्वर की स्तुति भी समविकास द्वारा ही होती है। "पावक-वर्णाः शुचयो विपश्चितः अभिस्तोमैरनूषत" अर्थात् अग्नि के समान कान्ति वाले, पवित्र विद्वान् ही वस्तुतः स्तुति-समूहों से प्रभु की स्तुति करते हैं। शरीर प्रभु का मन्दिर है, उसे नीरोग, निर्द्वेष, निर्जड़ (निष्कुण्ठ)रखना ही प्रभु का आदर करना है। इसी महान् स्तुति को करने वाला 'वृहदुक्थ' इस मन्त्र का ऋषि है। वृहत्= महान् उक्थ=स्तुति वाला।

भावार्थ— प्रभु की सच्ची स्तुति यही है कि हम स्वस्थ, द्वेष रहित व तीव्र बुद्धि वाले बनने का प्रयत्न करें।

यह स्तोम (स्तुति)

३२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ १
इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा
३ १ २ ३२उ ३ १२ ३१र २र
मनीषया। भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने
३ १र २र ३१र २र
सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥४॥६६॥

[**इमं स्तोमं**] इस स्तुति को, जिसका कि उपरले मन्त्र में तीन ज्योतियों के सम विकास के रूप में उल्लेख हुआ है, हम [**अर्हते**] प्रशंसनीय उस प्रभु के लिये [**संमहेमा**] संस्कृत करते हैं। इन तीन ज्योतियों का विकास हमने क्या किया है? इसका करने वाला तो वह प्रभु ही है। यह सब प्रशंसा उसी की है। जहां-जहां विजय व सफलता है, उसका करने वाला वही है, चूंकि वह[**जातवेदसे**] प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है (जाते जाते विद्यते)। नासमझ व्यक्ति इन विजयों को अपना समझ गर्वान्वित हो जाया करते हैं पर समझदार इन विजयों को अपना न समझ प्रभु का ही जानते हैं। इसी से मन्त्र में कहा है कि [**मनीषया**] बुद्धि से हम इस स्तुति को उस प्रशंसनीय सब में विद्यमान प्रभु के लिये उसी प्रकार संस्कृत करते हैं 'इव'=जैसे एक बढ़ई [**रथम्**] रथ को।

जिस प्रकार रथ हमें यात्रा के अन्त तक पहुँचाता है, उसी प्रकार यह प्रभु की स्तुति भक्त की जीवन यात्रा के लिये रथ का काम देती है। हमारी जीवन यात्रा इस स्तुति के होने पर निर्विघ्न पूर्ण होती है। चूंकि जब हम उस प्रभु का स्मरण करते हैं तो पाप हमारे पर आक्रमण कर ही नहीं सकते। [**अस्य**] इस प्रभु की संसदि=समीपता में सम्यक् बैठने से [**नः**] हमारी [**प्रमतिः**] बुद्धि [**हि**] निश्चय से [**भद्रा**] कल्याणी, शुभ विचारों वाली बनी रहती है। अशुभ विचार आते ही मनुष्य व्यसनों में फंस यात्रा की प्रगति को समाप्त कर लेता है। और उसकी महान् हानि (महती

विनष्टिः) हो जाती है। पर [**अग्ने**] ऐ प्रभो ! [**वयं**] हम तो [**तव**] तेरी [**सख्ये**] मित्रता में [**मा**] मत [**रिषामा**] हिंसित हों। प्रभु की मित्रता में हमारे पर आसुर वृत्तियों को आक्रमण करने का साहस ही कैसे हो सकता है ! प्रभु संपर्क से शक्तिशाली बन हम इन आसुर वृत्तियों के कुचलने वाले इस मन्त्र के ऋषि 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) बनते हैं। शक्तिशाली होने से 'आँगिरस' होते हैं।

भावार्थ— हमें चाहिए कि हम सदा प्रभु की स्तुति करें, उसी के सम्पर्क में रहें, उसी की मित्रता को प्राप्त करें।

उन्नत पुरुष के लक्षण

३ १२ ३ १ २३१ २ ३ १ २ ३२३२उ
मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत
३ २३ २ ३२ ३ २ ३१२ ३
आ जातमग्निम्। कविं सम्राजमतिथिं
१ २ ३ २३ १ २ ३ २
जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ।।५।।६७।।

गीता के द्वितीय अध्याय की समाप्ति पर अर्जुन का प्रश्न है कि "स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" = स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण है ? इसी प्रकार यह प्रश्न किया जा सकता है कि परमेश्वर के सम्पर्क में आकर जो पुरुष उन्नत होता है उसका क्या लक्षण है। इस प्रश्न का उत्तर यह मन्त्र इस प्रकार देता है कि:—

(१) [**दिवः मूर्धानम्**] ज्ञान व प्रकाश के मस्तक-शिखर रूप इस पुरुष को [**देवाः**] प्राकृतिक शक्तियाँ, विद्वान् व महादेव प्रभु [**जनयन्त**] विकसित करते हैं। प्रभु की स्तुति करने वाला पुरुष उत्तम परिस्थिति को पाकर प्रकृष्ट पण्डित बनता है।

(२) [**पृथिव्याः अ-रतिम्** [इस पुरुष को पार्थिव भोगों के प्रति बहुत रति व प्रेम नहीं होता। इसकी रुचि भोजनों की स्वादिष्टता व वस्त्रों की सुन्दरता में केन्द्रित नहीं होती।

(३) [**वैश्वानरम्**] विश्व-नर-हितम् = यह सब मनुष्यों के लिये हितकर कार्यों को करता हुआ अपने जीवन को बिताता है। यह कभी केवल अपने लिये नहीं जीता।

(४) 'ऋत आजातम्' = 'ऋते आजातम्' = यह सत्य का ही अनुभव लेने के लिये पैदा हुआ होता है। साँसारिक सुखोपभोग की वृद्धि के लिये असत्य का आश्रय कभी नहीं लेता।

(५) 'अग्निम्' = इसके जीवन का सूत्र होता है 'आगे बढ़ना,' अवनति पथ पर यह कभी कदम नहीं रखता।

(६) 'कविम्,' = यह क्रान्तदर्शी बनता है। वस्तुओं की बाह्य आकृति (appearance) से यह धोखे में नहीं आता। तह तक पहुँच कर वस्तुतत्व को जानने का यह प्रयत्न करता है।

(७) 'सम्राजं = (सम् राज्) इसका जीवन बड़ा नियमित (well-regulated) होता है।

(८) 'जनानां अतिथिम्' = यह सदा मनुष्यों के सम्पर्क में आने वाला होता है। मनुष्यों की ओर, न कि उनसे दूर, सतत गमन करने वाला होता है। संसार को माथा-पच्ची समझ हिमालय की कन्दराओं की ओर नहीं भाग जाता।

(९) 'आसन्नः पात्रम्' = (आसन् = आस्य) मुख के द्वारा अपने वेदानुकूल उपदेशों द्वारा उन लोगों का रक्षक (पा = रक्षणे) होता है।

भावार्थ— उन्नत पुरुष ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है, पार्थिव वस्तुओं में रुचि नहीं रखता, लोकहित का जीवन बिताता है। सदा सत्यवादी, प्रगतिशील, क्रान्तीदर्शी, नियमित जीवनवाला होकर मनुष्यों के सम्पर्क में रहता हुआ सदुपदेशों से उनका कल्याण करता है।

श्रव्य स्तुति के तीन लाभ

२उ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने
३ २ २ ३ १ २ ३ १ २
जनयन्त देवाः। तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाज-
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
यन्त्याजिं न गिर्ववाहो जिग्युरश्वाः ।।६।।६८।।

(१) ऐ 'अग्ने'=प्रभो ! 'उक्थेभिः'= स्तुतियों के द्वारा 'त्वत्'=आपसे 'देवाः' दिव्य गुण 'वि'=विशेष रूप से 'जनयन्त'=प्रादुर्भूत होते हैं, 'न' जैसे 'पर्वतस्य पृष्ठात्'=पर्वत पृष्ठ से 'आपः'=जल अवतीर्ण हुआ करते हैं। जो व्यक्ति प्रभु की स्तुति करता है उसमें दिव्यता (divinity) का अवतार उस प्रकार तीव्रता से होता है जैसे पर्वत पृष्ठ से जलों का प्रवाह तीव्रता से बहता है। प्रभु का स्तोता अपने में दिव्यता को अवतीर्ण होता हुआ अनुभव करता है। उसे क्रोधद्वेषादि भावनायें छोड़ जाती हैं।

(२) 'तं'=इस प्रकार दिव्यता के अवतार से देवरूप बने हुए इस पुरुष को 'सुष्टुतयः'=उत्तम स्तुतियों वाली 'गिरः'=ये वाणियां 'त्वा' आपको (प्रभु को) 'वाजयन्ति'=गमयन्ति=प्राप्त कराती हैं। सर्वत्र व्यापक होने के नाते तो प्रभु सर्वत्र हैं ही। पर जीव अपने में दिव्यता को धारण कर, कुछ प्रभु का प्रतिरूप बन कर प्रभु के समीप पहुँचता है और आसुर गुणों की प्रबलता होने पर प्रभु से दूर होता है।

(३) प्रभु के समीप पहुँचने वाले ये 'गिर्ववाहः' =स्तुतियों को अतिशय से धारण करने वाले भक्त 'अश्वाः न'=घोड़ों की तरह =शक्तिशालियों की तरह (घोड़ा शक्ति का प्रतीक है) आजि=इस संसार संग्राम की=हृदय स्थली पर चलने वाले देवासुर संग्राम को [**जिग्युः**] जीत जाते हैं। यह संसार एक नदी के समान है जो प्रलोभनों की चट्टानों से कदम-कदम पर भरा है, इसे जीतना सुगम नहीं। पर प्रभु का स्तोता प्रभु से शक्ति पाकर इसे पार कर लेता है। वह प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होकर इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' =(अपने में वाज=शक्ति को भरने वाला) बनता है।

भावार्थ—स्तुति के तीन क्रमिक लाभ हैं—(१) दिव्यता की प्राप्ति, (२) प्रभु की समीपता, (३) संसार संग्राम में विजय।

मृत्यु से पहले ही

२ ३ १ २ ३१ २ ३ १र २र ३ २ ३
आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २३ २ ३ १
रोदस्योः। अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धि
२ ३ १ २
रण्यरूपमवसे कृणुध्वम्। ७॥६९॥

मनुष्य की उन्नति इसी में है कि उसके कार्य हिंसाशून्य हों, सम्पूर्ण नैतिक धर्म का पर्यवसान अहिंसा में ही है। और यदि एक मनुष्य अपने जीवन को 'अ-ध्वर'=हिंसाशून्य बना लेता है तो वह उत्तमता की मर्यादा पर पहुँच जाता है।

पर इस उत्थान का उसे गर्व न हो जाना चाहिये, सो वेद कहता है कि 'वः'=तुम्हारे 'अध्वरस्य'=इस हिंसाशून्य जीवन का 'राजानं'= दीप्त करने वाला वह प्रभु है। उस प्रभु की कृपा से ही तुम अपने जीवन को ऐसा बना पाये हो। वह प्रभु ही इन 'अध्वरस्य'=यज्ञों का 'रुद्रं'=वेद-वाणी द्वारा उपदेश देने वाला है। सब उत्तम कर्मों का उसने वेद में ज्ञान दिया है। यजुर्वेद मनुष्य से किये जाने योग्य यज्ञों का वेद है।

प्रभु ने उपदेश ही दे दिया हो, इतना ही नहीं। उसने उन यज्ञों को कर सकने के लिए 'होतारं' सब आवश्यक साधनों को भी प्राप्त कराया है। ज्ञानेन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां, मन व बुद्धि तथा संसार के सब पदार्थ हमें उन यज्ञों के करने के लिए साधन रूप में दिए गए हैं। और यदि हम इन साधनों का ठीक प्रयोग करते हैं तो उन्नत लोकों की प्राप्ति के रूप में उस प्रभु से आदर को भी पाते हैं। वे प्रभु 'रोदस्योः'=इस द्युलोक और पृथ्वी लोक के मध्य में 'सत्ययजं'=सभी सत्य के अनुष्ठान करने वालों का आदर करते हैं, वे सत्य-निष्ठ प्रभु के प्रिय होते हैं। परन्तु इस सत्यनिष्ठा पर हमें पहुंचाने वाले भी वे प्रभु ही हैं। वही 'अग्नि'=हमें आगे ले चलते हैं।

हमें चाहिए कि इस प्रभु को 'तनयित्नोः'=

विद्युत् की चमक के समान आकस्मिक रूप में आ जाने वाली 'अचित्तात्' मृत्यु से 'पुरा'=पहले ही जानने का प्रयत्न करें। न जाने मृत्यु कब आ जाए! कलेण्डर देख कर तो यह आती नहीं। सो हम यथासंभव शीघ्र उस प्रभु को 'आकृणुध्वम्' =अपने चारों ओर व्याप्त रूप में जानने के लिए यत्नशील हों। वे प्रभु 'हिरण्यरूपं'=ज्योतिर्मय हैं। उनका जानना ही 'अवसे'=हमारे रक्षण के लिए है। अन्यथा 'महती विनष्टिः'=इन उपनिषद् शब्दों के अनुसार आवागमन के चक्र में उलझे रहने के रूप में महान् हानि ही हानि है।

उस प्रभु को जान कर ही हमारा जीवन भी राजानं'=यज्ञों से दीप्त, 'रुद्रं'=औरों को सदा उत्तम प्रेरणा देने वाला, 'होतारं'=दानशील, 'सत्ययजं'=सत्यनिष्ठ, 'अग्नि'=उन्नतिशील व 'हिरण्य-रूपं'=ज्योतिर्मय होगा और हम इन उत्तम दिव्य गुणों से सम्पन्न 'वाम'=सुन्दर 'देव' दिव्य गुणों वाले इस मन्त्र के ऋषि 'वामदेव'=बनेंगे।

भावार्थ—मृत्यु से पूर्व ही उस प्रभु को जानने का प्रयत्न करो। इसी में मानव जीवन की सफलता है।

मुमुक्षु के लक्षण

३२उ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं
३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
घृतेन। नरो हव्येभिरीडते सबाध अग्निरग्र-
३१ २
मुषसामशोचि ॥८॥७०॥

[**अग्निः**] अपने को आगे प्राप्त करने वाला, उन्नति पथ पर चलने वाला यह मुमुक्षु [**राजा**]= बड़े नियमित (regulated) जीवन वाला होता है। शरीर में जितनी भी क्रियायें 'क्षरपुरुष'=प्राकृतिक शरीर से सम्बद्ध हैं—खाना, पीना, सोना, जागना— वे सब उसकी बड़े नियम से चलती हैं। सूर्य चन्द्र की गति के समान समय पर होती हैं। (२) [**अर्यः**] यह स्वामी होता है। किनका? अपनी इन्द्रियों का। इन्द्रियों के वशीभूत होकर यह कभी कोई कार्य नहीं करता। इन्द्रियां उसकी उन्नति का साधन होती हुई उसकी दास होती हैं। न कि मालिक। प्राकृतिक जीवन में उसकी क्रियायें नियमित होती हैं, आध्यात्मिक जीवन में संयत।

इतना उत्कृष्ट जीवन वाला होता हुआ भी वह नम्र होता है और वस्तुतः (३) [नमोभिः]= इन नम्रताओं से 'समिन्धे'=और भी अधिक चमकता है। (४) यह मुमुक्षु वह है [यस्य] जिसका [प्रतीकं]=अंग प्रत्यंग 'घृतेन'=दीप्ति से [आहुतम्]=आहुत होता है। इसका अंग-प्रत्यंग एक विशेष प्रकार की चमक वाला होता है। उसके मन की शान्ति चेहरे पर ज्योति के रूप में प्रकट होती है।

(५) इस प्रकार अपने जीवन को बनाकर ये मुमुक्षु [नरः]=औरों को आगे ले चलने वाला बनता है। और इस लोकहित की प्रवृत्ति में (६) [हवेभिः]=तन, मन, धन की आहुतियों से ये उस प्रभु की 'ईडते'=उपासना करते हैं। इस कार्य में ये (७) [सबाधः]=बलयुक्त होता है। इस लोकहित के कार्य को यह ढिलमिलपने से न करके शक्तिशाली बन कर करता है। (८) यह अग्नि 'आ-उषसाम् अग्रे'=सदा उषःकाल के अग्रभाग में बहुत तड़के 'अशोचि'=अपनी गत दिन की कमियों का पश्चात्ताप करता है और आगे से अनके न दुहराने के दृढ़ निश्चय से अपने को पवित्र व दीप्त बनाता है।

इस प्रकार सब इन्द्रियों को वश में करने के कारण यह मुमुक्षु इस मन्त्र का ऋषि 'वशिष्ठ' होता है।

भावार्थ—मुमुक्षु को नियमित व संयत शान्त जीवन वाला होकर लोकहित के द्वारा प्रभु की उपासना में निरत रहना चाहिए।

चार बातें

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १
प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो
२ ३ २ ३ १ २ ३ १र १र ३ २ ३
रोरवीति। दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामु-
१ २ ३ १ २
पस्थे महिषो ववर्ध ॥९॥७१॥

(१) [अग्नि:]=अपने जीवन को प्रगतिशील बनाकर 'अग्नि' नाम से कहलाने वाला व्यक्ति [बृहता]=सब प्रकार की वृद्धि के कारणभूत 'केतुना=नीरोगता के साथ [प्रयाति]=उत्तम प्रकार से जीवन यात्रा में चलता है। स्वास्थ्य के बिना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कोई भी पुरुषार्थ संभव नहीं, सो यह अग्नि अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान करता है। यह स्वास्थ्य सर्वतोमुखी वृद्धि में सहायक होता है। यह अपने भोजनाच्छादन का मापक स्वास्थ्य को बनाकर चलता है। पथ्य का ही सेवन करता है, उसके जीवन में स्वाद को प्रधानता नहीं मिलती।

(२) यह अग्नि स्वस्थ बन कर [रोदसी]= द्युलोक से पृथ्वी लोक तक सभी के लिए 'वृषभ:'= सुखों की वर्षा करने वाला होकर [आरोरवीति]= खूब उपदेश देता है। इस अग्नि की वाणी में ऐसा माधुर्य होता है कि यह किसी के हृदय को कटु नहीं लगती और सभी उस वाणी में अपना हित छिपा हुआ अनुभव करते हैं।

(३) यह अग्नि लोकों को ज्ञान देने के लिये स्वयं [दिव:]=ज्ञान के [अन्तात्]=परले सिरों को [उपमाम् चित्]=तथा समीप के सिरों को 'उदानट्'=व्याप्त करता है। 'सरस्वती'=ज्ञान की देवता जब एक नदी के रूप में चित्रित की जाती है तो सृष्टि विद्या उसका उरला किनारा होता है और ब्रह्म विद्या परला। यह अग्नि इन दोनों किनारों को व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। वह यह समझता है कि अलग-अलग ये दोनों विद्याएं अन्धकार में ले जाने वाली हैं। इनका मेल ही अभ्युदय व नि:श्रेयस को सिद्ध कर सकता है।

(४) इस प्रकार विज्ञान व ब्रह्मज्ञान को अपना कर यह अग्नि [अपाम्]=कर्मों की 'उपस्थे' =गोद में 'ववर्ध'=आगे और आगे बढ़ता है। ज्ञानी बन कर यह सदा क्रियाशील होता है। अपने लिए बहुत कुछ करने को न होने पर भी लोकहित के लिये सदा कर्मों में लगा रहता है और अतएव 'महिष:'=लोकों का पूजनीय होता है।

इस अग्नि का लक्ष्य उत्तम ज्ञान के प्रचार द्वारा त्रिविध दु:खों को शीर्ण (नष्ट) करना होता है और इसी से यह इस मन्त्र का ऋषि 'त्रिशिरा:' कहलाता है।

भावार्थ—'अग्नि'=प्रगतिशील जीव स्वस्थ, ज्ञानी व क्रियाशील होता है।

अरणियों से अग्नि का दीपन

३ २उ ३ १ २ ३२ ३१ २
अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत
३ २ २र १ २ ३ १ २ ३ २
प्रशस्तम्। दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम्॥१०।७॥

प्रभु कहते हैं कि 'नर:'=मनुष्यो! तुम [अरण्यो:] ज्ञान और भक्ति की अरणियों की [दीधितिभि:]=दीप्तियों से [अग्निं]=प्रगतिशील जीव का 'जनयत' विकास करो। अर्थात् ज्ञान और भक्ति का उचित समन्वय बनने पर ही मनुष्य प्रगति कर सकता है। केवल ज्ञान व केवल भक्ति मनुष्य के उत्थान के लिये उसी प्रकार असमर्थ है जैसे केवल दायां या केवल बायां पंख पक्षी के उत्पतन के लिये। हृदय व मस्तिष्क दोनों का मेल ही मनुष्य को ऊंचा उठा सकता है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों ऊंचा उठता जाता है त्यों-त्यों वह [हस्तच्युतं]=धन को हाथ से त्यागने वाला बनता जाता है। धन उत्थान में विघ्न है। यात्रा में बोझ है। वह मनुष्य को नीचे की ओर खेंचने वाला है। धन को त्यागने वाला होकर ही यह [प्रशस्तम्]=उत्तम जीवन वाला होता है। इसके कार्य लोभशून्य होने से पवित्र होते हैं। यह ऐहलौकिक सुखों को ही प्रधानता न देने के कारण [दूरे-दृशं]=दूरदृष्टि होता है। केवल शारीरिक सुख इसका ध्येय नहीं बनते। आत्मिक उत्थान को यह अधिक महत्व देता है। लोगों को भी सत्योपदेश द्वारा वैर-विरोध से दूर कर यह [गृहपतिं]= उनके घरों का रक्षक होता है। और इस सत्यो-

पदेश के कार्य में यह 'अथव्युम्'=सतत गमनशील होता है। और इस प्रकार लोभादि को पूर्णरूप से वश में करके निरन्तर आगे बढ़ने वाला यह अग्नि इस मन्त्र का ऋषि 'वशिष्ठ'=कहलाता है।

भावार्थ—उन्नति के लिये ज्ञान और भक्ति का समन्वय आवश्यक है।

● ● ●

अथ तृतीया दशतिः

॥३॥ ऋषिः १ बुधगविष्ठिरौ; २, ५ वत्सप्रिः; ३ भरद्वाजः; ४, ७ विश्वामित्रः, ६ वसिष्ठः, ८ पायुः ॥
देवता—१, २, ४-८ अग्निः; ३ पूषा ॥ छन्द—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चार आश्रम

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवा-
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ १ ३
यतीमुषासम् । यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः
२ ३ २ ३ १ २
प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥७३॥

'प्रथम आश्रम'—मानव जीवन ४ आश्रमों में विभक्त है। प्रथम आश्रम में आचार्य, जो कि स्वयं अग्नि के तुल्य ज्ञान से चमक रहा है, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान रूप समिधाओं से ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में इन समिधाओं का संकेत है। सो [समिधा] इन लोकों की ज्ञान रूप समिधाओं से ब्रह्मचारी [अग्नि]अग्निः के रूप में[अबोधि] उद्‌बुद्ध किया जाता है।

इस मन्त्र के ऋषि 'बुध तथा गविष्ठिर' हैं। बुध का अर्थ है ज्ञानी। आचार्य को ज्ञानी व ज्ञान का समुद्र होना ही चाहिये। तथा ब्रह्मचारी को [गविष्ठिर]—इन्द्रियों पर[अधिष्ठित]=काबू में रखने वाला होना आवश्यक है। तभी अग्नि का उद्‌बोधन संभव होगा।

गृहस्थ आश्रम'—यह उत्तम ब्रह्मचारी समावृत्त होकर जीवन यात्रा की दूसरी मंजिल में प्रवेश करता है। यहां उसे [प्रति-आय–तीम् उषासम्]—प्रत्येक आने वाले उषः काल में[जनानां]—मनुष्यों की [धेनुमिव]—धेनु—गाय अपने उत्तम दूध से अपने बछड़े व अन्य बन्धुओं का पालन करती है। गृहस्थ ने भी अपने सन्तान व सभी अन्य तीनों आश्रम वालों का पालन करना है। इसी पालन की उत्तरदायिता के कारण हा गृहस्थ को मनु ने ज्येष्ठाश्रमी कहा है।

यहां धेनु से समता कितनी सुन्दर है। गृहस्थ को भी स्वयं अपनी आवश्यकतायें यथासंभव कम रख कर औरों का पालन करना है।

'वानप्रस्थ आश्रम'—गृहस्थ आश्रम महान् है। पर मनुष्य ने सदा इसी में नहीं बने रहना। वेद कहता है कि [यह्वाः]—बड़े पक्षी जैसे 'वयाम्'—शाखा को [प्रउज्जिहानाः]—छोड़ कर आगे बढ़ने वाले होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को भी बड़ी उमर में पहुंच कर घर को छोड़ कर आगे बढ़ना ही चाहिये। जैसे पक्षी बड़ा होकर घोंसले में ही चुग्गा खाता हुआ ठीक नहीं लगता, उसी प्रकार बड़ी उमर में बच्चों को खिलाता हुआ व्यक्ति भी विचित्र प्रतीत होता है। उसे तो अब वनस्थ हो मनु के शब्दों में 'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्' सदा स्वाध्याय में लगे रहना ही शोभा देता है। उसे अपना स्वाध्याय बढ़ाकर अपने को ज्ञान की ज्योति से सूर्य के समान बनाने का यत्न करना चाहिये।

'चतुर्थ आश्रम—और फिर 'भानव':—ज्ञान ज्योति से दीप्त सूर्य के समान ये सन्यासी 'नाकम्

अच्छ'=मोक्ष की और 'सस्रते'=अग्रसर होते है। कोकहित के लिये सूर्य के समान अलिप्त भाव से अज्ञानान्धकार को दूर करते हुये ये संन्यासी सब रागद्वेषादि बन्धनों से मुक्त हो चलते चले जाते हैं।

भावार्थ—मनुष्य को क्रमशः 'अग्नि, धेनु, यह्व व भानु' बनकर जीवन की चार मंजिलों को उत्तमता से तय करने के लिये यत्न-शील होना चाहिये।

प्रभु की गोद में

प्रभु किसको विशेष रूप से धारण करते हैं ?

२ ३१२ ३१ २ ३ २ ३१र २र ३ २
प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूरं पुरां
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
दर्माणम् । नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिश-
३ २र ३ २
मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम् ॥२॥७४॥

प्रभु 'प्रधाः' विशेष रूप से धारण करते हैं। किसको ?

(१) [**भूर्जयन्तम्**]—प्राणों का विजय करने वाले को 'इस शरीर में सब इन्द्रियां असुरों के आक्रमण से आक्रान्त हो गई थीं, प्राणों से ही टक्कर लेने पर वे नष्ट हुए थे' इस उपनिषत् कथानक के अनुसार जो सदा प्राणों को अपनाकर आसुर वृत्तियों का पराजय करता है, वही प्रभु का प्रिय होता है।

(२) [**महां**]—फिर प्रभु का प्रिय वह होता है जो अपने हृदय को विशाल बनाता है। विशालता ही तो हृदय को पवित्र रख सकती है।

(३) [**विपो-धां**]—(विप इति मेधावि नाम नि ३. ५. १४) प्रभु का प्यारा मेधाविता को धारण करता है। अपने विज्ञानमय कोष को धारक ज्ञान का खजाना बनाता है।

(४) [**मूरैः अमूरम्**]—मूर्खों के साथ मूर्ख नहीं बनता। अपने प्राणमय कोष को असुरों के आक्रमण से सुरक्षित करके मनोमय कोष को विशाल तथा विज्ञानमय कोष को ज्ञान से दीप्त बनाकर यह प्रभु भक्त अपने व्यवहार में बुद्धिमत्ता से चलता है। बदला लेने की भावना से अभिभूत हो यह कभी निचले पृष्ठ पर नहीं उतर आता। गाली का उत्तर गाली में नहीं देता। क्रोध से प्रेम को जीतने का प्रयत्न करता है।

(५) [**पुरां दर्माणम्**]--तीनों पुरों का विदारण करने वाला बनता है। वैदिक साहित्य में असुरों की तीन नगरियों का उल्लेख है—एक स्वर्ण की, दूसरी रजत की और तीसरी 'अयस्'= लोहे की। इन्हीं तीन नगरियों का ध्वंस करके महादेव 'त्रिपुरारि' बने हैं। ये तीन नगरियां ही गीता में सात्विक, राजस, तामस, संग कहे गये हैं। वेद में ये उत्तम, मध्यम व अधम बन्धन है। इन तीनों से ऊपर उठना ही तीन नगरियों का विदारण है। और ऐसा करने वाला ही प्रभु का प्रिय होता है।

(६) [**गीर्भिः वनां धियम् नयन्तम्**]=स्तुतियों के द्वारा वननीय-सेवनीय बुद्धि को अपने को प्राप्त कराने वाला प्रभु का प्रिय होता है। प्रातः-सायं प्रभु के संपर्क में आने का प्रयत्न करने से मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है। उस शुद्ध बुद्धि में सदा शुद्ध ही विचार उत्पन्न होते है और—

(७) [**हरिश्मश्रु सा**] (न=सा) बन जाता है। (श्म-श्रु=श्मनि् श्रितं) इसके शरीर में श्रित - रहने वाली प्रत्येक वस्तु—बल, भावना व ज्ञान औरों के दुःखों का हरण करने वाली होती है। यह कभी किसी की हिंसा नहीं करता। इसका जीवन एक 'अ-ध्वर' हिंसाशून्य यज्ञ हो जाता है।

(८) [**वर्मणा धनर्चिम्**] = यह प्रभु भक्त धन की भी अर्चना पूजा करता है। अर्थात् धन भी कमाता है। परन्तु 'वर्मणा' - उसको अपने शरीर का कवच बनाने के दृष्टिकोण से। अर्थात् जितना शरीर को आवश्यकताओं के लिये चाहिये उतना ही उसका अपने लिये विनियोग करते हुए—विलास का कभी शिकार न बनते हुए।

इन सब बातों के कारण यह प्रभु का 'वत्स' =

प्रिय होता है चूंकि यह अपने कर्मों से प्रभु की क्रियात्मक स्तुति का उच्चारण (विद्=बोलना) कर रहा होता है। और इन अपने उत्तम कर्मों से प्रभु को [**प्रीणाति**]=प्रसन्न करता है। और इस प्रकार इस मन्त्र का ऋषि 'वत्सप्रीः' होता है।

भावार्थ—मंत्र में वर्णित बातों का जीवन में धारण करते हैं, हम प्रभु से धारणीय बनें।

दो रूप

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी
१ २ २ ३ २ ३ १र २र
द्यौरिवासि। विश्वा हि माया अवसि स्वधा-
३ १ २ ३ २ ३ १ २
वन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥३।७५॥

ऊपर के मन्त्र में प्रभु की ओर जाने वाले व्यक्ति का उल्लेख था उसी का वर्णन इस मन्त्र में इस प्रकार करते हैं कि [**ते**]=तेरा [**शुक्रं**]=दीप्त चमकता हुआ रूप भी [**अन्यत्**]=विलक्षण है और [**ते**]=तेरा [**यजतं**]=सबके साथ संगति करण वाला—मेल वाला रूप भी [**अन्यत्**]=विलक्षण है, तेरा मस्तिष्क उज्ज्वल है तथा तेरा हृदय सब के प्रति मेल की भावना वाला है। और इस प्रकार [**विषुरूपे**] विविध उत्तम रूपों वाले [**अहनी इव**]=दिन और रात के समान [**असि**]=है। दिन उज्ज्वल है, रात्रि सबका संगतिकरण करने वाली है। रात में दिन के समय के सब वैर-विरोध व भेद-भाव समाप्त होकर सबका एकीभाव हो जाता है—उस समय न कोई लखपति है न कोई गरीब। इसी प्रकार प्रभु भक्त का मस्तिष्क यदि दिन के समान चमकने वाला है, तो उसका हृदय रात्रि के समान सबके प्रति वैर-विरोध शून्य व समानता वाला है। [**द्यौः इव असि**]=तू द्युलोक के समान है। द्युलोक प्रकाशमय है तथा सभी का निवास स्थान है। इसी प्रकार इस प्रभु भक्त का मस्तिष्क प्रकाशमय है, और इसके हृदय में सभी के लिये स्थान है।

पिछले मन्त्र में प्रभु भक्त को 'धनर्चिम्=धन की अर्चना करने वाला कहा गया था। सो वह धन तो कमाता ही है पर 'वर्मणा' कवच की तरह अत्यन्त आवश्यकता के लिए ही उसका प्रयोग करता है बाकी [**विश्वा हि मायाः**]=इन सब धनों को [**अवसि**]=(अव्=भाग) बाँट देता है। न बांटता तो ये धन उसे विलास में फंसाकर नाश की ओर ले जाते। सो वस्तुतः धनों को बांटकर यह [**स्वधावन्**]=अपना ही धारण कर रहा होता है। औरों का पोषण करने वाला होने से यह पूषन् है। हे पूषन्! 'इह' यहां [**ते**]=तेरा यह रातिः दान [**भद्रा**]=कल्याण कर [**अस्तु**]=हो। अर्थात् तू पात्रापात्र का विचार करके ही दान कर। इस प्रकार यह प्रभु भक्त धन को गौण तथा ज्ञान और प्रेम को अपने जीवन में प्रधान स्थान देता है। इसका हृदय स्वार्थ त्याग की भावना से भरा होने के कारण यह 'भरद्वाज' है (भरद्=भरने वाला, वाज=त्याग) तथा इसका मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल होने के कारण यह 'बृहस्पतिपुत्र' वा बार्हस्पत्य=ज्ञानी की सन्तान कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, हमारे हृदय मेल की भावना से भरे हों तथा हम धनों के संविभाग करने वाले बनें।

हमें आपकी सुमति प्राप्त हो

१ २ ३ १ २ ३१र २र ३ १र २र
इडामग्ने पुरुदंस सनिं गोः शश्वत्तमं हवमा-
१ २ ३ १र २र ३२उ ३
नाय साध। स्यान्न सूनस्तनयो विजावाग्ने
१ २ ३ १ २ ३ २
सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥४। ७६॥

ऐ अग्ने— प्रभो! हवमानाय=तुझे पुकारने वाले मेरे लिये [**शाश्वत्तमं**]=सदा [**इडाम्**]=वेदवाणी को जो कि मानव के लिये (इडा=इ+ला=a law) सृष्टि के आरम्भ में दिया गया एक कानून है, [**साध**]=उस वेदवाणी को सिद्धकरिये। मैं इस वेदवाणी को अच्छी प्रकार समझ सकँ। यह

वेद वाणी [**पुरुदंसं**] =पूरक और पालक कर्मों का उपदेश देने वाली है (पुरु=पृ पालनपूरणयोः, दंसः=कर्म)। 'मनुष्य ने किस प्रकार अपनी न्यूनताओं को दूर करना और किस प्रकार पालक=अहिंसक कर्मों में प्रवृत्त होना' इस बात का उपदेश इस वेदवाणी में दिया गया है। तथा यह वेदवाणी [**गोः सनिम्**=ज्ञान की रश्मियों को देने वाली है। प्रत्येक पदार्थ के तत्व का ज्ञान इसमें उपलभ्य है। उन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके हम उन्हें मानव जीवन को उन्नत बनाने के लिये उपयुक्त करें।

[**नः**] =हमारे [**सूनुः**] =पुत्र भी हमारे पदचिह्नों पर चलते हुये [**तनयः**] =विस्तार करने वाले, शरीर मन व बुद्धि को विशाल बनाने वाले तथा यज्ञ को विस्तृत करने वाले, तथा [**विजावा**] =विशिष्ट विकास वाले, शारीरिक आत्मिक व सामाजिक सभी प्रकार की उन्नति करने वाले हों। वस्तुतः जिन घरों में इस वेदवाणी का अध्ययन व अनुष्ठान चलता रहेगा, वहां वंश उत्तम बना ही रहेगा। इसलिये [**अग्ने**] =ऐ प्रभो ! हमारी यही आराधना है कि [**सा**] =वह [**ते**]—तेरी [**सुमतिः**] =वेद में उपदिष्ट कल्याणी मति [**अस्मे**] =हमारे में [**भूतु**] =सदा बनी रहे। संसार की चमक से आकृष्ट होकर उस सद् बुद्धि को छोड़ न दें। वेदोपदिष्ट न्याय्य मार्ग से हमें धन-धान्य, स्तुति प्रशंसायें व शानदार जीवनादि के प्रलोभन विचलित न कर दें। हम संसार चक्र में उलझ कर रागद्वेष में न फंस जांय।

भावार्थ—ऐ प्रभो! आपकी कृपा होगी तो हम रागद्वेष से ऊपर उठ कर सदा आपके गायन करने वाले 'गाथिनः' प्राणि मात्र के मित्र 'विश्वमित्र' बन पायेंगे। और इस प्रकार इस मन्त्र के ऋषि 'गाथिन विश्वामित्र' होंगे।

कौन पूजा करता है ?

१र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपां
२ ३ २ २ ३ २ ३ २ ३१र २र ३ १र
विवर्ते। दधद्यो धायी सुते वयांसि यन्ता
२र ३ १ २ ३ २
वसूनि विधते तनूपाः ॥५॥७७॥

प्रभु का प्यारा, प्रभु की दी हुई सुमति को धारण करने वाला, [**प्र-होता**] =प्रकृष्ट होता, लोक संरक्षण यज्ञ में अपने तन, मन व धन सभी की खूब आहुति देने वाला [**जातः**] =बनता है। अपने इस लोक हित के कार्य में वह 'महान्' उदार हृदय वाला होता है—वह सभी का हित करता है। 'इसका भला करना और अमुक का नहीं' ऐसा विचार उसे कभी नहीं होता। वह तो विश्वामित्र=सभी का मित्र है न? अपनी इस हृदय की संकीर्णता का नष्ट करने के लिये ही वह [**नभोवित्**] =द्युलोक को, प्रकाशमय लोक को प्राप्त करने वाला बना है। जैसे सूर्य महान् है, वह अपना प्रकाश सभी को प्राप्त कराता है; इसी प्रकार यह प्रभु का उपासक भी सभी का हित करता है।

ज्ञानी बनकर, संसार को माया या मिथ्या समझ कर, इस संसार से भाग नहीं खड़ा होता। अपितु, अज्ञानवश विविध अकार्यों में लगे हुए [**नृषद्मा**] =लोगों में ही यह रहता है (सद्—to sit) गंगा-तीर को यह नहीं अपना लेता। मनुष्यों में ही रहता हुवा 'अपां'=कर्मों के विवर्ते=चक्र में [**सीदत्**] =रहता है। कर्म मुझे बाँध लेंगे, या अमुक कर्म से अमुक का मैं अप्रिय हो जाऊँगा, ऐसी बातों को सोच कर यह कर्मों से कतराता नहीं। और इसप्रकार लोकहित के कार्यों में निरन्तर लगा हुवा यह व्यक्ति दधत् =जगत् को धारण करने के हेतु से ही [**सुते**] =इस उत्पन्न जगत् में [**धायि**] =धारित होता है=जीता है। इसके जीवन का तथा जीवन में कर्मशील होने का उद्देश्य लोकहित ही होता है।

लोक संग्रह के लिये शरीर को धारण करने वाला यह व्यक्ति [**वयांसि**] =अन्नों को [**यन्ता**] =नियमित करता है; अर्थात् शरीर धारण के

उद्देश्य से तदनुकूल अन्नों को खाता है। और इस प्रकार [**वसूनि यन्ता**]=शरीर में उत्तम रत्नों को (=रस-रुधिर आदि सप्त धातुओं व ओज को) स्थिर करता है।

वस्तुत. शरीर की इस प्रकार रक्षा करने वाला यह [**तनूपा**]=शरीर रक्षक [**विधते**]=प्रभु की उपासना करता है। प्रभु के दिये हुए शरीर का ठीक उपयोग करना प्रभु का आदर करना है। इसी शरीर को स्वादवश अनावश्यक भोजनों से रोगी बना लेना प्रभु का निरादर है चूंकि हम प्रभु की दी हुई चीज का ठीक उपयोग नहीं कर रहे।

यदि हम प्रभु से दिये शरीर का ठीक रक्षण व उपयोग करेंगे तो प्रभु के प्रिय=वत्स होंगे और अपने इस कार्य से प्रभु को प्रसन्न करने वाले 'प्री बनेंगे। यह 'वत्सप्री हो इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—शरीर का उचित रक्षण व लोकहित के लिये विनियोग ही प्रभु की उपासना है।

क्या चाहें ?

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुंसः कृष्टीनामनु-
१ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
माद्यस्य । इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारा
१ २
वन्दमाना विवष्टु ॥६॥७८॥

इस मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ=मन व इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में करने वाला (वशिनां श्रेष्ठ) अथवा सर्वोत्तम ढङ्ग से इस शरीर रूपी नगरी में रहने वाला (वसूनाँ श्रेष्ठः) [**प्र-विवष्टु**]=विशेष रूप से खूब कामना करे। कामना से रहित जीवन जड़ जीवन है। काम में फंस जाना ठीक नहीं, पर काम-शून्यता भी उसी प्रकार हेय है। "कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता"। वेदादि सच्छास्त्रों का पढ़ना तथा सारा वैदिक कर्मयोग भी कामना के होने पर ही होता है। 'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः'। सो वसिष्ठ ने कामशून्य तो नहीं होना माना है, पर प्रश्न यह है कि 'वह किन-किन चीजों की कामना करे'? बस, इसी प्रश्न का उत्तर मन्त्र इस रूप में देता है कि वह—

[**असुरस्य सम्राजम्**]=प्राणशक्ति के पुञ्ज व प्रज्ञान धन के सम्यक् शासित जीवन को (सम्=well राजम् regulated) चाहे। असु शब्द प्राण व प्रज्ञा का वाचक है। र प्रत्यय 'वाला' अर्थ में आता है। आदर्श मनुष्य वही है जो प्राणशक्ति व ज्ञान से सम्पन्न है—Body of an athlete and the soul of a sage। यह ऐसा, सूर्य और चन्द्रमा की तरह नियमित जीवन के ही कारण तो बन पाया है। वशिष्ठ की भी पहली कामना इसी के लिये होनी चाहिये। उसकी दूसरी कामना यह हो कि—

(२) [**प्रशस्तं पुंसः**]=उदारमन वाले पुरुष की तरह मेरा प्रत्येक कर्म प्रशस्त हो। (पुमान् पुरु मना भवति नि० ९.१५) अनुदारता व संकुचितता के कारण ही अपवित्रता आया करती है। वशिष्ट की सदा यह कामना हो कि मेरे हृदय में न अनुदारता आये और ना ही अपवित्रता। जो उदारमन वाला पुरुष है, वह [**कृष्टीनां**]=श्रमशील मनुष्यों की [**अनुमाद्यस्य**]=प्रसन्नता में प्रसन्न होने वाला है (अनु=पीछे, मदी हर्षे) दूसरों के उत्कर्ष को देखकर जलना अपवित्र व संकुचित हृदय की निशानी है। वशिष्ठ अपने अन्दर 'मुदिता' की वृत्ति को जगाता है, और औरों के उत्कर्ष में प्रसन्न होता है। अब इस वशिष्ठ की तीसरी कामना यह हो कि—

(३) [**प्र तवसः**]=प्रबलशक्ति वाले [**इन्द्रस्य इव**]=इन्द्र की तरह मेरे [**कृतानि**]=उत्तम कर्म [**वन्दमाना**]=(वन्द्यमानानि) वन्दना व स्तुति के योग्य हों। निर्बलता मूलक कोई भी कर्म शुभ नहीं हो सकता। "सत्व" शब्द शक्ति व उत्तमता का वाचक होते हुए इस भावना को ही सूचित कर रहा है। कायरता कभी धर्म की जननी नहीं हो सकती। वशिष्ठ के सभी कर्म शक्तिमूलक होते हैं। वैदिक

साहित्य में बल के सब कर्म इन्द्र के हैं, सो वशिष्ठ के कर्म भी शक्तिशाली इन्द्र के कर्मों की तरह होते हैं ।

पर ये तीन बातें (१) कार्यों में नियमितता (regularity), (२) हृदय में उदारता व (३) शक्तिसंपन्नता आयेंगी किस प्रकार इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

वन्दद्वारा—वन्दना के द्वारा । प्रातः-सायं प्रभु की स्तुति से ही वशिष्ठ का जीवन उल्लिखित ढंग का बन सकता है ।

भावार्थ—हमारे कार्यों में नियमितता, उदारता व शक्तिसंपन्नता का प्रकाश (आभास) हो ।

दो अरणियों वाला उपासक

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३३र २र
अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवेत् सुभृतो
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
गर्भिणीभिः । दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्ह-
१ २ ३क२र ३ २
विष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥७९॥

वह [**जातवेदा**] =प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान प्रभु [**अरण्योः**] =ज्ञान व भक्ति रूप अरणियों में (ऋ गति प्रापणयोः=प्रभु की ओर ले जाने वाले और उसे प्राप्त कराने वाले ज्ञान और भक्ति ही यहां अरणि हैं) [**निहितः**] =रखा हुआ है । जैसे सुप्तावस्था में विद्यमान अग्नि अरणियों की रगड़ के होने पर ही दीप्त होता है, इसी प्रकार सर्वत्र वर्तमान प्रभु ज्ञान और भक्ति की रगड़ से ही दीखा करते हैं । वह प्रभु [**गर्भिणीभिः**] =गर्भिणी माता से सुभृतः=उत्तम प्रकार से पोषित गर्भ [**इव दत्**] =गर्भ की तरह ही है । गर्भ जैसे माता के ही रस, रुधिरादि से पोषित होता है, किसी बाह्य वस्तु से नहीं, उसी प्रकार प्रभु का दर्शन भी आन्तर ज्ञान व भक्ति के विकास से ही होता है, प्रवचन आदि से नहीं ।

इस 'अग्निः' प्रभु की [**दिवे-दिवे**] प्रतिदिन [**इड्यः**] =उपासना करनी चाहिये । यह प्रभु शक्ति का स्रोत है, उसकी उपासना हमारे में शक्ति का संचार करेगी । उसकी उपासना होती है [**जागृवद्भिः**] जागने वालों से [**हविष्मद्भिः**] =हवि रूप बनने वालों से तथा [**मनुष्येभिः**] =विचारशीलों से । जो प्रभु के उपासक हैं वे सदा जागते हैं चूंकि इस संसार में तो जरा सोये और आसुर वृत्तियों का शिकार हुए । 'भूत्यै जागरणम्' जागना कल्याण के लिए है, 'अभूत्यै स्वप्नम्' सोना अकल्याण के लिये है । जागने के द्वारा जीवन को त्याग वाला हवि रूप बनाना ही ठीक है । भोग प्रधान जीवन विनाश का मार्ग है । यदि हम विचारशील बनेंगे तो हमारी रुचि भोग प्रधान जीवन की ओर होगी ही, क्यों ? उस समय मनुष्य इन विषयों की आपातरमणीयता का मनन कर इनमें उलझेगा नहीं, और साथ ही इस मनन के परिणामस्वरूप वह सब पदार्थों में ओत-प्रोत उस प्रभु को देखेगा । 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इस गीता वाक्य को वह साक्षात् करेगा और उस समय "तत्र को मोह कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः"=वह एकत्व का देखने वाला राग-द्वेष से ऊपर उठकर सब को स्नेह की दृष्टि से देखने वाला इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' होगा ।

भावार्थ—ज्ञान और भक्ति के विकास से हम प्रभु का दर्शन करें । जागने वाले (प्रमाद रहित), त्यागशील व मननशील बनें ।

राक्षसों का स-मूल दहन

३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि
१२ १२ ३ १ २ ३ २ ३
पृतनासु जिग्युः । अनु दह सहमूरान् कयादो
१ २ ३ १ २ ३ १ २
मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥८॥८०॥

ऐ [**अग्ने**] =प्रभो ! आप हृदयान्तरिक्ष में ज्ञान व भक्ति की अरणियों से जगाये जाकर [**सनात**] =सदा से [**यातुधानान्**] =अन्त में पीड़ित करने वाली इन राक्षसी वृत्तिय। को (यातूनि यातनाः पीड़ाः धीयन्ते अस्मिन्) [**मृणसि**] =कुचलते हो । जीव की

अपना इतनी शक्ति नहीं कि वह इन अशुभ वृत्तियों को नष्ट कर सके—इनका विनाश तो 'नर' के हित के लिये 'नारायण' ही करेंगे ।

प्रभो ! [**त्वा**] = आपको [**पृतनासु**] = मनुष्यों के हृदयों में चल रहे इन देवासुर सग्रामों में [**रक्षांसि**] =(र+क्ष) रमण के द्वारा क्षय की ओर ले जानें वाली ये अशुभ वृत्तियां न जिग्युः=नहीं पराजित कर सकतीं । (पृतना=battle, encounter, fight) जीव अकेला इन अशुभ वृत्तियों से हार जाता है और उनका शिकार हो जाता है । परन्तु जब वह प्रभु को अपने रथ पर बिठा लेता है तो प्रभु को वे वृत्तियां थोड़े हरा सकती हैं ? और परिणामतः जीव उनका शिकार होने से बच जाता है ।

हे प्रभो ! आप इन [**कयाद**] = (क्रव्यादः) मनुष्य का मांस ही खा जाने वाली अशुभ वृत्तियों को [**सह मूरान्**] =जड़ समेत अर्थात् इनके उत्पति कारणों के साथ [**अनुदह**] =क्रम से जला दीजिए । जो मनुष्य इनका शिकार बनता है उस मनुष्य का ये राक्षसी वृत्तियां सर्वनाश कर डालती हैं । प्रभु को जब जीव अपना साथी बनाता है तो वे जीव के हित के लिए इन अशुभ वृत्तियों का 'समूल दहन कर देते हैं । कामादि के ध्वंस के साथ उनके उत्पत्ति कारणों को भी प्रभु स्मरण समाप्त कर देता है । ऐ प्रभो! [**ते**] =आपके [**दैव्यायाः**] =अलौकिक प्रकाशमय [**हेत्याः**] =हनन साधन से कोई भी अशुभ वृत्ति [**मा**] =मत [**मुक्षत**] =छूटे । इन अशुभ वृत्तियों को नष्ट करने वाला शास्त्र प्रकाश व ज्ञान ही है । ज्ञानाग्नि ही इन अशुभ वृत्तियों का दहन किया करती है । हम सब प्रभु दर्शन रूप ज्ञानाग्नि को अपने अन्दर प्रज्वलित करके ही इन अशुभ वृत्तियों से अपनी रक्षा कर सकते हैं । ऐसा करने पर हम इस मन्त्र के ऋषि 'पायु'='रक्षा करने वाले' कहलायेंगे ।

भावार्थ—प्रभु स्मरण राक्षसी वृत्तियों का समूल दहन कर देता है ।

● ● ●

।।४।। ऋषिः—१ गय आत्रेयः; २ वामदेवः; ३, ४ भरद्वाजः; ५ मृक्तवाहा द्वितः; ६ वसूयवोऽत्रयः; ७, ९ गोपवनः; ८ पूरुरात्रेयः; १० वामदेवः; कश्यपो वा मारीचः; मनुर्वा वैवस्वतः; उभौ वा ।।
देवता—अग्निः ।। छन्दः—अनुष्टुप् ।। स्वरः—गान्धारः ।।

महान् त्याग की तैयारी

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो ।
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ।।
१।।८१।।

इस मन्त्र में प्रभु को [**अग्ने**] =आगे ले चलने वाले तथा [**अध्रिगो**] = अधृतगमन=अप्रतिहत गति वाले इन दो शब्दों से सम्बोधन किया गया है । वस्तुतः ये सम्बोधन उपासक को यही प्रेरणा दे रहे हैं कि तूने आगे और आगे बढ़ना है और इस अग्रगति में थक कर रुक नहीं जाना है । यह जीवन यात्रा ही तो है, और इस यात्रा में रुक गये तो अधूरी ही रह जाएगी ।

इस यात्रा के प्रथम प्रयाण में हम प्रभु से याचना करते हैं कि [**अस्मभ्यम्**] =हमें [**द्युम्नम्**] = प्रकाशशील ज्ञानरूप धन [**आभर**] =प्राप्त कराइये । पर वह ज्ञानरूप धन [**ओजिष्ठं**] =हमें ओजस्वी व शक्तिशाली बनाने वाला हो । ज्ञान को प्राप्त करके हम सुकोमल शरीर (delicate) न बन जायं, ज्ञान हमें शारीरिक श्रम के लिये निर्बल न बना दे । हम शारीरिक श्रम को ज्ञान विरोधी भी न

समझ लें। चूंकि जीवन के अगले प्रयाण में यह शारीरिक श्रम की वृत्ति ही हमें अशुभ मार्गों से धन कमाने से बचायेंगी।

दूसरे प्रयाण के लिये प्रार्थना ही यह है कि [**नः**]=हमें [**पनीयसे**]=(पन=स्तुतौ) स्तुत्य [**राये**]=धन के लिये ले चलिये। अर्थात् हम गृहस्थ बनकर प्रशंसा के योग्य मार्गों से धन कमायें। गृहस्थ में धन की आवश्यकता तो है ही—गृहस्थ ने अपना ही नहीं अन्य तीनों आश्रमियों का भी पालन करना है। इस धन को वह उत्तम मार्ग से संचित करे। सबसे उत्तम मार्ग 'श्रम' ही है। "अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व"=पासों से जुवा मत खेल, खेती ही कर' यह वेद वाक्य श्रमसाध्य धन की उत्तमता का संकेत कर रहा है। हमारा ज्ञान ओजिष्ठ होगा तो हम सदा श्रमशील बने रहेंगे, और तब टेढ़े-मेढ़े साधनों से धन कमाने की हमारी वृत्ति न होगी।

जिस धन के लिये मनुष्य नाना प्रकार की कुटिलताओं को अपनाता है—उसे छोड़ना उसके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है। सो मन्त्र में आराधना है कि हम स्तुत्य धन को ही कमायें, इसी धन को समय आने पर हम त्याग भी सकेंगे और जीवन के अगले प्रयाण में प्रवेश करेंगे।

इस प्रयाण में हम प्रभु से आराधना करते हैं कि [**वाजाय**]=(वाज=a sacrifice) त्याग के लिए [**पन्थाम्**]=मार्ग को [**प्र-रदिस**]=विशेष रूप से तैयारी कर दीजिए (रद्=to chalk out)। गृहस्थ गृह को त्यागकर वनस्थ होता है। यह वानप्रस्थाश्रम त्याग का आश्रम है। और इसके बाद संन्यास कुटिया व आश्रमादि को छोड़ कर सर्वत्र विचरते हुए लोकहित में लगे रहने से 'महान् त्याग' का आश्रम है। इसी के लिये तो हमने इस रूप में तैयारी की थी कि शक्तिशाली ज्ञान को प्राप्त किया और सदा स्तुत्य धन को अपनाकर धन के प्रति अपनी आसक्ति को बढ़ने नहीं दिया। यह आसक्ति हमें त्याग और महान् त्याग के अयोग्य बना देती।

'ओजिष्ठ द्युम्न' नींव है, 'स्तुत्य धन' उस पर खड़ी दीवारें हैं और त्याग और महान् त्याग इस 'मानव-भवन' की छत हैं। प्रभु कृपा से हम इस सुन्दर भवन का निर्माण करने वाले इस मन्त्र के ऋषि 'गय'=उत्तम गृह वाले बनें। (गयम् अस्यास्ति इति गयः)

भावार्थ— अपनी जीवन-यात्रा की चार मञ्जिलों में हमने शक्तिशाली ज्ञान वाला, स्तुत्यधन कमाने वाला, त्यागी व महान् त्यागी बनना है।

एक वीर का अखण्ड यज्ञ

१ ३ ३२उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यदि वीरो अनु ष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः ।
३ १ २ ३ १ २३ १र २र ३ १ २
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥
२॥८२।

[**यदि**]=अगर [**वीरः**]=विशेष रूप से शत्रुओं को कम्पित करने वाला (वि+ईर्) [**अनुष्यात्**]=होना चाहे (प्रार्थना में लिङ् लकार है) तो [**मर्त्यः**]=शत्रुओं से लड़ाई में जिसके मर जाने की सम्भावना है वह मनुष्य [**अग्निम्**]=उस शत्रुओं को जला डालने वाले प्रभु को [**इन्धीत**]=अपने हृदय के अन्दर, जहां काम क्रोधादि शत्रुओं से युद्ध चल रहा है दीप्त करे (इन्ध्=दीप्त करना)। 'यदि, शब्द हमारे कर्म स्वातन्त्र्य की सूचना दे रहा है, हमारी इच्छा पर निर्भर है कि हम प्रभु को याद करें या न करें। 'मर्त्यः' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि इन शत्रुओं को हम युद्ध में हरा न सकेंगे,। प्रभु की सहायता के बिना यह 'शत्रु-संहार-यज्ञ' कभी पूरा न होगा, हम समाप्त हो जायेंगे—और हमारे शत्रु दनदनाते रहेंगे। 'अग्नि' शब्द स्पष्ट संकेत कर रहा है कि इन शत्रुओं को वे अग्निरूप प्रभु ही जलायेंगे। इनको भस्मसात् करना मानवशक्ति से परे की वस्तु है। उस प्रभु को हमने हृदय में दीप्त करना है—हृदय में बिठाना है न कि बाहर मन्दिर के मण्डप में। युद्ध स्थली हृदय है—प्रभु का वहीं उपस्थित होना आवश्यक है।

अब यदि हम प्रभु के सहाय से वीर बनकर शत्रुओं को कम्पित कर परे भगा देंगे तो हम कामादि से ऊपर उठकर अपने जीवन को [**हव्य**] = हविरूप बना सकेंगे—लोकहित के लिए निछावर कर सकेंगे। और [**आनुषक्**] = निरन्तर लगातार जीवन के सौ के सौ वर्ष [**हव्यम्**] = पवित्र हविमय जीवन की [**आजुह्वत्**] = प्रजापत्य यज्ञ में आहुति देते हुए हम 'दैव्यम्' अलौकिक प्रभु की प्राप्ति रूप [**शर्म**] = दुःख संयोग के वियोग रूप शुद्ध सुख (आनन्द) को [**भक्षीत**] = अनुभव करेंगे। ऐसे सुख का अनुभव करना हमारे लिये अवश्य संभव होगा। सेवा में जो आनन्द है वह भोग के आनन्दों से अनन्त गुणा उत्तम है। प्राकृतिक सुखों में दुःख का मिश्रण है—यह प्रभु प्राप्ति का आनन्द ही सब दुःखों को समाप्त कर शुद्ध आनन्द का अनुभव कराता है। यह जीवन को हव्य बना देने से ही मिलेगा। उस समय हमारा जीवन निर्दोष ही नहीं सुन्दर दिव्य गुणों वाला होगा। हम इस मन्त्र के ऋषि वामदेव होंगे।

भावार्थ—वीर बनकर जीवन को हविरूप बना डालें और दिव्य सुख (मोक्ष) के अधिकारी हों।

यदि प्रभु को हृदय में बिठायेंगे तो—

३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १र २ २
त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि सञ्छुक्र आततः।
२ ३ २उ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥
३॥८३॥

पिछले मन्त्र में कहा था कि मनुष्य वीर बनने के लिये उस अग्निरूप प्रभु को हृदय में दीप्त करने का प्रयत्न करे। यदि करेंगे तो 'दिवि' = उस चमकते हुए हृदयाकाश में [**ते**] = ऐ प्रभो! तेरी = [**त्वेषः**] = प्रकाश-दीप्ति [**ऋण्वति**] = काम, क्रोधादि वासनाओं पर आक्रमण करती है। (ऋ = to attack) और इस प्रकार वह प्रकाश [**धूमः**] = इन हमारे आन्तर शत्रुओं को कम्पित करने वाला होता है (धूञ् कम्पने)।

यह प्रकाश कैसा है? (१) [**सन्**] = 'सत्' उत्तम सात्विक है। तामस होकर यह औरों के संहार के लिये विनियुक्त नहीं होता। राजस होकर इसका उद्देश्य 'धन का संग्रह मात्र' नहीं हो जाता। यह तो सात्विक है, सो प्राणी मात्र में आत्मतत्व की अनुभूति कराता है। (२) शुक्रः = यह ज्ञान हमें गतिशील बनाता है (शुक् गतौ)। सभी प्राणियों में आत्मानुभूति होने पर सभी के दुःखों को हम अपना दुःख समझते हुए उन्हें दूर करने के लिये प्रवृत्त होते हैं और अधिक से अधिक क्रियाशील होते हैं। ब्रह्मज्ञानी क्रियाशील होता ही है—'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। (३) आततः = यह प्रकाश सब ओर विस्तार वाला होता है (आ + तन् + त) अर्थात् इस ज्ञान से उपासक का हृदय विशाल बनता है, उसमें सभी के लिये स्थान होता है। किसी का वह हित करे और किसी का नहीं' ऐसी भावना वहां नहीं होती। वह तो एकत्व को देखता है और सर्व-भूत-हित में प्रवृत्त रहता है।

इस उपासक के जीवन में अब एक ज्योति (दयुत्) और शक्ति (कृप् = सामर्थ्य) आ जाती है। पर यह ज्योति व शक्ति उसकी अपनी थोड़े ही है? उसे इसका गर्व क्यों करना! मन्त्र कहता है कि [**सूरो न**] = सूर्य के समान (न = इव) [**हि**] = निश्चय से [**पावक**] = ए पवित्र करने वाले प्रभो! [**त्वं**] = आप ही तो [**द्युता**] = ज्योति से और [**कृपा**] = सामर्थ्य से, शक्ति से [**रोचसे**] = चमकते हैं। वस्तुतः यह ज्योति और शक्ति प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करने का ही परिणाम है। सूर्य में चमक है, शक्ति है, वह पवित्र करने वाला है—उपासक के का सूर्य यह प्रभु भी चमकता है, शक्ति देता [**हृदयाकाश**] है और पवित्र करने वाला है।

इस 'द्युति' को प्राप्त करके उपासक बृहस्पति के समान ज्ञान से चमकता है, सो 'बार्हस्पत्य' बनता है और शक्ति को प्राप्त करके वह इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' अपने में शक्ति को भरने वाला होता है।

भावार्थ—प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करके हम ज्योति व शक्ति से सम्पन्न होकर पावक =पवित्र व पवित्र करने वाले बन जांय ।

प्राण, ज्ञान व पोषण

१र २र३ १र २र ३ १र २र
त्वं हि क्षैतवद् यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३१र २र
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ।।४।।
।।८४।।

ऐ[**अग्ने**] =हमारी उन्नति के साधनभूत प्रभो! [**त्वं**] =आप[**हि**] =निश्चय से[**क्षैतवत्**] =निवास और गति वाले (क्षि=निवासगत्योः, मत्=वाला) [**यश:**] =प्राणों के[**पत्यसे**] =ऐश्वर्य वाले मालिक हैं[**न:**] =जैसे कि[**मित्र:**] =सूर्य । सूर्य जिस प्रकार प्राणशक्ति का स्रोत है, उसी प्रकार आप वस्तुत: उस सम्पूर्ण प्राणशक्ति के प्रथम स्रोत हैं जो हमारे इस शरीर में निवास और गति का साधन होती है। प्राण शक्ति के अभाव में जीवन समाप्त हो जाता है, क्रिया का प्रश्न ही नहीं रह जाता । प्रभु का हमारे हृदयों में निवास होता है तो सूर्य की तरह हमें जीवन प्राप्त होता है और शक्तिसम्पन्न होकर हम क्रियाशील बने रहते हैं । और ऐ [**विचर्षणे**] =सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ प्रभो! [**त्वं**] =आप [**श्रव:**] =ज्ञान का[**पुष्यसि**] =हमारे अन्दर पोषण करते हो । प्रभु का हमारे हृदयों में निवास होगा तभी हमें प्रातिभिक (Intuitive) ज्ञान प्राप्त होगा । अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा को हृदयस्थ प्रभु से वेद ज्ञान प्राप्त हुआ। हम भी प्रभु को हृदय में बिठायेंगे तो क्यों न उस ज्ञान को प्राप्त करेंगे। प्रभु उच्चारण करेंगे, हम सुनेंगे! सो सुनने से प्राप्त होने के कारण ही 'यह ज्ञान 'श्रव' है। प्रभु को हृदय में बिठाने का तीसरा लाभ यह होगा कि [**वसो**] =ऐ वसाने वाले प्रभो! [**पुष्टिं न**] =(न=च के अर्थ में है)पोषण को भी[**पुष्यसि**] =आप हमें प्राप्त कराते हो । प्रभु का हृदय में निवास होने पर हमें [**पुष्टि**] =पोषण व दृढ़ता प्राप्त होती है जो हमारे जीवन के विकास का मूल बनती है, जो हमें विघ्नों से, असफलताओं से व्याकुल नहीं होने देती ।

इस प्रकार हृदय में प्रभु का निवास होने पर हम प्राणशक्ति व दृढ़ता को प्राप्त करके इस मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' होते हैं तथा ज्ञान सम्पन्न बनकर 'बार्हस्पत्य' होते हैं ।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का निवास होगा तो हम प्राण, ज्ञान व पोषण को प्राप्त करेंगे ।

बुझे दीपक को फिर-फिर जगाना

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रातरग्निः पुरुप्रियो विश स्तवेतातिथि: ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते ।।५।।
।।८५ ।

[**विश:**] =ऐ संसार में प्रविष्ट मनुष्यों! [**प्रात:**] =प्रात:काल [**स्तवेत**] =उस प्रभु की स्तुति करो जो [**अग्नि:**] =आगे ले चलने वाला है [**पुरुप्रिय:**] =पालन करने वाला है, पूरण करने वाला है (पृ पालनपूरणयो:) और तृप्त करने वाला है (प्रञ् तर्पणे) तथा [**अतिथि**] जीवों के हित के लिये निरन्तर गतिशील है । यह प्रात: काल ही अपने में भावनाओं को भरने का समय है (प्रा पूरणे) ।

उल्लिखित शब्दों में प्रभु की उपासना के निम्न लाभ दर्शाये गये हैं—(क) यदि हम प्रभु की उपासना करेंगे तो आगे बढेंगे, धर्म के मार्ग पर हमारी प्रगति होगी । हम इस पथ पर कल से आज एक कदम आगे होंगे । (ख) उस प्रभु को अपना पालन करने वाला अनुभव करने के कारण हमारा जीवन निर्भीक होगा, व्याकुलता से शून्य होगा । (ग)हम अपने जीवन की न्यूनताओं को दूर कर प्रतिदिन जीवन का पूरण करने वाले होंगे । (घ) तथा हम एक तृप्ति का अनुभव करेंगे जो किन्हीं भी सांसारिक पदार्थों से नहीं मिल सकती ।

प्रार्थना के इन लाभों के निर्देश के साथ प्रार्थना न करने की एक बड़ी हानि संकेत महर्षि दयानन्द ने इन शब्दों में किया है कि हमारे अन्दर अनन्त उपकार करने उस प्रभु का ध्यान न करने से

कृतघ्नता की वृत्ति पनपेगी जो संसार में सबसे महान् पाप है और जिस का स्मृतिकारों ने कोई प्रायश्चित्त नहीं बतलाया (कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः) इस कृतघ्नता को शेक्सपियर ने अत्यन्त शीतकाल की काटने वाली तीव्र शीत वायुओं से भी अधिक काटने वाला कहा है।

मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते हैं कि उस प्रभु का स्मरण करो [**यस्मिन्**]=जिस अमर्त्ये=न मरने वाले, न बुझने वाले ज्ञान दीपक में [**विश्वे**] =सब [**मर्तास**] =बारम्बार मरने वाले, बुझे ज्ञानदीपक वाले मनुष्य [**हव्यम्**]= कान्त बनाये जाने के योग्य मन को (हु: प्रीणनार्थः प्रीञ्=कान्ति) [**समिन्धते**]=अच्छी प्रकार दीप्त करते हैं। एवं प्रभु स्मरण का यह भी लाभ हुआ कि हमारा ज्ञानदीपक फिर प्रज्वलित हो उठता है। उसके प्रकाश में हमारे शरीर रूप रथ के इन्द्रिय रूप घोड़े ठीक मार्ग पर चलते हैं, भटक कर वे पापपंक में नहीं गिरते और हम मृक्त=शुद्ध वाहाः—घोड़ों वाले बनकर इस मन्त्र के ऋषि 'मृक्तवाहा' बनते हैं। तथा तमोगुण और रजोगुण से ऊपर उठकर सदा सत्त्वगुण में अवस्थित होने के कारण 'द्वित'=दो को—तम और रज को—तैर जाने वाले होते हैं। हमारे सामने प्रकाश ही प्रकाश—सत्व ही सत्व—होता है। इस गीता के शब्दों में नित्यसत्वस्थ होते हैं। यही तो गुणातीत है। संसार के तैरने का मार्ग है। इस मार्ग से जाने पर ही यह बारम्बार संसार में प्रवेश का क्रम समाप्त हो सकता है।

भावार्थ—प्रभु प्रार्थना से जीवन उन्नत, अव्याकुल, पूर्णता वाला, कृतज्ञतामय तथा प्रकाश से दीप्त बनता है।

वैदिक समाजवाद

१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यद् वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो ।
१ २ ३ २ ३२उ ३ १ २
महिषीव त्वद् रयिस्त्वद् वाजा उदीरते ॥६॥
॥८६॥

पिछले मन्त्र में प्रातः-प्रातः प्रभु की आराधना का उल्लेख था। इस मन्त्र में कहते हैं कि ऐ [**विभावसो**]=ज्ञान को ही धन समझने वाले जीव! तू [**यत्**]=ये जो [**वाहिष्ठम्**]= वाही = इधर-उधर भटकाने वाली वस्तुओं का मुखिया अत्यन्त चंचल मन है (मनो जगाम दूर कम्) [**तत्**]=उसको [**अग्नये**]=उस प्रभु के लिये अर्पित कर। तभी इसका भटकना समाप्त होगा। सान्त चीजों में इसकी स्थिरता संभव नहीं—यह उस अनन्त प्रभु में ही स्थिर हो सकेगा। सान्त वस्तुओं को यह सब ओर से देखकर ऊब जाता है और आगे चलता है पर उस अनन्त में इसका ऊबना संभव नहीं। तू इस अपने मन को [**बृहत्**]= विशाल बना। तेरे मन में सभी प्राणियों के लिये स्थान हो। तेरे लिए सारी वसुधा एक कुटुम्ब हो जाय। तू सब प्राणियों को आत्मा में दोष देख सके। और इस प्रकार तू [**अर्च**]=उस प्रभु की सच्ची आराधना कर। आत्मौपम्येन सब प्राणियों को देखना ही प्रभु का सत्य आराधन है। जब तक मनुष्य इस सांसारिक सम्पत्ति सोने-चांदी को धन समझता है तब तक उसके लिए यह आत्मौपम्य की भावना कठिन है। तब तक तो मैं की भावना प्रबल होती है और मनुष्य सगों को भी मार कर अपना सुख प्राप्त करने की कामना करता है। पर ज्ञान को वास्तविक धन समझने पर स्थिति बदल जाती है, मनुष्य का हृदय विशाल बनता है और [**महिषी इव**]=गृहपत्नी के समान [**त्वद्**]=उस उपासक से [**रयिः**]=धन तथा [**त्वद्**]=उसी उपासक से [**वाजाः**]=अन्न [**उदीरते**]=उद्गत होते हैं अर्थात् जिनको आवश्यकता होती है उन तक पहुंचते हैं। एक घर में गृहपत्नी स्वप्न में भी यह कभी नहीं सोचती कि ये बच्चे कमाते तो हैं नहीं, इनको खाने को क्यों दिया जाय? वहां तो एक ही सिद्धान्त काम करता है कि जो-जो कुछ कर सकता है वह उससे कराया जाय और जो उसको चाहिये वह उसे दिया जाय। यही समाजवाद का सिद्धान्त है और वेद के अनुसार प्रभु के उपासक अपने जीवन में

इसो सिद्धान्त को अपनाते हैं। वे अपनी कमाई के धन व अन्न को पात्रों के लिए प्राप्त कराते हैं। प्रभु भी इनको योग्य trustee समझ कर खूब धन व अन्न देता है और ये व्यक्ति इस मन्त्र के ऋषि 'वसूयवः'=वसु को प्राप्त करने वाले बनते हैं। (वसु+या+कु)।

भावार्थ—मन को प्रभु में स्थिर करें। मन को विशाल बनाना ही प्रभु पूजन है। गृहपत्नी के समान हम धनों व अन्नों के विभाजक बनें।

अर्थभावन पूर्वक जप

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः। ७॥
। ८७॥

[**वः**]=तुम्हारे में [**विशः विशः**]=प्रत्येक प्रजाको [**अतिथिम्**]=निरन्तर प्राप्त होने वाले, दुःख के समय सदा सहायक होने वाले [**पुरुप्रियम्**]=सब के पालक, पूरक तथा तृप्त करने वाले [**अग्निं**]=अग्र-स्थान पर पहुँचाने वाले, [**शूषस्य**]=बल व सुख के [**दुर्यं**]=धाम उस प्रभु को [**वः**]=तुम्हारे में से [**वाजयन्तः**]=शक्ति को चाहते हुए या अर्चना करते हुए लोग [**मन्मभिः**]=मनन के साथ [**वचः**]=वचन [**स्तुषे**]=कहते हैं।

वह प्रभु सुख में विस्मृत भी हो जाय पर दुःख में तो मनुष्य को उसका स्मरण होता ही है। और वस्तुतः दुःख में जब कोई भी दूसरा हमारा सहायक नहीं होता उस समय वे प्रभु ही हमें प्राप्त होते हैं और हमारे कष्टों का निवारण किया करते हैं। वे प्रत्येक के अतिथि हैं, निरन्तर उसे प्राप्त होने वाले हैं। वे पुरु हैं—पालन व पूर्ण करने वाले हैं। सब के रक्षक हैं और कमियों को सदा दूर किया करते हैं और इस प्रकार [**प्रियं**]=तृप्त करने वाले हैं। सब प्रकार से हमारी कमियों को दूर कर वे हमें आगे ले चलते हैं। और उन्नत करते-करते हमें "परागति"=मोक्ष को भी प्राप्त कराते हैं।

वे प्रभु सुख व शक्ति के धाम हैं। 'शूष' शब्द शक्ति व सुख दोनों का वाचक है। इस शब्द की मूल धातु शूष=उत्पन्न करना अर्थ में आती है। वास्तव में सुख उत्पन्न करने व निर्माण में ही है। और शक्ति भी वही है जो कि उत्पादक हो।

उपासक लोग विचारपूर्वक इन वचनों से उस प्रभु की स्तुति करते हैं। स्तुति से इन गुणों में प्रीति होकर स्तोता इन गुणों को धारण करता है और प्रभु जैसा जीवन बनाकर सचमुच उसका उपासक होता है।

इन ऊपर वर्णित गुणों में प्रीति होने पर इस स्तोता की इन्द्रियां विषय-वासनाओं की ओर जाती ही नहीं। वह दुःखियों का सहायक बनता है, अनाथों का पालन करता है, अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न करता है, सभी का प्रिय होता है, आगे ही आगे कदम रखता है और निर्माण के कार्यों में आनन्द का अनुभव करता हुआ अपनी शक्ति को बढ़ाता है—यही उसकी आराधना होती है। एवं, इसकी इन्द्रियां विषय-पंक से लिप्त नहीं होतीं और पवित्र इन्द्रियों वाला बन कर इस मन्त्र का ऋषि गो-पवन होता है। काम, क्रोध, लोभ रूप तीनों नरक द्वारों से दूर होने के कारण 'अत्रि-पुत्र' कहलाता है (नहीं हैं तीनों जिसमें)। परिणामतः 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' इन तीनों कष्टों से भी यह बचा रहता है। इसलिए भी यह 'अ—त्रि' है।

भावार्थ—हम सदा विचार पूर्वक उस प्रभ के नामों से उसका स्तवन करें ताकि हमें भी उन गुणों से प्रीति हो। 'तज्जपः तदर्थ-भावनम्'=जप और अर्थ का चिन्तन हमें भी उत्तम बनने के लिये प्रेरणा दे।

जीवन को ज्ञान के लिये

३२उ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ २
बृहद् वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये। यं
३१र २र ३ १ २ ३२ ३ २
मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः ॥८॥८८॥

इस मन्त्र के ऋषि 'पूरु' हैं—अपना पालन व पूरण करने वाले, आसुर वृत्तियों से अपनी रक्षा करने वाले, और अपनी न्यूनताओं को दूर करने वाले। वे अपने समान उपासकों को प्रेरणा देते हैं कि [**बृहद् वयः**] = इस बड़े जीवन को, बुद्धिशील व विस्तृत जीवन को [**हि**] = निश्चय से [**भानवे**] = दीप्ति के लिये अर्पित करो। अपना समय ज्ञान प्राप्ति में लगाओ। विद्याभ्यसन ही तुम्हारा व्यसन हो। और यही तो वास्तव में ज्ञानी-भक्त बनने का प्रकार है। ज्ञान की प्राप्ति में जीवन को अर्पित करके उस [**देवाय**] = ज्ञान की ज्योति से (जगमग) द्योतमान [**अग्नये**] = सबसे अग्रस्थान में स्थित परमेष्ठी प्रभु के लिये [**अर्चा**] = उपासन कर। प्रभु की उपासना का प्रकार प्रभु जैसा बनना ही है। प्रभु ज्ञानमय, ज्ञान के पुञ्ज, शुद्ध, चिद्रूप हैं। सो जीव भी ज्ञान-यज्ञ से प्रभु की अर्चना कर पाता है।

किस प्रभु की अर्चना करनी है? इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में देते हैं कि [**यं**] = जिस प्रभु को [**मर्तासः**] = संग्राम में बारम्बार मरने वाले पुरुष [**मित्रं न**] = मित्र के समान [**पुरः**] = सामने [**दधिरे**] = स्थापित करते हैं। इस संसार में मानव मात्र का आसुर वृत्तियों से एक संघर्ष चल रहा है। उस संघर्ष में मनुष्य स्वयं जीत नहीं पाता। जीतने की तो कथा ही क्या, बार-बार मृत्यु का शिकार होता है। अन्त में यह अनुभवी और ज्ञानी बनकर इस प्रभु को सामने करता है। ये प्रभु उसे [**मि-त्र**] = प्रमीति से बचाते हैं, मृत्यु से उसकी रक्षा करते हैं। ऐसा करने पर मनुष्य इन आसुर वृत्तियों का शिकार होने से बच जाता है और उसका जीवन [**प्रशस्तये**] = उत्तमता के लिये होता है। उसके जीवन से खराबियां दूर होकर उसका जीवन सुन्दर हो जाता है। अपने जीवनों को उत्तम बनाने के साधन यही है कि हम प्रभु को सदा अपने सामने रखें। वे प्रभु हमारी वो ढाल हैं जो हमें सब आक्रमणों से सुरक्षित कर देते हैं। उस समय हमारे पर 'काम, क्रोध, लोभ' तीनों ही आक्रमण में विफल होते हैं और हम 'आत्रेय' इन तीनों से रहित होते हैं (अविद्यमानाः त्रयो यस्य)।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञान-यज्ञ के लिये अर्पित हो तथा प्रभु रूपी हमें कामादि के वार से सुरक्षित करे।

श्रुतर्वा और आर्क्ष्य

१२ ३१२३ १२ ३१र २र १
अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् । यः
२ ३ १२ ३ २ ३१२ २ १२
स्म श्रुतर्वन्नार्क्षे बृहदनीक इध्यते । ६।।८६।।

इन्द्रियों को पवित्र करने के शील वाला इस मन्त्र का 'ऋषि 'गोपवन' अपने मित्रों के साथ निश्चय करता है कि [**अगन्म**] = प्राप्त होते हैं उस प्रभु को जो कि [**वृत्रहन्तमम्**] = ज्ञान के आवृत करने वाले 'वृत्र' नामक काम का बुरी तरह से नाश करने वाला है। मनुष्य अपने इस प्रबल व भयंकर शत्रु का नाश नहीं कर पाता पर ज्योंही वह प्रभु को अपनी ढाल बनाता है और प्रभु को इन शत्रुओं के सामने करता है तो ये शत्रु नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, भस्मसात् होकर इनका नाम भी शेष नहीं रहता।

वे प्रभु [**ज्येष्ठम्**] = स्वयं प्रशस्यतम हैं, उनमें किसी प्रकार का पाप का अंश नहीं। स्वयं प्रशस्त होते हुए वे [**अग्निम्**] = हमें आगे ले चलने वाले हैं, सदा अपने मित्र जीव के उत्थान की कामना है। और इस उत्थान के लिये [**आनवम्**] = ये सदा उसे उत्साहित करने वाले हैं (आनयतिप्रोत्साहयति)। हृदयस्थ प्रभु जीव को सदा उत्तम प्रेरणा व उत्साह देकर उसे उन्नत किया करते हैं।

माता-पिता ने बालक को, आचार्य ने शिष्य को, राजा ने प्रजा को इसी मार्ग से उन्नत करना है। वे स्वयं पहले [**ज्येष्ठ**] = उत्ताम बनें, उनके अन्दर बालक आदि को उन्नन करने की इच्छा हो तथा वे उन्हें उत्साहित करने वाले हों।

प्रभु जीव को उन्नत करते हैं। परन्तु कब? जबकि [**यः स्मः इध्यते**] = जो दीप्त किये जाते हैं।

अदीप्त अग्नि काष्ठ में होती हुई भी कार्य करने वाली नहीं होती। इसी प्रकार सर्व-व्यापकता से विद्यमान वह प्रभु हमारे में वृत्रहननादि रूप कार्यो को करते तभी हैं जब हम उनको अपने में प्रकाशित करने का प्रयत्न करें। प्रभु का प्रकाश होता है[**श्रुतर्वन् आर्क्ष्ये**]=श्रुतर्वा में आर्क्ष्य में। "श्रुतं प्रति ऋच्छति"=ज्ञान के प्रति सदा जाने से जीव श्रुतर्वा होता है और ऋच् स्तुतौ=सदा स्तुति रूप, न कि निन्दारूप, वचनों के उच्चारण से आर्क्ष्य होता है। हम अपने मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से रोशन करें। और हमारी वाणी सदा स्तुतिरूप वचनों को बोले। ऐसा करने पर हमारे में उस प्रभु का प्रकाश होगा जो कि[**बृहद् अनीकः**]विशाल व अनन्त बल वाले हैं। उस अनन्त बल से बल वाले होकर ही हम कामादि वृत्रों का विनाश कर सकेंगे, और इस प्रकार कामादि के ध्वंस से हम अपनी इन्द्रियों को पवित्र कर इस मन्त्र के ऋषि 'गोपवन' बनेंगे।

भावार्थ—हम सदा ज्ञानमार्ग के पथिक श्रुतर्वा बनें और शुभ शब्दों का उच्चारण करने वाले आर्क्ष्य हों। तभी हमारे में प्रभु का प्रकाश हो पवित्रता का प्रसार होगा।

परम धर्म : ज्ञान व यज्ञ

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
जात: परेण धर्मणा यत् सवृद्भिः सहाभुव:।
३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनु:
३ २
कविः ॥१०॥९० ॥

[**यत्**]=चूंकि[**परेण**]=सर्वोत्कृष्ट[**धर्मणा**]=धर्म के द्वारा तू[**जातः**]=विकसित हुआ है और [**यत्**]=चूंकि [**सवृद्भि सह**]=यज्ञों के साथ [**अभुवः**]=तूने अपने जीवन को युक्त किया है सो [**कश्यपस्य**] =तुझ ज्ञानी का (समझदार का) [**अग्निः**]=आगे ले चलने वाला प्रभु [**पिता**]=रक्षक हुआ है, [**श्रद्धा**]=सत्य का ही धारण करने वाला तथा विकास का[**माता**]=निर्माण करने वाला बना है, और[**कवि**]=क्रान्तदर्शी ज्ञानी[**मनु**]=अवबोध को देने वाला उपदेष्टा हुआ है।

मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट धर्म 'ज्ञान प्राप्ति' है। व्यास के शब्दों में 'ब्रह्मचर्यं परो धर्मः'=ब्रह्मचर्य परमधर्म है, ब्रह्म=ज्ञान उसका चर्=भक्षण। ब्रह्मचारी आचार्य कुल में २४, ३६ व ४८ वर्ष रहकर ज्ञान का विकास करता है और फिर समय पर गृहस्थ में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा है कि आचार्य विद्यार्थी को गर्भ धारण करता है और ज्ञानपरिपक्व होकर जब वह बाहर आता है। 'तं जातं द्रष्टुं अभि संयन्ति देवाः'=उस आचार्य गर्भ से उत्पन्न हुए-हुए को देखने के लिए बड़े-बड़े विद्वान् आते हैं। इस प्रकार 'परमधर्म' ज्ञान प्राप्ति ही है और उससे अपना विकास करना द्वितीय जन्म है और इस जन्म को ग्रहण करके वह 'द्विज' बनता है।

इसके बाद गृहस्थ में उसने अपना जीवन यज्ञमय बिताना है। यज्ञों को[**स-वृत्**]=साथ होने वाले कहा है। गीता में हम पढ़ते हैं 'सहायज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ने यज्ञों के साथ प्रजाओं का निर्माण करके कहा कि 'अनेन प्रसविष्यध्वम्'=इन यज्ञों से ही तुम फलो-फूलोगे। ये यज्ञ साथ होने वाले=सवृत् हैं, मनुष्य को चाहिये कि इन यज्ञों के साथ ही अपना जीवन व्यतीत करे।

इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति वाला यज्ञ-प्रधान जीवन बनाने पर मनुष्य का रक्षक वह आगे ले चलता हुआ मोक्ष तक पहुंचाने वाला प्रभु होता है। प्रभु की रक्षा में मनुष्य के पतन का भय नहीं। ऐसे मनुष्य का जीवन अ-भय होता है। वह अपने जीवन में सत्य-विश्वास के साथ चलता है। यह सच्चा विश्वास उसके उत्कर्ष का साधक होता है। उस प्रभु की कृपा से उसे समय-समय पर क्रान्तदर्शी तत्वज्ञानी उपदेष्टाओं का संग प्राप्त होता

रहता है। इस सत्संग से वह उत्तम मन वाला बना रहता है। इस प्रकार निर्भयता, सत्य, विश्वास व सौमनस्य से युक्त होकर वह वामदेव=सुन्दर गुणों वाला होता है, [**कश्यपः**]=ज्ञानी बनता है और [**मनुः**]=औरों को भी अपने जीवन से बोध देने वाल होता है। ये ही तो इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञान व यज्ञ के लिए अर्पित हो। हम अपने को प्रभु रक्षा के अधिकारी बनायें। सत्य विश्वास से युक्त हों। सत्संग करने वाले हों।

* * *

॥५॥ ऋषिः— १ अग्निस्तापसः; २ वामदेवः; ३ वामदेवः काश्यपोऽसितो देवलो वा; ४ सोमाहुतिर्भार्गवः; ५ पायुः; ६ प्रस्कण्वः॥ देवता—१ विश्वेदेवाः; २ अङ्गिराः; ३-६ अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥
स्वरः— गान्धारः॥

सोम से बृहस्पति तक

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥
१।'६१॥

इस मन्त्र का ऋषि अग्नि=प्रगतिशील स्वभाव वाला, जो कि तापस—तपस्वी है, अपने वैयक्तिक व सामाजिक जीवन को निम्न गुणों से अलंकृत करता है—

(१) [**सोमम् अनु आरभामहे**]=सोम के साथ हम अपने जीवन को प्रारम्भ करते हैं। अर्थात् अपने जीवन के अन्दर सौम्यता को लाने का प्रयत्न करते हैं। (यहां अनु का प्रयोग तृतीया के अर्थ में हुआ है, [**अनु**]=के साथ।) सबसे प्रथम गुण सौम्यता है। नम्रता के बिना उत्थान का प्रारम्भ ही नहीं होता। ऊंचा उठा हुआ खेत नदी से पानी को नहीं प्राप्त कर पाता। टैंक से ऊंचा नल टैंक के पानी को नहीं ग्रहण करता। प्रभु सौम्य व्यक्तियों का ही पथ प्रदर्शन करते हैं=भूमिरसि सोम्यानाम्। गुरु सौम्य विद्यार्थियों को प्रेम से पढ़ाते हैं। एवं यह सौम्यता हमें उनन्न करती है।

[**राजानम्**]=अपने जीवन को हम राजा के साथ चलाते हैं। राजा शब्द नियमितता का प्रतीक है। राजा भी राजा इसी लिये कहलाता है कि वह प्रजा के जीवन को नियमित बनाता है। (राज्=to regulate)। हम अपने जीवन को सूर्य और चन्द्र की तरह नियमित करते हैं। आजकल के मुहावरे के अनुसार उसे clockwise चलाते हैं। यह नियमितता हमें स्वास्थ्य व दीर्घजीवन प्राप्त कराती है। चरक ने स्वास्थ्य के नियमों में 'काल-भोजी' शब्द पर बल दिया है—समय पर खाना। इसी प्रकार समय पर सोना व जागना तथा अन्य कार्य करना हमें स्वस्थ बनायेगा।

[**वरुणम्**]=हम वरुण श्रेष्ठ बनते हैं। परतन्त्रता के साथ अवगुणों का व स्वतन्त्रता के साथ सद्-गुणों का वास है। यहां शरीर में इन्द्रियों की दासता हमारे सद्-गुणों की दस्यु=destroyer बनती है और जितेन्द्रिता सद्-गुणों की जननी। सो हम स्वतन्त्र बनकर श्रेष्ठ बनते हैं। वरुण पाशी है, प्रचेता है। हम समझदारी से इन्द्रियों को मर्यादाओं से जकड़ कर रखते हैं और श्रेष्ठ बनते हैं।

[**अग्निम्**]=हम अग्नि की भावना के साथ जीवन को चलाते हैं। 'अधः' कृतस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव'=नीचे की हुई भी अग्नि की ज्वाला ऊपर ही जाती है। हम भी अपने जीवन में समय-समय पर होने वाली असफलताओं से नीचे बैठ नहीं जाते परन्तु आगे और आगे—शिखर पर—"मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य" यही हमारा

जप होता है। ऊँचे लक्ष्य के अनुपात ही में तो हमारा उत्थान होगा।

इस प्रकार सौम्यता, नियमितता, मर्यादाशीलता व उच्च लक्ष्यता से वैयक्तिक जीवन को सुन्दर बनाकर हम समाज में प्रवेश करते हैं। और वहां—

[**आदित्यम्**]=आदित्य के साथ अपने जीवन को प्रारम्भ करते हैं। आदान ग्रहण करने के कारण सूर्य को आदित्य कहते हैं। वह कीचड़ व खारी समुद्र में से भी मल व खारेपन को छोड़कर शुद्ध जल को ही ग्रहण करता है। हम भी प्रत्येक व्यक्ति के दोषों को छोड़ कर गुणों का ही ग्रहण कर अपने जीवन को गुणों से भूषित करते हैं। और इसके लिए—

[**विष्णुम्**]=अपने जीवन को (विष्लृ=व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति से युक्त करते हैं। व्यापक व उदार मनोवृत्ति वाला ही सब स्थानों से गुणों का ग्रहण कर पाता है। तंगदिली में हम दूसरों के दोष को ही देखते हैं।

[**सूर्यम्**]=सामाजिक जीवन में हमारा यह सिद्धान्त होना चाहिये कि सूर्य की तरह हम अपना कार्य करते चलें। सूर्य कभी इस प्रतीक्षा में रुकता नहीं कि औरों ने अपना कार्य किया या नहीं।

[**ब्रह्माणम्**]=हम ब्रह्मा के साथ अपना जीवन प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्मा creator है—कर्ता है, न कि ध्वंसक। हम भी समाज में 'निर्माण' को अपना लक्ष्य बना कर चलें। बनाना है—बिगाड़ना नहीं। हम एञ्जिन बनें—न कि सदा ब्रेक ही ब्रेक बने रहें। बनाना ही कठिन है—तोड़ने में क्या लगता है? एवं, हमारा सामाजिक जीवन गुणग्राही, उदार, क्रियाशील व निर्माण वाला हो।

यदि इस प्रकार हम वैयक्तिक व सामाजिक गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करेंगे तो हम [**बृहस्पति**]=ऊर्ध्वा दिक् के अधिपति होंगे। अर्थात् सर्वोच्च शिखर पर पहुंच पायेंगे—'परमे-ष्ठी' होंगे ब्रह्म जैसे बन जायेंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन सदा सोम से प्रारम्भ हो ताकि हम बृहस्पति बन पायें।

ये ऊपर उठते हैं

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र २
इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्या रुहन्। प्र
३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
भूर्जयो यथा पथोद्द्यामङ्गिरसो ययुः ॥२॥९२

[**एते**]=ये सौम्यता आदि वैयक्तिक व गुणग्राहकता आदि सामाजिक गुणों को अपने अन्दर धारण करने वाले व्यक्ति [**इतः**]=इस पृथिवी पृष्ठ से [**उत्**]=ऊपर आरुहन्=चढ़ते हैं। दिवः द्युलोक के पृष्ठानि=पृष्ठों पर [**आरुहन्**]=आरूढ़ होते हैं।

मनुष्य जीवन का यही लक्ष्य होना चाहिए कि [**पृष्ठात् पृथिव्याः अहम् अन्तरिक्षम् आरुहम्**]= पृथिवी पृष्ठ से मैं अन्तरिक्ष में पहुंचूं, और अन्तरिक्षात् दिवम् आरुहम्'—अन्तरिक्ष से मैं द्युलोक में पहुंचूं। इस 'दिवो नाकस्य पृष्ठात्' = स्वर्ग लोक के पृष्ठरूप द्युलोक से ही तो मैं 'स्वर्ज्योतिः अगाम् अहम्'=स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करूँगा। मानव जीवन के अपने इस लक्ष्य को ये सौम्यता आदि को धारण करने वाले ही पा सकते हैं।

[**द्यां**] = द्युलोक को [**प्र-ययु**[=प्राप्त होते हैं। कौन ?

(१) [**भूर्जयः**] = (भूरिति प्राणः, तं जयति) प्राणों का विजय करने वाला। प्राणों के विजय से सब आसुर भावनायें नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। उपनिषद् में आता है कि असुरों ने सब इन्द्रियों को वश में कर लिया, पर प्राणों पर आक्रमण करने पर वे इस प्रकार नष्ट हो गये कि जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकरा कर नष्ट हो जाता है। मनु ने लिखा है कि प्राणों के संयम से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं जैसे कि अग्नि में धातुओं के मल। एवं प्राणविजय से हम निर्मल बन ऊपर उठते हैं।

(२) [**यथा पथः**] = (पथं अनतिक्रम्य गच्छति) जो व्यक्ति मार्ग का उल्लंघन न करके चलता है। अर्थात् जो सदा योग्य मार्ग से ही अपने कार्यों को करता है। गीता में इसी व्यक्ति के लिए 'युक्ताहारविहार' व 'युक्तचेष्ट' शब्दों का प्रयोग हुआ है—जिसकी सब क्रियाएं मपी-तुली होती हैं। योग्य मार्ग से चलने के कारण हम पथभ्रष्ट हो पापपङ्क में नहीं फंसते और सदा उन्नत ही उन्नत होते चलते हैं।

(३) [**अंगिरसः**] = अंगरस वाले व्यक्ति जिनका शरीर सूखे काष्ठ की तरह निर्जीव नहीं हो गया। प्राणायाम और योग्य मार्ग से चलने का यह परिणाम होगा कि हम अपने ९ वें दशक तथा दसवें दशक तक भी स्निग्ध त्वचा वाले, सरस अंगों वाले बने रहेंगे, हम नवग्व, व दशग्व होंगे। (नव-दशक पर्यन्त गच्छति इति नवग्वः) इसी प्रकार अंगिरस वही व्यक्ति हो सकता है जो विषयों का शिकार नहीं बनता। विषय तो उसे शीघ्र ही जीर्ण-शीर्ण शरीर वाला बना देगें। एवं विषयों से आबद्ध हो वह ऊपर उठेगा और द्युलोक को प्राप्त करेगा।

द्युलोक की प्राप्ति का अभिप्राय संभवतः यही है कि वह पृथिवी लोक पर जन्म न लेकर अन्तरिक्ष के किसी लोक में और उससे भी ऊपर उठकर द्युलोक के किसी पिण्ड में जन्म लेने वाला होगा। वह उसका सात्विक जन्म होगा और इसके बाद वह स्वर्ज्योति, = ब्रह्म को प्राप्त करने का अधिकरी होगा।

भावार्थ—हम प्राणों को वश में करने वाले, योग्य मार्ग से चलने वाले और अंगों को शक्ति सम्पन्न रखने वाले, बनें और द्युलोक में पहुंचे।

महान् त्याग

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ईडिष्वा हि महे वृषन् द्यावा होत्राय
३ २
पृथिवी ॥३॥६३॥

हे [**अग्ने**] = उन्नत भावों को प्राप्त कराने वाले प्रभो! [**त्वा**] = आपको [**समिधीमहि**] = हम दीप्त करते हैं। अपने हृदयों के अन्दर आपके प्रकाश को देखने का प्रयत्न करते हैं। क्यों? [**राये**] = धन के लिए, उस धन के लिए जो कि (रा = दाने, लोकहित के लिए दिया जाता है।[**महे**] = महान् बनने के लिए, अपने हृदयों को विशाल बनाने के लिए। हम उदार हों, और [**दानाय**] = दिल खोलकर देने के लिए समर्थ हों। इस उदारता व दान के लिए हम आपकी ज्योति को अपने हृदयों में जगाते हैं। इस ज्योति के अभाव में धन की चमक हमारी आंखों को अपनी और आकृष्ट कर लेती है और हम संकुचित हृदय बनकर उसका दान नहीं कर पाते। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में क्षितिज बहुत छोटा हो जाता है, उसी प्रकार आपकी ज्योति के अभाव में हमारा हृदयाकाश भी संकुचित-तम हो जाया करता है। उसी संकुचित हृदय में लोकहित व दान की भावनायें नहीं पनपतीं।

ऐ प्रभो! [**वृषन्**] = सब धनों की वर्षा करने वाले [**महे**] = महान [**द्यावा पृथिवी होत्राय**] = द्युलोक से पृथिवी लोक तक सम्पूर्ण ऐश्वर्य के होत्र के लिए अर्थात् सर्वस्व के दान के लिए [**ईडिष्वा हि**] = हम आपकी स्तुति करते हैं। सब धनों की वर्षा करने वाले तो आप हैं। इनमें मेरा है ही क्या, जो मैं ममत्व करके इनसे चिपटा रहूं? आपका ही धन है। आपके ही प्राणियों के हित के लिए उसका मेरे द्वारा विनियोग होता रहे। मैं अपने आपको आपके कोषाध्यक्ष के रूप में देखूं और आपके निर्देशानुसार उसे देता जाऊं, सारे ब्रह्माण्ड का धन भी मुझे लुब्ध न कर सके, उसको भी मैं दे सकूं। पर दे तो तभी सकूंगा जबकि अपने को उसका मालिक न समझकर बैठूंगा। अपने को मैंने मालिक समझा तब तो अपने भवन ही खड़े करूँगा। दान तो क्या दे पाऊंगा! ऐ प्रभो सो ऐसी कृपा करिये कि मैं सदा वृषन् शब्द से आपका स्मरण करता हुआ यह भूलूं ना कि इस धन के वर्षक आप हैं इसमें मेरा कुछ नहीं। इस भावना के उदय होने पर ही मैं इन अर्थों = धनों में

आसक्त न हूंगा । और तभी मुझे धर्म का ज्ञान नहीं होगा । 'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते'= धन में आसक्त को धर्म का ज्ञान नहीं हुआ करता, धर्मज्ञ होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त होगा तो मैं अपने अन्दर सुन्दर गुणों का विकास करने वाला वामदेव बन पाऊंगा और तभी मैं ज्ञानी=काश्यप भी कहला पाऊंगा । ऐ अग्ने ! ऐ वृषन् ! आपकी कृपा से मैं ऐसा ही बनूंगा ।

भावार्थ—सब धनों के वर्षक उस प्रभु का स्मरण करते हुए हम अपने जीवन को 'महान् त्याग' का जीवन बना पायें ।

आनन्द चक्र की परिधि

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २उ ३ २ ३ २
दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत् ।
२ ३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत् ॥४॥६४॥

दधन्वे वा=वे प्रभु निश्चय से धारण करते हैं, यदि ब्रह्मइति=ब्रह्म इस रूप में उ= और तत्= वो वेः=संसार जाल का संतान करने वाले हैं, इस रूप में अनुवोचत्=जीव उनका स्मरण करता है । जीव को चाहिये कि प्रतिदिन प्रातः-सायं उस प्रभु को 'ब्रह्म' और 'वेः' इन शब्दों से स्मरण करे। ब्रह्म=(बृहि वृद्धौ) वह प्रभु ही महान् है। [वर्धमानं स्वे दमे']=अपने स्वरूप में सदा से बढ़े हुए उस प्रभु का स्मरण करते हुए जीव अहंकार-शून्यता को प्राप्त करता है । उसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु की तुलना में अपनी अल्पज्ञता व अल्पशक्तिमत्ता अहंकार युक्त नहीं होने देती । वह प्रभु 'वेः' हैं, वही तो संसार के सब घटनाचक्र को चला रहे हैं । तो, जो कुछ हो रहा है सो सब ठीक ही है । सब मेरे हित के लिये ही है । यह भावना मनुष्य को कितना सन्तोष प्राप्त कराती है !

वास्तविकता तो यह है कि इव=जिस प्रकार चक्रंपरि=एक पहिये के चारों ओर नेमिः—परिधि होती है, और उसी परिधि के कारण पहिया स्थिर होता है, ठीक इसी प्रकार विश्वानि= सब काव्यानि=ज्ञानों व आनन्दों के परि= चारों ओर वे प्रभु अभुवत्=हैं । परिधि हटी कि पहिया टूटा । बस, ठीक इसी प्रकार प्रभु हमारे जीवनों से दूर हुए कि हमारे सब आनन्द व ज्ञान समाप्त हुए । प्रभु से दूर होने पर प्रेम व शान्ति का स्थान द्वेष तथा संघर्ष ले लेते हैं । मनुष्य आपस में पशुओं की तरह लड़ने लगते हैं। जातियों में भयंकर युद्ध होते हैं । वस्तुतः मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाता । मनुष्य बनने के लिये आवश्यक है कि हम उस प्रभु के ब्रह्म=महान् रूप को स्मरण करते हुए सोम=विनीत बनें और यह समझकर कि 'प्रभु से दूर हुए कि वास्तविक आनन्द से भी दूर हुए' उस प्रभु के प्रति अपना समर्पण करने वाले 'आहुति' बनें । यह 'सोमाहुति' ही इस मंत्र का ऋषि है । यह भृगु पुत्र है, भृगु=परि-पाक करने वाले का सन्तान है । यदि हम ज्ञान से अपने को परि-पक्व बनायेंगे तभी 'सोमाहुति' भी हो पायेंगे ।

भावार्थ प्रभु की महिमा, व सर्वकर्तृत्व का स्मरण कर मैं विनीत व सन्तुष्ट बनूँ । प्रभु को अपने जीवन चक्र की परिधि बना मैं आनन्द को नष्ट न होने दूं ।

तीन असुरों का संहार

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि ।
३ १ २ ३ २ ३ २३क २र ३क२र १ २
यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्यम् ॥५॥६५॥

अग्ने=मुझे उन्नत अवस्था में प्राप्त कराने वाले प्रभो ! हरसा (हरसः)=मेरा हरण करने वाले, मुझे अपने आपे में न रहने देने वाले इस क्रोध नामक असुर के हरः=क्रोध को विश्वतः परि=सब ओर से, सब प्रकार से प्रतिश्रृणाहि—नष्ट कर दीजिये । मैं क्रोध को अपने से दूर रख सकूं । इद्रियां, मन व बुद्धि कहीं भी इसका निवास न हो । इसके प्रबल होते ही मेरा सारा शरीर

काँपने लगता है और मैं स्वस्थ नहीं रहता । मुझे एक संमोह सा हो जाता है (क्रोधाद् भवति संमोहः)—और मैं सब सुधबुध भूल जाता हूं। संक्षेप में, यह मुझे हर ले जाता है—और इस प्रकार 'हरस्' इस सार्थक नाम वाला होता है ।

ऐ प्रभो ! आप मेरे इस क्रोध को तो दूर करिये ही और यातु-धानस्य=(यातु=पीड़ा) पीड़ा के आधान करने वाले काम नामक असुर के बलम्=बल को भी न्युब्ज=झुका दीजिये । काम=इच्छा पूर्ण नहीं होती और पूर्ण न होती हुई मनुष्य को पीड़ित करती है । पूर्ण होकर भी वासना मनुष्य को जीर्ण कर के दुःखी बना डालती है । इसी से यह काम यहां यातुधान=पीड़ा को देने वाला कहा गया है । इसका बल व वेग कम होगा, तभी हमारा कल्याण होगा । इसकी प्रबलता में पीड़ा ही पीड़ा है ।

सो हे प्रभो ! इस यातुधान को तो हमारे से दूर करो ही; साथ ही रक्षसः=(र+क्ष) अपने रमण (मौज) के लिये औरों के क्षय की वृत्ति की वीर्यम्=शक्ति को भी 'न्युब्ज' कुचल दो । लोभ का शिकार होकर मनुष्य धर्माधर्म, सत्यासत्य को तिलांजलि दे; क्रूर बनकर धन कमाता है ताकि प्राकृतिक विलासों का अनुभव कर सके । पर क्या वे प्राकृतिक विलास उसको सुखी बना पाते हैं ? नहीं । इन क्रोध, काम व लोभ को गीता में तीन नरक द्वारों के रूप में चित्रित किया है । ये उसकी दुर्गति ही दुर्गति का कारण बनते हैं—सुगति का नहीं । इन तीनों को समाप्त करना ही ठीक है । इनकी समाप्ति करके ही मनुष्य अपनी रक्षा कर सकता है और इस मन्त्र का ऋषि 'पायु'= अपनी रक्षा करने वाला बनता है । इनके समाप्त करने पर ही उसकी शक्ति की भी वृद्धि होगी और वह अपने में शक्ति को भरने वाला 'भारद्वाज' कहलायेगा (वाज=शक्ति) ।

भावार्थ—काम, क्रोध और लोभ को समाप्त कर हम अपनी रक्षा करें और शक्तिशाली बनें ।

प्रभु का निवास किन सात में ?

१ २   ३ १ २ ३ २   ३ १   २   ३   २ ३ २   १ २
त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत । यजा
३२उ   ३   १ २   ३ १ २   १ २
स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ।।६।।६६।।

ऐ अग्ने ! आगे ले चलने वाले प्रभो ! त्वम्= आप इह=इस मानवजीवन में यजा=मेल करते हो । किनके साथ ?

(१) वसून्=वसुओं के साथ । जो लोकों को बसाते हैं । यदि एक व्यक्ति निराश्रय को अपने मकान में आश्रय देता है, भूखे को रोटी देता है, और बेकार को काम देता है, तो वह उसको बसाता है । बसाने के कारण 'वसु' कहलाता है, और प्रभु के संग के योग्य बनता है ।

(२) रुद्रान्—(रुत्=शब्द, ज्ञान; रा=देना) ज्ञान को देने वाला 'रुद्र' कहलाता है । यदि एक व्यक्ति स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को औरों को देने के लिये प्रयत्नशील है, तो वह 'रुद्र' है । और ये रुद्र उस महान् रुद्र के साथी बनते हैं, जो संपूर्ण ज्ञान का स्रोत है । इन रुद्रों को तो प्रभु प्राप्त होते ही हैं; उत=और आदित्यों को भी प्राप्त होते हैं ।

(३) आदित्यान्—सूर्य आदित्य कहलाता है चूंकि वह कीचड़ में से, खारी समुद्र में से और दुर्गन्धित जोहड़ों में से भी निरन्तर शुद्ध पानी का आदान कर रहा है । इसी प्रकार जो प्रत्येक व्यक्ति से गुणों का ही ग्रहण करता है वह आदित्य कहलाता है और प्रभु का प्रेमपात्र बनता है ।

(४) स्वध्वरं (सु अध्वरम्)—उत्तम हिंसा-रहित जीवन वाले को प्रभु प्राप्त होते हैं । जो मन में द्वेष नहीं करता, सूनृत मधुर वाणी का प्रयोग करता है और हिंसा से दूर रहता है वह 'स्वध्वर' कहलाता है और प्रभु उस पर स्नेह करते हैं ।

(५) जनम्=जो जनयति=उत्पन्न करता है, निर्माणात्मक कार्य करता है न कि ध्वंसात्मक, उस 'जन' को प्रभु मिलते हैं । विनोबा भावे तथा

कम्यूनिस्टों का लक्ष्य एक है, पर विनोबा निर्माणात्मक दिशा में चल रहे हैं और कम्यूनिस्ट ध्वंसात्मक दिशा में। प्रभु का प्रिय निर्माण की ही दिशा में चलता है।

(६) मनुजातम्=जातः मनुर्यस्मिन्=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें उसे प्रभु मिलते हैं। जो व्यक्ति अपने में ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है वह प्रभु का संग करता है, प्रभु की वह ज्ञानयज्ञ से उपासना कर रहा होता है। प्रभु शुद्ध ज्ञानरूप ही तो हैं।

(७) घृतप्रुषम्=घृत शब्द घृ धातु से बना है। उसके दो अर्थ हैं—क्षरण तथा दीप्ति। प्रुष् के भी दो अर्थ हैं-जला देना (to burn) तथा उड़ेलना=छिड़कना (to pour out=sprinkle)। क्षरण की भावना दोष है। जो व्यक्ति ज्ञानाग्नि के द्वारा दोषों को जला डालता है वह 'घृतप्रुष' है। यह घृतप्रुष ही ज्ञानाग्नि से दोषों को दग्ध कर दीप्ति को चारों ओर फैलाता है। यह घृतप्रुष प्रभु को अत्यन्त प्रिय होता है।

इस प्रकार एक-एक करके, कण-कण करके उल्लिखित गुणों का अपने में संग्रह करने वाला 'प्रस्कण्व' इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम अपने को प्रभु का निवास स्थान बनाने के लिये अपने में उपरोक्त सात गुणों का संग्रह करने में प्रयत्नशील हों। ●

द्वितीय प्रपाठक का प्रथम अर्ध

।। १ ।। ऋषिः—१ दीर्घतमाः; २, ४ विश्वामित्रः; ३ गोतमः; ५ त्रितः; ६ इरिम्बिठि; ७, ८, १० विश्वमना वैयश्वः। ९ ऋजिष्वा भारद्वाजः देवता—१-४, ७-१० अग्निः; ५ पवमानः; ६ अदितिः ।। छन्दः—उष्णिक् ।। स्वरः—ऋषभः ।।

उसी की ओर

३ १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २
पुरु त्वा दाशिवां वाचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
३ १ २ ३ २ उ ३ १ २
तोदस्येव शरण आ महस्य ।।१।।९७।।

पिछले मन्त्र में कहा गया था कि वसु आदि में परमेश्वर का वास होता है। हम भी उन सात श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी में आ सकें इसके लिये साधन रूप में तीन बातों का उल्लेख इस मन्त्र में किया गया है:—

पहला यह कि 'दाशिवान्'=(दाश् दाने) ऐ प्रभो! आपके प्रति अर्पण करने वाला मैं त्वा=आपकी पुरु=बहुत वोचे=स्तुति करता हूं। गीता के शब्दों में सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते सदा आप के नाम का जप करता हूं। सदा प्रभु का स्मरण करने वाला व्यक्ति उस शक्ति के स्रोत प्रभु को न भूलने से कर्मों का अहंकार नहीं करता—फल के लिये कभी असन्तुष्ट नहीं होता। उसका जीवन शान्ति से चलता है। प्रभु की ओर से प्राप्त करायी जाती प्रत्येक स्थिति को वह हितकर समझता है और सचमुच 'दाश्वान्' बनता है। माता के प्रति अर्पण करने वाला बालक जैसे माता को प्रिय होता है, उसी तरह यह प्रभु को प्रिय होता है।

दूसरे, यह दाश्वान् कहता है—ऐ अग्ने! आगे ले चलने वाले प्रभो! तव स्वित्=तेरा ही आ=सब प्रकार से अरिः=मैं भक्त बनता हूं। तेरी ओर ही चलने वाला बनता हूं (अरिः=moving towards; devoted to)। मैं प्रत्येक कार्य इसी दृष्टिकोण से करता हूं कि वह मुझे तेरी ओर लाने वाला बने। संसार में सब सन्त 'लोक हित में लगे दिखते हैं'। वस्तुतः यही तेरी ओर आने का मार्ग है। 'अपने में ही उलझे रहना, अपनी आवश्यकताओं को जुटाने में ही मर खप जाना' तुझे पाने का मार्ग नहीं है। अपना पेट तो पशु-पक्षी भी भरते हैं। मैं अपनी आवश्यकताओं को न्यून करता हुआ अपने को परार्थ साधन के योग्य बनाता हूं और इस प्रकार मैं आपकी ओर बढ़ता

हूं। अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाना प्रकृति की ओर बढ़ना है और आप से दूर हटना है। मैं तो इस मार्ग पर न जाकर महस्य=महनीय आदरणीय तोदस्य इव=प्रेरक के समान जो आप हैं, उनकी ही शरणे=शरण में आता हूं। प्रभु अपनी प्रेरणा में सदा मधुर व शान्त हैं। वह अनन्त धैर्य के साथ सदा हृदयस्थ हो जीव को उत्तम कर्मों के लिए उत्साह और अशुभ कर्मों के लिये चेतावनी दे रहे हैं, और इस प्रकार एक आदर्श प्रेरक के रूप में हैं। उन्होंने अपना सब कुछ जीव को देकर उसके लिए महान् त्याग भी किया है। इसीलिये भी वे महनीय तोद=(sacrificer) त्याग वाले हैं। मैं तो आप की ही शरण में आता हूं।

जिस दिन जीव प्राकृतिक भोगों में सुख के भ्रान्त विचार को छोड़कर प्रभु की ओर चलेगा उसी दिन वह अपनी भ्रान्ति को भगा देने के कारण इस मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमाः'='अज्ञान का विदारण करने वाला' बनेगा।

भावार्थ—प्रभु के नाम का सतत जप करें, उसी की ओर चलें और उसी की शरण में पहुंचे।

उसी का जप

१र २र ३ १ २ ३ २ ३१र
प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत् । विपां
२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥६८॥

इस मन्त्र का मुख्य वाक्य यह है कि उसी के लिये [**वचः**]=स्तुतिवचन का [**प्र—भरत**]=प्रकर्षेण संपादन करो। यह स्तुतिवचन ही [**पूर्व्यम्**]= पूरण तथा पालन करने वाला होगा (पॄ पालनपूरणयोः) तथा [**बृहत्**]= तुम्हारी वृद्धि का कारण बनेगा (बृहि वृद्धौ)। जब मनुष्य उस प्रभु के गुणों का ज्ञान करता है तो उन गुणों में प्रीति होकर वह अपने भक्तिभाजन के अनुसार बनने का प्रयत्न करता है। यह प्रभु का स्मरण उसे अशुभ बातों की ओर जाने से बचा कर उसका पालन भी करता है। प्रभु के नाम का स्मरण वासना का विनाश करता है। वासना प्रबल है, हम उसे नहीं जीत पाते, परन्तु प्रभु तो 'स्मर-हर' हैं, हमारे लिये वे इस वासना को नष्ट कर देते हैं। सो यह नाम स्मरण अहंकार आदि सभी भावनाओं को समाप्त करने के कारण 'पूर्व्य' है। यह हमें आत्म स्वरूप का स्मरण करा उत्थान की ओर ले चलने के कारण 'बृहत्' भी है।

'हम उस प्रभु का किस रूप में स्मरण करें?' इसका उत्तर मंत्र में 'होत्रे' 'अग्नये' 'विपां ज्योतींषि बिभ्रते न' तथा 'वेधसे' इन शब्दों के द्वारा दिया गया है। वह प्रभु होता है (हु दाने) देने वाले हैं। जैसे माता अपने लिये कुछ भी न बचाती हुई सब कुछ बच्चों को देकर प्रसन्न होती है, उसी प्रकार यही जगज्जननी वस्तुतः होत्री है। अपने लिये कुछ न रख कर सब कुछ जीव के लिए दे रही है। हमें भी अपने उस महान् सखा का अनुकरण करते हुये होता बनने का प्रयत्न करना चाहिये।

'अग्नये' शब्द प्रभु के हमें आगे ले चलने की भावना को व्यक्त करता है। हमें उन्नत करते-करते वे मोक्ष स्थान तक पहुंचायेंगे। स्वयं तो प्रभु प्रत्येक गुण की चरम-सीमा के रूप में सबसे अग्र स्थान में स्थित हैं ही। वे परमेष्ठी हैं। हमें चाहिये कि हम आगे बढ़ने के लिए अपने में अनुकूलता को पैदा करें। औरों की उन्नति में भी यथासम्भव सहायक हों।

[**विपां न**]=मेधावियों जैसे लोगों के लिए [**ज्योतींषि**]=प्रकाश को [**बिभ्रते**]=धारण करते हुए प्रभु के लिए हम स्तुतिवचन को धारण करें। वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा आदि मेधावियों को वेद का ज्ञान प्राप्त कराते हैं, और उनके द्वारा गुरु-शिष्य परम्परा से हमें भी वे ज्ञान देते हैं। और अब भी हम अपनी बुद्धि को परिष्कृत करते हैं तो उस हृदयस्थ प्रभु से प्रकाश पाते हैं। हमें भी प्रकाश को प्राप्त कर औरों को प्रकाश देने का प्रयत्न करना चाहिए।

[**वेधसे**]=वे प्रभु [**वेधा**]=विधाता हैं, प्राणिमात्र का विशेष रूप से धारण कर रहे हैं। हमें भी यथासम्भव इस दिशा में प्रयत्न करना ही चाहिए।

इस प्रकार प्रभु के लिए विशेष रूप से स्तुति वचनों को धारण करने वाला व्यक्ति 'गाथिनः' कहलाता है, यह सदा उसी का गायन करता है। प्राणिमात्र में प्रभु का ध्यान करता हुआ यह सभी का मित्र 'विश्वामित्र' होता है। इसका सभी के साथ स्नेह ही स्नेह होता है, यह द्वेष को अपने अन्दर नहीं आने देता।

भावार्थ—प्रभु के नाम का जप करो। यह तुम्हारा पालन, पूरण व वृद्धि करने वाला होगा।

प्रार्थबा-त्रयी

२ ३ १ २ ३ १२३ १ २
अग्ने वाजस्य गामत ईशानः सहसा यहो।
१ २ २ ३ २ ३ १ २
अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ॥३॥६९॥

पहली प्रार्थना

[अग्ने!]=ऐ आगे ले चलने वाले प्रभो! आप [**गोमतः**! =प्रशस्त इन्द्रियों वाले (प्रशंसायां-मतुप्) [**वाजस्य**]=बल को [**अस्मे**]=हम देहि =दोजिए। आप [**ईशानः**]=स्वामी हैं। इन शब्दों में यह पहली प्रार्थना है कि हम शक्तिशाली हों, और शक्तिशाली होकर इन्द्रियों का वश में रखते हुए उन्हें निर्मल बनाये रखें। शक्ति ही न हो, और शक्ति के अभाव में इन्द्रियां शान्त बनी रहें, यह वैदिक आदर्श नहीं। 'समुद्र सूखा हो, और सूखा होने से उसमें तरंगे न उठें' यह कोई वांछनीय वस्तु नहीं। एवं शक्ति और शक्ति के साथ प्रशस्तेन्द्रियता सबसे प्रथम वांछनीय वस्तु है। इसके लिए जहां सौम्य भोजन व सौम्य व्यायाम (भ्रमण, तैरना, आसन, आदि) उपयोगी हैं, वहाँ 'अग्ने' और 'ईशान' शब्द भी आवश्यक संकेत कर रहे हैं। हमारे सामने आगे बढ़ने का लक्ष्य हो, सर्वोपरि स्थान पर पहुंचने का हमारा ध्येय हो तथा साथ ही हम यह ध्यान रखें कि हमें 'ईशान' बनना है न कि गुलाम। इन्द्रियों का दास बन कर हम कभी अग्र स्थान पर पहुँच नहीं सकते। सदा हमारा यही जप हो की 'आगे बढ़ना है, ईशान बनना है।' यह जप हमें धर्म के मार्ग पर चलने में सहायक होगा। हमारी शक्ति हमें असंयमी न बनने देगी।

द्वितीय प्रार्थना

['**यहो**'] ऐ महान् प्रभो! [**अस्मे**]=हमें [**सहसः**]=सहन शक्ति को [**देहि**] दीजिए। हमारे में सहिष्णुता हो। छोटी-छोटी बातों से हम क्षुब्ध न हो जाएँ। 'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि' मन्त्र में समाप्ति 'सहस्' पर ही है। यह सहस् ही आनन्द-मय कोश को शक्ति है। इसके बिना मेरा जीवन आनन्दमय हो ही नहीं सकता। सहस् के होने पर प्रायः सब सामाजिक व पारिवारिक झगड़ों का अन्त हो जाता है।

इस सहिष्णुता के लिए 'यहो' शब्द ही हमें संकेत दे रहा है कि हम महान् बनें। महान् बनने पर ही हमारे अन्दर सहनशक्ति की भावना जागेगी। 'अपमान के बदले अपमान करने पर उतारू हो जाना' हमें छुटपन प्रतीत होगा।

तृतीय प्रार्थना

ऐ [**जातवेदः**]=सर्वज्ञ प्रभो! [**अस्मे**]=हमें [**महि**]=महनीय प्रशंसनीय [**श्रवः**]=उत्तम ज्ञान [देहि]=प्राप्त कराइए। हमारा कोई भी कर्म निन्दनीय न हो। वस्तुत ज्यों-ज्यों हम अपना ज्ञान बढ़ायेंगे त्यों-त्यों हमारे कर्म प्रशस्त होते जायेंगे। ज्ञानाग्नि हमारे कर्मों को उसी प्रकार उज्ज्वल कर देगो जिस प्रकार सोने को अग्नि। 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'=ज्ञान के समान पवित्र करने वाली वस्तु नहीं है।

इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाने वाला व्यक्ति इस मन्त्र का ऋषि 'गोतम' कहलाता है। यह भोगों को छोड़ता है, क्रोध को छोड़ता है, निन्द्य कर्मों को छोड़ता है। इस प्रकार छोड़ने वालों में श्रेष्ठ स्थान में गिना जाकर यह 'राहूगण' कहलाता है।

भावार्थ—हम भोगों को छोड़ें, असहिष्णुता को छोड़ें और निन्द्य कर्मों का त्याग करें।

दैवी-सम्पत्-त्रयी

२ ३ १ २　　३२ ३ १　२ ३ १ २
अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान् देवयते यज ।
१ २ ३ १र　२र ३ २ ३ १ २
होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥४॥१००॥

संसार में बालक के निर्माण में माता, पिता, आचार्य व अतिथि सभी की देन होती है। ये सभी अपने-अपने समय पर उत्तम प्रेरणायें देकर व सुविधायें प्राप्त करा के बालक को उत्तम मार्ग पर ले चलने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। पर इन सबकी अपनी-अपनी न्यूनतायें व सीमायें (limitations) होती हैं और उनके कारण इनके प्रयत्नों में कमियां रह जाती हैं। पूर्ण निःस्वार्थ तो प्रभु ही हैं, और वे सदा हृदयस्थ रूप से हमें उत्तम कार्यों में लगने की प्रेरणा दिया करते हैं। मंत्र में जीव कहता है कि ऐ [**अग्ने**]=आगे ले चलने वाले प्रभो [**अध्वरे**]=हिंसारहित यज्ञरूप उत्तम कर्मों में [**यजिष्ठः**]=सर्वोत्तम संगत करने वाले तो आप ही हो।

परन्तु प्रभु भी उसी को उत्तम मार्ग पर ले चल सकते हैं जो स्वयं दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामना वाला हो। प्रभु का द्वार तो खुलेगा, पर जीव को थपथपाना तो होगा। वैद्य रोगी की चिकित्सा कर पाएगा यदि रोगी पथ्यादि सेवन से कुछ अनुकूलता उत्पन्न करेगा। आचार्य विद्यार्थी को योग्य बनायेगा, यदि विद्यार्थी में ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रबल कामना व पुरुषार्थ होगा। प्रभु की कृपा रूपी वायु हमारी मन रूप नाव को चलाएगी तो सही पर हमें नाव के बादवानों को खोलना होगा। इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि [**देवयते**]=दिव्य गुणों को अपनाने की कामना वाले मेरे लिए आप [**देवान्**]=दिव्यगुणों को यज=संगत कराइए

जीव की उपरोक्त प्रार्थना को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं कि [**होता**]=तू दानपूर्वक अदन (भक्षण) करने वाला बन। तू सदा यज्ञशेष का है। इस अमृत के ही सेवन करने वाला हो। यही तेरे लिए 'अमृत' है। इस अमृत के सेवन से सब अशुभ वृत्तियां तेरे में मृत हो जाएंगी।

[**मन्द्र**]:=तेरी मनोवृत्ति सदा प्रसन्नता वाली हो। मनःप्रसाद ही सर्वोत्तम तप है। होता बनने से तू मन्द्र भी बन पाएगा। तुझे कभी आत्मग्लानि उत्पन्न न होगी कि 'मेरा जीवन तो पशुओं की तरह खाने, पीने, सोने में समाप्त हुआ जा रहा है।' तेरे चेहरे पर कभी क्रोध न हो, तेरे से प्रसाद का प्रवाह चारों ओर प्रवाहित हो।

['**स्रिधः**']=हानि पहुँचाने की भावनाओं से (स्रिध् to injure) तेरा जीवन अति=परे हो। इन भावनाओं को तू लांघ चुका हो, इनसे तू ऊपर उठ चुका हो। कोई मेरा अपमान करे, तुझे हानि पहुंचाये, उसके लिए भी तेरी मंगल कामना हो। तू सभी को अपने परमपिता प्रभु का पुत्र समझता हुआ द्वेष से शून्य हो। संक्षेप में तू सभी के साथ स्नेह करने वाला इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन। तभी यह दानशीलता, सदा-प्रसन्नता तथा अहिंसकता रूप सम्पत्-त्रयी तुझे प्राप्त होगी। और 'विराजसि' तू इस संसार के अन्दर विशेष रूप से शोभा वाला होगा। तेरा जीवन चमक उठेगा।

भावार्थ—हम होता बनें, सदा सब स्थितियों में प्रसन्न रहें और अपकारी को भी हानि पहुंचाने में की भावना को अपने से दूर रखें।

क्या मांगें ?

३　२ ३ २　३ १ २ ३ १र　२र　　३ २
जज्ञानः सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये ।
३ २ ३ १ २ ३　१ २ ३　२
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा ॥५॥१०१॥

सात मातायें

योगदर्शन में योग-मार्ग आठ मञ्जिलों वाला है आठवीं मञ्जिल समाधि है [जिसमें प्रभु का साक्षात्कार हो जाना है। उससे पहले ७ मञ्जिलें हैं] जिनको हम साधना का नाम दे सकते हैं। ये सातों मानव जीवन को स्वस्थ, सबल, सुन्दर व सुप्रज्ञ बना कर बड़ा उत्तम बना

देती हैं। इस निर्माण के कारण इन्हें यहाँ मन्त्र में 'सप्त मातरः' शब्द से स्मरण किया है। इन सात मंजिलों को पार कर मनुष्य प्रभु का साक्षात् कर पाता है। मन्त्र में कहा है कि 'सप्त मातृभिः' योग की इन सात (यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान) मंजिलों द्वारा [**जज्ञानः**]=वह प्रभु तुम्हारे सामने प्रादुर्भूत हुए हैं (जनी प्रादुर्भावे)।

मेधा की याचना

'प्रभु से जीव क्या याचना करे?' याचना करने की चीजें हजारों हो सकती हैं 'प्रजा, पशु, आयु, प्राण, द्रविण, कीर्ति' एक-एक चीज मनुष्य के लिये आकर्षण रखती है। वेद कहता है कि [**श्रिये**]= अपने जीवन को सम्पन्न बनाने के लिए [**'मेधाम्'**] =मेधा बुद्धि को [**आशासत**]=मांगो। श्री शब्द 'धर्म, अर्थ, काम' तीनों पुरुषार्थों को एक शब्द से कहने के लिए प्रयुक्त होता है। यदि मनुष्य यह चाहता हो कि उसके जीवन में धर्म, अर्थ, काम तीनों का सुन्दर समन्वय हो तो वह मेधा का याचना करे। मेधाबुद्धि के अभाव में ठीक सोचने की शक्ति न होने पर मनुष्य इन तीनों का आनुपातिक सेवन नहीं कर पाता। वह या तो कामासक्त हो जाता है या धन के लिए राग वाला होकर प्रतिक्षण भगदौड़ में रहता है और ज़रा अच्छा झुकाव हुआ तो सारा समय मन्दिर में बिता अपने अन्य गृह कर्तव्यों को उपेक्षा कर जाता है। मेधा उसे कहीं भी आसक्त न होने देती हुई, धर्म अर्थ काम इन सभी पुरुषार्थों की श्री से सम्पन्न कर देती है। सो मेधा की याचना ही ठीक है।

'प्रभु का दर्शन होने पर मेधा को ही मांगना है' ऐसा हम निश्चय करें। कहीं ऐसा न हो कि उस विस्मय में हमें कुछ सूझे ही नहीं, या हम कुछ गलत वस्तु मांग बैठें। अयं=यह प्रभु तो रयीणां सब प्रकार की सम्पत्तियों का ध्रुवः=अवधिभूत स्थान हैं—पवित्र पात्र हैं। ऐसा ही वह प्रभु **आ**= सर्वत्र [**चिकेतत्**]=जाना गया है। उन सम्पत्तियों में सात्विक राजस तामस सभी सम्पत्तियों का समावेश है। हम इस बात का ध्यान करें कि हम कुम्भकर्ण की तरह 'निद्रा' रूप तामस सम्पत्ति को अथवा रावण की तरह 'देवदानवादि सभी से अवध्यता' रूप राजस सम्पत्ति को न मांग बैठें। हम विभीषण की तरह 'धर्म में स्थिर बुद्धि' को ही चाहें। हमारी याचना सात्विक सम्पत्ति के लिए हो। यह सर्वोत्तम सात्विक सम्पत्ति ही 'मेधा' है। इसके होने पर कुछ भी अप्राप्य न रहेगा। प्रभु को पा लेंगे, तो प्रकृति तो मिली मिलाई ही होगी। इस प्रकार हम प्राप्त करने वालों में श्रेष्ठ इस मन्त्र के ऋषि 'आप्त्य' होंगे और संसार सागर को तैरने वालों में उत्तम होकर तीर्णतम= त्रित कहलायेंगे।

भावार्थ—योग की सात भूमिकाओं से उस प्रभु का दर्शन करें और सदा मेधा की कामना करें।

मेधा के साथ मननशीलता

३२उ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्या गमत् ।
१र २र ३ १ २ ३ २ १ १ २
सा शन्ताता मयस्करदप स्रिधः । ६।।१०२।।

उतः=और [**नः**]=हमें [**स्या**]=वह मतिः= विचारशीलता आगमत्=प्राप्त हो, जो कि प्राप्त हो कर [**ऊत्यै**]=रक्षा के लिए होती है। नीति के ग्रन्थों में हमारे सब अनर्थों के चार कारणों की कल्पना की गई है—"यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व और चौथी अविवेकिता=अविचारशीलता"। इनमें पहले तीन कारण स्वयं अनर्थ के कारण न होकर अविचारशीलता के द्वारा ही अनर्थ के कारण हैं। यौवन धन और प्रभुत्व मनुष्य को अविचारशील बनाते हैं और अविचारशीलता अनर्थ का कारण हुआ करती है। "अविवेकः परमापदां पदम्" अविवेक सब आपत्तियों का आधार है। जब मनुष्य विचार कर कार्य करता है तो शुभ को ही प्राप्त होता है। मनुष्य तो है ही वह जो "मत्वा कर्माणि सीव्यति" =विचार कर कर्मों को करता है। विचारने पर

हमारे कार्य युक्त=आनुपातिक होते हैं, और अतएव दुःखद नहीं होते। एवं विचारशीलता हमें दुःखों से रक्षित करती है।

यह **मति**=विचारशीलता **दिवा**=दिन के समान प्रकाशमय (as bright asday) है। इस प्रकाश में हमें अपने कर्तव्य का मार्ग स्पष्ट दीखता है। [**अदितिः**]=यह विचारशीलता अखंडन=अहिंसा का कारण है। इससे हमारी हिंसा नहीं होती। मार्ग अन्धकारमय न होने से हमें ठोकर नहीं लगती।

हमारा मार्ग प्रकाशमय होता है, हमें अपना कर्तव्य स्पष्ट दिखता है और अपने कर्तव्य को ठीक प्रकार से करते हुए हमें सच्ची शान्ति प्राप्त होती है [**सा**]=वह [**मतिः**]=विचारशीलता [**शन्ताता**]=शान्ति का विस्तार करने वाली होती है। मन में शान्ति के कारण सारा नाड़ीसंस्थान ठीक कार्य करता है और हमारा शरीर नीरोग व सुखी होता है। सो यह मति शान्ति के विस्तार के द्वारा [**मयः**]=सुख को [**करत्**]=करती है। इस विचारशीलता के होने पर हम बदले की भावना से दूर हो जाते हैं और यह मति हमें [**स्रिधः**]=हानि पहुँचाने की वृत्तियों से [**अप**]=दूर करती है। थोड़ा सा भी विचार हमें इसी परिणाम पर पहुँचाता है कि इस बदले लेने के क्रम का कहीं अन्त नहीं। द्रुपद द्रोण का अपमान करता है, और जब द्रोण बदले की भावना से प्रेरित होकर द्रुपद को अपमानित करता है तो द्रुपद द्रोणहन्ता पुत्र के लिये प्रभु की आराधना करता है और जब धृष्टद्युम्न द्रोण को मारता हैं तो अश्वत्थामा सोते हुए धृष्टद्युम्न का कत्ल करता है। तब द्रौपदी अश्वत्थामा के सिर की मणि को देख कर ही कुछ ठण्डी होती है और वह अश्वत्थामा बदले की भावना में पागल हुआ अब भी फिरता है, वह पागल सा हो गया है। बस, अविचारशीलता मनुष्य को इसी प्रकार पागल किये रखती है। विचारने पर मनुष्य इससे ऊपर उठता है, और शान्ति व सुख को प्राप्त करता है। बदला तो क्या लेना, उसका हृदय इन अविचारशील लोगों के लिए करुणा से आर्द्र होता है। सभी महापुरुषों ने अपना अन्त करने वालों के शुभ की ही कामना की। इनका विठ=हृदयान्तरिक्ष इरि=दया के जल से आर्द्र होता है, सो ये "इरिम्बिठि" कहलाते हैं और इस मन्त्र के ऋषि होते हैं।

भावार्थ—हम विचारशील बनें ताकि शान्ति व सुख का लाभ करते हुए घृणा की वृत्ति से सदा दूर रहें।

पूजा, सम्पर्क, समर्पण

१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
ईडिष्वा हि प्रतीव्यां३ यजस्व जातवेदसम्
३ १ २ ३ १ २
चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम् ॥७॥१०३॥

जीव कितना ही प्रयत्न करे, वह अपने को काम क्रोधादि के विजय में असमर्थ पाता है। सो मंत्र में कहते हैं कि [**हि**]=निश्चय से [**प्रतीव्यं**] (प्रति+वी)=कामादि प्रतिकूल शत्रुओं के प्रति जानेवाले, अर्थात् उन पर आक्रमण करने वाले प्रभु की [**ईडिष्वा**]=स्तुति कर। वे प्रभु ही 'स्मरहर' हैं—इनका मादि का तेरे लिये हरण करने वाले है। हृदयमें इस स्मरहर का स्मरण होने पर वहां 'स्मर' का संभव ही कैसे हो सकता है! और प्रभु की उपस्थिति में ये सांसारिक आनन्द की वस्तुएं तुच्छ प्रतीत होने लगती हैं।

ऐ जीव! तू [**जातवेदसम्**]=(जातं जातं वेत्ति) उस सर्वज्ञ प्रभु की यजस्व पूजा कर। उसी की तरह सर्वज्ञकल्प बनने का प्रयत्न कर। जितना-जितना तेरा ज्ञान बढ़ता जाएगा उतना-उतना तू इन वासनाओं से ऊपर उठता जाएगा।

वह प्रभु [**चरिष्णुधूमम्**]=क्रिया के स्वभाव वाले और (चर्+इष्णु 'ताच्छील्य अर्थ में') अतएव धूम (धू कम्पने) सब बुराईयों को कम्पित कर दूर करने वाले हैं। उस प्रभु के साथ **यजस्व**=अपना सम्पर्क स्थिर रखने वाला बन। तू भी उसी की तरह स्वाभाविक रूप से क्रियाशील बन जा और इस प्रकार तू इन भावनाओं को अपने से कम्पित करने वाला बन सकेगा। आलस्य के साथ

वासनाओं का साहचर्य है। प्रभु का सम्पर्क तुझे उस के शक्ति प्रवाह से शक्तिमान् बना देगा और अनथक रूप से क्रिया को करने वाला तू कभी इन वासनाओं का शिकार न होगा।

पौराणिक शब्दमाला के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा की ज्योति तो कभी राहु से आक्रान्त हो जाती है, पर ये प्रभु [**'अगृभीतशोचिषम्'**]=सदा अनाक्रान्त ज्योति वाले हैं, । इनकी दीप्ति मलिनता से ग्रस्त नहीं होती। वे सर्वदा शुचि ही शुचि हैं—निर्मल है। ऐ जीव! तू भी इन निर्मल प्रभु के प्रति **यजस्व**=अपना दान 'अर्पण' कर दे। तू भी उसी की तरह निर्मल बन जाएगा। इस प्रकार उस सर्वज्ञ प्रभु की पूजा करके-कर्ममय वासनाओं से अनाक्रान्त प्रभु के साथ अपना सम्पर्क बना के-आज उस मलिनताओं से अग्रस्त दीप्ति वाले प्रभु के प्रति अर्पण द्वारा तेरा यह यज्ञ पूर्ण होगा। देवपूजा, संगतिकरण और दान=समर्पण ही में यज्ञ निहित है। यज्ञ करने वाले जीव का जीवन यज्ञिय-पवित्र हो जाएगा और यह सचमुच वैयश्व =व्यश्व (वि=विशिष्ट, अश्व=इन्द्रिय) का सन्तान, अत्यन्त उत्तम इन्द्रियों वाला, होगा। इसका मन काम क्रोधादि की भावनाओं से दूर होने के कारण सबके प्रति प्रेम वाला होकर विश्वव्यापक असंकुचित होगा और यह इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वमनाः' बनेगा।

भावार्थ—हम उस सर्वज्ञ पूर्ण-प्रज्ञ प्रभु की पूजा करें। स्वाभाविक क्रिया वाले प्रभु के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ें और सदा पवित्र उस प्रभ के चरणों में अपना अर्पण कर दें।

हम विश्वमना वैयश्व बनें

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
न तस्य मायया च न रिपुरोशीत मर्त्यः।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥८॥१०४॥

[**य**]:=जो [**अग्नये**]=अग्रगति के साधक तथा [**हव्यदातये**]=(हव्यानां दातिर्दानं येन तस्मै) उत्तमपदार्थों के देने वाले प्रभु के लिए [**ददाश**] अपने को दे डालता है, अपना समर्पण कर देता है। [**तस्य**] उसका **रिपुः**]=(to rip open) नाश कर देने वाला [**मर्त्यः**]=यह मार=काम [**मायया**] =अपनी पूरी माया के द्वारा [**चन**]=भी [**न**]= नहीं [**ईशीत**]=मालिक बन पाता।

इस संसार के अन्दर मनुष्य आता है, जरा भी समझ होने पर आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है परन्तु उसे कदम-कदम पर अनुभव होने लगता है कि कोई शक्ति उसे आगे बढ़ने से रोक देती है। उस पर कोई विरोधी शक्ति गालिब हो जाती है और उसकी सारी उन्नति समाप्त हो जाती है। यह शक्ति ही यहाँ मन्त्र में 'रिपु' और 'मर्त्य' नामों से उल्लिखित हुई है। यही मनुष्य का शत्रु है—उसका शातन (नाश) करने वाली है। गीता में कृष्ण अर्जुन से इसी शत्रु का वर्णन इन शब्दों में करते हैं कि—

'महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्' =यह काम ही तेरा शत्रु (वैरी) है। यह मर्त्य है, मार है। अन्त में तेरी समाप्ति का कारण बनता है।

यह मारने की प्रक्रिया भी इसकी कितनी माया से भरी है! बड़े ही सुन्दर आकर्षक रूप से वह हमारी ओर आता है और फिर फूलों के धनुषबाण से हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियों पर एक साथ आक्रमण करता है। हमें पता भी नहीं लग पाता, पता लगने से पूर्व ही यह अपना काम बड़ी मधुरता से कर चुकता है। हमारे ज्ञान को नष्ट कर (मन्मथ) यह हमें अपना शिकार बना लेता है। इसकी माया से ऊपर उठना मनुष्य की शक्ति से बाहिर की बात है। बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी यह अपना शिकार बनाया करता है—सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या?

परन्तु जब मनुष्य प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर देता है तो फिर इसका काम कुछ वश नहीं चलता। यह स्मर है, तो प्रभु स्मर-हर हैं। मनुष्यों के ज्ञानदीप को यह काम बुझा देता है, तो प्रभु की ज्ञानाग्नि में यह स्वयं भस्म हो जाता है। मनुष्य के हृदय में प्रभु का स्मरण होते ही इस

काम की इति-श्री हो जाती है । मनुष्य पर इसकी माया प्रबल थी, पर प्रभु की तो माया दासी ही है । मनुष्य के लिए शेर के समान भयंकर थी, तो प्रभु का तो वाहन ही है । इस प्रकार प्रभु स्मरण से काम के समाप्त होने पर मनुष्य की वास्तविक उन्नति प्रारम्भ होती है । इसीलिए मन्त्र में प्रभु को 'अग्नि' कहा है—वे हमें आगे ले चलने वाले हैं । अब हम आत्मिक उन्नति के मार्ग पर निर्विघ्न हो आगे बढ़ पाते हैं । सांसारिक दृष्टिकोण से भी यह प्रभु का स्मरण घाटे का व्यापार नहीं । वे प्रभु सब प्राप्तव्य पदार्थों के देने वाले हैं । जो-जो वस्तु हमारे लिए उपयोगी है, वह हमें प्राप्त होगी । हमें तो उचित पुरुषार्थ करते चलने का ध्यान करना है । हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान प्रभु स्वयं करेंगे । वे 'हव्यदाति' हैं ।

इस प्रकार काम के नाश से 'हमारे अन्दर प्रेम का तत्व समाप्त हो जाता हो' यह बात नहीं । यह प्रेम संकुचित न रह कर व्यापक हो जाता है, हम सभी के प्रति प्रेम वाले हो जाते हैं, इस मन्त्र के ऋषि 'विश्वमनाः' बन जाते हैं । अब हमारे ज्ञानेन्द्रिय रूपी घोड़े हीनमार्ग पर न जाने वाले होकर उत्कृष्ट मार्ग पर जाते हैं । यह सामान्य घोड़े न रह कर विशिष्ट स्थिति वाले होते हैं । इनके स्वामी हम 'वैयश्व' बन जाते हैं—विशिष्ट अश्वों वाले ।

भावार्थ—प्रभु के प्रति समर्पण द्वारा हम 'विश्वमना वैयश्व' बनें ।

दूर से दूर फेंकिये (सात समुद्र पार)

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।
१ २ ३ २ ३ १
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ।।९।१०५।।

ऐ [**सत्पते**]=सज्जनों के रक्षक [**सुगम्**]=हमारे मार्ग को सुगमता से जाने योग्य सरल [**कृधि**]=करिये । मन्त्र के इन शब्दों में हम सब का एक अनुभव ध्वनित हो रहा है, और वह यह कि हम सब कभी न कभी उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ चलने का संकल्प अवश्य करते हैं, उस मार्ग पर चल भी पड़ते हैं । परन्तु उस पर चलना 'क्षुरस्य-धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' सचमुच छुरे की तेज धार के समान कठिन प्रतीत होता है और हम फिर-फिर रुक जाया करते हैं । कोई चीज हमारे आगे बढ़ने में एक अलंघ्य विघ्न के रूप में आ जाती है और हमारे आगे बढ़ने को असंभव कर देती है । तब हम प्रभु से आराधना करते हैं कि [**दविष्ठम्**]=दूर से दूर (बहुत दूर) [**अस्य**]=इसको फेंकिये । यह बारम्बार लौट कर हमारे मार्ग को दुर्ग न बनाती रहे । फिर-फिर हम इससे आहत न होते रहें । स्पष्ट है कि यह मार्ग का विघ्न बड़ा धृष्ट (हठी obstinate) है, इसे हम परे फेंक भी दें, यह फिर आ जाता है । सो हार कर हम प्रभु से कहते हैं कि आप इसे दूर से दूर (सात समुद्र पार) फेंकिये ताकि यह फिर न लौट आये ।

इस विघ्न का चित्रण ही 'वृजिनं, रिपुँ, स्तेनं व दुराध्यम्' इन चार शब्दों से हुआ है । यह विघ्न रूप वासना (काम) [**वृजिनं**]=वर्जनीय (वृजी वर्जने) है । इसकी आकृति अत्यन्त सुन्दर है, वस्तुतः सब देवों में सर्वाधिक सुन्दर 'काम' ही है । यह अत्यन्त कान्त है । इसके धनुष-बाण आदि सभी फूलों के बने हैं—वे वास्तव में हमारे लिये उन्मादन तापन शोषण स्तम्भन व संमोहन (maddening, distressing. emaciating, stupefying, and infatuating, making foolish) हो जाते हैं । काम किस को वशीभूत नहीं कर लेता ? पर इसका यह सौन्दर्य हमारे लिये विनाशक है और अतएव त्याज्य है । यह सुन्दराकृति सर्प के समान है, जो विषमय होने से बच के चलने योग्य है । हम इसके फन्दे में पड़ गये तो यह 'रिपु' है । हमारा विदारण करने वाला है । (Rip) यह हमें नष्ट-भ्रष्ट कर देगा । भोगों को हम भोगने लगें तो हम उनका शिकार हो जायेंगे । ये हमारी इन्द्रियशक्तियों

को जीर्ण कर देंगे (सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः)। इतना ही नहीं, यह स्तेन हैं। 'संस्त्यानमस्मिन् पापकम्' इसमें पाप घनीभूत होकर रह रहा है। इसके वशीभूत होते ही हमारा जीवन पापमय हो जाएगा। गीता में इसे 'महाशनो महापाप्मा' कहा है। इसके वश होकर मनुष्य कितने कत्ल तक कर डालता है।

यह सब कुछ होते हुए यह 'दुराध्य' है, 'दुःखेन वशोकर्तुं योग्यम्' (दयानन्द) इसका वश में करना बड़ा कठिन है। अर्जुन के शब्दों में 'वायोरिव सुदुष्करम्'=मुट्ठी में वायु को काबू करने के समान इसका काबू करना असंभव सा है। और इसको दूर किये बिना आगे बढ़ना संभव नहीं। सो हम प्रभु से कहते हैं कि [**त्यं**] = इस प्रसिद्ध वासना रूप शत्रु को 'अप-अस्य' हमारे से दूर फेंकिये (असु. क्षेपणे) ताकि हम आगे बढ़ सकें। ऐ प्रभो! आप [**अग्ने**] = हमें आगे ले चलनेवाले हैं। हम स्वयं आगे क्या बढ़ पायेंगे? आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर मैं 'भारद्वाज बनूंगा और तभी सरलता से अपने मार्ग पर आगे बढ़ने वाला 'ऋजिश्वा' (ऋजु सरल, श्वि—गति) हो सकूंगा।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम 'ऋजिश्वा भारद्वाज' बन पायें।

तप से राक्षसों का दहन

३क२र३ १ २ ३ १ २
श्रुष्टचग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥१०॥१०६॥

[**अग्ने**]=ऐ आगे ले चलने वाले प्रभो! [**वीर**] = काम-क्रोधादि अमित्रों को ममाप्त करने वाले, और इस प्रकार [**विश्पते**]=प्रजाओं की रक्षा करने वाले प्रभो! यहां मन्त्र में इन तीन शब्दों से प्रभु को स्मरण किया गया है। वे प्रभु ही हमें उन्नति पथ पर आगे ले चलते हैं। उन्नति के विघातक काम-क्रोधादि शत्रुओं को वे समाप्त करते हैं और इस प्रकार वे सब प्रजाओं की रक्षा करते हैं। प्रभु के इस रक्षण के अभाव में मनुष्य काम क्रोध आदि का शिकार हो जाता है।

इस प्रभु से जीव-याचना (आराधना) करता है कि [**मे**]=मेरे [**नवस्य**]=(नव् गतौ) क्रियामय [**स्तोमस्य**]=स्तुति समूह को [**श्रुष्टो**]= सुनिये (सायण)। प्रभु यान्त्रिक कीर्तन को नहीं सुनते, वह संकीर्तन प्रभु आराधना के लिए क्षम नहीं। प्रभु की अर्चना तो 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' कर्मों के द्वारा होती है। यदि हम सकामता से ऊपर उठ अपने नियत कर्म को कर्तव्य बुद्धि से करते हैं तो हम प्रभु की आराधना कर रहे होते हैं। यहां मन्त्र में इस भावना को नवस्य शब्द से व्यक्त किया है=स्तुति नव अर्थात् क्रियामय हो केवल शाब्दिक स्तुति की प्रभु को आवश्यकता नहीं। उससे हम उन्हें आराधित नहीं कर सकते।

इस क्रियामय स्तुति का रूप ही मन्त्र के उत्तरार्ध में व्यक्त हुआ है। प्रभु जीव से कहते हैं कि तू [**मायिनः**]=इन मायावी [**रक्षसः**]=राक्षसी वृत्तियों को [**तपसा**]=तप के द्वारा [**निदह**]= नितरां भस्म कर डाल। ये काम-क्रोधादि वासनायें मायावी हैं। ऊपर से इनका स्वरूप कुछ और है, अन्दर से कुछ और। 'काम' देवों में सब से अधिक सुन्दर है, मधुर है। पर परिणाम में वह मार= पातक है। यही इसका मायावीपन है कि प्रतीत कुछ और होता है, है कुछ और। मारीच अपने मायावी रूप से राम को भी हर ले जाता है, सीता के मन को तो यह अत्यन्त ही मुग्ध कर लेता है। मायावी कामादि रक्षस् हैं। रमण के द्वारा हमारा क्षय करने वाले हैं। हमें प्रतीत ऐसा होता है कि हम आनन्द प्राप्त कर रहे हैं परन्तु उसी आनन्दोपभोग में हमारे क्षय का बीज निहित होता है। इसी लिये इनका नाम र (रमण)+क्षस् (क्षय) है।

इन मायावी कामादि का नाश तपसे होता है। तित्तिरि ऋषि के शब्दों में तप का अभिप्राय 'ऋत, सत्य, श्रुत, शान्त और दम' है। नियमित जीवन, सत्य पालन, शास्त्र श्रवण, यथासम्भव शान्ति इन्द्रियों का दमन यही तप है। जो अपने जीवन को

इस तप से युक्त करने के लिए प्रयत्नशील होगा, वह इन राक्षसी वृत्तियों का दहन करके 'विश्वमनाः' व्यापक उदार मन वाला बनेगा और विशिष्ट इन्द्रिय रूप अश्वों वाला होने से 'वैयश्व' होगा।

भावार्थ—हमारी स्तुति क्रियामय हो, और हम तप से राक्षसी वृत्तियों का दहन करें।

● ● ●

॥ २ ॥ ऋषिः—१ प्रयोगो भार्गवः; २, ३, ५-७ सौभरिः; ४ प्रयोगो भार्गवः, सौभरिः काण्वो वा; ८ विश्वमनाः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः - ककुबुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

यथाविधि उपासना

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १
प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्र-
२ ३ १ २ ३ १ २
शोचिषे । उपस्तुतासो अग्नये ॥१॥१०७।

यह मन्त्र 'प्रयोग भार्गव, ऋषि का है। प्रयोग शब्द का अर्थ है 'जो क्रिया में लाता है'। यहां स्तुति का प्रकरण है, सो प्रयोग क्रियात्मक स्तुति के पक्ष में है। प्रयोग का अर्थ यह भी हो सकता है कि जो प्रकृष्ट संपर्क वाला है। हम अपने सन्तानों के इधर-उधर सन्बन्ध करते समय अवश्य ध्यान रखते हैं कि कुल ऊँचा हो परन्तु अपना सम्बन्ध जोड़ते समय हमें यह ध्यान नहीं रहता और हम प्रायः प्रभु को छोड़ प्रकृति से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं यह प्रयोग कभी ऐसी गलती नहीं करता। वह भार्गव है–भृगुपुत्र है उसने तपस्या के द्वारा अपने जीवन का बड़ा सुन्दर परिपाक किया है (भ्रस्ज् पाके)।

यह प्रयोग अपने साथियों से कहता है कि ऐ [**उपस्तुतासः**]=उपासको ! [**प्रगायत**]=खूब गान करो। किसका ? उस प्रभु का जो कि (१) [**मंहिष्ठाय**] (२) **ऋताव्ने** (३) [**बृहते**] (४) [**शुक्रशोचिषे**] (५) [**अग्नये**]—इन शब्दों से सूचित हो रहा है। यह सिद्धान्त है कि जिस रूप में प्रभु की उपासना करेंगे हम वैसे ही बन जायेंगे। सो प्रभु को निम्न ५ रूपों में हम स्मरण करें :—

(१) [**मंहिष्ठाय प्रगायत**]=उस प्रभु के लिये स्तुति करो जोकि 'दातृतम' है (मंह्=दानकर्मा)। जिसने सब कुछ जीवों के हित के लिये दिया हुआ है। प्रभु सब से महान् दाता हैं। इतने महान् कि उनकी अपनी आवश्यकता है ही नहीं। हम भी अपनी आवश्यकतायें न्यून और न्यून करते हुए अधिक से अधिक दानी बनने का प्रयत्न करें। वैदिक सभ्यता इसी दृष्टिकोण से आवश्यकताओं की कमी पर बल देती है।

(२) [**ऋताव्ने**—ऋत]=ठीक के अवन= रक्षण करने वाले प्रभु का गान करो। प्रभु की पूर्ण आधीनता में चलने वाली प्रकृति में सब चीज ठीक समय पर होती हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र ठीक समय पर प्रकट होते हैं। हम भी यथासंभव सब कार्य ठीक समय पर करने वाले बनें। विशेषत 'सोना, जागना तथा खाना' बिलकुल ही समय पर हो ताकि हम पूर्ण आयुष्य तक चल सकें।

(३) [**बृहते**]—वह प्रभु बृहत् हैं, महान् हैं। अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति'=अपने न मानने वालों को भी वे भोजनाच्छादनादि प्राप्त कराते ही हैं। हम भी महान् बनें। हमारे विशाल हृदय में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना हो।

(४) [**शुक्रशोचिषे**]=दीप्त ज्योति वाले प्रभु का गान करो। प्रभु का ज्ञान निर्मल निर्भ्रान्त

देदीप्यमान है। हम भी अपने ज्ञान को दीप्त करने के लिये सतत प्रयत्न करें। यह ज्ञान हमारे सब कर्मों को पवित्र करेगा।

(५) [**अग्नेय**]—अग्रस्थान पर स्थित प्रभु के लिये गान करो। 'तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' वे प्रभु तो अग्रस्थान पर स्थित हैं ही, मेरे भी जीवन का प्रतिदिन यही ध्येय हो कि 'आगे' और आगे'। यह ध्येय ही मुझे आलस्य व मार्गभ्रंश से बचायेगा।

भावार्थ--हम सब दाता, ऋत का पालन करने वाले, दीप्त ज्ञानी व आगे बढ़ने के ध्येय वाले बनें।

प्रभु मित्रता के तीन लाभ

१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति
१ २ २ ३ २ ३ १र २र
वाजकर्मभिः। यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥२॥
१०८॥

ऐ [**अग्ने**]=अग्रगति के साधक प्रभो! [**त्वं**] आप [**यस्य**]=जिसकी [**सख्यम्**]=भित्रता को [**आविथ**]=प्राप्त होते हो [**सः**]=वह [**तव**]=आपके [**ऊतिभिः**]=रक्षणों से [**तरति**]=तैर जाता है। यह संसार एक पथरीली तेज बहती हुई नदी के समान है। शतशः प्रलुब्ध करने वाले विषय ही इसमें नुकीले पत्थर हैं। वे जीव को अपनी ओर आकृष्ट कर उसमें वासना के बीज अंकुरित कर देते हैं। उपनिषद् के शब्दों में ये विषय 'ग्रह' हैं। यह मनुष्य को पकड़ लेते हैं और वह उनमें डूब जाता है। परन्तु प्रभु जिसके मित्र होते हैं उसे यह ग्रह पकड़ नहीं पाते, और वह सुरक्षित रूप से नदी के पार कल्याण स्थान में पहुंच जाता है।

परमेश्वर के संरक्षण कैसे हैं? इसका उत्तर 'सुवीराभिः' तथा 'वाजकर्मभिः' इन शब्दों से दिया गया है। ये रक्षण जिसे प्राप्त होते हैं उसे वे वीर बनाते हैं। उसमें कायरता नही होती। वास्तविकता यह है कि जो प्रकृति का मित्र बनता है वह उस प्रकृति के पाश में जकड़ा जाकर परिवर्तनमात्र से घबराता है। उसको कुछ मोह-निद्रा इस रूप में घेर लेती है कि वह हिताहित को सोच नहीं पाता और अपने शुभ को नहीं सोच सकता। वह जिस स्थिति में है उसी में बना रहना चाहता है। परिवर्तनों से उसको संपत्ति, जीवन तथा अपनी प्रतीयमान सुख-स्थिति नष्ट होती प्रतीत होती है। वह सदा वर्तमान स्थिति को स्थिर रखना चाहता है—परिवर्तन उसके लिये भयावह है।

इस कायर के कर्म शक्ति (वाज) वाले हो ही कैसे सकते हैं? इसकी मनोवृत्ति कुछ दासता की सी बन जाती है। यह संसार में खुशामद से भरे जीवन को बिताता है। इसका आत्म-सम्मान नष्ट हो चुका होता है। उसके शासनों में इतनी भी शक्ति नहीं होती कि उसके अपने सन्तान ठीक-ठीक उसका कहना मानें। इसके अन्य सब कर्म भी निर्बल होते हैं। उसकी जीवन नौका बहती चलती है, वह नदी की धारा को चीरकर उसे पार नहीं ले जाती। प्रभु के होते ही स्थिति बदल जाती है और वह शक्ति संपन्न हो पार हो जाता है।

एवं प्रभु मित्रता के तीन लाभ हैं–(क) संसार समुद्र में विषय-ग्रहों से जकड़े जाकर डूब न जाना, (ख) कायरता से दूर होकर वीर बनना, तथा (ग) शक्तिशाली कर्मों वाला होना।

प्रभु मित्रता का अभिप्राय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र के ऋषि के नाम में उपलभ्य है। मंत्र का ऋषि है "सौभरि काण्व"—कण्वपुत्र अर्थात् अत्यन्त मेधावी, सुभर=सन्तान का उत्तम प्रकार से पालन-पोषण करने वाला। मेधावी होने से वह इस तत्व को समझ लेता है कि 'भोजन' (भुज=पालनाभ्यवहारयोः) पालन के लिए खाने का नाम है। उसका वह उतना ही प्रयोग करता है जितना शरीर रक्षा के लिए आवश्यक है। सबसे बड़ी मूर्खता यही है कि जीवन को खाने के लिये समझ लेना। बस, तभी मनुष्य भोगों में फंस जाया

करता है और अपनी शक्तियों को जीर्ण कर निर्बल बन जाता है। उसके सभी कर्म शक्तिशून्य हो जाया करते हैं। हमें चाहिये कि हम इन भोगों का शिकार न बन प्रभु के मित्र बनें। तभी हम अपना ठीक भरण व पोषण कर पायेंगे।

भवार्थ—हम 'सौभरि काण्व' बनें। मेधावी बन कर 'जीवन के लिये खाना, न कि खाने के लिये जीना' इस महान् तत्व को व्यवहार में लायें।

स्वर्णर देव की उपासना

१ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दध-
३ २ ३ १ २
न्विरे। देवत्रा हव्यमूहिषे। ३॥१०६।

इस मन्त्र का ऋषि "सौभरि काण्व है"—यह कण्व पुत्र अर्थात् अत्यन्त मेधावी (कण्व=मेधावी) उत्तमप्रकार से अपना पालन करने वाला है। जीव स्वयं अपूर्ण होने से अपने पूरण के लिये प्रकृति या परमात्मा की अपेक्षा करता है। शरीरधारी जीव के वस्तुतः दो अंश हैं—(१) क्षरांश—शरीर (२) अक्षरांश—आत्मतत्व। सो इसे इन दोनों के पूरण के लिये क्रमशः प्रकृति व परमात्मा की आवश्यकता है। सामान्य मनुष्य केवल प्रक्रित की ओर झुक जाता है और कुछ शारीरिक भोगों व आनन्द को प्राप्त करने के साथ उन्हीं में उलझ कर अन्त में उनका शिकार हो जाता है। मन्त्र में कहते हैं कि [**तं**]=उस प्रभु की [**गूर्धया**]=अर्चना कर जो कि [**'स्वर्णरं'**]=स्वर्ग में सुखमय स्थिति में पहुंचाने वाला है प्रभु सुखमय स्थिति में किस प्रकार पहुंचाते हैं? इसका उत्तर मन्त्र में इस प्रकार दिया गया है कि [**देवासः**]=समझदार ज्ञानी लोग देवं उस दिव्यगुण परिपूर्ण [**अरतिं**]=विषयों में अरममाण प्रभु की [**दधन्विरे**]=उपासना करते हैं। अरममाण प्रभु के उपासक ये देव स्वयं भी अरममाण बनने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः शरीर के लिये इन भोगों का उपादान आवश्यक है इनमें फंस जाना हमारे अकल्याण का कारण होता है। यदि हम शरीर के लिये इनका सेवन करते रहें और 'अरति' परमात्मा की उपासना द्वारा इनमें फंसे नहीं तो ये भोग हमारे शारीरिक स्वास्थ्य का साधन बनते हुए आत्मिक पतन का कारण न बनेंगे। उस समय हमारा शरीर स्वस्थ होगा तथा आत्मा शान्त होगा। हम स्वर्ग में होंगे। सब कष्टों से ऊपर। भोगों में फंस जाने से हमारी आवश्यकतायें बढ़ जाती हैं, और हम उन्हीं के जुटाने में मर खप जाते हैं। उस समय हम लोक हित के लिये कुछ व्यय नहीं कर सकते। पर भोगों में न फंसने से [देव**त्रा**]=देवताओं में [**हव्यम्**]=देने योग्य पदार्थों को [**ऊहिषे**]=प्राप्त कराने के लिये हम समर्थ होते हैं।

इस प्रकार अरममाण प्रभु की उपासना के दो लाभ स्पष्ट हैं (१) भोगों में न फंस कर विविध रोगों का शिकार न होना तथा (२) देवों में हव्य पदार्थों को प्राप्त करा सकना। ये दोनों बातें क्रमशः वैयक्तिक व सामाजिक कल्याण के लिये आवश्यक हैं। उस समय मनुष्य स्वर्ग में स्थित होगा।

भावार्थ—अरममाण प्रभु की उपासना के द्वारा हम अपनी स्थिति को सुखमय बनायें।

हम अतिथि को क्रुद्ध न करें

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त
३ २ २ ३ १ २ ३ २
एषः। यः सुहोता स्वध्वरः ॥४॥११०॥

प्रभु अतिथि हैं। (१) अतिथि की तरह कभी-कभी हमें प्रभु का दर्शन होता है। (२) यह हमें स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले हैं। (३) अतिथि की तरह यह कहीं भी रम नहीं जाते। प्रभु अरति हैं। (४) वे सभी के हित के लिये सदा क्रियाशील हैं (अत् सातत्यगमने)। इन [**अतिथिम्**]=अतिथिप्रभु को [**नः**]=हमारे लिये [**माः**]=मत [**हृणीथाः**]=क्रुद्ध करो। हमारा सारा प्रयत्न ऐसा हो कि हम इस अतिथि की ठीक आराधना कर पायें—हमारा व्यवहार उसे अप्रसन्न करने

वाला न हो। जिस पुत्र का आचरण पिता के व्यवहार के अनुकूल न होकर विपरीत होता है। उससे पिता अप्रसन्न हो जाते हैं। हमारा व्यवहार उस परमपिता के अनुकूल न होगा तो क्या हम उन्हें अप्रसन्न न कर रहे होंगे? सो हमें चाहिये कि जैसे वे प्रभु 'वसु, अग्नि, पुरु, प्रशस्त, सुहोता और स्वध्वर' हैं, हम भी उसी प्रकार वसु बनने का प्रयत्न करें। वसु आदि बनने का अभिप्राय निम्न प्रकार है :—

(१) [**वसुः**]=(वासयति) बसाने वाला है। प्रभु सब के बसाने वाले हैं। हमारे प्रयत्न भी इसी दिशा में हों। हम औरों के उजाड़ने वाले न बनें।

(२) [**अग्निः**]=(अग्रे नीः) प्रभु स्वयं सर्वोच्च स्थान में स्थित (परमेष्ठी) हुए-हुए सब जीवों को आगे और आगे ले चलने के लिये प्रेरणा कर रहे हैं। हम भी अपने जीवन को ऊंचा बना कर औरों की उन्नति में सहायक हों।

(३) [**पुरु प्रशस्तः**]—प्रभु 'पुरु' हैं (पृ-पालनपूरणयोः) सब के पालक व पूरक हैं—कमियों को दूर करने वाले हैं। अतएव 'प्रशस्त' प्रशंसा के योग्य हैं। हमारा भी जीवन पालक व पूरक बन कर प्रशस्त (admirable) हो।

(४) [**यः सुहोता**]—हम किन प्रभु को क्रुद्ध न करें? [**यः**]=जो [**सुहोता**]=उत्तम दाता हैं (हु दाने)। प्रभु की अपनी आवश्यकतायें शून्य हैं—सो वह खूब देने वाले हैं—देने ही देने वाले हैं। हम भी अपनी आवश्यकताओं को कम और कम करते हुए देने वाले बनें, अपनी देने की क्षमता को बढ़ायें। सदा दानपूर्वक अदन (भक्षण) करने वाले बनें। दें, और बचे यज्ञशेष को ही खायें। यज्ञशेष ही तो अमृत है। यही तो 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः, का पाठ है।

(५) [**स्वध्वरः**]=(सु अध्वर, ध्वृ हिंसायाम्) वह प्रभु सर्वोत्तम अहिंसक हैं। हमारा जीवन का व्यवहार ऐसा हो कि वह औरों की किसी प्रकार की हिंसा व हानि करने वाला न हो अहिंसा तो परम धर्म है। शक्ति की परख निर्माण में है, हिंसा शक्ति की सूचक नहीं।

इन वसु आदि गुणों का अपने साथ उत्तम मेल करने वाले—प्रकृष्ट योग=सम्बन्ध करने वाले ही इस मन्त्र के ऋषि 'प्रयोग' हुआ करते हैं। यह सब तपस्या से साध्य है, आरामपसन्दगी के जीवन से हम ऐसा नहीं बन सकते। सो यह प्रयोग 'भार्गव' भृगु=तपस्वी (भ्रस्ज् पाके) का पुत्र है—खूब तपस्वी है। यही मार्ग ही उत्तम पोषण का भी मार्ग है। सो इस मार्ग पर चलने वाला 'सौभरि' =उत्तम पालन करने वाला है। यही 'काण्व'= मेधावी अक्लमन्द है। इससे विपरीत मार्ग पर जाकर अपनी ही हिंसा करना क्या मूर्खता नहीं है? और क्या मूर्ख बन कर हम अपने उस महान् अतिथि को कभी प्रसन्न कर सकेंगे?

भावार्थ—वसु आदि बन कर उस प्रभु की आराधना करें।

चार मंजिलें : चार कर्त्तव्य

Four Central Duties

३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १
भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो
२ ३ १ ३ २ ३ १ २र
अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥१११॥

इस मन्त्र का ऋषि "सौभरि काण्व" है। यह उत्तम प्रकार से अपना भरण करता है और अतएव सचमुच मेधावी है। जीवन यात्रा की चार मंजिलें हैं। एक-एक मंजिल के लिये यह अपना एक-एक आदर्शवाक्य (motto) बना लेता है। **ब्रह्मचर्य रूप प्रथम मंजिल** में यह कहा है कि [**"आहुतः"**] =जिसके प्रति पूर्णतया हमने अपना समर्पण कर दिया है वह "अग्नि" पिता (पिता वै गार्हपत्योऽग्निः) माता (मातारिग्नर्दक्षिणः स्मृतः) और आचार्य (गुरुराहवनीयस्तु) [**'नः'**] हमारे लिये [**भद्रः**] =कल्याणकर हों। इस आश्रम में बालक को ५ वर्ष तक माता के प्रति, ८ वर्ष तक पिता के प्रति और फिर २५ वर्ष तक आचार्य के प्रति अपने को

सौंप देना चाहिये। वे जो कुछ खिलायें, पिलायें, पढ़ायें, वही ठीक है, ऐसी इस की भावना होनी चाहिये। इसी को निरीह बनना कहते हैं—अपनी इच्छा को माता-पिता व आचार्य की इच्छा में मिला देना। जो ब्रह्मचारी इस प्रकार आचार्य के प्रति अपना समर्पण करेगा वह स्वभावतः आचार्य का अत्यन्त प्रिय होगा और आचार्य उसे पुत्र से भी अधिक समझते हुए अधिक से अधिक ज्ञानी बनाने का प्रयत्न करेंगे।

इसके बाद द्वितीय आश्रम गृहस्थ का आता है। इसमें मूल कर्त्तव्य यह है कि 'हम दें'। [**सुभग**]=घर को सौभाग्यशील बनाने वाली [**रातिः**]=दान वृत्ति [**भद्रा**]=हमारा कल्याण करने वाली हो। "जुहोत प्रचतिष्ठा"=दान दो और प्रतिष्ठा को पावो। यह बात सब के अनुभव की है कि दान देने वाले की लोक में प्रतिष्ठा होती है। "श्रदस्मै वचसे नरो दधातन, यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः" प्रभु कहते हैं कि ऐ मनुष्यो! इस वचन में श्रद्धा करो कि दिल खोलकर देने वाले पति-पत्नी सुन्दर सन्तान को प्राप्त करते हैं। और "दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्" दान दिए हुए धन को सप्तगुणित करके हम फिर प्राप्त करते हैं। इस प्रकार दान एक गृहस्थ को प्रतिष्ठित, उत्तम सन्तान से युक्त, व धनधान्य-संपन्न बनाता है।

अब वानप्रस्थाश्रम व यात्रा की तीसरी मंजिल में यह सौभरि कहता है कि [**'अध्वरः'**]=अहिंसात्मक यज्ञ [**भद्रः**]=कल्याणकर हो। वानप्रस्थी ने गृहस्थ छोड़ते हुए घर की सारी सामग्री को ही छोड़ जाना होता है। केवल 'अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्' अग्निकुण्ड व हवन के लिये चम्मच आदि को लेकर ही वह वनस्थ होता है। यह अग्निहोत्र उसके यज्ञिय जीवन का प्रतीक है। उसे सारा जीवन अब यज्ञमय बनाना है। गृहस्थ में थोड़ी बहुत हिंसा वह कर बैठता था, परन्तु अब तो गृहस्थ भार से मुक्त हो जाने पर उसने उतनी हिंसा से भी ऊपर उठना है।

इस अहिंसा को साधना के बाद चौथी मंजिल में [**उत**]=और अब [**प्रशस्तयः**]=प्रभु की स्तुतियां, सदा प्रभु का स्मरण [**भद्राः**]=कल्याणकर हों। संन्यासी यदि प्रभु स्मरण न करे तो किसी भी समय स्खलित हो सकता है। वह यह तो कह नहीं सकता कि "गृहेषु गोषु मे मनः" मेरा मन घर के कामों व गौवों में लगा है। इन सब बातों से तो वह ऊपर उठ चुका है—सो उसे सदा प्रभु-स्मरण में लगे रहना है। अन्त में आकर गलती हो जाय, इससे बढ़ कर खराबी क्या? अन्त तो ठीक ही होना चाहिये। सो संन्यासी "विधूमे सन्नमुसले" इन मनु शब्दों के अनुसार रसोई का काम शान्त होने पर ग्राम में प्रवेश करेगा, भिक्षा द्वारा भोजन कर उपदेश देगा। पर बाकी सारे समय वह मन को प्रभु प्रशस्ति में लगाये रखे तभी ठीक है। ऐसा करने पर यह यात्रा निर्विघ्न पूरी हो जायेगी।

भावार्थ—हम समर्पण, दान, यज्ञ व प्रभु स्मरण रूप चार केन्द्रीभूत कर्तव्यों का पालन करते हुए जीवन यात्रा को निर्विघ्न पूर्ण करें।

यजिष्ठ प्रभु के वरण के लाभ

१ २ ३ १ २ ३ १ २२ ३
यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारम-
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मर्त्यम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।।६।।१।२।।

सौभरि काण्व कहता है कि [**यजिष्ठं**]=दान देने वालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभु! [**त्वा**]=आपको हम [**ववृमहे**]=वरते हैं। इस जीवन यात्रा में जिसने प्रभु को वरा वही 'काण्व'=मेधावी है। प्रकृति का वरण अक्लमन्दी नहीं; यह घाटे का सौदा है: इसमें क्षणिक आनन्द के लिये हम अपनी इन्द्रिय शक्तियों को जीर्ण कर लेते हैं, और अपने ज्ञान को क्षीण करने वाले बनते हैं। प्रकृति के वरण से उसमें आसक्त हो हम अपनी यात्रा का भी सु-भरण=उत्तम निर्वहण (समापन) नहीं कर पाते। किन्तु सौभरि-जीवन यात्रा का भरण करने वाला है—इस लिये वह प्रभु का वरण करता है।

वह प्रभु यजिष्ठ हैं। यजिष्ठ शब्द का ही

व्याख्यान मंत्र में इस प्रकार करते हैं कि [**देवत्रा**] =देवों में, भी [**देवं**]=वह प्रभु देव हैं। 'देवो दानात्'=देव देता है। सूर्यादि प्रकाशादि देने से देव हैं। वह प्रभु महान् देव हैं। और सब देवों की देने की शक्ति सीमित है—प्रभु की दान शक्ति निःसीम है। [**होतारम्**]=प्रभु तो जीव के हित के लिये अपनी आहुति दे देने वाले हैं। "आत्मदा" =अपने को दे देने वाले हैं।

जो भी व्यक्ति इस प्रभु का वरण करता है—वह भी अपने जीवन को ऐसा ही बनाता है। यजिष्ठ के वरण का अभिप्राय यही तो है कि यह वरण करने वाला भी यजिष्ठ बनने का निश्चय करता है। अधिक से अधिक देने वाला, देने वालों में श्रेष्ठ, अपनी भी आहुति दे देने वाला वह बनता है।

इसका लाभ यह होता है कि [**'अमर्त्यम्'**= प्रभु तो अमर्त्य =न मरने वाले हैं ही, यह दान देने वाला सौभरि भी अमर हो जाता है। शिवि और दधीचि इस त्याग की वृत्ति के कारण ही अमर हो गये। अमर्त्य की भावना यह भी है कि इस त्याग वृत्ति के कारण भोगों का शिकार न होकर वह रोगों में नहीं फंसता। स्वाभाविक मृत्यु से ही वह शरीर को छोड़ता है।

वह प्रभु [**'अस्य यज्ञस्य'**]=इस ब्रह्माण्ड यज्ञ के [**सुक्रतु**]=उत्तम कर्त्ता हैं। प्रभु की अपनी आवश्यकतायें नहीं, इसी का परिणाम है कि वह ब्रह्माण्ड यज्ञ को उत्तम प्रकार से चला रहे हैं। हम भी अपनी आवश्यकताओं को कम करेंगे तो इस अपने जीवन-यज्ञ के उत्तम कर्त्ता बन पायेंगे। 'आवश्यकताओं को बढ़ाना' हमें उलझा देता है। और हमारा जीवन एक पहेली सा बन जाता है उसका सुलझाना संभव नहीं दिखता। आवश्यकताओं को कम करके, [**यजिष्ठ**]=उत्तम दाता बन करके ही यह जीवन यज्ञ सुसम्पादित हो सकता है।

भावार्थ—हम देने वाले बनकर अमर्त्य बनें और जीवन-यज्ञ को उत्तम विधि से पूर्ण करें।

उस ज्योति को

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३
तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाहासदने कञ्चिद-
१ २ ३ १ २र ३क २र
त्रिणम् । मन्युं जनस्य दूढचम् । ७'।११३।।

अपना उत्तम पोषण करने वाला मेधावी 'सौभरि काण्व' प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**अग्ने**]=ऐ प्रभो! [**तद् द्युम्नं**]=उस ज्योति को [**आभर**]=हमारे में पूर्णतया भर दो [**यत्**] =जो [**सासाहा**]=पराभूत कर दे [**सदने**]—उनके घर में, उनके निवास स्थान में। किन को?

(१) [**अत्रिणम्**]=(अद् भक्षणे) खाने वाले को, कभी न तृप्त होने वाले को। गीता के शब्दों में इस 'महाशन' काम को। उपनिषदों के शब्दों में 'कामो हि समुद्रः' काम समुद्र है। समुद्र कभी भरता नहीं। काम भी कभी भरता—रजता नहीं। ययाति के शब्द स्मरणीय हैं 'न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति, हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते,=काम भोगों के भोगने से तृप्त तो होता नहीं, उलटे उसी प्रकार और बढ़ता जाता है जैसे घी के डालने से अग्नि। एवं यह काम कुछ अजीब है—तृप्त ही नहीं होता। और कितना ही सुन्दर है, आते ही आकृष्ट कर लेता है, नाना प्रकार के पदार्थ भेंट के रूप में हमारे सामने उपस्थित करता है और जब हम उन पदार्थों के सौन्दर्य में मुग्ध हो रहे होते हैं, यह अपने फूलों के बाणों से हमारे पर प्रहार करने में लगा होता है। और पांचों ज्ञानेन्द्रियों पर अपने पांचों कोमलतम बाणों से प्रहार कर हमें मुग्ध कर मार डालता है। इस काम को समझना कुछ कठिन है। दिखने में अधिक से अधिक भद्र, परिणाम में घातक। मित्र रूप में शत्रु यह काम 'कञ्चित्' कुछ विलक्षण ही है। यह ज्योति इस 'काम' को नष्ट करे।

फिर किसको नष्ट करे? (२) [**मन्युम्**]=क्रोध को। अविचार (मन्=विचार, यु=पृथक् करना) से ही क्रोध उत्पन्न होता है। विचार करते ही यह

उड़ जाता है। शिक्षा विज्ञों ने न इस तत्व के आधार पर ही यह सिद्धान्त बनाया कि दण्ड २४ घण्टे बाद दिया जाय। तत्काल दण्ड देने में अविचार के कारण क्रोध में अधिक दण्ड दिया जाता है। कुछ विलम्ब हो जाने से विचार का अवसर मिल जाता है और क्रोध समाप्ति से दण्ड भी समाप्त हो जाता है।

(३) अन्त में, यह ज्योति उस वृत्ति को समाप्त करे जो वत्ति [**जनस्य**]=मनुष्य को [**दूढ्यं**]=दुर्बुद्धि बना देती है। (दूढ्यं=दुर्धियम्)। महाभारत में लोभाविष्ट हो दुर्योधन पाण्डवों को विष द्वारा मारना चाहता है, आग लगा, जला देने का प्रयत्न करता है। छल-छिद्र से उनके धन का हरण करता है, राज्य को छीनता है, उनकी पत्नी पर हाथ उठाता है। शस्त्र द्वारा उन पर हमला करता है। 'लोभ के कारण मनुष्य की बुद्धि किस प्रकार भ्रष्ट हो जाती है' इसका यह ठीक चित्रण है। लोभ के कारण संसार में भाई-भाई को कत्ल कर देता है, बहिन भाई को समाप्त करने की सोचती है। वस्तुतः लोभ मनुष्य की बुद्धि को नष्ट कर देता है— मनुष्य को दुर्बुद्धि बना देता है। हम प्रभु से याचना करते हैं कि वह ज्योति दो जिसके तीव्र प्रकाश में यह लोभ पनपे ही नहीं।

यदि हमने इस काम, क्रोध, लोभ की विनाशक ज्योति को प्राप्त किया तो अपना ठीक भरण करने वाले हम इस मन्त्र के ऋषि 'सौभरि काण्व' बन जायेंगे।

भावार्थ—वह ज्योति प्राप्त करें जिसमें काम, क्रोध, लोभ का अंकुर रहे ही नहीं।

आत्मा को पतला करिये

१ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ १ ३ ३ २
यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे।
२उ ३ २उ ३ १ २
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥८॥११४॥

[**यद्**]=जब [वा उ]=निश्चय से [**विश्पतिः**]=सब प्रजाओं का रक्षक वह प्रभु [**शितः**]=पतला किया जाता है और [**सु-प्रीतः**]=जीव से सम्यक् प्रसन्न होता है [**इत्**]=निश्चय से तब [**मनुषः**]=मनुष्य के [**विशे**]=अन्दर अर्थात् हृदय में [**विश्वा**]=न चाहते हुए भी अन्दर घुस आने वाली इन [**रक्षांसि**]=रमण के द्वारा क्षय करने वाली राक्षसी वृत्तियों को [प्रति **सेधति**]=निषिद्ध कर देता है अर्थात् दूर कर देता है।

इससे ऊपर के मन्त्र में उस ज्योति की याचना की थी जो काम, क्रोध, लोभ को पराभूत कर दे। इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि इन राक्षसी वृत्तियों के आक्रमण से बचाने वाला वह प्रभु ही है—इसी से वह 'विश् पति' है। यह काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियां रमण के द्वारा क्षय करने वाली होने से 'रक्षस्' हैं। आरम्भ में ये मधुर, परिणाम में विषोपम। ये भोगों के द्वारा ही रोगी बनाती हैं। खिलाती-खिलाती ही खा जाती हैं। आराम (ease) के द्वारा बेआरामी (disease) में ले जाती हैं। हम इन्हें क्या भोगते हैं, ये ही हमें अपना शिकार बना लेती हैं।

हैं ये बड़ी प्रबल। हम इन्हें क्या जीतेंगे! प्रभु ही हमारे लिये इनका विध्वंस करेंगे। परन्तु कब? जब वो 'शित' व 'सुप्रीत' होंगे। प्रभु को प्रसन्न करने का उपाय यह है कि प्रभु ने जो हमें कार्य सौंपे हैं हम उनको करने वाले बनें प्रभु की आराधना कर्म से ही तो होती है 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'। कर्म हमारे निम्न हैं—(१) मनुष्य, मानुष, मनुज, मानव—ये चारों शब्द 'मनु' की—ज्ञानी की सन्तान बनने का संकेत कर रहे हैं। हम खूब ज्ञानी बनें। (२) मर्त्य=हम लोक हित के लिये प्राणों का भी त्याग करने वाले हों। (३) नर=(न रम्) हम सर्वत्र विषयों में विचरते हुए उनमें फंसे नहीं। (४) पुमान्=(पूञ्) अपने को पवित्र बनायें। (५) पञ्चजनाः—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पांचों कर्मेन्द्रियों व पांचों प्राणों की शक्ति का विकास करने वाले बनें। और अन्त में (६) पुरुष, पूरुष—अपने में पौरुष को सिद्ध करें। इन कार्यों

के द्वारा प्रभु सु-प्रीत (well pleased with us) होंगे ।

प्रभु को पतला करने का अभिप्राय उपनिषद् की 'मुञ्जादिवेग्षीकाम्'—मुञ्ज से सींक की तरह' इस उपमा से स्पष्ट है । इषीका (सींक) पतली सी होती है, उस पर मुंज का आवरण होने से वह सींक मोटी हो जाती है, आवरण हटाते जायें तो वह अपने रूप में फिर से आ जाती है । इसी प्रकार आत्मा के अन्दर परमात्मा निहित है और वह आत्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय आदि पांच कोशों से आवृत है । इन आवरणों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म आत्मतत्व को स्थूल बना दिया है । सामान्यतः हम इस स्थूल शरीर को ही 'मैं' के रूप में समझते हैं । ज्यूं-ज्यूं हम इन आवरणों का विश्लेषण कर इन्हें आत्मतत्व का आवरण नहीं रहने देंगे त्यूं-त्यूं आत्मतत्व शित=पतला-सूक्ष्म होता जायगा । अन्त में सब आवरण हट कर उसका शुद्ध रूप हम दीखेंगे, उस समय यह कामादि हमारे में कहीं न दीखेंगे । ये अन्धकार रूप हैं, उस ज्योति में इनका रहना संभव कहां ? उस समय व्यक्ति "यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्नेवानुपश्यति सर्वभूतेषु चात्मानम्" बन भूतों को आत्मा में और सब भूतों में आत्मा को देखता हुआ 'विश्वमनाः'=व्यापक मन वाला बन जाता है । उस समय उसके इन्द्रिय रूप अश्व विशिष्ट शान्ति सम्पन्न होने से यह व्यश्व का सन्तान 'वैयश्व' कहलाता है । इस समय इसकी इन्द्रियां कामादि का अधिष्ठान न रह कर शान्ति का अधिष्ठान बन गई हैं ।

भावार्थ—हम आत्मा को आवरणों से पृथक् करके देखें और अपने कर्तव्य कर्मों के द्वारा उस प्रभु का आराधन करें ।

* * *

।।३।। ऋषिः—१ शंयुर्बार्हस्पत्यः; २, ४, ५, श्रुतकक्षः; ३ हर्यतः प्रागाथः; ६ इन्द्रमातरो देवजामयः; ७, ८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ; ९, १० मेधातिथिराङ्गिरसः प्रियमेधः काण्वश्च ।। देवता——इन्द्रः ।। छन्दः—गायत्री ।। स्वरः—षड्जः ।।

निर्माण, न कि ध्वंस

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ २उ
तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने । शं
३ २ ३ १ २
यद्गवे न शाकिने ।।१।।११५।।

[**तद्**]=उस प्रभु का [**गाय**]=गायन कर जो [**पुरुहूताय**]=बहुतों से पुकारा जाता है या जिसका आह्वान पालन व पूरण करने वाला है । कट्टर से कट्टर नास्तिक भी कष्ट आ पड़ने पर प्रभु को पुकारता है, और प्रभु उसकी पुकार को सुनते ही हैं तथा अवश्य उसकी रक्षा करते हैं और उसकी कमी को दूर करते हैं । उस प्रभु का गायन कर जो कि [**सत्वने**]=शत्रुओं का [**सद्**]=विशरण—नाश—कर देते हैं । प्रभु का गायन करने पर काम-क्रोधादि की वासनायें नष्ट हो जाती हैं । वह प्रभु [**यत्**]=जो कि [**वः**]=तुम्हारे में से [**गवे न शाकिने**]=गौ जैसे निर्दोष (innocent-harmless) तथा शक्ति मद में चूर निर्बलों पर अत्याचारी (शाकी) दोनों के लिये ही कल्याण करने वाला है । प्रभु सभी का कल्याण करते हैं, चाहे वह भोलाभाला निर्दोष हो और चाहे अत्याचारी । अब यदि वह प्रभ की शरण में आया है तो प्रभु उसका स्वागत ही करते हैं ('सम्यग् व्यवसितो हि सः' गीता), चूंकि उसने अब शुभ मार्ग पर चलने का निश्चय किया है ।

प्रभु के गायन के लिये एक नियम ध्यान में

रखना चाहिये कि घर के सभी सभ्य [**'सचा'**]= मिलकर उस प्रभु का गायन करें। इस सम्मिलित गायन से घर का सारा वातवरण बड़ा सुन्दर बनता है। घर में यह वह समय है जब कि सिवाय प्रभु स्मरण के कुछ और नहीं हो रहा। एक ही प्रक्रिया चल रही है और वह प्रभु स्तवन की। उस समय घर का सेवक भी वहीं गायन में उपस्थित हो—सिवाय गायन के कुछ हो ही नहीं। अद्भुत वायुमण्डल बनेगा।

इस गायन को क्यों करें? [**सुते**]=उत्पादन के निमित्त। प्रभु के स्तवन से मनोवृत्ति इतनी सुन्दर बनती है कि किसी के ध्वंस का हमें ध्यान भी नहीं आता। प्रभु का गायन हमारे में सर्वबन्धुत्व की भावना को जन्म देता है। उस भावना के जागरित होने पर हम किसी का भी बुरा क्यों चाहेंगे? परस्पर के संघर्ष समाप्त होकर शान्ति का विस्तार होगा। इस शान्ति का उपस्थापन करने वाला 'शं-यु' इस मन्त्र का ऋषि है। यह सब उत्तम ज्ञान के होने पर ही संभव है, सो वह 'बार्हस्पत्य' है। ज्ञानियों का ज्ञानी है। निर्माण की भावना एक-एक व्यक्ति में काम करती हो तो राष्ट्र कितना ऐश्वर्यशाली बनेगा?

भावार्थ—हम सब मिल कर उस प्रभु का गायन करें ताकि हमारे में निर्माण की, न कि ध्वंस की, भावना जन्म ले।

नोट :—इन्द्र का सम्बन्ध 'सुत'=निर्माण से है न निर्माण, न ऐश्वर्य।

अद्भुत मस्ती

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः।
१ २ ३ १ २र
तेन नूनं मदे मदे.॥२॥११६॥

हे [**शतक्रतो**]=अनन्त ज्ञान व कर्म वाले [**इन्द्र**]=सर्वैश्वर्यशालिन् प्रभो! [**यः**]=जो [**ते**]=तेरा [द्युम्नितमो **मदः**]=अत्यन्त प्रकाशमय मद है [**तेन**]=उससे [**नु**]=इस समय [**ऊनं**]=रहित मुझ को [**मदे**]=मद के निमित्त [**मदेः**]=मद वाला कर दीजिये।

मद का अर्थ नशा, धुन, मस्ती व खब्त होता है। जब यह नशा शराब आदि के प्रयोग से उत्पन्न किया जाता है तो इसमें अच्छी भावना नहीं होती। अन्न मात्र के खाने से कुछ नशा उत्पन्न होता है। धन का भी नशा है, जो धतूरे के नशे से भी अधिक कहा गया है। सब बाह्य वस्तुओं का नशा उत्तम नहीं। आन्तर चीजों का नशा इनकी तुलना में उत्तम होता है। मनुष्य बल का सम्पादन करे, बल सम्पादन की उसे धुन हो। यह बल सम्पादन धन सम्पादन से अधिक उत्तम है। इससे भी उत्तम प्राणों की साधना है। प्राणों को निर्भीक बनाने की धुन बल सम्पादन से अच्छी है। इस प्राणमय कोश से भी ऊपर उठकर मनोमय कोश को निर्मल बनाना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। मन से द्वेष को दूर करने में जुट जाना अधिक आनन्दप्रद होता है। परन्तु इससे भी उत्कृष्ट आनन्द विज्ञानमय कोश का है। उस आनन्द में डुबे हुए व्यक्ति को अन्य सब आनन्द छोटे प्रतीत होते हैं। इस आनन्द से ऊँचा आनन्द तो केवल ब्रह्म प्राप्ति का आनन्द है, जिसका यह साधन है। विज्ञान प्राप्ति में लगा हुआ मनुष्य अन्य सब सांसारिक व्यसनों से बच जाता है और इस प्रकार यह विद्या का व्यसन मनुष्य को हीन व्यसनों से मुक्त कर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनाता है। यह ज्ञान उसका शरण स्थान बनता है जहाँ छिप कर वह काम, क्रोध आदि के आक्रमणों से बच जाता है। एवं ज्ञान को अपनी शरण shelter बनाने वाला यह व्यक्ति 'श्रुत कक्ष' (ज्ञान है शरण जिसका, hiding place जिसका) बना है। इससे उत्तम शरण और क्या हो सकती है! सो यह 'सु-कक्ष'=उत्तम शरण स्थान वाला है। व्यसनों में न फंसने से अपनी शक्ति की रक्षा करने वाला यह' आंगिरस'=शक्तिसम्पन्न है।

भावार्थ—हमें ज्ञान की मस्ती प्राप्त हो। ज्ञान प्राप्ति में हमें आनन्द आने लगे। यह ज्ञान प्राप्ति

का व्यसन हमें अन्य व्यसनों से बचा लेगा। यह ज्ञान हमारा शरण=shelter होगा।

प्रभो! बोलो तो

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
गाव उप वदावटे मही यज्ञस्य रप्सुदा।
३ १ २र ३ १
उभा कर्णा हिरण्यया ॥३॥११७॥

इस मन्त्र का ऋषि 'हर्यंत प्रागाथ' है। प्रभु का खूब ही गायन करने वाला 'प्रागाथ' है। खाते-पीते सोते-जागते यह प्रभु के स्मरण को भूलता नहीं। इसकी वाणी निसर्गतः प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती है। पर प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए यह 'हर्यंत' है (हर्य गतिकान्त्यो)। यह गतिमय है, इसमें पुरुषार्थ है, तथा प्रबल इच्छा है कि वह ज्ञान को प्राप्त कर सके। पिछले मन्त्र में इसी ज्ञान की मस्ती की याचना थी। यह माता से, पिता से, आचार्य से, विद्वान् लेखकों की पुस्तकों से खूब ज्ञान प्राप्त करने के बाद अभी अतृप्त ही है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि अवटे=उस हृदयाकाश में जिसकी मैंने यथासंभव काम-क्रोधादि की वृत्तियों के आक्रमण से रक्षा (अव् रक्षणे) की है, आप [**गावः**]=निश्चित तत्व को जनाने वाली वेदवाणियों का [**उप वद**]=जो मैं आपके समीप उपस्थित हुआ हूं, उस मेरे हृदय में आप उच्चारण करिये। मैं प्राकृतिक भोगों में फँसा हुआ नहीं हूं। इस समय मैं आपके ही समीप उपस्थित हूं। आप बोलिये तो सही। मैं क्यों न सुनूँगा इस समय मुझे सुनने की प्रबल कामना है।

कैसी वाणियों को? (१) [**महीः**]—महनीय महिमा से भरी—अर्थगौरव वाली। जिनके छोटे छोटे शब्द महान् अर्थों से भरे हुए हैं। जैसे यहां ही 'अवट' शब्द उस हृदय का वाचक है जिसकी वासनाओं से [**अवन**]=रक्षा की गई है। (२) यज्ञस्य [**रप्+सु+दा**]=यज्ञ के उपदेश को उत्तम प्रकार से देने वाली। ये वेद वाणियां सदा उत्तम कर्मों का उपदेश देती हैं। उपदेश भी इस प्रकार से कि पाठक के हृदय पर उत्तम प्रभाव पड़े। (३) [**उभा कर्णा हिरण्यया**] जो वाणियाँ दोनों कानों के लिये हित रमणीय हैं। अशुभ शब्दों का सुनना भी अहित व अरमणीय है। कुछ आपातरमणीय वह लगा करता है—परन्तु उसका परिणाम परिताप-कर है। वेद वाणियों का सुनना ही ठीक है।

भावार्थ—प्रभु बोलें और मैं सुनूं। ये वेदवाणियां अर्थ से भरी, उत्तम उपदेश देने वाली व हित रमणीय हैं।

इन्द्र का तेज

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १
अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षारं गवे। अरमि-
२ ३ १ २
न्द्रस्य धाम्ने ॥४॥११८॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष आंगिरसः' है। [**श्रुत**]=शास्त्रश्रवण है कक्ष (hiding placc) रक्षण स्थान जिसका ऐसा श्रुतकक्ष आंगिरस=अंग-प्रत्यंग में रस वाला है। उसका शरीर सूखी लकड़ी नहीं बन गया। सब अंगों में एक लोच है, लचक है। ज्ञान को इसने अपनी शरण बनाया है और व्यसनों से बचकर अपनी शक्तियों को यह स्थिर रख सका है। यह श्रुतकक्ष व्यसनों से बचाव के लिये ही [**अरं**]=खूब [**गायति**]=उस प्रभु का गायन करता है। प्रभु का स्मरण उसे सन्मार्ग से विचलित नहीं होने देता। यह प्रभु का गायन इस लिये करता है कि [**'अश्वाय'**]=इसकी कर्मेन्द्रियां उत्तम बनी रहें। कर्मेन्द्रियों के लिये यह गायन करता है। (अशू व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होने से यह कर्मेन्द्रियाँ 'अश्व' कहलायी हैं। प्रभु के स्मरण से वे निन्द्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होतीं। यह श्रुत कक्ष [**अरं**]=खूब गायन करता है [**गवे**]=गौओं के लिये। निश्चय से अर्थ की गमक होने से ज्ञानेन्द्रियां 'गावः' कहलाती हैं। इनके अपवित्र न होने देने के लिये श्रुतकक्ष प्रभु का गायन करता है। और फिर [**अरं**]=खूब गायन करता है

[**'इन्द्रस्य धाम्ने'**] =आत्मा के तेज के लिये। प्रभु के गायन से आत्मा का परमात्मा से मेल होता है और परमात्मा की शक्ति से आत्मा शक्तिसंपन्न बनती है। यह शक्तिसंपन्न आत्मा इन्द्रियों को अपने वश में रखता है। और इन आत्मवश्य इन्द्रियों से विषयों में जाता हुआ भी उनमें फंसता नहीं और गीता के शब्दों में 'प्रसाद' को प्राप्त करता है।

हमें चाहिये कि हम इन्द्रियों को निर्दोष रखते हुए आत्मा की शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें। इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाना और इन्द्र की शक्ति की ओर ध्यान न देना अन्त में इन्द्रियों की गुलामी का कारण बनता है। मनुष्य इन्द्रियों का दास बन दुःख सागर में गिरता है। श्रुतकक्ष इन्द्रियों को पवित्र बनाता है और आत्मा को तेजस्वी।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें ताकि हमें इन्द्रियों की पवित्रता व आत्मिक तेज प्राप्त हों।

आत्मिक शक्ति के चार लाभ

१र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
१र २र ३ १ २
स वृषा वृषभो भुवत् ॥५॥११९॥

पूर्व-मन्त्र में श्रुतकक्ष ने कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व इन्द्र की तेजस्विता के लिये प्रभु का गायन किया था। वह श्रुतकक्ष ही इस मन्त्र में कहता है कि इन्द्रियों को शक्तिशाली बनानें की बजाय हम [**तम्**] =उस [**इन्द्रम्**] =आत्मा को ही [**वाजयामसि**] =शक्तिशाली बनाते हैं। [**महे**] =महत्व प्राप्ति के लिये। इन्द्रियों को शक्ति के बढ़ा लेने से इस लोक में किसी ने महिमा प्राप्त नहीं की, परमात्मा के दृष्टिकोण में महत्व की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इतिहास के अन्दर जिन्हें हम महापुरुषों के रूप में स्मरण करते हैं वे सब आत्मशक्ति को बढ़ा कर ही महापुरुष बन पाये। राजाओं में अशोक का झुकाव भी आत्मिक शक्ति की ओर हुआ, उसे बाह्य साम्राज्यवाद से कुछ घृणा सी हो गई। वस्तुतः बाह्य साम्राज्य के स्थान में अन्तः साम्राज्य को बढ़ाना ही श्रेयस्कर है। हम इस अन्तः साम्राज्य में आत्मिक शक्ति को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील होते हैं 'वृत्राय हन्तवे' ज्ञान को आवृत करने वाले इस काम रूप वृत्र के विनाश के लिये। इन्द्रियों की शक्ति बढ़ाने से वासनाओं को कुछ बढ़ावा मिलता है—जब कि आत्मा की तेजस्विता इन वासनाओं को दग्ध कर देती है।

आत्मा की शक्ति को बढ़ा कर [**स**] =वह श्रुतकक्ष [**वृषा**] =शक्तिशाली [**भुवत्**] =बनता है। इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ा कर तो कुछ भोग वृद्धि से शक्ति जीर्ण ही होती है। स्वयं शक्तिशाली होकर वह [**वृषभः**] =औरों पर सुखों की वर्षा करने वाला बनता है। इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाने वाला व्यक्ति निजी भोगों को बढ़ाने के मार्ग पर चलता है, औरों को हानि पहुंचा कर भी वह अपने को सुखी बनाने के लिये प्रयत्नशील होता है।

एवं इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाने वाला परिणामतः खूब खाने वाला लोक में महत्व को प्राप्त नहीं करता। वह कामादि वासनाओं को समाप्त नहीं कर पाता और इसलिये वास्तविक शक्ति का अर्जन नहीं कर पाता—औरों को तो उसने सुखी करना ही क्या?

भावार्थ—हम आत्मिक तेज को प्राप्त करें। वह हमें महत्व प्राप्त करायेगा, कामादि के विध्वंस के योग्य बनायेगा, शक्तिसम्पन्न होकर हम लोकहित करने वाले बनेंगे।

माता का कर्तव्य

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३१र २र
त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
१र २ २र३ १र२र
त्वं सन् वृषन् वृषेदसि ॥६॥१२०॥

इस मन्त्र की ऋषिका 'देवजामयः इन्द्रमातरः' हैं। ये दिव्य गुणों को जन्म देने वाली हैं और इन्द्र का निर्माण करती हैं। वस्तुतः 'एक व्यक्ति इन्द्रियों

के स्थान में इन्द्र को महत्व देने वाला हो, वह आत्मा को शक्ति को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखता हो,' यह इस चीज पर निर्भर करता है कि माता ने बचपन में उसे किस प्रवृत्ति वाला बनाने का प्रयत्न किया। यदि माता शैशव में ही उसे बाह्य संपत्ति व स्थूल शरीर की संपत्ति को बहुत महत्व न देकर आत्मा की संपत्ति को कमाने का उपदेश करेगी तो वह जीव सचमुच 'इन्द्र' बनेगा। अन्यथा इन्द्रियों को सबल बनाने में ही लगा रहेगा, और अधिक आशंका तो इस बात की है वह कहीं धन जमा करने का एक यन्त्र ही न बन जाय। माताओं को बालकों में आरम्भ से ही दिव्य गुणों के पैदा करने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। सो यह देव-जामियां जात बालक से क्या कहती हैं कि [**त्वम्**]=तू [**इन्द्र**] ! ऐ इन्द्र ! [**बलात्अधिजातः असि**]=मानस बल से उत्पन्न हुआ है, तू [**सहसः**] =सहन शक्ति से उत्पन्न हुआ है, तू[**ओजसः**]= ओजस् से उत्पन्न हुआ है। तूने मानस बल व ओज का अपने में सम्पादन करना है और सहन शक्ति का पुंज बनना है मानस बल का सम्पादन कर के [**त्वं**]=तू [**सन्**]=एक विशेष सत्ता वाला बनना तू संसार में nonentity=सत्ताशून्य निर्बल सा प्राणी न बनना। प्रत्येक झोंके से मुड़ जायेगा तो तेरी सत्ता ही क्या होगी ? सो तू मानस बल का सम्पादन करके सत्ता वाला बन। सहन शक्ति का पुज होकर तूने [**'वृषन्**']=सुखों की वर्षा करने वाला होना। जिस समय मनुष्य में इस 'सहस्' का अभाव होता है तो वह छोटे से छोटे अपमान का बदला लेने वाला बन अपने व औरों के जीवन को दुःखमय बना डालता है। सहन शक्ति होने पर स्वयं प्रसन्न रहता है और औरों को तथाकथित शत्रुओं को भी—वह सुखी बनाने के लिये प्रयत्नशील होता है।

इस प्रकार ओजस्वी बन तूने [**इत्**]=सचमुच [**वृषा**]=बलवान् बनना—प्रभावशाली बनना। औरों पर अपने प्रभाव की वर्षा करने वाला होना। यह बल, सहस् व ओज ही तेरी आत्मिक संपत्ति हैं, इनको तूने महत्व देना। इन्द्रियों की शक्ति को महत्व देने का लाभ नहीं। बाह्य धन-दौलत के पीछे पड़ जाना तो मूर्खता की पराकाष्ठा है।

भावार्थ—मातायें अपने बालकों में दिव्य गुणों को जन्म देकर उन्हें 'इन्द्र' बनायें, परमैश्वर्यशाली बनायें।

मस्तिष्क का आभूषण

३ १र   २र   ३   २उ   १ २
यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद्भूमिं व्यवर्तयत्।
३ १ २ ३ २ ३ २
चक्राण ओपशं दिवि ॥७॥१२१॥

इस मन्त्र के ऋषि 'गोषूक्ति और अश्वसूक्ति' हैं। [**गौवों से**]=ज्ञानेन्द्रियों से उत्तम कथन करने वाला गोषूक्ति है और [**अश्वों**]=कर्मेन्द्रियों से उत्तम कथन करने वाला अश्वसूक्ति है। अर्थात् जिनकी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां दोनों ही ठीक मार्ग पर चल रही हैं—ऐसे ये ऋषि हैं। इन ५ ज्ञानेन्द्रिय तथा ५ कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों के ठीक चलने का रहस्य इस बात में है कि रथी 'इन्द्र' शक्तिशाली है। वह निर्बल होता तो ये घोड़े बहुत संभव मार्गविचलित हो जाते। परन्तु नहीं। यहां तो [**यज्ञः**]=यज्ञ की भावना ने [**इन्द्रम्**]= आत्मा को [**अवर्धयत्**]=बढ़ाया है। यज्ञ की भावना स्थूल रूप में त्याग की भावना है। जब मनुष्य इस भावना को अपने अन्दर जागरित करता है तो उसको आत्मिक शक्ति का विकास होता है। इसके विपरीत जब वह त्याग की भावना से दूर होकर भोगों को बढ़ाने में जुटता है तो वह इन्द्रियों का दास बन जाता है और उसको आत्मा निर्बल हो जाती है। यज्ञ 'इन्द्र' को बढ़ाता है तो यज्ञ का अभाव 'इन्द्रियों' को। इसलिये आत्मिक शक्ति के विकास को चाहने वाला अपने अन्दर यज्ञ की भावना का पोषण करता है। प्रजापति ने यही तो कहा था कि 'इस यज्ञ से तुम फलो-फलोगे'।

सो ये गोषूक्ति और अश्वसूक्ति तो खूब यज्ञ करते हैं, इतना [**वत्**]=कि भूमि इस पृथ्वी को ही [**व्यवर्त्तयत्**]=उलट देते हैं। जैसे कि खूब दान देने वाला सारी थैली को ही उलटा देता है, उसी प्रकार यह यज्ञशील व्यक्ति अपने सारे कोश को उलट कर खाली कर देता है। अपने पास कुछ बचाता नहीं। यही सर्वमेध यज्ञ कहलाता है। रघु आदि राजा इन यज्ञों को करते थे, ऐसा साहित्य में लिखा है। हर्षवर्धन से प्रति पांचवें वर्ष किये जाने वाले इस यज्ञ का उल्लेख इतिहास में उपलभ्य है। परन्तु यह यज्ञिय भावना हमारे अन्दर उत्पन्न हो, इसके लिये ज्ञान की आवश्यकता है। सो यह ऋषि [**दिवि**]=मूर्धा में (मस्तिष्क में) [**ओपश**]=ज्ञान रूप मस्तक के आभरण को [**चक्राणः**]=बनाने के स्वभाव वाला होता है। यह ज्ञान उसे पवित्र करता है उसके अन्दर यज्ञ की भावना को जगाये रखता है और इस प्रकार उसकी आत्मा को बलवान् बनाता है। 'कस्य स्विद् धनम्'—भला किस का यह धन है? यह सोचना ही सबसे बड़ा ज्ञान है। यह धन आज तक किसी के साथ नहीं गया, यह समझ कर मनुष्य यज्ञशील बनता है—भोगासक्त नहीं होता—धन व इन्द्रियों का दास नहीं बनता।

प्रभु के प्रति भक्त का उपालम्भ

१ २ २३उ ३ १र २र३ २ ३ २ ३ २
यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्।
३ २ ३ १ २
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥८॥१२२॥

गत मन्त्र में कहा गया था कि इन्द्र बनने के लिये यज्ञ की वृत्ति का होना आवश्यक है और यज्ञ की वृत्ति के लिये ज्ञान प्राप्ति अनिवार्य है। इस ज्ञान प्राप्ति के लिये आत्मिक शक्ति के विकास का इच्छुक, भरसक कोशिश करता है। अपनी ओर से वह कोई कसर उठा नहीं रखता। परन्तु जब इस पूर्ण प्रयत्न के होने पर भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता तो प्रभु को इस रूप में उपालम्भ देता है कि—

[**यत्**]=यदि [**इन्द्र**]=ऐ सब ऐश्वर्यों के मालिक प्रभो! [**अहं**]=मैं यथा [**त्वं**]=आपकी तरह [**वस्वः**]=ज्ञानादि सम्पूर्ण उत्तम [**वसुओं**]=रत्नों का [**ईशीय**]=ईश्वर 'मालिक' होता तो [**मे स्तोता**]=मेरा स्तुति करने वाला तो [**'गोसखा'**]=ज्ञान रूप मित्र वाला अर्थात् खूब ज्ञानी [**स्यात्**]=हो जाता। ऐ प्रभो! आपने इस ज्ञान रूप धन को मुझे देने के लिये किसी दूसरे साथी व साझीदार से सलाह थोड़े ही करनी है! आप तो इन सब वस्तुओं के [**एकः इत्**]=अकेले ही अद्वितीय ईश्वर हैं। मैं कब से आपकी स्तुति में लगा हूं! कोरी स्तुति में ही नहीं पूर्ण प्रयत्न करता हुवा मैं आपकी कृपा का अधिकारी बनने की भी तो कोशिश में हूं। 'ऐ प्रभो! आप कृपा करेंगे और अवश्य करेंगे' ऐसा मुझे विश्वास है। मेरा स्तोता तो, यदि मैं आप की तरह ऐश्वर्य का मालिक होता, अब तक अभीष्ट ज्ञान को अवश्य प्राप्त कर चुकता। आपका स्तोता होता हुआ मैं उस ज्ञान को क्यों कर न प्राप्त करूंगा? करूंगा और उस ज्ञान को प्राप्त करने पर मेरी ज्ञानेन्द्रियों (गौवों) और कर्मेन्द्रियों (अश्वों) से उत्तम वृत्तियों का ही प्रवाह बहेगा। और इस प्रकार मैं इस मंत्र का ऋषि 'गोषूक्ति व अश्वसूक्ति' बनूंगा।

भावार्थ—प्रभु के स्तोता का कर्तव्य है कि पूर्ण पुरुषार्थ करके प्रभु कृपा से ज्ञान को प्राप्त करे।

सोम का शोधक

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पन्यंपन्यमित् सोतार आ धावत मद्याय।
१ २ ३ २ ३ १ २
सोमं वीराय शूराय ॥९॥१२३॥

पिछले मन्त्र में ज्ञान प्राप्ति के लिये भरपूर प्रयत्न करने वाले ने प्रभु को उपालम्भ दिया था

कि यही तेरी सर्वेश्वरता है कि मैं अब तक ज्ञानी नहीं बन पाया ! यह उपालम्भ भी पूर्ण प्रयत्न के बाद ही दिया जा सकता है । वह प्रयत्न ही इस मन्त्र में संकेतित है । इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है—(मेधां प्रति अतति) जो कि निरन्तर मेधा प्राप्ति के लिये प्रयत्न में लगा हुआ है—कण-कण करके उसी के संचय में जुटा है । यह मेधातिथि समझता है कि बुद्धि की सूक्ष्मता के लिये (Vitality) वीर्यशक्ति की रक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी ने मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है । सो यह मेधातिथि कहता है कि [**सोतारः**]=अपने में शक्ति का अभिषव करने वाले प्रभु के प्यारो ! [**पन्यं पन्यं इत्**]=सचमुच स्तुति के योग्य (पन स्तुतौ) भोज्य पदार्थों को ही अपने भोजन का अंग बनाओ, और इस प्रकार [**'सोमं'**]=अपनी वीर्यशक्ति को [**आधावत**]=शुद्ध बनाओ (धाव्=to cleanse)। वस्तुतः सौम्य भोजनों से उत्पन्न वीर्यशक्ति ही शुद्ध व निर्विकार होती है, वही शरीर के अन्दर स्थिर रहती है। मांस मदिरादि आग्नेय भोजनों से उत्पन्न इस शक्ति का शरीर में स्थिरता से रहने का संभव नहीं होता । वह सदा उबाल में रहती है और उसका स्थान इस शरीर-यज्ञ से बाहर ही होता है ।

सौम्य भोजनों से उत्पन्न यह शक्ति शरीर में [**मद्याय**]=(मदी हर्षे) हर्ष के लिये होती है। संयत शक्ति वाला पुरुष सदा प्रसन्न व उल्लासमय रहता है । इसके अभाव में वह क्रोधी व चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है । [**वीराय**]=यह शक्ति मनुष्य की वीरता के लिये होती है। संयत वीर्य वाला व्यक्ति उदारता आदि गुणों से विभूषित होता है। उसकी मानस स्थली (virtues) गुणों के अंकुरित होने के लिये अनुकूल होती है। [**शूराय**]=यह अपनी (vices) बुराइयों की शीर्णता के लिये (शॄ हिंसायाम्) समर्थ होता है। इसका मानस व्यसनों के लिये ऊसर भूमि हो जाता है। एवं संयत शक्ति के ये तीन लाभ सुव्यक्त हैं। सबसे बड़ा लाभ तो वही है कि बुद्धि की तीव्रता का सम्पादन करके वह मनीषी, मनस्वी आत्मशक्ति को सिद्ध करता है ।

भावार्थ—सौम्य भोजनों से मैं संयमी होकर सदा मस्त, वीर व शूर बना रहूं ।

सोम का पान

२ ३ २ ३२उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
१ २ ३ १ २
अनाभयिन् ररिमा ते ॥१०॥१२४॥

प्रभु जोव से कहते हैं कि ऐ [**वसो**]=उत्तम ढंग से शरीर में निवास करने वाले जीव ! [**इदं अन्धः**]=यह सोम [**सुतम्**]=उत्पन्न किया गया है। प्रभु ने इस शरीर की रचना इस प्रकार की है कि उसमें आहार से रस, रस से रुधिर और रुधिर से मांसादि के क्रम से वीर्य=सोम की सातवें स्थान में उत्पत्ति होती है। जिस भी जीव ने इस शरीर में उत्तम ढंग से रहना हो उसके लिये आवश्यक है कि वह सोम की रक्षा करने का ध्यान करे। 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'=इस सोम की बून्द के गिरने से भी हम मृत्यु के मार्ग पर जाते हैं और इसकी रक्षा से जीवन के मार्ग पर। एवं यह सदा सब दृष्टिकोणों से (समन्तात्=आ) ध्यान देने योग्य होता है इसीलिये इसे 'अन्धः' (=आध्यानीय) कहा गया है। प्रभु ने इस अद्भुत सोम के उत्पादन की व्यवस्था तो कर दी है। अब जीव का कर्तव्य है कि वह प्रभु के इस उपदेश को क्रिया रूप में लाये कि [**'पिबा'**]=इसका तुम पान करो। इस वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करो। इसकी रक्षा से यह [**सुपूर्ण**]=तुम्हारा उत्तम प्रकार से पालन व पूरण करेगा [**उत्**]=और [**अरं**]=तुम्हारे जीवन को सद्गुणों से अलंकृत कर देगा (अरं=to decorate)।

वीर्य रक्षा जहां हमें अशुभ वृत्तियों के आक्रमण से बचायेगी वहां उत्तम गुणों से अलंकृत भी करेगी। हमारे शरीर नीरोग होंगे, मन विशाल होंगे और बुद्धियाँ तीव्र होंगी।

उस समय हम निर्भीक होकर इस जीवन यात्रा में आगे और आगे बढ़ पायेंगे। प्रभु जीव को सम्बोधन करते हैं कि [**अनाभयिन्**]=ऐ निर्भीक भय से रहित जीव! [**ते**]=तुझे [**ररिमा**]=यही तो हमने एक चीज दी है। परमेश्वर की दी हुई सब चीजों में सर्वोत्तम चीज यह वीर्य ही है। प्रभु ने जो असंख्य पदार्थ हमें प्राप्त कराये हैं उनमें इसका स्थान सर्वप्रथम है। 'वेद'=ज्ञान क्या इससे अच्छा नहीं है ? ऐसा प्रश्न हो सकता है, परन्तु उसका उत्तर यह है कि उस वेद-ज्ञान का साधन भी तो यह वीर्यशक्ति की रक्षा ही है। उसके अभाव में वेद हमारे लिये ऐसे ही होते जैसे कि अनपढ़ कबाड़िये के लिये उसकी पुस्तकें। सो प्रभु से दी गई इस सर्वोत्ताम वस्तु की हमें रक्षा करनी ही चाहिये। इसकी रक्षा से ही हम ज्ञान को प्राप्त कर इस मन्त्र के ऋषि 'मेधातिथि काण्व' बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु ने वीर्य की उत्पत्ति की व्यवस्था की है। यह प्रभु से दी गई सर्वोत्तम वस्तु है। हम इसकी रक्षा करें, और निर्भीक बनें।

* * *

॥४॥ ऋषिः—१, २, सुकक्षश्रुतकक्षौ; ३ भरद्वाजः; ४ श्रुतकक्षः; ५, ६ मधुच्छन्दाः; ७, ९, १० त्रिशोकः; ८ वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सूर्य का उदय

२उ ३ २ ३ १२ ३१र २र
उद् घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।
१ २
अस्तारमेषि सूर्य ॥१॥१२५॥

सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार प्रभु रूपी सूर्य के हृदय-गगन में उदित होने पर अविद्यान्धकार नष्ट हो जाता है। [**सूर्य**]=और यह प्रभु रूपी सूर्य [**घा-इत्**]=निश्चय से [**उद्एषि**]=उदय होते हैं। [**अभि**]=उसकी ओर, उसके हृदय में जो कि [**श्रुतामघं**]=श्रुत को ही, शास्त्र श्रवण को ही अपना मघ-ऐश्वर्य समझता है। जो व्यक्ति बाह्य सम्पत्ति की तुलना में इस ज्ञान रूप आन्तर सम्पत्ति को महत्व देता है। वस्तुतः ही यह ज्ञानधन बाह्यधन की तरह चोरों से चुराया नहीं जाता, राजाओं से कर के रूप में नहीं लिया जा सकता भाई इसका विभाग नहीं कर पाते, इसका कोई बोझ नहीं और सबसे बड़ी बात यह कि व्यय करने से बढ़ता है। एवं इस विद्याधन को महत्व देने वाला श्रुतामघ अपने हृदयाकाश में उस प्रभु रूपी सूर्य को उदित हुआ देखता है। यह सूर्य [**'वृषभम् अभि'**]=सुखों की वर्षा करने वाले के हृदयाकाश में उदित होता है। जिसके जीवन का लक्ष्य केवल निजू सुख नहीं बन गया वह इस सूर्योदय का पात्र बनता है। फिर [**'नर्यापसम्'**]=(नर्य+अपस्) नर हितकारी कर्मों वाले के हृदय में यह सूर्य चमकता है। यह कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता जो कि औरों के अहित को करने वाला हो। कृष्ण युद्ध का आह्वान भी इसीलिये स्वीकार करते हैं कि पांचजन्यम्=पंच जनों का (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद) भला हो। अन्त में यह सूर्य [**अस्तारम्**] (अस्=फेंकना) काम, क्रोधादि वासनाओं की मैल को दूर फैंकने वाले के हृदय में उदित होता है। इस सूर्य के उदय होने पर

अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान मनुष्य का रक्षा-स्थान बनता है। सो यह पुरुष 'श्रुतकक्ष' ज्ञान रूप रक्षा स्थान वाला होता है। इससे बढ़कर और रक्षा-स्थान हो ही क्या सकता है! सो यह 'सु-कक्ष'= उत्तम hiding place (रक्षा स्थान) वाला है ये ही इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ=हम 'श्रुतामघ' बन प्रभु की ज्योति को देखें और अज्ञानान्धकार से उपर उठें।

आज या फिर कभी

२ ३१र २र ३ १ २ ३ १ ३ २ २ ३
यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं
१ २ ३ १ २
तदिन्द्र ते वशे ॥२॥१२६॥

गत मन्त्र में सूर्योदय का वर्णन था कि 'ज्ञान को ही धन समझने वाले' लोगों पर सुख वर्षा करने वाले, प्रत्येक कर्म को लोकहित को सामने रखकर करने वाले, काम-क्रोधादि वासनाओं को परे फेंकने वाले के हृदयाकाश में प्रभु की ज्योति का उदय होता है जो भी व्यक्ति इस प्रकार इन चार दिशाओं में प्रयत्नशील होगा उसके हृदय में यह ज्योति अवश्य उदित होगी। पर एक सच्चा भक्त अनुभव करता है कि निरन्तर वासनाओं को परे फेंकने का प्रयत्न करता हुआ भी वह उनको जीत नहीं पाता। यह विजय तो प्रभु कृपा से ही होगी। ऐसा अनुभव करके वह कह उठता है कि [**सर्वंतद्**] यह सब कुछ [**'इन्द्र'**]=ऐ सर्वैश्वर्य संपन्न प्रभो! [**'ते वशे'**]=आपके ही वश में है। जब तक सूर्य को बादलों ने ढका होता है तब तक सूर्य की ज्योति दिखती नहीं। इसी प्रकार सूर्य को ढकने वाले बादल रूप वृत्रों की तरह यहां वासना रूप वृत्र प्रभु ज्योति को हमारे से आवृत रखता है। इस वृत्र को हमने तो क्या मारना है! ऐ प्रभो! [**'वृत्रहन्'**] वृत्र को मारने वाले आप ही हैं। इस वृत्र को आप ही समाप्त करेंगे। [**यद् अद्य**]=यदि आज समाप्त करें तो आपकी कृपा, [**कत् च**]=और यदि फिर कभी समाप्त करें तो आपकी कृपा। करना तो आप ही ने है। आप कृपा करके ऐ [**सूर्य**]=हजारों सूर्यों की दीप्ति के समान चमकने वाले प्रभो! [**अभि**]=मेरी ओर मेरे हृदयाकाश में [**उदगाः**]=शीघ्र उदित हूजिये।

भक्त को चाहिये कि अपना पग बढ़ाता चले अपने पुरुषार्थ में कमी न आने दे और प्रभु से आराधना करता चले। यही सच्चा समर्पण है। इस समर्पण के होने पर प्रभु कृपा अवश्य होगी। यही सच्चा ज्ञान है, इसी को अपनी शरण बनाने वाला 'श्रुतकक्ष' इस मन्त्र का ऋषि है। इस से उत्तम शरण हो ही नहीं सकती, सो वह 'सुकक्ष' है

भावार्थ—वृत्र को नाशकर ज्ञानसूर्य के उदय के लिये निरन्तर प्रयत्नशील हों और प्रभु कृपा में विश्वास रखें।

प्रभु ही हमारे युवा मित्र हैं

१र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्।
२ ३ २ ३ २ ३ .१ २
इन्द्रः स नो युवा सखा ॥३॥१२७॥

[**स**]=वह [**इन्द्रः**]=सब शक्तियों का ईश्वर, सब असुरों का संहार करने वाला इन्द्र [**नः**]=हमारा [**सखा**]=मित्र है। वह [**'युवा'**]=पाप से पृथक् करने वाला (यु= अमिश्रण) और भद्र से मिलाने वाला (यु= मिश्रण) है। असत् से वह हमें सत् की ओर ले चलता है, तमस् से ज्योति की ओर, और मृत्यु से अमृत की ओर। दुरितों से दूर कर भद्र को प्राप्त कराने वाला वही है। कुटिल पाप से पृथक् कर सुपथ पर ले चलने वाला वही है। कौन सा इन्द्र? [**यः**]=जो [**परावतः**]=बहुत दूर देश से भी भटक कर, बहुत दूर हो गये हुए को भी [**आनयत**]=फिर सुमार्ग पर ले आता है। जीव वस्तुतः कितना भटक गया है! कल्पना करके भी घबराहट होती है। वस्तुतः तो आत्मिक उन्नति के मार्ग पर चलना था। उस पर चलने की क्षमता

के अभाव में बौद्धिक उन्नति का पथ था। उससे उतर कर मानस पवित्रता का मार्ग था। उससे भी उतर कर प्राणों की साधना थी, शरीर का ही पोषण था। हम तो इससे भी नीचे उतर कर धन जुटाने में ही लग गये। और बहुत बार तो उससे भी उतर कर हमारे जीवन का लक्ष्य दूसरों को नीचा दिखाना हो हो गया। इस प्रकार सूदूर मार्ग भ्रष्ट हम को वह प्रभु फिर से मार्ग पर ले आते हैं। कैसे ? [**सुनीती**]=उत्तम नीति के द्वारा। नीति मार्ग में ४ उपाय हैं—साम, दान, भेद, दण्ड। प्रभु साम=शान्ति से हमें सदा प्रेरणा देते हैं। दान=प्रेरणा से कार्य न चलने पर, जितने अंश में हम प्रेरणा पर चलते हैं उतना हमें वह ऐश्वर्य प्राप्त करा के इस दान नीति से और भी सन्मार्ग पर लाने की व्यवस्था करते हैं। इसके भी असफल होने पर भेद=सांसारिक विषमता के द्वारा हमें वह प्रेरित करते हैं। अन्ततोगत्वा वह दण्ड के प्रयोग से ही हमें पापमार्ग पर बढ़ने के अयोग्य कर देते हैं।

पर यह सुनीति किनके लिये बर्ती जाती है ? जो [**तुर्वशम्**]=काम क्रोधादि नाशक वृत्तियों को वश में करने की इच्छा करते हैं। (तुर्वी हिंसायाम् से तुर्शब्द बना है) केवल इच्छा ही नहीं, [**यदुम्**]=जो प्रयत्नशील भी होते हैं (यती प्रयत्ने)। जो व्यक्ति अपने उत्कर्ष की भावना से ही शून्य हैं—और जो आत्मोत्कर्ष के लिये किंचिन्मात्र भी काम नहीं करते, वे प्रभु की सुनीति के प्रयोग के पात्र भी नहीं होते। इस नीति के अन्तर्गत दण्ड से भी वे बचे रहते हैं। हमें कई बार लगता है कि वे अधिक सौभाग्यशाली हैं। पर क्या विद्यालय में प्रविष्ट दण्डित विद्यार्थी से दण्ड से बचा हुआ अप्रविष्ट बालक अच्छा है ? हम कुएं में गिरे हैं। प्रभु रस्सी लटकायेंगे, खेचेंगे भी वे ही। परन्तु रस्सी हमें पकड़नी तो होगी। बिना पकड़े तो काम न चलेगा।

प्रभु इस अपने शिक्षणालय में प्रविष्ट जीव को वाज=शक्ति से भरद्-भर देते हैं। और यह 'भरद्वाज' बन विघ्न बाधाओं को पार कर सन्मार्ग पर तीव्रता से बढ़ चलता है।

भावार्थ—हम कामादि को जीतने की इच्छा करें, और उसके लिये प्रयत्नशील हों, ताकि वह प्रभु जो कि हमारे सच्चे मित्र हैं हमें अशुभ से हटा शुभ से संयुक्त करें।

प्रभु से मिल कर

१ २ ३ २ २ ३ १ २ ३१र २र
मा न इन्द्राभ्या३दिशः सूरो अक्तुष्वा यमत् ।
२ ३ १ २ ३ २
त्वा युजा वनेम तत् ॥४॥१२८॥

ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ! [**नः**]= हमें [**अक्तुषु**]=रात्रि के समान अज्ञानान्धकारों में यह वासना [**मा**]=मत [**आयमत्**]=काबू कर ले। मनुष्य का जीवन प्रायः अन्धकार में चलता है। कभी-कभी उसके जीवन में प्रकाश की किरण (flash of light) चमक उठती है पर सामान्यतः अन्धकार ही रहता है। उसे अपने जीवन के उद्देश्य का ध्यान बिलकुल नहीं होता। क्या करने आया था और क्या करने में वह लगा है ? ऐसा वह सोचता ही नहीं और धन-दौलत के जोड़ने में और भोगों के भोगने में वह दिन-रात उलझा रहता है। यही उसका अन्धकारमय जीवन रात्रि के समान है। और इन रात्रियों में कामादि वासनायें उसे और अधिक काबू किये चली जाती हैं। मंत्र में यह वासनाओं से अभिभूत व्यक्ति अपनी दुर्गति का आभास होने पर प्रभु से इस रूप में प्रार्थना करता है कि यह व्यसन हमें दबा न ले। यह वासना कैसी है ?

(१) [**अभि आ दिशः**]='यह कमा लिया है', अब यह कमाओ; उस शत्रु को मार लिया है, अब इसको मारो; यह कर लिया है, अब वह करो; इतना जुटा लिया है, अब इतना जुटाने की व्यवस्था करो;—इस प्रकार यह वासना हमें

चारों ओर अपने आदेशों से दौड़ लगवा रही है। इससे अभिभूत व्यक्ति ही आज कराची है तो कल कलकत्ते, आज काश्मीर तो कल कन्याकुमारी। उसे शान्ति नहीं, घर में रहने का सुख नहीं।

(२) **सूरः**=(सु अतिशयितम् उरो यस्य)= यह वासना बड़ी बलवान् है। न चाहते हुए भी हम उससे धकेले जा रहे हैं। चाहते हुए हम इसे काबू नहीं कर पाते। काबू किये बिना कल्याण नहीं। पर काबू करना ही कठिन है। हां, [**त्वा युजा वनेम तत्**]=ऐ प्रभो ! तेरे साथ युक्त होकर हम ही इसे समाप्त कर डालें। आपके सहायक होने पर इस वासना ने हमारा क्या बिगाड़ना ! आपकी तो दृष्टि से ही यह भस्म हो जाता है। मुझे आपका ज्ञान हुआ, आपका मेरे हृदय में वास हुआ और यह वासना नष्ट हुई। एवं आपका ज्ञान ही मेरी शरण है। श्रुत-विज्ञान ही मेरा कक्ष hiding place है सुरक्षा स्थान है। और आपकी मित्रता ही मुझे शक्तिशाली 'आँगिरस बनाने वाली है। ऐ प्रभो ! कृपा करो। आपकी कृपा ही मुझे वासना पर विजयी बनायेगी।

भावार्थ—प्रभु के ज्ञान द्वारा मैं प्रभु को अपना मित्र बनाऊं। और इस मित्रता द्वारा वासना का विनाश करने में समर्थ बनूं।

कैसा धन ?

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
१ २ ३ १ २
वर्षिष्ठमूतये भर ॥५॥१२९॥

ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ! [**रयिं आभर**]=धन को हमें प्राप्त कराइये। कैसे धन को ?—(१) [**सानसिम्**]=संभजनीय धन को (**षण संभक्तौ**)=मिलकर सेवन करने योग्य धन को। धन को मैं अकेला ही न खा लूं। पंचयज्ञों में उसका विनियोग करके यज्ञशेष को खाने वाला मैं बनूं। 'केवलाघो भवति केवलादी' अकेला खाने वाला पापी होता है—इस तत्व को मैं न भूलूं। (२- [**सजित्वानम्**]=उस धन को जो मुझे सदा विजयशील बनाता है जिस धन को पाकर मैं इन्द्रियों का गुलाम नहीं बन जाता। या जो धन मुझे इतना आकृष्ट नहीं कर लेता कि मेरे जीवन का वही ध्येय बन जाय और मैं उसका दास बन जाऊं। (३) [**सदासहम्**]=जो धन सदा कामादि वासनाओं का अभिभव करने वाला है। जिस धन से मैं लोभाभिभूत हो सदा मारा-मारा नहीं फिरता। (४) [**वर्षिष्ठम्**]=जो धन सदा अतिवृद्ध है और खूब बरसने वाला है। धन की मात्रा भी मेरे पास पर्याप्त हो और मैं उसका खूब देने वाला बनूं। 'स्यादुत प्ररेचनम्'=धन का सदा बहाव होता रहे—इतना धन मुझे दीजिये।

बस, ऐसा ही धन तो [**'ऊतये'**]=हमारी रक्षा के लिये होता है। इन उल्लिखित गुणों से युक्त धन नाश का कारण न बन कर कल्याण का साधक होता है। जिस धन को मैं औरों के साथ बांट कर खाता हूं, जिसका मैं गुलाम नहीं बन जाता, जो मुझे लोभादि से अभिभूत न कर सदा लोकहित के लिये बरसता है, वह मुझे पवित्र इच्छाओं वाला बनाता है—मैं उसे लोकहित में विनियुक्त कर पाता हूं। इस स्थिति में ही 'मधुच्छन्दा'=उत्तम इच्छाओं वाला 'वैश्वामित्रः'=सभी का मित्र होता हूं।

भावार्थ—धन का हम सदा औरों के साथ बांट कर उपभोग करें। बादल जुटाते-जुटाते काला ही तो होता जाता है, बरसता है तो सफेद होता है। हम भी बरसने पर ही तो शुभ्र होंगे।

महाधन और अल्पधन

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ १ २
इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे । युजं
३ १ २ ३ १ २
वृत्रेषु वज्रिणम् ॥६॥१३०॥

गत मन्त्र में धन का उल्लेख था। सो हम बाह्य धन को ही सर्वस्व समझ उसी के अर्जन में

न जुट जायें, इसलिये इस मन्त्र में उस धन की आन्तरिक आत्मसंपत्ति से तुलना कर उस धन को अल्पधन कहा गया है, जब कि यह आत्मिक आत्मसंपत्ति 'महाधन' है। [**वयं**] =हम [**इन्द्रं**] = उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को [**महाधने**] =इस महाधन की प्राप्ति के लिये ही [**हवामहे**] =पुकारते हैं। पुरुष शरीर और आत्मा के मेल का ही नाम है। शरीर आत्मा का मानो घर है—या वस्त्र है। जैसे घर की अपेक्षा घर में रहने वाले का महत्व अधिक है, वस्त्र की तुलना में वस्त्र को धारण करने वाला महान् है, उसी प्रकार आत्मा के साथ सम्बद्ध धन शरीर के लिये आवश्यक धन की तुलना में महान् है। हमें शरीर के लिये आवश्यक धन को भी जुटाना ही चाहिये—चूंकि शरीर रक्षा भी नितान्त आवश्यक है। शरीर को नीरोग रखना भी महान् कर्तव्य है। इस बात के विचार से ही मन्त्र में इस बाह्य धन के लिये भी प्रार्थना की गई है कि [**इन्द्रं**] =उस सर्वैश्वर्यशाली प्रभु को [**अर्भे**] =अल्पधन के निमित्त [**हवामहे**] = हम पुकारते हैं। यह अल्पधन यही प्राकृतिक ऐश्वर्य है। उसके बिना संरार में जीवन यात्रा का संभव नहीं। प्रभु से, इस प्रकार, हम दोनों ही धनों की याचना करते हैं। किस प्रभु से ?

(१) [**युजं**] =जो हमारे साथ रहने वाले हमारे मित्र हैं। १२८ वें मन्त्र में 'त्वायुजा वनेम तत्'—इस प्रभु रूपी साथी के साथ ही हमने काम विजय का निश्चय किया था। हृदय में आत्मा परमात्मा दोनों का ही निवास है। (२) [**वृत्रेषु-वज्रिणम्**] =जो प्रभु वृत्रों पर वज्र गिराने वाले हैं। हमारे ज्ञान पर आवरण डालने वाला यह काम ही 'वृत्र' है। ये वासनायें हमें सत्य का स्वरूप देखने से वञ्चित किये रहती हैं। प्रभु का स्मरण होने पर ये नष्ट हो जाती हैं—मानो प्रभु इन पर वज्रपात करके इन्हें समाप्त कर देते हैं।

इन वासनाओं के समाप्त हो जाने पर हम उस बाह्य धन को उसका उचित ही स्थान देते हैं। वही हमारे जीवन का ध्येय नहीं बन जाता, वह 'अल्प' ही रहता है। और आत्मिक संपत्ति को ही हम प्रमुखता देते हैं। इस प्रमुखता देने का ही परिणाम होता है कि हमारी इच्छायें पवित्र बनी रहती हैं। वेद के शब्दों में हम 'मधुच्छन्दाः' होते हैं। और किसी से द्वेष न करने के कारण हम 'वैश्वामित्र' होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में बाह्य व आन्तर धनों को उनका उचित स्थान देने वाले बनें।

कुटिलता से दूर

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे ।
१ २ ३ १ २
तत्राददिष्ट पौंस्यम् ॥७॥१३१॥

जब मनुष्य अल्पधन को अर्थात् इस सांसारिक सम्पत्ति को महाधन का स्थान देकर उसी को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है तब वह अपने टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से (by hook or crook) इसे कमाने लगता है। उस समय यह धन का दास बन जाता है—धन इसका दास नहीं होता। इसका जीवन कुटिलता से भर जाता है। 'कम से कम श्रम से किस प्रकार अधिक से अधिक धन कमा लूं' यही सदा उसके चिन्तन का विषय बना रहता है। इस कार्य में वह सारी नैतिकता को तिलांजलि दे देता है और इस प्रकार धनार्जन करता हुआ निधन=मृत्यु की ओर बढ़ रहा होता है। सर्प के समान कुटिल आचरण वाला बनकर वह सचमुच सर्प ही बन जाता है। जैसे सर्प एक निधि पर पहरा दे रहा होता है, उसी प्रकार इस पुरुष की भी स्थिति होती है। लोभाविष्ट हो यह किन-किन कुटिलताओं को स्वीकार करता है यह सोचकर ही अत्यन्त आश्चर्य होता है। यह आत्मिकशक्ति से शून्य हो वासनाओं का ही शिकार हो जाता है। यह इन्द्र नहीं परन्तु इन्द्रियों का दास होता है। परन्तु जिस दिन [**'कद्रुवः'**] = सर्पिणी के [**'सुतम्'**] =पुत्र को अर्थात् इस कुटि-

लता की वृत्ति को यह [**'अपिबत्'**]=पी जाता है अर्थात् समाप्त कर देता है उस दिन [**'इन्द्रः'**]=इन्द्र होता है, बाह्य ऐश्वर्य को महत्व न देकर आन्तर ऐश्वर्य को महत्व देने वाला यह सचमुच 'इन्द्रः=परमैश्वर्यशाली बनता है। यहां 'कद्रूः' शब्द का प्रयोग है—(कत्+रु) 'बुरी तरह से रुलाने वाली।' यह कुटिलता की वृत्ति आरम्भ में चाहे कितना ही ऐश्वर्य प्राप्त कराती प्रतीत हो परन्तु अन्त में तो यह रुलाने वाली ही है। इस तत्व को समझ कर मनुष्य जब इसे समाप्त करता है तभी वह 'इन्द्र' बनता है। अब वह [**'सहस्रबाह्वे'**]=शतशः प्रयत्नों के लिये होता है। 'प्रयत्न न करना'='कुटिलता से हथियाना' यह उसकी वृत्ति समाप्त हो जाती है, और वह प्रयत्न का पक्षपाती होता है। और [**'तत्र'**]=इस प्रयत्न में ही वह [**'पौंस्यम्'**]=शक्ति को [**'आददिष्ट'**]=धारण करता है। कुटिलता उसे पौरुष से दूर ले जा रही थी, प्रयत्न उसे पौरुष प्राप्त कराता है, और 'पौरुषं नृषु' इस वाक्य के अनुसार उसे प्रभु के साथ संयुक्त करता है। प्रयत्न से हम पौरुष को प्राप्त कर अपने अन्दर दिव्यता को ला रहे होते हैं। इस दिव्यता से हमारा सारा सूक्ष्म शरीर—प्राणमय कोश, मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोश—दीप्त हो उठता है, हम इन तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' (शुच दीप्तौ) बन जाते हैं। ऐसा बनना ही बुद्धिमत्ता है—मेधाविता है—सो हम 'काण्व'=मेधाविपुत्र कहलाते हैं। इससे दूसरे मार्ग पर चलकर अन्त में मृत्यु मुख में पहुंचने से बढ़कर मूर्खता क्या? 'सर्वं जिह्म मृत्युपदम्' इसका ध्यान करते हुए कुटिलता से दूर रहना ही बुद्धिमत्ता है।

भावार्थ—हम, अन्त में रुलाने वाली कुटिलता से दूर होकर, प्रयत्न व पौरुष को अपनाने वाले 'इन्द्र' बनें।

हमें तो आत्मा को ही अपनाना है

३ १ २ ३ २ ३ १र २र
वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र नानुमो वृषन्।
३ २ १ २
विद्धी त्वा३स्य नो वसो ॥८॥१३२॥

सामान्यतः संसार के विषय ऐसे प्रलोभन वाले हैं कि मनुष्य उनसे आकृष्ट होकर उनमें उलझ जाता है। धन ही उसका आराध्य देव बन जाता है—और सभी साधनों से वह उसके संचय में जुट जाता है। सांसारिक भोगों का स्वभाव ही कुछ ऐसा है—यह आपातरमणीय हैं। इनका उपरला पृष्ठ अत्यन्त दीप्तिमय है और मनुष्य को वे बड़े प्रिय प्रतीत होते हैं—प्रिय क्या, मनुष्य के जीवन ही बन जाते हैं। उनमें उलझकर अन्त में यह परितप्त होता है—बहुधा जीवन को भी खो बैठता है। पर्यन्तपरितापी तो ये हैं ही। इनमें वास्तविक सुख कहां! इनकी वह क्षणिक प्रियता शीघ्र ही जाती रहती है। ये विषय प्रारम्भ में अमृतोपम लगते हुए भी परिणाम में विषतुल्य होते हैं। हमारी सभी इन्द्रिय-शक्तियों को ये जीर्ण कर देते हैं। इस प्रकार इन सांसारिक विषयों के परिणाम को देखता व सोचता हुआ व्यक्ति कभी भी इनकी आकांक्षा नहीं कर सकता। यम ने नचिकेता से कहा था कि—(१) दीर्घ जीवन वाले पुत्र-पौत्रों को वर ले, (२) यथेष्ट पशुओं व सोने-चांदी को ले ले, (३) भूमि के विशाल राज्य को भी मैं तुझे प्राप्त करा देता हूं, (४) यथेष्ठ दुर्लभ भोग तुझे उपलब्ध होंगे, तथा (५) स्वयं भी दीर्घ जीवन वाला तू बन जा। इस आत्मा-परमात्मा की वार्ता को जानकर तू क्या करेगा? यम के इस प्रकार कहने पर नचिकेता ने कहा था कि 'वित्त से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती, भोग इन्द्रिय-शक्तियों के जीर्ण करने वाले हैं, कितना भी लम्बा जीवन अन्ततः सान्त ही है।' इसलिये 'मुझे आत्मज्ञानविषयक वर ही मांगना है, ये सब भोग तुम्हारे ही हों, मुझे नहीं चाहियें' इसी प्रकार

काम-क्रोध को वशीभूत करने वाला 'वशिष्ठ' भी कहता है कि [**वयम्**]=हम सब ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! [**त्वायवः**]=तुझे ही चाहने वाले हैं। हे [**वृषन्**]=सब सुखों की वर्षा करने वाले प्रभो! [**अभि**]=आपको लक्ष्य करके हम [**प्रनोनुमः**]=बारम्बार स्तुति करते हैं। आप परमैश्वर्यशाली हैं और सब सुखों की वर्षा करने वाले हैं—सो आपको पाकर किस वस्तु की कमी रह जायगी! वे वस्तुएं सान्त हैं, आप अनन्त हैं। सान्त के लिये अनन्त को छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं हो सकती। ये सान्त भोग्य पदार्थ कितने भी मधुर व आकर्षक हों परन्तु हमने तो निश्चय कर लिया है कि आपको ही पाना है। ऐ [**वसो**]=सब प्रकार से उत्तम निवास के साधक प्रभो! [**नः**]=हमारे [**अस्य**]=इस निश्चय को [**तु**]=तो [**विद्धि**]=आप समझ लीजिये। हमने भी नचिकेता की तरह आत्मा व परमात्मा के ही तत्व को जानना है—विषयों को हमें चाहना नहीं। इस चाह को वशीभूत करके ही मैं इस मंत्र का ऋषि 'वशिष्ठ' बना हूं और वशिष्ठ बनने के लिये ही 'मैत्रावरुणि'=प्राणापान की साधना करने वाला हुवा हूं।

भावार्थ—हमारा यह निश्चय हो कि हमने उस प्रभु को पाना है। उसके लिए हम वशिष्ठ बनें।

तीन दीप्तियां

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरा-
३ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
नुषक् येषामिन्द्रो युवा सखा ॥९॥१३३॥

इस मंत्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' है। शुच् दीप्तौ धातु से शोक शब्द बना है—इसका अर्थ है 'दीप्ति'। त्रिशोक उस व्यक्ति का नाम है जो कि 'तीन दीप्तियों वाला' है। कण-कण करके शरीर, मन व बुद्धि तीनों को दीप्त बनाने वाला यह काण्व है—मेधावी है। इनको दीप्त बनाने में ही मेधाविता-अक्लमन्दी है। यह त्रिशोक उन व्यक्तियों में है [**ये**]=जो [**घा**]=निश्चय से [**अग्निम्**]=उस आगे से चलने वाली प्रभु रूप ज्योति को [**आ इन्धते**]=सर्वतः दीप्त करते हैं। ये संसार के अन्दर विचरण करते हुए प्रत्येक चीज के अन्दर उस प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करते हैं। इनका मस्तिष्क उस ब्रह्मज्ञान से दीप्त हो उठता है। प्रकृति विद्या के अध्ययन से ही वे आत्मज्ञान तक पहुंचते हैं और इस प्रकार उनका मस्तिष्क रूप द्युलोक विज्ञान के नक्षत्रों से और ब्रह्मज्ञान के सूर्य से जगमगा उठता है। इस प्रकार मस्तिष्क को दीप्त बना कर ये त्रिशोक [**आनुषक्**]=निरन्तर [**बर्हिः**]=(उद्बर्हण=eradication) हृदय से द्वेषादि मलों के विनाश को [**स्तृणन्ति**]=विस्तृत करते हैं। हृदय को राग-द्वेष और मोह के मलों से रहित करके दीप्त कर लेते हैं। यह निर्मल मन की दीप्ति ही त्रिशोक की दूसरी दीप्ति है। इनकी तीसरी दीप्ति का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि ये त्रिशोक वे हैं [**येषां**]=जिनकी [**इन्द्रः**]=सब बल के कार्यों को करने वाली देवता [**युवा**]=शुभ से संयुक्त और अशुभ से विपृक्त करने वाली होती हुई [**सखा**]=मित्र है। इनका शरीर बल के कारण तेजस्वी है, यह तेजस्विता ही शरीर की दीप्ति है।

इस प्रकार त्रिशोक का मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से, मन प्रेम के प्रकाश से और शरीर शक्ति के तेज से शुचि-दीप्त बन रहा है। इसी से तो इसका त्रिशोक नाम हुआ है। पिछले मन्त्र के शब्दों में जो [**त्वायवः**]=केवल परमेश्वर को प्राप्त करने की कामना वाले होते हैं वे अवश्य इन तीन दीप्तियों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। यही मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य है।

भावार्थ—हम उज्ज्वल मस्तिष्क, निर्मल हृदय व तेजस्वी शरीर को सिद्ध करने वाले हों।

स्पृहणीय धन

३ २उ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही
२र १ २ ३ १र २र
मृधः । वसु स्पार्हं तदा भर ।।१०।।१३४।।

(१) ऐ प्रभो ! [**विश्वाः द्विषः**]=सब हमारे अन्दर सहसा प्रविष्ट हो जाने वाली द्वेष की भावनाओं को (विश्=to enter, द्वेषणं द्विट्) [**अप भिन्धि**]=हमारे से दूर विदीर्ण कर दीजिये। हमारे पास ये कुत्सित भावनायें फटकने भी न पायें। मन की मलिनतायें 'राग, द्वेष और मोह' ही तो हैं—हम इन मलिनताओं को दूर करके अपने मनों को निर्मल बनाने में समर्थ हों। हमारा यह सतत प्रयत्न हो कि 'हम द्वेष से दूर रहें'। 'अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते'=अपकारियों में भी जो साधु है, साधु तो वही है। उपकारियों के प्रति भी कभी कोई विपरीत भावना उत्पन्न न हो। हम सदा सबके मंगल की ही कामना करें—'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' यही हमारी कामना हो। इसी प्रकार तो हम अपने मनों को दीप्त रख सकेंगे।

(२) [**बाधः मृधः परिजहि**]=उन्नति के मार्ग में बाधा रूप और अन्त में मृत्यु के कारण भूत रोगों को भी हमारे से दूर करिये। 'धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्'=धर्म अर्थ काम और मोक्ष सभी पुरुषार्थों का आरोग्य ही उत्तम मूल है, नीरोगता के अभाव में इन पुरुषार्थों की सिद्धि का संभव नहीं होता। रोग इनकी प्राप्ति के मार्ग में बाधक होते हैं, सो इन्हें 'बाधः' शब्द से स्मरण किया गया है। ये ही रोग असमय मृत्यु के कारण हो जाने से 'मृधः'=murderers=हिंसक कहे गये हैं। ऐ प्रभो ! हमारे शरीर इस प्रकार तेजस्वी हों कि हमें ये रोग अपना शिकार न बना सकें। हमें शरीर की वह दीप्ति प्राप्त हो जिसमें कि ये रोग भस्म हो जायें।

(३) [**तद् स्पार्हं वसु आभर**]=ऐ प्रभो ! उस स्पृहणीय धन को हमारे में भर दीजिये। 'बाह्य धन' और 'आन्तर धन' ये दो शब्द सोना, चांदी व ज्ञान के लिए प्रयुक्त होते हैं। दोनों धनों का मानव जीवन में स्थान है। शारीरिक आवश्यकताएं बाह्य धन से पूरी होती हैं तो आत्मिक उन्नति ज्ञान की अपेक्षा करती है। हमारा जीवन इस आन्तर धन से परिपूर्ण हो। बाह्य धन की तुलना में यह आन्तर धन स्पृहणीय है। हमारी शक्तियां बाह्य धन के जुटाने में ही समाप्त न हो जायें। ऐ प्रभो ! आपकी कृपा से हमारा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से दीप्त बने। हम ज्ञान की ही स्पृहा वाले हों। और इस प्रकार मन, शरीर व बुद्धि तीनों को दीप्त करके हम इस मंत्र के ऋषि त्रिशोक हों।

भावार्थ—ज्ञान ही हमारा स्पृहणीय धन हो।

* * *

।।५।। ऋषिः—१ कण्वो घौरः; २ त्रिशोकः; ३, ९ वत्सः; ४ कुसीदी काण्वः; ५ मेधातिथिः; ६ श्रुतकक्षः; ७ श्यावाश्वः; ८ प्रगाथः काण्वः; १० इरिम्बिठिः ।। देवता—इन्द्रः ।। छन्दः—गायत्री ।। स्वरः—षड्जः ।।

कहना—करना

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् ।
१र २र ३ १ २
नि यामञ्चित्रमृञ्जते ।।१।।१३५।।

हम सब प्रभु की प्रार्थना करते हैं। कईयों की प्रार्थना सुनी जाती है, कईयों की नहीं। हमने गत मंत्रों में तीन दीप्तियों के लिए प्रार्थना की। कईयों को ये प्राप्त हैं, कईयों को नहीं। यह क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर बड़े सुन्दर शब्दों में यहां इस प्रकार

दिया गया है कि [**इह एव**] यहां ही [**एषां**]= इनकी बात [**शृण्वे**]=सुनी जाती है [**यद्**[= जब [**कशा**]=वाणी [**हस्तेषु**]=हाथों में [**वदान्**]=बोलती है। अर्थात् जब ये वैसा करने का प्रयत्न करते हैं—जैसा कि कहते हैं। वचन के अनुसार क्रिया के होने पर प्रार्थना सुनी जाती है, अन्यथा नहीं। इसी भावना को आचार्य दयानन्द इस रूप में कहते हैं कि 'पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त ही प्रार्थना करना योग्य है।' कोरी शाब्दिक प्रार्थना व्यर्थ है। 'यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति' इन शब्दों में हमारी वाणी और कर्म का समन्वय होना चाहिए। तभी प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनेंगे, और हम इसी जीवन में उन्नत होकर लक्ष्य स्थान पर पहुंच जायेंगे। प्रभु तो हमारी प्रार्थना को क्रिया के होने पर सुनते ही हैं, लोग भी हमारी बात को तभी सुनेंगे—अर्थात् मैं स्वयं वैसी क्रिया वाला हूंगा तभी मेरा उपदेश प्रभाव को पैदा करेगा, अन्यथा नहीं। मैं प्रातः जागरण का उपदेश दूं और स्वयं सूर्योदय होने पर उठूं, तो मेरा सारा उपदेश व्यर्थ होगा। उपदेश की कोई कीमत न होगी। मैं रिश्वत लेता हुआ 'रिश्वत पाप है' इस प्रचार को नहीं कर सकता। इस सारी बात का ध्यान करके ही यह कहा गया है कि एक टन उपदेश से एक औंस उदाहरण कहीं अधिक प्रभावजनक है। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे नर करहिं ते नर न घनेरे' यह तुलसी का वचन ठीक ही है=करने वाले थोड़े हैं; पर प्रभाव करने वालों का ही होता है। शास्त्रों में भी क्रियावान् को ही पण्डित माना गया है। 'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः'=शास्त्रों को पढ़कर भी मूर्ख होते ही हैं। 'कहना कुछ, करना कुछ' यह मूर्खता ही तो है।

एवं, जिनकी वाणी हाथों में बोलती है अर्थात् जो क्रियाशील हैं वे लोग ही [**यामन्**]=इस जीवन यात्रा के मार्ग को [**चित्रम्**]=बड़े अद्भुत प्रकार से, बड़ी सुन्दरता से [**निऋञ्जते**]= निश्चय से अलंकृत करते हैं। शास्त्रानुकूल जीवन बनाने से जीवन का सुन्दर बन जाना स्वाभाविक है। कण-कण करके—थोड़ा-थोड़ा करके—उसने इस जीवन को उत्कृष्ट बनाया है सो इसका नाम 'कण्व' हो गया है। यह कण्व 'घोर घोर पुत्र= अति घोर अर्थात् बहुत उत्कृष्ट जीवन वाला (घोर =noble) है।

भावार्थ—जो कहें, सो करें। हमारे आगम व प्रयोग में समता हो। कहनी व करनी में समता ही उच्च जीवन का लक्षण है। जैसा बोलूं, वैसा चलूं।

क्या भेंट लेकर जायें ?

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इम उ त्वा वि चक्षते सखाय इन्द्र सोमिनाः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥२॥१३६॥

संसार में हम देखते हैं कि गौ आदि पशुओं के समीप उनके दोहन के लिये जब लोग जाते हैं तो उन पशुओं के लिये भी घास लेकर जाते हैं। पशु के समीप भी बिना कुछ लिये नहीं जाते। सो उस महान् राजाधिराज के चरणों में भी बिना कुछ भेंट लिये जाना कैसे ठीक हो सकता है! 'रिक्तपाणिर्न पश्येत्'=खाली हाथ मिलने न जाय यह सामान्य शिष्टाचार का नियम है। संसार में हम किसी के यहाँ जाते हैं तो कुछ लेकर ही जाते हैं। विद्यार्थी दीक्षान्त के दिन आचार्य के चरणों में दक्षिणा लेकर उपस्थित होता है, हमें भी उस महान् आचार्य के चरणों में दक्षिणा रखनी है। 'यह दक्षिणा—यह भेंट—क्या हो' यही इस मंत्र का विषय है। कहते हैं कि [**यथा**]=जैसे [**पुष्टावन्तः**] =(संभृतघासाः—सा०) पशु के पोषण के लिये साधन भूत घास आदि सामग्री वाले होकर [**पशुम्**] (विचक्षते)=पशु के दर्शन के लिये उसके समीप जाते हैं उसी प्रकार [**इमे उ**]=ये ही [**त्वा**]=हे प्रभो! आपको [**विचक्षते**]=दर्शन के लिये प्राप्त होते हैं (come to pay a visit to you) जो कि [**इन्द्र**]=ऐ परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! [**सखायः**]=सखा हैं और [**सोमिनः**]=सोम वाले हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रभु के चरणों में

हमारी भेंट यही है कि (१) हम सखा बनें, (२) हम सोम वाले बनें। सखा बनने का अभिप्राय यह है कि हम भी प्रभु के समान ख्यान=ज्ञान वाले बनने के लिये प्रयत्नशील हों। हमारा जीवन सदा ज्ञान को महत्व देने वाला हो—ज्ञान को ही हम महाधन समझें। ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से हम सदा अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनायें। हमारा भोजन सदा ऐसा हो जो बुद्धि को कुण्ठित करने वाला न हो। इसी ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से ही हम सोमी (semen) वाले भी बनें। यह सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन होता है। इस सोम की रक्षा से ही हमारी ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रह सकती है। इसी सोम-रक्षा को ही ब्रह्मचर्य व संयम कहते हैं, यह सोम-रक्षा ही ब्रह्म=ज्ञान की चर=प्राप्ति कराने वाली है, और उस ज्ञान प्राप्ति के द्वारा [**ब्रह्म**]=परमेश्वर की ओर [चर]=ले जाने वाली है।

इस सोम रक्षा को करने वाला व्यक्ति शरीर की दृष्टि से नीरोग व तेजस्वी होता है, मन की दृष्टि से विशाल व निर्मल होता है। वीर्य का अपव्यय करने वाले निस्तेज, चिड़चिड़े, द्वेषी, व कुण्ठमति हो जाते हैं। ये सखा और सोमी तो शरीर, मन व बुद्धि तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' बनते हैं। इस ज्ञान और शक्ति का कण-कण करके इन्होंने संचय किया है, सो ये 'काण्व' कहलाते हैं।

भावार्थ—हम सखा व सोमी बनकर प्रभु के चरणों में उपस्थान के अधिकारी बनें।

नोट—हमें अपने उद्देश्य का सदा स्मरण रहे और उसके लिये हम तैयारी करने में लग जायें। उद्देश्य ही भूल गये तब तो तैयारी ही क्या करेंगे और यदि ट्रेन आयी और हमने अस्त-व्यस्त हो भागने की कोशिश की तब भी ट्रेन मिस कर घर लौटना होगा (पुनर्जन्म)। यह ट्रेन तो scheduled भी नहीं, पता नहीं कब आ जाये (मृत्यु), सो तैयार रहना ही ठीक। आये और हम बैठ जायें। अब (on the wrong side of 50) पचास से ऊपर होकर तो इस तयारी के अतिरिक्त कुछ न करना ही ठीक है।

ज्ञान की ओर

१२ ३२३२ ३१ २ ३१२
समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः।
३ १२३ १ २
समुद्रायेव सिन्धवः॥३॥१३७॥

गत मन्त्र में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि मनुष्य ने प्रभु के चरणों में ज्ञान की ही भेंट रखनी है' यह विषय इस मंत्र में प्रतिपादित किया गया है। [**इव**]=जैसे [**सिन्धवः**]=बहने वाली नदियां [**समुद्राय**]=समुद्र के लिये संनमन्ति=झुकती हैं, अर्थात् समुद्र की ओर बहती चली जाती हैं, उसी प्रकार [**विश्वाः**]=इस संसार के अन्दर प्रविष्ट हुए-हुए और अब प्रभु की गोद में प्रवेश की इच्छा वाले, [**कृष्टयः**]=(कृष्=उखाड़ना) हृदयस्थली से वासनारूप घास-फूस को उखाड़ देने की इच्छा वाले [**विशः**]=प्रजाजन [**अस्य**]=इस प्रभु के [**मन्यवे**]=ज्ञान के लिये, प्रभु से दिये गये वेद-ज्ञान के लिये—[**संनमन्त**]=झुकते हैं अर्थात् प्रयत्नशील होते हैं।

इस प्रलोभनों से भरे संसार में ज्ञानाग्नि में ही वासनायें भस्म हुवा करती हैं। वासनाओं को भस्म करके ज्ञान ही मनुष्य को पवित्र बनाता है। ज्ञान के प्रकाश में ही हमें ठीक मार्ग दिखता है। ज्ञान के होने पर हम पारस्परिक भ्रातृत्व को अनुभव करके शान्ति से रहते हैं—और आपस में लड़ते नहीं। यह ज्ञान ही भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को पड़ोसी की तरह वर्तना सिखायेगा और युद्धों की इतिश्री हो सकेगी। एवं यह ज्ञान हमारे ऐहिक सुख व शान्ति का साधन तो होगा ही—मृत्यु के बाद भी यही हमारी परामुक्ति का कारण बनेगा। सो, अभ्युदय व निःश्रेयस का साधन होने से ज्ञान ही धर्म है।

ज्ञान की इस महिमा को अनुभव करते हुए काण्व=कण्वपुत्र=अर्थात् मेधावी लोग इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये सतत यत्नशील होते हैं। नदियां बही चली जा रही हैं—रुकती नहीं। ये मेधावी

भी ज्ञान संचय में लगे रहते हैं—सन्तुष्ट हो रुक नहीं जाते। नदी का स्वभाव समुद्र की ओर जाना है, इन मेधावियों का भी ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना स्वभाव बन जाता है। नदियों को कोई विघ्न समुद्र की ओर जाने से रोक नहीं सकता– इनको भी ज्ञान प्राप्ति के लिये शतशः घटनाचक्र रोकनेवाले नहीं होते।

ऐसे ही लोग प्रभु के प्रिय होते हैं–सो वे 'वत्स' कहलाते हैं। वत्स का निर्वचन ऐसा भी किया जा सकता है कि 'वदतीति वत्सः'=मंत्रों का उच्चारण करता है—उनका व्यक्त प्रवचन करता है। यह वेद का अध्येता ही ज्ञानी बनता है और प्रभु चरणों में पहुंचने के योग्य होता है।

भावार्थ—हमारा लक्ष्य सदा ज्ञान की वृद्धि करते चलना हो।

(रक्षा के लिये क्या करें ?) सबसे महान् कार्य

३ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ २
देवानामिदवो महत् तदा वृणीमहे वयम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥४॥१३८॥

इस संसार में सबसे महान् कार्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर इस वेदमंत्र में इन शब्दों में दिया गया है कि [**देवानाम् इत् अवः महत्**]=देवताओं का रक्षण सचमुच सर्वमहान् कार्य है। इस शरीर के अन्दर देव इन्द्रियां हैं, इनका अधिष्ठाता आत्मा महादेव है। इन इन्द्रियों की रक्षा करना ही मानव जीवन का सबसे बड़ा ध्येय होना चाहिये। [**'वयम् तत् आवृणीमहे'**]=हम इसी कार्य का सर्वथा वरण करते हैं। मकान को रक्षा करना संपत्ति का ध्यान करना, स्वास्थ्य का ध्यान करना, गृहस्थ का पालन ये सब भी आवश्यक ही बातें हैं। परन्तु सबसे बड़ी बात तो यह है कि हम अपनी न्द्रियों की रक्षा करें यदि ये भटक गईं और विषयों के चंगुल में फंस गईं तो फिर इनका उससे बच निकलना, कठिन हो जायगा। विषयों को मनु ने दुरन्त कहा है—इनका अन्त होना कठिन है। और फिर इन विषयों का स्वभाव ऐसा है कि हम इनमें फंसे, और इनका शिकार हुए। 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः'=भोग नहीं भोगे जाते, हम ही भोग्य बन जाते हैं। ये इन्द्रियाँ वास्तव में तो [**'वृष्णाम्'**]=सुखों की वर्षा करने वाली हैं। इन सुखवर्षक देवों के रक्षण को हम वरते हैं। वही इन्द्रियाँ जो कि सुरक्षित होकर हमारे पर सुखों की वर्षा करने वाली हैं, वही विषयों में फंस कर हमारे नाश का कारण बन जाती हैं। जिन ज्ञानेन्द्रियों से प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके हमें मृत्यु से तैरना है और ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर अमृत को पाना है—वही इन्द्रियां विषयासक्त होने पर हमें गोता के शब्दों में 'पतन्ति नरकेऽशुचौ'= अपवित्र नरक में डाल देती हैं। सो हमारा यही महान् कर्तव्य है कि [**'अस्मभ्यम् ऊतये'**]=ये हमारी रक्षा के लिये हों, इस उद्देश्य से हम इनकी रक्षा करें।

मनु का एक श्लोक है 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'=अर्थात् मारा हुआ धर्म हमें मार डालता है और रक्षा किया हुवा धर्म रक्षा करता है। इसी प्रकार यह रक्षा की हुई इन्द्रियां हमारे सब अभिलषितों को सिद्ध करने वाली होती हैं और असुरक्षित होने पर ये हमारे ही विनाश का कारण बन जाती हैं। मन्दोदरी ने रावण को मृत देखकर यही तो कहा था कि "इन्द्रियों को जीतकर तूने त्रिभुवन को जीत लिया था। उन्हीं के वश में होकर तेरी यह दुर्गति हो गई।" वस्तुतः मंत्र के ये शब्द कितने ही ठीक हैं कि 'इनकी रक्षा हम अपनी रक्षा के लिये करते हैं।' तपस्वी रोमन सेनापतियों ने रोमन साम्राज्य की स्थापना व विस्तार किया। उनके विलासी हो जाने पर वह विशाल साम्राज्य नष्ट ही हो गया। सभी साम्राज्यों की प्रतिष्ठा तप में होती है, विनाश भोग में। ऋषियों ने तप किया, उसी के परिणामरूप 'राष्ट्र बल और ओज' की उत्पत्ति हुई' ये वेद के शब्द

इसी सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन कर रहे हैं। जो भी व्यक्ति इस प्रकार इन्द्रिय-रक्षा रूप तप को अपनाता है वह ओजस्वी होकर पनपता है, इस पृथ्वी पर प्रतिष्ठित होता है, उसका नाश नहीं होता। इसीलिये वह 'कु-सीदी'=पृथ्वी पर प्रतिष्ठित होने वाला कहलाता है। एवं बुद्धिमत्ता इन देवों की रक्षा में ही है—यह कुसीदी काण्व=मेधावी है। हमें भी चाहिए कि देव रक्षा द्वारा कुसीदी काण्व बनें।

भावार्थ - जितेन्द्रियता ही सर्वमहान् विजय है हम इन्द्रियों (देवों) की रक्षा करेंगे, ये इन्द्रियां हमारी रक्षा करेंगी।

ज्ञान के चार परिणाम

३ २ ३ १२ ३ १२ ३ १
सोमानां स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षी-
३ १ २ ३ २
वन्तं य औशिजः ॥५॥१३९॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है। यह मेधां अतति=निरन्तर मेधा की ओर चल रहा है। इसके सारे प्रयत्न ज्ञान प्राप्ति के लिये हैं। कण-कण करके यह ज्ञान के संग्रह में लगा है, इसी से काण्व भी कहलाया है। यह प्रभु को भी 'ब्रह्मणस्पति'=ज्ञान के पति के रूप में देखता है, और प्रभु से आराधना करता है कि [**ब्रह्मणस्पते**] =अयि ज्ञान के पति प्रभो! आप मुझे [**'सोमानां स्वरणं कक्षीवन्तं'**]=सोम, स्वरण व कक्षीवान् [**कृणुहि**]=बनाइये। आप मुझे ऐसा बनाईये कि [**यः**]=जो मैं [**औशिजः**]=औशिज बनूं।

इस प्रकार मंत्र में ज्ञान के चार परिणामों का उल्लेख है:—

(१) सोमानम्=ज्ञान मनुष्य को सोम बनाता है। ज्यूं-ज्यूं मनुष्य ज्ञानी बनता जाता है, त्यूं-त्यूं वह अधिक और अधिक सौम्य होता जाता है। 'विद्या ददाति विनयम्'=विद्या विनय को देती है। **ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'—ज्ञान से मनुष्य नतदृष्टि** होता है। भर्तृहरि ने क्या ही सुन्दर कहा है कि जब मैं लगभग कुछ नहीं जानता था, उस समय मैं मदान्ध द्विप के समान सर्वज्ञता के अभिमान में चूर हुवा-हुवा था। परन्तु जब ही विद्वानों के सम्पर्क में आकर मुझे कुछ ज्ञान प्राप्त हुवा, तो मेरा सर्वज्ञता के मद का ज्वर उतर गया। अज्ञान और अहंकार पर्याय हैं। ज्ञान की चरम सीमा और अहंकार का नाश एक ही बात है।

सोम शब्द सू धातु से बनकर 'उत्पादन' की भावना को भी व्यक्त करता है। ज्ञानी सदा उत्पादक कार्यों में—निर्माण के ही कार्यों में—रुचि वाला होता है। इसे तोड़-फोड़ रुचिकर नहीं होती।

(२) स्वरणम्='स्वर् to radiate'। यह ज्ञानी प्रकाशन वाला होता है। इससे चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैलता है। उस ज्ञान के प्रकाश में सभी के लिए मार्ग को देखने की सुविधा होती है। और इस प्रकार यह ज्ञानी औरों के लिए पथप्रदर्शक हो जाता है। इसके समीप रहने वाले भी इसके ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमय हो जाते हैं।

(३) कक्षीवन्तम्—यह ज्ञान मनुष्य को उत्तम कक्ष्या वाला बनाता है। कक्ष्या कमर में बांधी जाने वाली रस्सी का नाम है। एवं ज्ञानी कमर में उत्तम रज्जु को बांधता है—अर्थात् सदा कमर कसे, पुरुषार्थ के लिए तैयार होता है। क्रियाशीलता ज्ञान का अवश्यंभावी परिणाम है। ज्ञान शक्ति है—और शक्ति क्रिया को पैदा करती ही है। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ सदा क्रियाशील होता है।

(४) औशिजः=यह ज्ञानी उशिक् का पुत्र होता है। उशिक् शब्द 'वश् कान्तौ' धातु से बना है। यह सबका भला चाहने वाला, सबका प्यारा होता है। उशिक् का अर्थ मेधावी भी है। वस्तुतः सबका भला चाहना ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है।

भावार्थ—हम ज्ञान को प्राप्त करके विनीत, प्रकाश को फैलाने वाले, क्रियाशील व सबके प्रिय बनें।

श्रुतकक्ष आंगिरस का जीवन

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
शृणोतु शक्र आशिषम् ॥६॥१४०॥

इस मंत्र का ऋषि 'श्रुत-कक्ष'=ज्ञानरूपी शरण स्थान वाला 'आंगिरस'=रसमय अंगों वाला अर्थात् शक्तिशाली अंगों वाला है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**नः**]=हमारे लिये [**शक्रः**]=सर्वशक्तिमान् प्रभु [**इत्**]=निश्चय से [**बोधन्मनाः**] हमारे मनों का सुबोध करने वाला (अस्तु) हो। प्रभु की कृपा से हमारे मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से जगमगाते हों। हमारे मस्तिष्क रूपी द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमके। यह चमकता हुआ ज्ञान का सूर्य [**वृत्रहा**]=वृत्र का हनन करने वाला हो। हमारे हृदयान्तरिक्ष में कामादि वासनायें उत्पन्न होकर ज्ञान को आवृत कर देती हैं। ज्ञान को आवृत करने के कारण ही इन्हें 'वृत्र' यह नाम दिया गया है। जैसे आकाश में उदय होकर प्रचण्ड सूर्य अन्तरिक्षस्थ मेघों को छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार यह ज्ञानरूपी सूर्य वासना रूप वृत्र का विनाश करने वाला होता है। एवं जब हमारा विज्ञानमय कोश ज्ञान से जगमगाता है तब हमारा मन वासना विनाश से निर्मल हो उठता है। और इस नैर्मल्य का परिणाम यह होता है कि [**भूर्यासुतिः**]=हमारा प्राणमय कोश अत्यधिक जीवनी शक्ति वाला होता है। (भूरि=बहुत, आसुतिः =enlivenment), वासना ही शक्ति के अपव्यय का कारण हुआ करती है; वासना गई और शक्ति का कोश पूर्ण हुआ। इस प्रकार क्रम यह है कि ज्ञान, ज्ञान से नैर्मल्य, नैर्मल्य से शक्तिसंचय।

इस शक्तिसंचय के होने पर हो सकता है कि हमें गर्व हो जाय। शक्ति का मद होता ही है। उस शक्ति के मद में हम औरों को घृणा से देखते हुए कहीं अपशब्दों का प्रयोग न करने लग जायें, सो मंत्र में आराधना है कि वह सर्वशक्तिमान् प्रभु [**आशिषम्**]=हमारे से बोले जाते हुए शुभ शब्दों को ही [**शृणोतु**]=सुने। अर्थात् हमारी वाणी से कभी अशुभ शब्दों का उच्चारण न हो। 'आशीः' का अर्थ है—'the act of bestowing blessings on others'=औरों के लिए आशीर्वादात्मक शब्द बोलना। अर्थात् हम शक्ति को प्राप्त करके शुभ ही शब्दों का प्रयोग करें। 'श्रुतकक्ष आंगिरस' बनने का यही मार्ग है।

भावार्थ—हमारा जीवन, 'ज्ञान, नैर्मल्य, शक्ति वा शुभ वाणी' से अलंकृत हो। जैसे एक लड़का पिता से कहता है कि पिताजी, आज से आप मेरे मुख से कभी गाली न सुनेंगे, उसी प्रकार प्रभु से मैं कहता हूं कि आप शुभ ही सुनेंगे।

विकास के अनुकूल सम्पत्ति

३ १ २ ३ १ २ ३
अद्या नो देव सवितः प्रजावत् सावीः
१ २ १ २ ३ १ २
सौभगम् । परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥७॥१४१॥

इस मन्त्र का ऋषि 'श्यावाश्व आत्रेय' है। 'श्यैङ् गतौ' धातु से श्याव शब्द बना है, और अश्व का अर्थ है घोड़ा। इन्द्रियों को वैदिक साहित्य में अश्व से उपमा दी गई है। सो गतिशील इन्द्रियों वाला व्यक्ति श्यावाश्व है। यह क्रियाशील व्यक्ति 'काम, क्रोध, लोभ' से परे रहता है, सो यह 'अ-त्रि' व आत्रेय कहलाता है—'जिसमें तीन नहीं हैं'। पिछले मंत्र में शक्तिसंपन्न बनने का उल्लेख था। शक्ति को प्राप्त करके वह 'श्रुतकक्ष आंगिरस' आज 'श्यावाश्व' बनता है। यह श्यावाश्व 'सौभग'=fortune सम्पति को प्राप्त करता ही है। 'यह सम्पत्ति उसके ह्रास का कारण न बन जाये' इस हेतु वह प्रभु से आराधना करता है कि [**देव सवितः**]=दानादि दिव्य गुणों से सम्पन्न प्रेरक देव [**नः**]=हमारे लिए [**अद्य**]=आज ही [**प्रजावत्**]=(जनी प्रादुर्भावे) 'प्रकृष्ट प्रादुर्भाव'=उच्च विकास से सम्पन्न [**सौभगम्**]=सम्पत्ति को [**सावीः**]=प्राप्त कराईये, प्रेरित करिये। हमें वह

सम्पत्ति दीजिये जो कि विकास का ही कारण बने, कहीं हमारे ह्रास के लिए न हो जाय। धन से मैं विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय कोशों की वृद्धि के लिये अनुकूल साधनों को जुटाता हुआ अन्नमय कोष के स्वास्थ्य के लिये भी सामग्री का संग्रह करूं। यह धन, विलास वृद्धि का साधन बन कर, मेरे विनाश को उपस्थित न कर दे। इसके कारण मैं भोगों का शिकार न बन जाऊं। ऐ प्रभो! आप 'देव' हैं, देने वाले हैं। आप तो अपने लिए कुछ भी बचाते नहीं हैं। आपसे प्रेरणा प्राप्त करके मैं भी देने वाला बनूं। देने वाला बनने से ही मैं इस धन से ह्रास की ओर न जाकर विकास की ओर जा सकूँगा।

ऐ प्रभो! इस प्रकार मुझे दान वृत्ति वाला बनाकर आप मेरे से [**दु:ष्वप्न्यम्**]=बुरे स्वप्नों के कारणभूत पापों को [**परा सुव**]=दूर करिये। यदि मैं धन को दान में विनियुक्त न करूंगा तो स्वभावत: विलास व पाप की ओर मेरा झुकाव हो जाएगा, और ये पाप मुझे सुख की नींद भी सोने न देंगे। इनके कारण मैं दु:स्वप्नों को ही देखा करूंगा।

'दु:स्वप्न्यं' शब्द का अर्थ 'बुरी तरह से सोने वाली' 'अत्यन्त असंज्ञभूत' वृक्षादि योनि का कारण भी है। हम धन को प्राप्त करके उन पापों में न फंस जायें जो कि हमारे वृक्षादि स्थावर योनि को प्राप्त करने का कारण बनें। 'शरीरजैः कर्मदोषैः याति स्थावरतां नरः' शारीरिक कर्मदोषों से नर स्थावर बनता है। सो यह धन हमें इन पापों में फंसाने वाला न हो। धन को प्राप्त करके भी हम 'श्यावाश्व'=क्रियाशील बने रहें, तभी हम 'आत्रेय'=काम, क्रोध, लोभ में न फंसे हुए बन सकेंगे।

भावार्थ—हमारा धन हमारे विकास के लिए हो, न कि विलास के लिये और परिणामत: विनाश के लिये।

पञ्चविध विकास

२ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
क्वा३स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः।
३ १र २र
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥८॥१४२॥

गत मंत्र में ऐसी सम्पत्ति की आराधना थी जो कि विकास की साधिका है। इस मंत्र में विकास का उल्लेख है। हमें उन्नति का ठीक-ठीक भाव ज्ञात नहीं। सामान्यत: अधिक रुपये के होने को ही हम उन्नति समझते हैं। यह बात तथ्यता से बहुत दूर है। उन्नत पुरुष का चित्रण प्रस्तुत मंत्र में 'वृषभ, युवा, तुविग्रीव, अनानत, और ब्रह्मा' इन पांच शब्दों में किया गया है। इनकी भावना इस प्रकार है।—

(१) [**वृषभः**]—इस शब्द का सामान्य अर्थ बैल होता है। कवि लोग 'वृषभस्कंधः' आदि शब्दों से शक्तिशाली पुरुष का चित्रण बैल की उपमा देकर करते हैं। बैल शक्ति का प्रतीक है। शेर अपने नेत्र पंजों व दाढ़ों के कारण बेशक बैल को मार ले, परन्तु वह बैल की तरह ८० मन बोझ को नहीं खैंच सकता। यह घोड़े के लिये भी तो असंभव है। एवं शक्तिशाली शरीर वाला पुरुष 'वृषभ है। इसकी शक्ति औरों पर सुखों की वर्षा करने वाली है---बैल की शक्ति भी औरों के लिये अन्न आदि के उत्पन्न करने में व्यय होती है। (वृष्=वर्षा-करना)।

(२) [**युवा**]--यह शब्द यु धातु से बना है। इसका अर्थ है (१) मिश्रण, और (२) अमिश्रण। मिलना और अलग होना। 'सं मा भद्रेण पृंक्तम् विमा पाप्मना पृंक्तम्'=भद्र से संपृक्त होना, और अभद्र से पृथक् होना। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को शुभ कार्यों में युक्त करके अशुभ कार्यों से पृथक् करता है वह युवा है। प्राणमय कोश के विकास का अभिप्राय ही यह है कि सब इन्द्रियाँ शुभ कार्यों में व्यापृत हों।

(३) [**तुविग्रीवः**]=मनोमय कोश के विकास का संकेत 'तुविग्रीवः' शब्द कर रहा है। 'तुवि' का अर्थ 'बहुत'। ग्रीवा का अर्थ है गरदन। तुविग्रीवः=बहुत गर्दनों वाला। जो व्यक्ति अपने मन में सभी के लिये प्रेम को धारण करता, सभी में आत्म बुद्धि करता है—वह तुविग्रीव तो है ही। इस प्रकार मन को रागद्वेष से शून्य बनाना ही मनोमय कोश का विकास है।

(४) [**अनानतः**]=इस शब्द का अर्थ है 'नहीं दबा हुआ'। जो भी पुरुष अपने को ज्ञान संपन्न बनाता है, तो ज्ञान के विकास के साथ उसमें खुशामद या दबकर कुछ करने की वृत्ति स्वतः समाप्त हो जाती है। यह न दबता है—न दबाता है।

(५) [**ब्रह्मा**]=बृहि वृद्धौ से बनकर ब्रह्मा शब्द "खूब बढ़ हुए का" वाचक है। 'यो वै भूमा तत्सुखम्' बढ़े हुए होने के कारण ही इसका जीवन आनन्दमय होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'=यह सारी वसुधा को अपना परिवार समझकर चलता है।

इस पंचविध विकास के करने वाला संसार में 'आश्चर्यवत्' ही कोई होता है। यही बात मंत्र में [**क्व स्यः**]=कहाँ है वह? इन प्रश्नात्मक शब्दों से कही गई है [**तं**]=इस व्यक्ति का तो [**कः**]=आनन्दस्वरूप प्रभु भी [**सपर्यति**]=आदर करते हैं।

भावार्थ—पंचविध विकास करके हम प्रभु के आदर पात्र बनें।

विकास के लिये उचित वातावरण

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
३ १र २र
धिया विप्रो अजायत ॥६॥१४३॥

[**विप्रः**] शब्द सामान्यतः ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त होता है। यह विकास की चरमावस्था की सूचना देता है। जो व्यक्ति अपने अन्दर ज्ञान को भरने में असमर्थ रहा वह तो 'शुचा द्रवति' पीछे इस शोक से उपद्रुत होने के कारण 'शूद्र' कहलाया। एक वेद के ज्ञान को प्राप्त करके वह वैश्य बना, दो वेदों के अध्ययन ने उसे क्षत्रिय बनाया तथा सारे वेदों के ज्ञान को अपने अन्दर वि=विशेष रूप से (प्रा=पूरणे) प्र=अपने अन्दर भरने वाला ब्राह्मण हुआ। यही ब्राह्मण यहाँ विप्र शब्द से कहा गया है। ऐसा ब्राह्मण [**अजायत**]=प्रादुर्भूत होता है। कहाँ? [**गिरीणां च उपह्वरे**]=गिरियों के सान्निध्य में तथा [**नदीनां च संगमे**]=नदियों के संगम में। कैसे? [**धिया**]=धी से।

यहाँ गिरीणां और नदीनां शब्दों के साथ-साथ प्रयोग से इनका अर्थ पर्वत व नदी करने का प्रलोभन होता है। परन्तु गिरि शब्द का आप्टे ने पहला अर्थ पर्वत न करके venerable, respectable=आदरणीय, सम्माननीय गुरुओं का किया है। गिरि और गुरु शब्द इ और उ के भेद से भिन्न दिखते हुए भी एकार्थ-वाचक हैं। 'गृणन्ति इति गिरयः गुरवो वा'=उपदेश करने से ये गिरि या गुरु कहलाते हैं। 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' आचार्यदेवो भव' 'अतिथिदेवो भव' इन तैत्तिरीयोपनिषद् वाक्यों में इन गिरियों का उल्लेख हो गया है। ५ साल तक माता, फिर ८ वें तक पिता, आगे २५ वें तक आचार्य, और फिर गृहस्थ में अतिथि आदरणीय गिरि (गुरु) होते हैं। इनके उपह्वरे (निकटे) निकट रहकर ही बालक ज्ञान का विकास करते-करते विप्र बना करता है। माता-पिता को बालकों का पालन भृत्यों के जिम्मे न डालकर सदा स्वयं उनका पालन करना चाहिये। नौकरों से पाले जाकर वे क्या विप्र बनेंगे? धन का यह भी क्या एक अभिशाप नहीं है? आचार्य के समीप तो विद्यार्थी के रहने की भावना को अन्तेवासी शब्द ही सुव्यक्त कर रहा है। गृहस्थ भी सदा अतिथियों की स्वयं सेवा करता हुआ उनका सान्निध्य करने का यत्न करे।

'नदीनाम्' में 'नदी' शब्द न लेकर 'नदि' शब्द लेना चाहिये। इसका अर्थ praise=स्तुति है। वो

व्यक्ति भी जिसका कि जीवन ही स्तुतिमय हो गया है 'नदि' कहलाता है। इन ब्रह्मनिष्ठ, सदा प्रभु की स्तुति करने वाले नदियों के [**संगमे**]=संग में आकर मनुष्य 'विप्र' बनता है। जहां कहीं इन व्यक्तियों का प्रवचन हो, सत्संग हो, वहाँ अवश्य ही एक सद्गृहस्थ को सम्मिलित होने का यत्न करना चाहिये। इस संग से ही मनुष्य 'सुमनाः'=उत्तम मन वाला बना करता है।

इन गिरियों के निकट व नदियों के संगम में एक मनुष्य विप्र तो बनता है, पर बनता तभी है यदि उसके पास 'धी' हो। धी शब्द के चार अर्थ हैं (1) Intellect=बुद्धि, (2) Propensity प्रवृत्ति (सुझाव), (3) Devotion=भक्ति श्रद्धा, तथा (4) Sacrifice=त्याग। बुद्धि के अभाव में तो हम उनके उपदेशों को समझ ही न सकेंगे, सो हम उनसे क्या लाभ लेंगे? बुद्धि होने पर भी यदि हमारी उन उपदेशों के सुनने की प्रवृत्ति ही न हो, तो हम बुद्धि का अन्य ही प्रयोग करते रहेंगे। बुद्धि और प्रवृत्ति के साथ भक्ति व श्रद्धा भी अत्यन्त आवश्यक है चूंकि एकदम लाभ तो होता नहीं, और श्रद्धा के अभाव में देर तक उस मार्ग पर चलने का सम्भव नहीं रहता। और अन्त में त्याग की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है। कुछ न कुछ आराम व सुख का त्याग, गुरुशुश्रुषा व सत्संग में सम्मिलित होने के लिये करना ही पड़ता है।

एवं धी से यदि हम माता-पिता, आचार्य, अतिथि व ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों के सम्पर्क में आकर कण-कण करके ज्ञान का संचय करेंगे तो इस मंत्र के ऋषि 'काण्व' व कण्वपुत्र कहलायेंगे और प्रभु के प्रिय बनकर 'वत्स' होंगे।

भावार्थ—गुरुओं का सान्निध्य तथा ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों का संग हमें बुद्धि द्वारा विप्र=अपने को ज्ञान से पूरण करने वाला बनाये।

प्रभु-स्तवन

२ ३ १२ ३ १र २र ३ १ २
प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं
३ २ १२ ३ २३ १ २
गीर्भिः। नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥१०॥१४४॥

[**'प्र स्तोता'**]=खूब स्तुति करो। किसकी? (१) [**चर्षणीनां सम्राजम्**]=(चर्षणयः=कर्षणयः) कृषि तुल्य उद्योग करने पुरुषों की दीप्ति करने वाले की। (२) [**इन्द्रं**]=परमैश्वर्य वाले की। (३) [**गीर्भिः नव्यम्**]=सब वेदवाणियों से स्तुति किये जाने वाले प्रभु की। (४) [**नरं**]=आगे ले चलने वाले प्रभु की। (५) [**नृ-षाहम्**]=(षह् मर्षणे)=to show mercy) उन्नतिशील पुरुषों पर कृपा दृष्टि रखने वाले की। (६) [**मंहिष्ठम्**]=सर्वाधिक दानशील की।

(१) प्रभु अपनी वेदवाणी में जीव को उपदेश देते हैं कि 'अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित् कृषस्व'=जुवा न खेलकर, खेती कर। वस्तुतः श्रम में ही दीप्ति है। श्रमशील व्यक्ति ही प्रभु के प्रिय होते हैं। आलस्य हमें शैतान की प्रजा बनाता है।

(२) श्रमशीलता के होने पर ही हम उस ज्ञान रूप परमैश्वर्य को भी पाते हैं जो कि हमें प्राकृतिक भोग-पंक में फंसने से बचाकर प्रभु का सच्चा उपासक बनाता है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'

(३) इस ज्ञान का ही यह परिणाम होता है कि हम वेदवाणियों से उस प्रभु की महिमा का गायन करते हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'=सारे वेद उस प्रभु की ही महिमा का तो गायन कर रहे हैं।

(४) यह प्रभु-गुण-गायन [**नरं**] हमें=आगे ले चलता है—हमारे उत्थान का कारण बनता है। प्रभु के गुणों में रुचि उत्पन्न होकर हम दैवी-संपत्ति को अपने अन्दर बढ़ाने वाले बनते हैं।

(५) यह दैवी सम्पत्ति प्रथम तो इस रूप में प्रकट होती है कि हम अन्य मनुष्यों पर दया-दृष्टि वाले बनते हैं। मनुष्य की अल्पज्ञता व स्खलन-

शीलता का ध्यान करते हुए तैश में नहीं आते।

(६) इसी दैवी सम्पत्ति का दूसरा यह परिणाम है कि हम मंहिष्ठ=उत्तम दाता बनते हैं। उत्तम दाता वह है जो आय का एक भाग देवों को, एक पितरों को तथा एक अपने को देता है। मध्यम दाता वे थे जो ३ भाग राष्ट्रधारकों को देकर चार भाग पत्नी को देते थे तथा सबसे निचले दानी पन्द्रहवाँ भाग दे डालते हैं। 'देवो दानात्'=देव तो होते ही देने वाले हैं। यह स्तोता उस महान् दाता प्रभु का स्मरण करके देने वाला बनता है और देव हो जाता है।

यह स्तोता 'इरिम्बिठि' था। इसका विठं=हृदयान्तरिक्ष सदा इरि=गतिशील था। उसमें निरन्तर प्रभु स्मरण की धारा बह रही थी। इसी सतत प्रभु स्मरण ने उसे कदम-कदम करके जीवन-मार्ग में उन्नत किया था। सो कण-कण करके दिव्य गुणों का भण्डार बनने के कारण यह 'इरिम्बिठि काण्व' कहलाया।

भावार्थ—प्रभु स्तवन से हम अपने जीवनपथ को प्रशस्त बनाते हुए 'देव' बनें।

● ● ●

॥१॥ ऋषिः—१ श्रुतकक्षः, २ मेधातिथिः; ३ गोतमः; ४ भरद्वाजः; ५ विन्दुः पूतदक्षो वा ६, ७ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा; ८ वत्सः काण्वः; ९ शुनःशेपः; १० शुनशेपो वामदेवो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अज्ञानान्धकार का नाश

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अपादु शिप्रचन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः।
२ ३ २ ३ १ २
इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः ॥१॥१४५॥

[**'शिप्री'**]=ज्ञान के शिरस्त्राण वाले [**इन्द्रः**]=परमैश्वर्यशाली प्रभु [**अंधसः**]=अन्धकार का (अंध+अस्) [**अपात् उ**]=निश्चय से पान कर जाते हैं—नाश कर देते हैं। शिप्र शब्द Helmet=शिरस्त्राण का वाचक है। सो शिप्री=शिरस्त्राण वाले। सचमुच जो मस्तिष्क को अज्ञान के आक्रमण से बचाते हैं वे शिप्री तो हैं ही। वे इन्द्र=ज्ञान रूप परमैश्वर्य वाले हैं। वे प्रभु हमें ऊंचा ज्ञान देते हुए हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देते हैं। कहते हैं कि अगस्त्य ऋषि ने समुद्र का पान किया था, ये प्रभु अज्ञान समुद्र का शोषण कर देते हैं। परन्तु किसके ?

(१) [**सु-दक्षस्य**]=उत्तम मार्ग से आगे बढ़ने वाले के (दक्ष=to go, to move)। जिस व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य उत्तम मार्ग से आगे बढ़ना है उसका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। ध्येय व क्रिया की उत्तमता उसे पवित्र बनाती है—और पवित्र हृदय में ही ज्ञान का प्रकाश होता है।

(२) [**प्र-होषिणः**]=प्रकृष्ट त्याग करने वाले के (हु=त्याग)। वस्तुतः त्यागयुक्त क्रियायें ही मनुष्य को निर्मल बनाती हैं। 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' इन गीता शब्दों में दान मनुष्य का पावन-पवित्र करने वाला है। यही पवित्रता ज्ञान प्राप्ति के हमें योग्य बनाती है।

(३) [**इन्दोः**]=इन्दु के। इन्दु शब्द सोम का वाचक है—semen=vitality=वीर्यशक्ति। जो व्यक्ति अपने को वीर्यशक्ति का पुंज बनाता है वह इन्दु है। प्रभु इसके अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं। वस्तुतः इस सुरक्षित वीर्य ने ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है। इस ईंधन के अभाव में ज्ञानाग्नि बुझ जाती है।

(४) [**यवाशिरः**]=यवाशिर के। गो शब्द

ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है (गमयन्ति अर्थात्) और यव शब्द कर्मेन्द्रियों का (यूयन्ते कर्मसु)। 'आशृ' से बनकर आशिर् शब्द चारों ओर से हिंसा करने वाले' को कह रहा है। यह कुमार्ग पर जाने वाली इन्द्रियों को काबू करता है। वस्तुतः उपस्थादि इन्द्रियों के संयम से ही तो यह 'इन्दु'=शक्ति का पुंज बन पाया था।

वह नष्ट अज्ञानान्धकार वाला व्यक्ति 'श्रुतकक्ष' =ज्ञान रूप शरण वाला है और अतएव विषयों में आसक्त न होने के कारण 'आंगिरस'= शक्तिसंपन्न है।

भावार्थ--हम उत्तम मार्ग से चलने वाले, त्यागशील, शक्तिपुंज, और कर्मेन्द्रियों के न वशी बनें ताकि हमारा अज्ञानान्धकार पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय।

प्रभु बछड़ा हो, मैं गौ

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
इमा उ त्वा पुरूवसोऽभि प्र नोनुवुर्गिरः।
१ २ ३ २उ ३ १ २
गावो वत्सं न धेनवः ॥२॥१४६॥

ऐ [**पुरुवसो**]=पालक और पूरक निवास को देने वाले प्रभो! [**इमाः**]=ये [**उ**]=निश्चय से [**गिरः**]=मेरी वाणियां [**त्वा**]=आपको ही [**अभिप्रनोनुवुः**]=लक्ष्य बनाकर निरन्तर स्तुति करने वाली हों। इस प्रकार आपका ही ध्यान करने वाली मेरी चित्तवृत्तियां हों [**न**]=जैसे कि [**धेनवः गावः**]=नवप्रसूतिका गौवें [**वत्सं**] =बछड़े का ध्यान करने वाली होती हैं।

प्रभु सभी को उचित वास के साधन प्राप्त कराते हैं—वे साधन उनका पालन व पूरण करने वाले होते हैं। जो भी खाद्य पदार्थ जिस-जिस जलवायु में उपयोगी हो सकते हैं, प्रभु ने वे सब उस-उस स्थान में प्राप्त कराये ही हैं। कुछ तो ज्ञान की कमी के कारण और कुछ मन को पूर्ण वश में न कर सकने के कारण हम उन पदार्थों का ठीक प्रयोग नहीं करते और परिणामतः हमारे उचित विकास में कुछ कमी आ जाती है। प्रभु तो पुरुवसु ही हैं। मैं सदा उस प्रभु का स्तवन करूं, जिससे कि मेरा अज्ञानान्धकार दूर हो तथा मैं चित्तवृत्तियों को वश में कर सकूं और इस प्रकार प्रभु से दिये गये उन पदार्थों का ठीक उपयोग करके उत्तम निवास वाला बनूं। मेरा चित्त सदा उस प्रभु के लिए उसी प्रकार उत्कण्ठित रहे जिस प्रकार कि गौ बछड़े के लिये उत्सुक होती है मेरी चित्तरूप नवसूतिका गौ के लिये प्रभु बछड़े के समान हों। इधर-उधर न ध्यान करती हुई गौ जैसे बछड़े की ओर ही चली आती है, उसी प्रकार मेरा मन इधर-उधर विषयों में भ्रान्त न होकर प्रभु की ओर ही लगा रहे– उसी की ओर दौड़ता जाये और अन्त में उसी में प्रविष्ट हो जाय।

चित्त को प्रभु में लगाने से बढ़कर बुद्धिमत्तापूर्ण कुछ भी और नहीं है। यह ठीक है कि यह सभी एक रात (over-night) में होने वाला नहीं। धीरे-धीरे अभ्यास से ही मन प्रभु में लगेगा। कण-कण करके, इंच-इंच करके हमें इस मार्ग पर आगे बढ़ना होगा। इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा (कण-कण) करके निरन्तर आगे बढ़ने वाला 'कण्वपुत्र =काण्व' इस मंत्र का ऋषि है। यह सचमुच 'मेधाम् अतति'=ज्ञान प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है, सो 'मेधातिथि' है।

भावार्थ—हम अपनी चित्तवृत्तियों को सदा प्रभु में अर्पित करें।

चन्द्रमा के घर में

२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
३ २ ३ १ १ ३ २
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥१४७॥

इस मंत्र का ऋषि 'गोतम राहूगण' है—(गो =इन्द्रिय, तम=अत्यन्त प्रशस्त, रह्=त्यागे, गण =संख्याने) अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियों वाला है और वह ऐसा इसलिये बन पाया है कि त्यागवृत्ति वालों

के अन्दर भी तो उसका स्थान गणना के योग्य है। यह त्याग की भावना मनुष्य के अन्दर तब आती है जबकि वह [**अत्र**] =इस मानव जीवन में [**ह**] =निश्चय से [**त्वष्टुः**] =उस संसार के निर्माता के [**अपीच्यम्**] =अत्यन्त सुन्दर व सुगुप्त [**नाम**] =यश को [**गोः**] =वेदवाणी के द्वारा [**अमन्वत**] =मनन करता है। वेदवाणी के अध्ययन से जब वह अपराविद्या (सृष्टिविद्या व विज्ञान) को प्राप्त करता है तो उसे इन प्राकृतिक वस्तुओं के अन्दर उस प्रभु की अद्‌भुत रचना शक्ति दिखने लगती है। एक-एक पदार्थ उसके लिये एक आश्चर्य (miracle) हो जाता है। स्वयं वेद-वाक्यों की रचना भी तो उसे अनुपम बुद्धि से की गई प्रतीत होती है। [**इत्था**] =ऐसा अनुभव वह तब करता है जबकि वह [**चन्द्रमसः**] =मन के (चन्द्रमा मनसो जातः, मन=moon) [**गृहे**] =गृह में, स्थान में—स्थित होता है। अर्थात् मनुष्य क्षण भर भी विषयों से उपराम होकर अपने अन्तर मानस में स्थित हुआ और उसे प्रभु की महिमा का ध्यान आया। विषयों में स्थित होने पर भोगवृत्ति बढ़ती है, मन में स्थित होने पर विज्ञानवृत्ति। सो मनुष्य को चाहिए कि भोगवृत्ति का त्याग करके (रह्=त्याग) अपने मन व इन्द्रियों को निर्मल बनाये और वेदवाणी के द्वारा इस जगत् में प्रभु की महिमा को देखे।

भावार्थ—मनीषी बनकर हम मन से उस प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करें।

रित् का जीवन

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र ३ २र १ २
यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः । तत्र
३ १ २ ३ १ २
पूषाभुवत् सचा ।।४।।१४८।।

रित्—'रियति गच्छति इति रित्' इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि रित् का अर्थ है 'गतिशील'। इन [**'रितः'**] =गतिशील व्यक्तियों को [**यत्**] =यदा =जब [**इन्द्रः**] =परमैश्वर्यशाली [**वृषन्तमः**] =शक्तिशाली व सब सुखों का वर्षक प्रभु [**महीः अपः**] =महनीय=पूजा व प्रशंसा के योग्य कर्मों को [**अनयत्**] =प्राप्त कराता है, [**तत्र**] =तब वहां [**पूषा**] =पुष्टि [**सचा**] =साथ [**भवत्**] =होती है।

इस मंत्रार्थ से स्पष्ट है कि प्रभु जो कुछ प्राप्त कराते हैं, वह रितों=गतिशीलों को ही प्राप्त कराते हैं। अकर्मण्य व आलसी को कुछ प्राप्त नहीं होता। यह ठीक ही है कि God helps those who help themselves, प्रभु उन्हीं की सहायता करते हैं जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं।

प्रभु कैसे हैं:—वे प्रभु 'इन्द्र'=परमैश्वर्य वाले हैं। उनके ऐश्वर्य की सीमा नहीं है। केवल ऐश्वर्यशाली नहीं, वे 'वृषन्तमः' सब कामों व सुखों के वर्षक हैं। वे हमारी किस कामना को पूरा नहीं कर सकते! पर करते वे तभी हैं जबकि हम रित् =गतिशील बनते हैं।

काम पूरण का प्रकार:—हमारी कामनाओं को भी क्या वे सीधा पूरा कर देते हैं? नहीं। वे हमें 'महीः अपः'=महनीय=उत्तम प्रशंसा के योग्य कर्मों को प्राप्त कराते हैं। हमारी प्रवृत्ति शुभ कर्मों की ओर हो जाती है। और उन शुभ कर्मों के परिणाम रूप ही हम उस परमैश्वर्य के अंश को पाया करते हैं।

प्रासंगिक लाभ:—एवं गतिशीलता के होने पर उत्तम कर्मों के द्वारा, हम उस प्रभु के परमैश्वर्य के भागी तो होते ही हैं परन्तु आनुषंगिक रूप से इस क्रियाशीलता में हमें पुष्टि भी प्राप्त होती है। यह सामान्य नियम है कि जिस अंग से हम क्रिया करेंगे वह शक्तिशाली बनेगा।

इस मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाजः बार्हस्पत्यः' है। भरद्वाज का अर्थ शक्तिशाली ही तो है। परमैश्वर्य का अभिप्राय ज्ञान से था। सो यह भरद्वाज ज्ञान को प्राप्त कर बार्हस्पत्य होता है। एवं, आलस्य के अभाव के ये परिणाम हैं कि हम (१) प्रशंसनीय कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, (२) ज्ञान को प्राप्त करते हैं, तथा (३) निर्बलता को दूर भगा कर वास्तविक

पोषण का लाभ करते हैं, और (४) अन्त में इस प्रकार प्रभु की कृपा के पात्र बनते हैं ।

भावार्थ—हम 'रित्' बनें और प्रभु के प्रिय हों ।

विन्दुः पूतदक्षः आंगिरसः

१ २   ३ १ २   ३ २ ३ २ ३ १ २
गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम् ।
३ २उ   ३   १ २
युक्ता वह्नी रथानाम् ॥५॥१४९॥

ऋषिः—'बिन्दु' शब्द सामान्यतः वीर्य के लिये प्रयुक्त होता है । 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'=वीर्यनाश से मृत्यु है, और वीर्यधारण से जीवन । जो व्यक्ति इस बिन्दु का धारण करके अपने को शक्ति का पुंज बनाता है वह भी 'बिन्दु' कहलाता है । इसने अपने दक्ष=बल को पूत=पवित्र किया है, इसी से तो यह उस शक्ति को धारण कर पाया है । एवं यह 'पूत-दक्ष' अंग-अंग में रस वाला 'आंगिरस' हुआ है । यह सब यह इसलिये बन पाया है कि इसने शक्ति को अपने अन्दर ही पिया है । वैदिक भाषा में यही इन्द्र का सोमपान है । सामान्य भाषा में इसे शक्ति का शरीर में खपाना कहते हैं । इस शक्ति को शरीर में ही खपाने का उपाय यह है कि मनुष्य अपने को ज्ञानप्रधान बनाये ।

सोमपान का उपायः—[**'गौः'**]=वेदवाणी ही [**धयति**]=पीती है । वेदाध्ययन से मनुष्य इस शक्ति को अपने ही अन्दर पी लेता है । ज्ञानाग्नि का यह शक्ति ईंधन बन जाती है और शक्ति का अपव्यय नहीं होता । एक युवक यदि ज्ञान प्राप्ति में लीन हो जाता है तो उसकी शक्ति का सदुपयोग होकर वासनापूर्ति में शक्ति के अपव्यय की आशंका नहीं रह जाती । उसकी शक्ति को तो वेदवाणी ने पी लिया है ।

यश—यह वेदवाणी इस प्रकार हमारे लिये सोमपान करती हुई हमें 'मरुत्'=मितरावी=कम बोलने वाला बनाती है और इन [**'मरुतां'**]=कम बोलने वालों की यह वेदवाणी [**'श्रवस्युः'**]=यश से संयुक्त करने वाली होती है । शक्तिशाली बनकर मनुष्य बोलता कम है, कार्य अधिक करता है और इस प्रकार कर्मवीर बनकर यशस्वी होता है ।

इन्द्रत्व—यह वेदवाणी [**'मघोनां'**]=इन्द्रों की [**माता**]=निर्माण करने वाली है । 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' (यास्क) सब बल के कर्म इन्द्र के हैं । वेदवाणी भी हमें शक्तिशाली कर्मों के करने वाला बनाती है । इन्द्र ने सब असुरों का संहार कर दिया । वेदाध्ययन का हमारे जीवन पर यही परिणाम होता है कि हमारी आसुर-वृत्तियां समाप्त होती हैं । हम इन्द्रियों के गुलाम न रह कर इन्द्रियों के स्वामी इन्द्र बन जाते हैं ।

यात्रा की पूर्ति—अन्त में यह वेदवाणी [**युक्ता**]=शरीर रूप रथ में जोती जाने पर ('शरीरं रथमेव तु'=उप०) [**रथानां**]=इन रथों की [**वह्नी**]=यथास्थान (destination) पहुंचाने वाली होती है । अर्थात् हमारी जीवनयात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो जाती है ।

भावार्थ—वेदवाणी का अध्ययन शक्ति की रक्षा का मुख्य उपाय है । यह हमें मितभाषी, यशस्वी कर्मों वाला बनाती है, हमें आसुर-वृत्तियों का संहार करने वाला इन्द्र बना देती है और हमें जीवनयात्रा को पूर्ण करने में समर्थ करती है ।

यज्ञमय जीवन का प्रारम्भ

१ २ ३ १ २   ३ २ ३ १ २
उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते ।
१ २ ३ १ २ ३   ३ २
उप नो हरिभिः सुतम् ॥६॥१५०॥

नाना मद—इस संसार में मानव को कितने ही मद=हर्ष प्राप्त हैं । (१) मनुष्य का शरीर स्वस्थ हो, किसी प्रकार की व्याधि से वह पीड़ित न हो, तो उसे जो हर्ष प्राप्त होता है उसे 'तन्दुरुस्ती हजार नियामत है' इस लोकोक्ति में प्रतिक्षिप्त हुआ-हुआ हम देख सकते हैं । (२) कोई भी

इन्द्रिय किसी भी विषयपंक से लिप्त न हुई-हुई हो तो उस समय इस निर्मल इन्द्रिय वाले पुरुष के चेहरे पर विद्यमान सतत स्मित उसके हर्ष की सूचना दे रहा है। (३) सत्य से पवित्र हुए-हुए मन के अन्दर एक विशेष प्रकार का ही उल्लास होता है। (४)ज्ञान की वृद्धि के साथ दीप्त होता हुआ विज्ञानमय कोश एक अद्भुत ही आनन्द का कारण बनता है। (५) और जिस समय हम अज्ञानियों से किये जा रहे अपमानों से क्षुब्ध नहीं होते उस समय वह सहन शक्ति का बल हमें आनन्द की सीमा पर पहुंचा देता है। (६) इन सब आन्तरिक आनन्दों के साथ बाह्य धन व सम्पत्ति का भी एक आनन्द है जो कि मनुष्य को घृतलवण-तण्डुलेन्धन की चिन्ता से कुछ मुक्त सा किये रखता है।

मदों के पतिः—इन सब हर्षों के स्वामी प्रभु है। उनको सम्बोधित करते हैं कि [**'मदानां पते**] =ऐ मदों के स्वामिन्! आपकी कृपा से ही हम इन हर्षों को इस जीवन में प्राप्त कर पाते हैं। इसलिये कि हम इन मदों को प्राप्त कर सकें आप [**हरिभिः**] =इन इन्द्रिय रूप घोड़ों के उद्देश्य से [**सुतं**] =शक्ति को (सोम=सुत) [**नः**] =हमें [**उपयाहि**] =प्राप्त कराईये। हम भोजन से उत्पन्न वीर्यशक्ति को इन्द्रयों की शक्ति की वृद्धि के लिये ही समझें। इसका अपव्यय क्षणिक आनन्द के आभास के लिये न कर डालें। वीर्य का पान शरीर में ही होगा, तो वह वीर्य अंग-प्रत्यंग को शक्तिशाली बनायेगा।

यज्ञों में:—इस प्रकार जब हमारी इन्द्रियां इस सोमपान के द्वारा शक्तिशाली बनें, तो ऐ प्रभो! आप [**नः**] =हमें [**हरिभिः**] =इन्द्रियों के द्वारा [**सुतं**] =यज्ञ को [**उपयाहि**] =प्राप्त कराईये। शक्तिशाली बनी हुई हमारी इन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त हों।

वस्तुतः मनुष्य का जीवन हर्ष से ओतप्रोत तभी हो सकता है जबकि (१) उसकी इन्द्रियां शक्तिशाली हों और (२) शक्तिसंपन्न इन्द्रियां यज्ञों में प्रवृत्त हो जायें। इन्द्रियों को शक्तिशाली होकर यज्ञप्रवृत्त होने के मार्ग पर चला वही व्यक्ति सकता है जो 'श्रुतकक्ष'=ज्ञान को अपनी शरण (shelter) बनाता है। इस ज्ञान रूप कवच से उत्तम कवच तो हो ही नहीं सकता। इस कवच को धारण करने वाला 'सु-कक्ष'=उत्तम रक्षण स्थान वाला है। इस प्रकार इसकी इन्द्रियां आसुर भावनाओं से अनाक्रान्त रह कर इसे 'आंगिरस'=शक्तिसंपन्न अंगों वाला बनाती है। यही श्रुतकक्ष-सुकक्ष-आंगिरस इस मंत्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को वीर्य रक्षा द्वारा शक्तिशाली बनायें और उन सशक्त इन्द्रियों से यज्ञों में प्रवृत्त हों।

यज्ञान्त स्नान की ओर

३ १र   २र   ३ १ २   ३ १ २   ३ २
इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधन्तो अध्वरे।
१   २   ३   १र २र
अच्छावभृथमोजसा ॥७॥१५१॥

उत्तम यज्ञः—'हमारी इन्द्रियां सशक्त बन यज्ञों में प्रवृत्त हों' यह पिछले मंत्र का सार था। इस मंत्र में कहते हैं कि 'यज्ञों में निरन्तर प्रवृत्त हुई-हुई वे इन्द्रियां आगे और आगे बढ़ती चलें और इसी जीवन में हमें यज्ञान्त-स्नान करने के योग्य बनायें।' [**इष्टा होत्रा**] =वांछनीय यज्ञ [**असृक्षत**] =हमारे से निरन्तर किये जायें। कुछ यज्ञ ऐसे भी हैं जिन्हें कि हम अवांछनीय कह सकते हैं। मेघनाद से लक्ष्मण-विध्वंस के लिये व वृत्र से इन्द्र-विनाश के लिये किये जाते हुए अभिचार यज्ञ इसी कोटि में तो आयेंगे। सशक्त संयमी जीवन वाला पुरुष उत्तम ही यज्ञ करता है।

इन्द्र शक्ति का विकास:—इन [**अध्वरे**] =हिंसारहित यज्ञों में ये लोग [**इन्द्रं वृधन्तः**] =अपने में इन्द्र शक्ति का विकास करते हुए [**ओजसा**] =ओजस्विता के साथ [**अवभृथम्**] =यज्ञान्त स्नान की [**अच्छ**] =ओर बढ़े चलते हैं। हिंसा रहित उत्तम यज्ञों से आत्मिक शक्ति का विकास होता है। इन

यज्ञों का करने वाला ओजस्वी बनता है। यह ओजस्विता इसे यज्ञमार्ग पर और अधिक आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त कराती है। और इस प्रकार वह इन यज्ञों में ऐसी तीव्रता से आगे बढ़ता है कि इसी जन्म में उसके यज्ञान्त-स्नान कर सकने की संभावना हो जाती है। वह यज्ञों को पूर्ण कर यज्ञमय बन जायेगा। इस दिन यह उस यज्ञ रूप विष्णु की सचमुच यज्ञ के द्वारा उपासना करेगा।

यहाँ प्रसंगवश यह संकेत आया है कि यज्ञों में आत्मशक्ति की वृद्धि होती है, यज्ञशील ओजस्वी बनता है। पातक=पाप जहाँ मनुष्य को 'पातयन्ति' =गिराते हैं वहाँ यज्ञ मनुष्य को ऊपर उठाते हैं। पापों से शक्ति घटती है, पुण्य से उसकी अभिवृद्धि होती है। एवं यज्ञों से ओजस्वी बनने वाला पुरुष सचमुच 'आंगिरस' है—रसमय अंगों वाला है। श्रुति प्रतिपादित (एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे=इस प्रकार वेद में विविध यज्ञों का उपदेश है) यज्ञों को अपनी शरण बनाने वाला यह श्रुतकक्ष व सुकक्ष है।

भावार्थ—हम इष्ट यज्ञों से आत्मिक शक्ति का विकास करें, और उससे यज्ञों की चरम सीमा तक पहुंचने के लिये प्रयत्नशील हों।

सूर्य की तरह

३ २उ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह।
३ १र २र
अहं सूर्य इवाजनि ॥८॥१५२॥

मनुष्य का कल्याण ज्ञान के बिना संभव नहीं। पर ज्ञानप्राप्ति बड़ा तीव्र तप व श्रम चाहती है। सो मनुष्य कल्याण प्राप्ति के किसी सरल मार्ग की खोज में रहता है। और आधुनिक जगत् में तो संतों की वाणियों ने भक्ति के रूप में उसे वह सरल मार्ग प्राप्त करा ही दिया है। पर क्या ज्ञानशून्य भक्ति से कभी कल्याण का संभव हो सकता है? नहीं, और कभी नहीं। वेद स्पष्ट कह रहा है कि (१) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' उस प्रभु के ज्ञान के बिना मृत्यु को लांघने व मुक्त होने का कोई मार्ग नहीं। (२) प्रभु ने मनुष्य को सृष्टि के प्रारम्भ में 'वेद'=ज्ञान ही दिया था। दो चीजें इसलिये नहीं कि मनुष्य उनमें तुलना न करने लग जाय। (३) प्रभु ने हमारा नाम ही 'मनुष्य' इसलिये रखा था कि हम सदा अवबोध व ज्ञान प्राप्ति रूप लक्ष्य को न भूलें। (४) वेद में प्रभु ने तीन काण्ड रखे हैं। (क) सबसे पहले ज्ञान काण्ड (ऋग्वेद का ३० घण्टे में पाठ होता है)। (ख) इसके बाद कर्मकाण्ड (यजुर्वेद का १० घण्टे में)। (ग) इसके बाद उपासनाकाण्ड (साम का ५ घण्टे में)। एवं ज्ञान, कर्म व उपासना का अनुपात ३० : १० : ५ प्रतीत होता है। (५) प्रभु ने ज्ञानप्राप्ति के लिये ज्ञानेन्द्रियां व कर्म के लिये कर्मेन्द्रियां दीं। इनके अतिरिक्त उपासना के लिये कोई उपासनेन्द्रिय नहीं दी। वस्तुतः ज्ञानपूर्वक कर्म करने से ही उपासना हो जाती है, सो अलग इन्द्रिय की आवश्यकता भी तो नहीं। (६) मस्तिष्क-प्रयोग में श्रम है, हस्तप्रयोग में श्रम है। हृदय-गति तो स्वयं होती रहती है। एवं उपासना, ज्ञान और कर्म के होने पर स्वतः ही हो जाती है। (७) गीता के चतुर्विध भक्तों में 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'=ज्ञानी भक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है।

इस ज्ञान प्राप्ति के लिये ही इस मंत्र का ऋषि 'वत्स' प्रभु से उच्चारण (पुरस्तात् शुक्रं उच्चरत्) किये गये वेद मंत्रों का उच्चारण करता है (वदतीति वत्सः)। इसीलिये यह प्रभु का प्रिय होता है। (वत्सः=प्रिय)। कण-कण करके ज्ञान का संग्रह करते चलने से यह 'काण्व' कहलाता है। यह वत्स कहता है कि [**अहं**]=मैं [**इत् हि**]=सचमुच निश्चय से [**पितुः**]=ज्ञानदाता उस परम पिता से [**ऋतस्य**]=सत्य की (सत्यज्ञान की) [**मेधाम्**] =बुद्धि को [**परिजग्रह**]=सर्वतः ग्रहण करता हूं। सब सत्य ज्ञानों को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होता हूं। इस प्रकार सत्य ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करके [**अहं**]=मैं [**सूर्य इव**] सूर्य की तरह [**अजनि**]=हो गया हूं। अज्ञानान्धकार के दूर हो

जाने पर ही मानव का कल्याण होता है। यह प्रकाश सब पाप कालिमा को धो डालता है।

भावार्थ :—सत्य ज्ञान को प्राप्त करके हम सूर्य की तरह चमकें।

शुनः शेप की प्रार्थना

३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः।
३ २ ३ २ ३ १ २
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥९॥१५३॥

इस मंत्र का ऋषि 'आजीगर्तिः शुनः शेपः' है। (शुनम्=सुखम्, शेप्=to make) सुख के साधनों का जुटाने वाला व्यक्ति शुनः शेप है। यह उत्तरोत्तर (अज्=गति=to go=गर्त=गड्ढा) अवनति के मार्ग पर ही वस्तुतः आगे बढ़ता है। (१) काम करने से इसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। (२) भोग सामग्री बढ़ जाने से रोग शरीर में घर कर लेते हैं। (३) अभिमान वृद्धि से यह निर्धनों को व सेवकों को आदमी ही नहीं समझता।

यह प्रभु की प्रार्थना करता है तो प्रार्थना भी सांसारिक सुख साधनों के लिये ही होती है। यह कहता है कि [**इन्द्रे**]=प्रभु के चरणों में [**नः**]=हमें [**तुविवाजाः**]=खूब अन्न प्राप्त हों। वे अन्न [**रेवतीः**] धनों वाले [**सन्तु**] हों और [**सधमाद**]=सन्तानों व परिवार जनों के साथ मौज लेने योग्य हों (सध=साथ, माद्=हर्ष)। अर्थात् हमारे अन्न हों, धन हों, और सन्तान हों ताकि उन सन्तानों के साथ हम अपने धनधान्य का आनन्द लूटें।

यह आजीगर्ति फिर प्रार्थना करता है कि—[**क्षुमन्त**]=उत्तम अन्न वाले अर्थात् अच्छी खुराक वाले (खूब खा सकने की शक्ति वाले) हम उन धनधान्यों को प्राप्त करें [**याभिः**]=जिनसे कि हम [**मदेम**]=इस संसार का मजा ले सकें।

वस्तुतः एक सामान्य मनुष्य की प्रार्थना का स्वरूप यही होता है कि धन हो, सन्तान हो, अन्न हो, और मेरे में खाने की शक्ति हो। यह जीवन पाप वाला न प्रतीत होता हुआ भी 'भोगमय' तो है ही। सो ऐसे जीवन के बिताने पर प्रभु अगला जीवन हमें भोगयोनियों में ही दे देते हैं। एवं यह जीवन गर्त की ओर ही ले जाता है। इस जीवन में भी शक्तिक्षीणता, रोग और औरों की घृणा के पात्र होने पर हमें कई बार यह जीवन असार व गलत प्रतीत होने लगता है। उस समय हमारी प्रार्थना का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है।

वामदेव की प्रार्थना (सौम्यता व शक्ति)

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्।
३ २ ३क२र ३ २
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥१०॥१५४॥

'ऐ प्रभो ! यह सांसारिक भोगों का जीवन तो ठीक नहीं है' यही मेरे अनुभवों का निचोड़ है। इस जीवन ने तो मुझे अभिमानी व क्षीणशक्ति ही बना दिया। आप कृपा करो कि मेरे में [**सोमः**]=सौम्यता [**च**]=और [**पूषा**]=पोषण अर्थात् पुष्टि व शक्ति [**चेततुः**]=चेत उठें, जाग उठें। मैं विनीत बन जाऊँ, और शक्ति सम्पन्न हो जाऊं। सांसारिक भोगों से मैं ऊपर उठूं, और अभिमान व निर्बलता के मूल को ही समाप्त कर दूँ। ये सोम और पूषा [**विश्वासां सुक्षितीनाम्**]=सब उत्तम मनुष्यों में हिता=निहित होते हैं। सब उत्तम मनुष्यों का ये कल्याण करने वाले होते हैं। इनको अपने में निहित कर मैं भी उत्तम मनुष्य बन जाऊं। ये सोम और पूषा [**देवत्राहिता**]=देवों में निहित होते हैं। इनको अपने में धारण कर मैं भी देव बन जाऊं। [**रथ्योः हिता**]=(रथी रथ का अधिष्ठाता) ये सोम पूषा उन दम्पती में निहित होते हैं जो कि रथी=शरीर रूप रथ के अधिष्ठाता होते हैं। मैं भी उन्हीं जैसा बनूँ।

कहाँ शुनःशेप की प्रार्थना धन, सन्तान, अन्न व भूख के लिये थी, और कहां अब वह उन चीजों के तत्व को पहचान कर सोम और पूषा का, विनीतता व शक्ति का अभिलाषी हो गया है। वह शुनःशेप न

रह कर 'वाम-देव'=सुन्दर दिव्य गुणों वाला बन गया है।

भावार्थ—हमारे जीवन का उद्देश्य भोगसामग्री को जुटाना न होकर विनीतता व शक्ति का संपादन हो।

● ● ●

॥२॥ ऋषिः—१, ४ श्रुतकक्षः; २ वसिष्ठः; ३ मेधातिथिप्रियमेधौ; ५ इरिम्बिठि; ६, १० मधुच्छन्दाः; ७ त्रिशोकः; ८ कुसीदी; ९ शुनःशेपः॥ देवता—इन्द्रः ॥ गायत्री स्वरः—षड्जः ॥

प्रभुस्तवन से वासना का विनाश

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥१॥
१५५॥

पिछले मंत्र में सौम्यता व शक्ति की याचना थी। यह शक्ति का संपादन बिना सोम (semen)=वीर्य की रक्षा के संभव नहीं, और वह सोम का रक्षण प्रभु के स्तवन के बिना संभव नहीं। इसी लिए मंत्र में कहते हैं कि [**इन्द्रम्**]=उस सर्वैश्वर्य-शाली प्रभु का [**आ**]=सर्वथा [**अभिप्रगायत**]=गान करो। उस प्रभु को, जो कि [**वः**]=तुम्हारे [**अन्धसः**] सोम की [**पान्तम्**]=रक्षा कर रहा है। अन्धस् शब्द ही सोम रक्षा के महत्व का प्रति-पादन करता है कि यह 'आध्यायनीयं भवति' (यास्क) सब प्रकार से ध्यान करने योग्य होता है। हमारा सारा आहार-विहार इसी की रक्षा के दृष्टिकोण से होना चाहिए। कभी भी हम उष्णवीर्य वस्तुओं को न खायें, और उत्तेजक व्यायामों को न करें। पर इनसे बढ़कर आवश्यक बात यह है कि हम प्रभु का स्तवन करें। हमारे हृदयों में प्रभु का वास होगा तो वासना का वहां उत्थान न होगा और परिणामतः हम अपनी शक्ति को सुरक्षित रख सकेंगे। महादेव ही तो कामदेव का विध्वंस करते हैं।

(१) [**विश्वासाहम्**]=वे प्रभु सब का पराभव करने वाले हैं। हम भी उस प्रभु के स्तवन से सोम-रक्षा द्वारा शक्तिशाली बनकर सबका अभिभव करने वाले बनेंगे। अब हम संसार के प्रलोभनों से भी अभिभूत न होंगे।

(२) [**शतक्रतुम्**]=वे प्रभु अनन्त (शत=अनन्त) उत्तम कर्मों वाले हैं। इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी वीर्यवान् बन सदा उत्तम कर्मों में लगे रहेंगे। हमारे मन ईर्ष्या-द्वेषादि से न भरे रहेंगे और हम एक दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपनी सारी शक्ति का व्यय न कर देंगे।

(३) [**चर्षणीनाम् मंहिष्ठम्**]=वे प्रभु मनुष्यों के लिये दातृ-तम हैं। 'प्रभु ने क्या दिया है?' यह सोचने के स्थान में यही साचना होगा कि 'क्या नहीं दिया?' प्रभु ने अपने लिये कुछ बचाया नहीं, उसने अपनी आवश्यकता को शून्य बनाया हुआ है। उसने तो जीवों के हित के लिये अपने को हीं दे डाला है (आत्म-दा)। वीर्यवान् पुरुष भी विलास की ओर न जाने के कारण अपनी आवश्यकताओं को कम रखता है और अधिक से अधिक लोकहित करता है।

संक्षेप में प्रभु का स्तवन करने वाला व्यक्ति (१) सोमरक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनता है। (२) सब प्रलोभनों का अभिभव करने में समर्थ होता है। (३) सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रहता है। (४) अपनी आवश्यकताओं को कम रखता हुआ सदा दानशील होता है।

यह सांसारिक भोगों व ऐश्वर्य को महत्व न देकर ज्ञान को ही महत्व देता है। ज्ञान ही उसकी शरण होता है। इसीसे उसका नाम 'श्रुत-कक्ष' (ज्ञान रूप शरण=shelter वाला) हो गया है। ज्ञान से उत्तम कोई शरण है ही नहीं, सो वह 'सु-कक्ष' है। भोगमार्ग की ओर न जाने से वह 'आंगिरस'=शक्तिशाली है।

भावार्थ :—प्रभु-स्तवन से वासना को दूर रख कर हम अपनी शक्ति की रक्षा करें।

प्रभु हर्यश्व हैं

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।
१ २ १ २ १ २
सखायः सोमपाव्ने ॥२॥१५६॥

'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' इस मन्त्र का ऋषि है। मित्र और वरुण की अर्थात् प्राणापान की साधना करके यह वशियों में श्रेष्ठ बना है। यह कहता है कि [**सखायः**]=समान ख्यान-ज्ञान वाले मित्रो ! ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से मिलकर चलने वाले साथियो ! [**प्रगायत**]=खूब गायन करो, दिन-रात स्तुति करो। सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते उस प्रभु का चिन्तन करो। किस प्रभु का ? (१) [**वः इन्द्राय**]=तुम्हें परमैश्वर्य को प्राप्त कराने वाले प्रभु का। उस प्रभु का स्तवन करो जिसकी कि स्तुति से ज्ञान रूप परमैश्वर्य का लाभ होता है। सत्यज्ञान की प्राप्ति—ऋतंभरा प्रज्ञा का लाभ—प्रभु की कृपा से ही होता है। (२) उस प्रभु का गायन करो जो कि [**वः**]=तुम्हारे [**हर्यश्वाय**]=इन्द्रिय रूप घोड़ों का प्रत्याहरण करने वाले हैं। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इन्द्रियों से विषय पर=प्रबल हैं—इन्द्रियों को आकृष्ट कर लेते हैं ! इन्द्रियां ग्रह हैं, तो विषय अतिग्रह हैं। वो इन्द्रियां जो कि विषयों से आकृष्ट होकर कहीं पहुंच जाती हैं, प्रभुस्मरण के होने पर उनका पुनः प्रत्याहार हो जाता है। हरि=वापिस लाने वाले, अश्व=घोड़ों को। (३) उस प्रभु का स्मरण करो जो कि [**सोमपाव्ने**]=सोम की रक्षा करने वाले हैं। प्रभु का स्मरण करने से इन्द्रियां विषयों की ओर नहीं जातीं। विषयों में लिप्त न होने से हमारी शक्ति सुरक्षित रहती है। स्तुति किये जाने पर हमारे हृदयाकाश में महादेव की प्रतिष्ठा होती है—कामदेव का विध्वंस होता है। और इस प्रकार हमारा सोम विलास में व्ययित नहीं होता।

उल्लिखित प्रकार से प्रभु-नाम-गायन का परिणाम निम्न रूप में होता है :

(१) ज्ञान रूप परमैश्वर्य की प्राप्ति, (२) इससे इन्द्रियों का विषयों में न जाना, (३) परिणामतः सोम का शरीर में ही सुरक्षित रहना।

यह महत्वपूर्ण प्रभुगायन इस रूप में चले कि [**मादनम्**]=हमारे जीवन में यह एक मस्ती (मद) को लाने वाला हो। हम गायन में तन्मय व तल्लीन हो जायं। इस तल्लीनता का ही यह परिणाम होता है कि प्रभु के अनन्य भक्त इस स्थूल शरीर की ममता से ऊपर उठ जाने के कारण शारीरिक कष्टों को अनुभव ही नहीं करते। ये कष्ट उनके लिए अमृत समुद्र में तैरते हुए पुरुष के लिये अग्नि कणिका के समान होते हैं। ये उनको उत्तप्त नहीं करते।

प्रभु की यह अनन्यभक्ति ज्ञान से ही संभव है। ज्ञानी भक्त ही प्रभु का अनन्य भक्त होता है। 'भक्ति से ज्ञान', व 'ज्ञान से भक्ति' इस प्रकार भक्ति और ज्ञान का पारस्परिक कार्यकारणभाव है। इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं।

भावार्थः—ज्ञान संपादन करते हुए हम प्रभु के अनन्य उपासक बनें। हमें भक्ति में एक मस्ती का अनुभव हो।

सच्ची उपासना

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २२ ३ १ ३ ३ २
वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।
१ २ ३ १ २
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥३॥१५७॥

ऐ इन्द्र !, [**त्वा**]=आपकी [**जरन्ते**]=स्तुति करते हैं। कौन ?

(१) [**वयम् उ**]=निश्चय से कर्मतन्तु का विस्तार करने वाले (वेञ्तन्तुसन्ताने)। जो व्यक्ति "कुर्वन् एव इह कर्माणि,...एवं त्वयि, न अन्यथा इतः अस्ति" (यजु ४०.२) कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा करते हैं। 'जिनको यह स्पष्ट है कि यही हमारे लिए मार्ग है, इसको छोड़कर अन्य पर हमने नहीं जाना वे ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं।

(२) [**तद् इत् अर्थाः**] (तद् इत् अर्थो येषाम्) =सर्वव्यापक विस्तृत प्रभु ही जिनका लक्ष्य है (तनु विस्तारे)। प्रभु निःसीम हैं, उनकी हित साधन की प्रक्रिया सीमित नहीं है। इसी प्रकार जो व्यक्ति मनोवृत्ति को व्यापक बनाने का ध्यान करते हैं, जो संकुचितता को समाप्त कर देते हैं, वे विस्तृत बनते हुए प्रभु की सच्ची उपासना कर रहे होते हैं। स्वस्तिक (卐) का चिह्न चारों ओर से सीमा को तोड़ता हुआ यही तो संकेत कर रहा है कि कल्याण सीमितता को समाप्त करने में ही है। प्रभु ब्राह्मण व चाण्डाल गृह में एक समान सूर्य किरणों को पहुंचाते हैं। हम भी व्यवहार में संकुचित न हों।

(३) [**इन्द्र**]=वो प्रभु इन्द्र हैं। सब शक्ति के कार्यों को करने वाले हैं हम भी इन्द्र बनें। शक्तिशाली कार्यों के करने वाले हों। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, हम भी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि आसुर वृत्तियों का संहार करने वाले बनें।

(४) [**त्वायन्तः**]=तेरी ही कामना वाले हों। न कि धन की कामना वाले। No man can serve two masters=दो प्रभुओं की सेवा तो हो ही नहीं सकती। हम धन को अपना प्रभु न बना लें। जिसके जीवन का लक्ष्य धन को जुटाना ही हो जाता है वह प्रभु का उपासक नहीं बन सकता।

(५) [**सखायः**]=जो तेरे सखा हैं—समान ख्यान वाले हैं। जैसे आप सर्वज्ञ हैं, इसी प्रकार जो सर्वज्ञ-कल्प बनने का प्रयत्न करते हैं वे आपके सच्चे उपासक हैं।

(६) [**कण्वाः**]=मेधावी लोग जो कण-कण करके विद्या का ग्रहण करते हैं, वे [**उक्थेभिः**]= स्तोत्रों के द्वारा जरन्ते=आपकी स्तुति करते हैं।

एवं स्पष्ट है कि प्रभु की सच्ची भक्ति (१) कर्मों के निरन्तर करने, (२) हृदय को विशाल बनाने, (३) आसुर वृत्तियों का संहार करने, (४) धन को ही जीवन का उद्देश्य न बना लेने तथा (५) प्रभु के समान सर्वज्ञ-कल्प बनने का प्रयत्न करने में है। इन पाँचों बातों में भी अन्तिम बात के महत्व को स्पष्ट करने के लिये कहा गया है कि कण्व=मेधावी ही तेरी स्तुति करते हैं। इस मंत्र के ऋषि भी मेधातिथि=मेधा की ओर निरन्तर चलने वाला=मेधाम् अतति तथा प्रियमेध (प्यारी हैं मेधा जिसको) हैं। इन ऋषियों के नामों से भी स्पष्ट है कि सर्वोत्तम भक्ति ज्ञानप्राप्ति में लगे रहने में ही है। इनमें मेधातिथि काण्व है—कण-कण करके मेधा के संचय में लगा है। प्रियमेध विषयों में अरुचि के कारण शक्तिसंपन्न होकर सचमुच आंगिरस है।

भावार्थः—हम प्रभु के सर्वोत्तम ज्ञानी भक्त बनने के लिये प्रयत्नशील हों।

सच्ची भक्ति में ही सच्चा आनन्द है

३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः।
३ १ २ १ २ १
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥४॥१५८॥

उपर के मंत्र में जिस मार्ग पर चलने के लिये कहा गया है यह प्रेय=pleasant=आनन्दप्रद नहीं प्रतीत होता, कुछ नीरस सा लगता है। पर क्या यही वास्तविकता है ? मंत्र कहता है कि नहीं [**नः**]=हमारी [**गिरः**]=वाणी [**सुतम्**]=भक्ति भावना से उत्पादित (स्वनिर्मित) स्तुतिवाक्यों को [**इन्द्राय**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये

[**परिष्टोभन्तु**]=प्रशंसा रूप में उचारें, जो प्रभु कि [**'मद्वने'**]=हर्ष को हमारे लिये जीतने वाले हैं अथवा हर्ष का हमारे लिये संविभाग करने वाले हैं। वस्तुतः आनन्द की प्राप्ति प्रकृति की ओर न जाकर प्रभु की ओर जाने में ही है। और प्रभु की स्तुति सच्ची भावना से हृदय के आप्लावित होने पर उत्पन्न प्रभुकीर्तनमय वाक्यों द्वारा हो जाती है, उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वेद मंत्र बोले जायं। वेद के शब्द बहुत उत्तम हैं, इसमें क्या सन्देह! 'परन्तु उनको न जानने वाला प्रभु की उपासना कर ही नहीं सकता' यह धारणा ठीक नहीं है। कबीर, नानक आदि सब सन्तों की वाणियों ने स्व-सुत (स्वयं निर्मित) शब्दों में प्रभु-गायन किया है।

ये सब के सब सन्त क्रियाशील थे। अकर्मण्य व्यक्ति कभी भी प्रभु का उपासक नहीं हुआ करता। मंत्र स्पष्ट शब्दों में कहता है कि [**'अर्कम्'**]= उस उपासनोय प्रभु को [**कारवः**]=कारक= क्रियाशील लोग ही [**अर्चन्तु**]=पूजते हैं। 'कारु शब्द सामान्य क्रियाशील का वाचक नहीं है, यह 'शिल्पकारक' को कहता है, कलापूर्ण क्रिया वाले का यह वाचक है। कुशलता से कर्म को करने वाला ही सच्चा प्रभु का उपासक है। गीता में इसी कर्मकुशलता को 'योग' नाम दिया गया है।

मंत्र १५७ में सच्चे उपासक का प्रथम लक्षण यह दिया गया था कि वह कर्मतन्तु का सन्तान करता, है, उसे विच्छिन्न नहीं होने देता। यहां समाप्ति पर यह कहा गया है कि प्रभु की अर्चना करने वाला उन कर्मों को कुशलता से करता है। एवं दोनों का समन्वय करके हम कह सकते हैं कि 'निरन्तर कुशलता, से कर्म करने वाला ही सच्चा प्रभु-भक्त है'। ऐसे कर्म सत्यज्ञान का ही परिणाम होते हैं वस्तुतः कर्म से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान कर्मों को पवित्र कर डालता है। इस पवित्र ज्ञान को अपना शरण बनाने वाला 'श्रुत-कक्ष' इस मंत्र का ऋषि है। इनसे बढ़कर उत्तम शरण वाला कौन होगा? सो यह 'सुकक्ष' है। पवित्र जीवन के कारण यह शक्तिसंपन्न 'आंगिरस' तो है ही।

भावार्थ—हम निरन्तर कुशल कर्मों के द्वारा प्रभु की वास्तविक आराधना करने वाले बनें और परिणामतः उत्कृष्ट आनन्द का लाभ करें।

उन्नत होता हुआ भी विनीत

३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधिबर्हिषि।
१ २ ३ २उ ३ १ २
एहीमस्य द्रवा पिब ॥५॥१५९॥

इस मंत्र का ऋषि 'इरिम्बिठि काण्व है। क्रतुमय है हृदय जिसका, कर्म संकल्प से भरे हुए हृदय वाला यह इरिम्बिठि काण्व=कण्वपुत्र अत्यन्त मेधावी तो है ही। कर्म-संकल्प से रहित व्यक्ति कभी भी उन्नति-पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। यह क्रियाशीलता ही इस इरिम्बिठि की उन्नति का कारण बनती है। क्रमशः उन्नति पथ पर बढ़ता हुआ यह समय आने पर उन्नति-शिखर पर आरूढ़ होता है। इस उन्नति-शिखर पर पहुंचकर भी यदि यह सोम=विनीत बना रहता है तो यह कह सकता है कि ऐ [इन्द्र]=परमैश्वर्यशाली प्रभो! [**अयं-सोमः**]=ये मैं उन्नति के होने पर भी विनीत बना हुआ [**ते**]=तेरा ही हूं। वस्तुतः जो व्यक्ति उन्नत होने पर गर्व वाला हो जाता है वह अपने को ही ईश्वर (ईश्वरोऽहम्) मानने लगता है, वह ईश्वर का भक्त नहीं रहता। यह गर्व ही अन्त में उसके पतन का कारण बन जाता है और शीघ्र ही उसका जीवन अपवित्र हो जाता है।

यह इरिम्बिठि प्रभु से कहता है कि [**'निपूतः'**] =मैंने अपने को नितरां पवित्र किया है, मकान के दृष्टिकोण से नहीं, वस्त्रों व बाह्य शरीर के दृष्टिकोण से नहीं, अपितु [**अधिबर्हिषि**]=हृदय के दृष्टिकोण से। मैंने अपने हृदय से काम, क्रोध, लोभ आदि वासनाओं को दूर किया है और इस प्रकार अपने हृदय को निर्मल बनाया है। चूंकि इसमें से वासनाओं रूपी घास को उखाड़ दिया है सो यह सचमुच 'बर्हिः' कहलाने योग्य हुआ है।

इस प्रकार पवित्र बनकर मैं सचमुच आपका ही हो गया हूं।

[**एहि**] =आइये [**ईम्**] =निश्चय से आइये। [**अस्य**] =इस आपके भक्त के प्रति [**द्रव**] =अनुकम्पित हृदय वाले हूजिये, और [**पिब**] =इससे मेरी रक्षा कीजिये। पिब का सामान्य अर्थ पीना ही होता है पर यहां 'रक्षा करना' अर्थ अधिक संगत है। वेद में ऐसा विपर्यय हो ही जाता है।

भावार्थ—हम विनीत व पवित्रहृदय बनें, ताकि प्रभु-रक्षा के पात्र हों।

मैं उस ग्वाले की उत्तम गौ बनूँ

३ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि
१ २
द्यविद्यवि ॥६॥१६०॥

पवित्र मधुर इच्छाओं वाला 'मधुच्छन्दाः'=सभी के प्रति अत्यन्त स्नेह की भावना वाला 'वैश्वामित्रः' इस मंत्र का ऋषि है। यह कहता है कि ऐ प्रभो! [**ऊतये**] =अपनी रक्षा के लिये [**द्यविद्यवि**] =प्रतिदिन [**जुहूमसि**] =हम आपको पुकारते हैं। हम इसलिए आपको पुकारते हैं कि आप [**सुरूपकृत्नुम्**] =उत्तम रूपों के करने वाले हैं। आपके स्मरण व आराधना से शरीर नीरोग बनता है, मन विशाल बनता है और बुद्धि तीव्र बनती है। शरीर, मन व बुद्धि तीनों ही सुरूप हो जाते हैं। इन सुरूप अंग-प्रत्यंगों को प्राप्त करके हम [**गोदुहे**] =ग्वाले के रूप वाले आपके लिये [**सुदुघाम् इव**] =उत्तम दोहा जाने वाली गौ के समान हो जाते हैं।

हम अपने मानव जीवन की रक्षा इसी प्रकार कर सकते हैं कि शरीर, मन व बुद्धि को सुन्दर बनावें। पर इनको सुन्दर बनाना प्रभु कृपा से ही संभव है। इनको सुन्दर बनाकर मनुष्य सुदुघा गौ के समान बन जाता है, जिस गौ का ग्वाला प्रभु ही होते हैं।

बाइबल में shepherd और sheep (भेड़ व गडरिया की उपमा दी गई है, वेद ने गौ व गोपाल को लिया है। वेद में 'गौ' मानव जीवन के साथ जोड़ सी दी गई है। वह हमारी माता बन गई है। हमारी शारीरिक नीरोगता, मानस-विशालता व बुद्धि-सूक्ष्मता का निर्माण करने वाली यह गौ ही है। इस गौ के दुग्ध से प्रभु ने हमारे शरीर, मन व बुद्धि को सुन्दर बनाने की व्यवस्था की है। 'करने वाले प्रभु ही हैं, मैं कौन ?' इस भावना को जागरित करनेवाला ही सुदुघा गौ के समान बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु गोपाल हैं, हम उनकी उत्तम गौवें बनें।

प्रभु की आज्ञा में

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
३ १ २ ३ १ २
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥७॥१६१॥

इस मंत्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' है। इसके मस्तिष्क, मन व शरीर (त्रि) तीनों ही (शोक) दीप्त हैं (शुच् दीप्तौ)। इसने अपने जीवन को इस प्रकार चलाया कि यह शारीरिक, मानस व बौद्ध सभी प्रकार की उन्नतियाँ करने में समर्थ हुआ। सो यह तो स्पष्ट है कि यह बुद्धिमत्ता से अपने जीवन को चलाने के कारण 'काण्व' है। यह काण्व अपने जीवन में प्रत्येक कार्य प्रभु की ओर देखकर और प्रभु से स्वीकृति लेकर ही करता है। यह प्रभु को अपना पूर्ण हितचिन्तक व हितसाधक मानता हुआ कहता है कि [**वृषभ**] =ऐ सब सुखों के वर्षक प्रभो! [**सुते**] =इस उत्पन्न जगत् में [**त्वा अभि**] =तेरी ओर देखकर ही मैं सब कार्य करता हूँ। जैसे एक माता-पिता का आज्ञाकारी बालक किसी भी कार्य के लिये कहे जाने पर माता की ओर देखता है, और माता से अनुमति मिलने पर ही उस कार्य को करता है, उसी प्रकार यह 'काण्व' भी उस प्रभु की ओर देखता है और उस

प्रभु की स्वीकृति होने पर ही उस-उस कार्य को करता है। 'प्रभु ने किन-किन कार्यों के लिये स्वीकृति दी है इस विषय का विचार करने पर यह स्पष्ट है कि प्रभु का प्रथम आदेश ज्ञान प्राप्ति के लिये है। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में वेद ज्ञान ही दिया और मनुष्य का नाम भी 'ज्ञान प्राप्त करने वाला' ही रखा। सो यह काण्व कहता है कि [**'पीतये'**] = मैं अपनी रक्षा के लिये [**सुतम्**] = ज्ञान को [**सृजामि**] = अपने में उत्पन्न करता हूं। ज्ञान का नाम 'सुतम्' इसलिये है कि इसे विद्यार्थी ने आचार्य से इसी प्रकार निकालना होता है जैसे कि हम गन्ने से रस को प्राप्त करते हैं। आचार्य से इसे निकालने का उपाय 'प्रणिपातेन सेवया' नम्रता व सेवा है। नम्रता व सेवा से ही अर्जुन द्रोणाचार्य से अस्त्रशिक्षा को प्राप्त करता है। अविनीत शिष्य आचार्य से ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता। द्रव वस्तुओं का सवन हुआ करता है, ज्ञान को भी साहित्य में द्रव रूप में ही चित्रित किया गया है। ज्ञान की देवता 'सरस्वती' का भी अर्थ 'प्रवाह वाली' ही है। एवं काण्व प्रभु के निर्देशानुसार सर्व प्रथम ज्ञान का सवन करता है। ज्ञान से उसका मस्तिष्क जगमगा जाता है।

यह काण्व अपने को ही प्रेरणा देता हुआ कहता है कि [**तृम्पा**] = ऐ मेरे मन, तू सदा तृप्त रहे। 'मन को सन्तुष्ट रखना' यही प्रभु की दूसरी आज्ञा है। इसी को सन्तोष कहते हैं, कि 'प्रयत्न में कमी न रखना, फल के लिये ललचाना नहीं'। यही आस्तिकता है—प्रभु से की जा रही व्यवस्था में कभी असन्तुष्ट न होना। इसका परिणाम यह होता है कि मन लोभादि-आसुर वृत्तियों से रहित होकर निर्मल हो जाता है और चमक उठता है।

प्रभु के तीसरे निर्देश के अनुसार काण्व की आत्मप्रेरणा यह है कि [**व्यश्नुही मदम्**] = (मद = semen virile) तू अपनी वीर्यशक्ति को शरीर में ही व्याप्त कर। इसे नष्ट न होने दे। इस वीर्यशक्ति के नष्ट न होने देने से यह काण्व अपने शरीर को भी शक्ति-सम्पन्न बना लेता है।

एवं शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों को श्रीसम्पन्न बनाकर यह सचमुच 'त्रि-शोक' बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञानप्राप्ति के द्वारा मस्तिष्क को, सन्तोष की वृत्ति से मन को, और वीर्य को शरीर में ही व्याप्त कर शरीर को हम श्री-सम्पन्न बनायें।

तू ईश ही बन जायगा

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः।
१र २र ३ १ २
पिबेदस्य त्वमीशिषे ॥८॥१६२॥

इस मंत्र का ऋषि 'कुसीदी काण्व' है। 'कुस संश्लेषणे' धातु से यह शब्द बना है। जो प्रभु से संश्लेष्ट होना चाहता है, प्रभु से मिलने की प्रबल इच्छा रखता है, वह कुसीदी है। प्रभु की ओर जाने के मार्ग का अपनाना ही अक्लमन्दी है, सो यह काण्व = मेधावी तो है ही। इस मार्ग पर चलने से ही वास्तविक शान्ति उपलभ्य है। इस मार्ग पर इन्द्रियों को वश में रखने वाला 'इन्द्र' ही चल सकता है। इस इन्द्र से प्रभु कहते हैं कि—ऐ [**इन्द्र**] इन्द्रियों के वशी! [**यः सोमः**] = जो यह सोम (वीर्यशक्ति) [**सुतः**] = उत्पन्न की गई है वह [**ते**] = तेरे [**चमसेषु**] = चमसों के निमित्त तथा [**चमूषु**] = चमुओं के निमित्त ही पैदा की गई है।

'चमस' शब्द का अभिप्राय 'तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तत्रासत ऋषयः सप्त तीरे०।' इस मंत्र में स्पष्ट कर दिया गया है। यहां चमस का अभिप्राय मस्तिष्क से है और इसके तीर पर स्थित सात ऋषि 'कर्णौ इमौ नासिके चक्षणी मुखम्' यह इन्द्रियाँ ही हैं। इन इन्द्रियों के बहुत्व के दृष्टिकोण से ही 'चमसेषु' शब्द में बहुवचन का प्रयोग है। इन ज्ञानेन्द्रियों के निमित्त वीर्यशक्ति का उत्पादन हुआ है। इनको सबल बनाने के लिये ही इस शक्ति का विनियोग होना चाहिये।

इसी प्रकार यह शक्ति चमुओं के निमित्त उत्पन्न की गई है। 'चमू' शब्द का अर्थ यास्क 'द्यावापृथिव्यौ' द्युलोक और पृथिवी लोक करते हैं। अध्यात्म में इनका अभिप्राय मस्तिष्क व स्थूल शरीर है। वीर्यशक्ति दोनों को सबल बनाने वाली है। यह रोगों के कृमियों को विशेष रूप से कम्पित करके शरीर को नीरोग, स्वस्थ व सुन्दर बनाती है, और ज्ञानाग्नि का ईंधन बन कर मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है।

एवं यह स्पष्ट है कि यह सोम शरीर को नीरोग, इन्द्रियों को शक्तिशाली, व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाने के लिये प्रभु से उत्पन्न किया गया है। यदि हम इसका ठीक ही उपयोग करेंगे तो हम इन तीनों को ही ऐश्वर्य सम्पन्न बना पायेंगे। प्रभु कहते हैं कि तू [**अस्य पिबा इत्**]=इस सोम का पान ही कर। इसको अपने शरीर में ही सुरक्षित करने के लिये प्रयत्नशील हो। हम नहीं चाहते कि हमारा बालक पेन्सिल का भी दुरुपयोग करे, तो क्या हमें इस वीर्य के विषय में प्रभु के निर्देश का ध्यान करते हुए उसके अपव्यय से रुकना न चाहिए? यदि हम इस सोम का पान ही करेंगे तो प्रभु कहते हैं कि [**त्वम् ईशिषे**]=तू भी ईश हो जायगा। तेरा भी सामर्थ्य ईश्वर तुल्य ही हो जायगा। वेदान्त के शब्दों में जगत् को बनाने के व्यापार को छोड़कर प्रभु जैसा ही ऐश्वर्य तो इसका हो ही जाता है। तो क्या इतना ऊंचा उठा देने वाली शक्ति का अपव्यय कहीं न्याय्य हो सकता है?

भावार्थ—प्रभु कृपा से सोम का रक्षण करते हुए हम स्वस्थ, निर्मल व दीप्त जीवन वाले बनें।

शुनःशेप आजीगर्ति (वासना-विनाश)

१ २ ३ १ २ ३ १ २
योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
सखायः इन्द्रमूतये ॥९॥१६३॥

जिस व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य कोई बहुत ऊंचा आध्यात्मिक उत्थान नहीं है, अपितु जो सामान्यतः शुनः=सुख के, शेप=निर्माण में ही लगा है और परिणामतः समय-समय पर गर्त की ओर अज=गति वाला होता है, यह शुनःशेप आजीगर्ति भी अपने अनुभवों से अपने से चले जा रहे मार्ग की गलती को समझ कर कहता है कि—[**सखायः**]=ऐ मित्रो! [**इन्द्रम्**]=उस शत्रुओं के दूर भगाने वाले प्रभु को ही [**हवामहे**]=पुकारते हैं जो कि [**योगे योगे तवस्तरम्**]=जब-जब उसके साथ सम्पर्क होता है उस-उस समय पर शक्ति को बढ़ाने वाला है (तवः=बल, तृ=बढ़ाना)। चाहे कोई व्यक्ति कितने भी अपवित्र मार्ग पर जा रहा हो, उसे अपने जीवन में, दुःख के समय ही सही, प्रभु का ध्यान आने पर शक्ति प्राप्ति होती प्रतीत होती है। उस समय वह कल्पना तो कर ही सकता है कि सदा प्रभु के संपर्क में रहने पर वह कितना शक्तिशाली हो जायगा!

काम, क्रोध, लोभ आदि वासनाओं को तुच्छता भोगमार्ग पर चलने वाले को भी अनुभव होती है। वह दिल से उनसे संघर्ष करके विजयी भी होना चाहता है। पर जब अपने प्रयत्नों में वह बार-बार असफल होता है तो अन्त में प्रभु का ही स्मरण करता है और कहता है कि [**वाजे-वाजे**]=प्रत्येक संग्राम में वासनाओं से होने वाले संघर्ष में हम उस प्रभु को ही पुकारते हैं। वे प्रभु ही इन वासनाओं का विनाश करेंगे और [**ऊतये**]=हमारी रक्षा से लिये होंगे।

'वासना-विजय का मुख्य साधन प्रभु-स्मरण ही है' यह बात तो मत्र से स्पष्ट ही है, साथ हो 'सखायः' शब्द यह भी संकेत कर रहा है कि वासना के विजिगीषुओं को चाहिये कि वे सखा बनें—ज्ञानमूलक मैत्री को बढ़ायें (सखा=समान ख्यान वाले), परस्पर मिलकर ज्ञान की चर्चा करें। यह ज्ञान का वातावरण वासनाओं के लिये नितान्त विघातक है। 'प्रभु-स्मरण और ज्ञान का

वातावरण' ये दोनों बातें मिलकर वासनाओं को विनष्ट कर देंगी।

भावार्थ—जब हमारे पर वासनाओं का आक्रमण हो तो हम प्रभु-स्मरण करें। यह प्रभु-स्मरण वासनाओं को विनष्ट कर देगा।

सामुदायिक उपासना
(Congregational Prayer)

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत।
१ २ ३ १ २
सखायः स्तोमवाहसः ॥१०॥१६४॥

इस मंत्र का ऋषि मधुच्छन्दाः=मधुर इच्छाओं वाला वैश्वामित्रः=सभी के साथ स्नेह करने वाला है। यह संसार में वासनाओं से आक्रान्त होते प्राणियों को दुःखमग्न होते देख, करुणान्वित होकर कहता है कि [**सखायः**]=ऐ मित्रो! [**आ तु एत**]=निश्चय से आओ, चारों ओर से यहां पहुंचो, जहां-जहाँ भी कोई कार्य में लगा है वह इस संध्याकाल में कार्य को समाप्त करके यहां आये। [**निषीदत**]=ऐ मित्रो! यहां बैठो। और [**इन्द्रम्**]=उस परमैश्वर्य वाले प्रभु का [**अभि प्रगायत**]=गायन करो। यह प्रभु-गायन ही तो तुम्हें इस वासना-संग्राम में विजयी बनाएगा। ऐ मित्रो! इसी से तुम सदा [**स्तोमवाहसः**]=स्तुतिसमूहों के धारण करने वाले बनो। यह स्तुति सदा तुम्हारी रक्षा करेगी।

इस मंत्र के अर्थ व ऋषि से यह बात सुव्यक्त है कि किसी का भी हित चाहने वाला व्यक्ति उसे प्रभु के चिन्तन व ध्यान के लिये ही प्रेरित करेगा। वास्तव में यही तो कल्याण का मार्ग है। साथ ही इस मंत्र में सामुदायिक प्रार्थना के महत्व का भी संकेत स्पष्ट उपलभ्य है। समुदाय में सब परस्पर एक दूसरे को हिम्मत बंधाते हुए आगे ले चलने वाले होते हैं। प्रत्येक घर में सब गृहसभ्य एकत्रित हो इस प्रकार यदि ध्यान करते हैं तो वह गृह पवित्र शक्तिसम्पन्न बनता चलता है। समुदाय में कुछ लोक-लज्जा का अंश भी वासनाओं के मार्ग पर जाने में प्रतिबन्धक होता है।

भावार्थः—हम सदा एकत्रित हो मिलकर प्रभु का गायन करें और वासनाओं को दूर भगाने का सतत प्रयत्न करें।

* * *

॥ ३ ॥ ऋषिः—१ विश्वामित्रः; २ मधुच्छन्दाः; ३ कुसीदी काण्वः; ४ प्रियमेधः; ५, ८ वामदेवः; ६, ९ श्रुतकक्षः; ७ मेधातिथिः; १० बिन्दुः पूतदक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम का पान

३ १र २र ३ १ २ २ ३
इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते। पिबा
२ १ २
त्वा३स्य गिर्वणः ॥१॥१६५॥

प्रभु जीव से कहते हैं—ऐ [**राधानां**]=सिद्धियों के; सफलताओं के [**पते**]=रक्षक! [**इदं**]=यह सोम [**हि**]=निश्चय से [**ओजसा**]=ओज के हेतु से [**अनुसुतम्**]=रस रुधिर आदि क्रम में पैदा किया गया है। ओज् धातु का अर्थ वृद्धि है। ओजस् वह शक्ति है जो कि वृद्धि का हेतु है। इस शक्ति से जीव से इस संसार में विविध कार्यों के अन्दर सफलता को पाना है। यह शक्ति ही उसे 'राधानां पति' बनायेगी। जीवन यात्रा को भी वह इसी से सफलतापूर्वक समाप्त कर पायेगा। इससे यह तो स्पष्ट है कि इस शक्ति की रक्षा का अत्यधिक महत्व है। जीव का सर्वप्रथम कर्तव्य इसकी रक्षा करना ही है। इसीलिये प्रभु

भी उस जीव से, जो कि प्रभु के गुणगान में लगा हुआ है, कहते हैं कि ऐ [गिर्वण:]=वाणियों से मेरी स्तुति करने वाले जीव! [पिबा तु अस्य]=तू इस शक्ति का पान कर। 'प्रभु-स्तुति' उत्तम कार्य न हो सो बात नहीं है, पर प्रभु के ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि वाणी से मेरे गुणगान करते रहने से कहीं यह उत्तम है कि जीव शक्ति की रक्षा के लिये यत्नशील हो। जैसे एक बालक माता-पिता की सेवा में ही सारा समय बिताने लगे, और पढ़ाई में शिथिल हो जाय, तो माता-पिता भी ऐसा ही तो कहते हैं कि 'हमारी सेवा को तू छोड़। तू अपने प्रश्नों को अच्छी तरह हल करने का ध्यान कर।' इसी प्रकार प्रभु के शब्द हैं—'मेरी स्तुति में लगे हुए जीव! तू सोम के पान का ध्यान कर। मेरे गुणों का तो मुझे पता है ही, उनके मुझे गिनाने की आवश्यकता ही क्या है?'

उल्लिखित सारे सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि वाणी से प्रभु के गुणों का गान व कीर्तन इतने महत्व का नहीं, जितना कि सोम का पान। सोम के पान के लिये आवश्यक है कि उसका शरीर में ही व्यय हो। यह शरीर को वज्र तुल्य बनाने में, व मस्तिष्क को उज्ज्वल करने में ही हो सकता है। इसीलिये शारीरिक दृष्टिकोण से कर्म का व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ज्ञान का महत्व है। इन दोनों को न अपनाकर केवल कीर्तन करने वाले विलास में बह जाया करते हैं। एवं प्रभु की सच्ची स्तुति ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही है। ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रभु ने ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं, कर्म के लिये कर्मेन्द्रियां। कोरी भक्ति का मानव जीवन में कोई स्थान नहीं। ज्ञान और कर्म में तत्पर पुरुष सोम का पान कर शक्तिशाली बनता है और यह शक्तिशालिता उसे 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करने वाला बनाती है। यह विश्वामित्र ही प्रभु का सच्चा भक्त है, 'गाथिन'=प्रभु के गुणों का गान करने वाला है।

भावार्थ:—मैं प्रभु के गुणों को ही न गिनाता रहूं। ज्ञान और कर्म में लगकर सोम पान के लिये प्रयत्नशील होऊं।

यदि सोमपान करेंगे तो—

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १
महां इन्द्रः पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिणे।
१र २र ३ १र २र
द्यौर्न प्रथिना शवः॥२॥१६६॥

प्रभु कहते हैं कि ऐ जीव! तू सोम पान करेगा तो 'राधानां पति'=सफलता का स्वामी तो बनेगा ही और तू (१) [महान्]=बड़ा बनेगा, पूजनीय होगा। वस्तुतः सफलता ही उसके आदर का कारण बनती है। 'Nothing succeeds like success'=सफलता ही सबसे बड़ी विजय है। सोमपान करने वाला महान् से महान् कार्य में सफल होता है और आदर पाता है। (२) [इन्द्रः]=तू इन्द्र होगा। सोम का पान करने वाला इन्द्र बनता है। इन्द्र ने असुरों का संहार किया, यह भी सब आसुर वृत्तियों को समाप्त कर डालता है। (३) [नु परः च]=और अब आसुर वृत्तियों को समाप्त करके यह आत्मा नहीं, 'पर आत्मा'=परमात्मा ही बन जाता है। इसकी शक्ति सामान्य मनुष्य की शक्ति से इतनी अधिक होती है कि मानव मानव न रहकर अतिमानव हो जाता है—आत्मा न रहकर परमात्मा हो जाता है। ऐसे ही लोगों को सामान्य जनता परमात्मा के अवतार के रूप में पूजती है। (४) इस [वज्रिणे]=वज्रतुल्य शरीर वाले के लिये [महित्वम् अस्तु]=लोगों में पूज्यता की भावना हो। संसार के अन्दर यह व्यक्ति यश का लाभ करता है। सोम पान से इसका शरीर वज्र तुल्य हो जाता है। आचार्य दयानन्द के इसी वज्रतुल्य शरीर ने ही अनेक बार विषपान के प्रभाव को भी सहन कर लिया। उनका विरोधी भी उनकी इस शक्ति के सामने नतमस्तक हो ही जाता है। (५) इस सोम पान करने वाले का [शवः]=बल [द्यौः न]=द्युलोक के समान [प्रथिना]=विस्तार से युक्त होता है। अथवा, विस्तार से द्युलोक के समान

इसका बल होता है। इसकी यह विशाल शक्ति ही उससे महान् कार्यों को कराने वाली होती है।

इसकी यह उदारता ही इसे अपवित्रता से दूर करके अत्यन्त मधुर इच्छाओं वाला 'मधुच्छन्दाः' बनाती है। किसीका भी नाममात्र भी बुरा चिन्तन न करने के कारण यह 'वैश्वामित्र' कहलाता है।

भावार्थः—सोमपान के द्वारा मैं भी आत्मा से परमात्मा बनने के लिए प्रयत्न करूं।

अद्भुत ज्ञान-धन

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय।
३ १र २र
महाहस्ती दक्षिणेन ॥३॥१६७॥

पिछले मंत्र में आत्मा के परमात्मतुल्य बनने का उल्लेख था। इस मंत्र का ऋषि 'कुसीदी' (कुस् संश्लेषणे) उस प्रभु से आलिंगन करने वाला है। उस प्रभु से मेल करके उसके अनन्त आनन्द में भागी बनने में ही तो बुद्धिमत्ता है। इसीलिए यह कुसीदी 'काण्व'=अत्यन्त मेधावी कहलाया है। प्रकृति की ओर जाकर अपने पहले ही अल्प ज्ञान को और अल्प कर लेने में बुद्धिमत्ता नहीं है। यह 'कुसीदी काण्व' प्रभु से प्रार्थना करता है कि—

ऐ [**इन्द्र**]=ज्ञान के परमैश्वर्य वाले प्रभो! [**नः**]=हमें [**क्षुमन्तं**]=शब्दों वाले [**चित्रं**]=उत्तम ज्ञान को देने वाले [**ग्राभं**[=ग्राह्य पदार्थ (possession) को अर्थात् वेदज्ञान को [**तु**]=निश्चय से सर्वथा [**संगृभाय**]=ग्रहण कराइये 'तु' शब्द की ठीक भावना 'पक्ष व्यावृत्ति' होती है। आप हमारी प्रवृत्ति को प्रकृति की ओर जाने व आसक्त होने से रोककर उस वेद-ज्ञान की ओर भुकाइये जो कि हमें उत्तम ज्ञानधन का पोषण करने वाली बनायेगी।

आप [**'महा-हस्ती'**]=हैं। महान् गति=ज्ञान वाले हैं (हन्=गति=ज्ञान)। हस्त शब्द हन् धातु से बनता है। हन् का अर्थ हिंसा के अतिरिक्त ज्ञान भी है। उस प्रभु का ज्ञान महान् अनन्त व पूजनीय है, सो प्रभु 'महा-हस्ती' कहलाते हैं। ऐ प्रभो! आप [**'दक्षिणेन'**]=हमारी दक्षता=उन्नति (growth) के हेतु से हमें भी अपना यह महान् ज्ञान प्राप्त कराइये। इस महनीय ज्ञान को प्राप्त करके हम भी आपके सखा बनें। आपके साथ मेल करके इस मंत्र के ऋषि 'कुसीदी' बनें। अज्ञानियों से दूर रहते हुए भी आप ज्ञानियों के तो समीप ही हैं। हम भी आपके इस सामीप्य को प्राप्त करने वाले बनें। इसी सामीप्य के लिये आप हमें उस शब्दमय, चेताने वाली अद्भुत वैदिक संपत्ति को प्राप्त कराइये।

भावार्थः—प्रभु कृपा से हम अद्भुत सर्वज्ञानपूर्ण वैदिक संपत्ति के मालिक बनें।

यथार्थ ज्ञान के लिये

३ १र २र ३ १ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २
अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे। सूनुं
३ २ ३ १ २
सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥१६८॥

इस मंत्र का ऋषि 'प्रियमेध' है। इसे धारण करने वाली बुद्धि ही प्रिय है। ज्ञान-मार्ग पर चलने के कारण ही विषय-प्रवण न होने से यह 'आंगिरस'=शक्तिशाली है। यह अपने को ही आत्म-प्रेरणा (auto-suggestion) के रूप में इस प्रकार कहता है कि [**यथा विदे**]=यथा=जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही विदे=समभने के लिये—अर्थात् प्रत्येक वस्तु के तत्त्वज्ञान के लिये [**इन्द्रम्**]=उस ज्ञानरूप परमैश्वर्य के निधि-भूत प्रभु की [**अर्च**]=उपासना कर। वे प्रभु [**गोपतिं**]=सब वेदवाणियों के पति हैं। [**गिरा**]=और इन वेदवाणियों के ज्ञान के हेतु से तू इन्हीं वेदवाणियों के द्वारा [**अभि प्र**]=उस प्रभु की ओर प्रकर्षेण चल। सदा उस प्रभु के संपर्क में रहने का प्रयत्न कर।

वे प्रभु [**सत्यस्य सूनुम्**]=हृदयस्थ रूप से सदा सत्य की प्रेरणा (सू प्रेरणे) देने वाले हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि' आदि ऋषियों को वे प्रभु हृदयस्थ रूपेण वेदज्ञान दिया करते हैं। ऋषियों में प्रविष्ट उस वेदवाणी को ही समय प्रवाह में हम भी प्राप्त करने के योग्य होते हैं। वे

ऋषि श्रेष्ठ व [अभिप्र] =निर्दोष अन्तः करणों वाले थे। इसीलिये उन्होंने प्रभु के उस प्रकाश को देखा। हम भी सत् =श्रेष्ठ बने, और उस दिव्य प्रकाश को देखने वाले हों। वे प्रभु [**सत्पतिम्**] = सज्जनों के पति =रक्षक हैं। हमारा कर्त्तव्य सज्जन बनना है—रक्षा का भार तो प्रभु पर है। और प्रभु ज्ञान के द्वारा ही तो रक्षा किया करते हैं। 'न देवाः दण्डमादाय०' यह उक्ति नितान्त सत्य है। देव हमारी रक्षा कोई दण्डधारी पहरेदार बनकर थोड़े ही किया करते हैं! जब हम अपने को उनकी रक्षा के पात्र बनाते हैं तो हमें वे उस बुद्धि व ज्ञान को देते हैं जिससे कि हम अपनी रक्षा कर पाते हैं।

भावार्थः—उस गोपति की अर्चना कर हम भी गोपति =वेदवाणियों के पति बनें।

उन्नति के दो मूलमंत्र

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा।
२ ३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ॥५॥१६९॥

[**नः**] =हमारे [**कया**] =(ऊत्या) [**ऊती**] =आनन्दमय रक्षण के हेतु से वह प्रभु [**चित्रः**] =उत्तम संज्ञान के देने वाले [**सदावृधः**] =सदा हमारा वर्धन करने वाले [**सखा**] =समान ज्ञान वाले मित्र [**आभुवत्**] =सब प्रकार से होते हैं। और साथ ही [**कया**] =कुछ अद्भुत आनन्दप्रद [**शचिष्ठया**] =अत्यन्त शक्तिप्रद [**वृता**] = आवर्तन के द्वारा वे प्रभु सदा हमारे सखा वृद्धि के करने वाले होते हैं।

उन्नति दो बातों पर निर्भर करती है। प्रथम तो ज्ञान को प्राप्त करना है। बिना ज्ञान प्राप्ति के उन्नति का संभव नहीं। वस्तुतः ज्ञान ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है, उसके अभाव में तो वह पशु ही रह जाता है। और दूसरी बात कर्तव्य कर्मों का नियमित आवर्तन है। वेद के शब्दों में सूर्य-चन्द्रमा की तरह नियमित गति से हम आगे बढ़ते चलें। न रुकें, न सुस्त हों। इस नियमितता से शक्ति प्राप्त होती है। चरक में स्वास्थ्य के नियमों में इस नियमितता को अत्यधिक महत्व दिया गया है। उन्नति के इन दोनों रहस्यों को समझकर यदि हमारा तदनुसार अनुष्ठान होगा तो हम सब दिव्य-गुणों को प्राप्त करके इस मंत्र के ऋषि 'वामदेव' होंगे। और उत्तम इन्द्रियों वाले होने के कारण 'गौतम' होंगे।

भावार्थः—ज्ञान और नियमितता को हम अपने जीवन का सूत्र बना लें।

दिव्यता का अवतरण

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम्।
१ २ ३ १ २
आ च्यावयस्यूतये ॥६॥१७०॥

इस मंत्र का ऋषि ज्ञान को अपनी शरण बनाने वाला 'श्रुतकक्ष' उत्तम शरण वाला 'सुकक्ष' शक्तिशाली 'आंगिरस' है। यह कहता है कि ऐ मनुष्य! तू [**त्यम्**] =उसको [**उ**] =ही, जो कि [**वः**] =तुम सबके [**सत्रासाहम्**] =सदा शत्रुओं का पराभव करने वाला है, और जो [**विश्वासु गीर्षु**] =सब वेदवाणियों के अन्दर [**आयतम्**] = फैला हुआ है, उसको ही [**ऊतये**] =रक्षा के लिये [**आच्यावयसि**] =अपने में अवतीर्ण कर।

मनुष्य की शक्ति से यह बाहर की बात है कि वह अत्यन्त प्रबल कामादि शत्रुओं से मुकाबला कर सके। उनसे रक्षा के लिये आवश्यक है कि वह अपने अन्दर प्रभु को अवतीर्ण करने का प्रयत्न करे। जिसके अन्दर जितना-जितना प्रभु का अंश अर्थात् दिव्यता का अवतार होता है वह उतना-उतना ही इन शत्रुओं का पराभव करने में समर्थ होता है। वास्तव में तो जीव इन शत्रुओं का पराभव नहीं किया करता, प्रभु ही इन शत्रुओं के सदा पराभव करने वाले हैं। सारे वेदों के अन्दर इस प्रभु की ही महिमा का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन है। इस प्रभु-शक्ति को अपने अन्दर अवतीर्ण करना ही हमारा परम ध्येय होना चाहिये।

भावार्थ:—मैं अपने हृदय में कामारि (महादेव) की प्रतिष्ठा करूं ताकि वहां से काम भाग ही जाय।

मेधा की याचना

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
३ २ ३ १ २
सनिं मेधामयासिषम् ॥७॥१७१॥

जिस प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करने का उल्लेख ऊपर के मंत्र में हुआ है, वे प्रभु [सदसः पतिम्]=इस विशरण गति और अवसाद (समाप्ति) वाले जगत् के पति हैं, [अद्भुतं]=अभूतपूर्व हैं। न कोई उनके समान व अधिक हुआ न है, और नांही होगा। वह [इन्द्रस्य प्रियम्]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के साथ प्रेम करने वाले हैं। जीव प्रभु से प्रेम करे या न करे, प्रभु तो उसका भला चाहते ही हैं। [काम्यम्]=जीव को भी चाहिये कि वह प्रभु प्राप्ति की कामना करे प्रभु सचमुच चाहने योग्य हैं, प्रेम करने योग्य हैं। प्रभु की मित्रता में हम कभी हिंसित नहीं होते। सारा घातपात प्रभु से दूर होने पर ही होता है।

उस प्रभु से प्रेम को करके यदि मैं उसे आराधित कर पाता हूं तो मैं उससे [सनिं मेधाम्]=संभजनीय, उत्तम सेवनीय बुद्धि को ही [अयासिषम्]=माँगता हूं। प्रभु से खानपान, सन्तान व रुपया पैसा ही मांगते रहने में अक्लमन्दी नहीं है। यह मूर्खता की पराकाष्ठा है। यह चीजें तो प्रकृति की अराधाना से अधिक सुगमता से प्रचुरता में पायी जा सकती हैं। प्रभु से तो उसी वस्तु का मांगना ठीक है, जोकि और से मिल नहीं सकती। और वस्तुतः मनुष्य के लिये सर्वश्रेयस्कर वस्तु मेधा ही तो है। इस मेधा की याचना करने वाला, मेधा की ओर चलने वाला इस मंत्र का ऋषि भी 'मेधातिथि' है। इस बुद्धिमत्तापूर्ण चुनाव के कारण यह 'काण्व'=अत्यन्त मेधावी है।

भावार्थ:—हम ब्रह्माण्ड के पति प्रभु से अन्य चीजों की याचना न करके बुद्धि की ही याचना करें।

ज्ञान के ही मार्ग पर

२ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३क २र ३ १ २
ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः।
१ २ ३ १ २
उत श्रोषन्तु नो भुवः ।८।१७२॥

हे प्रभो! [ये]=जो [ते]=तेरे [पन्थाः]=मार्ग [दिवः अध उ]=ज्ञान के ऊपर ही आश्रित हैं [येभिः]=जिनसे आप [व्यश्वम्]=विशिष्ट अश्वों वाले अर्थात् पवित्र इन्द्रिय रूप घोड़ों वाले पुरुष को [ऐरयः]=गति करवाते हैं, [भुवः]=विचारशील लोग (भुव् अवकल्कने=चिन्तने; भुव्+क्विप्) [नः]=हमें [उत]=भी [श्रोषन्तु]=उन मार्गों को सुनायें, उन मार्गों का ज्ञान दें।

संसार में एक मार्ग श्रद्धामूलक है, एक ज्ञानमूलक। ज्ञान को छोड़कर जिस मार्ग का आधार केवल श्रद्धा पर है वह कभी भी मनुष्य के लिए अन्ततोगत्वा हितकर नहीं हो सकता। मनुष्य उसमें गोते ही खाता रहता है, भटकता ही रहता है यह मूढ़ श्रद्धालु अन्धे द्वारा नीयमान अन्धे के समान है। यह कभी लक्ष्य स्थान पर नहीं पहुंच पाता। मनुष्य को ज्ञानाश्रित मार्ग पर ही चलना चाहिये। इस पर चलकर ही मनुष्य प्रशस्त इन्द्रियों वाला 'व्यश्व' बनता है। ज्ञानमूलक मार्ग पर चलने से अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न होकर यह इस मंत्र का ऋषि 'वामदेव' बनता है। अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियों वाला बनने से यह 'गौतम कहलाता है।

मंत्र की समाप्ति पर प्रार्थना है कि विचारशील लोग सदा हमें इस मार्ग का श्रवण कराते रहें। इन विचारशीलों के सत्संग से ही तो सब कोई उत्तम मन वाला बनता है। विवेक का स्रोत इनके उपदेशों का श्रवण ही है। इसलिये उपनिषत् कहती

है कि 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत' = उठो, जागो, श्रेष्ठों के समीप पहुंच कर ज्ञान प्राप्त करो। संसार में ज्ञान के अभाव में केवल श्रद्धा या अन्धश्रद्धा ने बहुत हानि की है। मनुष्य भी ज्ञान प्राप्ति की कठिन तपस्या से बचकर श्रद्धामात्र से कृतकृत्य हो जाना चाहता है। पर यह तो संभव नहीं। ज्ञान के मार्ग पर चलना ही ठीक है। यही व्यश्व वा वामदेव बन सकने का रहस्य (secret) है।

भावार्थः—हम ज्ञानमूलक मार्ग का अवलम्बन करें।

सात्विक भोजन

३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २
भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो। यदिन्द्र
३ १ २
मृडयासि नः ॥९॥१७३॥

पिछले मंत्र में ज्ञानाश्रित मार्ग के अवलम्बन का उल्लेख हुआ है। ज्ञान बुद्धि से होता है और उसकी उत्तमता सात्विक भोजन पर निर्भर करती है। सो इस मंत्र में सात्विक भोजन का उल्लेख है। ऐ [शतक्रतो]! = सैंकड़ों प्रज्ञानों वाले [इन्द्र] = परमैश्वर्यशाली प्रभो! मैं भी तो सौ-सौ वर्ष तक उत्तम ज्ञान वाला बना रहूं और मैं भी इस ज्ञानरूप परमैश्वर्य वाला बन सकूं, इसके लिये आप [नः] = हमें [भद्रं भद्रं] अत्यन्त कल्याण व सुखकर [इषम्] = अन्न का व [ऊर्जम्] = रस को अर्थात् सात्विक खानपान को [आभर] = सब ओर से प्राप्त कराइये। इस सात्विक भोजन पर ही तो बुद्धि की सात्विकता का निर्भर है। 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः' = भोजन के शुद्ध होने पर सत्व अर्थात् अन्तःकरण भी शुद्ध होता है। शुद्ध बुद्धि ही शुद्ध विचार को पैदा कर हमारे कर्मों को पवित्र करती है। ये पवित्र कर्म हमारे सुख का कारण बनते हैं। इसीलिये मंत्र की समाप्ति पर कहते हैं कि ऐ इन्द्र! [यद्] = जो [नः] = हमें [मृडयासि] = आप सुखी करते हैं तो हमें शुद्ध बुद्धि के साधनभूत शुभ अन्न और रस को प्राप्त कराइये।

इस मंत्र का ऋषि ज्ञान को शरण बनाने वाला 'श्रुतकक्ष', उत्तम शरण वाला 'सुकक्ष', शक्तिशाली 'आंगिरस' यह समझ लेता है कि वह द्रव्य अभक्ष्य है जो कि बुद्धि को लुप्त करता है। बुद्धि को सात्विक बनाने वाले भोजनों का ही सेवन करता हुआ यह सचमुच 'श्रुतकक्ष' बनता है।

भावार्थः—सात्विक आहार के सेवन से हम सात्विक बुद्धि का सम्पादन करें।

उत्पन्न शक्ति की रक्षा

२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः।
३ २ ३ १ २ ३ २ १
उत स्वराजो अश्विना ॥१०॥१७४॥

ऊपर के मंत्र में सात्विक बुद्धि के लिये सात्विक आहार के सेवन का विधान है। सात्विक आहार के सेवन से भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस भोजन से उत्पन्न शक्ति की रक्षा की जाय। यह सुरक्षितशक्ति ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और बुद्धि को तीव्र करती है। इसी से इस मंत्र का ऋषि शक्ति रक्षा के महत्व को समझता हुआ अपने को शक्ति का पुंज बनाकर 'बिन्दु' कहलाता है। बिन्दु का अभिप्राय शक्ति के बूंद व कण है, यह शक्ति के एक भी कण को नष्ट नहीं होने देता। इसी उद्देश्य से यह अपनी शक्ति को पवित्र विचारों से पवित्र ही बनाये रखता है और 'पूतदक्ष' कहलाता है। शक्ति की रक्षा से शक्तिशाली बनकर यह 'आंगिरस' है। यह कहता है कि सात्विक भोजन से [अयं] = यह [सोमः] = वीर्यशक्ति [सुतः अस्ति] = उत्पन्न हो गई है। अब हमें इसकी रक्षा करनी है। इसकी रक्षा का उपाय एक ही है कि इसको शरीर में ही खपा दिया जाय। वैदिक भाषा में इसे ही 'सोम का पान' कहते हैं। [अस्य पिबन्ति] इसका पान किया करते हैं [मरुतः] = मरुत् [उत] = और [स्वराजः] = स्वराष्ट्र और [अश्विना] = अश्वी लोग।

(१) मरुतः = मरुत् शब्द प्राणों के लिये प्रयुक्त होता है। यहां उन मनुष्यों को 'मरुतः'

शब्द से स्मरण किया है जो कि प्राणों की साधना में लगे हैं। प्राणायाम वस्तुतः शक्ति संयम का मुख्य साधन है। यह मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनने में सहायक होता है। शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर ही वह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और बुद्धि को तीव्र करती है।

(२) स्वराजः=अपने जीवन को बड़ा नियमित बनाने वाले। सूर्य और चन्द्रमा की तरह यदि हमारी सब प्राकृतिक क्रियायें बड़ी नियमित चलती हैं तो ये शक्ति संयम में सहायक होती हैं। इससे संयम स्वभाव का अंग ही बन जाता है। नियम संयम को मानो जन्म दे देता है।

(३) अश्विना=(न श्वः अस्य अस्ति) जो कल का जप नहीं करता। अर्थात् जो सतत क्रियाशील है। जिसे आलस्य नहीं छू गया। वस्तुतः क्रियाशीलता अपने से वासना को दूर रखने के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। आलसी मनुष्य को वासना सताती है और शक्ति के संयम का संभव नहीं रहता।

एवं शक्ति के संयम के तीन साधन हैं—(१) प्राणों की साधना, (२) दिनचर्या की नियमितता (३) कार्य-सातत्य (समारम्भ)।

भावार्थः—हम शक्ति का संयम करके अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करें।

* * *

॥ ४ ॥ ऋषिः—१ इन्द्रमातरो देवजामयः; २ गोधा; ३ दध्यङ्ङाथर्वणः; ४ प्रस्कण्वः; ५ गोतमः;
६ मधुच्छन्दाः; ७ वामदेवः; ८ वत्सः; ९ शुनःशेपः; १० वातायन उलः ॥ देवता—इन्द्रः ॥
छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शक्ति रक्षा के तीन उपाय

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३
ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते । वन्वा-
१ २ ३ १ २
नासः सुवीर्यम् ॥१॥१७५॥

इस मंत्र की ऋषिका [**इन्द्रजामयः देवमातरः**] हैं=इन्द्र को जन्म देने वाली, दिव्य गुणों को अपने अन्दर निर्माण करने वाली। इस नाम से एक भावना सुव्यक्त है कि जिसने भी प्रभु के दर्शन करने हों उसे अपने अन्दर दिव्यगुणों की वृद्धि करने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। दिव्यगुणों की वृद्धि करके ही हम अपने को प्रभुदर्शन का पात्र बनाते हैं। इन दिव्यगुणों का विकास शरीर में 'सुवीर्य' की रक्षा से ही संभव है। सो इस [**सुवीर्यम्**]=उत्तम वीर्य को [**वन्वानासः**]=विजय करने के हेतु से ये (इन्द्रजामयः देवमातरः) [**ईंखयन्तीः**]=सदा गतिशील होती हुई जीवन यात्रा में आगे बढ़ती हैं। गतिशीलता वीर्यरक्षा का सर्वप्रथम साधन है। वीर्य की खपत व विनियोग गति में हो गया सो उसके अपव्यय की आशंका जाती रहती है। वासना को दूर रहने के लिये कहता हुआ व्यक्ति यही तो कहता है कि (गृहेषु गोषु मे मनः) मेरा मन घर के कार्यों व गौओं में लगा है सो ऐ वासना! तुझे मिलने के लिये अवसर नहीं है। खाली रहना ही वासनाओं का शिकार बनना है। गतिशील होती हुई ये ऋषिकायें [**अपस्युवः**]=सदा व्यापक कर्मों को (अपस्) अपने साथ जोड़ने वाली हैं (युवः)। स्वार्थ के कर्मों में लगे रहकर भी मनुष्य वासनाओं के आक्रमण से पूरी तरह ऊपर नहीं उठ सकता। इसके लिये कुछ ऊँचे लक्ष्य का होना भी आवश्यक है। सो ये 'लोकसंग्रह' रूप कर्मों को अपने जीवन में सम्बद्ध करती है। यह जीवन का ऊँचा लक्ष्य इन्हें भोग के निचले पृष्ठ पर उतरने से बचाता है। परन्तु यह लक्ष्य भी तो बन जाना सुगम नहीं। इसके लिये (३) ये ऋषिकायें [**जातम्**]=सदा से

प्रसिद्ध उस [**इन्द्रम्**]=परमैश्वर्यशाली प्रभु की [**उपासते**]=उपासना करती हैं। ये प्रभु उपासना उनके जीवन में विशाल मनोवृत्ति को जन्म देती है, 'सभी उस प्रभु के ही तो पुत्र हैं—हम सब आपस में भाई-भाई ही तो हैं'—ऐसे विचार मनुष्य के मन को छोटा नहीं होने देते और उपासक को परार्थकर्म में संलग्न किये रखते हैं। इस उपासक को निजू सुखों व आराम का स्वप्न भी नहीं होता। ये इन सुकर्मों में लगे रहकर सुवीर्य का विजय करते हैं और इस विजय से दिव्यगुणों का आधार बनते हैं। और अन्त में प्रभुदर्शन के अधिकारी होते हैं।

भावार्थ—हम सुवीर्य की विजय करें। इसके लिये हम गतिशील हों, उत्तम परार्थ के कर्मों में अपने को लगाये रखें और उस प्रभु की उपासना करें।

उन्नत व विनीत

१ २ ३ १र २र
न कि देवा इनीमसि न क्या योपयामसि।
३ १ २
मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ॥१॥१७६॥

इस मंत्र की ऋषिका (गोधा) है। [**गां वेदवाचं यधयति इति गोधा**]=वेदवाणी का धारण करती है। मंत्र की समाप्ति पर यह भावना स्पष्ट शब्दों में व्यक्त हो गई है— [**मंत्रश्रुत्यं चरामसि**]=मंत्रों के श्रवण को करते हैं अर्थात् नियमपूर्वक वेद का अध्ययन करते हैं और उन मंत्रों में सुनी बातों का [**चरामसि**]=पालन करते हैं उस श्रवण के अनुसार अपना आचरण बनाते हैं। कालिदास के शब्दों में 'आगम सदृशारम्भ' (आगम+सदृश+आरम्भ) बनकर सचमुच ये ऋषि का गोधा इस अन्वर्थ नाम वाली होती है।

यह गोधा मंत्रश्रुत बातों का अनुष्ठान करती हुई भी कभी गर्व नहीं करती, और कहती है कि [**ऐ देवाः**]=संसार की सब प्राकृतिक शक्तियो! आदित्य, चन्द्र, अनल, अनिल, द्यौः, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन-रात और दोनों संध्याकाल तथा धर्म! आप सबको मैं साक्षी करके कहती हूं कि [**नकि इनीमसि**]=मैं इन वेद प्रतिपादित नियमों की पूर्ण प्रभु तो नहीं हो गई हूं। (इन्=to be lord or master) पर [**न कि आयोपमायसि**]=मैंने उनको अपने जीवन से बिलकुल लुप्त नहीं होने दिया है (योपयति=to destroy)।

वस्तुतः बिलकुल शिखर पर न पहुंचने में दोष नहीं है, परन्तु इन वेद-मर्यादाओं का लोप ही कर देना तो दोषावह है ही। मनुष्य प्रथम स्थान को न प्राप्त करे तो कोई बात नहीं, पर पढ़े ही नहीं, यह तो ठीक नहीं। कवि का यह कथन ठीक ही है कि सज्जनों के मार्ग पर पूर्ण आक्रमण करना सम्भव नहीं तो उस पर चलना तो चाहिये ना? चूंकि मार्ग पर चलने वाले को कष्ट नहीं होता।

भावार्थ—हमारा जीवन भी गोधा की तरह धार्मिक व विनीत बने।

प्रकाश में, दृढ़ता से

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तुहि देवं सवितारम् ॥३॥१७७॥

मंत्रश्रुत बातों पर हम आचरण करते रहें? इसके लिये आवश्यक है कि हम सदा सावधान रहें। [**भूत्यै जागरणम्**]=यह वेदवचन स्पष्ट कर रहा है कि 'विभूतिमय जीवन के लिये जागना आवश्यक है।' [**अभूत्यं स्वप्नम्**]=सोये और विभूति से पृथक् हुए। दिन में तो सामान्यतः मनुष्य कार्यों में लगा रहता है सो वासनाओं से भी बचा रहता है। परन्तु रात के समय वासनाओं के प्रबल होने का समय होता है—पौराणिक शब्द माला में कहते हैं कि रात्रि में राक्षस प्रबल हो उठते हैं। सो इस समय अधिक सावधानी की आवश्यकता है। मंत्र में कहते हैं कि [**दोषा उ आगात्**]=रात्रि अब आ गई। [**बृहद् गाय**]= खूब ही उस प्रभु का गायन करो। यह प्रभु का

स्मरण ही तो इस समय भी हमें वासनाओं से बचायेगा। वासनाओं से लड़ने की शक्ति हमारे में नहीं। उस प्रभु के स्मरण से बाहर घना अन्धेरा होने पर भी हमारे हृदयों में प्रकाश होगा। उस प्रकाश में हमारा कर्तव्य पथ हमें स्पष्ट दिखेगा। मंत्र के शब्दों में हम [द्युमद् यामन्]=प्रकाशमय मार्ग वाले होंगे। इतना ही नहीं, उस प्रभु के सम्पर्क में प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके हम अपने मार्ग पर दृढ़ता से चल भी सकेंगे और अपने मार्ग से डांवाडोल न होने के कारण हम 'आथर्वण' (न थर्वति=चरति) होंगे। इसलिये हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम सदा उस प्रभु का स्मरण करें—विशेषतः रात्रि के आते ही सोने के प्रारम्भ में प्रभु का स्मरण तो अवश्य करें ही। उस अन्धकार में वह प्रभु स्मरण ही हमारे लिये प्रकाश की रेखा के समान होगा। तो वेद चाहता है कि उस [देवं]=सब दिव्य गुणों के भण्डार [सवितारं]=सबको सदा उत्तम प्रेरणा देने वाले प्रभु की [स्तुहि]=स्तुति करो। प्रभु के दिव्यगुणों का चिन्तन ही वस्तुतः स्तोता को उन दिव्य गुणों के धारण की प्रेरणा देता है। सो अपने जीवन को उत्तम बनाने के लिये यह स्तोता सदा प्रभु का ध्यान करता है। ध्यान करने के कारण ही 'दध्यङ्' कहलाता है। यह प्रभु का ध्यान ही इसे [आथर्वण]=अडिग बना देता है।

भावार्थ—हम प्रभु की स्तुति करते हुए सदा प्रकाश को देखें और दृढ़ता से मार्ग का आक्रमण करें।

उषा का उपदेश

३ २ ३ १र २र ३क २र ३ २ ३ २
एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः।
३ २ ३ २
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥४॥१७८॥

[**एषा**]=ये अब [**उ**]=निश्चय से [**उषा**]=उषाकाल है। पिछले मंत्र में रात्रि के आने का उल्लेख है। उस रात्रिकाल के प्रारम्भ में खूब प्रभु के गायन का विधान था। उस गायन के ठीक चलने पर अब ये उषःकाल आता है। यह सचमुच उषा (उष दाहे) सब मालिन्य को जला डालने वाला है। अन्धकार रूप मालिन्य को तो यह समाप्त कर ही रहा है। उस शान्त समय में सामान्यतः अशुभ भावनाओं का भी उदय नहीं होता। रात्रि के कुछ अशुभ वर्तन भी इस समय तक समाप्त हो चुकते हैं। चोर आदि भी इस समय चोरी नहीं कर रहे होते। इस समय ने तो मानो सब अशुभ को जला ही डाला है। यह 'अपूर्व्या' है—इसमें किसी भी प्रकार के पूरण (पूर्व=पूरणे) की आवश्यकता नहीं। ये समय अधिक से अधिक पूर्ण है। इसमें गर्मियों की उग्र गर्मी नहीं सर्दियों की काटने वाली सर्दी नहीं। दिन की भी इस समय सब खुशियां विद्यमान हैं और रात्रि का भी सौन्दर्य नष्ट नहीं हुआ है। इसमें सभी ऋतुओं की खराबी न होकर खूबी मौजूद है, इसी से इसे [अ-पूर्व्या]=न पूरण करने योग्य यह नाम मिला है। [वि उच्छति]=ये अन्धकार को विशेष रूप से दूर भगा देती है। इसे अन्धकार प्रिय नहीं। [प्रिया दिवः]=यह प्रकाश की प्यारी है। उषाकाल होता है और अन्धकार नष्ट हो जाता है।

यह उषाकाल जीव को भी उपदेश देता प्रतीत होता है कि (१) तू रागद्वेषादि सब मलों को जला डाल (उष्ण्) (२) अपने को अधिक से अधिक पूर्ण बना (३) अन्धकार को दूर भगा दे (४) प्रकाश का प्यारा बन, सदा ज्ञान की रुचि वाला हो।

यह इतना सुन्दर उषःकाल उन्हीं के लिये हुआ करता है जिनके जीवन में सभी रात्रि प्राणायानों के द्वारा प्रभु का जप होता रहा है। रात्रि के प्रारम्भ में गतमंत्र में प्रभु गायन का विधान था और यदि एक व्यक्ति उस गायन की प्रक्रिया में ही निद्रा में चला गया था तो सारी रात्रि प्राणयानों के द्वारा यह जब चलता रहता है। इस

मंत्र का ऋषि प्राणापानों को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि [**अश्विना**]=ऐ प्राणापानो [**वाम्**]=आपके इस [**बृहत्**]=वृद्धि के कारण भूत महान् कार्य की [**स्तुषे**]=मैं स्तुति करता हूं। प्राणापान 'अश्विना' कहलाते हैं चूंकि 'नश्वः' पता नहीं ये अगले दिन हैं या नहीं तथा (अशू-व्याप्तौ) सदा कर्म में व्याप्त रहते हैं। रात्रि को भी सबके सो जाने पर ये स्तोता के प्रभु स्तवन रूप कार्य को जारी रखते हैं और इस प्रकार प्रभुदर्शन में सहायक होते हैं। इन अश्विनी देवों का ये महान् कार्य है। रात्रि भर स्तुति चलेगी तो सदा उषःकाल में हमारे लिये सु-प्रभात होगा। इस सुप्रभात में मेधावी पुरुष कण-कण करके उत्तम भावनाओं को अपने में भरता है और इस मंत्र का ऋषि 'प्रस्कण्वः काण्वः' होता है।

भावार्थ—हम उषःकाल के बोध को लेकर अपने जीवन को निर्मल, पूर्ण अन्धकार से दूर प्रकाशमय बनाने का निश्चय करें।

दध्यङ् की प्रक्षेपण क्रिया

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
३ १ २ ३ १र २र
जघान नवतीर्नव ॥५॥१७९॥

जीवात्मा के लिये 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग तब होता है जबकि वह इन्द्रियों का मालिक हो न कि गुलाम। उषःकाल में जागकर जो अपने को निर्मल व पूर्ण बनाने में लगा है, क्या वह इन्द्र न बनेगा? यह इन्द्र [**वृत्राणि**]=ज्ञान को आवृत करने वाले काम, क्रोध व लोभ को [**जघान**]=समाप्त करता है। इनको समाप्त किये बिना तो ज्ञान पर सदा परदा पड़ा रहेगा और उत्थान का सम्भव कहां होगा? इसीलिये यह इन्द्र [**नवतीः**]=(नव् गतौ) निरन्तर गतिशील अत्यन्त चञ्चल इन [**नव**]=पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा चार अन्तःकरणों (मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) इन नौ को [**जघान**]=मारता है। 'मन को मारना' इस मुहावरे का अर्थ इसे काबू करना ही होता है। वस्तुतः इन मन आदि को मारे बिना मनुष्य के लिये जीना कठिन है। मन न मरेगा तो मनुष्य मरेगा, मन को मार लिया तो जीवन को ठीक कर लिया।

इन्द्र यह कैसे कर पाता है? [**दधीचः अस्थभिः**]=(दध्यङ्=ध्याता) ध्यान करने वाले की प्रक्षेपण (असुक्षेपणे) क्रियाओं से। जो मनुष्य सदा प्रातः सायं ध्यान का अभ्यास करता है, और सब विषयों को चित्त से परे फेंकने का प्रयत्न करता है वह इस मन को कुछ देर के लिये निर्विषयं (ध्यानं निर्विषयं मनः) बनाने के अभ्यास से [**अप्रतिष्कुतः**]=नहीं दिया जाता है आह्वान (Challenge) जिसको (अ-प्रति-कु-तः, कु-शब्दे) ऐसा शक्तिशाली अद्वितीय योद्धा बन जाता है। इस पर अब कामादि वृत्र आधिपत्य नहीं जमा पाते। इसने उनके सब किलों को जीत लिया है। 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते'=इन्द्रियां मन और बुद्धि ही तो इसके गढ़ थे। इन सबको तो इस इन्द्र ने जीत ही लिया है। इनको तो इसने ऐसा कुचल दिया है कि ये सिर उठा ही न सकें। इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाकर यह 'गो-तम' कहलाया है—प्रशस्त इन्द्रियों वाला। वस्तुतः काम, क्रोध, लोभ का विजेता सर्वमहान् त्यागी है। इसने भोगों को त्यागकर त्यागियों में अपनी गणना कराई है इसी से यह राहू (छोड़ना) गण कहाया है।

भावार्थ—दध्यङ् की, प्रक्षेपणादि क्रियाओं से हम 'गोतम राष्ट्रगण' बनें।

गतिशील बन

२उ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
३ १ ३ १र २
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥६॥१८०॥

इस मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' है=उत्तम इच्छाओं वाला—सबके साथ स्नेह करने वाला। यह ऐसा बन सके सो प्रभु इससे कहते हैं

कि—[**इन्द्र**]=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर अपने इन्द्र इस नाम को चरितार्थ करने वाले जीव ? तू [**इहि**]=गतिशील बन, सदा क्रियामय जीवन वाला बन । क्रिया तेरे लिये स्वाभाविक हो जाय । इस क्रियामय जीवन के परिणामस्वरूप हो तू [अन्धसः]=सोम के—वीर्य के [मत्सि]=मद-हर्ष को प्राप्त करने वाला बन । आध्यायनीय—सर्वथा ध्यान देने योग्य होने के कारण सोम का नाम अन्धस् होता है । इस सोम की शरीर में रक्षा से अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है । क्रियाशीलता इस सोम की रक्षा में सहायक होती है । क्रियाशील मनुष्य पर वासनाओं का आक्रमण ही नहीं होता और उसका सोम वासनाग्नि से प्रतप्त हो शरीर से पृथक् नहीं होता । यह मधुच्छन्दा मधुर सात्विक भोजनों का सेवन करके शरीर में सोम का उत्पादन करता है और [**विश्वेभिः**]=सब [सोम पर्वभिः]=सोम के शरीर में पूरणों से [**महान्**]=यह महनीय बनता है—महत्ता को प्राप्त करता है । विश्व शब्द का अर्थ 'सब' भी है और विश्व की भावना शरीर में ही व्याप्त हो जाना—प्रविष्ट हो जाना भी है । सात्विक सोम वासनाग्नि से प्रतप्त नहीं होता, तो शरीर में ही व्याप्त हो जाता है । पर्व धातु पूरण=भरना अर्थ की वाचक है । इस प्रकार जब सोम का शरीर में ही भरण होता है तो यह सोम मनुष्य को महान् बनाता है । वीर्य की रक्षा करने वाला पुरुष ही कोई महान् कार्य कर पाता है । यह वीर्य ही उसे अनथक श्रम करने की शक्ति देता है ।

एवं शक्तिशाली बनकर [**ओजसा**]=अपने ओज से वह मधुच्छन्दा [अभिष्टिः]=बुराई पर आक्रमण करने वाला होता है (अभिष्टिः=attack) । 'शक्तिः परेषां परिरक्षणाय'=इसकी शक्ति औरों की रक्षा करने वाली होती है । वासनात्मक पुरुष अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है परन्तु वासना से ऊपर उठा हुआ मनुष्य शक्ति का सदा सदुपयोग करता है । उत्तम कार्यों में शक्ति का विनियोग करके यह महान् बनता है ।

भावार्थ—हम गतिशीलता के द्वारा शक्ति का शरीर में ही भरण करें और महान् बनें ।

प्रभु के ऐश्वर्य को प्राप्त कर

१र   २र   ३ २ ३२३
आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
महान्महीभिरूतिभिः ॥७॥१८१॥

सोम की रक्षा के द्वारा जीवात्मा सचमुच 'इन्द्र' बनता है ! इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर ही तो वह सोम की रक्षा कर पाता है । ज्ञान के आवरण भूत कामादि वासनाओं का संहार करके यह 'वृत्रहन्' बना है । कामादि ही वृत्र हैं—ये ज्ञान को आवृत कर देते हैं । इन्द्र इस वृत्र का विनाश करने वाला है । इस जीव को प्रभु कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=ऐ इन्द्र [**वृत्रहन्**]=हे वृत्रहन् तू [**तु**]=निश्चय से [**आ नः**]=सर्वथा हमारा है । वह विलास की ओर न जाकर वीर्य रक्षा के लिये सतत प्रयत्नशील हुआ है, सो प्रभु का तो यह है ही । यह प्रकृति की ओर नहीं झुका । इसे प्रभु कहते हैं कि [**अस्माकम् अर्धम्**]=हमारे ऐश्वर्य को [**आगहि**]=तू सर्वथा प्राप्त हो । ऋधु वृद्धौ धातु से बनकर 'अर्ध' शब्द ऋद्धि, समृद्धि व ऐश्वर्य का वाचक है । जो भी व्यक्ति प्राकृतिक भोगों के प्रति अपने को नहीं दे डालता वह दिव्य ऐश्वर्य को तो प्राप्त करता ही है—उसके अन्दर दिव्यता (Divinity) का अवतरण होता ही है । इस दिव्यता के अवतरण से ही वह 'वाम-देव'=सुन्दर दिव्यगुणों वाला कहलाता है और प्रशस्त इन्द्रियों वाला होने से वह 'गौतम' होता है ।

इस मंत्र के ऋषि 'वामदेव गौतम' से प्रभु कहते हैं कि [**महीभिः ऊतिभिः**]=महनीय रक्षणों के द्वारा ही तू [**महान्**]=बड़ा बना है । सदा मनुष्य पर आक्रमण करने वाली आसुर वृत्तियों से तू ने अपनी रक्षा की और परिणामतः बड़ा बन पाया । अर्थात् संसार में कुछ महान् कार्य कर सका । संसार के भोगों में फंसकर कभी भी कोई महान् कार्य नहीं कर पाया । प्रभु के ऐश्वर्य को

पाने का तो वहां प्रश्न ही नहीं उठता। जब जीव प्रलोभनों से प्रलुब्ध नहीं होता—वासनाओं को विनष्ट कर डालता है तभी वह महान् बनता है। तभी वह प्रभु का होता है—और प्रभु के ऐश्वर्यांश को प्राप्त करने वाला होता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें—जितेन्द्रिय हों और वासनाओं के आक्रमण से अपनी रक्षा कर महान् बनें।

कब चमकता है ?

२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत् ।
२ ३ १ २ २ १ २
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥८॥१८२॥

इस मंत्र में कहते हैं कि यत्=जब [**इन्द्रः**]=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय जीव [**चर्म इव**]=चमड़े की तरह [**उभे रोदसी**]=दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक को [**समवर्तयत्**]=ओढ़ लेता है (संवर्त=to wrap up) [**तद्**]=तभी [**अस्य**]=इसका [**ओजः**]=ओज (Vigour, Vitaility, Virility, Splendour) ज्योति [**तित्विषे**]=चमकती है।

किसी भी चीज का ओढ़ना रक्षा के उद्देश्य से होता है। वस्त्रों में से तो वर्षा का पानी सुगमता से अन्दर प्रविष्ट होकर हमें गीला कर सकता है परन्तु चर्म का आवरण तो ऐसा नहीं। यहां भी दोनों ओढ़ने योग्य वस्तुएं चर्म की तरह ही हमें सुरक्षित रखने वाली हैं।

रोदसी का अर्थ 'द्यावापृथिव्यौ' है, पर अध्यात्म में वे बुद्धि व शरीर के वाचक होते हैं। शरीर तो पार्थिव है ही, 'मूर्ध्नो द्यौः यह पुरुष सूक्त का वचन मस्तिष्क व द्युलोक के सम्बन्ध की सूचना दे रहा है।

इन बुद्धि व शरीर के ओढ़ने का अभिप्राय इन्हें ही अपना रक्षक बनाने से है। मनुष्य शरीर को सदा स्वस्थ रखने का ध्यान करे और बुद्धि को सात्विक व तीव्र बनाने का सतत उद्योग करे तो वह इन दोनों को अपना रक्षक बनाता है। रक्षा किया हुआ स्वास्थ्य व ज्ञान मनुष्य की रक्षा करता है—जो इनका हनन करता है, वह इनके हनन से अपना ही हनन कर रहा होता है।

केवल शारीरिक उन्नति व स्वास्थ्य ही मानव का उद्देश्य नहीं। हम स्वस्थ रहकर ओक वृक्ष की तरह बड़े लम्बे-चौड़े होकर ३०० साल भी जी लिये तो यह मानव जीवन की एक सफलता तो नहीं है। इसके विपरीत हमने यदि केवल ज्ञान प्राप्ति की ओर ही ध्यान दिया और हम एक अद्भुत (Intellectual giant) बुद्धि दैत्य बन भी गये तो यह भी तो स्वास्थ्य के अभाव में व्यर्थ सा ही होगा। मंत्र ने इसी भावना को 'उभे' शब्द से घोषित किया है। हमने स्वास्थ्य व बुद्धि दोनों का ही सम्पादन करना है। ब्रह्म और क्षत्र दोनों को श्रीसम्पन्न बनाना ही तो आदर्श है। अकेला पहलवान का शरीर व अकेली ऋषि की आत्मा मनुष्य को पूर्ण नहीं बनाती। स्वास्थ्य व ज्ञान—शरीर व बुद्धि-ब्रह्म व क्षत्र—दोनों का सम विकास होने पर ही मनुष्य की शोभा होती है। इन दोनों का कण-कण करके संग्रह करने वाला 'काण्व' ही प्रभु का 'वत्स'=प्रिय होता है।

भावार्थ—ब्रह्म व क्षत्र को अपनी ढाल बनाकर हम संसार में चमकने वाले बनें।

मस्तिष्क रूपी नौका

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३
अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम् । वच-
१ २
स्तच्चिन्न ओहसे ॥९॥१८३॥

इस मंत्र का ऋषि 'शुनः शेप'=सुख का निर्माण करने वाला अनुभव से प्रकृति की ओर झुकाव को श्रेयस्कर न देखकर कहता है कि [**अयम् उ ते**]=ये मैं तो निश्चय से अब तेरा हूं। शरीर के लिये आवश्यक प्राकृतिक भोगों का स्वीकार करके भी मैं उन भोगों में फंस नहीं गया हूं, वे मेरे जीवन का ध्येय नहीं बन गये हैं।

मैं आपका हूं, परिणामतः आप भी मुझे [**समतसि**]=प्राप्त होते हैं। जीव प्रभु का मित्र बनता है तो प्रभु जीव के मित्र होते ही हैं। मैं तेरा और तू मेरा। इस स्थिति में मैं इस उदधि के समान गर्भ जिसमें धारण किये जाते हैं उस [**गर्भधिम्**]=जन्म-मरण के आवर्त्तों वाले संसार समुद्र को [इव]=उस व्यक्ति की तरह पार कर लेता हूं जिसने कि [**क-पोतः**]=मस्तिष्क को अपनी नाव बनाया है। [**कं**]=शिरः, [**पोत**]= boat। यह संसार समुद्र बिना ज्ञान के क्या कभी-तैरा जा सकता है? प्रलोभन रूप आवर्त इतने सुदुस्तर होते हैं कि मनुष्य उनमें डूब ही जाता है। जब मनुष्य ज्ञान का अवलम्बन कर इन विषयों का विश्लेषण करता है, तभी इनका वह आकर्षक सौन्दर्य समाप्त होता है और ये मनुष्य को अपना शिकार नहीं बना पाते। एवं, सिवाय ज्ञान के इस संसार-समुद्र को तैरने का मार्ग नहीं है। पर इस ज्ञान को भी वे प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। शुनःशेप कहता है कि ऐ प्रभो [**तत् वचः**]=उस ज्ञान देने वाली वेदवाणी को [**चित्**]=निश्चय से [**नः**]=हमें आप ही [**ओह-से**]=प्राप्त कराते हैं (ओहः=bringing)। सृष्टि के प्रारम्भ में दी गई इस वेदवाणी से ही हम उस सत्य ज्ञान को प्राप्त करते हैं जोकि हमारे विवेक चक्षुओं को खोलकर हमें प्रलोभनों में फंसने नहीं देता। हमारे ज्ञान-चक्षु उन चमकते प्रलोभनों की असलीयत को देख लेते हैं और हम इनका शिकार नहीं हो जाते।

भावार्थ—हम ज्ञान को नाव बनाकर भवसागर को तैर जायें।

परिस्थिति का प्रभाव

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २
वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
३ ३ १ २
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥१०॥१८४॥

उपर के मंत्र में ज्ञान रूप नौका से भवसागर को तैरने का उल्लेख है। परन्तु इस ज्ञान की ओर कोई विरल धीर ही प्रवृत्त होता है। सामान्यतः मनुष्य अपना जीवन प्रेम मार्ग से चलकर ही बिता देता है। बहुत बार तो परिस्थितिवश हमारा जीवन छोटे-मोटे अधर्मों की ओर भी झुक जाता है—कई जीवन तो बहुत पापमय भी बन जाते हैं।

इस सबका कारण क्या? गर्भावस्था में तो यह जीव निश्चय कर रहा था कि "यदि योन्याः प्रमुच्येहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्" यदि इस बार इस गर्भ से बाहर स्वस्थावस्था में पहुंचूंगा तो प्रभु का स्मरण करूंगा और प्रलोभनों में न फंसूंगा। परन्तु बाहर आते ही 'वायुना संस्पृष्टः'=इस संसार की हवा लगते ही उसके सारे संकल्प समाप्त हो जाते हैं और वह उन सबको भूल जाता है। बड़े होने पर भी उसे जैसा atmosphere=वातावरण प्राप्त होता है वैसा ही उसका जीवन बन जाता है। सो प्रभु से इस मंत्र का ऋषि 'वातायन'=(वातेन अयते) वातावरण के अनुसार ही चलने वाला [**उलः**]=(उल्=to go)=उसी वातावरण में क्रिया करने वाला प्रार्थना करता है कि ऐ प्रभो! ऐसी कृपा करो कि [**वातः आवातु**]=हमारे लिये तो ऐसी ही हवा बहे कि जो [**भेषजम्**]=सब अहितों के लिये औषध तुल्य हो। औषध जैसे रोग को समाप्त करती है इसी प्रकार वह बुराइयों को दूर करने वाला हो। [**शम्भु मयोभु नो हृदे**]=वह हवा हमें मानस शान्ति प्राप्त कराने वाली हो और शारीरिक स्वास्थ्य को देने वाली हो। परिस्थितिवश ही मनुष्य अशान्त चित्त वृत्ति वाला तथा अस्वस्थ भी बन जाया करता है। क्लब वालों के संग में पड़कर वह स्वस्थ व शान्त चित्त थोड़े ही बनेगा! अच्छी संगति मिल गई तो वह पापों में भी न फंसेगा, शान्त भी होगा और स्वस्थ भी होगा। इन सब बातों के द्वारा वे प्रभु हमारे जीवनों को (नः आयूंषि) प्रतारिषत्=सब व्यसनों से पार कर देते हैं। प्रलोभनों को जीतकर हम अपने

जीवनों को बड़ा सुन्दर बना लेते हैं। यह सब बात होती तभी हैं जबकि हम भी उल=क्रियाशील हैं। आलसी को तो कैसा भी उत्तम वातावरण कुछ भी नहीं बना पाता।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें उत्तम परिस्थिति प्राप्त हो।

* * *

।। ५ ।। ऋषिः—१ कण्वः; २, ३, ६ वत्सः; ४ श्रुतकक्षः; ५ मधुच्छन्दाः; ६ वामदेवः; ७ इरिम्बिठिः; ८ वारुणिः सत्यधृतिः ।। देवता—इन्द्रः ।। छन्दः—गायत्री ।। स्वरः—षड्जः ।।

कौन हिंसित नहीं होता ?

१र २र ३ १.२ ३ १२ ३ १ २ ३ २
यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
२ ३ १ २ ३ १ २
न किः स दभ्यते जनः ।।१।।१८५।।

[**स जनः**]=वह विकासशील मनुष्य [**नकिः**]=नहीं ही [**दभ्यते**]=हिंसित होता [**यं**]=जिसको [**प्रचेतसः**]=प्रकृष्ट ज्ञान वाले [**वरुणो मित्रो अर्यमा**]=वरुण मित्र और अर्यमा [**रक्षन्ति**]=रक्षा करते हैं। यहां ऋग्वेद में पाठ 'नू चित् स दभ्यतेजनः' है, तब अर्थ प्रश्नवाचक वाक्य के रूप में इस प्रकार करेंगे कि 'क्या अब यह मनुष्य हिंसित होता है ?' अर्थात् नहीं होता।

'जनः' शब्द मनुष्य के लिये उस समय प्रयुक्त होता है, जबकि (जनी प्रादुर्भावे) प्रादुर्भाव व विकास का संकेत करना हो। जो भी मनुष्य अपना विकास करता है वह कण-कण करके अपने अन्दर उत्तमता का संग्रह करता है सो वह कण्व कहलाता है। यही कण्व ही मेधावी है चूंकि यह धैर्य और अध्यवसाय पूर्वक अपने जीवन को उत्तम बनाने में लगा है। यह अपने अन्दर जिन भावनाओं को मूर्त रूप देने का प्रयत्न करता है उनका संकेत निम्न शब्दों से हो रहा है—

(१) वरुणः='वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'=वरुण अर्थात् श्रेष्ठ। श्रेष्ठ वह है जो अपने आन्तर शत्रुओं को जीतकर अपने जीवन को निर्मल बनाता है। बाह्य शत्रुओं के विजय की अपेक्षा इन आन्तर शत्रुओं का जीतना कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इनको जीतकर हम त्रिभुवन को जीत लेते हैं। मन्दोदरी मृत रावण के लिये कहती है कि 'इन्द्रियाणि पुराजित्त्वा जितं त्रिभुवनं त्वया'=अपने जीवन के प्रारम्भ में जितेन्द्रिय बन तू त्रिलोकी का विजेता बना। एवं कण्व अपने जीवन में प्रथम स्थान '**जितेन्द्रियता**' को देता है। आचार्य दयानन्द ने भी सदाचार में प्रथम स्थान जितेन्द्रियता को ही दिया है।

(२) मित्रः=यह (प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु से व पाप से अपने को बचाता है। अथवा (मिद्=स्नेह करना) प्राणिमात्र के प्रतिस्नेह की भावना को अपने अन्दर उपजाता है। श्रेष्ठ बनने के लिये द्वेष से दूर होना तो नितान्त आवश्यक है ही। यह यथासंभव औरों को भी मृत्यु व पाप से बचाने के लिये यत्नशील होता है।

(३) अर्यमा='अर्यमेति तमाहुः यो ददाति' इस ब्राह्मण वाक्य के अनुसार अर्यमा का अर्थ है दाता। यह देने की भावना को अपने अन्दर उपजाता है। वस्तुतः दान (दा=देना) ही मानव जीवन को शुद्ध (दा=शोधने) बनाता है तथा उसके बन्धनों को काटता है (दा=काटना)

(४) ऊपर के तीनों शब्दों का विशेषण मंत्र में 'प्रचेतसः'='प्रकृष्ट ज्ञानी' दिया गया है। उन सब बातों के साथ 'उत्कृष्ट ज्ञान' का होना आवश्यक है। वस्तुतः उत्कृष्ट ज्ञान के बिना उनके होने का संभव भी तो नहीं।

इन सब बातों को जब कण्व अपने जीवन में लाता है वह कभी हिंसित नहीं होता उल्लिखित

दिव्य गुण उसकी रक्षा क रहे होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान, जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता व दानशीलता से हम अपने जीवनों को अलंकृत करने के लिये प्रयत्नशील हों।

वरिवस्या=उपासना

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १र १र३ २
गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया।
३ २ ३ १ २
वरिवस्या महोनाम् ॥२॥१८६॥

इस मंत्र का ऋषि वत्स है, यह काण्व है। कण-कण करके उत्तमता का संग्रह करने का ही यह परिणाम है कि यह वत्स=प्रभु का प्रिय बना है। प्रभु इस वत्स से कहते हैं कि तू [**नः**]=हमारी [**सु वरिवस्या उ**]=उत्तम पूजा कर ही, अर्थात् कल्याण का मार्ग यही है कि तू इस मंत्र में प्रतिपादित प्रकार से मेरा उपासना कर। वह प्रकार निम्नलिखित है :—

(१) [**गव्या**]=उत्तम गौओं की इच्छा से। 'गमयन्ति अर्थान्' इस व्युत्पत्ति से गो शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है और उससे इच्छा अर्थ में क्यच् प्रत्यय आया है। तू अपनी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाने का प्रयत्न कर। [**यथा पुरा**]=जैसे पहले सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों की ज्ञानेन्द्रियां निर्मल हैं उसी प्रकार तू भी इन्हें निर्मल कर।

(२) **अश्वया**='अश्नुते' व्याप्नोति=कर्म में व्याप्त होने से कर्मेन्द्रियों को अश्व कहते हैं। इन कर्मेन्द्रियों को भी तू उत्तम बनाने के लिये प्रयत्नशील हो। ज्ञानपूर्वक कर्म होने पर वह पवित्र होगा ही।

(३) **रथया**=इस शरीर रूप रथ को [**उत**]=भी तू उत्तम बनाने की इच्छा वाला हो। बहादुरी व भद्रता इसी में है कि हमें उस प्रभु से जैसा सुन्दर यह शरीर प्राप्त हुआ है उसी प्रकार सुन्दर शरीर हम उसे लौटाने वाले बनें।

(४) **महोनाम्**=तेजस्विताओं की प्राप्ति के द्वारा तू मेरी उपासना कर। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'=निर्बल मनुष्य प्रभु का उपासक नहीं है। तेज, वीर्य, बल-ओज मन्यु व सहस् रूप सब कोशों की शक्तियों को सिद्ध करने वाला ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ—वास्तविक उपासना तो ज्ञानेन्द्रियों को व शरीर रूप रथ को उत्तम बनाने की प्रबल कामना तथा तेजस्विता की उपलब्धि में ही है।

स्वाध्याय का लाभ

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम्।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
एनामृतस्य पिप्युषीः ॥३॥१८७॥

पिछले मंत्र में प्रभु ने वत्स से कहा था कि तू मेरी उपासना ज्ञानसंपादन द्वारा ही करेगा। अब वत्स प्रभु से कहता है कि ऐ [**इन्द्रः**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो! [**इमाः**]=ये [**ते**]=तेरी [**पृश्नयः**]=प्रकाश का स्पर्श करने वाली वेदवाणियां [**आशिरम्**] (आ+शॄ) सब प्रकार के मलों को नष्ट करने वाली [**घृतं**]=दीप्ति को [**दुहते**]=हमारे में खूब भरती हैं। तथा ये वेदवाणियां [**एनाम्**]=इस गृहपत्नी को [**ऋतस्य**] नियमितता (regularity) के द्वारा [**पिप्युषीः**]=(प्याय्=वृद्धौ) वृद्धिशील बनाती हैं।

इस मंत्र में वेदवाणियों को 'पृश्नि' कहा है। एक-एक वेदमंत्र प्रकाश से परिपूर्ण है। अधिक से अधिक संक्षिप्त और अधिक से अधिक अर्थ से परिपूर्ण। इतना अर्थगौरव संसार के सारे साहित्य में कहीं भी उपलभ्य नहीं है। ये वेदवाणियां वत्स को—इनके व्यक्त उच्चारण करने वाले को घृतं (घृ दीप्तौ) उस ज्ञान की दीप्ति से भर देती हैं जोकि आशिर है—सब मलों को दूर कर देने वाला है। स्वाध्याय का प्रथम लाभ हो यह है कि यह हमारे ज्ञान को बढ़ाता हुआ मलों को क्षीण करता चलता है। ज्ञान मलों को भस्म करने वाली अग्नि ही तो है। यह सर्वोत्तम पवित्र करने का साधन है।

इस स्वाध्याय का दूसरा लाभ यह है कि मनुष्य के जोवन में नियमितता (ऋत) आ जाती है। वह प्रत्येक चीज को यथासमय व यथास्थान करता है। सूर्य और चन्द्रमा की तरह उसके जीवन में अपने मार्ग का आक्रमण होता है। यहां इस लाभ का वर्णन करते हुए 'एनाम्' इस स्त्रीलिंगी शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः घर में गृहपत्नी की नियमितता सभी को नियमित बनाने वाली होती है। जिस घर में नियमितता होगी वह फले फूलेगा इसमें तो सन्देह की बात ही नहीं है। स्वास्थ्य के लिये कालभोजी होने का जो महत्त्व है वही सर्वांगीण उन्नति के लिये सारी दिनचर्या की नियमितता का महत्त्व है।

भावार्थ=स्वाध्याय से हम निर्मल दीप्ति को प्राप्त कर नियमित जीवन वाले बनें।

स्वाध्याय का लाभ

३ २ ३ १ २ ३ १र २र
अया धिया च गव्यया पुरुणामन् पुरुष्टुत।
१र २र ३ १ २
यत् सोमेसोम आभुवः ॥४॥१८८॥

यह स्वाध्याय करने वाला वत्स ज्ञान (श्रुत) को ही अपनी शरण (कक्ष) बनाता है सो 'श्रुतकक्ष' नाम वाला हो जाता है, और प्रभु से कहता है कि [**अया**] (अनया)=इस [**धिया**]=बुद्धि से [**च**]=और [**अया गव्यया**]=इस ज्ञानेन्द्रियों के समूह से ऐ [**पुरुणामन् पुरुष्टुत**]=प्रभो! यह तो निश्चित ही है [**यत्**]=कि [**सोमे सोमे**]=प्रत्येक विनीत बने पुरुष में [**आभुवः**]=आप प्रकट हुआ करते हैं।

स्वाध्याय के दो लाभ मंत्र संख्या १८७ में उल्लिखित हुए थे। स्वाध्याय का तीसरा लाभ यह है कि मनुष्य की बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों का सुन्दर विकास होता है। व्यायाम से जैसे हाथ की शक्ति का विकास होता है उसी प्रकार स्वाध्याय ज्ञानोपकरण बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों की व्यायाम ही तो है। सो इससे उनका विकास होता ही है।

बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों के विकास होने पर यह संसार में एक महती शक्ति का कार्य करते हुए अनुभव करता है। उसी के यह नाम का खूब जप करता है और उसी का निरन्तर स्तवन करता है। उसका जप व स्तवन, पुरु है (पॄ पालन पूरणयोः)—इसका पालन व पूरण करने वाला है। इसे अभिमान आदि दुर्भावनाओं का शिकार होने से बचाता है और इसकी न्यूनताओं को दूर करता है।

जितना-जितना इसका जीवन पूर्ण होता जाता है उतना-उतना ही यह सोम बनता चलता है। एवं स्वाध्याय का चौथा लाभ यह था कि मनुष्य में संसार की संचालक रहस्यमयी शक्ति का चिन्तन होता है और यह उसका स्तवन व जप करता है। इससे पांचवां लाभ यह होता है कि यह उत्तरोत्तर विनीत बनता जाता है। इस सोमे-सोमे=विनीत और विनीत ही श्रुतकक्ष में आभुवः=प्रभु का प्रकाश होता है। यह श्रुतकक्ष प्रभु का साक्षात्कार कर पाता है। यह मानव जीवन का चरम उत्थान है—इसी में इस जीवन की सार्थकता व सफलता है। यहां यह जीवन समाप्त होकर मानव को मुक्त कर देता है।

भावार्थ—स्वाध्याय से हम बुद्धि व ज्ञानेन्द्रियों का विकास करें, संसार की संचालक शक्ति के नामों का जप व स्तुति करने वाले बनें, सोम बन कर प्रभु का दर्शन करें।

सूचना—सोम शब्द के दोनों ही अर्थ हैं। (१) स+उमा=ऊंचे अध्यात्म ज्ञान वाला तथा (२) सोम्य=विनीत।

तीन मधुर अभिलाषायें

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
३ १ २ ३ १ २
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥५॥१८९॥

इस मंत्र का ऋषि [**मधुच्छन्दाः**]=मधुर इच्छाओं वाला प्रार्थना करता है कि [**नः**]=हमारे लिये [**सरस्वती**]=प्रवाह से चलने वाला ज्ञान

[**पावका**]=पवित्र करने वाला हो। यह ज्ञान का देवता हमारे लिये [**वाजेभिः**]=मनोमय प्राणमय व अन्नमय कोशों के बलों से [**वाजिनीवती**]= बलों को देने वाली शक्तिशाली बनाने वाली हो। तथा [**धियावसुः**]—ज्ञानरूप धन का धनी यह व्यक्ति [**यज्ञं वष्टु**]=यज्ञमय कर्म की कामना करे।

मधुच्छन्दा की तीन मधुर अभिलाषायें इस प्रकार हैं :—

(१) **ज्ञान मेरे जीवन को निर्मल बनाये**—वस्तुतः ज्ञान ही हमारे जीवन को पवित्र करता है ! जिस तरह अग्नि में पड़कर सोना निखर आता है, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि में तपकर मानव निखर आता है और निर्मल हो जाता है। सब प्रकार की वासनायें जोकि मलिनता की हेतु हैं वे ज्ञान से भस्मीभूत हो जाती हैं। ज्ञान और वासना का विरोध है, सहवास नहीं।

(२) **यह ज्ञान मुझे शक्तिशाली बनाये**—विज्ञानमय कोश का बल हमारे निचले सभी कोशों को बलयुक्त करेगा। चूंकि सभी कोशों में चल रही क्रियाओं को पवित्र उसी ने करना है। मूर्ख मित्र से ज्ञानी शत्रु अच्छा है चूंकि मन की अपेक्षा बुद्धि के उत्तम होने का महत्त्व अधिक है। मूर्ख मित्र का मन ठीक पर बुद्धि नहीं ठीक। इसके विपरीत ज्ञानी शत्रु का मन चाहे उतना ठीक नहीं पर बुद्धि ठीक है।

(३) पवित्र और शक्तिशाली बनकर **मैं सदा यज्ञिय जीवन वाला बनूं**। मेरे जीवन से कुछ न कुछ लोकहित का कार्य सदा चलता रहे। मैं अपने में ही रमा न रह जाऊं। दूसरों के दुःखों में भी प्रवेश कर सकूं।

भावार्थ—मुझे पवित्रता शक्ति तथा यज्ञमय जीवन प्राप्त हो।

कौन भला कर सकता है ?

२ ३१र २र ३ २उ ३ १ २
क इमं नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् ।
२ ३ २ ३ १ २
स नो वसून्या भरात् ॥६॥१६०॥

इस मंत्र का ऋषि वामदेव=सुन्दर दिव्यगुणों वाला। दिव्य गुणों वाला बनाने के लिये ही उसने यह तत्त्व अपनाया है कि वह वीर्यरक्षा व ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मिकशक्ति का विकास करे। मानव प्रजाओं को 'नाहुषी' कहते हैं चूंकि ये अन्य प्राणियों की अपेक्षा आपस में अधिक सम्बद्ध हैं (नह् बन्धने) सन्तान माता-पिता पर देर तक आश्रित रहती है। व्यक्ति समाज पर आश्रित है। एक राष्ट्र अन्य की सहायता की अपेक्षा करता है, एवं मानव प्रजायें 'नाहुषी' कहलाती हैं। वामदेव कहता है कि [**नाहुषीषु**]=इन मानव प्रजाओं में [**कः**]—कौन व्यक्ति [**इन्द्रम्**]=इन्द्र को—आत्मा को [**सोमस्य आतर्पयवात्**] सोम के द्वारा सर्वथा तृप्त करता है। सोम Semen वीर्य शक्ति का नाम है। आत्मिक शक्ति का तर्पण प्रीणन इसी से होता है। वैदिक साहित्य में इन्द्र के सोमपान से शक्तिशाली बनाने का यही अभिप्राय है। सोमपान के बिना इन्द्र असुरों को जीत नहीं सकता। वीर्यरक्षा ही हमारी सब बुरी भावनाओं को समाप्त कर पाती है। सब आत्मिक गुणों का विकास इसी पर निर्भर है। इसके अभाव में हमारी सब इन्द्रियाँ असुरों के आक्रमणों से आक्रान्त हो जाती हैं। हमारी वाणी अपशब्द बोलने लगती है और कान निन्दा सुनने में आनन्द लेने लगते हैं। पर सोम रक्षा से आत्मिक शक्तियों का विकास होता है। और [**सः**]=इन आत्मिक शक्तियों के विकास करने वाला ही [**नः**]=हमें [**वसूनि आभरत्**]= कुछ उत्तम वस्तु प्राप्त करा सकता है। जिसका जीवन संयमी है वही लोकहित के कार्यों के करने में रुचि व सामर्थ्य वाला हो पाता है। असंयमी का जीवन तो अपने भोग-विलासों में ही समाप्त हो जाता है। संसार के सभी बड़े-बड़े सुधारक ब्रह्मचारी हुए। जिन्होंने जितनी-जितनी मात्रा में इसके महत्व को समझ जीवन में परिणत किया वे उतने-उतने ही लोकहित के कार्य कर पाये।

भावार्थ—हम सोमपान द्वारा के आत्मिक शक्ति का विकास करें और लोकहित में प्रवृत्त हों।

मेरे हृदयान्तरिक्ष में

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा
३ २ २उ ३ १ २ ३ १ २
इमम् । एदं बर्हिः सदो मम ॥७॥१६१॥

'इरिम्बिठि' शब्द की भावना 'ऋतुमय हृदय वाले' की है (इर्—गतौ, विठं=हृदयान्तरिक्ष) यह इरिम्बिठि प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**आयाहि**]= आइये । [**इदं**]= इस [**मम**]=मेरे [**बर्हिः**]= हृदयान्तरिक्ष में [**आ सदः**]=विराजमान होइये । 'बर्हिः' उस हृदय का वाचक है जिसमें से कि वासनाओं का बहुत कुछ उद्बर्हण कर दिया गया है । सो इरिम्बिठि प्रयत्नशील है यह तो स्पष्ट ही है। इसके स्वयं प्रयत्न के बाद ही तो यह परमात्मा की प्रार्थना का अधिकारी बनता है। 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' यह उक्ति ठीक ही कह रही है कि देवों की मित्रता तो श्रम के उपरान्त ही प्राप्त होती है । इसी श्रम के विषय में प्रभु इरिम्बिठि से कहते हैं कि [**ते**]=तेरे लिये [**हि**]=निश्चय से [**सुषुमा**]=हमने सोम के सवन की व्यवस्था की है। ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ? [**इमं सोमं पिबा**]=तू इस सोम का पान कर। वस्तुतः जीव ने सबसे महत्वपूर्ण प्रयत्न तो यही करना है कि यह सोम का पान करे । सोम के पान के लिये आवश्यक है कि उसका जीवन क्रियामय हो । सो 'इरिम्बिठि' तो उसका नाम ही रख दिया है । सोम रक्षा के लिये क्रियाशीलता आवश्यक है और क्रियाशीलता के लिये सोम रक्षा सहायक होती है । यह सुरक्षित सोम इरिम्बिठि को प्रभु के आवाहन का अधिकारी बनाता है। सो सोम रक्षा के लिये क्रियाशील बनने ही मैं तो काण्वता= बुद्धिमत्ता है । यह इरिम्बिठि 'काण्व' है ।

इसकी प्रार्थना का प्रारम्भ 'प्रभो ? आइये' इन शब्दों से होता है। समाप्ति 'मेरे हृदय में विराजिये, इन शब्दों पर है। मध्य में प्रभु ने इसे सोम रक्षा के लिये आदेश दिया है। कुएं में गिरे जीव के लिये प्रभु रस्सी लटकाते हैं, खैंचेंगे भी प्रभो ! पर पकड़ना तो जीव ने ही है। जन्म प्रभु कृपा से, मृत्यु प्रभु के वश में—बीच में जीवन भर कर्म करने का स्वातन्त्र्य तो जीव का ही है। जीव रस्सी को दृढ़ता से पकड़ेगा तो प्रभु उसे ऊपर खैंच ही लेंगे । हमारा पुरुषार्थ छूटेगा नहीं तो हम परम पुरुषार्थ-मोक्ष को क्यों न प्राप्त करेंगे ?

भावार्थ—हम सोम पान द्वारा हृदय को प्रभु के आसीन होने योग्य बनायें ।

जीवन के तीन सिद्धान्त

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
महि त्रीणामवरस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः ।
३ २ ३ १ २
दुराधर्षं वरुणस्य ॥८॥१६२॥

यह मंत्र 'सत्यधृति वारुणि' का है। अपने जीवन के अन्दर तीन सत्यों का धारण करने के कारण यह सत्यधृति है और इस प्रकार श्रेष्ठ जीवन वाला होने के कारण 'वारुणि' है । यह प्रार्थना करता है कि [**त्रीणाम्**]=तीन का [**अवः अस्तु**]=रक्षण मुझे प्राप्त हो । अर्थात् निम्न तीन सिद्धान्तों को मैं अपने जीवन में सदा सुरक्षित कर पाऊं।

प्रथम सत्यः—[**मित्रस्य महि**]=मुझे मित्र का महनीय रक्षण प्राप्त हो । 'ञिमिदा स्नेहने' धातु से बनकर मित्र शब्द स्नेह का वाचक है। स्नेह का सिद्धान्त मेरे जीवन का प्रथम नियम बने । मैं सबके साथ स्नेह से चलूं । और इस प्रकार मेरा जीवन 'महि'=महनीय—प्रशंसनीय हो । वस्तुतः एक सज्जन के जीवन से तो माधुर्य का ही प्रवाह बहता है ।

द्वितीय सत्य :—**अर्यम्णः द्युक्षम्—मुझे** अर्यमा का द्युक्ष रक्षण प्राप्त हो। 'अर्यमा इति तम् आहुः यो ददाति' अर्यमा देने वाले को कहते हैं। जीवन का सिद्धान्त देना हो। पंच यज्ञ मुझे देने वाला ही तो बनाते हैं। यह दान मुझे '**द्यु-क्ष**'=

द्युलोक में—स्वर्ग में निवास करने वाला बनाता है। इस देने की वृत्ति से मेरा स्वर्ग में निवास होता है 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोन्यः कुरुसत्तम'= इस दान यज्ञ के अभाव में हमारा यह लोक भी नरक सा हो जाता है—दूसरे लोक की तो बात ही क्या ?

तृतीय सत्यः—[**दुराधर्षं वरुणस्य**]=वरुण का धर्षणशून्य रक्षण मुझ प्राप्त हो। **वरुण पाशी है।** संयम-बन्धन-वाला है। मेरा जीवन आत्मसंयम वाला हो, और संयम वाला होने पर यह धर्षण-शून्य हो जायेगा—अपराजेय हो जायगा। इस मेरे जीवन का कोई पराभव न कर पावेगा। रावण का पराभव तभी तो हुआ था जबकि उसने संयम के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया। जब तक संयम रहा, वह अपराजित बना रहा।

भावार्थ—**स्नेह, दान** व **संयम** ये तीन मेरे जीवन के सूत्र हों।

तेरे जैसे का अनुगामी बनूं

१ २ ३ १ २ १ २
त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः। स्मसि
स्थातर्हरीणाम् ॥६॥१९३॥

इस मन्त्र का ऋषि 'वत्स'=प्रभु का प्यारा है अथवा ऋग्वेद के अनुसार 'वशी अश्व्यः' है= इन्द्रिय रूप अश्वों को वश में करने वाला। यह प्रभु से कहता है कि ऐ [**पुरुवसो**]=पालक व पूरक निवास को देने वाले! [**इन्द्र**]=परमैश्वर्य वाले! [**प्रणेतः**]=प्रकर्ष की ओर ले चलने वाले, प्रकृष्ट नेतृत्व के देने वाले प्रभो! [**वयम्**]=हम [**त्वावतः**] तेरे जैसे के [**स्मसि**]=हों, उसके पीछे चलने वाले बनें और [**हरीणाम्**]=इन्द्रिय रूप घोड़ों के [**स्थातः स्मसि**]=अधिष्ठाता बनें।

उस प्रभु ने हमें इस शरीर में निवास दिया है उसका दिया हुआ निवास सुपालित व पूरण वाला है। हम अपने अज्ञान से वस्तुओं व इन्द्रियों का अवाञ्छनीय प्रयोग करके अप ने जीवन को असुरक्षित व अपूर्ण बना लेते हैं। प्रभु के उपासक बनेंगे तो हम आसुर वृत्तियों से कभी आक्रान्त न होंगे तथा हमारा जीवन न्यूनताओं से न भर जायगा। प्रभु ही तो वास्तव में इन्द्र परमैश्वर्य वाले हैं। मैं ५ वर्ष तक माता के नेतृत्व में होता हूं फिर ८ वर्ष तक पिता के, बाद में आचार्य के व विद्वान् अतिथियों के नेतृत्व में चलता हूं, पर इन सबके अन्दर भी उतनी-उतनी नेतृत्वशक्ति को रखने वाले तो वे प्रभु ही हैं। प्रभु का नेतृत्व प्रकर्ष की ओर और प्रकृति का नेतृत्व हमें सदा अपकर्ष की ओर ले जाता है।

यद्यपि प्रभु की सर्वव्यापकता व निराकारता मुझे प्रभु के दर्शन से वञ्चित कर देती है और उस साक्षात्कार के अभाव में प्रभु का अनुगामी नहीं हो पाता—चकरा सा जाता हूं; तो भी 'त्वावतः'—प्रभु जैसों का अनुगामी तो बन ही सकता हूं। उस सर्वव्यापक सर्वत्र रमे 'राम' को न भी देख पाऊं तो भी दाशरथि राम के पीछे तो चल ही सकता हूं। निराकार प्रभु को न भी देख पाऊं परन्तु उस प्रभु को जिसने अपने जीवन से कहने का प्रयत्न किया उस कृष्ण का अनुगामी तो बन ही सकता हूं। राम और कृष्ण का अनुयायी बनने पर भी तो मेरा कल्याण होगा ही। वे प्रभु के मार्ग पर चल रहे हैं तो उनके पीछे लगकर मैं भी तो प्रभु तक पहुंच ही जाऊँगा।

पर राम और कृष्ण के अनुयायी तो आपस में हो लड़ने लगे व अपने स्वातन्त्र्य को भी खो बैठे। यह क्या? उत्तर स्पष्ट है। ये राम और कृष्ण के अनुयायी बने ही कब? इन्होंने तो माथा नवाया और अपने को कृतकृत्य समझ लिया, पीछे तो चले ही नहीं। इन्होंने तो उन्हें ही परमेश्वर के स्थान में बिठा दिया। और स्वयं भी बैठ गये। स्वामी दयानन्द ने इस प्रगति शून्य पूजा का खण्डन कर आर्यों को प्रगति का पाठ पढ़ाया। परन्तु आर्य भी 'पूजा नहीं करनी' इसी वाक्यांश पर बल देते रह गये। और जब पूज्य नहीं तो चलें किस के पीछे? सो आर्य भी वस्तुतः प्रगतिहीन हो गये। यह

समाज भी dynamic न रहा।

ठीक-ठीक देखा जाय तो पौराणिक जगत् के पास पूज्य व्यक्ति हैं वे उनकी पूजा में ही लगे रहते हैं उनके पीछे चलते नहीं। आर्यसमाजी चलते हैं—चलने की शक्ति व भावना रखते हैं पर उनके पास पूज्य व्यक्ति नहीं, चलें किसके पीछे? यदि आर्य पौराणिकों के राम और कृष्ण को ले भागें तो इन्हें पूज्य व्यक्ति मिल जायेंगे और संभवतः पौराणिक भी उन्हें छीनने के लिये भाग खड़े हों और इस प्रकार सारा समाज प्रगतिशील बन जाय।

इनके अनुयायी बनने पर हम इन्द्रिग्रों के अधिष्ठाता होंगे। एक व्यक्ति घोड़े पर सवार है, घोड़ा उसके वश में है, तब तो वह अपने लक्ष्य स्थान पर जा पहुंचता है; परन्तु यदि यह घोड़े के नीचे आ जा तो उसके पांवों तले रौंदा हो तो जायगा। प्रभु जैसों का अनुगामी जितेन्द्रिय बनता है, अन्यथा इन्द्रियनिर्जित हो जाता है। जितेन्द्रिय ही प्रभु का प्यारा बनता है सो 'वत्स' कहलाता है और इन्द्रियों को वश में करने के कारण ही 'वश' है उत्तम इन्द्रिय रूप अश्वों वाला होने के कारण 'अश्व्य' है।

भावार्थ—प्रभु जैसों का अनुगमन करता हुआ मैं अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूं।

● ● ●

॥ १ ॥ ऋषिः—१ प्रगाथः; २ विश्वामित्रः; ३, १० वामदेवः; ४, ६ श्रुतकक्षः; ५ मधुच्छन्दाः; ७ गृत्समदः; ८, ९ भरद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के तीन उपदेश

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
उत्त्वा मन्दन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः।
१ २ ३ १ २
अव ब्रह्माद्विषो जहि ॥१॥१९४॥

इस मंत्र के ऋषि 'प्रगाथ काण्व' से प्रभु कहते हैं कि यदि तूने सचमुच प्रकृष्ट गायन करने वाला बनना है यदि तूने सचमुच 'काण्व'=मेधावी बनना है तो तू निम्न तीन बातों का ध्यान कर। मेरा सच्चा गायन व कीर्तन तो यही होगा कि तू इन मेरे आदेशों को अपने जीवन का अंग बना—बुद्धिमत्ता इसी में है। यह तेरी क्रियात्मक भक्ति होगी।

(१) पहली बात यह कि [**त्वा**]-तुझे [**सोम**]=सोम के कण-शक्ति के बिन्दु [**उत् मन्दन्तु**] =उत्कृष्ट हर्ष को प्राप्त कराने वाले हों। शक्ति के अभाव में मनुष्य का जीवन बड़ा दबा हुआ सा (depressed सा) बना रहता है। शक्ति के ये कण सुरक्षित होकर जीवन के अन्दर एक अद्भुत मस्ती को देने वाले होते हैं। निःशक्त का जीवन निरानन्द व चिड़चिड़ा होता है।

(२) प्रभु का दूसरा आदेश यह है कि ऐ [**अद्रिवः**]=(अ+दृ =not to be torn away) चट्टान के समान दृढ़ जीव (as firm as a rock) तू [**राधः कृणुष्व**]=सिद्धि का संपादन कर। युधिष्ठिर बन और अनन्त विजय नामक शंख को बजा। समय-समय पर होने वाली असफलतायें तुझे व्याकुल न कर दें, तेरा धैर्य कायम रहे और तू अध्यवसाय के द्वारा सफलता को प्राप्त करने वाला बन।

(३) प्रभु का तीसरा कथन यह है कि [**ब्रह्मद्विषः**]=ज्ञान के साथ अप्रीति की भावनाओं को तू [**अवजहि**] अपने से दूर करके नष्ट कर दे। ज्ञान तेरे लिये सदा रुचिकर हो, ज्ञान का तुझे व्यसन ही लग जाय। यह व्यसन तुझे संसार में अन्य व्यसनों से बचाने वाला सिद्ध होगा।

भावार्थ—मेरा जीवन सोमपान के द्वारा उत्कृष्टमद वाला हो, मैं सदा दृढ़तापूर्वक सफलता की ओर बढ़ूं तथा ज्ञान की रुचि वाला बनूं।

ज्ञान+रस के साथ निरभिमानिता

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
२ ३ १ २ ३ १र २र
इन्द्र त्वादातमिद्यशः ।।२।।१९५।।

इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्रो गाथिनः' है। सभी के साथ स्नेह करने वाला, प्रभु का स्तोता-गायन करने वाला। वस्तुतः जो प्रभु का गायन करना चाहता है उसे सबके साथ स्नेह करने वाला होना ही चाहिये। सबके साथ स्नेह वही कर सकता है जो कि 'एकत्व' का दर्शन करे। 'यस्तु सर्वाणिभूतानि आत्मन्नेवानुपश्यति सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न '**विजुगुप्सते**'=सब प्राणियों की आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखने वाला ही घृणा से ऊपर उठ पाता है। इस ऊँचे ज्ञान की रक्षा के लिये प्रार्थना करता हुआ ऋषि कहता है कि ऐ [**गिर्वणः**]=(गीर्भिः वननीय) वेदवाणियों से सेवन करने योग्य प्रभो! आप [**नः**]=हमारे [**सुतं**]=ज्ञान की [**पाहि**]=रक्षा कीजिये। ज्ञान को 'सुतं' इसलिये कहते हैं कि जैसे किसी फल से उपकरणों द्वारा रस का सवन होता है उसी प्रकार 'प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा' द्वारा ज्ञानियों से ज्ञान का सवन किया जाता है। अन्तर इतना ही है कि सवन के बाद फल तो नीरस हो जाता है पर आचार्य से शिष्य ज्ञान का सवन कर भी लेता है तो आचार्य का ज्ञान पूरा ही बना रहता है 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' वह ज्ञान ही विश्वामित्र को 'विश्व का मित्र=स्नेही' बनाता है। वही सभी को आत्मबुद्धि से (आत्मौपम्येन) देखता है। (२) यह विश्वामित्र प्रभु से कहता है कि आप [**मधोः धाराभिः**]=मधु की धाराओं से [**अज्यसे**]=प्रकट होते हो। अर्थात् आपका दर्शन उसी को होता है जिसके जीवन से माधुर्य की धारा का प्रवाह होता है। वास्तव में सच्चे ज्ञान का प्रकाश होता ही रस के रूप में है। अन्दर ज्ञान हो तो जीवन के व्यवहार में माधुर्य होना अनिवार्य है। प्रभु का स्वरूप भी तो यही है 'अन्दर ज्ञान, बाहर रस।' वे प्रभु 'विशुद्धाचित्' हैं तो 'रसो वै सः' (तै) वे रस भी तो हैं। जीव भी ज्ञान व रस वाला बनकर प्रभु का ही छोटा रूप (ममैवांशः)=After His image) बन जाता है। और वास्तव में तो इस दिन ही वह प्रभु का सच्चा दर्शन कर पाता है।

इन व्यक्तियों को सामान्य जनता आश्चर्य व आदर से देखती है, उन्हें प्रभु जैसा मानती हुई कई बार तो प्रभु ही मानने लगती है। इन लोगों की कीर्ति सुरभि चारों ओर फैलने लगती है। पर यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि यह विश्वामित्र तो यही कहता है कि [**इन्द्र**]=ऐ सर्वैश्वर्य वाले प्रभो? [**यशः**]=यह यश भी तो [**इत्**]=सचमुच [**त्वा दातं**]=तेरे से ही दिया गया है या त्वा दातं=तेरा ही उज्ज्वल हो रहा है, इसमें मेरा क्या। यह यश तो तेरा ही है। यह विभूति भी सब विभूतियों की तरह आपके ही तेज का अंश है 'यद्-यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जित मेव वा तत्त-देवावगच्छ त्वंमम तेजोंशसंभवम्।' एवं यह विश्वामित्र निरभिमान बना रहता है।

भावार्थ—मेरा जीवन ज्ञान से पूर्ण हो—व्यवहार में मेरे माधुर्य हो—मन में अभिमानशून्यता।

हमने ही नहीं कहा ? (कितना दुर्भाग्य)

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २र ३ २
सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा उपो नु स सपर्यन् ।
२ ३ २ ३ २उ ३ १ २
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ।।३।।१९६।।

इस मंत्र का ऋषि वामदेव है, सुन्दर दिव्य गुणों वाला। वह अपने साथियों से अपने को ही प्रेरणा देता हुआ कहता है कि [**स इन्द्रः**]=वह परमात्मा तो [**वः**]=आप सबको (वामदेव भी उनमें सम्मिलित है) [**सपर्यन्**]=आदर व प्रेम देता हुआ [**सदा**]=हमेशा [**उप उ नु**]=निश्चय से अपने समीप [**आचकृषद्**]=सर्वथा आकृष्ट कर रहा है। हम जब-जब विषय-वासनाओं में भटकते हैं, उस-उस समय वह-वह पदार्थ भी प्राप्त तो हमें

प्रभु से ही होता है; पर साथ ही प्रभु हमें कह रहे होते हैं कि इस ऐश्वर्य की चमक में मत फंस। 'इन्द्र' तो मैं ही हूं, वास्तविक ऐश्वर्य तो तुझे मेरे समीप आने से ही मिलेगा। जिस मार्ग पर तू चल पड़ा है वह प्रेय है—रमणीय है। पर उसकी यह रमणीयता केवल ऊपर ऊपर की है—पर्यन्त में यह तुझे परिताप प्राप्त करायेगा। तू इधर आ, मेरी ओर आने में ही तेरा अन्तिम 'श्रेय' है। मेरे पास आने पर ही तुझे शान्ति व तृप्ति का अनुभव होगा। इधर अन्दर देख तो सही। प्रकृति का अधिष्ठाता तो मैं ही हूं। वह मेरी ही पत्नी है, तेरी माता—तूने उसे उपभोग्य थोड़े ही बनाना है। उससे उचित सहायता प्राप्त करता हुआ तू वहां उलझ मत, और मेरी ही गोद में आकर बैठ। यहीं तुझे योगनिद्रा प्राप्त होगी। इधर आने पर ही तुझे निर्वाण व स्थायी शान्ति का लाभ होगा। इस प्रकार वे प्रभु हमें सदा भोगों को प्राप्त कराते हुवे भी प्रेरणा दे रहे हैं—और अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं।

पर, वामदेव कहते हैं कि यह कितना दुर्भाग्य है कि हमने उस [**शूरः**]=शूर सब वासनाओं व कष्टों की इति श्री कर डालने वाले (शॄ हिंसायाम्) [**इन्द्रः**]=परमैश्वर्यशाली [**देवः**]=सम्पूर्ण दिव्य गुणों के निधान उस प्रभु को [**न वृतः**]=नहीं वरा। उस प्रभु को वरते तो हमारी ये संतप्त करने वाली वासनायें कभी की नष्ट हो गई होतीं, हमने वास्तविक ऐश्वर्य को पाया होता, दैवी सम्पत्ति के मालिक बन गये होते? कितने महान् लाभ से हम वञ्चित रह गये। क्यों न अब भी हम चेतें—प्रभु की प्रेरणा को सुनें और उसी के वरण का निश्चय करें। दुर्गा के उपासक बनने पर उसका वाहनभूत शेर हमारे चरणों को चूमेगा; नहीं तो हम उसके शिकार हो जायेंगे। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'=माया को तो उस मायावी=माया के अधिष्ठाता की शरण में पहुंच कर ही तैरा जा सकता है। सो हम माया में क्यों उलझें, मायावी की ही शरण में चलें। उसी दिन हम सुन्दर दिव्य गुणों वाले बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु तो हमें सदा बुलाते हैं, हमीं नहीं सुनते। कितना दुर्भाग्य है? प्रभु का वरण कर हम सौभाग्यशील बनें।

कब मैं शिखर पर पहुंचूंगा ?

१ २ ३ १२ ३१२३ १ २
आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
२उ ३ १ २
न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥४॥१६७॥

इस मंत्र के ऋषि 'श्रुतकक्ष' से, जिसने कि ज्ञान को ही शरण बनाने का निश्चय किया है, उस श्रुतकक्ष से प्रभु कहते हैं कि [**त्वा इन्दवः आविशन्तु**]=तेरे में सोमकण उसी प्रकार सब ओर प्रविष्ट हो जायें [**इव**]=जैसे कि [**सिन्धवः समुद्रम्**]=नदियां समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं। समुद्र में प्रविष्ट होकर नदियां अब और नीचे की ओर प्रवाहित नहीं होतीं, अपितु वह नदियों का जल अब सूर्य की उष्णता से वाष्पीभूत हो ऊपर ही उठता है। इसी प्रकार तेरे अन्दर प्रविष्ट होकर ये सोमकण भी प्राणों की उष्णता से ऊर्ध्वगति वाले हों, और तू 'ऊर्ध्वरेतस्'=उत्तर मार्ग से जाने वाला—उत्तरायण से चलने वाला बन। यही तो मोक्ष का मार्ग है, और यही तो ज्ञानाग्नि को दीप्त करने का साधन है।

सोमकणों की हम रक्षा करेंगे तो ये रक्षित सोमकण हमारी रक्षा करेंगे। हमारी ज्ञानाग्नि तो दीप्त होगी ही और अन्त में हम निर्वाण का भी लाभ करेंगे, पर इस शारीरिक क्षेत्र में भी हमें इतनी शक्ति प्राप्त होगी कि हम संसार को भी हिलाने में समर्थ हो जायेंगे। 'हन्ताहं पृथिवीमिमाम् निदधानीह वेहवा कुवित् सोमस्य अपामिति'=हम कह सकेंगे कि मैंने खूब सोमपान किया है अब तो मैं पृथ्वी को भी उठाकर, जहां कहो, रख दूं। उस दिन मेरे अन्दर अद्भुत शक्ति होगी। पर यह शक्ति क्या मुझे मद वाला कर

देगी ? नहीं, सोमजनित यह शक्ति मुझे और अधिक सोम्य बना देगी। उस दिन भर्तृहरि के शब्दों में मैं 'नम्रत्वेनोन्नमन्तः' नम्रता से अपना उत्थान करता हुवा उन्नति के शिखर पर पहुंच रहा हूंगा। प्रभु कहते हैं कि ऐ श्रुतकक्ष ? ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्य को प्राप्त जीव ? आज [**त्वाम् न अतिरिच्यते**]=तुझको कोई लांघ नहीं सकता, तेरे से अधिक नहीं हो सकता। तेरा जीवन सभी से आगे लांघ गया है—ex-cel=आगे निकल गया है और अतएव उत्तम (Excellent) बन गया है।

भावार्थ—**मैं** ब्रह्मचर्य द्वारा, सोमपान करता हुआ, शिखर पर पहुंचूं, **और** प्रभु के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करूं।

सब प्रभु के स्तवन में लगे हैं

२ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः।
२ ३ १ २
इन्द्रं वाणीरनूषत॥५॥१९८॥

वेद चार होते हुए भी त्रिविध मंत्रों वाले ही हैं। मंत्र या तो ऋग्रूप हैं, या यजु अथवा साम। **ऋग्** मंत्र पदार्थों के गुणों का वर्णन करते हैं। ये **मंत्र 'अर्क'** शब्द से भी कहे जाते हैं। इनमें पदार्थों के गुणों का वर्णन तो होता ही है। पर ये मंत्र पदार्थों के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए, इनके निर्माता प्रभु का भी ध्यान कराते हैं। सो मंत्र में कहते हैं कि [**अर्किणः**]=ऋग्मंत्रों के ज्ञाता विद्वान् अथवा पदार्थों के गुणों के विवेचन में लगे हुए वैज्ञानिक इन [**अर्केभिः**]=ऋग्मंत्रों से [**इन्द्रम्**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की [**अनूषत**]=स्तुति करते हैं। ये वैज्ञानिक प्रत्येक पदार्थ की रचना में रचयिता के कौशल को देखते हैं और उसके प्रति नतमस्तक होते हैं।

साम मंत्रों से प्रभु का गायन करने वाले 'गाथी' कहलाते हैं। 'वृहत् साम तथा साम्नां' इस गीता वाक्य के अनुसार साममंत्रों में भी तो 'बृहत् साम' एक विशेष स्थान रखता है। ये [**गाथिनः**]=प्रभु का गायन करने वाले [**बृहत्**]=(वृहता) बृहत् सामों के द्वारा [**इन्द्रम् इत्**]=उस प्रभु को ही अनूषत=स्तुत करते हैं। ये अध्यात्मविद्यावित् लोग उस प्रभु की महिमा के प्रसार को अनुभव करते हुए उस प्रभु का हृदय में स्मरण करते हैं और उनकी वाणी प्रभु की महिमा का गायन करती है।

यजुः मन्त्र गद्य रूप में हैं सो उन्हें यहां 'वाणी' शब्द से ही कहा गया है। यजु मंत्र मुख्य रूप से तो मनुष्य के कर्तव्य भूत यज्ञों का ही प्रतिपादन करते हैं। परन्तु उस प्रभु के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन भी तो जीव का एक कर्तव्य ही है। और मनुष्य पारस्परिक कर्तव्यों का सम्पादन भी तो प्रभु स्मरण से उत्तम प्रकार से करता है। प्रभु स्मरण उसके अन्दर एकबन्धुत्व की भावना को जन्म देता है जो कि उसके जीवन को सभी के प्रति स्नेहमय कर देती है। एवं ये [**वाणीः**]=यजुरूप वाणियां भी [**इन्द्रम्**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को [**अनूषत**]=प्रशंसित करती हैं।

एवं ऋग् यजु साम रूप सभी मंत्रों से प्रभु की स्तुति करता हुआ इस मंत्र का ऋषि सदा पवित्र इच्छाओं वाला बना रहता है सो 'मधुच्छन्दाः' कहलाता है और सभी के प्रति स्नेह की भावना वाला होने के कारण 'वैश्वामित्र' होता है। यह तो एक ही बात देखता है कि क्या वैज्ञानिक क्या अध्यात्मवेत्ता क्या समाज शास्त्री सभी उस प्रभु के प्रति नतमस्तक हो रहे हैं।

भावार्थ—हम सदा उस प्रभु का गायन करते हुए 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्र' बनें।

नोट :—प्रकृति के नियम का पालन न करेंगे तो स्वास्थ्य खोयेंगे। जीव के नियम का पालन न करेंगे तो शान्ति खोयेंगे। प्रभु की उपासना न करेंगे तो कुछ खोयेंगे नहीं, अपना मोक्ष न होगा। प्रकृति दण्ड देती है, जीव दण्ड देता है। प्रभु अपनी उदारता से दण्ड नहीं देते। मोक्ष तो हमने स्वयं पाने का यत्न ही नहीं किया।

प्रभु को प्राप्त करने के लिये

१ २ ३१ २ ३ १ ३ २ ३ २
इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम् ।
३ १ ३ ३ १ २
वाजी ददातु वाजिनम् ।।६।।१९९।।

इस मंत्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष आंगिरस' है। ज्ञान को शरण बनाने वाला अर्थात् खूब ज्ञानी, तथा अंग-अंग में रस वाला=शक्ति संपन्न। वस्तुतः ज्ञान और शक्ति का विकास करने वाला व्यक्ति ही तो प्रभु को पाने का अधिकारी बनता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**इन्द्रः**[= वह परमैश्वर्यशाली प्रभु [**नः**]=हमें [**इषे**] (इष् गतौ)=प्रभु के ज्ञान व प्रभु की ओर जाने के लिये और अन्त में प्रभु को पाने के लिये [**ऋभुक्षणं**]= महान् [**ऋभुम्**]=(ऋतेन भाति) सत्य से दीप्त [**रयिम्**]=ज्ञानरूप संपत्ति को [ददातु]=दे। वेदवाणी महान् है, वह सब सत्य ज्ञानों से दीप्त है। प्रभु मुझे उस वेदवाणी को प्राप्त करायें ताकि मैं प्रभु को पा सकूं।

ज्ञान के साथ शक्ति का भी उतना ही महत्त्व है। प्रभु ज्ञान के पुंज हैं, 'विशुद्धा-चित्' (Pure knowledge) हैं। और साथ ही शक्ति के पुंज हैं—'तेजोऽसि'। सो यह ऋषि प्रार्थना करता है कि [**वाजी**]=शक्ति का भंडार प्रभु [**वाजिनम्**]= शक्ति संपन्न रयिम् धन को [**ददातु**]=दे।

'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं च उभे श्रियमश्नुताम्' इस यजुर्वाक्य के अनुसार 'श्रुतकक्षाआंगिरस्' ज्ञान (ब्रह्म) व बल (क्षत्रम्) दोनों को शोभासंपन्न बनाता है, और चाहता है कि उसकी संपत्ति ज्ञान व बल के रूप में ही हो। प्रसंगवश यहाँ यह संकेत भी ध्यान देने योग्य है कि संसार में धन के साथ ज्ञान व बल का निवास नहीं होता। धनी व्यक्ति ज्ञान को महत्त्व नहीं देता तथा विलासमय अकर्मण्य जीवन के कारण अशक्त हो जाता है। यहाँ मंत्र में ज्ञान व शक्ति के साहचर्य वाली संपत्ति को चाहा गया है। यही सम्पत्ति उपादेय है। ज्ञान और शक्ति का संपादन करके ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। अकेला ज्ञान व अकेली शक्ति लंगड़े व अन्धे की तरह हैं। दोनों का मेल ही पूर्णता को पैदा करता है। पूर्णता के होने पर ही हम पूर्ण प्रभु के सखा बनते हैं। सखित्व के लिये समानशीलता आवश्यक ही है।

भावार्थ—मैं 'श्रुतकक्ष आंगिरस' (ज्ञानी शक्ति संपन्न) बनूं ताकि प्रभु को पा सकूं।

इन्द्र का लक्षण

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत् ।
२उ ३ १र २र
स हि स्थिरो विचर्षणिः ।।७।।२००।।

इस मंत्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है 'गृणाति इति गृत्सः, माद्यतीतिमदः, शुनति इतिशुन स एक शुनकः' इन व्युत्पत्तियों से प्रभु को स्तुति करने वाला 'गृत्स' है, यह सदा प्रसन्न रहता है सो 'मद' है, क्रियाशील होने से 'शुनक' है। इससे प्रभु कहते हैं कि [**अंग**]=हे प्रिय! [**इन्द्रः**]= जितेन्द्रिय ही [**महद्भवं**]=इस महान् भय रूप संसार का [**अभीषत्**]=अभिभव करता है। अभिभव नहीं, [**अपचुच्यवत्**] = संसार को अपने से पृथक् करता है। जीते जी भी जीवन्मुक्त हो जाने से वह संसार से दबता नहीं, अपितु संसार को दबा लेता है—पराभूत कर देता है। यह संसार उसे आसक्त नहीं कर पाता। देह छोड़ने के उपरान्त तो वह परामुक्ति को प्राप्त करके एक अनन्त से काल के लिए आवागमन के चक्र से छूट जाता है। यही तो वस्तुतः मानव जीवन का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को पाने के लिये इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। यह जितेन्द्रिय ही प्रभु को प्रिय होता है। प्रभु ने मंत्र में इसे 'अंग' इस प्रकार संबोधन किया है। 'अंग' इस संबोधन में क्रियाशीलता की भावना है (अगिगतौ)। अकर्मण्य व्यक्ति उस प्रभु को प्रिय हो ही कैसे सकता है जिसका कि स्वभाव ही क्रिया है 'स्वाभाविको ज्ञान बल क्रिया च'। यह

क्रियाशीलता उसे जितेन्द्रिय बनने में भी तो सहायक होती है।

[**सः**]=वह मोक्ष को पाने वाला इन्द्र [**हि**]=निश्चय से [**स्थिरः**] होता है—डांवाडोल न होकर स्थित प्रज्ञ होता है। इसकी बुद्धि वासनाओं से आन्दोलित न होकर 'अविकम्प' बनी रहती है। और यह [**विचर्षणिः**]=विशेष दृष्टिकोण को अपनाने वाला होता है। यह प्रत्येक चीज़ के अच्छे ही पहलू को देखता है, प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य के निर्माता का उसे आभास मिलता है। और विचर्षणि के अतिरिक्त यह कर्षणि=विशेष काम करने वाला होता है। यह काम के महत्त्व को समझता है कि इस काम ने ही उसे जितेन्द्रिय बना देवों का प्रिय बनाया है। एवं स्थिरता, विशेष दृष्टिकोण व काम ये वो साधन हैं जो कि इन्द्र को इन्द्र बनाते हैं, और इन्द्र बनकर वह मोक्ष व ब्रह्म निर्वाण रूप लक्ष्य का लाभ करता है।

भावार्थ—मोक्ष ही मेरा जीवन-लक्ष्य हो, उसके लिये मैं स्थिरमति, विशेष गंभीर दृष्टि वाला सदा श्रमशील बनूं।

सूचना—इस मंत्र में 'संसार को 'महद्भय' कहा है। धन नाश, स्वास्थ्य नाश, व कीर्ति नाश भी भय हैं। 'अयशोभयं भयेषु' कीर्तिनाश तो बहुत ही बड़ा भय है। पर इससे बढ़ कर भय क्या, कि मुझे फिर से इस ९ मास के एकान्त कारागृह में बन्द होना पड़ेगा। गीता में इसे 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इस श्लोक में महद् भय कहा गया है।

ज्ञानी भक्त

३ १ २   ३ १ २ ३ १ २   ३ १ २
इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः।
१ २ ३ २उ   ३ १ २
गावो वत्सं न धेनवः ॥८॥२०१॥

इस मंत्र का ऋषि 'भरद्वाज वार्हस्पत्य' है—अपने अन्दर शक्ति को भरता है (भरत्+वाज) और ज्ञानियों का भी ज्ञानी—बृहस्पति=ब्रह्मणस्पति बनने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः जितना-जितना शक्ति का संयम करता है, उतना-उतना, उसकी बुद्धि तीव्र होकर, उसका ज्ञान बढ़ता है। और जितना-जितना वह ज्ञान प्राप्ति में लगता है उतना ही उसके लिये संयम का अधिक संभव हो जाता है। मंत्र में 'सुते-सुते' शब्द शक्ति व ज्ञान दोनों का ही उल्लेख करता है। शक्ति के भी रस का रुधिरादि क्रमेण सवन होता है और ज्ञान का भी विद्यार्थी आचार्य से प्रणिपात परिश्रम व सेवा द्वारा सवन किया करता है। इस ज्ञान का सवन करने के कारण ही यह यहाँ गिर्वन्=वेदवाणियों का सेवन करने वाला कहलाया है। इन वेदवाणियों के सेवन से उत्तरोत्तर इसका ज्ञान बढ़ता चलता है। प्रत्येक पदार्थ को यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने लगता है। प्रत्येक पदार्थ की रचना में इसे अद्भुत सौन्दर्य प्रतीत होने लगता है और यह उस सौन्दर्य के अदृश्य निर्माता के प्रति नतमस्तक हो वाणियों से उसका गायन करने लगता है।

यह 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' कहता है कि [**सुते-सुते**] ज्यूं-ज्यूं मेरा ज्ञान बढ़ता है त्यों-त्यों मुझ [**गिर्वणः**]=वेदवाणियों का सेवन करने वाले की [**इमाः गिरः**]=ये वाणियां [**उ**]=निश्चय से [**त्वा**] तुझको ही [**नक्षन्ते**]=प्राप्त होती हैं—तेरा ही गुणगान करती हैं। मेरी वाणियां तेरे प्रति उसी प्रकार प्रेम के प्रवाह वाली होती हैं [**न**]=जैसे कि [**धेनवः गावः**]=नवसूतिका गौवें [**वत्सम्**]=बछड़े के प्रति। नवसूतिका गौ का बछड़े के प्रति सहज प्रेम होता है, मेरा भी प्रभु के प्रति प्रेम स्वाभाविक हो उठता है। मुझे प्रभु के गायन में ही आनन्द आने लगता है। क्या सूर्य, क्या चन्द्र व क्या नक्षत्र—मुझे सभी प्रभु का गायन करते प्रतीत होते हैं। आकाश में उमड़ते बादलों में मुझे प्रभु की महिमा का स्मरण होता है। निरन्तर बहती नदियाँ मुझे प्रभु की याद दिलाती हैं। अपने शरीर में अंग-प्रत्यंग की रचना मुझे प्रभु के प्रति नतमस्तक करती है और मेरी वाणी से उस प्रभु के नामों का उच्चारण होने लगता है। यह ज्ञानीभक्त

ही प्रभु का अनन्य भक्त कहलाता है—यह प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के 'ज्ञानी भक्त' बनने के लिये प्रयत्नशील हों।

'इन्द्रा पूषणा' का स्मरण

भक्त की लक्षणत्रयी

२ ३ २ ३१२ ३२ ३ १२ ३ १२
इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये।
३ २ ३ १२
हुवेम वाजसातये ॥९॥२०२॥

पिछले मंत्र में वर्णित भक्त प्रभु को सदा दो ही रूपों में स्मरण करता है। वे प्रभु 'इन्द्र हैं—परमैश्वर्यशाली हैं–ज्ञानधन से परिपूर्ण हैं। ज्ञानियों के भी ज्ञान देने वाले होने से 'देव-सम्राट्' हैं। जहाँ सूर्यादि को प्रकाश देते हैं, वहां 'अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिराः' आदि ऋणियों के हृदय में भी ज्ञानसूर्य के रूप में उदित होते हैं। प्रभु का दूसरा रूप 'पूषन्' का है, वे प्रभु ही सब का पोषण करने वाले हैं। वे ही वैश्वानर रूप में हमारे देहों में स्थित हो चतुर्विध अन्न का पाचन करते हुए हमारी शक्ति की वृद्धि का कारण होते हैं। सो [**वयं**]=हम सब [**नु**]=अब कुछ समझदार बनने पर [**इन्द्रापूषणा**]=ज्ञान रूप परमैश्वर्य के कोश व शक्ति के भंडार प्रभु को [**हुवेम**]=पुकारते हैं। इसलिये पुकारते हैं कि यह प्रभु की स्तुति हमारा भी लक्ष्य 'ज्ञान व शक्ति' को बना दे। सदा ज्ञान व शक्ति की वृद्धि में लगे हुए हम [**सख्याय**]=उस प्रभु की मित्रता के लिये समर्थ हों। 'विष्णुर्भूत्वाभजेद् विष्णुं' के नियम के अनुसार प्रभु का स्तवन प्रभु जैसा बनकर ही हो सकता है। इसी प्रकार उसका सख्य=समानख्यान='उस जैसा लगना' हो सकेगा। समान ख्यान वाला बनना इसलिये आवश्यक है कि ऐसे बने बिना हमारी उत्तम स्थिति व कल्याण का संभव नहीं है। सो [**स्वस्तये**]=सु अस्तये=उत्तम जीवन के लिये हम प्रभु का 'इन्द्रापूषणा' शब्दों से स्मरण करते हैं। ज्ञान व शक्ति को बढ़ाकर अपने जीवन को उत्तम बनाते हैं। प्रभु का स्मरण—यह हरिपाद सेवन का व्यसन मुझे अन्य व्यसनों से बचाकर शक्तिशाली बनाता है, सो [**वाजसातये**]=शक्तिशाली बनने के लिये (वाज=शक्ति, साति=प्राप्ति) हम 'इन्द्रापूषणा', का स्मरण करते हैं। एव, प्रभु स्मरण के तीन लाभ हैं (१) हमारे मस्तिष्क में ज्ञान सूर्य का उदय होकर हमें प्रभु के समान ख्याति, प्रभु का सख्य प्राप्त होता है (२) हमारा जीवन सब व्यसनों से शून्य व मन वासना शून्य होकर हमें 'स्वस्ति'=उत्तम स्थिति प्राप्त होती है (३) निर्व्यसनता ही हमारी शक्तियों को जीर्ण न होने देकर हमारे शरीरों को सबल बनाते हैं। हम वाज की साति के लिये समर्थ होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानि भक्त का मस्तिष्क ज्ञानपूर्ण होता है, मन निर्वासन होकर ही उत्तम स्थिति वाला होता है तथा शरीर वर्चस्वी बन नीरोग होता है।

वह सर्व महान् है

१ २ ३ १र २र ३ १र २र
न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति
२ ३ २उ ३ २
वृत्रहन्। न क्येवं यथा त्वम् ॥१०॥२०३॥

भरद्वाज बार्हस्पत्य जितना-जितना संयमी जीवन वाला अधिकाधिक ज्ञानी बनता चलता है उतना-उतना वह प्रभु का अधिक और अधिक भक्त होता जाता है। उसका अन्तिम उद्गार यही होता है कि ऐ [**इन्द्र**]=परमश्वर्यशालिन् प्रभो? [**त्वत्**]=तेरे से [**उत्तरं**]=उत्कृष्ट [**न कि**]=कुछ भी नहीं है। ऐ [**वृत्रहन्**]=सब वृत्रों=वासनाओं को समाप्त करने वाले प्रभो? तेरे से [**ज्यायः**]=अधिक बढ़ा हुआ [**न अस्ति**]=कोई नहीं है। ज्ञान को दृष्टि से आप 'इन्द्र' हैं=ज्ञान के सूर्य हैं-आपको ज्ञान को ज्योति से ही ऋषि मुनियों के हृदय द्योतित हुआ करते हैं। आप पूर्वों से भी पूर्वों के गुरु हैं- शाश्वत काल से वेद=ज्ञान

के उपदेष्टा हैं। नैर्मल्य के दृष्टिकोण से आप काम के भस्म करने वाले हैं—वासना के विनाशक हैं। आप महान् हैं—अपने न मानने वालों को भी निवास देने वाले हैं (अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति)। ऐ प्रभो! आपसे उत्कृष्ट व अधिक बढ़े हुए की तो कथा ही क्या? [**एवं नकि**]=ऐसा भी तो कोई नहीं [**यथा त्वम्**]=जैसे कि आप हैं। आपकी बराबरी वाला भी कोई नहीं। आप अ-द्वितीय हैं। आपकी महिमा का कोई अन्त नहीं। जितना-जितना सोचता हूं उतनी-उतनी आपकी उस महिमा के आनन्त्य में डूबता जाता हूं। बस, मैं अपने को आप में डुबाकर आप जैसा ही सुन्दर दिव्यगुणों वाला बन जाऊं।

इस प्रकार कामना को करने वाला यह भारद्वाज 'वामदेव' बन जाता है। सुन्दर दिव्य गुणों को अपने अन्दर उपजाता है। इसकी एक-एक इन्द्रिय निर्मल हो उठती है और यह गौतम=प्रशस्त इन्द्रियों वाला हो जाता है। यह सदा उस प्रभु का स्मरण करता है—उसे 'सर्वमहान्' के रूप में देखता है। उसका ध्यान करते-करते स्वयं भी उसका छोटा रूप बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु को 'सर्वमहान्' रूप में देखते-देखते हम भी महान् बन पायें।

* * *

॥ २ ॥ ऋषिः—१, ४ त्रिशोकः; २ मधुच्छन्दाः; ३ वत्सः, ५ सुकक्षः; ६, ९ वामदेवः; ७ विश्वामित्रः; ८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ; १० श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु कब उत्साहित करते हैं?

३ १२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः।
३ २ ३ १ २
समानमु प्र शंसिषम् ॥१॥२०४॥

इस मंत्र का ऋषि 'त्रिशोक काण्व' है,—वह बुद्धिमान् जिसने कि अपने 'मन, शरीर व मस्तिष्क तीनों को ही दीप्त किया है। यह 'त्रिशोक' कहता है कि मैं [**उ**]=निश्चय से [**प्रशंसिषम्**]=उस प्रभु की कलित कीर्ति का गायन करता हूं जो कि [**वः जनानां**]=तुम सब मनुष्यों के [**तरणिम्**]=तैराने वाले हैं अर्थात् जो प्रभु हम सबको इस वासनामय संसार समुद्र से पार करते हैं। प्रभु के नाम स्मरण से ही तो मनुष्य संसार के प्रलोभनों को जीत पाता है। विषय 'स्मर' हैं—प्रभु 'स्मर-हर' हैं। विषय वासनाओं को जीतकर ही मनुष्य शरीर में शक्ति की रक्षा के द्वारा वाजी=शक्तिशाली बनता है और इस शक्तिरूप ईंधन से ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर ज्ञान सम्पन्न बन पाता है। वे प्रभु इस [**वाजस्य**]=शक्ति के पुंज [**गोमतः**] प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों वाले अथवा वेदवाणियों का उत्तम मन्थन करने वाले व्यक्ति के [**त्र-दम्**]=रक्षा के देने वाले हैं। प्रभु का रक्षा का पात्र वही व्यक्ति बनता है जो कि मन को निर्वासन बनाकर शरीर को शक्तिशाली बनाता है और इस प्रकार से शक्ति के संयम द्वारा सबल शरीर वाला होकर मस्तिष्क को वेदज्ञान से परिपूर्ण करता है। यही 'त्रिशोक' है—इसके मन, मस्तिष्क व शरीर तीनों ही उज्ज्वल हैं।

वे प्रभु 'समानम्' हैं—सम्=सम्यक् उत्तम प्रकार से आन (आनयति, सोत्साहान् करोति) उत्साहित करने वाले हैं। लौकिक पिता भी उन्नति पथ पर बढ़ने वाले पुत्र को शाबाश देते हैं—वह अलौकिक पिता अपने प्रिय त्रिशोक को क्यों उत्साहित न करेंगे? यह त्रिशोक तो उन्हें (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्) आत्मतुल्य प्रिय है।

यहां मंत्र में त्रिशोक कहता है कि मैं इस समान=सदा सम्यक् उत्साहित करने वाले प्रभु का ही गुणस्तवन करता हूं। ताकि मेरी लक्ष्य दृष्टि स्थिर रहे और जैसे वे प्रभु 'त्रीणि ज्योतीषि सचते स षोडशी'=तीन ज्योतियों से समवेत हैं—कभी पृथक् नहीं होते, मैं भी उसी प्रकार शरीर की नीरोगता व सबलता से, मन के नैर्मल्य से तथा बुद्धि की तीव्रता से तीन ज्योतियों का अपने में समवाय करने वाला बनूं। तभी तो मेरा त्रिशोक नाम 'सार्थक' होगा।

भावार्थ—मैं त्रिशोक बनकर प्रभु के उत्साह का भाजन बनूं।

मधुच्छन्दा की तीन प्रतिज्ञायें

१ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत।
३ १ २ ३ १र २र
सजोषा वृषभं पतिम् ॥२॥२०५॥

इस मंत्र का ऋषि मधुच्छन्दा=अत्यन्त मधुर इच्छाओं वाला निम्न तीन व्रत लेता है :—

(१) ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो! [**ते गिरः**]=तेरी वाणियों को [**असृग्रम्**]=सृजन-क्रिया का रूप देता हूं। अर्थात् वेदोक्त कर्मों को करता हूं। आपने वेद में जो-जो आदेश दिया है उसे मैं क्रिया में अनूदित करता हूं। वेद पढ़ता हूं, समझता हूं, उसे क्रियान्वित करता हूं।

(२) मेरी ये सब क्रियायें [**त्वाम् प्रति**]=तेरे प्रति [**उदहासत**]=मुझे प्राप्त कराती हैं। मैं इन क्रियाओं को निष्कामता के साथ करता हूं, और सांसारिक फलों की कामना से ऊपर उठने के कारण वे मुझे आप तक पहुंचाने वाली होती हैं।

(३) इन क्रियाओं को करते हुए मैं [**वृषभं**]=सब सुखों के वर्षक [**पतिम्**]=मेरा पालन करने वाले आपको मैं [**स-जोषा**]=उन क्रियाओं के साथ प्रीति पूर्वक सेवन करता हूं। 'क्रियाओं को करते हुए प्रभु का सेवन करना' यह मेरा नियम बन गया है। खाते, पीते, सोते, जागते, उठते, बैठते मैं आपको नहीं भूलता। अर्थात् मेरी क्रियायें आपके स्मरण के साथ चलती हैं।

एवं मधुच्छन्दा के तीन व्रत इस प्रकार हुए कि (१) मैं वेदवाणी को क्रिया में लाता हूं (२) प्रत्येक क्रिया को निष्कामता से करता हुआ प्रभु को अपना ध्येय बनाता हूं तथा (३) प्रत्येक क्रिया को करते हुए आपका स्मरण करता हूं।

भावार्थ—मधुच्छन्दा के उपर्युक्त तीन व्रतों को मैं भी स्वीकार करूं।

उत्तम-मार्ग

३ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा।
३ २उ ३ १ २
मित्रास्पान्त्यद्रुहः ॥३॥२०६॥

प्रकृति के साथ ऐक्य प्रभु से ऐक्य (प्राणायाम, दान, प्रेम जीवों के साथ ऐक्य)।

इस मंत्र का ऋषि 'वत्स' है—जो अपने जीवन से वेदवाणी को कहता है (वदति इति) अर्थात् जिसकी जीवन क्रियायें वेदानुकूल हैं, और अतएव जो प्रभु का वत्स=प्रिय है। यह वत्स कहता है कि [**घा**]=निश्चय से [**स मर्त्य**]=वह मनुष्य [**सु-नीथः**]=उत्तम नयन (मार्ग) वाला है (२) [**यम्**]=जिसको [**मरुतः**]=प्राण पान्ति=रक्षा करते हैं। अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राणों की साधना करके जो अपने को रोगों व वासनाओं से बचाता है—वह मनुष्य सुनीथ है। (२) [**यम्**]=जिसको [**अर्यमा**]=(अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) दान की भावना सुरक्षित करती है। दान की भावना से मनुष्य व्यसनों से बचकर अपने जीवन को शुद्ध बना पाता है। (३) [**यम्**]=जिसको [**मित्रः**]=स्नेह की देवता [**पाति**]=रक्षा करती है। प्राणिमात्र के प्रति स्नेह की भावना वाला होने के कारण यह व्यक्ति रागद्वेष से ऊपर उठता है।

'प्राणों की साधना, देने की वृत्ति और स्नेह की भावना' ये तीनों चीजें अद्रुहः=द्रोह न करने वाली हैं। ये तीनों ही मनुष्य को मरने नहीं देतीं। दूसरे शब्दों में ये तीनों ही मिलकर 'जीवन का

मार्ग हैं। इन वृत्तियों को अपनाने वाला व्यक्ति कभी हिंसित नहीं होता। हिंसित क्यों हो? यह तो प्रभु का 'वत्स'=प्यारा है।

भावार्थ—मरुत् अर्यमा और मित्र के मार्ग पर चलकर मैं प्रभु का 'वत्स' बनूं।

त्रिशोक का स्पृहणीय धन

२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्।
१ २ ३ १र २र
वसु स्पार्हं तदा भर ॥४॥२०७॥

'त्रिशोक' ऋषि वह है जिसके कि 'शरीर, मन बुद्धि' तीनों ही दीप्त हैं। यह प्रार्थना करता है कि ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो? [**यत्**]=जो वसु=धन [**वीडौ**]=दृढ़ शरीर वाले पुरुष में है [**यत्**]=जो धन [**स्थिरे**]=स्थिर मनोवृत्ति वाले पुरुष के पास है [**यत्**]=जो धन [**पर्शाने**]=विचारशील पुरुष में [**पराभृतम्**]=रखा गया है [**तत्**]=वह [**स्पार्हं वसु**]=स्पृहणीय धन [**आभर**]=मुझे भी प्राप्त कराइये।

(१) अश्मा व वज्रतुल्य शरीर वाले व्यक्ति में 'स्वास्थ्य' रूप धन का निवास है। यह उचित व्यायाम व भोजन के द्वारा अपने शरीर को नीरोग बना पाया है। स्वास्थ्य की कान्ति इसके चेहरे पर झलकती है।

(२) स्थिर मनोवृत्ति वाले पुरुष में 'अनासक्ति' व व्यसनाभाव रूप नैर्मल्य का धन है। इस निर्मलता व मनः प्रसाद ने इसके चेहरे को भी प्रसादमय कर दिया है। इसके चेहरे पर मानस शान्ति झलकती हुई उसे उज्ज्वल बनाती है।

(३) विचारशील पुरुष संसार के स्वरूप का ठीक विवेचन करता हुआ उसमें उलझता नहीं इसकी देदीप्यमान ज्ञान ज्योति में सब मालिंन्य भस्म हो जाता है। इस ज्ञान से इसका भूतात्मा पवित्र हो उठता है और यह उज्ज्वल जीवन वाला बन जाता है।

ये ही तीन धन हैं या दीप्तियां हैं जिनका सम्पादन करके त्रिशोक 'त्रिशोक' बन जाता है।

भावार्थ—हम त्रिविध धन व दीप्ति को पाकर 'त्रिशोक' बनें।

आशीर्वाद=साफल्य व महत्व

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम्।
३ २ ३ १ २ ३ २
आशिषे राधसे महे ॥५॥२०८॥

मंत्र का ऋषि 'सुकक्ष आंगिरस'=ज्ञान रूप उत्तम शरण स्थान वाला, वीर्यवान् रसमय अंगों वाला सुकक्ष कहता है कि (१) [**आशिषे**]=blessings benedictions शुभ आशीर्वादों के लिये (२) [**राधसे**]=(राध्=संसिद्धि) सफलता के लिये (३) और [**महे**]=महत्व की प्राप्ति के लिये [**श्रुतम्**]=उस प्रभु का सदा श्रवण करो, जो कि [**वः**]=तुम्हारे [**वृत्रहन्तमम्**]=ज्ञान को आवृत करने वाली वासनाओं का विनाश करने वाला है और [**चर्षणीनाम्**]=श्रमशील मनुष्यों का [**प्रशर्ध**]=उत्कृष्ट बल है।

वस्तुतः मंत्रार्थ से यह स्पष्ट है कि मनुष्य के दो कर्तव्य हैं (१) प्रभु के गुण स्तवन को सुनना (२) और सदा कार्यशील बनकर 'चर्षणि' इस नाम को सार्थक करना। यदि मनुष्य प्रभु के गुणों का श्रवण करता है तो प्रभु उसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं—प्रभु कीर्तन के साथ वासनाओं का निवास नहीं होता। और जब मनुष्य श्रमशील होता है तो यह श्रम उसकी शक्ति को बढ़ाता है। श्रम करने वाले के प्रभु भी सहायक होते हैं। यह श्रमशीलता वासनाओं से बचने में भी सहायक होता है।

जब मनुष्य प्रभु का सेवक व श्रमशील बनता है तब उसको सदा शुभ आशीर्वाद प्राप्त होते हैं, उसको संसार में कभी असफलता नहीं होती और वह महत्व को प्राप्त करता है। 'प्रभु स्मरण के साथ कार्यों में लगे रहना' कारण बनता है और आशीर्वाद साफल्य व महत्व उसके कार्य होते हैं।

भावार्थ—हम उन विरल व्यक्तियों में होने का प्रयत्न करें जो कि क्रियाशीलता द्वारा सदा प्रभु स्तवन में लगे हैं।

सत्संग व सदाचरण

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
अरं त इन्द्र श्रवसे गमेम शूर त्वावतः । अरं
३ १ २
शक्र परेमणि ॥६॥२०६॥

इस मंत्र का ऋषि 'वामदेव गौतम' है—सुन्दर दिव्य गुणों वाला, प्रशस्त इन्द्रियों वाला। अथवा उत्तम वेदवाणियों वाला। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**इन्द्र**]=ऐ परमैश्वर्यशाली प्रभो ? [**शूर**]=(शृ हिंसायाम्) सब वासनाओं का हिंसन करने वाले प्रभो ? हम [**ते**]=आपके [**श्रवसे**]=ज्ञान के श्रवण के लिये [**त्वावतः**]=आप जैसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के समीप [**अरं गमेम**]=खूब प्राप्त हों। और [**शक्र**]=ऐ सर्वशक्तिमान् प्रभो ? [**परेमणि**]=उत्कृष्ट (पर) मार्ग पर (एमन्=course, way) [**अरं गमेम**]=खूब चलें।

उल्लिखित मंत्रार्थ में सत्संग को कारण बताया गया है, सदाचरण को उसका कार्य। हमें सदा उन लोगों का संग करना जो [**त्वावतः**]=प्रभु जैसे हों। ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियों के संग से हमारी भी बुद्धि सुन्दर बनती है और हम उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करने वाले बनते हैं। हम इस सत्संग को सदा प्राप्त करें। वेद के शब्दों में हमारा संग 'ज्ञानी ब्राह्मणों, शक्ति का विनियोग रक्षा में करने वाले क्षत्रियों व दानी वैश्यों, से हो। इस प्रकार उत्कृष्ट संग को पाकर हम अपने ज्ञान को तो बढ़ायें ही, पर साथ ही हम सदा उत्कृष्ट मार्ग पर चलने वाले बनें। प्रभु कृपा से हम सत्संग को प्राप्त कर सदाचारी हों।

भावार्थ—सत्संग हमारे जीवन के मार्ग को **उत्कृष्ट बनाये।**

चतुर्भद्र

३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २
धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ।
१ २ ३ १ २
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥७॥२१०॥

प्रभु इन्द्र हैं—परमैश्वर्यशाली हैं। कौन-सा ऐश्वर्य प्रभु के कोष में नहीं है। ऐश्वर्यशाली होते हुए वे [**प्रातः**]=हैं—सब ऐश्वर्य से हमारा पूरण करने वाले हैं (प्रा पूरणे)। 'हम ही अपनी अल्पता के कारण अधिक ऐश्वर्य को न पा सकें' यह तो हो सकता है, पर 'प्रभु देने को तैयार नहीं' यह बात गलत है। ऐ प्रभो ? आप [**नः**]=हमें [**जुषस्व**]=प्रेम दीजिये (जुष्=प्रीति)। आपका प्रेम हमें प्राप्त हो। पर जैसे बालक को माता-पिता का प्रेम तभी प्राप्त होता है जबकि वह योग्य बनता है इसी प्रकार हम भी प्रभु के प्रेम को प्राप्त करने के लिये योग्य बनें। यहां मंत्र के पूर्वार्ध के चार शब्दों द्वारा उसी योग्यता का संकेत हुआ है।

(१) **धानावन्तं**=हमारे में उस व्यक्ति को जो कि धान=अवधान=ध्यान वाला है, उसे आपका प्रेम प्राप्त होता है। वस्तुतः हमें अपने जीवन के प्रथम प्रयाण में ध्यान वाला ही बनना है। जो कुछ माता-पिता व आचार्य करें उसे बड़े ध्यान से सुनना है। यदि हम आचार्य मुख से निकलते शब्दों को बड़े ध्यान से सुनेंगे, हिन्दी के मुहावरे के अनुसार उन्हें पीते चलगे तो हमारा ज्ञान कितना हो बढ़ जायगा। आचार्यों के प्रिय तो तब हम होंगे ही, प्रभु का प्रेम भी हमें प्राप्त होगा। जीवन यात्रा की पहली मंजिल का आदर्श वाक्य ही '**ध्यान**' है।

(२) **करम्भिणम्**='करेण भ्रियते इति करम्भः'='जो हाथ से किया जाता है'—इस व्युत्पत्ति से करम्भ शब्द दान का वाचक है। गृहस्थ में हमने नानक के शब्दों में 'हत्थों वी कुछ देव'=सदा कुछ देने वाला बनना है। मनु के शब्दों में **गृहस्थ** ने सदा पंचयज्ञों का करने वाला बनना है।

'अपंचयज्ञो मलिम्लुचः'=पंचयज्ञ न करने वाला गृहस्थ 'चोर' है। यज्ञ की चरम सोमा दान ही तो है। दान देने वाला गृहस्थ अपने जीवन को निर्वासिन बनाकर प्रभु का प्रिय होता है।

(३) **अपूपवन्तम्**='इन्द्रियम् अपूपः' ऐ २.२४ के अनुसार अपूपशब्द इन्द्रिय वाचक है प्रशस्त इन्द्रियों वाला पुरुष 'अपूपवान्' है। गृहस्थ में शतशः प्रयत्नों के होने पर भी इन्द्रियां कुछ रागद्वेष में पड़ गयी थीं। वानप्रस्थ तीव्र तपस्या के द्वारा उस स्नेह को चिक्कणता को दूर करने के लिये प्रयत्नशील होता है, और अपनी इन्द्रियों को रागद्वेष के मल से पृथक् कर डालता है। यह अपूपवान् वानप्रस्थ प्रभु का प्रिय होता है।

(४) **उक्थिनम्**=आचार्य ऋ० १.५.८ में उक्थ का अर्थ करते हैं :—'परिभाषितुमर्हाणि वेदस्थानि सर्वाणि स्तोत्राणि'=वेदमंत्रों मे प्रतिपादित प्रभु के स्तोत्र। इन स्तोत्रों वाला व्यक्ति प्रभु को प्रिय होता है। ब्रह्मचारी को पठन की चिन्ता, गृहस्थ को कुटुम्ब के पालन की, और वानप्रस्थ को भी कुल के पालन की। पर संन्यासी तो प्राणिमात्र के प्रति प्रेम वाला होता हुआ किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम नहीं करता। यह तो विश्वामित्र है—सभी के प्रति स्नेह वाला है। और ऐसा ही व्यक्ति 'गाथिनः'=प्रभु का सच्चा स्तोता होता है। यह सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ प्रभु स्तोत्रों का गायन करने वाला 'उक्थी' है—और प्रभु को सर्वाधिक प्रिय है।

भावार्थ—ध्यान, दान, प्रशस्तेन्द्रियता और प्रभु स्मरण को अपनाकर हम प्रभु के प्रिय बनें। ये ही चार बातें 'चतुर्भद्र' हैं।

नमुचि-संहार

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
२ ३ १र २र ३ १ २
विश्वा यदजयः स्पृधः ॥८॥२११॥

इस मंत्र के ऋषि 'काण्वायन' अर्थात् काण्व गोत्र में उत्पन्न, कण्वों की विरादरी के 'गोपूक्ति और अश्वसूक्ति' हैं। गोषूक्ति अर्थात् जिसकी ज्ञानेन्द्रियां उत्तम कथन करती हैं, इसकी कर्मेन्द्रियां भी उत्तम कथन करने वाली हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से उत्तम ही व्यापार चलते हैं। इसने कण-कण करके उत्तमता का साधन भी तो किया है। इस गोषूक्ति व अश्वसूक्ति पुरुष से प्रभु कहते हैं कि [**इन्द्र**]=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता परमैश्वर्यशाली जीव? तूने [**अपां**]=कर्मों की [**फेनेन**]=(स्फायी वृद्धौ) वृद्धि के द्वारा [**नमुचेः**]=अहंकार के [**शिरः**]=सिर को [**उदवर्तयः**]=उलट डाला है। [**यत्**]=जबकि तूने [**विश्वाः स्पृधः**]=सब अन्दर घुस आने वाली और हमारा पराभव करने की इच्छा वाली वृत्तियों को [**अजयः**]=जीत लिया है।

'इन्द्र' नाम से जीव का सम्बोधन तभी होता है जबकि यह इन्द्रियों का विजेता बनकर वास्तविक ऐश्वर्य को पाता है। यह जब कर्मों में लगा रहता है तो वासनाओं का शिकार नहीं होता। सब वासनाओं को जीत लेने पर जो विजय के अहंकार की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, और जो बड़ों-बड़ों का भी पीछा नहीं छोड़ती, जिसे पोप ने Last infirmity of the noble minds कहा है, उस 'न-मुचि' अन्त तक पीछा न छोड़ने वाली अहंकार-वृत्ति का भी यह सिर कुचल देता है।' सौन्दर्य तो यही है कि सारी "दैवी सम्पत्ति" होने पर 'नातिमानिता'=गर्व न हो। दैवी सम्पत्ति की यही तो चरम सीमा है। इस अभिमान की वृत्ति का कुचलना तभी हो पाता है जब हम निरन्तर कर्मों में लगे रहें। कर्म करना ही हमें इस वृत्ति से बचा सकता है। योगी लोग भी आत्म शुद्धि के लिये कर्मों में व्यापृत रहते हैं। 'औरों से कर्म कराना स्वयं बैठे रहना' ही अभिमान का बाह्य रूप है। सिपाही जब एक भारी लकड़ो कीचड़ से बाहर नहीं निकाल पाते तो उस समय 'खैंचो, जोर से खैंचो' इन शब्दों में आदेश देते हुए कारपोरल को घोड़े पर चढ़े वाशिंगटन हाथ लगा देने के लिये कहते हैं तो कारपोरल यही तो जवाब देता है कि

'तुम्हें पता नहीं ? मैं कारपोरल हूं।' घोड़े से उतर कर वाशिंगटन हाथ का सहारा दे लकड़ी निकलवा देते हैं और अपना जनरल का कोट पहन कारपोरल से यही तो कहते हैं कि आगे से आदमियों की कमी हो जाय तो अपने सेनापति वाशिंगटन को याद करना, वह उपस्थित हो जायगा। इस घटना में कितना स्पष्ट है कि अभिमान में चूर कारपोरल काम नहीं कर सकता, मजदूरों के साथ हाथ नहीं लगा सकता। परन्तु विनय की मूर्ति वाशिंगटन में यह बात नहीं, वह मजदूरों के साथ मजदूर होकर ही काम करने में नहीं झिझकता। वस्तुतः कर्म ही हमें विनीत बनाता है।

भावार्थ—कर्मतन्तु के विस्तार के द्वारा हम विनय को अंकुरित करें।

प्रभु जीव के प्रति

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
इमे त इन्द्र सोमाः सुतासो ये च सोत्वाः ।
१ २
तेषां मत्स्व प्रभूवसो ॥९॥२१२॥

इस मंत्र का ऋषि 'वामदेव गौतम' है—सुन्दर दिव्य गुणों वाला—प्रशस्तेन्द्रिय। इसे प्रभु कहते हैं कि इन्द्र=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव? [**इमे**]=ये [**सोमाः**]=शक्ति के कण [**ये**]=जो [**सुतासः**]=पैदा किये गये हैं [**च**]=और जो [**सोत्वाः**]=आगे उत्पन्न किये जायेंगे ये सब [**ते**]=तेरे लिये हैं। जैसे एक पिता दो आने की कापी लाकर अपने ६, ७ साल के बालक से कहते हैं कि 'यह तेरे लिये मैं लाया हूं' अब यदि बालक उस कापी को लेकर फाड़ देता है या उस पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें लगाकर उसे खराब कर देता है तो क्या वह बालक पिता का प्रिय हो सकता है? स्पष्ट है कि, 'नहीं'। अब यह तो हुई दो आने की कापी की बात। वीर्यशक्ति तो अनन्त मूल्यवान् वस्तु है, उसे प्रभु जीव के लिये उत्पन्न करने की व्यवस्था करते हैं। यदि जीव उसका अपव्यय कर देता है तो वह कैसे प्रभु का प्यारा हो सकता है।

प्रभु कहते हैं कि [**प्रभूवसो ?**]=(प्रभुश्च वसुश्च) इन्द्रियों पर प्रभुत्व पाने वाले और उत्तम निवास को करने वाले जीव [**तेषां मत्स्व**]=उन वीर्य कणों की रक्षा के द्वारा तू आनन्द को प्राप्त कर। वस्तुतः इस शक्ति की रक्षा के बिना हमारा जीवन आनन्दमय नहीं बन सकता। संसार की छोटी-छोटी घटनाओं से मानव जीवन विकल हो उठता है—पर जो व्यक्ति इस वीर्यरक्षा का विशेष विचार नहीं करते उन्हीं को यह व्याकुलता घेरती है। संयमी के जीवन में तो सांसारिक कष्टों में भी आनन्द की धारा विच्छिन्न नहीं होती।

भावार्थ—हम इस चीज का सदा स्मरण करें कि वीर्यशक्ति आध्यात्मिक विकास के लिये उत्पन्न की गई है। सन्तान निर्माण उसका गौण उद्देश्य है।

जीव प्रभु के प्रति

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तुभ्यं सुतासः सोमाः स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो ।
३ १ २
स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय ॥१०॥२१३॥

गत मंत्र में प्रभु ने जीव को कहा था कि ये सोमकण मैंने तेरे लिये उत्पन्न किये हैं, तूने इनका ठीक उपयोग करके 'वामदेव गौतम' बनना है। सुन्दर दिव्यगुणों को उत्पन्न करने में और इन्द्रियों को प्रशस्त बनाने में इनका उपयोग करना है। जीव कितने उत्तम शब्दों में इसका उत्तर इन शब्दों में देता है कि ये [**सुतासः सोमाः**]=उत्पन्न सोमकण मेरे से [**तुभ्यं**]=तेरे लिये विनियुक्त किये गये हैं। अर्थात् इनका अपव्यय करना तो दूर रहा, तेरी प्राप्ति के लिये इनका प्रयोग किया है। इससे बढ़कर उत्तम इनका विनियोग हो ही क्या सकता है। जड़ जगत् की यह सर्वोत्तम वस्तु है, इससे मैंने चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु आपको पाने का प्रयत्न किया है। ऐ [**विभावसो ?**]=ज्ञानधन प्रभो आपके स्वागत के लिये ही मैंने [**बर्हिः**]=निर्मल हृदय को [**स्तीर्णम्**]=बिछाया है 'बर्हि' उस हृदयान्तरिक्ष का नाम है जिसमें से कि

सब वासनारूप झाड़ झंकाड़ को उखाड़ कर परे फेंक दिया गया है। वस्तुतः सोमकणों की रक्षा का ही यह भी परिणाम है कि हृदय निर्वासन हो जाता है। इस वीर्यरक्षा से ही हम उस ज्ञानधन प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करने वाले भी बनते हैं। एवं वीर्यरक्षा के तीन लाभ होते हैं (१) प्रभु की प्राप्ति (२) हृदय की निर्वासनता (३) तथा ज्ञानप्राप्ति।

वीर्यरक्षा के द्वारा इन तीनों परिणामों को अपने जीवनों में प्रकट करने वाले व्यक्ति ही प्रभु के सच्चे स्तोता हैं। ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली अज्ञानान्धकार के नाशक प्रभो ? हम [**स्तोतृभ्यः**]= स्तोताओं के लिये [**मृडय**]=सुख दीजिये। प्रभु के सच्चे स्तोता ही कल्याण के पात्र होते हैं। वे स्तोता ज्ञान को अपनी शरण बनाने के कारण 'श्रुतकक्ष' हैं। ये प्रभु को 'विभावसु' के रूप में ही देखते हैं। सर्वोत्तम शरण ज्ञान ही है, सो ये 'सुकक्ष' हैं। भोगमार्ग की ओर न जाने से ये शक्ति सम्पन्न अंगों वाले 'आंगिरस' हैं।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञान व नैर्मल्य को प्राप्त करके प्रभु को पाने वाले बनें।

* * *

॥ ३ ॥ ऋषिः—१ शुनःशेपः; २ श्रुतकक्षः; ३ त्रिशोकः; ४, ९ मेधातिथिः; ५ गोतमः; ६ ब्रह्मातिथिः; ७ विश्वामित्रो जमदग्निर्वाः; ८ प्रस्कण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु को अपने में सींच लो

२ ३ २ ३ २ ३ १ २   ३ १ २ ३ १ २
आ व इन्द्रं कृविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम् ।
१ २   ३ १ २
महिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः ॥१॥२१४॥

इस मंत्र का ऋषि 'शुनः शेप आजीगर्तिः' है। 'शुनम्=सुखम्, शेप=बनाना to make' इस व्युत्पत्ति से सुख का निर्माण करने वाला अर्थात् अभ्युदय का सिद्ध करने वाला 'शुनः शेप' है। 'अज्=गतौ, गर्त=A throne' इस निर्वचन 'स्वर्ग के सिंहासन की ओर जाने वाला' अर्थात् निःश्रेयस को सिद्ध करने वाला 'आजीगर्ति' है। एवं अभ्युदय और निःश्रेयस रूप धर्म के दोनों परिणामों को सिद्ध करने वाला यह 'शुनः शेप आजीगर्ति' पूर्ण धर्म को अपने अन्दर साधता है। इस पूर्ण धर्म का ही प्रतिपादन यह इन शब्दों में करता है :—

[**वः**]=तुम सबके [**इन्द्रं**]=परमैश्वर्य के देने वाले [**शतक्रतुं**]=सैंकड़ों (अनन्त) प्रज्ञानों वाले [**मंहिष्ठं**]=दातृतम उस प्रभु को [**वाजयन्तः**]= उपासना करते हुए अथवा अपने को शक्तिशाली बनाने के हेतु से ('शतृ' हेतु में आता है) [**इन्दुभिः**]=सोम बिन्दुओं के द्वारा—उनके रक्षण के द्वारा [**आसिञ्च**]=अपने में सर्वथा इस प्रकार सींच लो [**यथा**]=जैसे [**कृविम्**]=कुएं को खेत अपने में सींच लेता है।

प्रभु को अपने में सींच लेना—प्रभु की सर्वव्यापकता व संरक्षकता आदि भावनाओं से अपने जीवन को ओत-प्रोत कर लेना ही पूर्ण धर्म है। प्रभु की दिव्यता को अपने में भरेंगे तो (१) (इन्द्रं) हमें परमैश्वर्य प्राप्त होगा (२) (शतक्रतुम्) हमारा ज्ञान शतगुणित वृद्धि को प्राप्त करेगा (३) (मंहिष्ठं) हमें सब उत्तम आवश्यक पदार्थ प्राप्त होंगे। कुएं के साथ सम्बद्ध खेत सदा लहलहाता है। प्रभु के साथ सम्बद्ध जीव भी उसी प्रकार शक्ति ज्ञान व सब दिव्यभावनाओं से सम्बद्ध बनता है।

जीव को इसी प्रकार सोचना कि 'मेरे जीवरूप क्षेत्र के लिये प्रभु कुएं के समान हैं। यह जीवन क्षेत्र उस कुएं से दूर हुआ और सूखा। इसको न

सूखने देने के लिये एक ही उपाय है कि मैं उस कुएं के समीप रहूं। प्रभु का सान्निध्य ही जीवन के सौन्दर्य का कारण है। इस प्रभु का सान्निध्य 'इन्दुओं'=सोम-बिन्दुओं के द्वारा होता है। सोम-पान का इसीलिये सर्वाधिक महत्व है। इस सोम-पान का ही नाम 'ब्रह्मचर्य' है—'ब्रह्म की ओर चलना।' ब्रह्म के सान्निध्य का यही मूलकारण है। जड़ जगत् की सर्वोत्तम वस्तु सोम है, यह चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु 'परमात्मा' से हमारा मेल करा देती है, और हमारा जीवन लह-लहा उठता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण से अपने जीवन को ओत-प्रोत कर लें।

शतवाज इष्

१ २ ३ १र २र ३ १ २
अतश्चिदिन्द्र न उपा याहि शतवाजया।
३ २ ३ १ २
इषा सहस्रवाजया ॥२॥२१५॥

पिछले मंत्र में अपने को प्रभु की भावना से भर लेने का उल्लेख था। 'जब हम अपने को प्रभु की भावना से सींच लेते हैं तो हमारा जीवन कैसा बनता है' इस बात का वर्णन इस मंत्र में है। मंत्र के ऋषि 'श्रुतकक्ष आंगिरस'=ज्ञान को ही शरण बनाने वाले शक्ति सम्पन्न व्यक्ति से प्रभु कहते हैं कि :—

[**अतः चित्**]=इस 'मुझे अपने में सींचने के मार्ग से ही [**इन्द्र**]=ऐ इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व करने वाले जीव तू [**नः**]=हमें [**उपायाहि**]=प्राप्त हो। प्रभु के समीप पहुंचने का मार्ग यही है कि हम (१) अपने को प्रभु की भावना से ओत-प्रोत कर लें, और (२) इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें। प्रभु कहते हैं कि ऐ जीव तू हमें प्राप्त होगा [**इषा**]=इष् के द्वारा। इष् का अभिप्राय है ज्ञान, गमन व प्राप्ति। तू हमारा ज्ञान प्राप्त कर, ज्ञान प्राप्त करके मेरी ओर चल और मुझे प्राप्त कर। कौन सी इष् 'से? जो [**शतवाजया,**]=[**सहस्रवाजया**]=सैंकड़ों त्यागों वाली है व सहस्रों त्यागों वाली है। प्रभु का ज्ञान त्याग की अपेक्षा करता है, इसकी ओर गमन के लिये और अधिक त्याग अपेक्षित है और उसकी प्राप्ति तो सहस्रों त्यागों के होने पर ही होती है।

'आयुः, प्राणं, प्रजां, पशुं, कीर्तिं, द्रविणं, ब्रह्मवर्चसं' इन सबको उस प्रभु को लौटा देने पर ही 'व्रजत ब्रह्मलोकम्=ब्रह्मलोक को प्राप्ति होती है। 'No man can serve two masters' प्रकृति व परमात्मा दोनों की उपलब्धि नहीं हो सकती। प्रभु प्राप्ति के लिये त्याग ही त्याग करना होता है। हम अपने अन्दर प्रभु को सींच लेते हैं, तभी प्रभु को पा पाते हैं। मीराबाई 'गिरधर गोपाल' को पाने के लिये दूसरे सब किसी को छोड़ देती है। इस प्रकृति के त्याग व प्रभु की ओर गमन में ही शक्ति का रहस्य भी निहित है। 'वाज' का अर्थ शक्ति भी होता है। सो यह इष् शतशः सहस्रशः हमारी शक्ति को बढ़ा देता है। हम शक्ति सम्पन्न बनकर प्रभु के और प्रिय हो जाते हैं 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यह आत्मा निर्बल को तो प्राप्त ही नहीं होता। शक्ति सम्पन्न होकर यह लोकहित में प्रवृत्त होता है और अज्ञान, अन्याय व अभाव को दूर करने के लिये यत्नशील होता है। यही भावना अगले मंत्र में ध्वनित हो रही है।

भावार्थ—हम त्याग व शक्ति के तत्वों को अपनाकर प्रभु को प्राप्त करें।

परदे को दूर करना (घूंघट का पट खोल-रे)

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छाद् वि
३ १ २ २ ३ १र २र
मातरम्। क उग्राः के ह शृण्विरे ॥३॥२१६

गत मंत्र में 'इषा' शब्द 'ज्ञान' का संकेत कर चुका है। 'शतवाजया' शब्द 'शक्ति' का। इस मंत्र में 'वत्रहा' शब्द ज्ञान के आवरण करने वाले रागद्वेषादि वत्रों के विनाश की सूचना दे रहा है

इस प्रकार ज्ञान से मस्तिष्क को, नैर्मल्य से मन को तथा शक्ति से शरीर को चमकाने वाला यह 'त्रिलोक' तीन दीप्तियों वाला 'काण्व' मेधावी पुरुष [**जातः**]=आचार्य कुल से दुबारा जन्म लेने पर (तं जातं द्रष्टुं अभिसंयन्ति देवाः) अर्थात् आचार्य की भट्टी में परिपक्व होकर संसार में आने पर स्वयं [**वृत्रहा**]=सब वासनाओं का विनाश करने वाला बनकर [**बुन्दम्**]=तीर को [**आददे**]=हाथ में ग्रहण करता है। यह [**मातरम् विपृच्छात्**]=माता से हिंसक को पूछता है। पता करता है कि कौन हिंसक है। [**के उग्राः**]=कौन उग्र हैं—तेज स्वभाव के हैं [**के ह आशृण्विरे**]=कौन निश्चय से चारों ओर अपनी उग्रता के कारण ख्यात (notorious) हैं। उनको जानकर यह उनको समाप्त करने के प्रयत्न में लग जाता है।

मनुष्य का उद्देश्य मजे से खाते-पीते जीवन को बिता देना नहीं है। उसे अन्याय के विरुद्ध संग्राम करते हुए अन्याय को दूर करने में ही जीवन-यापन करना चाहिये। 'इत्थं युद्धैश्च यज्ञैश्च भजामो विष्णुमीश्वरम्'=इस प्रकार के युद्ध रूप यज्ञों से ही प्रभु का भजन हुवा करता है।

भावार्थ—हमारा जीवन अन्याय के विरुद्ध एक 'दीर्घ संग्राम हो।

प्रभु बृबदुक्थ हैं

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये। साधः
२ ३ १ २
कृण्वन्तमवसे ॥४॥२१७॥

निरुक्त ६, ४ में [**बृबदुक्थ**]=शब्द का अर्थ 'महदुक्थो वक्तव्यमस्मा उक्थम् इति बबदुक्थो' इन शब्दों में 'महान् स्तुति वाला अथवा कहने योग्य स्तुति वाला' किया है। वस्तुतः मनुष्य को प्रभु के ही स्तोत्रों का उच्चारण करना चाहिये। राष्ट्र में प्रभु कीर्तन के अतिरिक्त कविता होनी ही नहीं चाहिये। इस कीर्तनीय प्रभु को हम [**हवामहे**]=पुकारते हैं। हमारे जीवनों में प्रभु का ही कीर्तन चलना चाहिये—उसके बनाये हुए संसार के सौन्दर्य को हमें देखना और घट-घट में उसकी रचना के सौन्दर्य को देखकर उसकी महिमा का कीर्तन करना ही 'मेधातिथि काण्व' का काम है। जो व्यक्ति समझदार है, वह प्रभु का ही कीर्तन करता है। यह प्रभु कीर्तन एक महान् लक्ष्य को उसके अन्दर उत्पन्न करता है। प्रभु [**सृप्रकरस्न**]=हैं। सर्पणशील भुजाओं वाले तथा कर्मों से वेष्टित भुजाओं वाले हैं—सदा स्वाभाविक रूप से क्रिया में लगे हैं। उस प्रभु का स्तोता भी प्रभु का अनुकरण करते हुए क्रियाशील हाथों वाला बनता है। सदा लोकहित में लगा रहता है। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' यह ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों में श्रेष्ठ सदा श्रमशील होता है। इस प्रकार काम में लगा रहकर वह आत्मरक्षा भी कर पाता है। [**ऊतये**]=रक्षा के लिये। वस्तुतः क्रियाशीलता ही हमें वासनाओं का शिकार हो जाने से बचाती है—हमारा अन्तःकरण शुद्ध बना रहता है 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये' (गीता) योगी लोग संग को छोड़कर कर्म करते ही चलते हैं ताकि उनकी आत्मा शुद्ध बनी रहे। यदि इस प्रकार प्रभु कीर्तन के साथ जीवन भर कर्म की प्रक्रिया चलती है तो प्रभु हमें सफलता, सिद्धि या मोक्ष प्राप्त कराते हैं। मंत्र में कहते हैं—[**साधः**]=सिद्धि को, मोक्ष को [**कृण्वन्तम्**]=करते हुए उस प्रभु को हम हवामहे=पुकारते हैं ताकि [**अवसे**]=हम भी उस प्रभु के भाग को दिव्यता के अंश का अपने में दोहन कर सकें (अव्=भागदुघे) जो दिव्यता का 'नातिमानिता' पर चरमसोमा पर पहुंचती है। मनुष्य में उन्नति के साथ अभिमान के आ जाने की आशंका होती है, उससे बचने के लिये प्रभु का स्मरण आवश्यक है। 'यह अनुभव करना कि सफलता तो प्रभु ही प्राप्त करा रहे हैं' मनुष्य को अभिमान से बचाता है।

एवं, वह जीवन जो कि प्रभु कीर्तन के साथ क्रियामय बनता है वह अवश्य सफल होता है।

सो इसी प्रकार का जीवन बिताना ही बुद्धिमत्ता है। सो इस मंत्र का ऋषि 'मेधातिथि' है बुद्धिमत्ता के मार्ग पर चल रहा है। ऐसा यह एक दिन में बन गया हो सो तो नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये इसका पूरा नाम 'मेधातिथि काण्व' है—कण-कण करके दिव्यता का यह अपने में संग्रह करने वाला है। यह जीवन ही सुन्दर जीवन है।

भावार्थ—प्रभु-कीर्तन व क्रियाशोलता से हम अपने में दिव्यता का संपादन करें।

सरलता के मार्ग से

३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २
ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयति विद्वान्।
३ २ ३ २ ३ २ २
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥५॥२१८॥

इस संसार के अन्दर—इस द्वन्द्वात्मक दुनिया के अन्दर—मनुष्य भी दो प्रकार के मार्गों से चल रहे हैं। एक मार्ग सरलता का मार्ग है और दूसरा कुटिलता का। कैवल्योपनिषत् के अनुसार 'सर्वं जिह्मं मृत्युपदं आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'=सब कुटिलता मृत्यु का मार्ग है जबकि सरलता मोक्ष का। इस सरल मार्ग का संकेत ही प्रस्तुत मंत्र के अन्दर उपलभ्य है। गत मंत्र में मेधातिथि ब्रह्म के कीर्तन से जीवन-यापन कर रहे थे। जो भी व्यक्ति ब्रह्म-स्मरण के साथ क्रियाशील बनता है वह सरल मार्ग से ही गति करता है। सो मंत्र में कहते हैं कि [**नः**]=हमें [**वरुणः मित्रः अर्यमा**]=वरुण मित्र और अर्यमा [**ऋजुनीती**]=सरल मार्ग से [**नयति**]=ले चलते हैं। वस्तुतः सरलता का मार्ग ही यह है कि वरुण, मित्र व अर्यमा के सिद्धान्त को जीवन का सूत्र बनाना। वरुण पाशो व व्रतों के बन्धन में अपने को बांधने की देवता है। यही सब वैयक्तिक उन्नतियों का मूल आधार है। मित्र स्नेह का देवता है 'प्राणिमात्र से स्नेह करना—सभी में एकत्व को देखना' इस सिद्धान्त का यह प्रतिपादन करती है। यह विश्वप्रेम ही आध्यात्मिक उन्नति का आधार है। अर्यमा दान की देवता है। हमारा जीवन दानशील हो। हमारे जीवनों के दानशील होने पर ही हमारी पवित्रता व सामाजिक उन्नति का संभव है। सभी सामाजिक उन्नतियां दान पर आश्रित हैं एवं वरुण, मित्र व अर्यमा ये तीन देव ही त्रिविध उन्नति का मूल बनकर हमारे जीवन को दिव्य बनाते हैं।

इन तीनों का विशेषण [**विद्वान्**] दिया गया है। विद्वान् का अर्थ है 'समझदार'। हमें व्रतों का ग्रहण समझदारी के साथ करना। मूर्खता से हम शरीर को पीड़ित करते हुए व्रत लेते हैं और हानि उठाते हैं। मूर्खता से अपात्र में दान देकर हम तामस दानी बन रहे होते हैं। और मूर्खता से स्नेह करते हुए धृतराष्ट्र ने दुर्योधनादि को विकृत स्वभाव वाला बना डाला। एवं हमारे तीनों देवता विद्वान् हों—अर्थात् हम तीनों सिद्धान्तों को समझदारी से जीवन में स्थान दें।

ये जीवन के तीनों सिद्धान्त [**देवैः सजोषाः**]=दिव्य गुणों के साथ समान रूप से प्रीति करते हुए हमारे कल्याण के साधक होते हैं। हम केवल व्रती न बनें, केवल दानी न बनें, और केवल प्रेम करने वाले न बनें। हमारे जीवन में तीनों सिद्धान्त सम्मिलित रूप से चलें। ऐसा होने पर ही हम इस मंत्र के ऋषि 'गोतम' - प्रशस्त इन्द्रियों वाले बनेंगे। तभी हम 'राहू-गण' त्यागशीलों में गिनती के योग्य समझे जायेंगे। अन्यथा हमारा दान भी हमारे विलास पर परदा डालने का साधनमात्र समझा जायगा।

भावार्थ—हमारा जीवन व्रतमय, प्रेममय और त्यागमय हो।

सूर्य की तरह

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्वितत्। वि
३ २ ३ १ २
भानुं विश्वधातनत् ॥६॥२१९॥

'इन्द्र' इस मंत्र का देवता है। इन्द्र नाम सूर्य का भी है और इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव का

भी। सूर्य [**अरुणप्सुः**]=है—तेज को खाने वाला है (प्सा भक्षणे) उदय होने पर सब तारों के व ज्योतिष्पिण्डों के तेज को मानों यह खा जाता है—अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी है। [**यत्**]=जो यह सूर्य [**दूरात् इह इव**]=दूर से भी यहां की तरह [**सतः**]=सब सत्ता वाले पदार्थों को [**अश्विवतत्**] श्वेत कर देता है—चमका देता है। यह सूर्य अपनी [**भानु**]=किरणों को—प्रकाश को [**विश्वधा**]=चारों ओर [**विअतनत्**]=फैला देता है। (१) सूर्य यहां से ९½ करोड़ मील के करीब दूर है। पर दूरी का ध्यान न करता हुआ इह इव=यहां की ही तरह—मानों समीप ही हों इस प्रकार वह प्रकाश प्राप्त कराता है। इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ने भी अपने प्रकाश विस्तार के इस कार्य में कभी भी किन्हीं को अपने से दूर नहीं मानना। उसे धर्म व जाति आदि का कोई भी बन्धन औरों से दूर करने वाला न हो। वह लोकहित के कार्य में सभी को अपना परिवार ही समझे। 'अयुतोऽहम्'='मैं अपृथक् हूं' यह उसकी भावना हो। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सारी पृथिवी उसका कुटुम्ब हो। (२) सतः=सूर्य विद्यमान पदार्थ मात्र को चमका देता है। इसी प्रकार यह भी सभी को ज्ञान देने वाला हो। इसके सत्संग में सभी का अव्याहत प्रवेश हो। तथाकथित दलित व अछूत न आ सकें ऐसी बात न हो। वस्तुतः रोशनी की आवश्यकता अधिक रूप में तो है ही वहीं। यह किन्हीं को छोटा बड़ा न समझे। सभी विद्यमान शुश्रूषुओं को ज्ञान देना अपना कर्तव्य समझे। (३) सूर्य अपने प्रकाश को सीधी किरणों के रूप में, तिरछी किरणों के रूप में, मृदु रूप में व प्रखर रूप में सब प्रकार से फैलाता है, उसकी वह किरणें सब प्राणशक्ति की देने वाली होती हैं इसी प्रकार यह इन्द्र भी सीधे शब्दों में व दृष्टान्तों के द्वारा कुछ असाक्षात् रूप में मृदु शब्दों में और कभी तेजस्वी शब्दों में ज्ञान को फैलाने का कार्य किया करता है।

परन्तु यह सब कुछ वह कर तभी सकेगा यदि वह 'अरुणप्सु' बनेगा। तेज का—तेजस्वी ज्ञान का—भक्षण करने वाला बनेगा। 'ब्रह्मचर्य' की मूल भावना ज्ञान का भक्षण ही है। खूब चर कर घर पर आने वाली गौ जुगाली करती है और अपने शरीर का पोषण पाती है, उसी प्रकार volumes के volumes को निगल कर मनन करने वाले व्यक्ति 'अरुणप्सु' बना करते हैं। ये अरुणप्सु ही सूर्य की तरह प्रकाश को फैलाने वाले होते हैं। स्वयं मेधातिथि मेधा की ओर चलने वाले होते हैं तभी तो औरों को भी ज्ञान दे पाते हैं। कण-कण करके इन्होंने मेधा का संचय किया है सो ये 'काण्व' हैं। ये अपने ज्ञानकणों को औरों को भी प्राप्त कराने वाले होते हैं।

भावार्थ—हम अरुणप्सु बनें और अपने ज्ञान के अरुण प्रकाश को चारों ओर फैलायें।

घृत व मधु से (सिक्त) सेचन

१ २ ३ १र २र ३ १
आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।
२ ३ १ २
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥७॥२२०॥

[**नः**]=हमारे [**गव्यूतिम्**]=(गो-यूतिम्) गौओं के प्रचार क्षेत्र को अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान प्राप्ति के विषय को [**मित्रावरुणा**]=ऐ प्राणापानो? [**घृतैः**]=ज्ञान दीप्तियों से और नैर्मल्य से [**आउक्षतम्**]=खूब सींच दो। (घृ=क्षरण और दीप्ति) ऐ [**सुक्रतू**]=उत्तम कर्मों वाले प्राणापानो! [**रजांसि**]=हमारी कर्मेन्द्रियों को [**मध्वा**]=मधु से [**आउक्षतम्**]=सींच डालो।

मनुष्य की इस जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिये प्रभु ने ५ ज्ञानेन्द्रियां दी हैं, पांच ही तो संसार में विषय हैं—संसार पंचभौतिक ही तो हैं। कर्म भी दार्शनिकों से पंचविध माना गया है—सो कर्मेन्द्रियों की संख्या भी ५ है। इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का स्वास्थ्य प्राणापान के स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। प्राणापान ठीक हों तो ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान से दीप्त व निर्मल रहती हैं और कर्मेन्द्रियों

में माधुर्य बना रहता है। ज्ञानेन्द्रियों में घृत का सेचन और कर्मेन्द्रियों में माधुर्य का सेचन प्राणापान से ही होता है। प्रभु विशुद्धाचित् हैं और 'रसः'=रसमय हैं। वस्तुतः ज्ञान के अनुपात में ही हमारे जीवनों में माधुर्य हुआ करता है।

मित्रावरुण हमारे ज्ञान व कर्मों को क्रमशः दीप्त व मधुर बनायेंगे। वरुण अपान है वह सब दोषों को दूर करके हमारे ज्ञान को निर्मल करेगा और मित्र प्राण है, यह हमारे कर्मों को शक्तिशाली बनाता हुआ उनके अन्दर स्नेह का संचार करेगा। संक्षेप में, प्राणापान की साधना से हम दीप्त ज्ञान वाले बनकर इस मंत्र के ऋषि 'जमदग्नि'=प्रज्वलित ज्ञानाग्नि वाले बनेंगे। तथा यही साधना हमें मधुर कर्मों वाला बनाकर इस मंत्र का ऋषि 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करने वाला बनायेगी। ये दोनों बातें मिलकर हमें 'गाथिन'=प्रभु का सच्चा स्तोता बना रही होंगी। प्रभु का ठीक गायन यही है कि हम दीप्त ज्ञान वाले और मधुर कर्मों वाले बनें।

भावार्थ—हम प्राणायाम द्वारा प्राणों को वश में करें और इस प्रकार अपनी बुद्धि को तीव्र करें और कर्मों को पवित्र व मधुर बनायें।

प्रभु की ओर

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत।
३ १ २ ३ १२ २ २
वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥८॥२२१॥

[**त्ये**]=वे जो कि गत मंत्र की भावना के अनुसार प्राणापान की साधना करते हैं, [**उत्**]=प्राकृतिक भोगों से अवश्य ही ऊपर उठते हैं। प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर [**यातवे**]=प्रभु की ओर जाने के लिये यत्नशील होते हैं। इनकी प्रत्येक क्रिया इसी उद्देश्य से होती है। मांडूक्योपनिषद् में 'सोयमात्मा चतुष्पात्' इन शब्दों में आत्मा को चतुष्पात् कहा है। तीन कदम चल चुकने पर चौथे कदम में हम प्रभु को पा लेते हैं। इस संसार के भोगों में उलझ जाने पर मनुष्य इन कदमों को नहीं उठा पाता। बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम भोगों में न फंसकर आगे और आगे बढ़ने का ध्यान करें। ऐसा करने वाला ही समझदार है—'प्रस्कण्व'=मेधावी है। यह प्रस्कण्व ही इस मंत्र का ऋषि है। कण-कण करके मेधा का संचय करने के कारण यह काण्व है। इससे उठाये जाने वाले तीन कदम इस प्रकार हैं:—

(१) ये प्रस्कण्व [**गिरः**]=वेदवाणियों के [**सूनवः**]=उत्पन्न करने वाले होते हैं। जिस प्रकार एक भरे हुए बर्तन से पानी का परीवाह होता है, उसी प्रकार जब प्रस्कण्व अपने को ज्ञान से परिपूर्ण कर लेता है तो उससे भी ज्ञानमय वाणियों का परीवाह होने लगता है। सो इन प्रस्कण्वों का समय अपने को ज्ञान से परिपूर्ण करने में लगता है। यही **ज्ञानकाण्ड** का स्वीकार है।

(२) **काष्ठा यज्ञेषु अत्नत**=ये प्रस्कण्व सदा यज्ञों में समिधाओं का विस्तार करते हैं। इनका जीवन यज्ञमय होता है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'=यज्ञ ही सर्वोत्तम कर्म है। ये प्रस्कण्व सदा इनके अन्दर व्याप्त रहते हैं। इनका मस्तिष्क **ज्ञानकाण्ड** का स्वीकार करता है तो इनके हाथ **कर्मकाण्ड** का। इन उत्तम कर्मों में व्याप्त न रहकर ये अपने जीवन को विषयों का शिकार होने से बचा लेते हैं।

(३) इसके बाद ये प्रस्कण्व [**अभिज्ञु**]=अभिगतजानुक होकर—नमस् के आसन पर बैठकर [**वाश्राः**]=अपनी प्रार्थनाओं को उस प्रभु के प्रति उच्चारित करते हैं (वाश्=शब्द=voice) इनका हृदय भक्ति भावना से ओत-प्रोत होता है और ये अपने स्तुति वचनों को उस प्रभु के प्रति भेजते हैं। उस प्रभु के गुणों का तन्मयता से कीर्तन करते हैं। यह प्रभु सम्पर्क ही तो उन्हें शक्तिशाली बनाता है और ये कभी भी संसार की उथल-पुथल में क्षुब्ध नहीं होते। यही **उपासना काण्ड** के **स्वीकार** का

परिणाम है।

एवं प्रस्कण्व उस प्रभु की प्राप्ति के लिये आगे और आगे बढ़ता हुआ 'ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड' रूप तीन कदमों को रखता है। चौथे कदम में तो प्रभु को पा ही लेता हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञानमय, कर्ममय व भक्तिमय हो।

कहीं हम केवल कूड़ा तो जमा नहीं कर रहे ?

२२उ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
१ २ ३ २
समूढमस्य पांसुरे ॥६॥२२२॥

इस मंत्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' [**इदं त्रेधा पदम्**]=इस ऊपर के मंत्र में वर्णित तीन प्रकार से कदम को निदधे=रखता है। ये तीन कदम मस्तिष्क में ज्ञानकाण्ड को भरना, भुजाओं में कर्मकाण्ड को भरना और कदम में उपासना की भावना को भरना था। यदि यह ऐसा न करके केवल ज्ञान को ही अपना ध्येय बनाता तो इसकी यह उन्नति अधूरी ही होती। इसी प्रकार केवल कर्म व केवल उपासना को अपनाने वाले व्यक्ति भी अपूर्ण विकास वाले ही होते हैं। ठीक विकास तो उसी का हुवा जिसने कि शरीर, मन व बुद्धि अथवा कर्म, श्रद्धा व ज्ञान तीनों को अपना ध्येय बनाया। वस्तुतः इसी ने [**विचक्रमे**]=विशेष पुरुषार्थ किया—व्यापक उन्नति की। इस व्यापक उन्नति को करने के कारण यह [**विष्णुः**]=(विष्=व्याप्तौ) विष्णु नाम वाला हुवा।

इस संसार में जब मनुष्य केवल ज्ञान को अपनाता है तो अन्त में आजकल के वैज्ञानिकों की तरह ऐसे bombs को जुटाता है जो कि दुनिया को तबाह कर दें। ऐसे bombs को जुटाना कूड़े के ढेर को ही तो जुटाना है। जो व्यक्ति केवल कर्मकाण्ड का उपासक बन यज्ञों को ही महत्व देता है वह मेघनाद व वृत्र की तरह अभिचार यज्ञों को करने में लगता है। ये भी तो यज्ञों का मल ही हैं। केवल श्रद्धा व उपासना के मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों ने इतिहास के पन्नों को खून से रंगा हुआ है। वे परमेश्वर के नाम पर एक दूसरे का खून करते हैं। इन्होंने भी प्रेम को न अपनाकर द्वेष को अपनाया, और इस प्रकार इनके भी भाग में कूड़े का ही जमा करना रहा। वस्तुतः इस [**पांसुरे**]=धूल को ही अपनाने वाले लोगों से भरे संसार में [**अस्य**]=इस व्यापक उन्नति करने वाले विष्णु ने ही [**सम् ऊढम्**]=प्रभु की आज्ञा को सम्यक् शिरोधार्य किया और जीवनयात्रा का ठीक निर्वहण किया। वस्तुतः यही मेधया अतति=बुद्धिमत्ता से चला सो इसी का नाम मेधातिथि है। यही इस मंत्र का ऋषि है।

भावार्थ—इस संसार में हम धूल के जमा करने वाले ही न बने रहें।

* * *

॥ ४ ॥ ऋषिः—१, ७, ८ मेधातिथिः; २ वामदेवः; ३, ५ मेधातिथिप्रियमेधौ; ४ विश्वामित्रः;
६ कौत्सो दुर्मित्रः सुमित्रो वा; ९ विश्वामित्रो गाथिनोऽभीपाद उदलो वा; १० श्रुतकक्षः ॥
देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु दे रहे हैं, पी तो सही

१ २ ३ १ २ ३ २ ३१र २र ३ २
अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपेरय। अस्य
३ २ ३ १ २
रातौ सुतं पिब ॥१॥२२३॥

गत मंत्र में तीन कदमों के रखने का उल्लेख था। उन कदमों के रखते हुए कितने ही विघ्न उपस्थित होते हैं, कितनी ही बार असफलता का मुख देखना पड़ता है। यदि इस व्यक्ति को कोई उत्साहित न कर निरन्तर निरुत्साहित करेगा, तब

यह कभी भी संसार में सफल न होगा। इसीलिये मंत्र में कहते हैं कि [**मन्युषाविणं**]=(मन्यु=शोक) शोक, दुःख व निराशा के बीजों को बोने वाले व्यक्ति को [**अति-इहि**]=लांघ जा। ऐसे व्यक्तियों के समीप मत उठ-बैठ। [**सुषुवांसम्**]=सदा उत्तम प्रेरणा देने वाले के [**उप**]=समीप [**ईरय**]=गति कर। घोड़ा भी शाबाश देने से उत्साहित होकर तीव्र गति से चलता है। प्रतिक्षण माता-पिता व आचार्य से 'गधा' कहलाकर बालक गधा बन ही जाता है। संसार में निरुत्साहित करने वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर किसी ने किसी भी कार्य में कभी भी सफलता नहीं प्राप्त की। इसलिये यह आवश्यक है कि मनुष्य का उत्साह बना रहे। और उत्साह बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि हमारा सम्पर्क निराशावादियों से न होकर सदा आशावादियों से रहे। आशावाद में भरे हुए होकर मनुष्य को चाहिये कि [**अस्य**]=प्रभु की [**रातौ**]=देन के होने पर [**सुतं पिब**]=शक्ति व ज्ञान का पान कर। प्रभु तुझे ज्ञान दे रहे हैं, तू उस ज्ञान को पी। प्रभु ने आहार से वीर्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया से शक्ति दी है—तू उसे अपने अन्दर सुरक्षित कर। मनुष्य निरुत्साहित न हो, ज्ञान का संचय करता चले और शक्ति को अपने में भरता चले तो वह उल्लिखित तीनों कदमों को अवश्य रखने में समर्थ होगा।

भावार्थ—आशावादियों के सम्पर्क में चलो, ज्ञान व शक्ति का संचय करते चलो। यही मेधातिथि का मार्ग है।

यही वचन उसका बढ़ाने वाला है

२ ३   १ २   ३ १र २र ३ १ २
कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते।
१र २र ३ १ २
तदिद्ध्यस्य वर्धनम् ॥२॥२२४॥

'वामदेव गौतम'=सुन्दर दिव्यगुणों वाला और प्रशस्त इन्द्रियों वाला इस मंत्र का ऋषि कहता है कि [**प्रचेतसे**]=प्रकृष्ट ज्ञान वाले [**महे**] सर्वमहान् [**देवाय**]=देव के लिये [**वचः**]स्तुतिवचन [**शस्यते**]=कहा जाता है। हम प्रभु की स्तुति करते हैं। किस प्रभु की? (१) प्रचेतसे=प्रकृष्ट ज्ञान वाले प्रभु के लिये। 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इस योगसूत्र के अनुसार ज्ञान की पराकाष्ठा ही तो प्रभु है। (२) महे=वह प्रभु महान् हैं। ऊँचे से ऊँचा मनुष्य भी ९९ वार क्षमा करके १००वीं वार दण्ड ही देता है। 'क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः' वारम्वार अपराध करते हुए को कौन क्षमा करे? परन्तु प्रभु तो 'अमन्तवो मांतउपक्षियन्ति'=अपने न मानने वालों का भी पालन करते ही हैं। प्रभु के दृष्टिकोण भी 'अयं निजःपरोवा' यह भावना होती ही नहीं। वहां रागद्वेष का काम नहीं। (३) देवाय—प्रभु दिव्यगुण युक्त हैं। उनके सभी कर्म भी दिव्य हैं। देवमनोवृत्ति देने की होती है। प्रभु ने तो अपने को भी दिया हुआ है। (य आत्मदा)। वे जीवहित के लिये ही सृष्टि का निर्माण करते हैं।

इस प्रभु के लिये स्तुतिवचन उच्चारण करने वाले के लिये ये वचन [**कत् उ**]=निश्चय से सुखों का विस्तार करने वाले होते हैं (कं तनोति इति कत्) चूंकि इनसे उसका जीवन ऊंचा उठता है। [**तद् इद् हि**]=यह वचन निश्चय से [**अस्य**]=इस स्तोता का [**वर्धनम्**]=बढ़ाने वाला होता है। उसके सामने ये स्तुतिवचन लक्ष्य दृष्टि को पैदा करते हैं। और उसे अपनी गति में तीव्रता लाने के लिये प्रेरणा देते हैं। इस स्तोता को ध्यान आता है कि मैंने भी ज्ञानी, महान् व देव बनना है। ज्ञानी ज्ञानकाण्ड का उपासक है, महान् प्रभु का सच्चा उपासक है चूंकि वह सभी में परमात्मा को देखता है, और देव बनकर कर्म करने वाला शुद्ध कर्म काण्डी बन पाता है। एवं यह स्तोता प्रभु स्तवन करता हुवा तीनों कदमों को उत्साहपूर्वक रखता है और उन्नत होते-होते 'कामदेव गौतम' बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु के आदर्श को सामने रख कर मैं भी प्रचेताः, महान् व देव बनं।

अगोरयि न बनें

३ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १२ २२
उक्थं च न शस्यमानं नागोरयिरा चिकेत ।
१ २ ३२ ३ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥३॥२२५॥

ऋग्वेद के वाक्य प्रकृति के पदार्थों का ज्ञान देते हैं। ऋचा का अर्थ (ऋच् स्तुतौ) पदार्थों के गुण धर्मों का वर्णन करना है। यही प्रकृति के पदार्थों का वर्णन करती हुई ऋचायें जब उन प्राकृतिक पदार्थों के अन्दर प्रभु के माहात्म्य का दर्शन करने वाली होती हैं तब ये 'उक्थ' कहलाती हैं।

यहां प्रस्तुत मंत्र में शंस का स्पष्ट उल्लेख नहीं। परन्तु 'शस्यमानं' इस क्रिया के द्वारा उसका संकेत हो रहा है। यजु मंत्र जीवों के कर्त्तव्यों का मुख्य रूप से वर्णन करते हैं। परन्तु उन कर्त्तव्यों के अन्दर भी सांसारिक रूप से जब हम जीवों की परस्पर संबद्धता (Interlinking) को देखते हैं तो प्रभु का अद्भुत रचना-कौशल हमें प्रभु की ओर प्रेरित करता है। और ये यजुमंत्र 'शंस'=प्रभु की महिमा का शंसन करने वाले हो जाते हैं।

साम के मंत्र उपासना परक हैं। जब जीव भक्ति के उत्कर्ष में उनका गायन करने लगता है तो वे 'गायत्र' कहलाते हैं। गायन करने वाले का ये त्राण करते हैं।

इन [**उक्थं**]=उक्थों को और [**शस्यमानम्**]=शंसों को [**चन**]=भी [**अगोरयिः**]=जो ज्ञान धन से रहित है वह [**न आचिकेत**] नहीं समझता है। उक्थों व शंसों के द्वारा स्तवन भी ज्ञानी ही कर पाता है। अज्ञानी ने पदार्थों की रचना में क्या कर्त्ता की कुशलता को देखना? और जीवों के परस्पर संबद्धता के सौन्दर्य को भी क्या समझना?

यह अगोरयि [**गीयमानं**]=गाये जाते हुए [**गायत्रं**]=गायत्र को भी [**न आचिकेत**] नहीं समझता है। ज्ञानी पुरुष ही प्रभु की सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता आदि गुणों के प्रकर्ष से प्रभावित हो प्रभु की महिमा का गायन करता है। ज्ञानी भक्त की भक्ति उसके जीवन में विशेष प्रेरणा देने वाली होती है। अज्ञानी की भक्ति कुछ यांत्रिक सी हो जाती है और उसमें रस भी नहीं होता, उससे ज्ञान तो बहुत ही कम होता है। ये स्तुतिवचन उसके अन्दर किसी लक्ष्य दृष्टि को पैदा नहीं करते। गतमंत्र के 'तद् इद् हि अस्य वर्धनम्' ये शब्द उसकी स्तुति पर लागू नहीं होते। इसलिये आवश्यक है कि हम 'गोरयि'=ज्ञान के धन वाले बन कर प्रभु के उक्थों शंसों व गायत्रों का उच्चारण करें ताकि वे सब हमारे वर्धन का कारण बनें।

गीता में इस ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ भक्त कहा गया है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।' यह ज्ञानी सदा ज्ञान के मार्ग पर चलता हुवा कण-कण का संचय करके ही तो ऐसा बना है सो (मेधाम् आतति) 'मेधातिथि काण्व' है। ज्ञान व बुद्धि का ही प्यारा होने से यह 'प्रियमेध' है। व्यसनों में न फंसने के कारण 'आंगिरस' है।

भावार्थ—हम ज्ञानधनी बनकर प्रभु के ज्ञानी भक्त बनें।

सभी का मित्र

१ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानां च वाज-
१२ ३ २ ३ १ २
पतिः । हरिवान्त्सुतानां सखा ॥४॥२२६॥

[**इन्द्रः**]=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव (१) [**उक्थेभिः**]=स्तोत्रों से [**मन्दिष्ठः**]=उत्कृष्ट आनन्द को लेने वाला होता है। उसे प्रभु की स्तुति में आनन्द आता है। clubs में या ताश आदि खेलने या गप मारने में आनन्द लेने की अपेक्षा वह प्रभु स्तवन में आनन्द को प्राप्त करता है। [**वजानां च वाजपतिः**]=ज्ञान व त्याग का वह पति बनता है। उसके जीवन में इन्हीं तीन बातों पर बल दिया जाता है उसका मस्तिष्क ज्ञान से भरा हो, भुजाओं में शक्ति हो और मन त्याग की

भावना से भरा हो। वह तीनों ही कदमों को तो उठाता है। वह विष्णु है। पौराणिक साहित्य में 'इन्द्र' का अर्थ परमात्मा करके विष्णु को 'उपेन्द्र' नाम दिया गया है। यह इन्द्र के उप=समीप पहुंचा हुवा होता है।

इस प्रकार अपने जीवन को उत्तम बनाकर यह [**हरिवान्**]=औरों के दुःखों के हरण करने वाला होता है (हृ=हरण=दूर करना)। इस दुःखहरण को प्रक्रिया में यह [**सुतानां सखा**]=उत्पन्न प्राणिमात्र का मित्र होता है। 'किसी एक समाज का यह हित करे' ऐसी भावना इसके अन्दर नहीं होती। यह 'विश्वामित्र है—सारे संसार के साथ स्नेह करने वाला है। प्राणिमात्र के साथ स्नेह करना ही सच्ची प्रभु भक्ति है सो यही 'गाथिनः' प्रभु के गुणों का गान करने वाला प्रभु को प्राणों के तुल्य प्रिय होता है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'=ज्ञानी तो उस प्रभु का आत्मा ही है।

एवं इस 'विश्वामित्र गाथिन' का निजू जीवन स्तोत्रों में आनन्द लेना और ज्ञान, शक्ति व त्याग की साधना करना है और सामाजिक जीवन औरों के दुःखों का हरना व सभी से प्रेम रखना है।

भावार्थ—हम सब प्रभु कीर्तन में आनन्द लें, ज्ञान, शक्ति व त्याग की साधना करें। औरों के दुःखों का हरण करें व सभी से प्रेम से वर्तें।

प्रभु इन्द्र से कहते हैं—क्रोध न करना

२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १
आ याह्यु प नः सुतं वाजेभिर्मा हृणीयथाः ।
३ १ २ ३ १ २
महाँ इव युवजानिः ॥५॥२२७॥

आयाहिः—इन्द्र से प्रभु कहते हैं कि तू अपने जीवन की साधना करके शान्त एकान्त, पर्वतों की कन्दराओं की ओर न भाग जा, अपितु उन कन्दराओं में साधना करके इस अशान्ति व अज्ञान से पीड़ित [**नः**]=हमारे [**सुतं**]=उत्पादित जगत् के [**उप**]=समीप आ। इन्हें अपने उपदेशामृत से शान्ति का लाभ करा। मनुष्य का आदर्श संसार से भागकर शान्ति लाभ करना नहीं है, अपितु ज्वालामुखियों से घिरे प्रशान्त महासागर की तरह अशान्त संसार में शान्त बने रहना है।

वाजेभिः—तूने जब इस संसार में उपदेशामृतवर्षण के लिये आना तो वाजेभिः=ज्ञान, शक्ति व त्याग की भावना से भरपूर होकर आना। ज्ञान न होने पर तू औरों को उपदेश ही क्या देगा ? ज्ञान होने पर भी शक्ति के अभाव में तू प्रचार-कार्य को न कर पायेगा। इन दोनों से बढ़कर त्याग की भावना की आवश्यकता है। इसके विना संसार में कभी भी कोई लोकहित का कार्य नहीं हुआ। 'शब्द विना साधु नहीं, द्रव्य विना साह'=ज्ञान के विना साधु वैसा ही है जैसा कि धन के विना साहूकार। एवं ज्ञान, शक्ति व त्याग से परिपक्व होकर तूने आना।

मा हृणीयथा:—क्रोध न करना। लोकहित का कार्य करते हुए तुझे विचित्र सा अनुभव होगा। जिनका तू भला कर रहा है वे तेरे पर क्रोध करेंगे, गाली देंगे। पर तूने उन पर क्रोध न करना। बीमार खीझता है, ऊटपटाँग बोलता है मारने को दौड़ता है। पर क्या डाक्टर भी गुस्से में आ जाता है। तूने भी तो शारीरिक के स्थान पर मानस व्याधियों की चिकित्सा करनी है। उन विकृत मन वालों को तूने अपने स्वस्थ मन से स्वस्थ बनाने का यत्न करना है।

महां इव:—एक विकृत मन वाला, अपने को मालिक व बड़ा समझने वाला युवक अपनी युवति पत्नी पर व्यर्थ में क्रोध करता है परन्तु एक महान्=ऊंचे घराने वाला कुलीन, महामना उदार मन वाला व्यक्ति [**युवजानिः**]=अपनी युवति पत्नी वाला [**इव**]=जैसे कभी क्रोध नहीं करता इसी प्रकार तूने भी क्रोध नहीं करना। ये सारी अनुभवशून्य दुनियां तेरी युवति जाया के ही तो समान है—उसको सिखाना, न कि उस पर क्रोध करना। तू पति है—रक्षक है न कि मालिक। तू Husband=घर को बांधने वाला अर्थात् घर के अन्दर टट-फूट न पैदा होने देने वाला है न कि घर

को तोड़ने वाला। सो तूने इस प्रजा पर क्रोध नहीं करना। यही मेधातिथि काण्व=समझदार व्यक्ति का मार्ग है। यही व्यक्ति प्रियमेध=ज्ञान के साथ प्रेम करने वाला है और आंगिरस=शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के आदेश के अनुसार परिव्राजक बन लोकहित में प्रवृत्त हों।

नोट—यहां भ्रमवश 'अनमेल विवाह' की गन्ध प्रतीत होती है। वह इसलिये कि 'महान्' का अर्थ 'बड़ी उमर वाला' करने की परिपाटी है। परन्तु महान् का अर्थ—'उदारमना' उच्च विचार वाला व कुलीन, बड़े घराने वाला करना ही ठीक है। उपमा से प्रभु ने कितना सुन्दर उपदेश दिया है कि कुलीन उदारमना व्यक्ति अपनी युवा पत्नियों पर क्रोध नहीं किया करते। जब सखा बने क्रोध का क्या काम ?

प्राणायाम के तीन लाभ

३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १
कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अव श्मशा
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
रुधद्वाः। दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥६॥२२८॥

इस मंत्र का ऋषि 'दुर्मित्रः कौत्सः' है। 'कुथ हिंसायाम्' धातु से कौत्स शब्द बनता है, यह 'काम क्रोध, लोभ, मोह मदमत्सर' इन ६ शत्रुओं का संहार करता है सो कौत्स है। 'दुर्मित्र' की भावना यही है कि बुरे पापों व मृत्युओं से अपनी रक्षा करता है। काम-क्रोधादि का संहार करके ही तो वह ऐसा कर पाता है। इस दुर्मित्र कौत्स से प्रभु कहते हैं कि (१) [**वसो**]=ऐ उत्तम निवास वाले जीव [**कदा**]=कब [**स्तोत्रं**]=प्रभु का स्तवन [**हर्यते**]=तेरी अन्तिम गति व तेरे काम्य प्रभु के लिये तेरे जीवन में होगा। अर्थात् वह दिन कब आयेगा जबकि तू काम-क्रोधादि में न उलझा हुआ होकर, उत्तम जीवन वाला बनकर मेरा स्तवन कर रहा होगा, जो मैं तेरी अन्तिम गति हूं और तेरे से काम्य हूं। संसार में तेरी अन्तिम शरण मैं ही हूं और अन्य चीजों की कामना के स्थान में मैं ही तेरा काम्य हूं। मुझे प्राप्त कर, तू सभी कुछ प्राप्त कर लेता है। (२) [**कदा**]=कब [**श्मशा**]=शरीर में जाल की तरह बिछी हुई ये नसें [**आ**]=सर्वथा [**वाः**]=वीर्यशक्ति को [**अवरुधत्**]=अपने में रोकेंगी ? श्मशा शब्द यास्क ने कुल्या का पर्याय माना है। कुल्या नहर है, नस-नाड़ियां भी शरीर की कुल्यायें हैं। इनके अन्दर बहने वाले रुधिर में वीर्य उसी प्रकार व्याप्त होता है जैसे दूध में घृत। मन के अन्दर जब किसी प्रकार कुविचारों का मन्थन चलता है तो यह वीर्य रुधिर से उसी प्रकार अलग हो जाता है जिस प्रकार दूध से घृत (दही से मक्खन)। इस वीर्य के अलग होने पर रुधिर उतना ही अशक्त हो जाता है जितना सैपरेटा। न तो मनुष्य पूर्णरूपेण स्वस्थ ही रह पाता है और ना ही उसका मस्तिष्क कोई गम्भीर अध्ययन कर पाता है। (३) अब प्रभु जीव से कहते हैं कि [**कदा**]=कब [**दीर्घं सुतं**]=अन्धकार का विदारण करने वाला (दॄ विदारणे) ज्ञान तुझे प्राप्त होगा। ज्ञान ही वासनान्धकार को विलीन करने वाला होता है।

एवं प्रभु हमारे से तीन बातें चाहते हैं (१) हमारा झुकाव प्रकृति के भोगों की ओर न हो, हम प्रभु स्तवन करने वाले बनें (२) हम वीर्य का संयम करें (३) हम अपने अन्दर ज्ञान सूर्य का उदय करें। ये तीनों बातें कैसे होंगी ?' इसके लिये मंत्र के अन्तिम सम्बोधन में संकेत उपलभ्य है। [**वाताप्याय**]=ये वात को – अपने प्राणों को आप्यायित वृद्ध करने वाले जीव ? इस सम्बोधन के द्वारा प्रभु कह रहे हैं कि प्राणों की साधना करो – प्राणायाम करने पर मंत्रनिर्दिष्ट तीनों ही बातें तुम्हारे जीवन में आ पावेंगी। निरुद्ध वीर्यशक्ति शरीर को नीरोग बनायेगी, मन को प्रभु प्रवण, और मस्तिष्क रूप द्युलोक को ज्ञान सूर्य से दीप्त।

भावार्थ—हम प्राणायाम द्वारा शरीर को नीरोग, मन को पवित्र व ज्ञान को दीप्त बनावें।

आचार्य शिष्य का सम्बन्ध

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु ।
२ ३ २ ३ १र २र
तवेदं सख्यमस्तृतम् ॥७॥२२९॥

गत मंत्र में समाप्ति पर 'दीर्घ सुतं'=अज्ञानान्धकार के नाशक ज्ञान का उल्लेख हुवा है, 'यह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मंत्र में है। जीव का ज्ञान नैमित्तिक है। प्रभु का ज्ञान स्वाभाविक है—सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु श्रेष्ठ निर्दोष हृदयों वाले 'अग्नि वायु आदित्य अंगिरा' आदि ऋषियों को वेदज्ञान देते हैं। इस वेदज्ञान को अग्नि आदि से अन्य ऋषि प्राप्त करते हैं—उनसे अगले, और वे अगलों को ज्ञान देते हैं। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से ज्ञान प्राप्त होता है। (१) गुरु कैसे होने चाहियें ? (२) शिष्य का क्या कर्तव्य है ? (३) और ज्ञान प्राप्ति का क्या नियम है ? इन विषयों का प्रस्तुत मंत्र में विचार है।

गुरु

गुरु के गुणों का उल्लेख करने वाले शब्द [**ब्राह्मणात्**]=और [राधसः] हैं। (१) [**ब्राह्मणात्**]=ब्राह्मण से, ब्रह्मवेत्ता से। जिसने अपरा विद्या के अध्ययन के अनन्तर पराविद्या को भी पढ़ा हो उस आचार्य से विद्यार्थी ने ज्ञान प्राप्त करना है। आचार्य को ज्ञान का समुद्र तो होना ही चाहिये। 'भुवनस्यः यः पतिः' सभी विद्याओं का पारंगत आचार्य ही विद्यार्थी की श्रद्धा का आधार हो सकता है। वही स्वयं अग्निरूप होता हुवा विद्यार्थी में ज्ञानाग्नि को समिद्ध कर सकता है। (२) [**राधसः**]=(राध=सिद्धि) सिद्धि को प्राप्त गुरु से। गुरु साधना को बहुत कुछ पूर्ण करके मन को वश में कर चुके हों। तभी विद्यार्थियों के आचार का वे निर्माण कर सकते हैं। एवं आचार्य का मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त हो और मन वशीभूत होने से निर्मल हो।

शिष्य

ऐसे आचार्य से ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव तू [**सोमं पिबा**]=ज्ञान का पान कर। (१) जो शिष्य इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता न होगा, जिसे किसी भी इन्द्रिय का चस्का लगा होगा वह ज्ञान को ठीक रूप में प्राप्त न कर सकेगा। ज्ञान तभी प्राप्त होता है, जबकि ज्ञान का ही चस्का हो—ज्ञान के अतिरिक्त किसी भी चीज़ की उसे रुचि न हो। वह केवल विद्या का ही अर्थी हो। (२) शिष्य के लिये दूसरा नियम यह है कि वह नियमपूर्वक विद्या का अध्ययन करे। मंत्र में 'ब्राह्मणात्' यह पंचमी विभक्ति का प्रयोग इस नियमपूर्वक विद्याग्रहण का संकेत करता है। नियमपूर्वक विद्याग्रहण में ही 'आख्यातोपयोगे' सूत्र से पंचमी विभक्ति आती है। यह भावना स्पष्ट शब्दों में भी [**ऋतून् अनु**]=शब्दों से व्यक्त हुई है। ऋतुएं जैसे नियमित गति से आगे और आगे चल रही हैं उसी प्रकार विद्यार्थी को नियमित गति से अध्ययन को करते चलना। 'ऋतु' शब्द नियमित गति का प्रतीक ही है। नियमित गति के विना अध्ययन हो ही नहीं पाता।

अविच्छिन्नता से

ऐ शिष्य [**तव**]=तेरा [**इदं**]=यह [**सख्यम्**]=आचार्य के साथ ज्ञान प्राप्ति के लिये हुवा-हुवा सम्बन्ध [**अस्तृतम्**]=अविच्छिन्न हो। तू सदा आचार्य के समीप रहकर अपने ज्ञान को बढ़ाने वाला हो। तू 'अन्तेवासी' बन। सदा आचार्य के समीप रहने से तेरे में उसी प्रकार ज्ञान का प्रवाह चलता रहेगा, जिस प्रकार ऊंची सतह वाले तालाब से नीची सतह वाले खेत में जल का प्रवाह चलता है। आचार्य और विद्यार्थी का यह सम्बन्ध सदा स्थिर रहे।

इस प्रकार विद्वान् एवं धार्मिक आचार्य के समीप निरन्तर रहकर ज्ञान को नियम से प्राप्त करने वाला जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी इस मंत्र का ऋषि 'मेधातिथि'=ज्ञान की ओर निरन्तर चलने वाला

बनता है। कण-कण करके ज्ञान को प्राप्त करके यह मेधावी बन जाता है।

भावार्थ—आचार्य और विद्यार्थी का अविच्छिन्न सम्बन्ध ज्ञान की ज्योति को जगाने वाला हो।

इन्द्र व उपेन्द्र शब्द

३ १ २ ३ १ २ २ १ ३
वयं घा ते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः।
१ २
त्वं नो जिन्व सोमपाः ॥८॥२३०॥

प्रभु इन्द्र हैं तो जीव उपेन्द्र है। उपेन्द्र इन्द्र से कहता है कि [**वयं**]=(वेञ् तन्तुसन्ताने) कर्म तन्तु का विस्तार करने वाले हम [**घा**]=निश्चय से [**ते**]=तेरे [**अपि**]=भी [**स्मसि**]=हैं। अर्थात् कर्मों को करते हुए हम तेरा भी स्मरण करते हैं। तेरे स्मरण के साथ अपने कार्यों को करते हुए हम तेरे [**स्तोतारः**]=स्तुति करने वाले हैं। ऐ [**इन्द्र**]=ज्ञान रूप परमैश्वर्य वाले प्रभो ? आप [**गिर्वणः**]=वेदवाणियों से स्तवन करने योग्य हैं। इस प्रकार जीव प्रभु से संकेत रूप में कहता है कि मैंने अपने जीवन में यथासंभव कर्मकाण्ड उपासना काण्ड व ज्ञानकाण्ड तीनों को ही स्थान दिया है।

अब प्रभु जीव से कहते हैं कि [**त्वं**]=तू [**नः**]=हमें [**सोमपाः**]=सोम का पान करने वाला बनकर [**जिन्व**]=प्रीणित कर। जो सुचरितों से पिता को प्रीणित करे पुत्र तो वही है सो यहां भी हम अपने पिता उस प्रभु को अपने उत्तम कार्यों से ही प्रसन्न कर सकते हैं। यहां उन सब उत्तम कर्मों का संकेत 'सोमपाः' शब्द से हुवा है। ये कार्य क्रमशः (१) सोम=Semen=vitality की रक्षा करना (२) सौम्यता का धारण करना (३) और मस्तिष्क को सोम=ज्ञान से परिपूर्ण करना है। सोम शब्द के तीनों ही अर्थ हैं (१) वीर्य (२) सौम्यता (३) ज्ञान। प्राणमय कोश में वीर्य का मनोमय में सौम्यता का तथा विज्ञानमय में ज्ञान का पान करके हम प्रभु को प्रीणित करते हैं। जीव सचमुच उपेन्द्र बन जाता है।

भावार्थ—हम सोमपान द्वारा प्रभु को प्रीणित करें।

शक्ति का संचार करना

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः।
१ २ ३ १ २
सत्राजिदुग्र पौंस्यम् ॥९॥२३१॥

प्रभु जीव से कह रहे हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ! तू [**आ**]=अपने चारों ओर [**पृक्षु**]=तेरे संपर्क में आने वाले (पृची संपर्के) [**कासुचित्**]=जो कोई भी लोग हों उनमें बिना रूप-रंग का भेद किये, बिना किसी जाति के भेद के सभी [**नः तनुषु**]=हमारे शरीरों में [**नृम्णं**]=बल को [**धेहि**]=रख। सभी व्यक्तियों को तूने उस-उस व्यक्ति के रूप में न देखकर हमारा ही शरीर समझना। 'समोऽहं सर्वभूतेषु'=मैं सब भूतों में समानरूप से निवास कर रहा हूं। सभी शरीर मेरे ही रूप हैं यह समझ सभी को बल व उत्साह युक्त करने का ध्यान करना। 'विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः'=समझदार व्यक्ति किसी से घृणा न करता हुआ भेदभाव की भावना से ऊपर उठा हुवा सर्वत्र मेरा ही दर्शन करता है—और सभी के अन्दर आशावाद का संचार करता है। तूने लोगों के अन्दर उस शक्ति का संचार करना जो कि [**पौंस्यम्**]=पुरुषार्थ व पवित्रता को उत्पन्न करने वाली है, जो उन्हें पुमान् न कि नपुंसक बनाती है और (पूत्र पवने)—उन्हें पवित्र बनाती है। ब्रह्मचर्य सूक्त में आचार्य ने विद्यार्थी को यही तो आदेश दिया था कि 'लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्'=लोकसंग्रह करके ये उनको खूब उत्साहमय व क्रियाशील बनाता है। प्रभु इन्द्र को केवल वैयक्तिक उन्नति से प्रसन्न नहीं, वे चाहते हैं कि जीव सोमपान द्वारा वैयक्तिक साधना करके

लोकसंग्रह भी करे। संसार में आशावाद का संचार करे, लोगों को सत्कर्मों में प्रेरित करे।

परन्तु ऐसा वह कर कब पायेगा? तभी, जबकि वह स्वयं [**सत्राजित्**]=सदा अपनी इन्द्रियों पर विजय को पाने वाला होगा और [**उग्र**]=बड़ी उदात्तवृत्ति वाला होगा (noble)। स्वयं जितेन्द्रिय न होने पर वह अपने आप भी उत्साह संपन्न न होगा, औरों को क्या उत्साहित करेगा? और यदि उसकी वृत्ति उदात्त न होगी तो वह सभी में प्रेम के साथ न विचर सकेगा। सभी में प्रेम के साथ विचरने वाला। यह सत्राजित् उग्र 'विश्वामित्र' है=सभी का स्नेही। यह प्रभु का सच्चा उपासक है 'गाथिनः'। यह लोकहित के लिये सभी के प्रति जाता है—सो (अभिपद्यते) 'अभीपाद' है, तुच्छ भेदभावों से ऊपर उठकर (उत्) अपने को उत्कृष्ट गुणों से अलंकृत करने वाला है। (अल्-भूषणे) सो इसका नाम 'उदल' है।

भावार्थ–हम प्रभु के निर्देशानुसार लोगों में उत्साह का संचार करने वाले बनें।

यही तेरी सफलता है (स्थितप्रज्ञ)

३ १र २र ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ २
एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः।
३ २ ३ २ ३ १ ३
एवा ते राध्यं मनः ॥१०॥२३२॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि यदि तू (१) सोमपान करता है, और (२) सोमपान करके शक्तिशाली बनता है मन में सौम्यता को धारण करता है और मस्तिष्क में ज्ञान को भरता है (३) और इस प्रकार वैयक्तिक उन्नति करके लोकसंग्रह के लिये लोगों में उत्साह को भरता है तो [**एवा**] ही [**हि**]=निश्चय से [**वीरयुः असि**]=वीरता के साथ मेल वाला है अर्थात् वीर है [**एवा शूरः**]=इस प्रकार ही तू बुराईयों का संहार करने वाला है [**उत**]=और [**स्थिरः**] मनोवृत्ति वाला अर्थात् स्थितप्रज्ञ है और [**एवा**]=इस प्रकार ही [**ते**]=तेरा [**मनः**]=मन। [**राध्यम्**]=सिद्ध है।

इस प्रकार प्रभु ने 'स्थितप्रज्ञ' का लक्षण दिया है कि वह स्वयं उत्पन्न होकर लोकों को उत्साहित करने में लगा रहता है।

यही व्यक्ति 'श्रुतकक्ष आंगिरस' है–ज्ञान की शरण में रहने वाला, शक्तिशाली।

भावार्थ—हम वीर, शूर, स्थिर व सिद्ध मन वाले बनें।

नोट—मंत्र संख्या २३० के उत्तरार्ध से यदि मंत्रों का व्याख्यान प्रभु का जीव के प्रति कथन के रूप में करें तो प्रस्तुत मंत्र का अर्थ बड़ा संगत हो जाता है। परन्तु यदि उन्हें परमात्मपरक लगाया जाय तो प्रस्तुत मंत्र व्यर्थ सा प्रतीत होता है। 'इस प्रकार ही तेरा मन राध्य=सिद्धि के योग्य है' यह वाक्य जीव के लिये ही प्रयुक्त हो सकता है—परमात्मा के लिये नहीं।

* * *

॥ ५ ॥ ऋषिः—१, ६, ९ वसिष्ठः; २ भरद्वाजः; ३ वालखिल्याः; ४ नोधाः; ५ कलिः प्रागाथः;
७ मेधातिथिः; ८ भर्गः; १० प्रगाथः काण्वः ॥ देवता—१-८, १० इन्द्रः; ९ मरुतः ॥
छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

स्वर्ग का दर्शन

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र
३ १ २
तस्थुषः ॥१॥२३३॥

ऐ [**शूर**]=सब बुराईयों के संहार करने वाले प्रभो! [**त्वा अभि**]=तेरी ओर [**नोनुमः**]=खूब स्तुति करते हैं। जब कभी किसी कार्य से खाली होते हैं तो तेरी ओर आते हैं और तेरा स्तवन करते हैं। 'नोनुमः'=खूब हो स्तवन करते हैं। कथा में यह कहा गया था कि जब मन खाली हो तो उसे प्रभु के नामस्मरण रूप बल्ली पर

चढ़ने व उतरने के लिये कह दो तब वह मन कभी तुम्हारा संहार न कर पायेगा। सचमुच यदि हम प्रत्येक कार्य को करने के बाद नाममात्र खाली समय को भी प्रभुनाम स्मरण में लगायें तो यह मन हमारा उत्तम मित्र होगा और मोक्ष का साधन बनेगा। इसी मन को यदि हम कार्यों से खाली होने पर प्रभु नाम स्मरण में व्याप्त न करेंगे तो यह हमारे शत्रुपक्ष में होकर हमारे संहार का कारण बनेगा, न जाने किन-किन व्यसनों के हम शिकार हो जायेंगे। प्रभु नामस्मरण में व्यापृत मन हमारा मित्र है—खाली मन हमारा शत्रु है।

वृद्धावस्था में पहुंचकर यदि हमें प्रभुस्मरण का ध्यान आया तो क्या आया! उपासना का समय तो यौवन है, जबकि हमारी सब शक्तियाँ भरपूर स्थिति में हैं। यौवन में ही तो वासनाओं के शिकार हो जाने का खतरा है—वृद्धावस्था में तो वैसे ही धातुओं के क्षीण होने पर शान्ति सी हो जाती है। यदि यौवन में प्रभुस्मरण से पृथक् न होंगे तो यौवन से भी तो पृथक् न होंगे। हमारी शक्तियां वासना में न जलेंगी और हम सदा युवा 'सनत् कुमार' बने रहेंगे। इसी से मंत्र में कहते हैं कि [**अदुग्धाः धेनवः इव**]=जो गौवें दुग्धदोह नहीं हो चुकी, उनके समान। 'धेनु' नवसूतिका गौ है—जिसका यौवन प्रारम्भ हुवा है। उस धेनु के समान यौवन के प्रारम्भ में ही हम आपके स्तोता बनें।

आप [**अस्य**]=इस [**जगतः**]=जंगम जगत् के [**ईशानम्**]=ईशान हैं। ऐ [**इन्द्र**]=सर्वैश्वर्य वाले प्रभो आप [**तस्थुषः**]=स्थावर जगत् के भी [**ईशानम्**]=ईशान हैं। चराचर के स्वामी आपका हम ध्यान करें। आपके ध्यान से ही हम भी संसार के दास न बनकर संसार के ईश होंगे। शासित न होकर शासन करने वाले होंगे। वस्तुतः इस प्रकार आप हमें दास के स्थान में स्वामी बनाकर [**स्वर्दृशम्**]स्वर्ग का दर्शन कराते हैं। आपकी उपासना हमारे स्वर्ग का साधन बनती है। हम वसिष्ठ=उत्तम निवास वाले व वशियों में श्रेष्ठ बनते हैं। प्रभु की उपासना हमें सभी के साथ मित्रता वाली व रागद्वेष से शून्य 'मैत्रा वरुणि' बनाती है।

भावार्थ—हम यौवन में ही प्रभु के उपासक बनें। 'कर्म-उपासना-कर्म'=यह हमारे जीवन का क्रम हो। हमारे कर्मों के विच्छेद उपासनाओं से भरे हों।

पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त

१र २र ३ १र २र ३ १ २
त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्व-
२
र्वतः ॥२॥२३४॥

ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो! [**वाजस्य सातौ**]=शक्ति, त्याग व ज्ञान की प्रगति के निमित्त [**त्वाम् इत् हि**]=आपको ही निश्चय से [**हवामहे**]=पुकारते हैं। आपने ही हमारे जीवनों को शक्ति, त्याग व ज्ञान से भरना है। आपके उपासक बनने पर ही हमारे शरीर शक्ति संपन्न, हमारे मन त्याग की भावना से परिपूर्ण तथा हमारे मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त बनते हैं। आपकी कृपा से ही सब कुछ होना है। परन्तु आपकी कृपा को भी तो वही प्राप्त करते हैं जो कि [**कारवः**]=क्रियाशील होते हैं। बिना क्रियाशीलता के आपकी कृपा का कोई पात्र नहीं बन पाता। 'कारु' उस व्यक्ति को कहते हैं जोकि बड़े कलापूर्ण ढंग से क्रिया को करता है। क्रिया को कुशलता से करना ही योग है। सो योगी बन कर जो सदा क्रिया में लगा रहता है, वह प्रभु की प्रार्थना का अधिकारी होता है।

ऐ इन्द्र! [**त्वाम्**]=आपको [**वृत्रेषु**] ज्ञान को आवृत करने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं के प्रबल होने पर हम [**हवामहे**]=पुकारते हैं चूंकि आप [**सत्पतिम्**] सज्जनों के पालन करने वाले हैं। परन्तु हम कब

आपको पुकारते हैं ? जबकि [**नरः**]=हम 'ना' बनते है। 'ना' शब्द 'नृ नये' से बनता है और उस व्यक्ति का वाचक है जोकि सदा अपने को आगे और आगे प्राप्त कराने में लगा है। दूसरे शब्दों में जो स्वयं पुरुषार्थी है वही उस प्रभु को पुकारने का अधिकार रखता है।

हे प्रभो ! [**त्वाम्**]=आपको [**अर्वतः**]=प्रयत्नों की (अर्व् गतौ) अथवा (अर्व् to kill) शत्रुओं के संहार की [**काष्ठासु**]=चरम सीमाओं पर पुकारते हैं। जब हम अपना पूर्ण पुरुषार्थ कर चुकते हैं और हमारे में और अधिक शक्ति नहीं रहती उसी समय हम आपकी सहायता की याचना करते हैं।

इस प्रकार इस मंत्र में (१) 'कारवः'=कलापूर्ण प्रकार से क्रिया को करने वाले, (२) 'नर'=अपने को आगे और आगे प्राप्त कराने वाले और (३) अर्वतः 'काष्ठासु'=प्रयत्नों की चरम सीमा पर इन ३ शब्दों से इस बात पर बल दिया गया है कि प्रार्थना के साथ पूर्ण पुरुषार्थ आवश्यक है। इस पुरुषार्थ को करने वाला यह व्यक्ति 'भरद्वाज' =अपने में शक्ति को भरने वाला बनता है। और ऊंचे से ऊंचे ज्ञान को प्राप्त करके बार्हस्पत्य होता है।

भावार्थ—हम सदा पुरुषार्थमय जीवन को बिताते हुए प्रभु की प्रार्थना के अधिकारी बनें।

पापशून्य, पर्याप्त, प्रमोदमय धन

३ १र   २र   ३ १२३१ २ ३   १२ ३२
अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २   ३ १ ३ ३ १ २ ३
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव
१ २
शिक्षति ॥३॥२३५॥

गत मन्त्र में हमने देखा है कि 'ज्ञान शक्ति, व त्याग' के लिये तथा वासनाओं पर विजय के लिये हम प्रभु को पुकारते हैं। वस्तुतः इस संसार में वह प्रभु ही हमें सिद्धि प्राप्त कराने वाले हैं। इस मंत्र का ऋषि 'प्रस्कण्व'=अत्यन्त मेधावी यह समझ की बात अपने सब साथियों से कहता है कि [**वः**]=आप सबके [**सुराधसम्**]=उत्तम सफलता को प्राप्त कराने वाले [**इन्द्रम्**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को [**अभि**]=जब-जब कार्यों से अवकाश मिले तो अर्थात् चारों ओर से उसी प्रभु की ओर आकर [**प्र-अर्च**]=खूब अर्चना करो। इस अर्चना से आपको [**यथाविदे**]=यथार्थ-ज्ञान प्राप्त होगा। वस्तुतः ज्ञान का स्रोत तो अन्दर से ही उमड़ता है। बाह्य ज्ञान उस अन्तिम स्रोत को क्रियाशील बनाने के लिये सहायक होता है। सो उस प्रभु की अर्चना हमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त करायेगी। इस यथार्थ ज्ञान के साथ वे प्रभु अपने स्तोताओं को भूखे थोड़े ही मरने देंगे ? मंत्र कहता है कि—[**यः**]=जो प्रभु [**जरितृभ्यः**]=स्तोताओं के लिये [**मघवा**]=(मा-अघ) पापशून्य धन वाले हैं। [**पुरुवसुः**]=पालन और पूरण के लिये पर्याप्त धन देने वाले हैं। और [**सहस्रेण इव**]=आमोद के साथ सहस् [**शिक्षति**]=देते हैं। सक्षेप में प्रभु अपने भक्तों को पापशून्य, पालनपूरण के लिये पर्याप्त प्रमोदमय धन प्राप्त कराते हैं। प्रभु भक्तों को कभी भी खाने-पीने की परेशानी होती हो सो तो बात है ही नहीं। वे बिना कुटिलता के आवश्यक धन को जुटाने में समर्थ होते हैं। और किसी प्रकार की चिन्ता के शिकार नहीं होते। प्रभु भक्ति से दूर रहने वाले लोग टेड़े-मेढ़े साधनों से अन्धाधुन्ध सम्पत्ति जुटा लेते हैं पर वे चिन्ताओं व परेशानियों का सदा शिकार बने रहते हैं। समझदारी इसी में है कि हम चिन्ताशून्य स्वल्प सम्पत्ति का ही चुनाव करें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम अर्चना करने वाले बनें ताकि हमारा जीवन सफल, यथार्थज्ञान वाला तथा पापशून्य पर्याप्त प्रमोदमय सम्पत्ति सम्पन्न बने।

गौएं जिस प्रकार बछड़ों का

२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्भन्दानमन्धसः ।
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ।।४।।२३६।।

इस मन्त्र का ऋषि 'नोधा गौतम'=प्रशस्त इन्द्रियों वाला है और नवधा=नवीन ही प्रकार से अपना धारण करने वाला है। सामान्यप्रकार तो 'स्वेषु आस्येषु जुह्वतः चेरुः'=अपने मुखों में आहुति देते हुए विचरने वाले असुरों का है पर विशेष प्रकार वह है जिसमें कि दिलीप मर्त्यलोक को खाली करके स्वर्गलोक को भर रहा है और इन्द्र स्वर्गलोक को खाली करके मर्त्यलोक को भरने में लगा है। 'दूसरों को खिलाने के द्वारा अपने को खिलाना' यही वह नवीन धारण का प्रकार है जिसके कारण इस मंत्र का ऋषि 'नवधा' कहलाया है। नवधा की इन्द्रियां विषयाक्रान्त न होने से प्रशस्त बनी रहती हैं सो ये 'गौतम' है। ये गौतम कहता है कि हमारे में यह नवीन धारण की वृत्ति बनी रहे—हम किसी को पराया समझें ही नहीं— सो [**तं इन्द्रं**]=उस परमैश्वर्यशाली, सब असुरों का संहार करने वाले उस प्रभु को [**गौर्भिः**]=वेदवाणियों से [**नवामहे**]=स्तुत करते हैं जो कि [**वः दस्मं**]=तुम्हारा (दसु उपक्षये) शत्रुओं का संहार करने वाला है [**ऋतीषहम्**]='काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर' नामक आक्रान्ताओं का पराभव करने वाला है। और साथ ही [**वसोः अन्धसः-मन्दानम्**]=निवास के लिये पर्याप्त अन्न से तृप्त करने वाला है (मन्दतेस्तृप्ति कर्मणः) [**तं**]=उस प्रभु को हम स्तुति-वचनों से स्मरण करते हैं। प्रभु स्मरण के साथ वासनाओं का सम्बन्ध नहीं है। तेज व तिमिर का सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। प्रभुस्मरण प्रकाश है तो वासना अन्धकार। प्रभुस्मरण से अन्तःकरण की पवित्रता प्राप्त होती है। पवित्र अन्तःकरण वाला व्यक्ति छल-बल से धनादि का संग्रह नहीं करता, परन्तु वह भूखा भी नहीं मरता। प्रभु उसे निवास के लिये पर्याप्त सात्त्विक अन्न प्राप्त कराते हो हैं। यहां 'अन्न' के लिये 'अन्धस्' शब्द का प्रयोग है। यास्क इसकी व्युत्पत्ति 'आध्यायनोयं भवति' करते हैं। ध्यान देने के योग्य होता है। वस्तुतः सर्वाधिक ध्यान देने के योग्य चीज़ अन्न ही है। जैसा अन्न होगा वैसा ही हमारा मन भी बनेगा। 'आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः'=आहार की शुद्धि पर अन्तःकरण की शुद्धि अवलम्बित है। 'You are what you eat' हम वही बन जाते हैं—जैसा कि खाते हैं। प्रभु तो अपने भक्त को उत्तम ही अन्न प्राप्त कराते हैं। सो यह भक्त उत्तम बुद्धि वाला बनकर और भी उत्तम मार्ग का आक्रमण करता है; और सदा उस प्रभु का स्मरण करता है। [**न**]=जैसे कि [**धनेवः**]=नवसूतिका गौवें [**स्वसरेषु**]=गृहों पर स्थित [**वत्सम् अभि**]=बछड़े की ओर ध्यान रखती है। इसी प्रकार यह गोतम भी सदा सांसारिक कार्यों को करता हुवा सदा प्रभु का स्मरण करता है। वस्तुतः, यह स्मरण ही उसे पथभ्रष्ट नहीं होने देता और उसका जीवनयंत्र मार्ग पर चलता हुवा उसे उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचाने वाला होता है। उस 'सा काष्ठा सा परागतिः'=प्रभु रूप उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचकर वह अनुभव करता है कि प्रभु ही 'दस्मम्'=दर्शनीय (Beautiful) हैं। संसार में जहां-जहां सौन्दर्य है, वहां प्रभु के ही तेज का अंश उस सौन्दर्य का मूल है। वह प्रभु 'दस्मम्'=अद्भुत हैं (wonderful), उनकी महिमा का पूरा-पूरा चिन्तन संभव नहीं।

भावार्थ—उस अचिन्त्यमहिम प्रभु के स्मरण के द्वारा हम वासनाजगत् से ऊपर उठें।

प्रभु विदद्वसु हैं

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये ।
३१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३२उ ३ २
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न
३ १ २
कारिणम् ॥५॥२३७॥

इस मंत्र का ऋषि 'कलिः प्रागाथः' है। कलि का शब्दार्थ है—Collect करने वाला, संग्रह करने वाला। यह संसार के सभी घटना चक्रों में उत्तम चीजों का ही संकलन करता है। प्रतीयमान असफलताओं व कष्टों में भी शुभ को देखता है। यही तो प्रभु का सच्चा गायन करने वाला है। यह अपने साथियों से कहता है कि मैं तो उस [**इन्द्रं**]=परमैश्वर्यशाली प्रभु को [**हुवे**]= पुकारता हूं जो कि [**वः**]=आप सबको [**तरोभिः**]=वेगों के द्वारा, स्फूर्ति के साथ किये जाने वाले कार्यों के द्वारा[**विदद्वसुम्**]=उत्तम धन व रत्नों को प्राप्त कराने वाला है। मैं उस प्रभु को पुकारता हूं जो कि [**भरं**]=मेरा भरण करने वाले हैं [**न**]=और (न=च) [**कारिणम्**]=मुझे पुरुषार्थ कराने वाले हैं। वस्तुतः [**सबाधः**]=(बाध्=आलोड़न) इस संसार समुद्र का आलोड़न करने वाले व्यक्ति [**ऊतये**]=रक्षा के लिये [**सुत सोमे अध्वरे**]=जिसमें शक्ति उत्पन्न की गई है उस हिंसाशून्य जीवन में [**बृहद् गायन्तः**]=उस प्रभु का खूब गान करने वाले होते हैं। परमेश्वर का सच्चा उपासक (१) अपने जीवन में शक्ति का संपादन करता है (२) किसी की हिंसा नहीं करता (३) संसार समुद्र का मन्थन करने वाला होता है अर्थात् आलसी नहीं होता। (४) अनुकूल प्रतिकूल सभी घटनाओं में अविचलित हो प्रभु का गायन करता है।

इस मंत्र का ऋषि कलि इस तत्व को समझ चुका है कि प्रभु हमें सब आवश्यक उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त कराते हैं, वे विदद्वसु हैं। परन्तु कब? जबकि हम (१) तरोभिः=वेगों से युक्त हों, हमें आलस्य छू न गया हो। (२) सबाधः हम संसार समुद्र का आलोड़न करें, व्याकुल हो किनारे पर ही न बैठे रह जायें (३) कारिणम्=प्रभु की प्रेरणानुसार कर्म करते चलें। वे प्रभु कारी हों, मैं कर्ता बन् तब।

भावार्थ—क्रियाशील बन मैं वसु प्राप्ति का अधिकारी होऊं।

मैं प्रभु को झुकाता हूं (आत्मा का सारथि–बुद्धि)

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तरणिरित् सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव
३ १ २
सुद्रुवम् ॥६॥२३८॥

गत मंत्र का केन्द्रीभूत विचार यह था कि (१) मनुष्य वेग से, आलस्य को परे फैंककर, कार्य में जुट जाता है (२) संसार समुद्र का मन्थन करता है (३) और उस 'कारी' प्रभु के निर्देशानुसार करने वाला बनता है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार कार्य में लगा रहता है वह वासनाओं को तैर जाता है और 'तरणि' कहलाता है। यह [**तरणिः**]=ही [**इत्**]=सचमुच [**वाजम्**]=शक्ति, त्याग व ज्ञान को [**सिषासति**]=सम्यक् सेवन करता है। वासनाओं को तैरे विना शक्ति, त्याग व ज्ञान को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु क्या वासनाओं का तैरने वाला आत्मा अकेला ही यह कर लेता है? उत्तर है कि नहीं। ऐसा वह तभी कर पाता है जबकि [**पुरन्ध्या युजा**]=पालक और पूरक बुद्धि से वह संयुक्त होता है। (पृ पालनपूरणयोः से पुरं, धी=बुद्धि)। आत्मा रथी है तो बुद्धि भी सारथि है। बुद्धि के बिना यह शरीर रूप रथ रथी आत्मा को उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुंचा सकता। कृष्ण के बिना क्या अर्जुन युद्ध को जीत सकता था? कर्ण को भी कृष्ण जैसे सारथि का होना आवश्यक लगा और उन्होंने शल्य को सारथि मनोनीत कराया। एवं तरणि आत्मा पुरन्धी से युक्त हो वाज का सेवन

कर पाता है। और यही तरणि [**वः इन्द्रं**]=हम सबके लिये उस परमैश्वर्यशाली [**पुरुहूतं**]=बहुतों से पुकारे जाने योग्य उस प्रभु को [**गिरा**]=वेदवाणियों के द्वारा [**आनमे**]=अपने प्रति नत=झुकाव वाला—कृपादृष्टि वाला बनाता है। [**इव**]=जिस प्रकार [**तष्टा**]=बढ़ई=कारु [**सुद्रुवम् नेमिं**]=उत्तम लकड़ी वाली नेमि को झुकाता है।

यहां प्रभु को अपनी ओर झुकाव वाला करने के दो साधनों का संकेत है। (१) [**गिरा**]=वेदवाणी के द्वारा तथा (२) [**तष्टेव**]=बढ़ई की तरह उत्पादक कार्य में लगे रहने के द्वारा ज्ञान और कर्म ही वे दो साधन हैं जो कि हमें प्रभु की कृपा के पात्र बनाते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्म में लगे रहना ही प्रभु के प्रिय बनने का मार्ग है।

प्रभु को यहां 'सुद्रुव नेमि' का रूपक दिया है। उत्तम लकड़ी वाली नेमि सदा झुकने को तैयार है। प्रभु सदा कृपा के लिये उद्यत हैं। वहां कुशल बढ़ई की आवश्यकता है, इधर ही कर्मों को कुशलता से करने वाले जीव की आवश्यकता है। प्रभु इस संसार-चक्र की नेमि के समान भी हैं, वे ही इन पिण्डों को विच्छिन्न नहीं होने देते।

एवं जीव का कर्तव्य यही है कि वह वासनाओं को जीतकर 'वशिष्ठ' बने। वासना विजय के लिये ही प्राणापान की साधना करने वाला, 'मैत्रावरुणि' बने। यह मैत्रावरुणि वसिष्ठ ही तरणि है। यही प्रभु की कृपा का पात्र होता है।

भावार्थ—मैं तरणि बनूं, पालक व पूरक बुद्धि से युक्त बनूं, बढ़ई की तरह उत्पादक कार्यों में लगा रहूं और प्रभु को अपने प्रति कृपा प्रवण करूं।

कृपा-प्रवण प्रवण प्रभु का उपदेश

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ १
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३स्याँ अवन्तु ते
१ २
धियः ॥७॥२३९॥

गत मंत्र में वसिष्ठ प्रभु को अपने प्रति कृपा प्रवण करते हैं। प्रभु कृपालु होकर अपने प्रिय जीव से कहते हैं [**पिबा नः सुतस्य**]=इस हमारे उत्पादित सोम-वीर्य शक्ति का तू अपने अन्दर पान कर। और इस सोम के पान के द्वारा अपनी ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके सुतस्य=ज्ञान का पान कर। ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ 'ज्ञान का भक्षण' ही तो है। यह ब्रह्म=ज्ञान का चर=भक्षण ही ब्रह्म की ओर चलने का मार्ग है। इस सोम का पान तू इसलिये कर कि यह (१) [**रसिनः**]=तेरे जीवन को रस वाला बनायेगा—तेरी वाणी से उच्चरित शब्दों में माधुर्य होगा। तथा (२) [**गोमतः**]=(गावः इन्द्रियाणि, मतुप्=प्रशंसायाम्) यह तुझे प्रशस्त इन्द्रियों वाला बनायेगा। यह सोम का पान तेरे चरित्र में प्रशस्तता को तथा व्यवहार में मधुरता को उत्पन्न करेगा। इस प्रकार ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव तू [**मत्स्वा**]=जीवन को आनन्दमय बना। जीवन का वास्तविक आनन्द माधुर्य व इन्द्रिय नैर्मल्य में ही है।

प्रभु के इस उपदेश को सुनकर इस मंत्र का ऋषि 'मेधातिथि'=निरन्तर मेधा की ओर चलने की कामना वाला यह जीव प्रभ से कहता है:—

(१) [**आपिः नः**]=आप ही हमारे बन्धु हो। आपने हमें अपने अन्दर व्याप्त किया हुवा है। तभी आप हमारे हृदयों में व्याप्त हो रहे हो। (२) [**बोधि**]=आप हमें बोध दीजिये। हम आपकी शरण में हैं। आप हमें इसलिये ज्ञान दीजिये कि (क) [**सधमाद्ये**]=हम आपके साथ (सह) रहने में हर्ष का अनुभव करें। ज्ञान के अभाव में जीव प्रभु से दूर और प्रकृति की ओर भागता है। ज्ञानरुचि होने पर उसे प्रभु सान्निध्य में आनन्द आने लगता है। (ख) आप हमें इसलिये बोध दीजिये कि [**वृधे**]=हम सदा वृद्धि व उन्नति के मार्ग का आक्रमण करने वाले बनें। ऐ परम उदात्त मित्र? [**अस्मान्**]=हमें [**ते**]=आपकी

[**धियः**]=दी हुई बुद्धियां [**अवन्तु**]=संसार समुद्र में डूबने से बचायें। हम आपके निर्देशों की उपेक्षा न करें। और उनके अनुसार चलते हुए अपने कल्याण को सिद्ध करने वाले हों।

भावार्थ—मैं सोम=शक्ति व ज्ञान के पान से अपने जीवन को मधुर व प्रशस्तेन्द्रिय बनाऊं। ज्ञान की रुचि वाला बनकर प्रभु के सम्पर्क में आनन्द का अनुभव करूं और सदा उन्नति-पथ पर आगे और आगे बढ़ता चलूं।

धन के तीन विनियोग

२उ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ १ २
त्वं ह्ये हि चेरवे विदा भगं वसुत्तये। उद्वा-
३ १ २ ३ २ ३ १ २
वृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये॥
८॥२४०॥

ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्य शाली प्रभो! [**त्वं**]= आप ही=निश्चय से [**चेरवे**]=निरन्तर चरणशील क्रियाशील मेरे लिये [**एहि**]=आइये। प्रभु उस व्यक्ति को ही प्राप्त होते हैं जो कि क्रियाशील है। अकर्मण्य व्यक्ति कभी भी प्रभु का प्रिय नहीं नहीं होता। god helps those who help themselves 'न ऋते श्रान्तस्य सख्यायदेवाः' देवता श्रमशील के ही तो सहायक हैं। ऐ प्रभु मुझ श्रमशील को आप प्राप्त होइये और [**भगं विदा**]= ऐश्वर्य को प्राप्त कराइये। (विद्=provide)। ये ऐश्वर्य मुझे आप क्यों प्राप्त कराइये? [**वसुत्तये**] =धन देने के लिये। (वसु+दा+ति)। धन का सर्वोत्तम विनियोग 'दान' ही है। मनुष्य दान से अपनी पापवृत्तियों को नष्ट करके अपना परिमार्जन कर लेता है। 'दानं भोगो नाशः' इन शब्दों में भर्तृहरि ने धन की सात्विक, राजस व तामस तीन गतियों का उल्लेख किया है। दान ही धन की सात्विकगति है। इससे बढ़कर धन का सुन्दर विनियोग नहीं है। (२) ऐ [**मघवन्?**] ऐश्वर्यशाली प्रभो? आप से प्राप्त कराया हुआ धन निष्पाप है (मा+अघ)—उसमें पाप का लवलेश भी नहीं। उस धन को आप [**उत् वावृषस्व**]= मेरे पर खूब ही बरसाइयै। ताकि [**'गविष्टये'**]= मेरा ज्ञानेन्द्रियों का यज्ञ खूब चले। (गावः ज्ञानेन्द्रियाणि, इष्टि=यज्ञ)। धन का दूसरा उत्तम विनियोग यही है कि मैं उससे ज्ञान के साधनों को जुटाने में लग जाऊँ। सोफासेट व साड़ियाँ ही मेरे धन को समाप्त न कर लें। ज्ञानयज्ञ में धन का व्यय भी सात्विक व्यय है। (३) ऐ [**इन्द्र?**]= (उत् वावृषस्व) अवश्य मेरे पर बरसिये, ताकि [**अश्वम् इष्टये**]=मेरा कर्मेन्द्रियों का यज्ञ ठीक चले। अश्व=कर्मों में व्याप्त होने वाली इन्द्रियां। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान यज्ञ चले, तो कर्मेन्द्रियों से कर्म यज्ञ चलते रहें। ज्ञानयज्ञ के लिये स्वाध्याय के साधनों को जुटाना था, अब कर्मयज्ञों के लिये सामग्री को जुटाना है। तैत्तिरीय में इन्हीं दोनों विनियोगों का उल्लेख 'विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च' इन शब्दों के अन्दर हो गया है धन का इससे अधिक सुन्दर विनियोग नहीं है कि (१) उसका दान किया जाय (२) उसका ज्ञानयज्ञ में विनियोग हो, तथा (३) अग्निहोत्रादि कर्मयज्ञ किये जांय।

धन के इन तीन विनियोगों को करने वाला व्यक्ति ही 'धन्य' है। वही सुकृती व पुण्यवान् है। इसी ने वस्तुतः धन को पाया है। इनसे भिन्न व्यक्तियों को तो धन ने ही वशीभूत करके अपना शिकार बनाया हुवा है। जो व्यक्ति इस धन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ अर्थात् जिसने धन का ठीक विनियोग किया 'वही' 'भर्ग'=ठीक परिपाक वाला शुद्ध चमकते हुए जीवन वाला बना। धन का दास न बनकर यह प्रभु का सच्चा गायन करने वाला 'प्रागाथ' कहलाया है।

भावार्थ—मैं प्रभु कृपा से धन को प्राप्त करूं। उसे दान, ज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञमें विनियुक्त करूं।

[कामी का भी सोमपान, प्राणों की आराधना]

१र २ र ३ २ ३ १र २र ३ १ २
न हि वश्चरमं च न वसिष्ठः परिमंसते।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबन्तु
३ १ २
कामिनः॥६॥२४१॥

शरीर में प्राण मुख्यरूप से 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान' इन ५ भेदों में तथा 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनंजय' इन ५ गौणभेदों से तथा कितने ही अन्य उपभेदों से विभक्त होकर कार्य कर रहा है। ये प्राण के ४९ भेद ही 'मरुत:' कहलाते हैं। इनको वशीभूत करके चित्तवृत्तियों के दमन द्वारा जो व्यक्ति इन्द्रियों को शान्त करता है वह 'वसिष्ठ' कहलाता है। प्राणापानों की साधना के कारण ही यह 'मैत्रावरुणि' है। (मित्रावरुणौ=प्राणापानौ)।

प्राणापान का संयम वशी बनने का सर्वोत्तम प्रकार है। वशिष्ठ किसी गौण भी प्राणभेद की उपेक्षा नहीं करता। वह कहता है कि [**मरुत:**]=हे मरुतो ? [**व:**]=आपके [**चरमं च न**]=अन्तिम प्राणभेद को भी [**परि**]=छोड़कर (परे वर्जने) [**वसिष्ठ:**]=मैं वसिष्ठ [**न हि मंसते**]=न ही आराधना करता हूं। मैं सभी मुख्य, गौण व गौणतरभेदों से भिन्न प्राणों की स्तुति करता हूं। सभी को आराधित करने का प्रयत्न करता हूं। इन प्राणों के वश में करने का ही यह परिणाम है कि [**अस्माकं**]= [**अद्य**]= आज [**विश्वे कामिन:**]=नाना प्रकार के भोगों की कामना करने वाले ये सब प्राण [**सचा**]=मिलकर [**सुते**]=(सुत का द्विवचन) सोम व ज्ञान का [**पिबन्तु**]=पान करें। 'सुतन्तु' शब्द सोम=vitality—का भी वाचक है, तथा ज्ञान का भी। जब तक मनुष्य प्राणों की साधना नहीं करता तब तक उसकी प्राणशक्ति उसके भोगों के भोगने में व्यपित होती है और ज्यूँही उसने इन प्राणों की साधना कर ली त्यूंही ये कामी न रह कर सोम व ज्ञान का पान करने वाले बन जाते हैं। सुते शब्द यहाँ द्वितीया का द्विवचन है। सुतों को, ज्ञान को, वीर्यको। जैसे न सधाये हुए घोड़े मनुष्य के रथ को किसी भी गर्त में ले जा गिराते हैं, उसी प्रकार अवशी भूत प्राण भी मनुष्य के भोग भुगाने में सहायक होते हैं। परन्तु वे ही प्राण सधे होने पर सुशिक्षित घोड़ों की तरह हमारी उद्देश्य प्राप्ति में सहायक होते हैं। मनुष्य कामी न रह कर सोमपान करने वाला इन्द्र बन जाता है। कितना महान् यह परिवर्तन उसके जीवन में आ जाता है।

भावार्थ—मैं कामी न रह कर सोमपान करने वाला बन जाऊँ।

केवल उस प्रभु का शंसन

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र३ १ २
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१०॥२४२॥

गत मंत्र की भावना के अनुसार प्राणों की साधना करके एक व्यक्ति जहां अपने शरीर को स्वस्थ बनाता है वहां अपने मन को भी निर्मल बनाता है और बुद्धि को तीव्र। ऐसा अपना जीवन बनाकर यह इसी निर्णय पर पहुंचता है कि :— [**सखाय: ?**]=ऐ मित्रो ? [**अन्यत्**]=प्रभु को छोड़ किसी अन्य का [**मा चित्**]=नहीं ही [**विशंसत**]=शंसन करो। केवल प्रभु के ही उपासक बनो। केवल प्रभु के उपासक बनने का यह परिणाम होगा कि [**मा**]=मत [**रिषण्य**]=हिंसित हो वो। जब मनुष्य प्रभु को छोड़ प्रकृति व जीवों का उपासक बनता है तो हो सकता है कि वह संसारिक दृष्टिकोण से कुछ आगे बढ़ा प्रतीत हो, परन्तु उसे वास्तविक शान्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये इस मंत्र का ऋषि 'प्रगाथ'=उस प्रकृष्ट प्रभु का गायन करने वाला घोर=उदात्त स्वभाव वाला काण्व:=अत्यन्त मेधावी कहता है कि [**इन्द्रम् इत्**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही [**स्तोत**]=स्तुत करो [**वृषणम्**]=उस प्रभु को जो कि सब प्रकार के सुखों की वर्षा करने वाले हैं। प्रभु परमैश्वर्य वाले होने के साथ वरसने भी वाले हैं। सो [**सुते**]=इस उत्पन्न जगत् में [**सचा**]=मिलकर [**मुहु:**]=फिर फिर [**उक्था च**]=स्तोत्रों का [**शंसत**]=शंसन करो। घरों में प्रातः सायं अवश्य ऐसा समय होना चाहिये जब कि घर में सभी मिलकर प्रभु का स्तवन करें। उस समय प्रभुस्तवन के अतिरिक्त कोई भी कार्य घर के वातावरण में न हो। सेवक भी

उसमें उपस्थित होकर प्रभु के संपर्क में होने के लिये यत्नवान् हो। इस प्रकार का सम्मिलित स्तवन सारे वायु मण्डल को उत्कृष्ट बनाता है। हमारे में प्रभु की शक्ति का संचार होता है। हमारा जीवन प्रभुमय होकर वासनाजाल से ऊपर उठता है और परिणामतः ऊँचा बनता है। प्रभु के उपासन में ही अक्लमन्दी है।

भावार्थ :—हम केवल प्रभु के उपासक बनें।

* * *

।। १ ।। ऋषिः—१ आङ्गिरसः पुरुहन्मा; २, ३ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च; ४ विश्वामित्रः; ५ गौतमः; ६ नृमेधपुरुमेधौ; ७—९ मेध्यातिथिः; १० देवातिथिः काण्वः ।। देवता—इन्द्रः ।। छन्दः—बृहती ।। स्वरः—मध्यमः ।।

न कर्मों से, न यज्ञों से

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
न किष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदावृधम्।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णु-
२र
मोजसा ।।१।।२४३।।

पुरुहन्मा आंगिरस=पालक व पूरक हिंसा व गति वाला अर्थात् जिसकी तोड़-फोड़ व निर्माण दोनों ही पालन व पूरण के दृष्टिकोण से होते हैं वह 'आंगिरस'=अंग-अंग में शक्ति से परिपूर्ण व्यक्ति कहता है कि [**तं**]=उस प्रभु को [**कर्मणा**]=भिन्न-भिन्न कामनाओं से किये जाने वाले कर्मों से [**न किः**]=नहीं कोई भी [**नशत्**]=प्राप्त करता है। [**यः**]=जो प्रभु [**सदावृधम् चकार**]=सदा हमारी वृद्धि करने वाले हैं। कर्मों से व यज्ञों से प्राप्त होने वाला स्वर्ग फिर-फिर क्षीण होने वाला है। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'=कर्मों व यज्ञप्लवों पर आरूढ व्यक्ति स्वर्ग को भोगकर फिर इस मर्त्यलोक में आ गिरते हैं। ब्रह्मलोक 'सदावृध' लोक है। उस [**इन्द्रं**]=परमैश्वर्यशाली प्रभु को [**न यज्ञैः**]=यज्ञों से भी मनुष्य प्राप्त नहीं करता। इन यज्ञों के द्वारा भी मनुष्य नाना वस्तुओं व लोकों की कामना करता है, और परिणामतः उन्हीं को पा पाता है नकि प्रभु को। उस प्रभु को, जो कि [**विश्वगूर्तम्**]=सारे ब्रह्माण्ड का उद्यमन—धारण करने वाले हैं। [**ऋभ्वसम्**]=(ऋभुअसम्) 'उरुभाति'=खूब देदीप्यमान व सब मलिनताओं को दूर फेंकने वाले हैं, [**अधृष्टम्**]=काम-क्रोधादि से जिनका धर्षण कभी नहीं होता और [**ओजसा धृष्णुम्**]=ओज के कारण सभी हीन भावनाओं का धर्षण करने वाले हैं।

इस प्रभु को तो वही पा सकता है जो कि प्रभु की ही तरह विश्व का धारण करने वाला बनता है 'सर्वभूतहिते रताः'=सब प्राणियों के हित में लगा होता है। ज्ञान से चमकता है और वासनाओं को ज्ञानाग्नि में भस्म कर देता है, कभी भी कामादि से आक्रान्त नहीं होता और ओज से सभी शत्रुओं का पराभव करता है। कर्मों और यज्ञों से प्रभु को पाने का संभव नहीं। 'नास्त्यकृतः कृतेन'=वह अकृत प्रभु कृत-कर्मों से कैसे प्राप्य हो सकते हैं। 'प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'=प्रभु को प्राप्त कराने के लिये इन यज्ञरूप अदृढ़ प्लवों में शक्ति नहीं, ये तो स्वर्गादि उत्तम लोकों को ही प्राप्त करा सकते हैं।

प्रभु को पाने के लिये ये कर्म व यज्ञ जब निष्कामता से किये जाते हैं तभी साधक हो पाते हैं। 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इस पंक्ति में निष्काम कर्म का ही अभिप्राय है। 'एतान्यपि तु कर्माणि सगंत्यक्त्वा फलानि च' यही तो कृष्ण की निश्चित अन्तिम सम्मति है कि संग छोड़कर ही कर्म व यज्ञ करना। सकाम कर्म व नाम यज्ञ तो हमें प्रभु से दूर ही रखेंगे।

भावार्थ—मैं निष्कामता से कर्म व यज्ञ को करता हुवा प्रभु को प्राप्त करूं।

वह महान् चिकित्सक

२ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३१२ ३१ २
य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
१ २ ३ २ ३१२ ३२३१२ ३
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं
१२
पुनः ॥२॥२४४॥

निष्काम कर्मों व यज्ञों से हम उस प्रभु को पाते हैं [**यः**]=जो कि [**अभिश्रिषः ऋते चित्**]= सन्धान द्रव्य के विना ही, [**जत्रुभ्यः आतृदः पुरा**]=(Coller bone) ग्रीवास्थि से पूरा-पूरा कट जाने से पहले, अर्थात् यदि गला ही अलग न हो गया हो तो, [**सन्धिं सन्धाता**]=जोड़ों को फिर जोड़ देने वाला है। संसार में किस प्रकार वे व्यक्ति भी जिनको कि डाक्टर असाध्य रोगी ठहरा देते हैं ठीक होते देखे जाते हैं। किस प्रकार प्रकृति मनुष्य को स्वस्थ कर देती है। किस प्रकार की प्रार्थना पर हुमायूं ठीक होता गया और उसके रोग से बाबर समाप्त हुआ। ये सब चीजें प्रभु की अनिर्वचनीय महिमा को प्रकट करती हैं। आयुर्वेद में अन्तिम औषध 'भगवत् नाम स्मरण' है। भगवान् के नाम स्मरण से मनोवृत्ति में अन्तर आकर अन्दर की सोमशक्ति रोगों को दूर कर देती है। बिलकुल लटक गयी हड्डियों के जोड़ भी फिर से जुड़ जाते हैं। उस समय कितना आश्चर्य प्रतीत होता है। वे प्रभु सचमुच [**मघवा**]=पवित्र ऐश्वर्य वाले हैं [**पुरुवसुः**]=पालक और पूरक निवास को देने वाले हैं। [**विह्रुतं**]=कटे हुए को [**पुनः निष्कर्ता**]=फिर संस्कृत कर देने वाले हैं। संसार में होने वाली ये अद्भुत घटनायें हमें उस प्रभु का स्मरण कराती हैं। शरीर के अन्दर सारे के सारे सन्धिबन्ध बिना चिपकाने वाली चीजों के बंधे हैं। उन बन्धनों को देखकर ही उस अद्भुत कृति वाले प्रभु के प्रति हम नतमस्तक हो उठते हैं। सचमुच 'मेधातिथि'=ज्ञान-मार्ग पर निरन्तर चलने वाला व्यक्ति शरीर के अंग-प्रत्यंग की रचना में उस मेध्य=पवित्र प्रभु के माहात्म्य को देखता है और उसकी ओर चलने वाला बनकर 'मेधातिथि' हो जाता है। मेधातिथि से आज वह मेध्यातिथि बना है।

सूचना—'पुरा जत्रुभ्य आतृदः'='गला ही न कट गया हो' ये शब्द वेद के Realism वास्तविकतावाद को कितनी उत्तमता से सूचित कर रहे हैं। कुछ मूल बचा हो तो प्रभु कृपा से रोगी ठीक हो ही जाता है। सूरदास ने 'जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै' कविता में इस भावना का सुन्दर चित्रण किया है।

भावार्थ—हम प्रभु की महिमा को समझें और उसके उपासक बनें।

ज्योतिर्मय रथ में

१ २ ३२३ २ ३२ ३ १२ २२ ३ १२
आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
२ २३ १२ ३ २ ३ १२३ १२
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोम-
पीतये ॥३॥२४५॥

मेधातिथि पुरुष मेध्यातिथि बनता है। उसकी सभी चित्त-वृत्तियां कोई भी कार्य करती हुई उस प्रभु का ध्यान करती हैं। उसकी ये चित्त-वृत्तियां [**ब्रह्मयुजः**]=उसे ब्रह्म से मिलाने वाली होती है। सदा ब्रह्म की ओर लगी होने से ही ये [**केशिनः**]=प्रकाश वाली होती हैं। चित्त वृत्तियों के सदा प्रकाशमय होने से यह शरीर रूप रथ प्रकाशमय रहता है—ज्योतिर्मय होता है। इसी से मंत्र में कहते हैं कि [**हिरण्यये रथे**]=इस ज्योतिर्मय शरीररूप रथ में [**युक्ताः**]=युक्त [**सहस्रं शतम्**]=सैंकड़ों व हजारों अथवा सदा प्रसन्नता से युक्त सैंकड़ों चित्तवृत्तियां [**त्वा**]= तुझे [**आ**]=सर्वथा [**सोमपीतये**]=शक्ति व ज्ञान के पान के लिये [**आवहन्तु**]=प्राप्त करायें।

हमारी चित्तवृत्तियां इस विविध रूपों वाली सृष्टि में विविध रूपों वाली हों यह स्वाभाविक

है। जब यह इस संसार के विषयों में उलझ जाती हैं तो क्षणिक आनन्दों के बाद यह विषादमय हो जाती हैं। परन्तु यदि संसार में विचरती हुई भी ये प्रभु को भूलती नहीं तो ये सदा प्रसादमय बनी रहती हैं। बड़ी से बड़ी सांसारिक विपत्ति में भी ये अपने हास्य व विकास को नहीं छोड़तीं। इसी से मंत्र में इन्हें 'सहस्रम्' (स-हस्)=हास्य सहित कहा गया है। प्रभु से दूर न होने के कारण ही ये सदा प्रकाश में रहती हैं—ऐसे व्यक्ति को कभी भी अपना कर्तव्यपथ अन्धकारमय नहीं प्रतीत होता। इसे अपना कर्तव्य स्पष्ट दिखता है। इसी को काव्य की भाषा में इस प्रकार कहते हैं कि उसका शरीररूप रथ ज्योतिर्मय रहता है। अन्त में ये ही चित्तवृत्तियां हमें प्रभु से मिलाने वाली—हमारा प्रभु से सायुज्य करने वाली होती हैं। सो मंत्र में 'ब्रह्मयुजः' कहलायी हैं। चूंकि ऐसे मनुष्य को सदा इस बात का ध्यान रहता है कि वह अपने इस शरीर के अन्दर सर्वोत्तम वस्तु सोम को उस महान् सोम=ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ही विनियुक्त करे सो ये चित्तवृत्तियां उसे सोमपान की ओर ले जाती हैं। शक्ति की रक्षा के द्वारा ही अपनी ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करके यह निरन्तर ज्ञान रूप सोम के पान में आनन्द का अनुभव करता है।

मंत्र में चित्तवृत्तियों को [**हरयः**]=शब्द से कहा गया है—ये हमें उन-उन विषयों में हर ले जाती हैं। परन्तु ऐ इन्द्र! इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव तुझे तो ये सोमपान के लिये ही प्राप्त करायें।

भावार्थ—हमारी चित्तवृत्तियां 'हरयः' के स्थान में 'ब्रह्मयुजः' हो जांय। विषयों के स्थान में ब्रह्म की ओर जाने वाली हों।

मृगतृष्णा में न फंसे

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ उ ३ २उ ३
मा त्वा के चिन्नियेमुरिन्न पाशिनोऽति
१ २ ३ १ २
धन्वेव ताँ इहि ॥४॥२४६॥

गतमंत्र में चित्तवृत्तियों का प्रकरण चल रहा था। इस मंत्र में उन्हीं का उल्लेख करते हुए प्रभु जीव से कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू [**मन्द्रैः**]=सदा प्रसन्नता से परिपूर्ण—प्रसादगुण युक्त [**मयूररोमभिः**]=(मिनन्ति हिंसन्ति दुर्विचारान्, रोमाणि=(शब्दाः स शब्दे) दुर्विचारनाशक प्रभुवाचक ओम् आदि शब्दों वाली [**हरिभिः**]=चित्तवृत्तियों से [**आयाहि**]=मुझे प्राप्त हो। प्रसन्न चित्त वाले की ही तो बुद्धि पर्यवस्थित होती है। और स्थितप्रज्ञ ही प्रभु को पाने में समर्थ होता है। मनुष्य प्रसन्न रहे और योग के शब्दों में "तस्यवाचकः प्रणवः, तज्जपः, तदर्थभावनम्"=उस प्रभु के वाचक प्रणव=ओम् का जप करे। सब क्रियाओं को प्रसन्नता से करते हुए प्रभु को न भूले। बस, यही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है।

प्रभु तक न पहुंच सकने का कारण यही तो है कि मनुष्य को संसार के विषय बीच में ही बांध लेते हैं और मनुष्य प्रभु तक पहुंचता नहीं। विषय इसी लिये विषय हैं कि ये विशेष रूप से (षिञ् बन्धने) बांध लेते हैं। यहां इन्हें [**पाशिनः**]=पाश वाले, पाशों से जकड़ लेने वाला कहा है। ये जाल में बांध कर तेरा घात (जल=घातने) करने वाले [**केचित्**]=कोई भी विषय [**त्वा=मा इत् नियेमुः**]=तुझे मत ही रोक लें, प्रभु की ओर जाते हुए मनुष्य को मध्य में ही रोक लेने वाले ये विषय ही हैं। ये इतने चमकीले हैं कि हमारी आंख इनसे आकृष्ट हो ही जाती हैं और ये हमारे मन को लुब्ध कर लेते हैं। प्रभु जीव से कहते हैं तू [**धन्वा इव**]=रेगिस्तान की तरह [**तान् अति इहि**]=उनको पार कर जा, लांघ कर आगे निकल जा। वस्तुतः ये विषय रेगिस्तान की तरह हैं। रेता के कणों पर सूर्य किरणें पड़ती हैं, वे रेत के कण चमकते हैं, जल की तरह प्रतीत होते हैं। एक मूढ़ हरिण प्यास को बुझाने के लिये उधर दौड़ता है, पर वहां पानी थोड़े ही होता है! कुछ दूरी पर आगे फिर दीखता है, वह आगे दौड़ता है, पर वहाँ भी क्या उसकी प्यास बुझ पाती है? फिर आगे दौड़ता

है और इसी प्रकार थक कर समाप्त हो जाता है। यही मनुष्य रूपी मृग की विषयों में गति होती है। उनसे उसकी प्यास बुझती नहीं। आगे और आगे बढ़ता है, १००, १०००, १००००; लाख करोड़ अरब का क्रम चलता है, और इस चक्कर में ही चकरा कर उसका अन्त हो जाता है। वह वास्तविक शान्ति को नहीं पा पाता। शान्ति तो मिले, अर्थ से प्यास बुझे तब ना ! पर अर्थ तो अनुतर्षुल है—प्यास को बढ़ाता है, बुझाता नहीं 'अनुतर्षुल एवार्थः स्वादुगांगमिवोदकम्'। इसलिये इस विषयों के प्रेम से तो ऊपर उठकर ही हम प्रभु को पा सकते हैं। इस विषय-प्रेम से ऊपर उठने की ही साधना यह है कि हम अपने प्रेम को व्यापक बनाकर 'विश्वामित्र बन जांय। 'विश्वामित्र' विषयमित्र नहीं रहता। यही प्रभु का सच्चा स्तोता 'गाथिनः' कहलाता है। यही इस मंत्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम इस तत्व को समझें कि विषय मरुस्थल हैं—वहां हमारी प्यास नहीं बुझ सकती।

(Detachment) अनासक्ति के दो तत्त्व

२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्।
२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते
१ २
वचः ॥५॥२४७॥

इस मंत्र का ऋषि 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियों वाला 'राहूगण':=त्यागियों में गिनती करनें योग्य है। ऐसा ही व्यक्ति तो प्रभु को प्रिय हो सकता है। इससे प्रभु कहते हैं कि ऐ [**अंग**]=क्रियाशील अतएव प्रिय ? [**त्वं**]=तू [**मर्त्यम्**]=मरणधर्मा पुरुष की [**प्रशंसिषः**]=प्रशंसा ही करना निन्दा नहीं। अंग इस संबोधन में यह संकेत स्पष्ट है कि जो सदा क्रिया में लगे होते हैं उनकी वृत्ति दूसरों के दोष देखने की नहीं बना करती, और ऐसे ही व्यक्ति प्रभु के प्रिय भी होते हैं। अकर्मण्य व आलसी पुरुष दूसरों के दोष ही सदा देखा करते हैं और कभी प्रभु के प्रेम के पात्र नहीं हो पाते। 'मर्त्यम्' शब्द यह संकेत कर रहा है कि मनुष्य तो किसी न किसी चीज के पीछे मरता ही है—अर्थात् उसमें तो कोई न कोई कमी होती ही है—कमी को देखकर क्या करना, कमी को न देखकर प्रशंसात्मक बात को देखने वाला बनकर ही तू [**देवः**]=देव बनता है। दोष देखने पर तेरे में भी दोषों की ही वृद्धि होने लगेगी। अतः दोष दर्शन को छोड़कर तू अच्छाईयां ही देखने वाला बन। [**शविष्ठ**]=तू तो अत्यन्त शक्तिशाली है। कमज़ोर लोग ही दोष देखा करते हैं। और दोषों को देखने से वे और हीन व निर्बल होते जाते हैं। दोष देखना (१) मनुष्य को प्रभु प्रेम से वंचित करता है (२) यह उसे देव न बनाकर दानव बनाता है (३) और इससे उसकी शक्ति क्षीण होती है। सो हमें चाहिये कि हम प्रशंसात्मक शब्दों का ही सदा उच्चारण करते हुए (१) प्रभु के प्यारे बनें (२) देव बनें (३) और शक्तिशाली बनें।

यह व्यक्ति प्रभु से कहता है कि—ऐ [**मघवन्**]=पापशून्य ऐश्वर्य वाले प्रभो ! [**त्वदन्यः**]=आपसे भिन्न [**मर्डिता**]=मेरे जीवन को सुखी बनाने वाला [**न अस्ति**]=नहीं है। संसार का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को अन्त में इसी परिणाम पर पहुंचाता है कि प्रभु के अतिरिक्त कोई अन्त तक साथ देने वाला नहीं है। यदि मनुष्य इस सिद्धान्त को समझकर अनासक्त रूप से अपना कर्म करता जाय और व्यर्थ ही औरों पर बड़ी आशाओं को न लगाकर चले तो उसका जीवन बड़ा ही सुखी बीतेगा। सो गोतम तो यही निश्चय करता है कि [**इन्द्र**]=ऐ परमैश्वर्य वाले प्रभो ? [**ते वचः ब्रवीमि**]=मैं तो आपके ही स्तुति वचनों का उच्चारण करता हूं। वूलसे ने जन्मभर हैनरी की सेवा करके अन्त में यही अनुभव की बात कही कि यदि इस सेवा का शतांश भी मैंने हैनरी के स्थान में हरि को अर्पित किया होता तो इस समय मैं

इस प्रकार छोड़ न दिया जाता और निराशा के समुद्र में मुझे न डूबना होता।

एवं, एक अनासक्ति के योग पर चलने वाला व्यक्ति सामाजिक जीवन में किसी को निन्दा नहीं करता और आध्यात्मिक जीवन में केवल प्रभु का आश्रय करता है—उसी को परागति मानता है।

भावार्थ—मैं परनिन्दा से परे (दूर) रहूं, पर प्रभु को ही परमाश्रय समझूं।

विजय पताका फहराते हुए

१ २   ३ १   २   ३ १र   २र ३ १ २
त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः।
२   ३ १ २   ३ २उ ३ २   ३ १ २
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत् पुर्वनुत्तश्च
३ १ २   ३
र्षणीधृतिः ॥६॥२४८॥

जो व्यक्ति अनासक्त भाव से कर्तव्यों को करता हुवा आगे बढ़ता चलेगा, वह अवश्य ही अपनी यात्रा में सफल होगा। प्रभु कहते हैं कि [**इन्द्र**]=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव [**त्वम्**]=तू [**यशा असि**]=यशस्वी है। तू अपनी यात्रा को पूर्ण करके विजय पताका को फहरा पाया है। यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति का सर्वप्रथम रहस्य यही है कि (१) तू इन्द्र बना है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता बना है। इन्द्रियां ही तो शरीर रूप रथ के घोड़े हैं। घोड़ों को जो व्यक्ति काबू कर पायेगा वही तो उन्हें निर्दिष्ट स्थान की ओर ले जायेगा।

(२) [**ऋजीषी**]—तू ऋजीषी है। ऋजीषी शब्द के तीन अर्थ हैं (क) पकड़ना saining (ख) परे धकेलना (driving away) (ग) आगे बढ़ना (Nastening towards)। इन्द्र ऋजीषी है। ये यात्रा के अन्दर बाधक बनने वालों को पकड़ता है—उन्हें परे धकेलता है और आगे बढ़ता है। कोई भी विघ्न इसकी यात्रा को विहत नहीं कर पाता।

(३) [**शवसः पतिः**]=यह शक्ति का पति है। शक्तिशाली होने से ही यह थक कर बीच में ही रुक नहीं गया, शक्ति के अभाव में ये अत्यन्त कठिन व लम्बी यात्रा कब पूरी हो सकती थी।

(४) [**त्वं**]=तू **अप्रतीनि**=(of matchless strength) अनन्त शक्तिवाले [**वृत्राणि**]=मार्गको रोकने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को [**एकःइत्**]=अकेला ही, औरों के भरोसे न बैठे रहने वाला ही, [**हंसि**]=नष्ट कर डालता है। 'तौ हि अस्य परिपंथिनौ' (गीता) ये काम-क्रोध जीव के परिपंथी=मार्ग निरोधक शत्रु हैं। जो इन्द्र होता है, वह इन्हें नष्ट कर डालता है। ठीक-ठीक बात तो यह कि इन्हें नष्ट किये बिना वह इन्द्र ही नहीं बन पाता।

(५) [**पुरु अनुत्तः**]=इस यात्रा में वह अपने रथ का 'पालन व पूरण' करता है। इस रथ को वह अतिभोजन, अतिजागरण, अतिस्वप्नादि की दलदल में फंसने से बचाता है। और स्वयं कभी भी शत्रुओं से विषय गर्त में धकेला नहीं जाता। यदि कभी वह इस दलदल में फंस जाता या गर्त में धकेला जाता तो क्या यात्रा पूर्ण होती है?

(६) **चर्षणीधृतिः**=इन्द्र इस यात्रा को पूरा कर पाया इसका अन्तिम रहस्य यह है कि यह 'मनुष्यों का धारण करने वाला' बना। 'सर्वभूतहितरेत' प्रभु का भक्त तम माना जाता है। लोकसेवा को वृत्ति विषय स्वार्थ में गिरने से उसे बचाती है। 'चर्षणी धृति' का एक और भी अर्थ है। वह यह कि—(चर्षणी=कर्षणी) ये कृषि व उत्पादक काम के सिद्धान्त को दृढ़ता से धारण करता है। तथा 'चर्षणयः द्रष्टारः' यह द्रष्टा बनने का प्रयत्न करता है। खेलने वाला उतनी अच्छी तरह खेल को नहीं देख पाता जितना कि 'खेल का द्रष्टा'। द्रष्टा बनने वाला संसार को ठीक रूप में देखता है और ठीक रूप में देखने वाला फंसता नहीं। इसी का परिणाम होता है कि यात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो जाती है। इस मंत्र के ऋषि 'नृमेधपुरुमेधौ आंगिरसौ' हैं। इस मंत्र का ऋषि आंगिरस तो है ही—'शवसस्पतिः'। नृमेध भी है—मनुष्यों से मेल को

बनाने वाला है (मेधृ संगमे) बिना इस मेल के उसके लिये अपना भी पालन व पूरण संभव न होता, औरों का तो पालन वह करता ही क्या ? सो यह 'पुरुमेध' है ।

भावार्थ—हमें इस जीवन में यह लक्ष्य रखना चाहिये कि अवश्य यात्रा को विजय-पताका फहराते हुए पूर्ण करना है ।

चतुर दिग्विजय

२ ३ २ ३१२ ३ १ २ ३क२र ३ २ १ २
इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे । इन्द्रं
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ।
॥७॥ ॥२४६॥

(१) [**देवतातये**]—देवत्व की वृद्धि के लिए [**इन्द्रमित्**]=उस ज्ञानरूप परमैश्वर्य वाले प्रभु को ही [**हवामहे**]=पुकारते हैं। हमारे जीवनों में सबसे पहला संग्राम प्रकाश (ज्ञान) व अंधकार का चलता है। 'हमारे अन्दर (दिव्—to shine) प्रकाश की वृद्धि हो और उत्तरोत्तर अन्धकार की घनता कम और कम होती जाय' इसके लिए हम प्रभु को पुकारते हैं। इस प्रथम युद्ध का क्षेत्र मानव-मस्तिष्क है। यदि यहां देवत्व की विजय हुई तो मनुष्य 'राम' बन जाता है और यदि अचानक देवत्व की हार हो गई तो वही मनुष्य 'रावण' बन जाता है। 'विद्वाँसो हि देवा:'=देव विद्वान् हैं। हम विद्वान् बनें, न कि अविद्वान् ही बने रह जांय। प्रभु कृपा से हमारे मस्तिष्क में ज्योति का प्रादुर्भाव हो।

(२) मानस क्षेत्र में [**यति**]=चल रहे [**अध्वरे**]=हिंसा की भावना से शून्य यज्ञों के निमित्त [**इन्द्रम्**]=उस रागद्वेषादि आसुर भावनाओंको भगादेने वाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु का स्मरण होने पर हमारा मन द्वेष का आधार उसी प्रकार नहीं बनता जैसे कि मस्तिष्क अन्धकार का। मस्तिष्क में प्रकाश ने अन्धकार पर विजय पायी थी, यहां मानस क्षेत्र में प्रेम द्वेष पर विजय पाता है।

(३) इसके बाद शरीर क्षेत्र में रोगों व वीर्य शक्ति में चलने वाले [**समीके**]=संग्राम में **वनिनः**=प्रशस्त विजय को चाहने वाले हम [**इन्द्रम्**]=रोगों के दूर करने वाले शक्तिपुंज प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु के स्मरण से विषय लाम्पट्यवृत्ति के भाग जाने पर सुरक्षित वीर्य शक्ति वस्तुतः ही सब रोगों को दूर कर देती है। इस क्षेत्र में भी हम विजयी होकर नीरोग बनते हैं। नीरोगता रोगों पर विजयी होती है।

(३) अन्त में **धनस्य सातये**=धन की संप्राप्ति के लिए भी [**इन्द्रं**]=उस परमैश्वर्यवाले प्रभु को ही याद करते हैं। धन के लिए प्रभु को पुकारने की इतनी आवश्यकता न थी परन्तु यहां भी प्रभु को पुकारने का प्रयोजन यह है कि मनुष्य धन में उलझ कर उसे टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से कमाने लगता है। प्रभु का स्मरण उसे 'सुपथा' यहां भी उत्तम मार्ग से ले चलता है। सो जो भी व्यक्ति मेधातिथि=समझदार बनकर मेध्यातिथि प्रभु की ओर निरन्तर चलने वाला बनता है वह कभी भी अन्यान्य मार्ग से धन का संग्रह नहीं करता। एवं इस धनार्जन के क्षेत्र में भी वह विजयो ही बनता है—पराजित नहीं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम उल्लिखित चारों संग्रामों में विजयशील बनें।

भक्त की परिभाषा (Definition)
भक्ति रसायन का सेवन

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमैरनूषत ॥८॥ ।२५०॥

मस्तिष्क, मन, शरीर व संसार (धन) के चारों क्षेत्रों में विजय को प्राप्त करने वाला व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि ऐ [**पुरुवसो**] ?=पालक व पूरक निवास को देने वाले प्रभो ? [**इमाः**

याः मम गिरः] =ये जो मेरी वाणियां हैं वे [**उ**] = निश्चय से [**त्वा वर्धन्तु**] =आपका वर्धन करें। मैं सदा आपके स्तुति वचनों का उच्चारण करूं। मेरे मुखसे निकलने वाला प्रत्येक शब्द आपकी महिमा का प्रतिपादक हो। वस्तुतः मेरे श्वासोच्छ्वास के साथ आपका जप चले।

वस्तुतः मेरा जीवन आपकी भक्तिरूप रसायन का सेवन करने वाला हो। जो भी व्यक्ति इस रसायन का सेवन करता है उसके जीवन में निम्न परिवर्तन दिखते हैं :—

(१) **पावकवर्णाः**—ये भक्त अग्नि के समान वर्ण वाले होते हैं। इनके मन की शान्ति इनके चेहरों पर इस प्रकार व्यक्त होती है कि इनके चेहरे चमकते हैं। शरीर का स्वास्थ्य व मन की शान्ति इनको अग्नि के समान चमका देती है।

(२) **शुचयः**=प्रभु के भक्त धन के प्रति कभी आसक्त नहीं होते और इसीका यह परिणाम है कि वे धन की दृष्टि से सदा पवित्र होते हैं। वे कभी किसी का ऋण न चुकायें इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती। 'योऽर्थेशुचिर्हि स शुचिः न मृद्वारि शुचिःशुचिः' इस मनु वाक्य के तत्त्व को उनके जीवन में हम घटा हुआ देखते हैं। उनके मन में धन का लोभ नहीं, इसीका बहुत कुछ परिणाम है कि रागद्वेष से ऊपर उठे हैं।

(३) **विपश्चितः**—ये भक्त विशेष सूक्ष्मता से देखते हुए चिंतनशील होते हैं। इनका दृष्टिकोण रावण का न होकर राम का होता है। 'भरत को राज्य मिल गया तो क्या प्रलय हो गई?' क्या यह वस्तुतः तथ्य नहीं। क्या भरत अयोग्य हैं? राम के इस दृष्टिकोण से यदि संसार सोचने लगे तो क्या झगड़ों की इतिश्री न हो जाय।

जिन व्यक्तियों के जीवन में उल्लिखित परिणाम दिखते हैं वे ही वस्तुतः [**स्तोमैः**] =स्तुतियों से [**अभि अनूषत**] =प्रभु का स्तवन करते हैं। उल्लिखित परिणामों के अभाव में भक्ति रसायन के सेवन का प्रमाण ही क्या है? भक्त होगा तो उसका जीवन 'पावक वर्ण शुचि व विपश्चित्' का जीवन होगा ही। इसी व्यक्ति के लिए कहा जा सकेगा कि वह मेधातिथि है, समझदारी से चल रहा है और मेध्यातिथि है—प्रभु के मार्ग पर चल रहा है।

भावार्थ—मैं शरीर में पावकवर्ण, मन में शुचि व मस्तिष्क में विपश्चित् बनूं।

भक्त का सामाजिक जीवन

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते।
३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो
१ २
रथा इव ॥६॥ ॥२५१॥

गत मंत्र में एक भक्त के निजू जीवन की तीन विशेषताओं का उल्लेख हुआ था। वह शरीर में पावक वर्ण, मन में शुचि व मस्तिष्क में विपश्चित् बनता है। प्रस्तुत मंत्र में उसके सामाजिक जीवन का चित्रण करते हैं। (१) [**त्ये स्तोमासः**] =वे स्तुति के पुंजरूप भक्त लोग [**उ**] निश्चय से [**मधुमत्तमाः गिरः**] =अत्यन्त मधुरवाणियां को [**उदीरते**] = उच्चारण करते हैं। इनके मुख से कटु शब्दों का उच्चारण कभी नहीं होता। स्तोम शब्द का अर्थ स्तुति होता है, परन्तु भक्ति के रसायन का सेवन करने वाला यह व्यक्ति सदा स्तुतिरूप शब्दों का उच्चारण करने से 'स्तुति का पुंज' बन गया है। ये सभी के अन्दर प्रभु के वास को अनुभव करता हुआ सबके प्रति अत्यन्त मधुर ही वाणी को बोलता है। (२) [**सत्राजितः**] =सदा क्रोध को ये संयम करने वाले होते हैं। जिनके साथ इनका सम्पर्क होता है उनका व्यवहार दूषित होने पर भी ये प्रयत्न करके क्रोध को अपने में उत्पन्न नहीं होने देते। (३) [**धनसा**] =(सन्=संविभाग) वे दीन दुःखियों के लिए धन का संविभाग करने वाले होते हैं। (४) [**अ-क्षित-ऊतयः**] =इसके यहां शरणागत की रक्षा का कभी नाश नहीं होता। ये सदा राजा के समान अपने प्राणों को देकर भी शरण में

आये हुए की रक्षा करते हैं। (५) [**वाजयन्तः**]= उल्लिखित सब कार्यों को करते हुए ये प्रभु की अर्चना करते हैं, ताकि इन कार्यों का कहीं उनको **गर्व न** हो जाय।

इस प्रकार पवित्र व विनीत जीवन को बिताते हुए ये [**रथाइव**]=रममाणा इव=खूब enjoy करते हैं—प्रसन्नता का जीवन बिताते हैं, और रहंमाणाः—बड़ी तीव्र गति से अपनी जीवनयात्रा के पथ पर बढ़ते हैं।

ये ही वस्तुतः मेधातिथि व मेध्यातिथि हैं।

भावार्थ—मैं भी प्रभु का सच्चा भक्त बनूं, मेरे से माधुर्य का प्रवाह बहे।

मित्रता ही नहीं, शरण में

१ २ ३ २ ३ २ ३ २उ ३ १र २र
यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्।
३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ
आपित्वे नः प्रपित्व तूयमा गहि कण्वेषु सु
३ १ २
सचा पिब ॥१०॥ ॥२५२॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि तू तो उसी प्रकार आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रकृति व प्राकृतिक पदार्थों में भटकता रहा यथा गौरः (गुरी उद्यमने) एक बार उद्योगशील मृग तृ-ष्यन्=प्यास से पीड़ित होता हुआ [अव=ईरिणाम्]=सुदूर ऊसर मरुभूमि को एति=प्राप्त होता है। मृग को वहां दूर पर पानी प्रतीत होता है उसको पाने के लिए वह उस सुदूर ऊसर भूमि की ओर दौड़ता है, परन्तु वहां उसके पहुंचने पर वह जल का दृश्य तो [अपाकृतम्]=और दूरी पर दिखने लगता है, आगे दौड़ने पर वह और दूर हो जाता है। इसी प्रकार इस अपाकृत ईरिण की ओर प्यास बुझानें की आशा में यह और भागता चला जाता है—नां ही वह पानी पाता है, न उसकी प्यास ही बुझती है। उसके उद्योग में सन्देह नहीं, परन्तु वह व्यर्थ का श्रम उसे श्रान्त करके समाप्त कर देता है। और वह प्यास ही मर जाता है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी आनन्द की प्यासा को बुझाने के लिए धन की ओर चलता है। वह भी उसे कभी इच्छानुकूल नहीं मिल पाता, उत्तरोत्तर धन की प्यास बढ़ती चलती है 'अनुतंर्षुल एवार्थः'। और वस्तुतः धन में आनन्द का लाभ है भी तो नहीं। मनुष्य इसे भी जुटाता-जुटाता समाप्त हो जाता है और मृग की तरह प्यासा ही रहता है।

इस जीव को प्रभु कहते हैं कि तू [तूयम्]= शीघ्र ही [नः[=हमारी [आपित्वे]=मित्रता में ही नहीं, प्रपित्वे=हमारे प्रति समर्पण में आगहि= आजा। प्रकृति में आनन्द नहीं है वह तो आनन्द रूप स्नेह के लिए रेतीले प्रदेश के समान है। उसे छोड़कर तू मेरी ओर आ, मेरी मित्रता को स्वीकार कर, मेरे प्रति अपना अर्पण ही कर डाल। मेरी मित्रता में तू अपने आनन्द की प्यास को बुझा पायेगा। मेरे प्रति अपना अर्पण कर देने पर तो तेरे योगक्षेम का सब बोझ मेरे पर ही आ जायगा, तू सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो जायगा। तेरा चिन्तामुक्त (निश्चिन्त) जीवन तेरे वास्तविक उल्लास का कारण बनेगा।

बुद्धिमत्ता इसी में है। तू भी [कण्वेषु]=बुद्धिमानों के अन्दर गिना जाने वाला हो। और मेरी मित्रता व शरण में आकर [सचा]=मेरे साथ [सुपिब]=उत्तमता से आनन्द रस का पान कर। जो व्यक्ति इस प्रकार करता है वह उस महान् देव का अतिथि होता है। प्रभु उसे आनन्द का रस पान कराते हैं। इसीसे वह 'देवातिथि' कहलाता है। कितना महान् है इसका भाग्य?

भावार्थ—मैं प्रकृति के पीछे न भाग कर प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर डालूँ और उस महान् देव का अतिथि बनूं।

।। २ ।। ऋषिः—१ भर्गः; २ रेभः काश्यपः; ३ जमदग्निः; ४, ९ मेधातिथिः;
५, ६ नृमेधपुरुमेधौ ७ वसिष्ठः; ८ रेभः; १० भरद्वाजः; देवता—१, २,
३ आदित्यः ।। ४–१० इन्द्रः; छन्दः—बृहती ।। स्वरः—मध्यमः ।।

प्रभु के पीछे न कि धन के

३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
२ ३ १र २र ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरा-
मसि ।।१।। ।।२५३।।

प्रभु ने जीव से कहा था कि 'कहां भटकता है, मेरी मित्रता को स्वीकार कर, मेरी शरण में आ। जीव अपने अनुभव से इसी परिणाम पर कि अन्तोगत्वा प्रकृति में आनन्द नहीं, इस अनुभव के आधार पर जीव प्रभु से कहता है कि 'शग्धि' आप शक्तिशाली हो। आप सब कुछ कर सकते हो, मेरा भी कल्याण करने में आप ही समर्थ हो। ऊ=और हे [सुशचीपते]=सब उत्तम शक्तियों व कर्मों के स्वामित् प्रभो! ऐ इन्द्र=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन्! आप विश्वाभिः ऊतिभिः=सब रक्षणों से युक्त हो। आपकी शरण में आ जाने पर मुझे कौन आसुरवृत्ति पराभूत कर सकती है? आपसे सुरक्षित होकर मैं भी शक्तिशाली व उत्तम ऐश्वर्य वाला बनता हूं। तो हमने तो आज यह निश्चय कर लिया है कि [भगं न]=हम धन के पीछे न जायंगे।

भग—धन का देवता अन्धा है, ऐश्वर्य मदमत्त को धर्माधर्म का ज्ञान नहीं होता। लक्ष्मी का वाहन उल्लू है वस्तुतः धनी आदमी कभी ठीक दृष्टिकोण से सोच नहीं पाता। धनियों का अग्रणी कुबेर कुत्सित शरीर वाला है—उसका पुत्र नलकूब=टेढ़ी-मेढ़ी हड्डियों वाला वक्र शरीर वाला है। एवं धन शरीर—दृष्टि व ज्ञान सभी को विकृत कर देता है। इसके पीछे जाकर क्या करना?

[हि]=निश्चय से हम तो ऐ प्रभो! [त्वाअनुचरामसि]=आपका अनुगमन करते हैं। आप (१) यशसं=यशस्वी हैं—आपका अनुगमन करके मेरा जीवन भी यशोन्वित होता है। मेरे जीवन में कोई भी ऐसा कार्य नहीं होता जो कि मुझे यशस्वी बनाने वाला न हो। कलंकपूर्ण कर्मों से मैं कोसों दूर रहता हूं। (२) **[वसुविदं]**=निवास के लिये आवश्यक धन को आप प्राप्त कराने वाले हैं। आपका अनुयायी बनकर मैं भूखों थोड़े ही मरता हूं। फालतू धन होता ही नहीं जो कि विलास का कारण बने। (३) **[शूर]**= आप शूर हैं 'शृ हिंसायाम्'। आप मेरी शत्रुभूत अशुभवृत्तियों को समाप्त कर देने वाले हैं। धन के पीछे जाने से जहां वासनाओं को प्रबलता प्राप्त होती थी और मैं उनका शिकार बन कर अपने को क्षीणशक्ति कर लेता था, आज आपकी शरण में आकर मैं वासनाओं का संहार करके अपने को तेजस्वी बना पाता हूं। और सचमुच इस मंत्र का ऋषि 'भर्ग'—तेजस्वी बनता हूं। वस्तुतः ऐसा बनना ही आपका गायन करने वाला बनना है सो मैं 'प्रागाथ' होता हूं।

भावार्थ—हम धन के पीछे न जाकर प्रभु के अनुयायी बनें।

दैवासुरसंपद् विभाग

१ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र३ १ २
या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ १
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्त-
२
बर्हिषः ।।२।। ।।२५४।।

'भुज् पालने' धातु से भुज शब्द बना है। मानव के पालन के लिए जो आवश्यक हैं अथवा मनुष्य ने जिनका अवश्य पालन करना है, वे भुज

हैं। ये ही स्थानान्तर में पुरुषार्थ कहलाये हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह इनका क्रम है। इसका सामान्य अभिप्राय यह है कि धर्म पूर्वक धन को कमाकर संसार के उचित ही कामों को स्वीकार करना मोक्ष का मार्ग है। दैवी वृत्ति वाले मनुष्य इस तत्व को कभी भूलते नहीं कि (१) धर्मपूर्वक ही अर्थ कमाना है। (२) और जीवन का उद्देश्य काम को न बनाकर मोक्ष को रखना है। इसके विपरीत आसुरी संपत्ति वाले लोग धर्म और मोक्ष को तो भूल जाते हैं, उनके 'भुज्' दो ही रह जाते हैं, वे चतुर्भुज नहीं रहते। वे भुज् हैं—'अर्थ और काम'। वे धर्म और मोक्ष को छिलके के समान समझ फेंक देते हैं, उन्हें यह भूल जाता है कि छिलके से असुरक्षित फल शीघ्र ही कृमियों से आक्रान्त हो दूषित हो जाता है। वस्तुतः इसीलिये ये आसुरी सम्पत्ति वाले लोग 'अन्यायेनार्थ--संचयान्'=अन्याय से धन जमा करने में लगे रहते हैं और भोग को ही जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं। अपने प्राणों का पोषणमात्र उनके जीवन का लक्ष्य हो जाता है, और सचमुच 'असुषु रमन्ते'=अपने ही प्राणों में रमते हैं सो असुरनाम वाले होते हैं। इन असुरों से प्रभु ने मानो धर्म और मोक्ष को तो दूर ही कर दिया है। प्रभु का स्तोता 'रेभः' कहता है कि ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ? [**या भुजः**]=जिन पुरुषार्थों को आपने [**असुरेभ्यः**]=अपने ही स्वार्थ में फंसे हुए इन प्राण-पोषण तत्पर असुरों से [**आभरः**] (आहरः)=हर लिया है ऐ [**मघवन्**]=पापलवशून्य ऐश्वर्य वाले प्रभो ! [**अस्य**]=इन पुरुषार्थों से [**इत्**[=निश्चयपूर्वक [**स्तोतारम्**]=अपने उपासकको [**वर्धय**]=बढ़ाइये। और [**येच**]=जो [**वृक्तबर्हिषः**]=उच्छिन्न वासनाओं वाले निर्मल हृदय पुरुष [**त्वे**]=आपकी शरण में आये हैं उन्हें इन पुरुषार्थों से बढ़ाइये।

वस्तुतः आसुर लोग जिन अर्थ काम के विषय में अत्यन्त जागरूक हैं दैवी संपत्तिवाले उन्हें अपने जीवन में गौण स्थान देते हैं और इसके विपरीत जिन धर्म और मोक्ष के विषय में ये जागरूक हैं वहां आसुर लोग सोये हुए हैं, उन्हें इनका ध्यान भी नहीं। धर्म और मोक्ष ही महत्वपूर्ण हैं ऐसी इस रेभ की दृष्टि है। यह रेभ ही गीता का 'पश्यन् मुनि' है। यहां वेद में इसे काश्यप कहा गया है। यह 'रेभ काश्यप' ही इस मंत्र का ऋषि है। यह 'स्वर्वान्'=स्वर्गलोक वाला होता है। इसके विपरीत अर्थ और काम को महत्व देना नरक रूप परिणाम वाला है 'पतन्ति नरकेऽशुचौ'=कामासक्त अपवित्र नरक में पड़ते हैं।

भावार्थ—मैं धर्म और मोक्ष को महत्व देता हुआ स्वर्ग में रहूं। अर्थ व काम को महत्व देकर नरक का भागी न बनूं।

पंचांगपूर्ण जीवन

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो।
३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
वरूथ्ये३ वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु
गायत ॥३॥ ॥२५५॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि [**ऋतावसो**]=ऐ ऋत के धनी ? [**मित्राय अर्यम्णे**]=मित्र के लिए अर्यमा के लिये [**वरूथ्यं वरुणं**]=वरूथ्यं के विषय में वरुण के विषय में और [**राजसु**]=राजन् के विषय में [**सचथ्यम्**]=समवेत हो जाने वाले तथा [**छन्द्यं**]=प्रबल इच्छा को पैदा करने वाल [**वचः**]=स्तुति वचन को [**प्रगायत**]=खूब गायन करो, ऋत का अर्थ है ठीक। जो चीज ठीक स्थान में व ठीक समय पर हो वह 'ऋत' है। वह व्यक्ति जो प्रत्येक क्रिया इस प्रकार ठीक स्थान व ठीक समय पर करने पर बल देता है वह ऋतावसु=ऋत का धनी है। इसे निम्न ५ व्यक्तियों को अपने जीवन का आदर्श बनाना चाहिये :—

(१) मित्राय=जो मित्र है—स्नेह करने वाला जो अपने जीवन में किसी के साथ कटु व्यवहार नहीं करता। स्नेहपूर्वक ही चलता है। (२) अर्यम्णे—'अर्यमेति तमाहुर्योददाति'=देनेवाले के

लिए। जो दान देता है—जो कौवे की तरह अपने पेट भरने में ही कृतकृत्यता नहीं समझ लेता। सदा ५ यज्ञ करके यज्ञशेष को खाता है। (३) वरूथ्ये=जो धन के विषय में उत्तम है। (वरूथ wealth)—अर्थात् धनी होकर सदा धन का विनियोग उत्तम ही कर्मों में करता है। धन के कारण उसमें शराब, व्यभिचारादि दुर्गुणों का प्रवेश नहीं हो गया। (४) वरुणे—जो वरुण है—पाशी है—जो सैकड़ों व्रतों के पाशों में अपने को जकड़े रखता है। और जो इस प्रकार स्वेच्छा से अपने को व्रतों के बन्धनों में बांध कर स्वतंत्र हो गया है, विषयों का गुलाम नहीं बन गया है। (५) राजसु=जिसका जीवन बड़ा नियन्त्रित (well-regulated) है। जिसकी प्रत्येक क्रिया सूर्य और चन्द्रमा की तरह नियमित चाल से चलती है।

हमारे जीवन के आदर्श उल्लिखित ५ व्यक्ति हों हम सदा ५ व्यक्तियों के जीवन का स्मरण करें। इनके लिए स्तुति रूप वचनों को बोलें। पर इनके गुणों का गान केवल शाब्दिक न हो। वे गुण-वचन सचथ्य हों—हमारे में समवेत होने वाले हों। अर्थात् वे गुण हमारे जीवन के भी अंग बन जांय। वे गुण वचन द्वन्द्य हों, हमारे अन्दर भी उन गुणों के लिये प्रबल इच्छा को पैदा करने वाले हों। हम उन गुणों को अपनाने के लिए तीव्र भूख वाले हों और वह गुण वचन रूप भोजन हमें पच जाय अर्थात् हमारे जीवन का अंग बन जाय।

इस प्रकार जो व्यक्ति उल्लिखित पुरुषों के प्रति श्रद्धांजलि को पेश करता हुआ उन गुणों को अपने जीवन का अंग बना लेता है वह 'जमदग्नि' है, उसकी अग्नि पाचन शक्ति से पूर्ण है। उसने सुनसुना कर वहीं, पल्ला नहीं झाड़ दिया, उसे अपचन नहीं हुई। वह एक के बाद एक गुण को अपने जीवन का अंग बनाता चला है। इस प्रकार अपने जीवन का परिपाक करने से वह भार्गव है। (भ्रस्ज् पाके)

भावार्थ—हम स्नेह, दान, धन का उत्तम विनियोग, व्रतबन्धन, व नियमितता आदि पाँच गुणों से अपने जीवनों को विभूषित करें।

प्रभु की स्तुति प्रभु का उपदेश

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त
३ २
पूर्व्यम् ॥४॥ ॥२५६॥

जो व्यक्ति 'मेधातिथि'=निरन्तर मेधा से गति करने वाले होते हैं, वे ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो? [**पूर्व्यम्**]=औरों में ऐश्वर्य भरने वालों में उत्तम (पूर्व पूरणे) [**त्वा**]=आपको [**स्तोमेभिः**]=स्तुति समूहों से [**अभि**]=दोनों ओर (प्राकृतिक दृश्यों में बाहिर, और शरीर की रचना में अन्दर। [**समस्वरन्**]=स्तुत करते हैं (स्वृ-शब्दे)।

ऐसा वे क्यों करते हैं? [**पूर्वपीतये**]=अपने पूरण के लिए और अपनी रक्षा के लिए। आपकी स्तुति के द्वारा आपके सम्पर्क में आने से स्तोता में भी आपकी शक्ति का प्रवाह बहता है और शक्ति सम्पन्न होकर वह अपनी रक्षा कर पाता है (पूर्व पूरणे, पा रक्षणे)।

वस्तुतः प्रभु की स्तुति कौन करते हैं? (१) आयवः (२) समोचीनासः (३) ऋभवः (४) रुद्राः।

(१) [**आयवः**] (इण् गतौ)—गतिशीलव्यक्ति, सदा कर्मशील, जो प्रभु के 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस उपदेश को क्रियान्वित करते हैं—कभी अकर्मण्य नहीं होते।

(२) [**समीचीनासः**]—(सम् अञ्च्) उनकी गति तोड़-फोड़ के लिए न होकर निर्माण के लिए होती है, सम्यक् गति के कारण ये अभिपूजित होते हैं। उनको यश की कामना तो नहीं सताती परन्तु उत्तम गति के कारण यश प्राप्त होता ही है।

(३) [**ऋभवः**]=ऋतेनभान्ति—ये ऋत से दीप्त होते हैं। क्रियाशीलता से इनका शरीर नीरोग रहा था। सम्यक् उत्तमगति से इन्होंने अपने प्राणमय कोश को निर्मल रखा था। सत्य से उनका मन निर्मल हुआ है और अब (४) [**रुद्राः**] (रुत् र)—ज्ञान को ग्रहण करने से उन्होंने अपने विज्ञानमय कोश को दीप्त किया है वस्तुतः प्रभु की सच्ची स्तुति ये ही लोग करते हैं। और ये ज्ञानी लोग उस पूर्व्यम्=सबका पूरण करने वाले प्रभु का [**गृणन्तः**]=उपदेश करते हैं (गृणाति उपदिशति)।

इस मंत्र में अभिशब्द दोनों ओर अन्दर और बाहिर इन अर्थों का संकेत कर रहा है। प्राकृतिक दृश्यों में भी ये सौन्दर्य के निर्माता उस प्रभु की महिमा को देखते हैं। 'फूल सुन्दर है' सो तोड़ कर ये उसे अपने बटन होल्स में नहीं लगा लेते, अपितु वर्डस्वर्थ की तरह उनमें प्रभु के सौंदर्य को देखने का प्रयत्न करते हैं। शरीर के अन्दर भी अंग-प्रत्यंग की रचना में ये उस प्रभु की महिमा को देखते हैं। एवं अन्दर—बाहिर दोनों ओर प्रभु के माहात्म्य को देखने के कारण ये उसीमें तन्मय रहते हैं। उसी की स्तुति करते हैं और उसी का उपदेश देते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक हों, प्रभु के ही उपदेष्टा हों।

उपदेश का स्वरूप (प्रभु उपासना क्यों)

२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १
प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत। वृत्रं
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा
॥५॥ ॥२५७॥

पिछले मंत्र में समाप्ति पर कहा गया था कि रुद्राः गृणन्त=ये ज्ञान के देने वाले प्रभु का उपदेश करते हैं। इस मंत्र में उस उपदेश का ही स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। वे कहते हैं कि [ऐ **मरुतः**]=सांसारिक चीजों के पीछे मरने वालो? इनके लिये इतना उत्कण्ठित क्यों होना? ये तो आपात रमणीय, पर्यन्त परितापी हैं। और वास्तविकता तो यह है कि सारा सांसारिक ऐश्वर्य भी तो उसी प्रभु से प्राप्त होता है। इस सबके मालिक भी तो वे प्रभु ही हैं। सो [**वः इन्द्राय**]=तुम सबके परम-ऐश्वर्य के देने वाले उस प्रभु के लिए ही [**ब्रह्म**]=वेदमंत्रों को—वेदमंत्रों के द्वारा स्तुतियों को [**प्रअर्चत**]=खूब ही खूब करो। 'उस प्रभु का स्तवन करने से तुम भूखे मरोगे' ऐसी बात नहीं है। प्रभु का स्तवन तुम्हारा कल्याण ही कल्याण करेगा। (२) [**बृहते**]=उस प्रभु के लिए तुम अर्चना करो जो कि वृद्धि के लिए है, केवल ऐश्वर्य की दृष्टि से ही नहीं, सभी दृष्टिकोणों से तुम्हारी वृद्धि होगी (वृहि वृद्धौ) तुम्हारे में सत्य, यश व श्री का निवास होगा। तुम सभी तरह से फलो-फूलोगे। (३) यह प्रभु का स्तोता ऐश्वर्य व समृद्धि को ही प्राप्त करता हो, सो बात नहीं। यह [**वृत्रं हनति**]=ज्ञान को आवृत करने वाली वासनाओं को, जिन्हें कि वृत्र कहते हैं, उन्हें नष्ट कर डालता है। अकेले हमारे लिये वासनाओं से युद्ध करना कठिन हो जाता है। प्रभु से मिल कर हम उन्हें आसानी से जीत पाते हैं। प्रभु के साहाय्य से वृत्र को नष्ट करके यह उपासक [**वृत्रहा**]=वृत्र का नाशक कहलाता है। (४) वृत्र नाश का यह परिणाम होता है कि यह [**'शतक्रतुः'**]=सौ के सौ वर्ष उत्तम प्रज्ञानों वाला, उत्तम संकल्पों वाला, तथा उत्तम कर्मों वाला बनता है। प्रभु के सम्पर्क में आने से अन्दर से ज्ञान का स्रोत तो उमड़ता ही है, हृदय पवित्र संकल्पों से भरा रहता है और हाथ सदा उत्तम कर्मों में लगे रहते हैं। (५) और अन्त में यह उपासक [**'शतपर्वणा वज्रेण'**]=सैकड़ों पर्वों वाले वज्र से युक्त होता है। 'वज्र' शब्द 'वज गतौ' से बनकर गतिशीलता का वाचक है। मानव जीवन में एक-एक वर्ष के बाद दूसरा-दूसरा वर्ष आकर १०० पर्वों का आना होता है।

ये १०० के १०० पर्व उपासक के क्रियाशीलता में बीतते हैं। यह 'शतपर्व वज्र' सदा क्रिया में लगे रहना उपासक का लक्षण है और पहचान है। प्रभु जिस प्रकार स्वाभाविक क्रिया वाले हैं, इसी प्रकार यह उपासक भी स्वाभाविक क्रिया वाला है। यह सदा 'सर्वभूतहिते रतः' रहता है। मनुष्यों से दूर न भागकर उनसे अपना सम्पर्क स्थापित करता है। और इसीसे नृ-मेध=(मनुष्यों से संगम वाला) कहलाता है। इसका संग उनका पालन व पूरण करता है सो यह 'पुरुमेध' है। इस उपासना का यह भी परिणाम है कि सदा स्वास्थ्यजनक क्रिया में लगे रहने से यह आंगिरस=रसमय अंगों वाला रहता है। इसके अंग शुष्क काष्ठ के समान नहीं हो जाते। ये अन्त तक लोच व लचक वाले बने रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से (१) ऐश्वर्य मिलेगा (२) वृद्धि होगी (३) वासनाओं को जोतेंगे। (४) आजीवन उत्तम ज्ञान, संकल्प व क्रिया युक्त बनेंगे (५) सर्वभूतहित साधक क्रिया हमारा स्वभाव बन जायगी।

सच्ची उपासना की पहिचान

२१र   २र   ३ १२   ३१ २
बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्।
२ ३   २ ३ १ २   ३ १ २   ३ २   ३ २ ३
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय
१ २
जागृवि ॥६॥२५८॥

नृमेध व पुरुमेध ने गत मंत्र में कहा था कि प्रभु की वेदमंत्रों से स्तुति करो - तुम्हें ऐश्वर्य प्राप्त होगा, वृद्धि होगी, तुम वासनाओं को नष्ट कर पाओगे और शतक्रतु बनोगे। इस मंत्र में उसी बात को वे विलोम प्रकार से कहते हैं कि यदि तुम्हारी वृद्धि होती है, तुम वासनाओं का विनाश कर पाते हो, और तुम्हारे अन्दर एक ज्योति उत्पन्न होती है तब तो समझ लो कि तुम्हारा स्तवन ठीक है, अन्यथा नहीं। वे कहते हैं कि ऐ [**मरुतः**]=विषयों के प्रति लालायित होने वाले पुरुषो! उस [**इन्द्राय**]=परमैश्वर्य के दाता प्रभु के लिये [**गायत**]=गायन करो। जो गायन [**बृहत्**]=तुम्हारी वृद्धि का कारण है। [**वृत्रहन्तमम्**]=अधिक से अधिक वासनाओं का विनाश करने वाला है। और [**येन**]=जिससे [**ज्योतिः**]=प्रकाश को (ज्ञान को) [**अजनयन्**]= अपने में उत्पन्न करते हैं। कैसे प्रकाश का? [**देवं**]=जो प्रकाशमय है तथा [**देवाय**]=आत्मा के लिये [**जागृवि**]=जगाने वाला है। कौन उत्पन्न करते हैं? [**ऋतावृधः**]=ऋत के द्वारा नियमितता के द्वारा अपना वर्धन करने वाले।

स्तुति के ये परिणाम हैं (१) वृद्धि (२) वासना विनाश (३) विज्ञान के सूर्य का उदय। यदि ये परिणाम हैं तो स्तवन ठीक है—अन्यथा नहीं। स्तवन से जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह ज्ञान प्रकाशमय है। उसमें आत्मा को अपना कर्तव्यपथ स्पष्ट दिखता है। इस ज्ञान से—जीवात्मा सदा सजग रहता है। जिन विषयों के प्रति सामान्य जगत् बड़ा सतर्क रहता है उन्हों को सब कुछ समझकर उनमें उलझा रहता है, यह ज्ञानी ज्ञान के कारण उन विषयों की माया-ममता को देखकर कभी उनमें फंसता नहीं। यह ज्ञान सदा उसे जागरित रखता है और इसीलिये ये विषयरूप परिपन्थी इस पर आक्रमण नहीं कर पाते।

स्तवन से प्राप्य इस ज्ञान को पाते वे हैं जो कि बहुत ही नियमित गति से चलते हैं। कोई भी चीज आवेश में एक-दो दिन या कभी-कभी (by fits and starts) की जाकर लाभप्रद नहीं होती। दीर्घकाल—नैरन्तर्य और आदर से सेवित होकर ही कोई चीज लाभप्रद होती है। वह स्तवन भी 'ऋतावृध' को ही ज्ञान प्राप्त कराता है। ऋतावृध्—जो कि ऋत से नियमित गति से आगे बढ़ रहा है।

भावार्थ—यदि हमारा स्तवन हमारे में उल्लिखित परिणामों को नहीं पैदा करता रहा तो स्पष्ट

है कि हमारे स्तवन में कहीं कमी है। उस कमी को ठीक करके हम प्रभु के सच्चे स्तोता बनें और वृद्धि, वासना विनाश व विज्ञान को प्राप्त करें।

पिता जिस प्रकार पुत्रों के लिये

२ ३. १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा
२र
ज्योतिरशीमहि ॥७॥२५९॥

ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ? [**नः**]= हमारे में [**क्रतुम्**]=ज्ञान, संकल्प व कर्म को [**आभर**]=सर्वथा भर दीजिये। उसी प्रकार [**यथा**]=जैसे कि [**पिता पुत्रेभ्यः**]=पिता पुत्रों के लिये। ऐ [**पुरुहूत**]=पालन व पूरण करने वाली पुकार वाले प्रभो ? [**अस्मिन् यामनि**]= इस जीवनयात्रा के मार्ग में [**नः शिक्ष**]=हमें उत्तम प्रेरणा दीजिये और उस प्रेरणा के अनुसार चलने के लिये समर्थ बनाइये (शक् + सन्)। आपकी कृपा से [**जीवाः**]=जीते जी इस जीवनकाल में ही [**ज्योतिः**]=ज्ञान के प्रकाश को [**अशीमहि**]= प्राप्त करें।

पिता का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने सन्तानों के मस्तिष्क में ज्ञान को भरने की व्यवस्था करे। वह इस बात का ध्यान करे कि उनके हृदय उत्तम संकल्पों से पूर्ण हों तथा उनके हाथ सदा उत्तम कर्मों में लगे रहें। इस प्रकार उनके मस्तिष्क में, हृदय में व हाथों में क्रतु का निवास हो। प्रभु हम सबके पिता हैं, सो उस परमपिता से भी हम यही प्रार्थना करते हैं कि वे हमारे मस्तिष्कों को ज्योतिर्मय करें, हृदयों को संकल्पपूर्ण करें और हमारे हाथों में प्रभु कृपा से कर्म का निवास हो।

पिता समय-समय पर सन्तानों को उत्तम प्रेरणा व कर्मशक्ति प्राप्त कराते रहते हैं। प्रभु से भी हमारी आराधना यही है कि वे हमें इस जीवनयात्रा में सदा प्रेरणा प्राप्त कराते रहें और हमें शक्ति दें कि हम उस प्रेरणा को क्रिया में अनूदित कर सकें।

हम अपने जीवनकाल में ही उस प्रभु की कृपा से ज्योति को प्राप्त करें। अन्तकाल में भी उस ज्योति को प्राप्त कर लेने पर मोक्ष तो हो ही जायगा। परन्तु जीवनकाल में इस ज्योति को प्राप्त कर लेंगे तो हमारा यह जीवन सुन्दर बन जायगा। एक खिले फूल की तरह हमारे जीवन से चारों ओर सुगन्ध फैलेगी इस लोक को सुन्दर सुखद स्वर्ग बनाने में हमारा भी कुछ हाथ होगा।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम ज्योति को प्राप्त करने वाले बनें।

हमें मत अपने से दूर करिये

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मा न इन्द्र परा वृणग्भवा नः सधमाद्ये।
१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परा-
वृणक् ॥८॥२६०॥

ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ? [**नः**]= हमें [**मा**]=मत [**परावृणक्**]=अपने से दूर करिये (वृजी वर्जने) आप [**नः**]=हमारे [**सधमाद्ये भव**]=(सह मद्) साथ आनन्द के लिये होईये। [**त्वं**]=आप ही [**नः**]=हमारे [**ऊती**]= रक्षा के लिये होते हैं। [**त्वम् इत्**]=आप ही [**नः**]=हमारे [**आप्यम्**]=प्राप्य, पहुंचने योग्य अन्तिम लक्ष्य हैं। सो ऐ [**इन्द्र**]=प्रभो ? [**नः**]= हमें [**मा**]=मत [**परावृणक्**]=परे करिये।

जिस समय जीवन प्रभु से दूर हो जाता है उस समय वह असुरों की तरह केवल स्वार्थ की वृत्ति वाला होता है। आपस का बन्धुत्व उसे प्रतीत नहीं होता। प्रभु के समीप निवास का यह परिणाम होता है कि वह सभी प्राणियों के साथ अपने बन्धुत्व को अनुभव करता है और अकेले खाने व पीने में उसे पाप प्रतीत होने लगता है—अकेले तो वह मुक्त होना भी पसन्द नहीं करता। रामानुज व स्वामी दयानन्द अपने मोक्ष को परे फेंककर

लोकहित में प्रवृत्त होते हैं। उन्हें संसार में वह प्रभु ही रक्षा करता हुवा प्रतीत होता है। और संसार को ठीक रूप में देखने के कारण वे इसमें आसक्त नहीं होते। परमेश्वर की प्राप्ति को ही वे अपना ध्येय समझते हैं। वे यह भी अच्छी तरह समझने हैं कि वे परमेश्वर से दूर हुए और संसार में आसक्त हुए। 'उस आसक्ति का अन्तिम परिणाम कितना परिताप होगा' इसकी भी वे कल्पना कर लेते हैं।

वस्तुतः औरों को बन्धु समझ केवलादी न बनना और परमेश्वर को ही अन्तिम ध्येय समझना ये दोनों ही बातें बड़े उच्च ज्ञान की अपेक्षा करती हैं। सो इन दोनों बातों को काश्यप (=पश्यक) ठीक रूप में चीजों को देखने वाला ज्ञानी ही अपने जीवन में ला सकता है। यह काश्यप ही परमेश्वर का सच्चा स्तोता भी है—स्तोता के लिये वैदिक शब्द 'रेभ' है। यह 'रेभ काश्यप' ही इस मंत्र का ऋषि है। ऐहलौकिक जीवन में इसका लक्ष्य 'सधमाद्य'=मिलकर आनन्द को प्राप्त करना है। यह यज्ञों के द्वारा सम्पत्ति का औरों के साथ विभाग करके सेवन करता है। अपने आध्यात्मिक जीवन में यह प्रभु को ही अपना लक्ष्य=प्राप्य स्थान बनाता है (सा काष्ठा, सा परागतिः)।

भावार्थ—मैं अकेला खाने वाला न बनूं, खाने में आसक्त न हो जाऊं।

पवित्र चश्मों में स्नान

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार
आसते ॥९॥२६१॥

ऐ प्रभो ? [**स्तोतारः**]=स्तोता लोग [**घ**]= निश्चय से [**त्वा**]=आपके [**परि आसते**]= आस-पास रहते हैं। आपसे दूर नहीं जाते। आप [**वृत्रहन्**]=वृत्रों के समाप्त करने वाले हैं। आपके समीप में रहने से वे स्तोता भी वृत्रों को समाप्त करने में समर्थ होते हैं। कामादि वासनायें ही तो ज्ञान को आवृत करने से वृत्र हैं—आपके समीप रहने वाले को ये वासनायें पीड़ित नहीं करतीं। पीड़ित करें भी कैसे ? ये लोग तो [**पवित्रस्य**]=परमपवित्र आपके [**प्रस्रवणेषु**]=सहस्रधार स्रोतों के अन्दर स्नान कर रहे होते हैं। जैसे 'स्विन्नः स्नातो मलादिव' जैसे जल से स्नान करने वाला व्यक्ति पसीना आदि मलों से शून्य हो जाता है, उसी प्रकार आप में स्नान करके वह स्तोता मन व बुद्धि के मलों से रहित हो जाता है।

आपके पवित्र चश्मों में स्नान करने वाले व्यक्तियों के लक्षण निम्न हैं :—

(१) **वयम्**=(वेञ्तन्तु सन्ताने) ये लोग कभी भी कर्मतन्तु का विच्छेद नहीं होने देते। इन्हें यह नहीं भूलता कि ये आतमा हैं—(अत् सातत्यगमने) सततगमन ही उनका स्वरूप है। उनके लिये प्रभु का आदेश 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' कर्म करते हुए ही है।

(२) **सुतावन्तः**=(सुतं=ज्ञानम्) ये उत्तम ज्ञान वाले होते हैं। ये प्रकृति के तत्वों को समझने का प्रयत्न करते हैं—और जीवों की प्रकृति का अध्ययन करते हैं। उन दोनों में ही इन्हें प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

(३) **आपो न**=ये जलों की तरह होते हैं। जल पवित्र करने वाला है। इनके सम्पर्क में आने वाला भी प्रत्येक व्यक्ति पवित्रता का अनुभव करता है। ये जलों की तरह ही शान्त होते हैं और स्वाभाविक रूप से क्रिया करने वाले होते हैं।

(४) **वृक्तबर्हिषः**=(वृजी वर्जने) दूर किया है उखाड़ने योग्य चीजों को जिन्होंने। जैसे किसान खेत से घास-फूस उखाड़ फेंकता है और खेत को निर्मल कर डालता है, उसी प्रकार ये लोग मन की मलिनता को दूर कर उसे पवित्र कर डालते हैं। इसी पवित्र स्थान पर ही तो वे प्रभु को देखने का प्रयत्न करते हैं। इसमें बुद्धिमत्ता नहीं कि हम प्रभु को बाहिर बिठा दें। मूर्तिपूजक यही तो ग़लती

करता है। अब यदि हमारे जीवनों में उल्लिखित चार बातें नहीं हैं तो वस्तुतः हम प्रभु के पवित्र प्रस्रवणों में स्नान नहीं कर रहे।

भावार्थ—हमारे जीवनों में क्रियाशीलता हो, उत्तम ज्ञान हो, शान्ति हो, और मन का नैर्मल्य हो।

ओज, नृम्ण, द्युम्न, पौंस्य

१ १ ३ १ २ ३ १र १र ३ १ २ ३ १ २
यदिन्द्र नाहुषीष्वा ओजो नृम्णं च कृष्टिषु ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र
यद्वा पञ्चक्षितीनां द्युम्नमा भर सत्रा
२र ३ १ २
विश्वानि पौंस्या ॥१०॥२६२॥

ऐ इन्द्र = परमैश्वर्यशाली सब बल के कार्यों को करने वाले प्रभो? [**यद्**] = जो [**ओजः**] = बल [**च**] = व [**नृम्णम्**] = धन [**नाहुषीषु**] = (नह् बन्धने) = आपस में मिलकर चलने वाले [**कृष्टिषु**] = उत्पादक श्रम वाले मनुष्यों में होता है उसे [**आभर**] = सब प्रकार से हमारे में भी भर दीजिये। [**यद्वा**] = और [**पंच क्षितीनाम्**] = पांचों भूमियों—कोशों के [**द्युम्नं**] = ज्योति को [**आभर**] = हमारे में पूर्ण कीजिये। [**विश्वानि**] = सब [**सत्रा पौंस्या**] = सत्य पुरुषार्थों को हमें प्राप्त कराईये।

'कृष्टि' शब्द वेद में मनुष्य का वाचक है—और यह संकेत कर रहा है कि मनुष्य को कृषि प्रधान श्रमशील जीवन वाला होना चाहिये। साथ ही उसे केवल अपने लिये न जीकर, औरों के जीवनों के साथ अपने जीवन को सम्बद्ध करके ही चलना ठीक है। इसी उद्देश्य से यहां 'नाहुषी' विशेषण दिया गया है। पशु, पक्षी व शेर भी अपने लिये तो जीते ही हैं, मनुष्य को सबके साथ मिलकर चलना ही ठीक है। जो औरों के लिये जीता है, वस्तुतः वही जीता है।

जो व्यक्ति श्रमशील जीवन बिताता है वह ओज को प्राप्त करता है। क्रिया नीरोगता व शक्ति को देती ही है। क्रिया के अभाव में ही बीमारियां व अशक्ति मनुष्य को आ घेरती हैं। यह क्रियाशीलता उसे जीवन के लिये आवश्यक धन भी प्राप्त कराती ही है। वस्तुतः यह कृष्टि ब्रह्मचर्याश्रम में ओज को प्राप्त करता है, तो गृहस्थ में धन को।

वानप्रस्थ बनने पर यह अपने पांचों कोशों को ज्योति से भरने का ध्यान करता है चूंकि ऐसा करके ही वह अपने संन्यासाश्रम में सफलता से सत्य पुरुषार्थों को सिद्ध कर पायेगा। इस प्रकार यह मंत्र मानव जीवन के चारों आश्रमों के चार केन्द्रीभूत लक्ष्यों को क्रमशः 'ओज, नृम्ण, द्युम्न व पौंस्य' इन शब्दों से प्रकट कर रहा है। अपने अन्दर ओज = वाज = शक्ति को भरने से यह 'भारद्वाज' बनता है और ज्योति को भरने से 'बार्हस्पत्य' कहलाता है। इन ओज व द्युम्न से यह क्रमशः नृम्ण व पौंस्य को सिद्ध करता है। अपने ओज से प्राप्त धन 'नृम्ण' है, ज्ञानपूर्वक किया हुवा पुरुषार्थ 'सत्य पौंस्य' है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारी जीवनयात्रा की चारों ही मंजिलें ठीक तय (पूर्ण) हों। ●

॥ ३ ॥ ऋषिः—१ मेधातिथिः; २ रेभः; ३ वत्सः; ४ भरद्वाजः; ५ नृमेधः; ६ पुरुहन्मः;
७ नृमेधपुरुमेधौ; ८ वसिष्ठः; ९ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च; १० कलिः ॥ देवता - इन्द्रः ॥
छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

परलोक भी इहलोक भी

३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ २ ३क
सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता । वृषा
२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति
३ २
श्रुतः ॥१॥२६३॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि यदि तू सचमुच अपना जीवन पूर्वमंत्र के चार शब्दों के अनुसार बिताता है तो [**इत्था**] = इस प्रकार [**इत्**] = निश्चय से [**सत्यम्**] = सचमुच [**वृषा असि**] = तू शक्तिशाली व धर्मयुक्त है (वृष = धर्म) [**वृषजूतिः**] = ऐसा बनने पर ही तू शक्तिशाली व

धर्मयुक्त क्रियाओं वाला कहलायेगा। (जूति= क्रिया) ऐसा करने पर ही तू [**नः**]=हमारे [**अविता**]=अंश का अपने में दोहन करने वाला होगा (अव्=भागदुघे) अर्थात् तेरे लिये यह कहा जा सकेगा कि तू अपने अन्दर दिव्यता का अवतरण कर रहा है। ऐ [**उग्र**]=उदात्त—उत्कृष्ट स्वभाव वाले जीव? [**हि**]=ऐसा करने पर ही तू [**परावति**]=दूर क्षेत्र में अर्थात् परलोक व अध्यात्म के क्षेत्र में [**वृषा**]=शक्तिशाली [**श्रुतः**]=शरीर से प्रसिद्ध होगा। और ऐसा करने पर ही [**अर्वावति**]=समीप के ऐहलौकिक क्षेत्र में भी [**वृषः**]=शक्तिशाली व धर्मयुक्त [**शृण्विषे**]=प्रसिद्ध होगा।

गत मंत्र की चार बातों को अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाला व्यक्ति सचमुच शक्तिशाली व धार्मिक बनता है—उसकी प्रत्येक क्रिया धर्मानुकूल होती है। वह निरन्तर प्रभु की ओर बढ़ रहा होता है। उसे अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की सिद्धि प्राप्त होती है। सो यह स्पष्ट है कि इस मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति ही समझदार है—मेधातिथि=मेधा के साथ निरन्तर चलने वाला है (मेधया अतति)

भावार्थ—हम भी ओज व द्युम्न आदि को जीवन का ध्येय बनाकर अपने में दिव्यता का अवतरण करें।

अपरा प्रकृति में भी, परा प्रकृति में भी

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन्।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ
१ २
आ विवासति ॥२॥२६४॥

इस मंत्र का ऋषि 'रेभ काश्यप' है। यह 'काश्यप' इसलिये है कि 'पश्यति' यह कण-कण में प्रभु की महिमा को देखता है। सूर्य, चन्द्र, तारे और सब लोकलोकान्तरों में यह उस प्रभु के त्व को अनुभव करता है। उस प्रभु की अपार शक्ति को देखता हुवा यह उसका स्तोता 'रेभ' बनता है और कहता है कि ऐ [**शक्र**]=सर्वशक्तिमान् [**इन्द्र**]=सर्वैश्वर्यशाली प्रभो? [**यत्**]=चूंकि आप [**परावति**]=अपनी पराप्रकृति में अर्थात् जीव के अन्दर भी विद्यमान हैं और [**यत्**]=चूंकि [**अर्वावति**]=अपरा प्रकृति अर्थात् इन पृथ्वी आदि पंचभूतों की उपादान कारणभूत प्रकृति में भी [**असि**]=वर्तमान हैं, क्या प्रकृति में और क्या जीवों में सभी के अन्दर आपकी ही महिमा दृष्टिगोचर होती है [**अतः**]= इसलिये [**गीर्भिः**]=वेदवाणियों से [**त्वा**]= आपकी ही [**आ**]=सर्वथा [**विवासति**]—परिचर्या करता है। कौन? [**सुतावान्**]=जो कि उत्तम ज्ञान वाला है (सुत=ज्ञान, मतुप्=प्रशंसायाम्) और अतएव [**द्युगत्**]=दिव्यता की ओर (द्युलोक की ओर) चल रहा है। जो लोग अभी खाने, पीने और सोने की ही दुनियां में ही विचरते हैं वे पृथिवी लोक पर हैं, जो यश की इच्छा से (ambition) दुःखों की भी परवाह न करते हुए कुछ क्रूर कर्म भी कर जाते हैं वे अन्तरिक्षलोक में विचरते हैं, और जो शान्त मनोवृत्ति से, यश की इच्छा से भी ऊपर उठकर अपने चारों ओर माधुर्य का प्रवाह करते हुए जीवनयात्रा करते हैं वे व्यक्ति द्युलोक में विचरने वाले हैं। ये ही लोग वस्तुतः प्रभु के सच्चे उपासक हैं। ये सात्विक व्यक्ति नित्यसत्वस्थ होते हुए शरीर छोड़ते ही सत्य प्रभु में प्रवेश पाते हैं। ये द्युलोक के सूर्य की तरह चमकते हैं। ये अन्तरिक्ष लोक में चलने वाले सब वात्यादि बवण्डरों से ऊपर होते हैं। 'मैं ये बन गया, और मैं यह हो गया' ऐसी भावनायें इनके हृदयों में उथल-पुथल नहीं मचाये रखतीं। आराम से एक जगह पड़े रहना व स्वाद लेते रहने का तमोगुण भी इन्हें अभिभूत नहीं करता। इनका ध्येय न तो आराम और ना ही अर्थ व यश होता है। इनका लक्ष्य तो प्रभु का ज्ञान, दर्शन व प्राप्ति ही होता है इसलिये ये प्रकृति का प्रयोग करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होते, और

इसीलिये नाना व्यक्तियों का विषम व्यवहार भी इन्हें व्यथित नहीं करता। ये प्रकृति में प्रभु की महिमा को देखते हैं, सो फूल के प्रति आसक्त हो उसे तोड़कर ये बटनहोल्स में नहीं लगा लेते। ये जीवों के विविध व्यवहारों में भी प्रभु के कृति-वैचित्र्य को देखते हैं और अतएव उसे भी ये Enjoy ही करते हैं और उससे क्रुद्ध नहीं होते।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि यह उच्च ज्ञान इन्हें प्राप्त कैसे होता है? इसका उत्तर मंत्र में 'केशिभिः' शब्द से दिया गया है। 'केशिनः द्युस्थानाः देवताः' (नि०) ये केशी द्युलोक के देवता हैं। वस्तुतः ये दिव्यता व प्रकाश में विचरणे वाले विद्वान् हैं। उनके सम्पर्क में आकर ही यह 'रेभकाश्यप' भी द्युगत् व सुतावान्' बना है। जैसों के सम्पर्क में हम आते हैं वैसे ही तो बन जाते हैं। 'द्युगत्' बनकर हम अनुभव करते हैं कि किस प्रकार प्रभु की महिमा के दर्शन ने हमें क्रोध व काम से (आसक्ति से) ऊपर उठाया है और हम कह उठते हैं कि ऐ प्रभो? आप सचमुच वृत्रहन्=वासना को विनष्ट करने वाले हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम जीवों के व्यवहारों में और प्रकृति के पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखें ताकि न क्रुद्ध हों न आसक्त।

ज्ञान का प्रकाश, शक्ति का प्रवाह

३ १ २ ३ १र २र १२ ३ २ ३ १र
अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा
२र २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
विचेतसम्। इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो
१ २
यथा ॥३॥२६५॥

इस मंत्र का ऋषि 'वत्स' है—जो प्रभु की स्तुति का उच्चारण करता है (वदति) और अतएव प्रभु का प्रिय है। यह अपने मित्रों से कहता है कि प्रभु [**वः**]=आपके [**वीरम्**]=विशेष रूप से शत्रुओं को कम्पित कर दूर करने वाले हैं, [**महाविचेतसम्**]=महान् विशिष्ट ज्ञान वाले हैं उस प्रभु को लक्ष्य करके [**अभिगाय**]=खूब गायन करो। ऐसा तुम कर तभी सकोगे जबकि [**अन्धसः**]=आध्यातव्य सोम के [**मदेषु**]=मदों में तुम्हारा निवास होगा। सोम आध्यातव्य है। जो सोम अन्न से सप्तम स्थल में उत्पन्न होता है—वह सोम कितना ही ध्यान देने योग्य है। जब मनुष्य उसका ध्यान करता है तो उसका जीवन एक विशेष हर्ष व आनन्द वाला होता है। वस्तुतः इस सोम की रक्षा करने पर शरीर नीरोग रहता है, मन निर्मल व बुद्धि तीव्र। इसीलिये यह सोम का पान करने वाला व्यक्ति प्रभु का उपासक होता है, प्रभु के गुणों का गायन करता है।

वत्स कहता है कि [**वचो यथा**]=जैसा वेद-वाणी में उपदेश दिया गया है उसी प्रकार उस प्रभु का गायन करो—जो कि [**इन्द्रं नाम**]=ज्ञानरूप परमैश्वर्य वाला है और सब बल के कार्यों को करने वाला है। [**श्रुत्यम्**]=जो ज्ञान प्राप्त कराने वालों में सर्वोत्तम है। आचार्यों से भी ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु सर्वमहान् आचार्य तो वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु के सम्पर्क में आने पर तो सारा हृदयान्तरिक्ष ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठता है। अन्य आचार्य तो बाहिर से ज्ञान देते हैं, प्रभु से प्राप्त होने वाले ज्ञान का स्रोत अन्दर से उमड़ता है। [**शाकिनम्**]=वे प्रभु हमें शक्तिशाली बनाने वाले हैं। प्रभु को शक्ति का प्रवाह हमारे अन्दर भी बहने लगता है। अग्नि के सम्पर्क में आकर लोहे का गोला भी तो अग्नि की तरह तमतमाने लगता है। इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म के सम्पर्क में आकर 'ब्रह्म इव' हो जाता है। जीव भी ब्रह्म का छोटा सा रूप (अंश) बन जाता है। इसकी प्रतिमा परमेश्वर के अनुरूप हो जाती है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें। सोम के आनन्द में प्रभु का गायन करें। प्रभु वीर हैं हमारे में भी शक्ति का प्रवाह बहेगा। प्रभु महाविचेतस् हैं—हमारे में भी ज्ञान का प्रकाश होगा।

चमकता हुवा अस्त्र (The Bright Weapon)

१२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२
इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया
३ १ २
दिद्युमेभ्यः ॥४॥२६६॥

ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ? आप हमें [**त्रिधातु**]=तीन उचित मात्रा में धारण करने वाले तत्वों से युक्त अर्थात् वात, पित्त व कफ के साम्य वाला [**शरणं**]=यह स्थूल शरीररूपी घर [**यच्छ**]=दीजिये । वात, पित्त व कफ़ साम्यावस्था में होते हैं तो यह शरीर नीरोग रहता है । स्वास्थ्य का लक्षण ही 'धातु साम्यम्' है । इनकी विषमता अस्वास्थ्य को पैदा करती है, तब ये धातु न रहकर दोष हो जाते हैं ।

ऐ [**इन्द्र ?**]=आप हमें [**त्रिवरूथम्**]=तीन वरूथ=(protection) रक्षायें [**यच्छ**]=प्राप्त कराईये । हमारी इन्द्रियां मन व बुद्धि आसुर भावनाओं के आक्रमण से सुरक्षित रहें । सुरक्षित होकर ज्ञानेन्द्रियां ज्ञानप्राप्ति में लगी रहें, कर्मेन्द्रियां उत्तम कर्मों में व्यापृत रहें, मन शिवसंकल्पात्मक बने और बुद्धि विवेकमयी हो । और इस प्रकार [**स्वस्तये**]=ये इन्द्रियां मन व बुद्धि हमारी उत्तम स्थिति के लिये हों । संक्षेप में स्थूलशरीर स्वस्थ हो तो सूक्ष्मशरीर सुन्दर व शिव हो ।

ऐ इन्द्र ! आप हमें [**छर्दिः**] =अपनी छत्रछाया–अपना रक्षारूप घर [**यच्छ**]=प्राप्त कराईये । आपकी छत्रछाया ही हमारे आनन्दमय कोश में निवास का साधन है । आपकी छत्रछाया के बिना आनन्द की प्राप्ति कहां ? परन्तु यह छत्रछाया किनके लिये है ? [**मघवद्भ्यः च**]=(मा—अघ) उन लोगों के लिये हैं जिनकी कि सम्पत्ति पाप के लवलेश से शून्य तरीकों से कमायी जाती है । और फिर [**मह्यं च**]=(मह् पूजायाम्) जो लोक सेवा के द्वारा आपकी पूजा में लगे हैं उनके लिये ही यह छत्रछाया है ।

इस छत्रछाया का स्वरूप क्या है ? [**एभ्यः**]= इन आपके कृपा-पात्रों के लिये आप [**दिद्युम्**]= देदीप्यमान ज्ञानरूप अस्त्र को [**यावया**]=संयुक्त करिये (यु=मिश्रण) प्रभु जिस पर कृपा करते हैं उसकी बुद्धि को निर्मल करके उसके ज्ञान को दीप्त करते हैं । यह चमकता हुवा ज्ञान ही वह अस्त्र है जिससे कि काम, क्रोधादि आन्तर शत्रुओं का संहार होता है ।

एवं प्रभु का यह कृपा का पात्र स्वस्थ शरीर वाला होकर सबल बनता है और 'भरद्वाज' कहलाता है । इन्द्रियां मन व बुद्धि के दीप्त होने से यह देदीप्यमान ज्ञान वाला होकर 'बार्हस्पत्य' बनता है । यह 'भारद्वाज बार्हस्पत्य' ही आदर्श पुरुष है ।

भावार्थ—प्रभो ! आपकी कृपा से हम स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व बुद्धि वाले बन कर आपकी छत्रछाया में सदा विचरें ।

साम्यवाद—१ कार्य शक्ति के अनुसार, भोजन आवश्यकता के अनुसार

१२ ३ २ ३ १र २र
श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न
२र
दीधिम ॥५॥२६७॥

श्रम—इस मंत्र का ऋषि 'नृमेध' मनुष्यों के साथ मिलकर चलने वाला है । यह कहता है कि [**सूर्यम् इव**]=सूर्य के समान [**श्रायन्तः**] (श्रै to sweat, perspire) अत्यन्त काम के कारण पसीने से तर-बतर होते हुए [**विश्वा इत्**]=सब हो मिलजुल कर [**इन्द्रस्य**]=उस प्रभु के अन्नों का [**भक्षत**]=सेवन करो । 'श्रायन्त इव सूर्यम्'= इस उपमा से यह स्पष्ट है कि सबने अपनी शक्ति के अनुसार काम करना है, बिना श्रम के किसी को खाने का अधिकार नहीं है । साम्यवाद का मौलिक सिद्धान्त यही है कि 'जो जितना कार्य कर सकता है, वह उतना कार्य करे ही' । भोजन 'उस श्रम से उत्पन्न धनों का आवश्यकतानुसार विभाजन

हो।' वेद कहता है कि [**ओजसा**]=शक्ति से [**जाता**]=उत्पन्न हुए हुए [**उ**]=और [**जनिमानि**] =पैदा होने वाले [**वसूनि**]=धनों को [**प्रतिभागं न**]=आवश्यकता के अनुसार (भज—सेवायाम्, भागम्—जितना सेवनीय हो) [**दीधिम**]= धारण करें।

वह समाज ही, 'जिसमें कि सब शक्ति के अनुसार कार्य करते हैं, और आवश्यकता के अनुसार खाना पाते हैं,' आदर्श समाज है। प्रत्येक घर के अन्दर यही व्यवस्था चलती है। वहां शक्ति के अनुसार सभी कार्य करते हैं, परन्तु कुछ भी न कमाने वाले छोटे बच्चे को सबसे अधिक दूध मिलता है। बस, इस घर के अन्दर लागू हुए-हुए नियम को ही सारे समाज में व्यापक कर देना है। इस नियम के पालन के बिना जैसे घर नहीं चल सकता इसी प्रकार यह नियम सामाजिक जीवन व उत्थान के लिए भी आवश्यक है। ऐसे समाज में सब मिल-जुल कर चलते हैं सो 'नृ-मेध' हैं और व्यनासक्त न होने से और कार्यों में सदा व्याप्त रहने से ये 'आंगिरस' हैं। इनका एक-एक अंग रस व शक्ति वाला है।

भावार्थ—हमारे समाज का आदर्श वाक्य यह हो कि 'कार्य शक्ति के अनुसार, धन का विभाग आवश्यकता के अनुसार।

साम्यवाद—२ **किसको अन्न न मिले ?**

२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
न सीमदेव आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः।
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
एतग्वा चिद्य एतशो युयोजत इन्द्रो हरी
३ १ २
युयोजते ॥६॥२६८॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि [**दीर्घायो**]=ऐ दीर्घ जीवन वाले ? [**अदेवः मर्त्यः**]=वह मनुष्य जो कि (दिव्=गति) गतिशील नहीं होना चाहता अर्थात् जो क्रियाशीलता को छोड़कर आराम-तलबी में चलता है यह [**सीम्**]= निश्चय से [**तद्इषम्**] =उस अन्न को (जो कि श्रम से पैदा किया जाता है) [**न आप**]=न प्राप्त करे। यहां 'दीर्घायो' इस संबोधन से यह बात सुव्यक्त हो गई है कि यदि घर में यह नियम न बनेगा और युवक निठल्ले व आरामपसन्द हो जायेंगे तो वह घर देर तक न चलेगा। यही बात समाज व राष्ट्र में लागू होती है। समाज के दीर्घ जीवन के लिए सबने कुछ उत्पन्न करना है। अकर्मण्य लोग राष्ट्र के लिए भार रूप होते हैं और राष्ट्र की अवनति का कारण बनते हैं।

इसलिये नियम यही होना चाहिये कि [**एतग्वाचित्**]=वह ही (एतं 'इषं' गच्छति इतिएतग्वा) इस अन्न को प्राप्त करने वाला हो [**यः**]=जो कि [**एतशः**]=इस शरीर रूप रथ में जुते इन चित्रित इन्द्रियरूप घोड़ों को [**युयोजते**]=निरन्तर क्रिया में जोड़ी रखता है। अर्थात् जो सदा क्रियाशील हो वही अन्न को पाने का अधिकारी समझा जाय।

और वस्तुतः [**इन्द्रः**]=जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, जो उनका गुलाम नहीं—वह [**हरी**]= ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप दोनों ही घोड़ों को [**युयोजते**]=कर्म व्यापृत रखता है। इन शब्दों में इन्द्रियों को कार्य व्यापृत रखने का वैयक्तिक लाभ भी इस रूप में संकेतित हुआ है कि 'तुम इंद्रियों के अधिष्ठाता बने रहोगे—इन्द्रियों के दास न बन जाओगे।

शक्तिभर कार्य करते रहने के दो लाभ हुए— (१) सामाजिक लाभ तो यह कि समाज उन्नत, समृद्ध व दीर्घजीवी होता है (२) और वैयक्तिक लाभ यह कि मनुष्य की इन्द्रियां उसे व्यसनों की ओर नहीं ले जातीं। इस प्रकार अपनी गति से अपना पालन व पूरण करने वाला यह 'पुरुहन्मा' 'पृ=पालन व पूरण, हन्=गति) हैं, और गति के ही परिणाम स्वरूप शक्तिशाली अंगों वाला होने से 'आंगिरस' है।

भावार्थ—जो शक्ति रहते कार्य न करे उसे अन्न न मिलना चाहिए।

साम्यवाद ३ प्रभु स्मरण (ब्रह्म+सवन)

साम्यवाद कैसे प्रचलित हो

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत ।
२ ३ १ २ ३ २ २ ३ १
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या
२
ऋचीषम ॥७॥२६९॥

ऊपर के दो मंत्रों में उन दो सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है जो कि आज के युग में 'साम्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। किसी भी समाज के उत्थान व दीर्घजीवन के लिए वे आवश्यक हैं। परन्तु उन सिद्धान्तों का प्रचलन तभी ठीक हो सकता है जबकि समाज के अंगभूत व्यक्ति प्रभु को स्मरण करते हुए अपना पारस्परिक बन्धुत्व अनुभव करें। घर के अन्दर बन्धुत्व अनुभव होता है तभी ये सिद्धान्त वहाँ लागू हो पाते हैं। सो मंत्र में 'नृमेध' के द्वारा कहा जाता है कि [**नः**]=हमारी [**विश्वासु समत्सु**]=सब सभाओं में (सम्+अत्=अज्) [**हव्यम् इन्द्रम्**]=उस पुकारने योग्य प्रभु को [**आभूषतु**]=सब प्रकार से अलंकृत किया जाय। सदा इकट्ठा होने पर, प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में हम उस प्रभु का स्मरण करें जिससे कि हम पारस्परिक बन्धुत्व को अनुभव करें। हम एक हों। [**उप**]=सदा प्रभु के समीप रहने का प्रयत्न करें। उसके समीप रहने से हमारे जीवन में [**ब्रह्माणि**]=स्तोत्र होंगे, [**सवनानि**]=यज्ञ होंगे। प्रभु के समीप, उसकी महिमा को देखते हुए, उसके स्तोत्रों का उच्चारण तो हम करेंगे ही, साथ ही हमारा जीवन यज्ञमय होगा। हम सदा उत्तम कर्मों को करने वाले होंगे।

[**वृत्रहन्**]=वे प्रभु वृत्रों को समाप्त करने वाले हैं, उनके समीप हम रहेंगे तो हमारी भी वासनाओं को वे विनष्ट कर डालेंगे। [**परमज्या**]=वे प्रभु तो एक प्रबल शक्ति हैं (ज्या (overpowering strength) उनके समीप रह कर मैं भी तो इस शक्ति से सम्पन्न हूंगा। [**ऋचीषमः**]=वे सदा स्तुति के समान गुणों वाले हैं। जिस रूप में हम प्रभु का स्मरण करते हैं, तदनुरूप गुणों को हम धारण कर पाते हैं। सो प्रभु का स्मरण करते हुए हम अपने जीवनों को उच्च बना पायेंगे। प्रभु के साथ यह संगम पालन व पूरण करेगा—हम 'पुरुमेध' होंगे। प्रभु के संपर्क में आकर बन्धुत्व अनुभव करने के कारण हम 'नृमेध' तो होंगे ही। सबके साथ मिलकर चलेंगे। उल्लिखित साम्यवाद के सिद्धान्त हमारे जीवन व्यवहार में सहज समा जायेंगे।

भावार्थ—प्रभु स्मरण से हम सबके साथ बन्धुत्व का अनुभव करें।

अवम, मध्यम व परम वसु

१र २र ३ २उ ३ १ २ ३ २
तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि न किष्ट्वा
१ २ ३ र
गोषु वृण्वते ॥८॥२७०॥

मंत्र के ऋषि वशिष्ठ कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ! [**अवमंवसु**]=सबसे निचली श्रेणी का वसु [**तव इत्**]=आपका ही है। [**मध्यमं वसु**]=मध्यम वसु को भी [**त्वम्**]=आप ही [**पुष्यसि**]=धारण करते हो। [**सत्रा**]=सचमुच [**विश्वस्य**]=संपूर्ण [**परमस्य**]=सर्वोत्कृष्ट वसु के भी [**राजसि**]=आप ही राजा हो—उससे भी आप ही देदीप्यमान हो। इस प्रकार सब वसुओं के धारण करने वाले भी [**त्वा**]=आपको [**गोषु**]=इन्द्रियों में फंसे हुए व्यक्ति [**नकि**]=नहीं [**वृण्वते**]=वरते हैं।

'वसु शब्द उस धन का वाचक है जो कि निवास के लिए उपयोगी है। वसु के द्वारा हम अपने निवास को उत्तम बनाते हैं। सबसे अवम वसु 'धन' है। धन के बिना यह प्राकृतिक शरीर अपनी आवश्यकताओं को कैसे पूरा कर सकता है? अन्न व वस्त्र सभी धन से प्राप्य हैं। मानस

शिक्षा व बौद्धिक विकास के लिए भी साधनों को जुटाना धन से ही साध्य है।

मध्यम वसु 'स्वास्थ्य' है। स्वास्थ्य के बिना मनुष्य का जीवन न होने से भी खराब सा होता है अस्वस्थ मनुष्य किसी भी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर पाता। न सांसारिक धर्म्य आनन्दों को ले सकता है—अर्थ संपादन की उसकी क्षमता भी न्यून हो जाती है—धर्म के कार्यों में व्यापृत होना उसके लिए कठिन होता है—मोक्ष साधन का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

परम वसु 'ज्ञान' है। इस ज्ञान के अभाव में मनुष्य पशुओं से ऊपर नहीं उठ पाता। पशुओं की तरह भोग योनि में ही वह बना रहता है। ज्ञान-अग्नि ही उसके जीवन को पवित्र करती है और उसे वस्तुतः मनुष्य पदवी के योग्य बनाती है।

सोने चांदी आदि अवम वसु के मालिक तो प्रभु हैं ही। वसुन्धरा को वसुन्धरा बनाने वाले व रत्नाकर को रत्नाकर बनाने वाले प्रभु ही हैं। प्रकृति के मालिक प्रभु हैं—सो सम्पूर्ण प्राकृतिक सम्पत्ति के अधिष्ठाता वे ही हैं।

स्वयं तो प्रभु पूर्ण स्वस्थ हैं ही। अस्वस्थ होने वाले शरीर के साथ उनका सम्पर्क नहीं, सो अस्वास्थ्य का वहां सम्भव ही कहां,—'अकायम्-अव्रणम्'=काम रहित हैं सो प्रभु प्राणों से भी रहित हैं। हमारे भी स्वास्थ्य को प्राप्त कराने वाले वे ही हैं। वैश्वानर अग्नि के रूप में चतुर्विध अन्न का पाचन कर वे हमें स्वस्थ बनाते हैं।

ज्ञान के भी आदि स्रोत वे प्रभु ही हैं। वे ज्ञान-धन-हिरण्यगर्भ हैं। विशुद्धा-चित् हैं। सासारिक आचार्यों का ज्ञान स्वयं अल्प होता है, सो उनसे प्राप्त होने वाला ज्ञान भी सीमित ही होता है। ये सब गुरु देशकालावच्छिन्न हैं, वह प्रभु ही सनातन गुरु हैं।

इस प्रकार तीनों वसुओं के चरम आशय वे प्रभु ही हैं। ऐसा होने पर भी न जाने मनुष्य उस प्रभु का वरण क्यों नहीं करते? यह सचमुच आश्चर्य ही है। प्रभु के वरण न करने का कारण वेदमंत्र के अनुसार यह है कि 'गोषु'=मनुष्य इन्द्रियों में ग्रसित हो जाता है। विषयेन्द्रियों के सम्पर्कों में फंसकर मनुष्य प्रभु से दूर हो जाता है प्रभु को भूल वह विषयों की दलदल में उलझ जाता है। प्रभु का वरण तो यह तभी कर पायेगा जबकि इन्द्रियों को वश में करके 'वशिष्ठ' बनेगा। वशिष्ठ ही प्रभु का वरण करता है। वशिष्ठ बनने के लिए उसे 'मैत्रावरुणि' मित्र और वरुण अर्थात् प्राणापान की साधना करनी होगी। प्राणापान की साधना ही उसकी इन्द्रियों के मलों का दहन करके उन्हें निर्मल बनावेगी। यह निर्मलेन्द्रिय पुरुष अवश्य प्रभु का वरण करेगा और प्रभु का वरण करने पर तीनों वसुओं को पाने का भी अधिकारी हो जायगा। प्रभु को वरा, और वसु मिले। प्रभु वरण और वसु प्राप्ति में उसी प्रकार व्यवधान नहीं होता जैसे कि प्रकाश के होने पर अन्धकार नाश में देर नहीं लगती। उस दिन हम शरीर से स्वस्थ होंगे, हमारा मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाश से चमक रहा होगा। सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो होती ही चलेगी।

भावार्थ—प्रभु का वरण करके हम वसुत्रयी को प्राप्त करने वाले बनें।

कहां भटकते रहे?

२र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः।
१ २ ३ १ २ ३ १
अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर प्र गायत्रा
अगासिषुः ॥६॥२७१॥

गतमंत्र में यह स्पष्ट हो चुका है कि जब इन्द्रियां मन को हर ले जाती हैं और विषयों में भटकती रहती हैं तो वे प्रभु के वरण से कोसों दूर होती हैं। मेधातिथि=समझदार व्यक्ति दम और शम की साधना करता है और इन्द्रियों व मन को अपने में ही निरुद्ध करने के लिए यत्नशील होता हैं। यह अपने को इस रूप में प्रेरणा देता है कि—

अरे भाई [**क्व इयथ**]=कहां भटकते रहे [**क्व इत् असि**]=अब भी कहां भटक रहे हो। [**ते मनः पुरुत्राचित् हि**]=निश्चय से अनेकों विषयों में तेरा मन जा रहा है। पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक यह भटकता है, समुद्रों, पर्वतों व दिशाओं के अन्तों तक यह जाता है। इसी प्रकार ये भटकता रहा तो तेरा कल्याण कैसे होगा ? विषयों में आसक्त ये मन तो सदा बन्ध के लिए होता है। निर्विषय होने पर ही मुक्ति का संभव है। इसलिए तू [**अर्लाष**]—(अल्=to prevent, ward off) आज अपने मन पर होने वाले इन विषयों के आक्रमणों को रोकता है और इनको रोकने के द्वारा ही तू अपने मन को (अल् (to adorn) उत्तम गुणों से सुभूषित करने का निश्चय करता है। [**युध्म**]=तू इनके साथ युद्ध करने में बड़ा कुशल बनता है, किसी भी प्रकार इनके धोखे में नहीं आता। [**खजकृत्**]=इनके विनाश के लिए ही तू अपना मन्थन (अन्तः—निरीक्षण) करता है। इन्द्रियां मन और बुद्धि में अपना अधिष्ठान बना ये वासनायें हमारे अन्दर ही छिपी बैठी होती हैं। उनको अपने किलों से ढूंढ निकालने के लिए ही अपने अन्दर टटोलता है, इनकी इन तीनों पुरियों का विदारण करने वाला तू '**पुरन्दर**' बनता है। महादेव भी तो त्रिपुरारि हैं—तू भी आज त्रिपुरारि बन कर महादेव सा ही बन जाता है।

ऐसा बनने के लिए ही [**गायत्रः**]=प्रभु के स्तोत्रों के गायन से अपना त्राण करने वाले उपासक लोग [**प्र अगासिषुः**]=खूब ही प्रभु के गुणों का गायन करते हैं। यह प्रभु गुणगान अवद्य भावनाओं को हमसे दूर रखता है। यह गुणगान की ध्वनि असुरों को नहीं सुहाती। इस ध्वनि का उच्चारण हुवा और असुर भागे। इस प्रकार इन आसुरवृत्तियों को अपने से दूर भगा कर यह 'मेधातिथि' समझदार आदमी 'मेध्य'=उस परम पवित्र प्रभु की ओर 'अतिथि' चलने वाला 'मेध्यातिथि' बन जाता है।

भावार्थ—हम मन को वशीभूत करें, उसे प्रभु में युक्त करें।

कलि के दो निश्चय

३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ १ २
वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् । तस्मा
३ १र २र ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥
१०॥२७२॥

जो व्यक्ति अच्छी प्रकार हिसाब-किताब लगा कर समझ लेते हैं कि 'श्रेय और प्रेय में श्रेय ही उपादेय है, न कि प्रिय (pleasant) होता हुआ भी प्रेय'—वे इस संख्यान (हिसाब-किताब) के कारण 'कलि' (कल् संख्याने) कहलाते हैं। इनका जीवन तो प्रभु गुणगान में ही व्यतीत होता है सो ये 'प्रागाथ' कहलाते हैं। इनका निश्चय है कि [**वयम्**]=हम—कर्म तन्तु को अविच्छिन्न रखने वाले [**इत्**]=निश्चय से [**आ**]=सब प्रकार से [**ह्यः**]=जैसे कल उसी तरह [**इह**]=आज के दिन में भी [**एनम्**]=इस प्रभु को ही [**अपीपेम**]=आप्यायित करते हैं। स्तोत्रों के द्वारा उस प्रभु की ही महिमा को बढ़ाते हैं। चूंकि ये प्रभु तो [**वज्रिणम्**]=वज्र वाले हैं। वज्र से मेरे सब शत्रुओं को कुचलने वाले हैं। यह वज्र बहुत करके गतिशीलता का ही प्रतीक है (वज् गतौ) गतिशीलता से वासनाओं व मलों का नाश सुप्रसिद्ध है।

[**तस्मै**]=उस प्रभु की प्राप्ति के लिये [**उ**]=ही [**अद्य**]=आज [**सवने सुतम्**]=(हवने हुतम्, स=ह) अग्निहोत्र में आहुतियों को [**भरा**]=डालता हूं। यज्ञ=स्वार्थ त्याग प्रभु प्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः प्रकृति को छोड़े बिना हम प्रभु को पा ही नहीं सकते। प्रकृति को छोड़ना—प्रकृति से मोक्ष ही हमें अपने को प्रभु से बन्धन के योग्य बनाता है। उस प्रभु की प्राप्ति के लिये ही, कलि कहता है कि, [**नूनं**]=निश्चय से [**श्रुते**]=शास्त्र श्रवण व ज्ञान के विषय में [**भूषत**]=अपने को अलंकृत करो। ज्ञान के बिना

यज्ञिय भावना के उदय का भी तो संभव नहीं। एवं यज्ञ और ज्ञान ये दो प्रभु प्राप्ति के उपाय हैं।

भावार्थ—हम भी कलि के साथ यह निश्चय करें कि हम अपने हृदयों को यज्ञिय व मस्तिष्क को श्रुतपूर्ण बनायेंगे और इस प्रकार बनकर प्रभु को प्राप्त करने वाले होंगे।

● ● ●

।।४।। ऋषिः १,६; पुरुहन्मा, २ भर्गः, ३ इरिम्बिठिः; ४ जमदग्निः; ५, ७, देवातिथिः; ८ वसिष्ठः; ९ भरद्वाजः; १० वालखिल्याः ।। देवता—१-३, ५-८, १० इन्द्रः; ९ इन्द्राग्नी ।। छन्दः—बृहती ।। स्वरः—मध्यमः ।।

पुरुहन्मा का जीवन

१र २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा
३ २
गृणे ।।१।।२७३।।

इस मंत्र का ऋषि पुरुहन्मा है—पालक व पूरक गति वाला। इसका जीवन इतना उत्तम बनता है कि प्रभु कहते हैं कि [**गृणे**]=मैं इसकी प्रशंसा करता हूं। हम प्रभु से प्रशंसनीय हों इससे क्या कोई उत्तम बात हो सकती है? 'गृणे' का अर्थ 'उपदेश देता हूं' भी होता है। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि वायु आदित्य व अंगिरा को वेदज्ञान दिया चूंकि 'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रम् आसीत्'=इनका जीवन श्रेष्ठ व निर्दोष था। पुरुहन्मा के जीवन को भी प्रभु निर्दोष समझते हैं—और उसे उपदेश देते हैं। यह निर्दोष जीवन निम्न शब्दों में चित्रित हुवा है :—

(१) [**यः चर्षणीनां राजा**]=जो श्रमशीलों के अन्दर चमकने वाला है। उत्पादक श्रम करने वाले पुरुषों का मुखिया है। (चर्षणयः—कर्षणयः)

(२) [**रथेभिः याता**]=इस शरीर रूप रथ तथा उसमें जुते हुए ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों मन रूपी लगाम व बुद्धि रूप सारथि के द्वारा यह अपने लक्ष्य स्थान को प्राप्त करने वाला बनता है। 'रथेभिः' यह बहुवचन का प्रयोग रथ के सारे अंगों के बाहुल्य के विचार से ही हुवा है। इन सबका ठीक उपयोग करता हुवा यह अपने लक्ष्य स्थान की ओर निरन्तर बढ़ रहा है।

(३) [**अध्रिगुः**]=(अधृतगमनः)—अल्पज्ञता व अल्पशक्तिवश कहीं-कहीं इससे गलती हो ही जाती है—यह लड़खड़ा जाता है, परन्तु फिर भी अपनी गति को समाप्त नहीं कर देता। बीच की असफलताओं से निराश नहीं हो जाता। फिर-फिर संभलकर आगे बढ़ता है। इसी का परिणाम है कि—

(४) [**विश्वासां पृतनानां तरुता**]=सब अभ्यास के द्वारा (पृ) शक्तियों का विस्तार करने वालों में यह आगे बढ़ जाता है। [**तरुता**]=इनको तैर जाता है। 'अतिसमं क्राम' इस वेदोपदेश को यह क्रियान्वित करता है।

(५) [**ज्येष्ठं**]=सभी से आगे बढ़ जाने के कारण ही यह ज्येष्ठ है। [**यः वृत्रहा**]=यह जो कि सब वासनाओं का विनष्ट करने वाला है। इसे प्रभु प्रशंसित करते हैं और उपदेश देते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवनों में भी वह दिन आये जबकि हम भी प्रभु से प्रशंसित हों व उपदेश के अधिकारी समझे जायें।

अभय-याचना

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २२ ३ १र
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि
२र
मृधो जहि ।।२।।२७४।।

इस मंत्र का ऋषि 'भर्गः प्रागाथः' है। पिछले मंत्र के वर्णन के अनुसार जो भी व्यक्ति 'पुरुहन्मा' के जीवन को अपनायेगा वह अवश्य तेजस्वी बनेगा। और यदि प्रभु का गायन करते हुए 'प्रागाथ' इस नाम को सार्थक करेगा तो उसको यह तेजस्विता बनी ही रहेगी। पर यह तो निश्चित है कि ज्यूंहि यह प्रभु से दूर हुवा इसे भय प्राप्त हुवा। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**इन्द्र**]=ऐ शत्रुओं का विद्रावण करने वाले प्रभो [**यतः भयामहे**]=जहां कहीं से हमें भय प्राप्त हो [**ततः**]=वहां-वहां से [**नः**]=हमें [**अभयं कृधि**]=निर्भय कीजिये। मैं वासनाओं के साथ युद्ध तो करूंगा, परन्तु क्या उनको मैं अकेले जीत पाऊंगा? नहीं, कदापि नहीं। ऐ [**मघवन्**]=अनन्त ऐश्वर्य वाले प्रभो? [**शग्धि**]=शक्तिशाली तो आप ही हो, इन वासनाओं से युद्ध में आप ही मुझे विजय प्राप्त कराओगे। आप ही समर्थ हो। इन वासनाओं पर यदि विजय होती है तो [**तत्**]=वह [**तव**]=आपकी ही है। उसमें मेरा क्या? 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्वं ॒सत्ववतामहम्' इस वाक्य के अनुसार सब विजय आपकी ही है। वस्तुतः यह विचार ही [**नः**]=हमारे [**ऊतये**]=रक्षण के लिये होता है। अन्यथा वासनाओं पर विजय का गर्व होकर फिर हम अभिमान के शिकार ही तो हो जाते हैं। और इस अभिमान में पड़कर फिर रागद्वेष के चक्र में हम चल पड़ते हैं। सो प्रभो? आप कृपा करो—हमारी वृत्ति को निरभिमान करो और [**विद्विषः**]=द्वेष की भावनाओं को [**विमृधः**]=हिंसा को वृत्तियों को [**जहि**]=हमारे से दूर करो। हमारा जीवन निरभिमानता के साथ माधुर्यमय हो। 'भूयासं मधुसंदृशः'=मधु जैसा ही बन जाऊं। अभिमान मुझे द्वेष व हिंसा की ओर न घसीट ले जाय।

भावार्थ—मैं अनुभव करूं कि मेरी जीवनयात्रा को पूर्ण करने वाले प्रभु ही हैं।

इरिम्बिठि का प्रभु स्तवन

१   २   ३ १र   २र   २ १ २
वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम्।
३ २ ३ २ ३ १र   २र   ३ २ ३   १ २ ३
द्रप्सः पुरां भेत्ता शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां
१ २
सखा ॥३॥२७५॥

[**वास्तोष्पते**]=ऐ प्रभो? आप इन हमारे शरीर रूप घरों के रक्षक हो। (वास्तु=गृह) आप हमारे जीवनभवन के [**ध्रुवा स्थूणा**]=ध्रुवस्तम्भ हो। [**सोम्यानाम् अंसत्रम्**]=निरभिमान भक्तों के कन्धों के रक्षक हो, अर्थात् उन पर सदा आपके वरदहस्त की छाया बनी रहती है। [**द्रप्सः**]=उन भक्तों को आप हर्ष के प्राप्त कराने वाले हो—उन्हें पवित्र मनः प्रसाद प्राप्त होता है। आप अपने भक्तों के [**शश्वतीनां**]=सनातन काल से चले आ रहे इन [**पुरां**]=शरीर रूप नगरियों के [**भेत्ता**]=विदारग करने वाले हैं। वासनायें इन्द्रियों मन और बुद्धि को अपना अधिष्ठान बनाती हैं—प्रभु की कृपा से ये पवित्र हो जाते हैं और वासनाओं के दुर्ग नहीं रहते। महादेव त्रिपुरारि हैं—उनका भक्त भी इन तीन असुर पुरों का विध्वंस करने वाला बनता है।

प्रभु इन वासनाओं का संहार करके हमें उच्च ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। इन्द्रः=वे परमैश्वर्य वाले हैं। और अन्त में [**मुनीनां सखा**]=वे प्रभु मुनियों के सखा हैं। "मौनान्मुनिः"=कम बोलने वालों के वे प्रभु मित्र हैं। जो बोलते कम हैं और अपने कर्तव्य कर्म को अप्रमाद से किये चलते हैं वे मुनि कहलाते हैं। प्रभु की मैत्री इन्हीं को प्राप्त होती है। वस्तुतः 'इर् गतौ, बिठं=हृदयान्तरिक्षं' जिसके हृदयान्तरिक्ष में कर्म संकल्प है उस इरिम्बिठि को क्रियाप्रधान व मौन वाला होना ही चाहिये। बहुत बोलने से तो शक्ति का ही व्यर्थ में यापन होता है।

इस प्रकार स्तुति करता हुवा इरिम्बिठि निम्न

बोध लेता है (१) मैंने प्रभु के दिये इस गृह की रक्षा करनी है—स्वस्थ बनना है। (२) जीवन का मूल आधार प्रभु को ही मानना है (३) सोम्य बनकर प्रभु के वरदहस्त को अपने सिर से दूर नहीं होने देना। (४) मनः प्रसाद को नष्ट नहीं करना (५) शरीर मन व इन्द्रियों को असुर नगरी नहीं बने रहने देना (६) प्रभु के सम्पर्क में आकर परमैश्वर्य को पाना है (७) और यथा संभव कम बोलते हुए प्रभु की मैत्री का पात्र बनना है। इस प्रकार का जीवन बनाने वाला ही 'काण्व'=मेधावी है।

भावार्थ—हम सोम्य बनें, ताकि प्रभु की छत्र-छाया में सदा रहें।

रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव
३ १ २
महाँ असि ॥४॥२७६॥

इस मंत्र का ऋषि 'जमदग्नि भार्गव' है। जमत्=खूब खाने वाली है अग्नि=वैश्वानराग्नि जिसकी ऐसा यह जमदग्नि ऋषि है। तेजस्वी होने से यह भार्गव है। इसने अपना खूब परिपाक किया है। इरिम्बिठि को गत मंत्र के प्रभु स्तवन में 'वास्तोष्पति' शब्द से जिस स्वस्थ शरीर के रखने का निश्चय हुवा था उसी स्वास्थ्य का रहस्य 'जमदग्नि' शब्द बतला रहा है। पाचनाग्नि ठीक रहेगी, शरीर स्वस्थ रहेगा। पाचनाग्नि ठीक तब रहेगी जबकि हम रस में फंस भोजन का अतियोग न कर बैठेंगे। 'रसमूला हि व्याधयः'=सब बीमारियां इस रस-स्वाद के कारण ही तो उत्पन्न होती हैं। इस रस को हम तब जीत पायेंगे जबकि उस महान् रस का (रसो वै सः) अनुभव करेंगे। अधिक सुन्दर खिलौने के मिलने पर ही बालक पुराने खिलौने को छोड़ता है। इसी प्रकार प्रभु दर्शन का आनन्द मिलने पर ही सकाम यज्ञों के फलों के प्रतिपादक वेदवादों से ऊपर उठता है। इस रस को भी तो तभी छोड़ेगा जब उस रस को पायेगा। तो जमदग्नि प्रभु दर्शन की कामना से प्रभु की विभूतियों में उसकी महिमा के दर्शन का प्रयत्न करता है और कहता है कि ऐ [**सूर्य**]=आकाश में निरन्तर आगे बढ़ने वाली ज्योति तू [**वट्**]=सचमुच कितनी (What) [**महान् असि**]=महान् है। पृथ्वी से १२½ लाख गुणा बड़ा, ६४ हजार मील ऊंची लपटों वाला, ९½ करोड़ मील दूरी से इतनी तीव्र ज्योति प्राप्त कराने वाला सूर्य सचमुच महान् है। ऐ आदित्य=आदान करने वाले [**वट्**]=तू सचमुच कितना [**महान् असि**]=महान् है। आदान करने की तेरी शक्ति की क्या कोई तुलना कर सकता है। समुद्र के समुद्र को उठाकर किस प्रकार तू अन्तरिक्ष में ले जाता है। तेरे आदान करने की यह भी तो कितनी खूबी है कि तू शुद्ध मधुर जल का ही ग्रहण करता है—समुद्र के खारेपन की ओर तेरा ध्यान नहीं। हमें भी तो तेरा अनुकरण करते हुए खारीपन को न लेकर माधुर्य को ही लेना चाहिये। मुझे भी तो तेरी ही तरह निरन्तर क्रियाशील बनकर तेजस्विता को पाना चाहिये।

जमदग्नि इस प्रकार प्रभु की इस महान् विभूति को देखता हुवा प्रभु की तेजस्विता का अनुमान व ध्यान करता है और उसका मस्तिष्क उसकी तेजस्विता को मापने में असमर्थ होकर कह उठता है कि ऐ प्रभो ? आप तो [**महः**]=तेजस्विता के ही पुंज हो, 'तेजोऽसि'=तेज ही तेज हो अतएव [**सतः ते**]=सत्ता व पवित्रता वाले तेरी [**महिमा**]=गौरव [**पनिष्टमः**]=स्तुत्यतम है—अधिक से अधिक स्तुति करने योग्य है। प्रभु तेज के पुंज हैं—इसी से पवित्रता के भी पुंज हैं। उनकी तेजस्विता व पवित्रता की महिमा का कोई अन्त है ? अनन्त उस प्रभु का तेज है–अनन्त ही सत्ता है।

इस प्रकार ध्यान करता हुवा जमदग्नि कह

उठता है कि ऐ [**देव**]=दिव्यशक्ति ? तुम तो [**महा**]=अपनी महिमा से [**महान् असि**]= सचमुच महान् हो—पूजा के योग्य हो। 'नमोस्तु ते सर्वत एव सर्व'=मैं तो सब ओर आपकी ही महिमा को देखता हूं और आपके प्रति नत-मस्तक होता हूं।

इस जमदग्नि का जो कि प्रभु की महिमा को देख तल्लीन सा हो गया है और एक अद्भुत रस को अनुभव कर रहा है, सांसारिक विषयों के प्रति रस समाप्त हो गया है। अतएव उचित भोजनों को करता हुवा यह 'जमदग्नि' बना हुवा है और प्रभु को जीवन का आधार बनाकर प्रभु के ही समान तेजस्वी बन रहा है='भार्गव' है।

भावार्थ—हमारे जीवन का आदर्श भी 'जमदग्नि भार्गव' बनना हो।

प्रभु का मित्र

३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३
अश्वी रथी सुरूप इद्गोमान् यदिन्द्र ते
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सखा। श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा
३ १र २ ३ १र २र
चन्द्रैर्याति सभामुप ॥५॥२७७॥

ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ? [**यद्**]= यदि [**ते सखा**]=तेरा मित्र होता है तो (१) [**अश्वी**]=उत्तम कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों वाला होता है (अश्नुते कर्मणि=अश्व=कर्मेन्द्रिय)। प्रकृति में न फंसा होने के कारण उसके कर्म पवित्र होते हैं। (२) [**रथी**]=वह उत्तम शरीर रूप रथ वाला होता है। न व्यसन, न रोग। शरीर तो उत्तम होना ही हुवा। (३) [**सुरूपः इत्**]=यह निश्चय से उत्तम रूप वाला होता है। स्वास्थ्य उत्तम रूप का कारण बनता है। (४) [**गोमान्**]=इसकी ज्ञानेन्द्रियां प्रशस्त होती हैं (गमयन्ति अर्थात् गावः=ज्ञानेन्द्रियाणि)। वस्तुतः प्रभु का स्मरण करने व उसका सखा बनने पर शरीर मन बुद्धि सभी खूब स्वस्थ होते हैं। यह व्यक्ति ठीक ही दिशा में चिन्तन करता है—इसे तो वस्तुतः अन्तः प्रकाश दिखता है और इसकी ज्ञानेन्द्रियां चीज़ के ठीक ही रूप को देख पाती हैं। (५) यह व्यक्ति ऐसे [**वयसा**]=जीवन से [**सचते**]=समवेत होता है जो कि [**श्वात्रभाजा**]=(श्वि=गति, वृद्धि) सदा क्रियाशील होता है और वृद्धिशील होता है। इसके जोवन में प्रत्येक क्रिया इसको उत्थान की ओर ले जा रही होती है। (५) यह व्यक्ति [**सदा**]= हमेशा [**चन्द्रैः**]=आह्लादक भावों के साथ [**सभाम्**]=सभा को [**उपयाति**]=प्राप्त होता है। जब सभा में आता है तो यह अपने विचारों से सभी को आह्लादित व उत्साहित करता है, कभी भी निराशा व निरुत्साह का फैलाने वाला यह नहीं होता।

एवं प्रभु का मित्र उल्लिखित छः गुणों से विभूषित जीवन वाला होता है। अपने जीवन को ऐसा बनाना ही बुद्धिमत्ता है वेद में इस व्यक्ति को 'मेधातिथि'=बुद्धि के मार्ग पर चलने वाला कहा गया है।

भावार्थ—प्रभु के मित्र बन हम भी उल्लिखित ६ गुणों से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

प्रभु का विस्तार (अचिन्त्य विस्तार)

१र २र ३ २ ३ १र २र ३ २ १
यद्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः। न
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट
१ २
रोदसी ॥६॥२७८॥

'पुरुहन्मा आंगिरस' ऋषि उस प्रभु का स्मरण करता हुआ उसकी महिमा से अभिभूत व विस्मित हो उठता है और कहता है ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्य-शाली प्रभो ! [**यत् ते शतं द्यावः स्युः**]=यदि आपके इस एक द्युलोक जैसे सैंकड़ों द्युलोक हों [**उत्**]=और [**शतं भूमीः स्युः**]=सैंकड़ों ही पृथिवियां हों तो भी [**त्वा**]=आपको [**न अष्ट**]=व्याप्त नहीं कर सकतीं। आप सैंकड़ों

द्युलोकों व सैकड़ों ही पृथिवीलोकों से कितने ही विशाल हैं। वस्तुतः रोदसी=ये एक दूसरे का आह्वान करते हुए (क्रन्दसी) द्युलोक व पृथिवी लोक अपने अन्तर्गत सारे अवकाश से [**न अष्ट**]= आपको समा नहीं लेते। आपका विस्तार अनन्त है ये सब लोक तो आपके एक देश में हैं 'त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः, पादोऽस्येहाभवत् पुनः'। आप इन सब लोकों को आवृत करके कितना ही ऊपर स्थित हैं 'स भूमिं सर्वतस्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाँगुलम्'। वस्तुतः आप समुद्र हैं तो ये लोक लोकान्तर तो उसके एक कण के समान हैं। आप सचमुच अनन्त हैं।

ऐ [**वज्रिन्**]=(वज् गतौ) क्रियाशीलता, स्वाभाविक, क्रिया से चमकने वाले प्रभो! [**जातं**]=विकसित हुए-हुए आपको [**सहस्रं सूर्याः**]=हजारों भी सूर्य [**अनुन**]=प्रकाश से अनुगत नहीं हो सकते। हजारों भी सूर्यों से आपका प्रकाश अधिक है 'दिविसूर्य सहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता, यदि भाः सदृशी सा स्यात् भासस्तस्य महात्मनः'=हजारों सूर्यों का प्रकाश भी शायद ही उसके प्रकाश के समान हो सके। अनन्त है आपका प्रकाश। एवं अनन्त है आपका विस्तार और अनन्त ही है आपका प्रकाश। आपको स्मरण करता हुआ मैं पालक व पूरक गतिवाला 'पुरुहन्मा' बनता हूं और अव्यसनी बनकर 'आंगिरस' होता हूं।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाये।

वह उत्साहित करने वाला सारथि

१ २ ३   २उ   ३ २ ३क   २र   ३ २ ३ १ २
यद्विन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः।
१ २ ३ १र २र   ३ २ ३ १ २   ३ १ २
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे॥
७॥२७९॥

ऐ [**इन्द्र**]-परमैश्वर्यशाली प्रभो! यत्= जो आप [**प्राक् अपाक्**]=पूर्व में या पश्चिम में [**उदक् वा न्यक् वा**]=उत्तर में या दक्षिण में [**नृभिः हूयसे**]=मनुष्यों से आप पुकारे जाते हो सो आप उस ही दिशा में थोड़े रहते हो! आप तो [**सिमा**]=सर्वत्र सब दिशाओं में व्याप्त हो। कहां आपकी सत्ता नहीं। आप समुद्र में हैं तो कौली के पानी में भी तो व्याप्त हैं। दूर से दूर भी हैं और समीप से समीप भी। जगत् के अन्दर भी हैं और बाहर भी। आप तो चारों ओर अनन्त दूरी तक गये हुए हैं। [**पुरू**]=आप सर्वत्र व्याप्त होकर सभी का पालन-पोषण कर रहे हो। ध्रुवों पर स्थित पशु भी अपना भोजन प्राप्त करते हैं, समुद्र के तल में स्थित जलचर भी और हिमाच्छादित पर्वत श्रृङ्गों पर रहने वाले प्राणी भी। आस्तिक भी, नास्तिक भी, सभी आपसे भोजन को पाते हैं। ऐ प्रभो! आप [**नृ-षूतः असि**]= यन्त्रारूढ़ सभी प्राणियों के सारथि सूत हो। हम जब गलती से बागडोर अपने हाथ में ले लेते हैं तभी कहीं टकरा जाते हैं। आप [**आनवे**]= (अन प्राणने) जीव के उत्साहित करने के लिए होते हैं। जिस प्रकार समय-समय पर निरुत्साहित हुए अर्जुन को कृष्ण उत्साहित करते हैं इसी प्रकार प्रभु से हम उत्साहित किये जाते हैं। ऐ [**प्रशर्ध**]= प्रकृष्ट शक्ति वाले प्रभो! आपके सम्पर्क में हमें भी शक्ति प्राप्त होती है और इस प्रकार [**तुर्वशे असि**]=आप हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम त्वरा से इन इन्द्रियों व मन बुद्धि को वश में करने वाले होते हैं। 'तुर्वशे' शब्द का अर्थ निघण्टु में 'अन्तिके'='समीप' भी है। तो यह भी अर्थ संगत है कि आप समीप होते हुए हमें 'प्रशर्ध'=अत्यन्त शक्तिशाली बनाने वाले हैं।

एवं, सर्वत्र प्रभु को देखने वाला, वस्तुतः सदा प्रभु के साथ चलने वाला और सदा प्रभु रूप सारथि वाला यह व्यक्ति 'देवातिथि' है=देव के साथ चलने वाला व्यक्ति ही 'काण्व'=समझदार है चूंकि प्रभु के साथ रहने में ही उत्साह व शक्ति है।

भावार्थ—मैं तो अपने इस प्रभु से दिये रथ का प्रभु को ही सारथि वरूं।

श्रद्धा व आस्तिकता

१र २र ३ १र २र
कस्तमिन्द्र त्वा वसुमा मर्त्यो दधर्षति ।
३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥८॥२८०॥

[**वशिष्ठ**]=वश करने वालों में श्रेष्ठ इस मंत्र का ऋषि है वह ऐसा बन इसलिये पाया है कि वह मैत्रावरुणि=मित्र और वरुण अर्थात् प्राण और अपान की साधना करने वाला है। यह इन्द्रियों को वश में कर प्रभु का दर्शन करता है। इसे प्रभु में अटूट श्रद्धा है। इस श्रद्धा को ही यह इन शब्दों में व्यक्त करता है कि [**इन्द्र**]=ऐ परमैश्वर्य शाली प्रभो? **क:**=कौन[**मर्त्य:**]=मनुष्य [**तम्**] =उस को जिसको कि[**त्वावसुम्**]=आप बसाने वाले हो, **आदधर्षति**=सर्वथा धर्षित कर सकता है। वस्तुत: जिसकी प्रभु रक्षा करते हैं उसको कोई भी, संसार की सारी शक्तियां मिलकर भी नष्ट नहीं कर सकतीं। 'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्'। और इसके विपरीत जो आपसे रक्षित नहीं, संसार के सारे साधन संपन्न होकर भी उसे सुरक्षित नहीं कर पाते। 'सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति'। हम एक को अनाथ की तरह वन में छोड़ देते हैं, वह तो जीता रहता है। और इसके विपरीत शतश: प्रयत्नों के किये जाने पर भी घर में मर जाता है। वस्तुत: हमारे प्रयत्नों के होने पर हमारी रक्षा तो प्रभु कृपा से ही होती है। वास्तविकता तो यह है कि प्रभु कृपा ही मुझे प्रयत्नशील भी बनाती है।

[**ऐ मघवन्**]=निष्पाप ऐश्वर्य वाले प्रभो! [**श्रद्धाहिते**]=निश्चय से आप पर की गई श्रद्धा मनुष्य को उस[**दिवि**]=प्रकाश में रखती है जोकि [**पार्ये**]=इस श्रद्धा संपन्न पुरुष को सब उलझनों से पार पहुंचा देता है! श्रद्धा वाला शिष्य ही आचार्य से ज्ञान को पाता है, इसी प्रकार श्रद्धा वाला भक्त ही प्रभु से भी प्रकाश को पाया करता है। प्रकाश को ही नहीं [**वाजी**]=शक्तिशाली बनकर वह[**वाजं सिषासति**]=बल का भी सेवन करने वाला होता है। एवं श्रद्धा हमारे अन्दर दो तत्वों को जन्म देती है(१) प्रकाश को(२) और शक्ति को। पिता के समीप पहुंचा हुआ बालक जैसे शक्ति को अनुभव करता है उसी प्रकार श्रद्धालु में भी प्रभु के समीप रहने से शक्ति का प्रवाह बढ़ता है।

भावार्थ:—मेरे अन्दर श्रद्धा हो ताकि मैं प्रकाश को देखूं-शक्ति को प्राप्त करूं।

सभी घड़ा आगे और आगे (वह श्रद्धा)

१ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ १
इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः ।
३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हित्वा शिरो जिह्वया रारपच्चरत् त्रिंशत्
३ १ २
पदा न्यक्रमीत् ॥९॥२८१॥

गतमंत्र में वर्णित श्रद्धा का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि [**अपात् इयं**]=विना पांव वाली भी यह श्रद्धा [**पद्वतीभ्य:**]=पांव वाली तर्क व क्रियाशक्तियों से [**इन्द्राग्नी**] शक्ति व प्रकाश के तत्व तक [**पूर्वा**]=पहले [**अगात्**]=पहुंचती है। तर्क के अन्दर चहल पहल है, क्रिया तो है हो चहल पहल का नाम। इन तर्क और क्रिया दोनों से विपरीत श्रद्धा शान्त है। मत्र में इसी बात को काव्यमय ढंग से इस प्रकार कहा है कि श्रद्धा [**अपात्**]=विना पांव वाली है और तर्क और क्रिया पांव वाले हैं। तर्क व क्रिया की अपेक्षा हमें शक्ति व ज्ञान तक पहुंचाने में श्रद्धा का अधिक स्थान है। श्रद्धा हमें शक्ति संपन्न करती है और हमारे मस्तिष्क को प्रकाशमय बनाती है।

इस श्रद्धा को धारण करने वाला व्यक्ति [**शिर:**]=मस्तिष्क को अर्थात् ज्ञान का [**हित्वा**]=धारण करके [**चरत्**]=क्रियाशील होता है हुवा [**जिह्वयारारपत्**]=जिह्वा से उस प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। ऊपर श्रद्धा को[**अपात्**]=न क्रियाशील कहा है यहां चरत् शब्द से उसे क्रियाशील बतलाया गया है। इनमें अविरोध इस तरह है कि श्रद्धा 'अल्पारम्भ महाव्यग्र' न

होने से शान्त है। यह महान् कार्यों में लगी हुई भी अधिक से अधिक शान्त होती है।

दिन के ३० मुहूर्त यहां मंत्र में [**त्रिंशत्पदा**] शब्द से कहे गये हैं। यह श्रद्धा ३० के ३० मुहूर्त [**त्रिंशत्पदा न्यक्रमीत्**] (नि=निश्चय) निश्चय से आगे और आगे बढ़ती है। श्रद्धा सदा हमारी उन्नति का कारण बनती है। हमें शक्ति संपन्न करती है सो हम 'भारद्वाज' बनते हैं, हमें ज्ञान संपन्न करती है सो हम 'बार्हस्पत्य' होते हैं।

भावार्थ—हम इस तत्व को समझ कर चलें कि तर्क और क्रिया की अपेक्षा श्रद्धा का स्थान अधिक ऊंचा है। तर्क और क्रिया रजः प्रधान हैं, श्रद्धा सात्विक है।

बुद्धि, शान्ति, मित्रता

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे
३ १ २
स्वापिभिः ॥१०॥२८२॥

इस मंत्र का ऋषि 'मेध्य'=पवित्र जीवन वाला है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो! [**आ**]=सर्वथा [**नेदीयः इत्**]=बहुत ही समीप [**इहि**]=आइये। मेध्य की कामना है कि प्रभु उससे दूर न हों- वह सदा प्रभु के समीप रहे। वह प्रार्थना करता है आप [**ऊतिभिः**]=अपने रक्षणों के साथ हमें प्राप्त हूजिये। आपके रक्षण [**मित - मेधाभिः**]=ऐसे हैं जोकि बुद्धि का निर्माण करते हैं। वस्तुतः प्रभु जिसे समाप्त करना चाहते हैं उसकी बुद्धि का विपर्यास कर देते हैं और जिसको सुरक्षित करना चाहते हैं उसकी बुद्धि को निर्मल कर देते हैं। ऐ [**आशन्तम**]=सर्वतः सर्वाधिक शान्त प्रभो! आप [**शन्तमाभिः**]=अत्यन्त शान्त [**अभिष्टिभिः**] इच्छाओं से हमें प्राप्त होईये। अर्थात् हम संसार के अन्दर शान्ति को ही फैलाने वाले बनें ताकि घातपात करते हुए अपने ही खजाने को भरने का ध्यान करें! ५ गांवों से ही जीविका कर लेने की कामना वाले पाण्डव शान्त वृत्ति के हैं परन्तु 'युद्ध के विना सूच्यग्र के बराबर भूमि को भी न दूंगा' इस धारणा वाला दुर्योधन शान्त इच्छाओं से दूर है। ऐ [**स्वापे**]=उत्तम मित्र भूत प्रभो! आप हमें भी [**स्वापिभिः**]=उत्तम मित्रताओं से युक्त करिये। जब संसार में सभी साथ छोड़ देते हैं उस समय प्रभु ही हमारे मित्र होते हैं ये कभी हमारा साथ छोड़ते नहीं। हम भी उत्तम मित्रता वाले हों।

उल्लिखित शब्दों में यह कहा गया है कि प्रभु के संरक्षण हमारे में (१) बुद्धियों का निर्माण करेंगे (२) हमें शान्त इच्छाओं से भरेंगे (३) और हमें उत्तम मित्र बनायेंगे। ऐसे जीवन वाला व्यक्ति ही [मेध्य]=पवित्र है। यही व्यक्ति काण्व=मेधावी है।

भावार्थ:—मैं प्रभु के सामीप्य में रहकर बुद्धिमान् शान्त व सभी का मित्र बनूं। ●

॥ ५ ॥ ऋषिः—१ नृमेधः; २, ३ वसिष्ठः; ४ भरद्वाजः; ५ परुच्छेपः; ६ वामदेवः; ७ मेध्यातिथिः; ८ भर्गः; ९, १० मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च ॥ देवता—१—४, ७—१० इन्द्रः; ५ अश्विनौ; ६ वरुणः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

इस संसार से संरक्षण के लिये (प्रलोभन पूर्ण संसार से बचने के लिये)

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आशुं जेतारं होतारं रथीतमम अतूर्तं तुग्रिया-
३ १ २
वृधम् ॥१॥२८३॥

इस मंत्र का ऋषि 'नृमेध आंगिरस' कहता है कि [**इतः**]=इस प्रलोभन पूर्ण संसार से [**वः ऊती**]=(ऊत्या) अपने रक्षण के उद्देश्य से उस प्रभु का स्मरण करिये जो कि (१) [**अजरम्**]=जरा रहित है [**प्रहेतारं**]=प्रकृष्ट प्रेरणा को देने वाला है (३) [**अप्रहितम्**]=स्वयं किसी दूसरे से भेजा नहीं गया (४) [**आशुं**]=शीघ्र कार्य

कर्ता है (५) [**जेतारं**]=सदा विजयशील है (६) [**होतारं**]=दान देने वाला है—व स्वार्थशून्य है [**रथीतमम्**]=सर्वोत्तम रथी है (७) [**अतूर्तम्**]=हिंसारहित है। न हिंसित होने वाला, न हिंसा करने वाला (८) तथा [**तुग्रियावृधम्**]=शक्ति का बढ़ाने वाला है।

उल्लिखित रूप में प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी निश्चय करें कि हमें जीर्ण नहीं होना। विषयों के प्रति आसक्ति तो हमारी जीर्णता का कारण बनती है—सो इनमें मैं क्यों फंसूं। यदि मैं उस प्रभु की प्रेरणा को सुनूंगा तो इनमें फंसने से बचा ही रहूंगा। प्रभु अप्रहित हैं मैं भी दूसरों से बहकाया जाकर किसी विषय का शिकार न बन जाऊंगा। इसी उद्देश्य से ही मैं भी सदा स्फूर्ति से कार्यों में लगा रहूंगा। सदा वासनाओं को जीतने वाला बनूंगा। वासनाओं को जीतने के उद्देश्य से ही मैं देने वाला बनूंगा। इस तत्व को न भूलूंगा कि यह शरीर जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये रथ है। मैं रथी हूं मैंने यह ध्यान रखना है कि ये इन्द्रिय रूप घोड़े सदा विषयों को चरते ही न रहें। मैं कभी भी हिंसा की वृत्ति वाला न बनूंगा—स्वयं भी आसुर वृत्तियों से अहिंसित होने का प्रयत्न करूंगा। वे प्रभु अपने भक्त की शक्ति को बढ़ाने वाले हैं मेरे भी बल को वे क्यों न बढ़ायेंगे।

यदि इस प्रकार प्रभु का स्मरण हमें प्रेरणा से संपन्न करेगा तो क्या हम कभी वासनाओं के शिकार होंगे? नहीं, इस बात की फिर कभी आशंका न होगी। इसी उद्देश्य से मैं 'नृ-मेध' बनूं। वे प्रभु तो सभी के मित्र हैं मैं भी सभी के साथ मित्रता वाला बनकर सचमुच नृमेध होऊं। यही व्यापक प्रम मुझे काम से ऊपर उठा. आंगिरस=शक्तिशाली बनायेगा।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्मरण करते हुए प्रलोभनों से अपने को बचा पाऊं।

समीप, समीपतर और समीपतम

१र २र ३ १ २ ३ २उ ३ १र २र
मोषु त्वा वाघतश्चनारे अस्मन्निरीरमन्।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
आरात्ताद्वा सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप
श्रुधि ॥२॥२८४॥

वसिष्ठ मैत्रा वरुणि कहता है कि [**त्वा**]=ऐ प्रभो! तुझे [**वाघतः**]=तेरा वहन (धारण) करने वाले विद्वान् लोग [**चन**]=भी आरे [**अस्मत्**]=हमारे से दूर [**मा उ**]=मत ही [**सुनिरीरमन्**]=उत्तम प्रकार से आनन्दित करें। अर्थात् विद्वान् लोग आपकी जो चर्चा करें वह हमारे समीप हो। हम विद्वानों के सम्पर्क में हों और उनसे की जाती आपके विषय की चर्चाओं को सुनें। हम सदा इस उत्तम वातावरण में रहते हुए विद्वानों के द्वारा आपके सामीप्य को प्राप्त करें।

[**वा**]=अथवा ऐ प्रभो! [**आरात्ताद्**]=दूर से [**नः**]=हमारे [**सधमादं**]=आपके साथ मिल कर आनन्द अनुभव करने के स्थान में [**आ गहि**]=आईये। अर्थात् हम सब घर के व्यक्ति मिलकर आपके साथ जहां आनन्द का अनुभव करें उस हमारे उपासना स्थान में ही आप आ जाईयेना? हम विद्वानों के द्वारा आपके सम्पर्क में आने के स्थान पर सीधे आपके सम्पर्क में आकर आपके समीपतर हो जायें। और सबसे अच्छी बात तो यह है कि [**इह**]=यहां हमारे हृदयों में ही [**वा**]=निश्चय से [**सन्**]=उपस्थित होते हुए [**उपश्रुधि**]=हमारी प्रार्थना वाणियों को सुनिये अथवा हमें वेदवाणियों के द्वारा ज्ञान का श्रवण कराईये। जिस दिन हृदयस्थ आपसे हम वेदज्ञान को सुन रहे होंगे उस दिन हम आपके समीपतम हो जायेंगे।

इस प्रकार वसिष्ठ की कामना तो यही है कि वह प्रभु के समीप, समीपतर व समीपतम होता जाय। वस्तुतः मनुष्य जितना-जितना इन्द्रियों को वशीभूत करके वशिष्ठ बनता जाता है, उतना-उतना वह प्रभु के समीप पहुंचता जाता है। वशी समीप पहुंचता है तो वशितर—समीपतर पहुंच जाता है और वशितम=वशिष्ठ समीपतम पहुंच जाता है।

भावार्थ—हम अधिकाधिक वशी बनते हुए प्रभु के अधिक और अधिक समीप पहुंचते जायें।

चार पुरुषार्थ

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
१ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १र
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित् पृणन्नित्
२र ३ १र ३ १
पृणते मयः ॥३॥२८५॥

यह मंत्र भी वशिष्ठ का है। वह कहता है कि—(१) [**सोमं सुनोत**]=सोम का अभिषव करो। अपने अन्दर सोम को उत्पन्न करो। यह किसके लिये ? [**सोम पाव्ने**] = जो सोम का पान करे उस अपने लिये। मनुष्य सोम को अपने अन्दर उत्पन्न करे और उसकी रक्षा न कर सके तो वह सोम का उत्पादन व्यर्थ हो जाता है—वल्कि कुछ हानि का कारण बनता है। सो हम सोम का उत्पादन करें और उस सोम का अपने ही अन्दर पान करें। किसलिये ? [**इन्द्राय**]=इन्द्र बनने के लिये। ऐश्वर्यशाली होते हुए शत्रुओं के विद्रावण के लिये, और [**वज्रिणे**]=(वज् गतौ) गतिशील बनने के लिये। जिस समय एक व्यक्ति रस सोम की रक्षा करता है तो ये दो उसके अवश्यंभावी परिणाम होते हैं (क) एक तो वह वासनाओं को जीत पाता है और (ख) दूसरे वह आलस्य का अनुभव न कर क्रियाशील बना रहता है। (२) सोमपान के बाद मनुष्यों का दूसरा कर्तव्य यह है कि वे [**पक्तीः पचता**]=पांचों ज्ञानेन्द्रियों के ओदन का ठीक परिपाक करें। वेद में जाव को पांचों ज्ञानेन्द्रियों के भोजन के दृष्टिकोण से पंचौदन कहा गया है। पांचों ज्ञानेन्द्रियों के भोजन का ठीक पकाने का अभिप्राय इस पांचभौतिक सृष्टि के ठीक ज्ञान प्राप्त करने से है। (३) इसका ठीक ज्ञान प्राप्त करते हुए—प्रभु की महिमा के अनुभव के द्वारा [**अवसे**]=प्रभु की दिव्यता के अंश को अपने में दोहन करने वाले [**कृणुध्वम्**]=हम अपने को करें। दिव्यता को अपने में उतारने के लिये हम पूण प्रयत्नशील हों (४) और इस दिव्यता के अवतार के लिये हो हम इस तत्व का मनन करें कि वे प्रभु इत्=सचमुच [**पृणन्**]=देने वाले हैं, सो [**इत्**]=वस्तुतः [**पृणते**]=देने वाले के लिये ही [**मयः**]=कल्याण होता है। दान से आसक्ति कम होती है और आसक्ति की कमी से प्रभु की दिव्यता हमारे में पूर्ण होती है। दान='देना, काटना व शुद्ध बनाना' इन तीन अर्थों का वाचक है सो दान देते हुए हम अपनी बुराईयों को काट डालें और अपने को शुद्ध बना लें।

यहां मंत्र में चार बातें कहीं गयी हैं। आधे मंत्र में एक, और बाकी आधे मंत्र में तीन। वस्तुतः हमारा ५० प्रतिशत प्रयत्न तो लगना ही सोमपान के लिये चाहिये, फिर पंचज्ञानों का परिपाक, दिव्यता का अवतरण व देने की वृत्ति स्वयं पनपने लगेगी। ये तीन बातें कठिन न रहेंगी।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे में मंत्रवर्णित चारों बातों का विकास हो। सोमपान करें, ज्ञान का परिपाक करें, दिव्यता को अपने में उतारें और दान देने वाले बनें।

ब्रह्मा, बिष्णु, शिव

१ २ ३ १र २र ३२ २ ३ १ २ ३ २
यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु
३ २
नो वृधे ॥४॥२८६॥

मंत्र में आराधना करते हैं कि [**समत्सु**]=काम क्रोध आदि से निरन्तर चलने वाले संग्रामों में [**नः**]=हमारी [**वृधे**]=वृद्धि के लिये [**भवा**]=हूजिये। (वृध्=get the better of) हम क्रोधादि को युद्ध में पराजित करने वाले हों। ऐ प्रभो ! आप तो [**सहस्रमन्यो**]=अनन्त प्रज्ञानों वाले हो [**तुविनृम्ण**]=बहुत शक्ति वाले हो [**सत्पते**]=उत्तमता (व उत्तम जनों) के रक्षक हो। आपकी कृपा से मेरा मस्तिष्क भी ज्ञान से भरपूर हो, मेरी भुजायें शक्ति सम्पन्न हों, और मेरा मानस उत्तम सात्विक भावनाओं वाला हो।

इसी विचार से, कि हम मस्तिष्क भुजा व मन तीनों दृष्टिकोणों से उन्नत हों [**वयम्**]=हम [**ते**]=उस [**इन्द्रं**]=परमैश्वर्यशाली प्रभु को [**हूमहे**] पुकारते हैं [**यः**]=जो [**बिचर्षणिः**]=विशेषरूप से बड़ी सूक्ष्मता के साथ देखने वाला

है, वह हमारे गुप्त से गुप्त दोषों को जानता है। केवल जानता ही नहीं, [**सत्रा-हा**]=उन सबको एकदम नष्ट करने वाला भी है। इन क्रोधादि को समाप्त करने में मेरा अपना सामर्थ्य नहीं है—प्रभु ने ही इन्हें समाप्त करना है। मैं प्रभु को स्मरण करूंगा, स्मरण ही नहीं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करूंगा तो वे प्रभु मेरे सब शत्रुओं को क्यों न समाप्त करेंगे। प्रभु के सम्पर्क में आकर शक्ति सम्पन्न बनकर मैं 'भरद्वाज' बनूंगा और ज्ञानी बनकर 'बार्हस्पत्य' हूंगा। यह ज्ञान और शक्ति का समन्वय मुझे लक्ष्मी व सरस्वती का अधिष्ठान बनायेगा। मैं विष्णु हूंगा, मैं ब्रह्मा हूंगा। उसी दिन वस्तुतः मैं शिव (कल्याण) को प्राप्त करूंगा।

भावार्थ—प्रभु कृपा से मैं आन्तर संग्रामों में विजयी बनूं।

प्रज्ञा, कर्म, दान

१ ३ ३ २ ३ १ २
शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दिशस्य-
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २उ
तम्। मा वां रातिरुपदसत् कदा चनास्म-
३ २ ३ २ ३ २
द्रातिः कदा चन ॥५॥२८७॥

वैदिक साहित्य में पति पत्नी 'अश्विनौ' कहलाते हैं। उनसे प्रभु कहते हैं कि ऐ [**शचीवसू**]=(शची=प्रज्ञा वि० -९-८; शची=कर्म नि० २-१-२२) प्रज्ञा और कर्म रूप उत्तम सम्पत्ति वालो! [**नः**]=हमें, हमारे प्रति [**दिवानक्तम्**]=दिनरात [**शचीभिः**]=ज्ञानों व कर्मों द्वारा [**दिशस्यतम्**]=(दिशअतिसर्जने) अथवा समर्पण करने की इच्छा करो। भक्ति समर्पण का ही नाम है। पर समर्पण किस चीज का? क्या ज्ञान व कर्म के अतिरिक्त जीव के पास कुछ है जिसका कि वह समर्पण करेगा? एक आदमी भक्त है तो उसे अपने भक्तिभाजन के प्रति समर्पण के लिये उत्तमोत्तम ज्ञानों व कर्मों का संग्रह करना, ताकि वह इनका प्रभु के प्रति अर्पण कर सके। 'यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।' ज्ञान और कर्म ही हमारे जीवन को निश्चित करते हैं। 'तं **प्रज्ञाकर्मणी** अन्वारभेते' 'यथाकर्म यथाश्रुतम्' आदि वाक्य इसी भाव के प्रतिपादक हैं। इन्हीं के द्वारा हमें प्रभु की आराधना करनी है। दूसरे शब्दों में जो गृहस्थ ज्ञान व सत्कर्मों का संचय नहीं करते, उनके जीवनों में प्रभु की उपासना का भी अभाव है।

ज्ञान और कर्म के साथ तीसरी आवश्यक वस्तु 'दान' है। प्रभु कहते हैं कि [**कदाचन**]=कभी भी [**मा**]=मत [**वां**]=तुम दोनों को [**रातिः**]=दान देने की प्रक्रिया [**उपदसत्**]=नष्ट हो। वस्तुतः मनुष्य देता रहता है तो प्रकृति में आसक्ति व लगाव वाला नहीं होता। और वास्तव में तो धन है ही प्रभु का, वे तो हमें उसके सद् विनियोग के लिये अपने धन का कोषाध्यक्ष बनाते हैं। सो प्रभु कहते हैं कि [**अस्मद् रातिः**]=यह हमारा दान तेरे द्वारा चलता हुवा [**कदाचन**]=कभी [**मा उपदसत्**]=नष्ट न हो। दान तो प्रभु कर रहे हैं, जीव तो बीच में निमित्तमात्र हैं।

इस प्रकार 'प्रज्ञा कर्म व दान' इस त्रयी को अपनाने वाला व्यक्ति उस महान् देव का सच्चा सेवक व दास है सो यह 'दैवोदासि' कहलाता है और इसके पर्व-पर्व में अंग प्रत्यंग में शक्ति होती है सो यह 'परुच्छेप' नाम वाला होता है।

भावार्थ—प्रज्ञा हमारे मस्तिष्क को उज्ज्वल करे, कर्म हमें शक्तिशाली बनायें, और दान हमें प्रकृति में अनासक्त बनाकर उस देव का सच्चा दास बनाये। जब तक हम प्रकृति के दास बनकर कृपणता को अपनाये हुए हैं तब तक हम प्रभु के दास कैसे बन सकते हैं? 'No man can serve two masters.'

खाली समयों को नाम स्मरण से भर दें

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः।
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
आदिद् वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्तारं
१ २
विव्रतानाम् ॥६॥२८८॥

[**स्तोता मर्त्य**]=स्तवन करने वाला मनुष्य [**यदाकदाच**]=जब कब, अर्थात् जिस समय भी वह अवसर प्राप्त हो तो [**मीढुषे**]=सब सुखों की वर्षा करने वाले उस प्रभु के लिए [**जरेल**]=स्तुति करे। खाली समय का इससे सुन्दर और क्या उपयोग हो सकता है? स्वाध्याय के लिए भी पुस्तक चाहिये, और उसका हर समय सुलभ होना संभव नहीं। प्रभु स्मरण के लिए किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं। उसके लिए तो वाणी के व्यापार की भी आवश्यकता नहीं। यदि उस समय को प्रभु नाम स्मरण में बितायेंगे तो हमारा मन छोटी-छोटी व्यर्थ की बातों में न उलझेगा, उसके अन्दर तुच्छ भावनायें पनपने का अवसर न पायेंगी। एवं स्तोता अपने मन को पवित्र रख पाता है।

[**आत् इत्**] और अब निश्चय से [**वरुणम्**] उस श्रेष्ठ बनाने वाले प्रभु को [**विपा**]=बुद्धि-मत्ता से यह स्तोता [**वन्देत**]=वन्दना करे। पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान (knowledge) कहलाता है, यही ज्ञान प्राकृतिक संसार को देखने के बाद बुद्धिमत्ता (wisdom) में परिवर्तित हो जाता है उस समय ही यह मनुष्य प्रभु की सच्ची वन्दना कर पाता है 'ज्ञानी' भक्त तो प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है। आर्त, जिज्ञासु व अर्थार्थी भक्त अनन्य भक्त नहीं होता। वस्तुतः वह प्रभु का भक्त नहीं होता, प्रभु से तो वह उस वस्तु को मांग रहा होता है जिसका कि वह भक्त होता है। ज्ञानी व्यक्ति कण-कण में प्रभु की महिमा को देखता है।

इस प्रकार भक्ति करने वालों का प्रभु [**गिरा**]=वेद वाणी के द्वारा [**धर्तारं**]=धारण करने वाले हैं। परन्तु कब? [**विव्रतानाम्**]=जबकि वे विविध व्रतों का ग्रहण करते हैं। हम वेद वाणी तो पढ़ें पर व्रतों का धारण न करें तो प्रभु हमारा धारण न करेंगे।

एवं प्रस्तुत मंत्र में तीन उपदेश हैं (१) जो भी खाली समय मिले प्रभु का स्मरण करें। (२) प्रभु के ज्ञानी भक्त बनें। (३) मंत्र श्रुत्यं चरामसि=जो वेद में सुनें उसे करें ताकि प्रभु के धारण पात्र बनें।

भावार्थ—उल्लिखित तीन बातें हमारे जीवनों को वामदेव=सुन्दर दिव्य गुणों वाला बनायें तथा हमारी इन्द्रियाँ उत्तम होकर हम 'गौतम' बनें।

वेदवाणी की रक्षा

३ १र २र ३ २ ३ १ २
पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे।
१र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
यः सम्मिश्लो हर्योऽर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री
२ ३ १ २
हिरण्ययः ॥७॥२८९॥

'मेध्यातिथि काण्व' से प्रभु कहते हैं कि तू ऐ [**मेध्यातिथे! अन्धसः**]=सोम के—सर्वथा ध्यान देने के योग्य जो शक्ति है—उसके [**मदे**]=में [**गाः पाहि**]=वेदवाणियों की रक्षा कर। किसी भी चीज़ की रक्षा उसे जीवन का अंग बनाने से होती है। यदि आज हम गो दुग्ध सेवन का व्रत ले लें तो गोरक्षा हो जाय। जिस समय तुलसी पत्र प्रतिदिन हमारे सेवन का विषय थे तो तुलसी घर-घर में विद्यमान थी। जिस मकान में रहते हैं—वह सुरक्षित रहता है। रहना छोड़ा और टूटना शुरू हुआ। एवं यह व्यापक नियम है कि जो वस्तु जीवन का अंग बन जाती है वही सुरक्षित रहती है। सो वेदवाणी भी तभी सुरक्षित रहेगी जबकि हमारे जीवन का अंग बनेगी। शक्ति के मद में भी यदि हम वेद वाणी को अपना सकेंगे तो जीवन सुन्दरतम बन जायगा। अन्यथा वह शक्ति का मद हमारे महान् पतन का कारण प्रमाणित होगा।

[**इन्द्राय**]=उस प्रभु प्राप्ति के लिए, जो कि परमैश्वर्यवाले हैं, ऐ जीव तू वेद को जीवन में ढाल तभी तू सचमुच मेध्यातिथि=पूर्ण पवित्र प्रभु की ओर निरन्तर चलने वाला होगा, तभी तू काण्व=समझदार होगा।

वेदवाणी को जीवन का अंग बनाकर उस प्रभु

की ओर चल [**याः**] =जो कि [**संमिश्लः**] = (संमिश्रः) हम सबको मिलाने वाले हैं। वे हम सबके मूल पिता हैं—पितामह हैं। उस एक प्रभु के पुत्र होने के नाते हम सब एक हैं। [**हर्यः**] = वे कान्ति वाले हों—सुन्दर ही सुन्दर हैं, वहां कुछ भी असुन्दर व अशुभ तत्व नहीं है। [**अर्यः**] = वे स्वामी हैं, किन्हीं वासनाओं के दास नहीं, क्रोधादि से वे आक्रान्त नहीं होते। [**हिरण्ययः**] = वे ज्योतिर्मय हैं, अन्धकार का वहां लवलेश नहीं। [**इन्द्रः**] = वे परमैश्वर्य वाले हैं। [**वज्री**] = स्वाभाविक क्रिया से युक्त हैं (वज् गतौ) और [**हिरण्ययः**] = ज्योतिर्मय हैं। उनकी क्रियाओं में किसी प्रकार के अन्धकार का आभास नहीं।

हमें भी उस प्रभु का उल्लिखित प्रकार से स्तवन करते हुए अपना जीवन एकत्व की भावना से भरपूर करना चाहिये। एकत्व की भावना वाला जीवन ही शोक-मोह से अतीत होकर उत्तम होता है सदा प्रभु स्मरण से एकत्व की भावना को जागरित करने वाला व्यक्ति वासनाओं का शिकार तो होगा ही नहीं। उस समय हमारा जीवन ज्योतिर्मय होगा। हम सचमुच परमैश्वर्य को प्राप्त करने वाले सर्वभूतहित के लिये सदा क्रियाशील और अन्धकार से ऊपर होंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन वेदों को प्रकट करने वाला हो।

सुनिये और आईये

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२
उभयं श्रृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३
सत्राच्या मघवन्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ
१ २
आ गमत् ॥८॥२९०॥

ऐ [**मधवन् !**] = पवित्र ऐश्वर्य वाले प्रभो ? [**उभयम**] = हम दोनों ही बातें चाहते हैं। प्रथम तो यह कि इन्द्रः [**अर्वाक्**] = वह अन्तः स्थित प्रभु]**नः**] = हमारे [**इदं वचः**] = इस वेदवाणी के अनुकूल कहे गये प्रार्थना वाक्य को [**शृणवत्**] = सुने। और वह [**शविष्ठः**] = सर्वाधिक शक्ति वाला प्रभु [**आगमत्**] = हमें प्राप्त हो। इसलिये प्राप्त हो कि [**सोमपीतये**] = सोम की रक्षा के लिये अर्थात् हम वासना शून्य होकर सोम की—अपनी वीर्यशक्ति की—रक्षा कर सकें और [**सत्राच्या धिया**] = सह-गति वाली बुद्धि से वे प्रभु हमें प्राप्त हों। हमारे अन्दर मिलकर कार्य करने की भावना हो। (सत्रा=सह आञ्च्=गति)। हम प्रभु से वस्तुतः तीन चीजों के लिये याचना करते हैं (१) शक्ति (२) सोम की रक्षा (३) मिलकर कार्य करने की भावना। मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति बहुत कुछ शक्ति और सोम की रक्षा पर निर्भर है। सोम की रक्षा के द्वारा शक्ति सम्पन्न बनने पर ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इसके बाद सभी सामाजिक उन्नति का रहस्य 'मिलकर काम करने की भावना' पर निर्भर है। जिस घर में यह cd-operation की भावना है वह फलता-फूलता है, जिस शिक्षणालय में यह भावना होती है वह उन्नत होता है और यही भावना राष्ट्र को समृद्ध बनाती है। प्रभु के साथ अपना सम्पर्क जोड़ने वाला व्यक्ति 'प्रागाथ' है—निरन्तर प्रभु का गायन करता है। इस निरन्तर गायन से शक्ति का अनुभव करता है सो 'भर्ग' है। प्रभु शविष्ठ हैं—उनके सम्पर्क में आकर यह शक्ति सम्पन्न क्यों न बनेगा। इस निरन्तर प्रभु के गायन से ही वासनायें दूर रहती हैं और इसे सोमपान में समर्थ बनाती हैं। प्रभु का गायन ही इसे एकत्व का भी अनुभव कराता है और यह सहगति की भावना वाला होता है। यह मिलकर कार्य करने की भावना इसे सामाजिक उत्थान की ओर ले जाती है।

भावार्थ—प्रभु की हमें कृपा प्राप्त होगी तो वे हमारी प्रार्थना को सुनेंगे ही नहीं, हमें प्राप्त भी होंगे। उस समय हम शक्तिशाली होंगे, सोमपान में समर्थ होंगे और सहगति की भावना वाले होंगे।

आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
महे च न त्वाद्रिवः परा शुल्काय दीयसे ।
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय
शतामघ ॥६॥२६१॥

प्रभु [**अद्रिवः**]=हैं (न दृ)—**न** विदारण करने वाले हैं। परन्तु कब ? जबकि **मनुष्य** संसार के प्रलोभनों में न फंसता हुवा अपने जीवन पथ पर आगे और आगे बढ़ता जाता है। प्रभु के साथ अपनी चैतन्यता व उसी की अल्परूपता (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः) के सम्बन्ध को भूलकर जब यह प्रकृति की ओर ही झुक जाता है और इसकी सारी शक्ति प्राकृतिक सम्पत्ति को जुटाने में ही लग जाती है तो उस समय वे प्रभु उसके लिये [**वज्रिवः**]=वज्र वाले बन जाते हैं। वज्र से उसका वे विदारण कर देते हैं। सो मेधातिथि तो निश्चय करता है कि ऐ प्रभो ! [**त्वाम्**]=आप [**महे च शुल्काय**]=महान् भी धनराशि के लिये [**न परादीयसे**]=मेरे से छोड़े नहीं जाते हो। कितना भी धन हो। क्या उससे कभी मनुष्य की तृप्ति हो सकती है ? वास्तविकता तो नचिकेता के शब्दों में यह है कि 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'=धन से मनुष्य सदा अतृप्त रहता है। दुनिया भर का सोना 'एकस्यापि न पर्याप्तम्'=एक भी व्यक्ति के लिये पर्याप्त नहीं। सो धन के लिये प्रभु को क्यों छोड़ना ? [**स-हस्राय न**]=आमोद प्रमोदमय जीवन के लिये भी आप नहीं छोड़े जाते। नचिकेता को यम 'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके' इन काम्य पदार्थों का भी प्रलोभन देते हैं जो कि संसार में नहीं मिल सकते। परन्तु नचिकेता यह कहकर उनका त्याग करते हैं कि 'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः' ये आमोद प्रमोद व विलास तो इन्द्रिय शक्तियों को जीर्ण करते हैं। इनके लिये प्रभु को छोड़ना कोई बुद्धिमत्ता है ? [**न अयुताय**]=मैं इसलिये भी प्रभु को नहीं छोड़ता कि मैं फले-फूले पुत्र पौत्रों वाले परिवार से संयुक्त बना रहूं। नचिकेता को यम कहते हैं कि आत्मतत्व की बात न कर 'शतायुषः पुत्र पौत्रान् वृणीष्व'=सैंकड़ों वर्ष जीने वाले पुत्र पौत्रों को ले ले। जो व्यक्ति ऐसा करके प्रभु को छोड़ देता है वह समय आने पर अनुभव करता है कि उसने सदा साथ देने वाले प्रभु को छोड़ उनको अपनाया जो कि अन्त तक साथ नहीं दे सकते। 'एकः प्रजायते जन्तुः एक एव विलीयते'=हम अकेले ही संसार में आते हैं और अकेले ही चले जाते हैं—प्रभु के अतिरिक्त कोई भी अन्त में साथ नहीं देता। [**न शताय**]=पूरे सौ वर्ष जीने के लिये भी मैं आपको नहीं छोड़ता। 'स्वयं च जीव शरदो यावद् इच्छसि' इस प्रलोभन का उत्तर नचिकेता ने बड़े सुन्दर शब्दों में दिया था कि 'अपि सर्वं जीवितमल्पमेव' कि कितना भी लम्बा जीवन हो - वह छोटा ही है उसमें तृप्ति नहीं। ययाति ने दुगुना जीवन प्राप्त करके यही अनुभव लिया। सो प्रभु का परादान कभी भी प्रलोभन के लिये ठीक नहीं। वास्तविकता तो यह है कि यह सैंकड़ों प्रकार के ऐश्वर्य भी तो अन्ततोगत्वा उसी प्रभु के हैं वे प्रभु [**शतामघ**]=हैं। प्रभु मिले, तो ऐश्वर्य तो अपने आप मिल गये। सो यह मेधातिथि तो किसी भी प्रलोभन में न फंसता हुवा उस पवित्र प्रभु की ओर चलता है और इसी से 'मेधातिथि' नाम वाला होता है। इसने प्रभु को पाकर सभी कुछ पा लिया। इसके विपरीत एक दूसरे व्यक्ति ने सब कुछ जुटाने की कोशिश में प्रभु को खोकर सभी कुछ खो दिया। सो मेध्यातिथि ही काण्व है—मेधावी है।

भावार्थ—न धन के लिये—न विलास के लिये न समृद्ध कुटुम्ब के लिये और ना ही दीर्घ जीवन के लिये हम प्रभु को छोड़ें। प्रत्युत इस आत्मा के लिये सम्पूर्ण पृथिवी व पार्थिव भोगों को हम छोड़ने वाले हों। 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।'

पिता से बढ़कर, भाई से बढ़कर, माता के समान

१ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
वस्याँ इन्द्रासि में पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय
१ २
राधसे ॥१०॥२६२॥

प्रस्तुत मंत्र के भी ऋषि मेधातिथि और मेध्यातिथि ही हैं। सो ऊपर ही के मंत्र की भावना को मेधातिथि इस रूप में कहता है कि [**इन्द्र**]=ऐ प्रभो ? [**मे पितुः वस्यान् असि**]=मेरे पिता से आप अधिक श्रेष्ठ हैं व अधिक उत्तम निवास देने वाले हैं। यदि मैं कहूं कि आप मेरे पिता हैं तो आपका मैं ठीक वर्णन नहीं कर रहा। पिता में थोड़ा सा स्वार्थ व थोड़ा सा छोटा समझकर 'दया कर रहा हूं' ऐसी भावना काम कर रही होती है, जो कि आप में नहीं है। यह ठीक है कि एक भाई में ऊपर की दोनों भावनायें न होकर एकता की भावना होती है। परन्तु वह भी विवाहित होकर व अन्य किसी परिस्थितिवश भिन्न स्वार्थ वाला हो जाता है। उस समय वह अपने भाई का सहायक नहीं होगा इसीलिये मेधातिथि कहता है कि [**उत**]=और [**अभुञ्जतः भ्रातुः**]=न पालन करने वाले भाई से आप वस्यान् =अधिक श्रेष्ठ हो, सो मैं आपको भाई के रूप में भी कैसे स्मरण करूं। ऐ प्रभो ! आप तो [**वसो**]=मुझे उसी प्रकार बसाने वाले हैं जैसे कि माता। [**माता च मे**] मेरी माता और आप [**समा**]=समान रूप से, निःस्वार्थ भाव से [**छदयथः**]=मुझे मुसीबतों से बचाते हो (छद् to give shelter)। यह ठीक है कि सांसारिक माता में भी अल्पशक्ति के कारण सहायता देने की शक्ति सीमित है परन्तु अधिक से अधिक निःस्वार्थता उसीके प्रेम में है। सो मैं आपको माता के रूप में स्मरण करता हूं।

आप मुझे [**वसुत्वनाम**]=निवास के लिए आवश्यक धन देने के लिए होते हो। मुझे कभी जीवन यात्रा के लिए आवश्यक धन की कमी नहीं होती [**राधसे**] =आप मुझे सिद्धि के प्राप्त कराने के लिए होते हो। आपकी कृपा से मुझे आवश्यक धन भी मिलता है और सिद्धि भी मिलती है।

भावार्थ—वे प्रभु पिता से भी बढ़कर हैं, भ्राता से भी अधिक हैं। माता के समान हमें कष्टों से बचाने वाले हैं।

* * *

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

॥ १ ॥ ऋषिः—१ वसिष्ठः; २, ६, ७ वामदेवः; ३ मेधातिथिमेध्यातिथी; विश्वामित्र इत्येके; ४ नोधाः; ५ मेधातिथिः; ८ वालखिल्याः; ९ मेध्यातिथिः; १० नृमेधः ॥ देवता—१ ६, ८—१० इन्द्रः; ७ बहवः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

घर में आ, भटक नहीं

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ २
इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः ।
१र २र ३ २ ३ १ २
ताँ आ मदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां
३ २ ३ २
याह्योक आ ॥१॥२६३॥

[**इमे सोमासः**]=ये सोमकण [**सुन्विरे**]=पैदा किये गये हैं। क्यों ? [**इन्द्राय**]=प्रभु की प्राप्ति के लिए जड़ जगत् की इस सर्वोत्तम वस्तु से हमने चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु को पाना है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द, जिसका कि धात्वीय अर्थ 'ब्रह्म की ओर जाना है', का अर्थ ही शक्ति का संयम हो गया है यह संयत शक्ति ही हमें परमेश्वर

को प्राप्त कराती है। इस प्रकार मुख्य रूप से इन सोम कणों का लाभ प्रभु प्राप्ति ही है। प्रांसगिक रूप से ये [**दध्याशिरः**]=धारणशक्ति से युक्त हैं, अर्थात् शरीर में धारण किये जाकर ये शरीर के स्वास्थ्य को कायम रखने वाले होते हैं—मनः प्रसाद व बुद्धि नैर्मल्य का भी ये कारण बनते हैं।

[**तान्**]=इन सोमकणों को ऐ जीव! तू इसलिये भी धारण कर कि ये तेरे [**मदाय**]=हर्ष का कारण होंगे। सोम रक्षा जीवन को उल्लासमय बना देती है। सो 'प्रभु प्राप्ति' 'धारणशक्ति' व 'हर्ष' इन तीन उद्देश्यों से ऐ [**वज्रहस्त !**] तू [**पीतये**]=इनकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो। 'वज्रहस्त' शब्द का अभिप्राय है जिसके हाथ में [वज्=गतौ]=गतिशीलता हो। अर्थात् क्रियामय जीवन हमें सोमरक्षा के योग्य बनाता है। इनकी रक्षा के लिए ही प्रभु जीव से कहते हैं कि [**हरिभ्यां**]=तू अपने इन इन्द्रिय रूप घोड़ों से [**ओके**]=अपने शरीर रूप घर के अन्दर [**आयाहि**]=आ। जब तू इन इन्द्रियों को विषयों की ओर न जाने देगा और प्रत्याहार द्वारा अपने अन्दर ही संयत करेगा तो तू वासनाओं में न फंसने के कारण इन सोम कणों की रक्षा कर पायेगा। एवं सोमकणों की रक्षा के मुख्य रूप से ये दो ही साधन हैं कि तू क्रियाशील बन और इन्द्रियों को बाहर मत भटकने दे। इस सुरक्षित वीर्य से तेरा जीवन उल्लासमय होगा, तुझे धारण शक्ति प्राप्त होगी और तू अन्त में प्रभु को प्राप्त करने वाला बनेगा।

इन्द्रियों को वश में करके यह वशिष्ठ सचमुच प्रभु को प्राप्त कर सका है। परन्तु यह वशिष्ठ इसलिए बन पाया कि [**मैत्रावरुणि**]=प्राणापान की यह साधना करने वाला हुआ। सो क्रम यह है :—(१) प्राणापान की साधना करेंगे (२) वशिष्ठ बनेंगे (३) इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोक पायेंगे (४) वासना का शिकार न होने से सोम की रक्षा का संभव होगा। (५) इससे जीवन स्वस्थ व उल्लासमय होगा और अन्त में प्रभु की प्राप्ति होगी।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों में न भटकने दें।

हमारी वाणियों को सुन

३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २
इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः।
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३
मधोः पपान उप नो गिरः श्रृणु रास्व स्तो-
१ २
त्राय गिर्वणः ॥२॥२६४॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि [**इन्द्र**]=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव [**इमे सोमाः**]=ये सोम [**ते मदाय**]=तेरे हर्ष के लिए हैं, तेरे जीवन को उल्लासमय बनाने के लिए हैं। सोमरक्षा के बिना जीवन में आशावाद व उल्लास का सम्भव ही नहीं। ये सोम [**चिकित्रे**]=(कित—निवास, रोगापनयन, ज्ञान) तेरे उत्तम निवास के लिये हैं। इनके होने पर शरीर में तेरी स्थिति अधिकाधिक अच्छी ही होती जायेगी। ये सोम तेरे रोगों के दूर करने के कारण बनेंगे। और इसके अतिरिक्त ये तेरी ज्ञान की वृद्धि के भी कारण होंगे। [**उक्थिनः**]=ये तुझे स्तोत्रों वाला बनायेंगे। अर्थात् तेरी रुचि उस प्रभु के स्तवन की ओर होगी।

एवं सोमरक्षा के 'हर्ष, उत्तमनिवास, नीरोगता, ज्ञान, प्रभु भक्ति-प्रवणता' आदि लाभों का उल्लेख करके कहते हैं कि [**मधोः**]=इस मधुरतम वस्तु सोम का [**पपानः**]=खूब पान करते हुए [**नः=गिरः**]=हमारी इन वेद वाणियों को [**उपश्रृणु**]=समीपता से सुनने वाला हो। और तू [**गिर्वणः**]=वेद वाणियों का सेवन करने वाला होता हुआ [**स्तोत्राय रास्व**]=अपने को प्रभु के स्तोत्रों के लिए दे डाल। अर्थात् प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने वाला बन।

वस्तुतः मानव-जीवन में मनुष्य का मूल कर्तव्य यही है कि संयमी जीवन को बना कर हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुने और प्रभु के प्रति अपना

अर्पण कर डाले। इस प्रकार करने पर ही उसका जीवन सुन्दर दिव्य गुणों वाला बनता है अर्थात् वह वामदेव होता है और इन्द्रियों की निर्मलता के कारण 'गौतम' होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन की ऐसी साधना करें कि प्रभु के उपदेशों को सुनने वाले बन सकें।

मैं वेद का ही भिक्षुक हूं

१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ त्वाऽद्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरङ्कृतम् ॥३॥२९५॥

मंत्र का ऋषि मेधातिथि कहता है कि [**आ**]=सर्वथा [**त्वा**]=आपसे [**इंद्र**]=वेद रूप परमैश्वर्य वाले से [**अद्य**]=आज उस वेदवाणी की भिक्षा को [**हुवे**]=प्रार्थना करता हूं, माँगता हूं, जो वेदवाणी ([**सबर्दुघाम्**]=ज्ञान रूप दुग्ध का दोहन करने वाली है। वेदवाणी धेनु है तो ज्ञान ही उसका दूध है। [**गायत्रवेपसम्**]=यह वेदवाणी गायन करने वाले का त्राण करती है और कामादि वासनाओं को [**वेप्**]=कम्पित करने वाली है। वेद का व्यसन हो जाने पर मनुष्य अन्य व्यसनों से ऊपर उठ जाता है। (३) [**धेनुम्**]=(धेट् पाने) यह ज्ञान दुग्ध का पान कराके पालने वाली है। (४) [**सु-दुधाम्**]=सुगमता से दोहन के योग्य है, अर्थात् इसका समझना अत्यन्त कठिन नहीं है। इतनी दुर्बोध भाषा में वह परम पिता प्रभु हम पुत्रों के साथ बोलने भी क्यों लगा? (५) [**अन्याम्**]=यह विलक्षण है। मनुष्यकृत ग्रन्थों में अति विस्तार में थोड़ासा सार होता है, जबकि ये वेदवाणियां सार ही सार होती हैं। (६) [**इषम्**]=ये वेदवाणियां सदा मनुष्य को प्रेरणा देने वाली हैं (७) [**उरुधाराम्**]=विशाल धारण शक्ति वाली हैं। धारण के द्वारा यह हमारे जीवन को बड़ा सुन्दर बनाती हैं। (८) [**अरंकृतम्**]=यह वेदवाणी हमारे जीवनों को उत्तम गुणों से अलंकृत करने वाली है (अरं करोति इति अरंकृत्,तम्=अरंकृतम्)। ऋग्वेद के **१०** मण्डल मानो हमारे जीवनों को दसों धर्म के लक्षणों से मण्डित कर रहे हैं।

एवं, यह स्पष्ट है कि इस वेदवाणी को प्राप्त करना ही बुद्धिमत्ता है। इसको प्राप्त करके ही हम प्रभु को भी प्राप्त करने वाले 'मेध्यातिथि' बनते हैं।

भावार्थ—मैं वेदवाणी की प्राप्ति के लिए ही तीव्र उत्कण्ठा वाला बनूं।

नये-नये प्रकार से धारण करने वाला

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडवः।
१र २र ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १र
यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा
२र
मिनाति ते ॥४॥२९६॥

जब जीव दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने जीवन यात्रा के मार्ग पर चलता है तो प्रभु कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव? [**त्वा**]=तुझे [**बृहन्तः**]=बड़े-बड़े [**वीडवः**]=बड़े मजबूत [**अद्रयः**]=विदारण के अयोग्य पर्वतों जैसे विघ्न भी [**न वरन्ते**]=नहीं रोक पाते। सांसारिक प्रलोभनों को जीत पाना सुगम नहीं होता। बाह्य शत्रुओं को मनुष्य जीत तो सकता है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं को जीतना उसके लिए सुगम नहीं होता। ये काम, लोभ आदि आन्तर शत्रु हैं, मनुष्य को दानादि उत्तम भावनाओं से रोकने वाले होते हैं। परन्तु [**यद्**]=जब यह इन्द्र [**सुवते**]=उत्पादक कार्यों को करने में लगे हुए व्यक्तियों को तथा [**मावते**]=प्रभु के समान ज्ञानी पुरुषों के लिए, प्रभु ब्रह्म है जो [ब्रह्म इव]=प्रभु जैसे ज्ञानी हैं उनके लिए[**वसु**]=धन को [**शिक्षसि**]=देता है तब [**ते**]=तेरे [**तत्**]=उस दान के कार्य को [**नकिः**]=कोई भी काम, लोभ आदि वासना नहीं [**आमिनाति**]=नष्ट करती है।

यह अपना दान देता ही है। दान ही यज्ञ की पराकाष्ठा है। इस अपने दान के द्वारा यह अधिक से अधिक लोगों का धारण करने का ध्यान करता है। उसके मस्तिष्क में दान को अधिक उपयोगी बनाने के भाव चक्कर काटते हैं। इसी से इसका नाम [**नव-धा**]=नये-नये प्रकार से धारण करने वाला होता है। नवधा शब्द का ही परोक्ष रूप 'नोधा' है। यही इस मंत्र के ऋषि का नाम है। इस उत्तम भावना में प्रति क्षण लगे होने से ही यह इंद्रियों को विषयों में फंसने से बचाने वाला होता है। और अतएव 'गौतम' कहलाता है, प्रशस्त इन्द्रियों वाला।

यह तो सम्भव है कि अपने ज्ञान के सीमित होने से यह उस दान को कुछ कम उपयोगी बना पाय, परन्तु अपनी ओर से उसका ध्येय उसे अधिक उपयोगी बनाने का होता है। वह औरों के भले का ध्यान करता है, प्रभु उसका भला करते हैं। 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः।'

भावार्थ—मैं लोकहित का ध्यान करते हुए प्रशस्तेन्द्रिय बनूं।

केवलादी न बनने का महान् व्रत

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे।
३ १र २र ३ १र २र ३ २
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजमा मन्दानः
३ १ २
शिप्र्यन्धसः ॥५२९७॥

यह तो ठीक है कि [**कः**]=कौन [**ईम्**]=निश्चय से [**वेद**]=पूरा ज्ञान रखता है कि इस प्रकार धन का विनियोग सर्वोत्तम होगा, परन्तु इतना नियम प्रत्येक व्यक्ति बना सकता है कि मैं केवलादी न बनूंगा। ऐसा नियम बना कर [**सुते**]=इस उत्पन्न जगत् में [**सत्रा**]=मिल कर [**पिबन्तं**]=पान करते हुए को [**क-द्वयः**]=ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों सुख [**दधे**]=धारण करते हैं। गीता में कहा है कि [नायं लोकोऽस्ति अयज्ञस्य कुतोन्यः कुरुसत्तम]=यज्ञ न करने वाले का न तो इस लोक में कल्याण है और न परलोक में। इसके विपरीत सदा मिल कर खाने के सिद्धान्त पर चलने वाले का दोनों ही लोकों में कल्याण सिद्ध ही है। [**अयं**]=यह मिलकर खाने वाला तो वह व्यक्ति है [**यः**]=जोकि [**पुरः**]=काम, क्रोध और लोभ की नगरियों को [**विभिनत्ति**]=तोड़ डालता है। इनको तोड़ कर ही 'त्रिपुरारि' के सदृश बनता है। यह व्यक्ति वह है जो कि [**ओजसा मन्दानः**]=ओज के कारण सदा प्रसन्न रहता है। वासनाओं को नष्ट करके ओजस्वी बनता है, और ओज के कारण सदा प्रसन्न होता है। और यह वह व्यक्ति है जो कि [**अन्धसः**]=सोम के द्वारा [**शिप्री**]=शिरस्त्राण वाला है, उस उत्कृष्ट ज्ञान वाला है जो कि उसकी रक्षा का कारण बनता है।

एवं, इस मंत्र में केवलादी न बनने के निम्न लाभ दर्शाये गये हैं—(१) यह उभयलोक के कल्याण को प्राप्त करता है (२) तीनों असुर पुरियों का विध्वंसकर 'काम, क्रोध, लोभ' से ऊपर उठता है (३) ओजस्विता से सदा प्रसन्न मन वाला होता है, और (४) सोमरक्षा के द्वारा उत्कृष्ट रक्षक ज्ञान को प्राप्त करने वाला होता है।

इन लाभों को देखकर इस मार्ग को अपनाने वाला ही बुद्धिमान् है—'मेधातिथि' है। यह निरन्तर बुद्धिमत्ता से यज्ञ के मार्ग पर आक्रमण करने वाला 'मेधातिथि' ही इस मंत्र का ऋषि है।

भावार्थ—मैं केवलादी बनकर 'केवलाघ' पाप न बन जाऊं।

घर से निकाला जाना

१२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि।
३ १ २ ३ १ २ १ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्माकमंशुं मघवन् पुरुस्पृहं वसव्ये अधि
बर्हय ॥६॥२९८॥

ऐ [**इन्द्र !**]=परम ऐश्वर्यशाली प्रभो !

सबको अपने शासन में चलाने वाले प्रभो ? [**यत्**]=चूंकि [**अव्रतं**]=मिलकर खाने व जीवन को यज्ञिय बनाने के व्रत को न धारण करने वाले को [**शासः**]=आप शासित करते हो, दण्ड व्यवस्था से उसे अपने अनुशासन में चलाने की व्यवस्था करते हो। और इतना ही नहीं, इस व्यक्ति को [**सदसः**]=घर से [**परिच्यावया**]=च्युत कर देते हो, सो हमारे तो आप ज्ञान को ऐसा बढ़ाईये कि हम अव्रत बनें ही ना।

हमारा वस्तुतः घर तो ब्रह्मलोक है—उससे गिरकर हम द्युलोक में आते हैं जबकि १०० परार्थता का स्थान २५ स्वार्थ व ७५ परार्थता ले लेती है। जब स्वार्थ ५० व परार्थ भी ५० हो जाता है तो हम और गिरकर अन्तरिक्ष लोक में आ जाते हैं। स्वार्थता कुछ और बढ़ी, यह ७५ हुई और परार्थता २५ रह गई तो इस पृथ्वीलोक पर आ जाते हैं। और जब यह रही सही परार्थता भी समाप्त हो जाती है और हम 'स्वेषु आस्येषु जुह्वतः चेरुः'=अपने ही मुखों में आहुति देते हुए असुर बन जाते हैं तो हम 'असुर्य लोकों' में या आसुरी योनियों में फेंके जाते हैं। अपने घर में पहुंचने के लिये आवश्यक है कि हम स्वार्थ की भावना को छोड़कर परार्थ की भावना को फिर से विकसित करें। उसी के विकास के लिये प्रभु से याचना है कि [**मघवन्**]=पाप के लवलेश से शून्य ऐश्वर्य वाले प्रभो ? [**वसव्य**]=सर्वोत्तम निवास स्थान भूत प्रभो ? आप [**अस्माकम्**]=हमारे [**पुरुस्पृहं**]=पालक व पूरक और अतएव स्पृहणीय [**अंशु**]=ज्ञान की किरण को [**अधिबर्हय**]=खूब बढ़ाईये।

यह ज्ञान मुझे स्वार्थ से ऊपर उठाने वाला होगा। स्वार्थ से ऊपर उठता हुवा मैं असुर योनि से मनुष्य योनि में, मनुष्य योनि से देवयोनियों को योनि में, इनसे देवों की योनि में, और अन्ततः उन ज्ञानियों की योनि में, जो कि आपको आत्मतुल्य प्रिय हैं, (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्) पहुंचूंगा। उस दिन मैं फिर से अपने घर में पहुंच जाऊंगा। यह घर वस्तुतः ही sweet=मधुर है। ऐ प्रभो ? आप में रहता हुवा मैं सचमुच अनुभव करता हूं कि आप 'वसव्य' हैं। आज मेरा जीवन अधिक से अधिक सुन्दर दिव्यता वाला बनकर मुझे 'वामदेव' कहलाने का अधिकारी बनाता है, मेरी इन्द्रियां निर्मल हो जाती हैं सो मैं 'गौतम' बन जाता हूं।

भावार्थ—मैं फिर से अपने घर में वापिस पहुंचूं।

चार व्रत

१ २ ३ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।
२ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं
१ २
वचः॥७॥२९९॥

वामदेव=सुन्दर दिव्यगुणों की कामना वाला चाहता है कि:—

(१) [**दैव्यं वचः**]=दिव्य वचन अर्थात् वेदवाणी [**नः**]=हमारी [**त्वष्टा**]=निर्माण करने वाली हो। उसके अनुसार हमारा जीवन हो। 'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि'=मंत्रों में जो कुछ सुना है, उसका हम आचरण करने वाले हों। मंत्रों का ही विचार हो, उच्चारण हो और आचार हो।

(२) '**ब्रह्मणस्पतिः**'=बुद्धि का नाम है। ब्रह्मा अधिदेव में चन्द्रमा है, और अध्यात्म में मन। मन की 'पति'=अधिष्ठात्री बुद्धि है—इसीलिये इसे मनीषा 'मनसः ईष्टे' कहा गया है। ये बुद्धि हमारे लिये [**पर्जन्यः**]=परा तृप्ति की जनयित्री हो। हमें बुद्धि के द्वारा ज्ञानोपार्जन में आनन्द का अनुभव हो=इसमें रस आने लगे।

(३) '**नु**'=अब इस संसार में [**पुत्रैः**]=पुत्रों से तथा [**भ्रातृभिः**]=भाईयों से [**अदितिः**]=अदीनता हो। हमें इनके सामने कभी गिड़गिड़ाना न पड़े। गिड़गिड़ाना तो किसी के भी सामने 'आत्मग्लानि' का कारण है—पर बन्धुओं और उनमें भी पुत्रों व भाईयों के सामने गिड़गिड़ाना तो आत्मसम्मान की बिलकुल ही 'इतिश्री' को करने

वाला है। पुत्रार्पित प्रभुत्व धृतराष्ट्र दुर्योधन की दृष्टि में तृणोपम हो जाता है। धृतराष्ट्र को बड़ी ग्लानि होने लगती है। पुत्राधीनता का जीवन कुत्ते का सा जीवन लगता है। इसी दृष्टिकोण से सेवा=नौकरी को श्ववृत्ति कहा गया है। यहां प्रार्थना करते हैं कि हमें इस प्रकार दीन न बनना पड़े।

(४) '**दुष्टरं वचः**=वह वचन जो टल नहीं सकता—जिसका उल्लंघन संभव नहीं, वह पत्थर की लकीर के समान पक्का वचन [**त्राभणं**]=जो कि वस्तुतः रक्षा करने वाला है, [**नः पातु**]=हमें असत्यादि में गिरने से बचाये। सत्य से ही यह संसार धारण किया जा रहा है। यह सत्य वचन हमारा भी धारण करने वाला हो। सत्य को यहां 'दुष्टरं वचः' कहा गया है। राजा हरिश्चन्द्र की यह उक्ति कि 'चन्द्र टरै, सूरज टरै' इस शब्द के भाव को व्यक्त कर देती है। मेरु पर्वत टल जाय पर राम का वचन क्या टल सकता है? इसी प्रकार हमारा भी वचन 'दुष्टर' हो।

भावार्थ—हम भी 'वेदानुकूल आचरण, स्वाध्याय, अदीनता व सत्यवादिता' इन चार व्रतों को धारण करने वाले 'वामदेव बनें।

प्रभु के साथ संपृक्त होता है

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
२ ३ १र २र ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य
पृच्यते ॥८॥३००॥

सुनने वाली हैं इन्द्रियां जिसकी वह 'श्रुष्टिगुः' कहलाता है। 'दैव्यं वचः'=वेदवाणी ही तो इसके जीवन का निर्माण करने वाली है। यह कहता है कि ऐ [**इन्द्र**]=सब असुरों का संहार करने वाले प्रभो? आप उल्लिखित चार व्रतों (वेदानुकूल आचरण, स्वाध्याय, अदीनता व सत्यवादिता) के धारण करने वाले का [**कदाचन**]=कभी भी [**स्तरीः**]=संहार करने वाले [**न असि**]=नहीं हैं। जब एक व्यक्ति स्वयं विनय में चलता है तो उसे दण्ड देने की आवश्यकता ही नहीं होती। प्रभु का दण्ड जीव हित के लिये ही है—वह तभी आता है जबकि वह 'अव्रत' बनता है। 'विनयरुचयः सन्तः सदा हि निरंकुशाः'=विनीत को दण्ड नहीं होता।

ऐ प्रभो? आप [**दाशुषे**]=दाश्वान् के लिये देने वाले के लिये [**सश्चसि**] (to go to)=प्राप्त होते हैं। जितना-जितना मनुष्य दान की वृत्ति वाला बनता है [**उप उप**]=उतना-उतना ही समीपता से [**इत् नु**]=निश्चय से ऐ [**मघवन्**]=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो? आप उसको प्राप्त होते हैं। [**भूयः**]=फिर [**दानं**]=(charity incarnate) दान का पुतला बनकर तो वह [**इत् नु**]=निश्चय से [**ते देवस्य**]=तुझ देव के साथ [**पृच्यते**]=संयुक्त हो जाता है। इधर से सब कुछ छोड़कर ही तो आपको प्राप्त हो सकता है। 'मह्यं दत्त्वा व्रजत् ब्रह्मलोकम्' आयु आदि सब चीजों को लौटाकर ही वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। सांसारिक वस्तुओं से मोक्ष ही प्रभु प्राप्ति का उपाय है। प्राजापत्य यज्ञ में सर्वस्व को आहुत करके ही वह प्रजापति को पाता है।

भावार्थ—मैं प्रभु प्राप्ति का दीवाना बनकर सर्वस्व दान कर डालूं।

आत्मनिरीक्षण प्रारम्भ है—आत्मप्राप्ति अन्त प्रभु कहते हैं—आजा घोड़ों को जोत ये चरते ही न रहें

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभिरा
२
गहि ॥९॥३०१॥

प्रभु मेध्यातिथि से कहते हैं कि [**ऐ इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! [**वृत्रहन्तम**]=वासना रूप विघ्नों को सर्वाधिक नष्ट करने वाले! तू [**हि**]=निश्चय से [**हरी युङ्क्ष्व**]=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को रथ में जोत। ये

तेरा हरण करते हैं—तभी तो हरि हैं। दूर-दूर देशों में ये भटकते हैं। उन [**परावतः**]=दूर-दूर देशों से इन्हें वापिस लाकर तू इस शरीर रूप रथ में जोतकर अपनी जीवनयात्रा में आगे बढ़ने वाला बन। इन दस घोड़ों को रथ में जोतकर तू 'दशरथ' बन। अन्यथा ये दस के दस चरने वाले ही बने रहे तो तू दशरथ न होकर 'दशमुख' हो जायगा। भोग ही न भोगता रह—अपनी यात्रा को प्रारम्भ कर।

यह यात्रा का आरम्भ इस प्रकार होगा कि [**अर्वाचीनः**]=अपने अन्दर गति करने वाला बन। पराचीन नहीं अर्वाचीन। औरों के दोषों को ढूंढने वाला न होकर अपने दोषों को ढूंढने वाला बन। आत्मनिरीक्षण से ही इस यात्रा का प्रारम्भ होता है। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु कहां-कहां छिपे बैठे हैं उन्हें ढूंढ-ढूंढ कर तू समाप्त कर डाल। 'शत्रु-घ्न' बन। [**मघवन्**]=पाप के लवलेश से शून्य (मा+अघ) इस सम्बोधन में भी तो यही प्रेरणा विद्यमान है। वासनाओं से ऊपर उठकर तू [**सोमपीतये**]=सोम के पान के लिये समर्थ होगा। इससे [**उग्रः**]='उदात्त,' तेरा जीवन ऊंचा होगा। तू तेजस्वी भी बनेगा। और अब [**ऋण्वेभिः**]=महान्—उदार आशयों के साथ तू [**आगहि**]=मेरे समीप आ जा।

प्रभु तो जीव को पुकार-पुकार कर अपने समीप बुला रहे हैं, पर जीव सुने तब ना ? प्रभु की वाणी को सुनने वाला जीव महान् बनता है—उदार बनता है। उदार बनकर सभी का भरण करने वाला 'भरत' होता है। ब्रह्म को ही अपना लक्ष्य बनाने से 'लक्ष्मण' बनता है। और ब्रह्म में ही रमण करने वाला 'राम' हो जाता है। इस आत्मप्राप्ति के साथ यात्रा का अन्त होता है। आत्मनिरीक्षण से यह प्रारम्भ हुई थी, आत्मप्राप्ति पर आज यह समाप्त हुई है।

भावार्थ—मैं यात्रा को करने वाला—मेध्य प्रभु की ओर निरन्तर चलने वाला 'मेध्यातिथि' बनूं।

घर में (फिर आ जा) पहुंच

२ ३ १र २र ३ १ २
त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः।
१ २ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा
२
गहि ॥१०॥३०२॥

मनुष्य जब तक अज्ञानवश स्वार्थ में रहेगा, तबतक वह अपने घर से दूर भटकता ही रहेगा। ज्ञान वृद्धि के साथ, स्वार्थ का नाश होकर, वह पुनः अपने घर की ओर मुड़ेगा और अन्त में अपने उस ब्रह्मलोक रूप घर में पहुंच ही जायगा। यह स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति सभी का कल्याण करने वाला, सभी को 'मैं' समझने वाला 'नृमेध' होगा, मनुष्यों से सम्पर्क वाला। सभी व्यसनों से ऊपर उठा हुआ होने के कारण 'आंगिरस' होगा। प्रभु इससे कहते हैं कि [**उप स्वसरम् आगहि**]=फिर घर के समीप आ जा। तू ब्रह्मलोक से कितना दूर भटक गया। लौट, इसी जीवन में फिर घर के समीप पहुंच जाने के लिए प्रयत्न कर। इस उद्देश्य से [**स**]=वह तू [**इह**]=इस मानवजीवन में [**इन्द्र**]=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बन कर [**स्तोमवाहसः**]=स्तुति समूह रूप वेदमंत्रों को धारण करने वाले ज्ञानियों से [**श्रुधि**]=ज्ञान का श्रवण कर। घर का नाम [स्व-सर] है—अपने स्वतन्त्रता पूर्वक चलने का स्थान। इन्द्रियों के अधीन हुए और इनके बस होकर न जाने हम कहां-कहां भटकते रह जाते हैं। ज्ञान को प्राप्त कर फिर हम स्वाधीन होते हैं और 'स्व-सर'=स्वतंत्रता पूर्वक विचरने के स्थान रूप अपने घर को प्राप्त होते हैं। प्रभु कहते हैं कि ऐ नृमेध ! [**त्वाम्**]=तुझको [**इदा**]=आज और [**ह्यः**]=कल [**भूर्णयः**]=पालन करने वाले—आसुर वृत्तियों के आक्रमणों से बचाने वाले [**नरः**]=तुझे आगे और आगे ले चलने वाले, स्वयं संसार में (न+रम्) न फंसे हुए ज्ञानी लोग [**अपीप्यन्**]=ज्ञान जल का पान करायें। [**वज्रिन्**]=तू भी वज्र वाला बन।

(वज् गतौ) निरन्तर गतिशीलता ही तेरा वह वज्र हो जो कि तुझे सब अशुभों का संहार करने में समर्थ करे। 'आलस्य के=अभाव' रूप वज्र वाला तू हो। इस प्रकार आलस्य को छोड़ ज्ञान से चमकता हुआ तू पूर्ण स्वतन्त्र हो और अपने घर में पहुंच।

मंत्र में प्रसंगवश पढ़ने वालों के लिए दो बातें कही गयीं :—(१) [**इन्द्र**]=वह इन्द्रियों का अधिष्ठाता बने। (२) [**वज्रिन्**]=वह गतिशीलता रूप वज्र वाला हो—निरालस हो। पढ़ाने वालों के अन्दर निम्न गुण हों—(१) [**नरः**]=वे विद्यार्थियों को सदा आगे और आगे ले चलें। [**न-रम्**] अनासक्त हों, किसी भी विषय में न फंसे हों। (२) [**भूर्जयः**]=विद्यार्थियों का पालन करने वाले हों, उन्हें विषयासक्ति से बचाने का सदा ध्यान करें। (३) [**स्तोमवाहसः**]=स्तुति समूह को धारण करने वाले हों। वेदमंत्र 'स्तोम' हैं उनके वे धुरन्धर ज्ञाता हो, ज्ञान के समुद्र होते हुए प्रभु प्रवण मानसी वृत्ति वाले हों।

भावार्थ—हम कुशल आचार्यों के संपर्क में आकर ज्ञान का श्रवण करें और स्वार्थ से ऊपर उठ कुशलता पूर्वक इस संसार में विचरने वाले ब्रह्मनिष्ठ बनें।

● ● ●

॥ २ ॥ ऋषिः—१, २, ७, ८ वसिष्ठः; ३ पौर आत्रेयः; ४ प्रस्कण्वः; ५ मेधातिथिमेध्यातिथी; ६ देवातिथिः; ९ नृमेधः; १० नोधाः ॥ देवता—१ उषा; २, ३ अश्विनौ; ४—१० इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

उषा का उपदेश

१ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ २
प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति
३ १ २
सूनरी ॥१॥३०३॥

[**उ**]=निश्चय से [**प्रति आयती**]=प्रत्येक व्यक्ति की ओर आती हुई यह उषा [**अदर्शि**]=देखी जाती है। मानो प्रत्येक व्यक्ति को आकर गति का ही उपदेश दे रही है। [**आयती**]=निरन्तर गति करती हुई यह उषा यही कहती है कि मैं जैसे (उष् दाहे) अंधकार को जलाकर उषा बनी हूं इसी प्रकार तुम भी गतिशील बनोगे तो अंधकार को समाप्त करने वाले होवोगे।

[**उच्छन्ती**] (उच्छी विवासे)=यह उषा अन्धकार को विवासित कर देती है—देश निकाला सा दे देती है। उषा से प्रेरणा लेने वाला व्यक्ति भी अपने अन्धकार को दूर करने के लिए सतत प्रयत्न करता है। यह उषा [**दिवः**]=प्रकाश की [**दुहिता**]=पूरण करने वाली होती है। मनुष्य ने भी अपने अज्ञानान्धकार को दूर करके अपने मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करना है। एवं, उषा का उपदेश व्यक्ति को तीन शब्दों में दिया गया है (१) गतिशील बन, (२) अंधकार को दूर कर, (३) ज्ञान को अपने अंदर भर।

[**मही**]=महनीय पूजनीय यह उषा [**चक्षुषा**]=प्रकाश से [**तमः**]=अन्धकार को [**उ**]=निश्चय से [**अपवृणुते**]=दूर करती है। साधक को भी मानो यही प्रेरणा देती है कि तू इस उषाकाल में प्रभु की पूजा करने वाला बन और स्वयं ज्ञानी बनकर औरों के अंधकार को दूर कर। यह [**सूनरी**]=उत्तम ढंग से हमें उत्तमता की ओर ले चलने वाली उषा [**ज्योतिः**]=प्रकाश [**कृणोति**]=कर देती है। हमें भी उपदेश देती है कि तुमने भी बड़े उत्तम प्रकार से माधुर्य के

साथ ज्ञान प्रसार रूप कार्य को करना। एवं, उषा का सामाजिक उपदेश यह है कि मनुष्य प्रभु का उपासक बन कर अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए यत्न करे और इस ज्ञान-प्रसार रूप कार्य को अत्यन्त मधुरता से करे।

इस उल्लिखित उषा के उपदेश को 'वसिष्ठ' ही क्रियान्वित कर सकता है। वश में करने वालों में श्रेष्ठ अर्थात् जितेन्द्रिय ही इस मार्ग का आक्रमण करता है। और यह जितेन्द्रियता इसे 'मैत्रावरुणि' बनने से प्राप्त होती है। मैत्रावरुणि—प्राणापानों की साधना करने वाला।

भावार्थ—मैं उषा का योग्यतम शिष्य बनूं।

द्युलोक की ओर जाने वाले

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि
२र
गच्छथः ॥२॥३०४॥

वशिष्ठ कहता है कि ऐ [**उस्रा**]=उत्तम निवास के देने वाले [**अश्विना**]=प्राणापानो! [**इमा वां**]=इन आपको [**उ**]=निश्चय से [**दिविष्टयः**]=स्वर्गलोक की ओर जाने वाले [**हवन्ते**]=पुकारते हैं। द्युलोक में पहुंचने की कामना से आपकी वे आराधना करते हैं। वस्तुतः प्राणापान की अराधना करने वाला व्यक्ति ही दग्धदोष इन्द्रियों वाला होकर प्राणापानों की निःस्वार्थता को सीखता है। जितना २ निःस्वार्थ होता जाता है उतना-उतना ही ऊंचा उठता हुआ वह अन्त में द्युलोक में पहुंच ही जाता है। स्वार्थ वृद्धि के साथ ही वह नीचे गिरता चला गया था, आज वह निःस्वार्थ बन फिर वह अपने उत्कृष्ट स्थान पर पहुंचा है।

ऐ [**शचीवसू**] = प्रज्ञा व शक्ति रूप धनों वाले प्राणापानो? (शची = प्रज्ञा, शची = कर्म) [**अयं**] = ये मैं [**वां**] = आप दोनों को [**अवसे**] = अपनी रक्षा के लिए [**अह्वे**] = पुकारता हूं। प्राणापान मुझे शारीरिक दृष्टिकोण से नीरोग बनाते हैं, मानस दृष्टिकोण से पवित्र और बौद्धिक दृष्टिकोण से तीव्र। शरीर, मन व बुद्धि के दोषों को दूर करने वाले इन प्राणापानों को मैं क्यों कर न पुकारूं? क्यों न इनकी आराधना करूं? ये प्राणापान [**विशं२ हि गच्छथः**] मेरे अन्दर प्रवेश करने वाले प्रत्येक शत्रु पर आक्रमण करते हैं। काम-क्रोध आदि हमारे न चाहते हुए भी हमारे में घुस आते हैं। इसीलिए इन्हें 'विश्वानि'=प्रवेश करने वाला कहा गया है। यही भावना यहां 'विशं२' शब्द से दी गई है। मेरे में काम का प्रवेश होता है, मैं दीर्घश्वास लेता हूं और यह प्राण काम का विध्वंस कर दूर भगा देता है। मुझे क्रोध होने लगता है, गहरा श्वास लेते ही कुछ देर के लिए न जाने क्रोध कहाँ भाग जाता है। एवं, प्राणापान प्रत्येक अवांछनीय भावना को भगा देते हैं।

इस सारी बात का ध्यान करके ही वसिष्ठ 'प्राणापान' की साधना को अपनाता है। मैत्रावरुणि बन कर यह काम, क्रोध से ऊपर उठ जाता है। इनकी साधना करते-करते यह स्वयं तद्रूप बन जाता है सो अगले मंत्र का ऋषि ही 'अश्विनौ' हो जाता है। ३०४ मंत्र का देवता ३०५ में ऋषि बन गया है। विष्णु के भक्त ने विष्णु बनना ही है, प्राणापान के उपासक ने 'प्राणापान' का पुंज क्यों नहीं बनना?

भावार्थ—इन प्राणापानों को साधना से हम निम्न लाभों को प्राप्त करें:—

(१) उस्रा—उत्तम निवास। (२) अवसे—वासनाओं के आक्रमण से रक्षा। (३) शचीवसू—ज्ञान व शक्ति की प्राप्ति। (४) दिविष्टयः—द्युलोक में पहुंचना—सदा सत्वगुण में अवस्थिति।

इस प्रकार भी, उस प्रकार भी

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः।
३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ २ ३
घ्नता वामश्नया क्षयमाणोंऽशुनेत्थमु आद्वन्यथा ॥३॥३०५॥
१ २

प्राणापान की साधना करने वाला व्यक्ति प्राणापान का पुंज बनकर यहां 'अश्विनौ' इस नाम वाला ही हो गया है—प्राणापान ने इसके अन्धकार को विवासित कर इसे 'वैवस्वतौ' इस यथार्थ नाम वाला किया है। ज्ञान के सूर्य से चमकने के कारण यह 'विवस्वान्' तो है ही। यह [**कुष्ठः**]=इस पृथ्वी पर स्थित हुवा-हुवा भी [**कः**]=कोई विरला ही [**मर्त्यः**]=व्यक्ति [**अश्विना**]=प्राणापानो ! ऐ [**देवा**]=ज्ञान की दीप्ति के देने वाले [**वां**]=आप दोनों के [**तपानः**]=दीप्त करने के स्वभाव वाला [**वाम्**]=आपकी [**घ्नता अश्नया**]=सब दोषों को नष्ट करने वाली व्याप्ति से [**क्षयमाणः**]=शरीर के रोगों को, मन के दोषों को और बुद्धि की कुण्ठता को नष्ट करता हुवा [**अंशुना**]=प्रकाश की किरणों से [**उ**]=निश्चय से [**इत्थम्**]=ऐसे तो चमकता ही है जैसे कि इहलोक में कोई स्वस्थ, सम्पन्न, सबल व्यक्ति चमका करता है, पर इसके [**आत् उ**]=साथ ही (अपि च) [**अन्यथा**]=उस विलक्षण (अन्य=विलक्षण) रीति से भी शोभायमान होता है जिससे कि कोई सात्विक आध्यात्मिक उन्नति सम्पन्न व्यक्ति चमका करता है। अर्थात् यह प्राणापान को दीप्त करने वाला व्यक्ति अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करने वाला होता है। प्रेय व श्रेय दोनों का इसके जीवन में उचित समन्वय होता है। इहलोक व परलोक दोनों के कल्याण को यह प्राप्त करता है। प्रभु की उपासना के द्वारा प्रभुता को भी यह पा ही लेता है। प्राणापान की साधना इसे प्रभुता के आकर्षण से बचाकर प्रभु की ओर ले जाती है। प्रभु की प्राप्ति इसे प्रभुता तो प्राप्त करा ही देती है।

'तपानः' शब्द में ताच्छील्य अर्थ में आया हुवा 'चानश्' प्रत्यय संकेत कर रहा है कि प्राणापान की साधना हामरा स्वभाव बन जाय। उसके बिना हम रह ही न सकें। 'अंशुना' शब्द संकेत करता है कि यह साधना हमें दीप्त करेगी। सूर्य की किरणों की तरह हम भी ज्ञान की किरणों वाले होंगे। 'घ्नता अश्नया' से स्पष्ट है कि जहां-जहां इनका संयम करेंगे वहां-वहां ये दोषों को दग्ध कर देंगे। पर इस पृथ्वी पर कोई विरला ही व्यक्ति इस साधना में तत्पर होता है। हम व्यायाम को अपनायेंगे, प्राणायाम को नहीं। वास्तविकता तो यह है कि व्यायाम हमारे भोजन की मात्रा को अधिकाधिक बढ़ाता हुवा हमें आध्यात्मिकता के मार्ग से दूर ले जाता है, जबकि प्राणापान हमारे भोजन को सूक्ष्म करता हुवा हमें भौतिकता से ऊपर उठाता है। 'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः' इस योग सूत्र के अनुसार तो हम सचमुच 'अब्भक्ष और वायुभक्ष' बनकर पार्थिवता से ऊपर ही उठ जाते हैं। हमें द्युलोक में पहुंचना तो है ही, सो इस साधना को अपनाना ही ठीक है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से मैं ऐसे भी चमकूं, और वैसे भी।

देवलोक में जाने के निमित्त

३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोमो दिविष्टिषु ।
१ २ ३ १ २ ३ ३ १र २
तमश्विना पिबतं तिरोअह्न्यं धत्तं रत्नानि
३ १ २
दाशुषे ॥४॥३०६॥

मंत्र का ऋषि प्रस्कण्व अश्विनी देवों (प्राणापानों) से कहता है कि [**अयं**]=यह [**वां**]=आप दोनों का [**मधुमत्तमः**]=अत्यन्त मधुरतम (सारभूत) [**सोमः**]=सोम [**दिविष्टिषु**]=द्युलोक के गमनों के निमित्त (दिव्+इष्टि, निमित्त सप्तमी) [**सुतः**]=उत्पन्न किया गया है। वस्तुतः यह सोम प्राणापान का है, उन्हीं का साधना से इसकी रक्षा होती है। और इस सोम का मुख्य उद्देश्य द्युलोक में प्राप्त होना=सत्वगुण में अवस्थित होना,=ज्ञान के क्षेत्र में विचरना ही है। मनुष्य अज्ञान व मोहवश विलास में—विलास में क्या विनाश में, इसका व्यय करता है। सन्तान के

निर्माण में इसका व्यय, सकाम कर्मकाण्ड के दृष्टिकोण से, पवित्र कर्म है। पर इसे ज्ञानाग्नि का ईंधन बना डालना तो इसका सर्वोत्तम उपयोग है। यह प्राणापान की साधना से ही संभव है। सो प्रस्कण्व कहता है कि ऐ [**अश्विना**]=प्राणापानो [**तं**]=उस सोम को इस प्रकार [**पिबतं**]=अपने अन्दर ही पान करने का प्रयत्न करो कि यह [**तिरः**]=अदृश्य रूप से [**अह्न्यं**]=(अह् व्याप्तौ, अह्नोति) अन्दर ही अन्दर व्याप्त हो जाय। रुधिर के साथ इसका इस प्रकार समन्वय हो जाय कि 'तिलेषु तैलं, दधनीव सर्पिः' जैसे तिलों में तेल का व दही में घृत का व्यापन हो जाता है। प्राणापान की साधना से इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर साधक 'ऊर्ध्वरेतस्' बनता है।

मंत्र की समाप्ति पर कहते हैं कि ऐ अश्विनी देवो ? आप [**दाशुषे**]=आपके प्रति अपना समर्पण करने वाले के लिये [**रत्नानि धत्तं**]=रमणीय पदार्थों को धारण कराते हो। वस्तुतः जो भी व्यक्ति प्राणों की साधना को नियम से करता है—वह सोम रक्षा के द्वारा 'शरीर की नीरोगता, मन की पवित्रता व बुद्धि की तीव्रता' रूप तीनों रत्नों को तो प्राप्त करता ही है। पर यह सम्पूर्ण रत्न–लाभ दाश्वान् को ही होता है—जो इस साधना के प्रति अपने को दे डालता है—इसमें प्रमाद नहीं करता।

भावार्थ—हम नियमित प्राण साधना से, सोम रक्षा के द्वारा, रत्नों को प्राप्त करने वाले हों।

विनीत वाणी व अक्रोध के द्वारा

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं
२ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३
ज्या । भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं
१ २
न याचिषत् ॥५॥३०७॥

मंत्र के ऋषि 'मेधातिथि व मेध्यातिथि' हैं। वस्तुतः जो मेधा से चलता है (मेधया अतति) बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है वह 'मेध्यं अतति'=पवित्र प्रभु को पा ही लेता है। यह कहता है कि [**अहं**]=मैं [**सदा**]=हमेशा [**आ**]=सर्वथा [**ज्या**]=जयनशील, दूसरे के हृदय को जीत लेने वाली अथवा अत्यन्त आग्रह से परिपूर्ण (ज्या=Importunity) [**सोमस्य**]=अत्यन्त विनीत पुरुष की [**गल्दया**]=वाणी से [**त्वायाचन्**]=आपकी प्राप्ति का याचक हूं। (लट् के स्थान में शतृ)। जो आप [**भूर्णिम्**]=सबका भरण करने वाले हैं और [**मृगं**]=(मृग्यम्) अन्वेषणीय हैं अर्थात् आप ही अन्ततः सबके पाने योग्य हैं। मनुष्य माया में उलझ जाता है, खूब उलझ कर जरा दृष्टिकोण को बदलता है, बाहर से अन्तर्मुखवृत्ति होता है तो प्रभु को पा सब उलझनों से निकल जाता है और अनुभव करता है कि पाने योग्य तो प्रभु ही थे।

ऐ प्रभो ? आपको पाने के लिये ही मैं [**न सवनेषु चुक्रुधम्**]=अपने जीवन के प्रातः (२४ वर्ष) माध्यन्दिन (४४ वर्ष) व सायन्तन (४८ वर्ष) सभी सवनों में क्रोध नहीं करता हूं। प्रभु को पाने के लिये जीवन को क्रोधशून्य बनाना अत्यन्त आवश्यक है। मधुर वाणी व क्रोधशून्यता ये दो उपाय हैं आपकी प्राप्ति के लिये। इनको अपने जीवन का अंग बनाये विना कोई भी व्यक्ति प्रभु को नहीं पा सकता।

वैसे प्रभु [**ईशानं**]=ईशान हैं—सब ऐश्वर्यों के मालिक हैं और उनको [**कः न याचिषत्**]=प्राप्त करना कौन न चाहेगा ? पर केवल चाहने से प्रभु थोड़े ही मिल जाते हैं। वे तो तभी मिलेंगे जबकि मेरी वाणी विनीत पुरुष की वाणी होगी और मेरा जीवन बाल्य, यौवन व वार्धक्य में क्रोध से शून्य होगा।

भावार्थ—मैं मधुर बोलूं, क्रोध से दूर रहूं।

घर में आ गया

१ २   ३ २ ३ २उ   ३ १ २
अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उपो नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम
३ २
वृत्रहा ॥६॥३०८॥

जीव अपने को ही प्रेरणा देता हुवा कहता है कि [**अध्वर्यो ?**]=अपने साथ अहिंसात्मक यज्ञ को जोड़ने वाले जीव ? [**त्वं**]=तू [**द्रावया**]=इन काम, क्रोध, लोभ आदि की भावनाओं को दूर भगा दे। चूंकि आज [**इन्द्रः**]=इन्द्रियों का अधिष्ठाता यह जीव [**सोमं**]=सोम को [**पिपासति**]=पीना चाहता है। काम, क्रोध आदि के होने पर सोमपान का संभव नहीं रहता। इसलिये अहिंसाव्रती बनकर यह सब वासनाओं को दूर भगाता है।

अब यह [**वृषणा**]=शक्तिशाली इन्द्रियरूपी [**हरी**]=घोड़ों को [**नूनं उ**]=निश्चय से ही [**उपयुयुजे**]=शरीररूप रथ में जोतता है [**च**]=और [**वृत्रहा**]=सब रुकावटों को दूर करता हुवा [**आजगामः**]=अपने घर में आ जाता है।

'हरी'=घोड़े हैं, 'इधर-उधर ले जाते हैं' सो हरि कहलाते हैं। इन्द्रियां भी न जाने कहां-कहां ले जाती हैं। सो ये भी हरि हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के गणों के विचार से यहां द्विवचन आया है। इनको शक्तिशाली बनाना (वृषणा) आवश्यक है, निर्बल बनाकर काबू करने में कोई महत्व नहीं, चूंकि तब ये यात्रापथ को भी तय न कर सकेंगे। जिस दिन यात्रा पूर्ण करके हम घर पहुंचेंगे उस दिन प्रभु के प्रेम को हम उसी प्रकार पा सकेंगे जैसे कि भटका हुवा पुत्र घर लौटने पर माता-पिता के प्रेम को पाता है। उस दिन हम उस ब्रह्मलोक में उस देव के अतिथि से होंगे। इसी से मंत्र के ऋषि का नाम 'देवातिथि' है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रिय रूप घोड़े चरते ही न रहें, हम इन्हें रथ में जोतकर यात्रा को पूर्ण करने का ध्यान करें।

मैं छोटा भाई ही तो हूं
(Recharging of the battery)

३ २ ३ २उ   ३ १ ३   २ ३   १ २   ३
अभीषतस्दा भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः । पुरू-
२ ३ १ २   ३ १ २ ३   १ २   ३ १ २
वसुर्हि मघवन् बभूविथ भरेभरे च हव्यः ॥
७॥३०९॥

जब जीव इन्द्रियरूप घोड़ों को शरीररूप रथ में जोत कर अपने ब्रह्मलोक रूप घर की ओर फिर वापिस चल देता है तो प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**अभि**]=ब्रह्मलोक की ओर [**सतः**]=विद्यमान जो मैं हूं उस मुझ में ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ? [**तद् आभर**]=उस शक्ति को भरिये, जिससे कि मैं अपनी इस यात्रा को अवश्य पूर्ण कर सकूं। [**ज्यायः**]=आप बड़े हैं, [**कनीयसः**]=मैं छोटा हूं, मुझ छोटे को आप शक्ति अवश्य देंगे ही। बड़ा भाई छोटे का ध्यान करता ही है। आप परमात्मा हैं, तो मैं आत्मा हूं। आप इन्द्र और मैं उपेन्द्र। ऐ [**मघवन्**]=पवित्र ऐश्वर्य वाले प्रभो ? [**हि**]=निश्चय से आप [**पुरुवसुः**]=पालक और पूरक धन वाले हैं [**बभूविथ**]=हैं। मुझे भी यही धन प्राप्त कराईये ताकि मैं सब विघ्नों को जीतता हुवा यात्रा को पूर्ण कर सकूं। [**भरे भरे च हव्यः**]=जब मुझे फिर-फिर इस शरीररूप यंत्र को शक्ति से भरने की (बैटरी को रि-चार्ज करवाने की) आवश्यकता होती है तो आप ही तो पुकारने योग्य होते हो। आपने ही तो इस यंत्र में फिर-फिर शक्ति को भरना है। आपसे शक्ति को प्राप्त करके ही मैं इन कामादि शत्रुओं से संग्राम में विजयी हो सकूंगा। आपसे शक्ति को प्राप्त करके ही मैं इन घोड़ों का पूर्णरूपेण वश में करने वाला इस मंत्र का ऋषि वशिष्ठ बन पाता हूं, अथवा आपकी कृपा से फिर से उत्तम निवास वाला 'वसिष्ठ' मैं होता हूं।

भावार्थ—प्रभु से अपने को जोड़कर मैं इस शरीर रूप यंत्र को शक्ति से फिर-फिर भर लेने वाला बनूं।

एक मधुर उपालम्भ

१२ ३ १ २३ २३१२३१र २र ३ २
यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय । स्तोता-
३ १२ ३ १ २ ३१२
रमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ॥
८॥३१०॥

अपने घर की ओर वापिस लौटता हुवा वसिष्ठ जब कभी शक्ति की कमी को अनुभव करता है, या किन्हीं साधनों की विकलता को देखता है तो प्रभु को उपालम्भ देता हुवा कहता है कि ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्य वाले प्रभो ? [**यत्**]=यदि [**यावतः त्वम्**]=जितने ऐश्वर्य के आप मालिक हैं [**एतावत्**]=इतना [**अहम्**]=मैं [**ईशीय**]=ऐश्वर्य वाला होता तो [**इद्**]=निश्चय से [**स्तोतारम्**]=स्तोता को [**दधिषे**]=धारण करता। यह ठीक है कि [**पापत्वाय**]=पाप के लिये [**न रंसिषम्**]=मैं शक्ति व साधनों को न देता। परन्तु इस समय मैं कोई पाप के मार्ग पर थोड़े ही जा रहा हूं। मैं तो फिर अपने उस सनातन गृह—'ब्रह्मलोक' की ओर लौटने के प्रयत्न में हूं। मैं अपनी इन्द्रियों को बहिर्मुख न होने देकर अन्तर्मुख करने में लगा हूं। प्रत्याहार के द्वारा उन्हें विषयों की दलदल से दूर करने में प्रयत्नशील हूं। इसलिये ऐ [**रदावसो**]=सब वसुओं के देने वाले (रदति=ददाति) प्रभो ? मुझे भी उत्तम निवास के लिये आवश्यक वसुओं को प्राप्त कराईये। मैं प्राप्त धनों व साधनों का पाप में विनियोग थोड़े ही करूंगा। मैत्रावरुणि बनकर अर्थात् प्राणापान की साधना करने वाला बनकर मैं अपनी इन्द्रियों को निर्दोष ही रखूंगा। काम क्रोधादि को वश में करके 'वशिष्ठ' बनूंगा।

भावार्थ—ऐ प्रभो ! मैं आपके दिये वसुओं का अब अनिष्ट प्रयोग न करूंगा।

उत्साहजनक प्रेरणा

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
३ १ २ ३ १ २३१२ १ २
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरु-
३ २
ष्यतः ॥९॥३११॥

वसुओं की याचना करने वाले जीव से प्रभु कहते हैं कि [**त्वम्**]=तू [**इन्द्र**]=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता ? [**प्रतूर्तिषु**]=इन काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के संग्रामों में (तुर्वीहिंसायाम्) [**विश्वाः**]=सब अन्दर घुस आने वाले इन [**स्पृधः**]=अपने साथ स्पर्धापूर्वक संग्राम करने वाली इन कामादि वृत्तियों को [**अभि असि**]=अभिभूत कर लेता है। (अस्=भू)। तूने इनसे क्या पराजित होना ? तू तो अब इन्द्र बन गया है ना ? इन्द्रियों को वश में करके ही तो तू यात्रापथ पर आक्रमण कर रहा है ? तू [**अशस्ति-हा**]=सब अशुभों का विनाश करने वाला है। [**जनिता**]=अपना प्रादुर्भाव विकास करने वाला है। [**वृत्रतूः असि**]=मार्ग में आने वाली सब रुकावटों का समाप्त करने वाला है। [**त्वं**]=तू [**तरुष्यतः**]=तेरी हिंसा करने वाली इन अशुभ वृत्तियों को [**तूर्य**]=समाप्त कर डाल।

उल्लिखित उत्साहमय प्रेरणा को सुन कर यह जीव अपने को उन्नति पथ पर ले चलने वाला बनता है। (नृ नये) सो ना (नृ) कहलाता है। उन्नतिपथ पर बढ़ते हुए अपने विरोधियों का मुकाबिला करता है (meets them-मेधते) इस लिये मेध नाम वाला होता है। यह नृमेध उसी उत्साहमय प्रेरणा से अपने अंग-प्रत्यंग में रस शक्ति का अनुभव करने से 'आंगिरस' है।

माता-पिता को भी पुत्रों को इसी प्रकार उत्साहमय प्रेरणा देनी चाहिये और आचार्य शिष्य को।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये इस 'इन्द्र' नाम को हम सार्थक करने वाले हों।

नवमश्रेणी में अपने को धारण करने वाला

२ २र ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
प्र यो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं
ववक्षिथ ॥१०॥३१२॥

[**यः**]=जो [**ओजसा**]=आगे बढ़ने की शक्ति के द्वारा (ओज् to increase) [**दिवः**]= द्युलोक के [**सदोभ्यः**]=स्थानों से [**परि**]=परे [**प्ररिरिक्षे**]=आगे निकल जाता है, [**त्वा**]=उस तुझको ऐ [**इन्द्र**]=शत्रुओं के विदारण करने वाले जीव [**रजः**]=यह अन्तरिक्ष लोक अथवा [**पार्थिवं**]=यह पृथिवी लोक [**न**]=नहीं [**विव्याच**]=व्याप्त कर लेता। इस इन्द्र को तमोगुण व रजोगुण ने क्या घेरना ? यह तो सत्वगुण से भी ऊपर उठ निस्त्रैगुण्य हो गया है, गुणातीत सा हो गया है।

'प्र रिरिक्षे' शब्द का ठीक अर्थ (रिच्=खाली करना) पिछले स्थान को खाली करके आगे बढ़ जाना है। यह पृथिवी लोक से अन्तरिक्ष लोक में उठता है, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, और द्युलोक के भी स्थानों से यह आगे बढ़ने का ध्यान करता है। यही तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठ सत्वगुण में पहुंचना है। सत्वगुण में भी निकृष्ट सात्विक व मध्यम सात्विक से ऊपर उठ यह उत्तम सात्विक बनता है। यह उत्तम सात्विक मनु के शब्दों में 'चारो वेदों' का ज्ञाता (ब्रह्मा), सदा निर्माण के कार्यों में लगा हुआ (विश्वसृजः), धर्म का पुँज (धर्मः), विशाल हृदय वाला 'वसुधैव कुटुम्बकं' के सिद्धान्त को अपनाने वाला (महान्) और इस प्रकार ऊंचा उठकर भी सदा अप्रिसिद्धि को पसन्द करने वाला, प्रसिद्धि से घबराने वाला (अ-व्यक्तम्) होता है। यह निचली-निचली श्रेणी को छोड़कर, तीनों तामस, तीनों राजस तथा निचली दो सात्विक इन आठ श्रेणियों को छोड़ कर यह आज अपने को नौवीं श्रेणी में धारण करने वाला 'नो-धा' है। इसकी इंद्रियां प्रशस्त तो हैं ही सो यह 'गौतम' है। यह [**विश्वं**]=हमारे न चाहते हुए भी अन्दर घुस आने वाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को [**अति ववक्षिथ**]=पार करके अपने को इस उत्तम स्थिति में प्राप्त कराने वाला है और इसीलिए ही (विश्वं)=त्रिलोकी को (अतिववक्षिथ)=पार कर गया है पृथ्वी, अंतरिक्ष व द्युलोक को पार करके 'ब्रह्मलोक' में पहुंच गया है।

भावार्थ—हम उत्तम सात्विक गति को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

● ● ●

॥ ३ ॥ ऋषिः—१, २, ६ वसिष्ठः; ३ गातुः; ४ पृथुर्वैन्यः, ५ सप्तगुः; ७ गौरिवीतिः; ८ वेनो भार्गवः; बृहस्पतिर्नकुलो वा; १० सुहोत्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सात्विक आहार के लाभ

१ २ ३१र २र ३ २ ३क २र ३ १ २
असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्नन्द्रो
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
जनुषेमुवोच । बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञै-
२र३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
र्बोधा न स्तोममन्धसो मदेषु ॥१॥३१३॥

कैसा अन्नः—[**अन्धः**]=भोजन [**असावि**]= पैदा किया गया है। (सु=पैदा करना Sow) भोजन वही ठीक है जो भूमि माता से पैदा किया जाता है। इस कथन शैली से यह स्पष्ट है कि मांस भोजन हेय है। परन्तु इस प्रकार भावना लेने से तो दूध भी अनुपादेय हो जायगा। सो कहते हैं कि [**गोऋजीकं**]=गोदुग्धयुक्तम् (ऋजीकं=mixed up, ऋज्गतौ)। अन्यत्र वेद में 'पयः पशूनाम्' इन शब्दों से यही भावना व्यक्त की गई है कि पशुओं का दूध ही लेना है, मांस नहीं। एवं पृथिवी से उत्पन्न व्रीहि, यव, माष, तिल, फल-मूल कन्द व गोदुग्ध ही मानव भोजन है। यही भोजन सात्विक है। [**देवम्**]=दैवी सम्पत्ति को जन्म देने वाला है। हमें राजस् व तामस भोजन करके अपने अन्दर आसुर सम्पत्ति को जन्म नहीं देना। 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः' इस तत्व को समझकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये भोजन की शुद्धि पर बड़ा ध्यान रखना है। नानक आदि सन्तों के जीवन में यह स्पष्ट है। कृष्ण दुःशासन का शाही भोजन न खा विदुर का शाक ही खाते हैं। स्मृतियां खान-पान की शुद्धि पर बड़ा बल देती हैं।

लाभ—(१) [**अस्मिन्**]=इस सात्विक भोजन में [**ईम्**]=निश्चय से [**जनुषा**]=स्वभाव से ही अर्थात् सुगमता से [**इन्द्रः**]=इन्द्रियों का शासक न कि इन्द्रियों का दास [**नि उवोच**]=निश्चय से [**समवेत**]=संगत होता है (उच समवाये)। अभिप्राय यह कि सात्विक भोजन हमें जितेन्द्रिय बनाता है, जबकि राजस भोजन का परिणाम इन्द्रियों का दास बन जाना होता है।

(२,३,४,) प्रभु कहते हैं कि ऐ [**हर्यश्व**]=आशुगामी इन्द्रियरूप अश्वों वाले? [**त्वा**]=तुझे [**यज्ञैः**]=यज्ञों के द्वारा [**बोधामसि**]=ज्ञानयुक्त करते हैं इस वाक्य के अन्दर वस्तुतः क्रियाशीलता—यज्ञ की वृत्ति तथा ज्ञान ये तीन लाभ सात्विक आहार के दिये गये हैं। जिस प्रकार एक भक्त 'मेरी माता अपनी आंखों से मेरे पुत्रों को सोने के पात्रों में खाता देखे' इस एक वाक्य से माता की आंख, सन्तान व धन तीनों ही बात मांग लेता है उसी प्रकार यहां भी एक वाक्य में वस्तुतः तीन लाभों का संकेत हो गया है।

(५) तथा [**अन्धसः मदेषु**]=इन सात्विक भोजनों के आनन्दों में तू [**नः स्तोमं बोध**]=हमारी स्तुति को भी जान। अर्थात् इन सात्विक भोगों को भोगता हुवा भी पुरुष प्रभु को भूल नहीं जाता। उसे सदा प्रभु का स्मरण रहता है। राजस, तामस भोगों में तो पुरुष ऐसा आसक्त होता है कि वह अपने को ही सर्वोपरि मानने लगता है। 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'=मेरे जैसा और कौन है? यह उसका अहंकार हो जाता है।

इस मंत्र का ऋषि 'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' सात्विक ही भोजन को अपनाता है चूंकि वह समझता है कि मानवता या वीरता वसिष्ठ बनने में ही है। वशिष्ठ वशियों में श्रेष्ठ है। जिसने काम, क्रोध, को जीता है। एक लखपति क्रोधी है और उसका नौकर शान्त है तो मानवता की साधना नौकर की ही अधिक है। संसार भर को जीतने से अपने को जीतना अधिक उत्तम है। इस काम क्रोध को जीतने के लिये ही मित्रावरुण की सन्तान अर्थात् उत्तम प्राणापान वाला बनना आवश्यक है। उसी के लिये प्राणायाम है। इस प्राणायाम में सात्विक आहार मूलभूत वस्तु है। इसके बिना प्राणसाधना का संभव नहीं। इसीलिये 'मैत्रावरुणि वसिष्ठ' सात्विक भोजन का उपादान करता है।

भावार्थ—हम सात्विक आहार के द्वारा (१) जितेन्द्रिय (इन्द्र) (२) क्रियाशील (३) यज्ञशील (४) ज्ञानी तथा (५) सदा प्रभु के स्तोता बनें।

उपासना के लाभ

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः
३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
पुरुहूत प्र याहि। असो यथा नोऽविता वृध-
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
श्चिद्दो वसूनि ममदश्च सोमैः ॥२॥३१४॥

उपासना—गत मंत्र का सात्विक आहार का सेवन करने वाला अपनी सात्विक अन्तःकरण की वृत्ति के कारण प्रभु का स्तोता बनता है। यही सात्विक आहार का पञ्चम लाभ था। वह प्रभु से कहता है कि [**इन्द्र**]=ऐ सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! [**सदने**]=इस तेरे से दिये गये मृण्मय गृह के

अन्दर [ते]=तेरे लिये [योनिः]=हृदयरूपी स्थान [अकारि]=मेरे से बनाया गया है–निश्चित किया गया है। मैंने इस घर में हृदय को तेरे बिठाने के लिये ही अशुद्ध भावनाओं से खाली कर शुद्ध कर डाला है।

ऐ नृभिः पुरुहूत=मनुष्यों से बहुत पुकारे गये प्रभो ! आपको ही तो प्रत्येक कष्टपतित पुरुष कष्ट निवृत्ति के लिये पुकारता है। वे आप [तम्]=उस हृदय रूप स्थान में [आ-प्र-याहि]=सर्वतः प्रकर्षेण प्राप्त हूजिये। अर्थात् मैं अपने हृदय में आपका ही स्मरण करूं।

लाभः—(१) [**यथा**]=जिससे आप [**नः**]=हमारे [**अविता**]=रक्षक [**असः**]=हों। उपासक प्रभु को अपना रक्षक मानता है—अतएव वह निर्भीक है। उसी प्रकार निर्भीक जैसे कि मातृगोद में स्थित बच्चा। यह उपासक प्रभु को ही उपस्तरण व अपिधान के रूप में देखता है।

(२) [**वृधे च**]=आप हमारी वृद्धि के लिये होइये। अग्नि के सम्पर्क में जब तक गोला रहता है तेजस्वी बना रहता है, अलग हुवा और ठण्डा हुवा। यही अवस्था जीव की है–प्रभु के सम्पर्क में तेजस्वी, अलग हुवा और निस्तेज। फिर वृद्धि कहां ?

(३) [**ददः वसूनि**]=ऐ प्रभो अपने उपासक का योगक्षेम आप ही तो चलाते हैं। 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः।' निवास के लिये सब आवश्यक वस्तुएं आप मुझे देते हो।

(४) भोगविलास से दूर रख यह उपासना मनुष्य को शक्तिशाली बनाती है। सो कहते हैं कि 'सौमैः ममदः च'=(Semen) आप शक्ति के द्वारा मेरे जीवन को उल्लासमय बनाते हो।

भावार्थ—उपासना के चार लाभ हैं—(१) प्रभु द्वारा रक्षण (२) वृद्धि-विकास (३) वसुओं की प्राप्ति (४) और शक्ति के कारण उल्लासमय जीवन।

उपासना के मुख्य दो लाभ या शक्ति का रहस्य–विषय निवृत्ति में

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १
अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
बद्वधानाँ अरम्णाः। महान्तमिन्द्र पर्वतं
२उ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २
वि यद्वः सृजद्धारा अव यद्दानवान् हन् ॥
३॥३१५॥

प्रथम—गत मंत्र में स्तुति का अन्तिम लाभ यह कहा गया था कि 'शक्ति के द्वारा जीवन में उल्लास।' उस शक्ति का रहस्य इस मंत्र में वर्णित हुवा है। मनुष्य की इन्द्रियां विषयों में गईं, और उसकी शक्ति जीर्ण हुई। 'भोगे रोगभयम्', 'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः' 'नैवाहमोदनं न माम् ओदनः' आदि सब वाक्यों में विषयों से शक्ति की जीर्णता का ही उल्लेख है। सो इस मन्त्र में कहते हैं कि ऐ प्रभो ! आप [**उत्सम्**]=प्रस्रवण को, इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को [**अदर्दः**]=विदीर्ण कर देते हो (दृ= to tear) प्रभु स्मर हर हैं, इन विषयों की उत्कण्ठा का हरण करने वाले हैं। स्मर काम है, उसके ये विध्वंसक हैं। इस प्रकार विषयोत्कण्ठा का समाप्त करके [**खानि**]=इन्द्रियों को (विअसृजः) आप विषयों से मुक्त करते हो। ये विषय मनुष्य के लिये अतिग्रह नहीं रह जाते। इस प्रकार [**त्वम्**]=ऐ प्रभो ! आप [**बद्बधानाम्**]=मुझे बुरी तरह से बांधने वाले [**अर्णवान्**]=विषय समुद्रों को ('कामो हि समुद्रः' उ०) [**अरम्णाः**]=थाम देते हो। इस प्रकार विषयोत्कण्ठा की निवृत्ति, इन्द्रियों की विषयों से मुक्ति, अत्यन्त पीड़ित करते विषय समुद्र का रुक जाना, यह उपासना का प्रथम लाभ है इसी का परिणाम शक्ति का न नष्ट होना है और जीवन का उल्लासमय बनना है।

द्वितीयः—इस उपासना का दूसरा परिणाम यह है [**यत्**]=कि [**इन्द्र**]=ऐ इस अज्ञान राशि

की विदीर्ण करने वाले प्रभो ! आप [**महान्तं पर्वतं**]=महान् ग्रन्थियों (पर्वों) वाली अविद्या को [**विवः**]=विवृत कर देते हो—खोल डालते हो, उलझनों को सुलझा देते हो। सब संशय की गांठें खुल जाती हैं, और इस प्रकार 'धारा' ज्ञान-धाराओं को [**विसृजः**]=आप प्रवाहित करते हो। पर्वत के विदीर्ण होने से जलप्रवाह बह उठता है, उसी प्रकार संशय पर्वत की विदीर्णता से ज्ञान जलधारा बह उठती है। [**ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा**]=उपासना की पराकाष्ठा में सत्यपोषक बुद्धि तो प्राप्त होती ही है। और [**यद्**]=जो ज्ञान दानवान्=दानव वृत्तियों को 'अवहत्' दूर नष्ट कर देता है। उपासना से ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और वह ज्ञानाग्नि भी अशुभ वृत्तियों को भस्म कर देती है और हमें शक्तिशाली बनाती है।

उपासना के इन दो लाभों का ध्यान करते हुए जो व्यक्ति सदा उस प्रभु का गायन करता है वह 'गातुः' है। और इस गायन का ही यह परिणाम है कि वह 'त्रिविध तापों से ऊपर उठा हुवा'=आत्रेय बनता है।

भावार्थ—शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति के लिये हम प्रभु के उपासक बनें।

उपासना किस प्रकार ?

३ १२ ३१२ ३ १ २
सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा सनिष्यन्तश्चि-
३ १ २ १ २ ३ १र २र
त्तुविनृम्ण वाजम् । आ नो भर सुवितं यस्य
३ २उ ३ १ २ ३ १ २
कोना तना त्मना सह्याम त्वोताः ॥४॥३१६॥

गत दो मन्त्रों में उपासना के लाभों का विस्तार से वर्णन हुआ है। इस मंत्र में 'उपासना किस प्रकार हो सकती है' यह विषय वर्णित होता है :—

प्रथम साधन—

ऐ इन्द्र ! [**सुष्वाणास**]=यज्ञों में सोमरस का अभिषव करते हुए, अर्थात् ऋतु नामक सोम यज्ञों को करते हुए हम [**त्वा**]=तेरी [**स्तुमसि**]=स्तुति करते हैं। जीवात्मा को शत्-ऋतु कहा गया है, अर्थात् उसके सौ के सौ वर्ष ऋतुओं में ही बीतने चाहियें। शत ऋतु बन कर वह स्वयं इन्द्र ही बन जाता है। उपासक सदा यज्ञशील होगा। १२, १२ वर्ष तक, ५०, ५० वर्ष तक चलने वाले यज्ञों में लगा रह कर वह अपने जीवन को यज्ञमय कर डालता है, वह सचमुच 'पुरुषोवाव यज्ञः'=यज्ञ बन जाता है। प्रभु भी तो यज्ञरूप ही हैं 'यज्ञस्य देवम्'।

द्वितीय साधन—

ऐ [**तुविनृम्ण**]=बहुत बल वाले, अनन्त शक्तिमान् प्रभो ! हम [**चित्**]=भी [**वाजं सनिष्यन्तः**]=शक्ति को प्राप्त करते हुए आपकी स्तुति करते हैं। शक्ति पुञ्ज प्रभु की यही सच्ची उपासना है कि हम भी शक्तिशाली बनें। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इस उपनिषद् वाक्य को न भूलें। शक्ति में ही सब गुणों का वास होता है। गुणी बन हम प्रभु के समीप पहुंच जाते हैं।

तृतीय साधन—

[**नः**]=हमारे में ऐ प्रभो ! आप उस [**सुवितं**] (सु+इतम्)=भद्र को, दुरित से विपरीत वस्तु को आभर-भरिये [**यस्य कोना**]=जिसे आप चाहते हैं। (यहां ऋग्वेद में चाकन् ही पाठ है)। इस भावना से बढ़कर और समर्पण क्या हो सकता है। यह समर्पक प्रभु का सच्चा उपासक है।

परिणाम—

इस उपासना के होने पर [त्वा+ऊताः]=तेरे से रक्षित हुए हम [**तना**]=अपनी शक्तियों के विस्तार से [**त्मना**]—(आत्मना) स्वयं [**सह्याम**]=शत्रुओं का पराभव करें। उपासना से वह शक्ति प्राप्त होती है जो कि पर्वत तुल्य दृढ़ शत्रुओं को भी नष्ट करने में हमें समर्थ बनाती है इन शक्तियों के विस्तार के कारण ही यह उपासक 'पृथुः' (प्रथ विस्तारे) कहलाता है। यज्ञों के द्वारा इसने प्रभु की उपासना की, इसलिये यह 'वैन्य' कहलाया।

(वेनः=यज्ञः ति.३१४) वेन यज्ञ का नाम है। यज्ञों को खूब-करने वाला वैन्य है।

भावार्थ—यज्ञों, बल सम्पादन तथा समर्पण के द्वारा उपासना होती है। उस उपासना से वह शक्ति प्राप्त होती है जो कि हमें शत्रु पराजय के योग्य बनाती है।

यदि प्रभु का हाथ पकड़ेंगे ?

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते
१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
वसूनाम् । विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोना-
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
मस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥५॥३१७॥

हाथ पकड़ना—

पिछले मंत्र में कहा गया था कि तेरे से रक्षित होकर हम शत्रुओं का पराभव करेंगे। इसी भाव को इस मंत्र में और विस्तार से कहते हैं कि [**इन्द्र**]=ऐ प्रभो! [**ते**]=तेरे [**दक्षिणं हस्तं**]=दक्षिण हाथ को [**जगृह्मा**]=हम पकड़ते हैं। यद्यपि प्रभु निराकार हैं तो भी मनुष्य अब प्रभु का शब्दों में विचार करता है तो उसे साकार रूप में ही देखता है। 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः' वह पुरुष अनन्त शिरों वाला है, इसी रूप में तो हम प्रभु को देखते हैं। उस प्रभु के दक्षिण हस्त को हम पकड़ते हैं। वैसे 'हाथ पकड़ना' यह मुहावरा है, अर्थात् सहायता लेना। हम प्रभु का हाथ पकड़ें अर्थात् प्रभु को अपना सहायक बनायें—उसकी सहायता के बिना हम इन शत्रुओं का पराभव कर ही कहां सकते हैं? प्रभु का यह हाथ 'दक्षिण' है, हमारी शक्ति को बढ़ाने वाला है, हमारी उन्नति का कारण है, हमें चातुर्य (कुशलता) को प्राप्त कराने वाला है।

प्रथम लाभ

इस प्रभु का हाथ पकड़ते हैं। चूंकि हम [**वसूयवः**]=वसूयु हैं उत्तम वास के लिए आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा वाले हैं। और ऐ प्रभो! आप [**वसूनाम् वसुपते**]=वसुपतियों में वसुपति हैं—सर्वश्रेष्ठ वसुपति हैं। प्रभु अपने उपासकों को [**वसु**]=जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराते ही हैं। यह नहीं कि उपासक स्वयं श्रम ही नहीं करता। यह प्रभु का हाथ ही पकड़ता है, चलता तो स्वयं है। हां, बड़ा व्यग्र नहीं होता। छटपटाता नहीं, इन्हीं के लिए मारा-मारा नहीं फिरता।

द्वितीय लाभ—

उपासक का खाना-पीना तो चलता ही है पर बड़ा लाभ यह कि ऐ [**शूर**]=काम, क्रोधादि आसुर वृत्तियों को शीर्ण करने वाले (शॄ हिंसायाम्) प्रभो! [**हि त्वा**]=निश्चय से आपको [**गोनां गोपतिं विद्म**]=हम इन्द्रियों के उत्तम पति के रूप में जानते हैं। कृष्ण 'हृषीकेश'=इन्द्रियों के ईश हैं। प्रभु का उपासक भी इन्द्रियों का पति—जितेन्द्रिय बनता है। उसकी वासनायें शीर्ण हो जाती हैं और परिणामतः वह जितेन्द्रिय बन पाता है। उसकी बुद्धि धर्म मार्ग से विचलित नहीं होती।

महाभारत में यम ने नल-दमयन्ती को ये ही दो वर दिये हैं कि "यमस्त्वन्नरसे प्रादात् धर्मे चैव स्थिरां मतिम्"=अन्न रस की तुम्हें कमी न होगी और धर्म में तुम्हारी बुद्धि स्थिर रहेगी।

सत्संग :—

प्रभु की उपासना की वृत्ति को जगाने के लिए ही उपासक सत्संग चाहता है। और प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**अस्मभ्यं दाः**] हमें दीजिये, प्राप्त कराइये। किन्हें?

(१) [**चित्रम्**]=(चित्+र) ज्ञान देने वाले ब्राह्मणों को।

(२) [**वृषणम्**]=शक्ति से औरों पर सुखों की वर्षा करने वाले क्षत्रियों को। (३) [**रयिम्**]=(दा दाने) धन का खूब दान करने वाले वैश्यों को।

संसार में हमारा संग ज्ञान देने वाले ब्राह्मणों, शक्ति से किसी का हनन न करने वाले क्षत्रियों, तथा धन का दान करने वाले वैश्यों के साथ हो।

'पुनदर्दता अघ्नता जानता संगमेमहि'। इस सत्संग के द्वारा हम 'सुमनाः' बनें। 'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्'। हमारे शुद्ध मनों में वासनाओं का मैल न हो। हमारी 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' कान, नासिका, आंखें व मुख सातों इन्द्रियां उत्तम हों। ये विषयों में गई हुई न हों, ना ही हम इनके गुलाम हो जांय। सातों इन्द्रियों के अधिष्ठाता हम 'सप्त-गु' सातों गोरूप इन्द्रियों वाले हों। और विलास से दूर होने के कारण ही हमारे अंग रसमय बने रहें और हम 'आंगिरस' कहलाने के पात्र हों। दूसरे शब्दों में हम इस मंत्र के ऋषि 'सप्तगुः आंगिरस' बनें।

भावार्थ—उपासक प्रभु का हाथ पकड़ता है और 'वसुपति' व 'गो पति' बनता है। आवश्यक पदार्थों की उसे कमी नहीं होती और वह जितेन्द्रिय बन पाता है।

संग्राम में विजयी बनेंगे

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते
२ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र
धियस्ताः। शूरो नृषाता श्रवसश्च काम आ
२र ३ १ २ ३ १ २
गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥६॥३१८॥

नेमधिता शब्द निरुक्त में (२, १६, १३) संग्राम वाचक है। [**नेम**]=आधे एक ओर और आधे दूसरी ओर [**धिता**]= रखे होते हैं, सम्भवतः इसलिए यह शब्द संग्राम के लिए प्रयुक्त हुआ है। कुछ दैवी वृत्तियां एक ओर हैं, और कुछ दूसरी आसुर वृत्तियां दूसरी ओर। एवं इनका भी यह दैवासुर संग्राम शाश्वतकाल से मानव हृदय स्थली में चला आ रहा है। जो [**नरः**]=(नृ नये) अपने को आगे ले चलने की वृत्ति वाले लोग होते हैं वे इस संग्राम में [**इन्द्रं हवन्ते**] प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु की सहायता से ही तो उन्हें विजय प्राप्त होगी। नहीं तो ये वासनायें तो बड़ी प्रबल हैं। इनको जीतना अत्यन्त दुष्कर है। पर[**यत्**]=जब ये नर(ताः पार्याः धियः युनजते=उन शत्रुओं से पार होने के निश्चय वाली बुद्धियों को अपने में युक्त करते हैं, अर्थात् इनसे पार पाने का निश्चय कर लेते हैं तो वे प्रभु को पुकारते हैं। ये प्रभु ही वस्तुतः [**शूरः**]=इन वासनाओं को शीर्ण करने वाले हैं। 'नृ-षाता' वे ही नरों को विजय लाभ कराने वाले हैं। देवताओं को असुरों पर इन्हींने विजय प्राप्त कराई थी। देवों को भी अहंकार हो गया था कि हमी ने विजय प्राप्त की है। यक्ष के रूप में प्रकट हो प्रभु ने उनके अहंकार को दूर किया। हमें भी इस बात को भूलना नहीं कि विजय प्राप्त कराने वाले वे प्रभु ही हैं। इस विजय के द्वारा[**श्रवसः चकानः**] हमारे यश को प्रभु चाहते हैं। करते तो सब प्रभु ही हैं, पर जीव को निमित्त मात्र बना उसे वे यशस्वी बनाते हैं। गीता में अर्जुन को कृष्ण यही तो कहते हैं कि (यशोलभस्व)=अरे निमित्तमात्र बन जा और यश को प्राप्त कर ले। कृष्ण के हाथ में अस्त्र नहीं, अस्त्र तो अर्जुन को ही चलाना है। पर क्या अर्जुन कृष्ण के बिना विजयी हो सकता था? इसी प्रकार विजय तो हमें उस प्रभु ने ही प्राप्त करानी है।

एक ज्ञानी भक्त इस तत्व को समझता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि इस प्रकार वासनाओं को समाप्त करके [**नः**]=हमें [**त्वं**]=आप [**गोमति व्रजे**]=प्रशस्त गौओं वाले बाड़े में [**आभजा**]=भागी बनाइये। अर्थात् आपकी कृपा से हमारी इन्द्रिय रूप गौवें वासना क्षेत्रों में चरने न जाकर संयम के बाड़े में 'कृष+ण'=कर्म+ज्ञान के बाड़े में निरुद्ध रहें।

यह इंद्रियों को संयम के बाड़े में निरुद्ध करने वाला व्यक्ति 'वशिष्ठ' है। बाह्य शत्रुओं को वश में करने की अपेक्षा इन आन्तर शत्रुओं को वश में करना कहीं महत्वपूर्ण है—यही वशिष्ठ बनना है। इस वशिष्ठ बनने के लिये ही यह (मैत्रावरुणि)= प्राणापान की साधना करने वाला बना था।

भावार्थ—दृढ़ निश्चय से प्रभु स्मरण के साथ

हम वासनाओं से युद्ध करेंगे तो अवश्य प्रभु हमें विजय प्राप्त करायेंगे।

उपासक का स्वरूप व उपासक की प्रार्थना

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो
१ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
नाधमानाः। अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चक्षु-
३ २ २ ३ १ २ ३ २
र्मुमुग्धया३स्मान्निधयेव बद्धान् ॥७॥३१९॥

'प्रभु की उपासना का ठीक स्वरूप क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर इस मंत्र में बड़े उत्तम प्रकार से दिया गया है। अकर्मण्य स्तोत्र पाठी प्रभु के उपासक नहीं हैं। [**इन्द्रं उपसेदुः**]=सर्वशक्तिमान् प्रभु के समीप तो ये ही बैठते हैं उसकी उपासना तो वे ही करते हैं जो कि—

(१) [**वयाः**]—(वय् गतौ way) गतिशील हैं, अकर्मण्य नहीं। प्रभु की उपासना शब्दों से न होकर कर्मों से होती है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' (pray to god, but keep the powder dry) यह उक्ति ठीक है। प्रार्थना पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त ही शोभा देती है, सोमनाथ के मन्दिर में महादेवजी की मूर्ति को घेर कर स्तोत्रपाठ करने वाले प्रभु के उपासक न थे।

(२) [**सुपर्णाः**]=बड़े उत्तम प्रकार से अपना पालन करन वाले प्रभु के उपासक हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि आसुर वृत्तियों के आक्रमण से जो सदा अपने को बचाने में लगे हैं। इसी उद्देश्य से जो सदा आत्मालोचन करते हैं व अपनी दिनचर्या लिखते हैं। [किं नु मे पशुभिः तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरपि' इस बात का जो प्रत्यह प्रत्यवेक्षण करते हैं।

(३) [**प्रिय-मेधाः**]=जिन्हें बुद्धि प्रिय है। शरीर रथ है, तो बुद्धि सारथि, रथ भी ठीक होना ही चाहिये पर सारथि की कुशलता उससे कहीं अधिक अपेक्षित है। एक कुछ रद्दी रथ को भी कुशल सारथि आगे ले जायगा। परन्तु नये भी रथ को अनाड़ी सारथि विकृत कर देगा। एवं उपासक सदा सात्विक आहार करता है ताकि बुद्धि सात्विक बनी रहे।

(४) [**ऋषयः**]=जो देखने वाले हैं। तत्व तक पहुंचते हैं। संसार के बन्धुत्व को ठीक-ठीक न समझने से ही मनुष्य की उन्नति रुकी रहती है। मनुष्य को गहराई तक जाकर प्रत्येक वस्तु के तत्व को समझना चाहिये। मुख पृष्ठ तो प्रायः भ्रामक होता है। All that glitters is not gold. प्रकृति घृत पृष्ठ है, चमकती सतह वाली है, उसके अंदर तो चमक नहीं है। और गहराई तक पहुंचने पर हमें सबके अन्दर पिरोया हुआ एक सूत्र दृष्टिगोचर होता है जिससे कि हम इस विविधता के अन्दर एकता को देखते हैं। हमारा बन्धुत्व विशाल हो जाता है।

(५) नाधमानाः-(नाध् आशीः)=इस बन्धुत्व की विशालता के होने पर उपासक सभी के लिये मंगल की ही [**आशीः**]=कामना करता है। वह किसी का भी अशुभ नहीं चाहता।

यह उपासक प्रभु से प्रार्थना भी निम्न शब्दों के अन्दर करता है।

(१) [ध्वान्तम् अप ऊर्णुहि]=ऐ प्रभो! आप अन्धकार को दूर कीजिये। इस अन्धकार के कारण हम वस्तुओं के ठीक रूप को नहीं देख पाते यह अन्धकार ही हमें 'अनित्य में नित्य का, अशुचि में शुचि का, दुःख में सुख का और अनात्मा में आत्मा का' आभास कराये रहता है। यह चतुर्विध अविद्या ही हमारे सब दुःखों का मूल बनती है।

(२) **पूर्धि चक्षुः**] ऐ प्रभो! अज्ञानान्धकार को दूर कर आप हमारी चक्षुओं को ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण करिये। जब हमारे नेत्र ज्ञान की ज्योति से पूर्ण होंगे तो हम सर्वत्र आपकी महिमा को देख पायेंगे। आपको देखने से उस एकत्व का भी दर्शन होगा, जो कि अन्तिम सत्य है।

(३) [अस्मान् निधया इव बद्धान् मुग्धि]=हम विषय जाल में इस अज्ञान के कारण ही फंसे हैं। अहंता और ममता की बेड़ी अज्ञान मूलक ही

है। अविद्या को नष्ट कर विषय जाल से बद्ध हमें आप मुक्त कर दीजिये।

ऐ प्रभो ! इस प्रकार ज्ञान को प्राप्त करने वाला (गौरीं वाचं व्येति=प्राप्नोति इति) मैं इस मन्त्र का ऋषि 'गौरिवीति' बनूं और अपने अन्दर अज्ञानमूलक निर्बलता को समाप्त कर शक्ति को भरने वाला 'शाक्त्य' बनूं।

भावार्थ—हमें क्रियाशील लोभादि से अपनी रक्षा करने वाले, प्रिय-मेध, तत्वद्रष्टा, और सर्वहितैषी बन प्रभु के सच्चे उपासक बनें और हमारी सदा यही आराधना हो कि ऐ प्रभो हमारे ज्ञाननेत्रों को खोल दीजिये।

प्रभु का आतिथ्य (Reception)

१ २ ३ २उ ३ १र २र ३ १र २र ३ १
नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्य-
२ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
चक्षत त्वा। हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य
१ २ ३ १ २ ३ २
योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥८॥३२०॥

आतिथ्य :—पिछले मंत्र की प्रार्थना के अनुसार यदि हम विषय जाल से मुक्त हो मोक्ष लोक में पहुंचेंगे तो वहां [**नाके**]='जहां दुःख नहीं है' (न+अ+क) ऐसे उस मोक्ष लोक में तो वे प्रभु [**सुपर्णम्**]=बड़े उत्तम प्रकार से हमारा पालन करने वाले हैं ही। पर जब तक हम उस मोक्षलोक में नहीं पहुंचते तब भी [**यत्**]=वे ब्रह्म [**उप पतन्तं**]=उपासक के समीप आते ही हैं। उपासक प्रभु के समीप जाता है—प्रभु उपासक के समीप आते हैं। सर्वव्यापक होते हुवे भी वे प्रभु अज्ञानियों से 'तद्दूरे'=दूर हैं, ज्ञानियों के ही 'तद्' 'अन्तिके' वे समीप होते हैं। इस समीप आते हुए प्रभु का उपासक ने स्वागत (Reception) करना है। वह उसका स्वागत और किस वस्तु से कर सकता है? वह अशनाया पिपासा से परे है। सो उसका स्वागत तो इसी प्रकार हो सकता है कि [**हृदावेनन्तः**]=हृदय से तेरी अर्चना करते हुए [**त्वा अभ्यचक्षत**]=तेरा दर्शन करें। अतिथि को पान पेश करते हैं, प्रभु को अपना हृदय (भाव) देना है। प्रभु का आतिथ्य किसी और प्रकार से नहीं हो सकता।

क्यों :—इस प्रभु का आतिथ्य इसलिये करना है कि—

(१) **हिरण्यपक्षम्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः, पक्ष परिग्रहे) वे प्रभु ज्ञान की ज्योति का परिग्रह कराने वाले हैं। प्रभु के आतिथ्य से हमारा मस्तिष्क ज्ञान ज्योति से जगमगा उठेगा।

(२) **वरुणस्य दूतम्**=(यः प्राणः स वरुणः गो० ३-४-११, अपानो वरुणः) वे प्रभु वरुण अर्थात् प्राणापान शक्ति के प्रापक हैं। (दूतं=प्रापयितारं, संदेशहर संदेशा पहुंचाता है) या श्रेष्ठता को प्राप्त कराने वाले हैं। मनों को रागद्वेष मोह से शून्य करने वाले हैं।

(३) **यमस्य योनौ शकुनम्**=संयम के स्थान में अर्थात् संयम के होने पर शक्ति को देने वाले हैं। प्रभु का स्मरण हमें संयमी बनाता है और परिणामतः हम शक्तिशाली बनते हैं।

(४) **भुरण्युम्**=वे प्रभु हमारा भरण करने वाले हैं। उपासना से केवल आध्यात्मिक लाभ होगा—और अभ्युदय से हम वञ्चित हो रहेंगे ऐसी बात नहीं है। उपासक का खानपान प्रभु अवश्य चलाते हैं।

एवं अभ्युदय वा निःश्रेयस दोनों का हेतु होने से हमें अवश्य उस प्रभु की अर्चना करनी चाहिये। यह अर्चना करने वाला 'वेन' इस मंत्र का ऋषि है। अपने को तपस्या की अग्नि में पकाने से ही वह ऐसा बन पाया है सो यह भार्गव है। वेन का अर्थ यास्क मेधावी भी करते हैं वस्तुतः प्रभु की अर्चना ही मेधाविता है।

भावार्थ—हम अपने समीप प्राप्त प्रभु का स्वागत करें और उस प्रभु की कृपा से ज्ञानी व शक्तिशाली बनें।

ब्रह्म दर्शन

१ २   ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो
३ १ २   ३क २२ ३ १ २   ३ २
वेन आवः । स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः
३ २ ३ २ ३ १ २   ३ १ २
सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥९॥३२१॥

ब्रह्मदर्शन किसे—गत मंत्र में ‘यमस्य योनौ शकुनम्’=संयम के द्वारा शक्तिशाली बनाने का उल्लेख हुआ है। इस [**विसीमतः**]=(विशिष्टा सीमायस्य) जिसका जीवन एक विशिष्ट मर्यादा=सीमा में चलता है उसके और [**सुरुचः**]=उत्तम रुचि वाले वेन=उपासक के [**पुरस्तात्**]=सामने [**जज्ञानं**]=प्रकट हुए-हुए [**प्रथमं ब्रह्म**]=सर्वोत्कृष्ट व सर्वविशाल ब्रह्म को [**वेनः**]=यह मेधावी उपासक [**विआवः**]=विवृत प्रकट करता है। स्वयं ब्रह्म दर्शन करके औरों को भी ब्रह्मज्ञान देता है।

ब्रह्मज्ञान के लिये दो बातें आवश्यक हैं (१) जीवन मर्यादित हो ‘युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।’ जीवन की आहार, विहार, स्वप्न, अवबोध आदि सब क्रियायें मपी-तुली हों। (२) रुचि परिष्कृत हो। हम इन्द्रियों के गुलाम न बन गये हों।

यह क्या करता है ?—प्रभु दर्शन करके यह औरों को भी ब्रह्मज्ञान देने का प्रयत्न करता है। उसी ब्रह्मज्ञान देने के लिये ही निम्न चीजों का भी [**सः**]=वह [**विवः**]=विवरण व्याख्यान करता है :--

(१) अस्य=इस ब्रह्म के बनाये हुए [**बुध्न्या**]=(जलसम्बद्धं अन्तरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्र पृथ्वी-तारकादयो लोकाः) अन्तरिक्षस्थ [**विष्ठाः**]=(विविधेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति ताः) विविध स्थानों में स्थित उपमाः=जीवों को कर्मानुसार दिये जाने वाले (उपमा to give, to grant) लोकों को, तथा

(२) [सतः च असतः च योनिम्]=अक्षर के क्षर के साथ—जीव के जड़ देह के साथ सम्बन्ध को।

पाप-पुण्य के बराबर होने पर हमें मर्त्यलोक प्राप्त होता है। हमारे अन्दर रक्षा वृत्ति के आने पर हम पितर बनते हैं और हमें चन्द्रलोक में जन्म प्राप्त होता है तथा ज्ञान से वासना विनष्ट होने पर सर्वलोक में जन्म लेने वाले देव हम बनते हैं। इन्हीं विविध कर्मों के फल के रूप में ही जीव का जड़ देह से सम्बन्ध उस प्रभु की व्यवस्था से होता है।

स्वयं ब्रह्मदर्शन कर औरों को भी ब्रह्मज्ञान देने वाला ‘बृहस्पति’ देवताओं का भी गुरु इस मन्त्र का ऋषि है। ‘**नास्ति** ज्ञाने समो यस्य कुले स नकुलः स्मृतः’=उस कुल में ज्ञान के दृष्टिकोण से अद्वितीय होने के कारण यह ‘नकुल’ है।

भावार्थ—हमारी मर्यादित जीवन व हमारी परिष्कृत रुचि हमें ब्रह्म दर्शन के योग्य बनाये।

ब्रह्म के स्तोत्रों का उच्चारण

१ २   ३ १ २   ३ २   ३ १ २ ३ १ २
अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे
३ १ २   ३ १ २ ३ २ १ १ २   ३ १ २
तुराय । विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचां-
  ३ १ २
स्यस्मै स्थविराय तक्षुः ॥१०॥३२२॥

स्तुति से शांति—ब्रह्म का दर्शन होने पर इन उपासकों के मुख [**अस्मै**]=इस प्रभु के लिए [**वचांसि तक्षुः**]=वचनों का निर्माण करते हैं। उन के मुखसे उस प्रभु के गुणागान के रूप में स्तोत्र उच्चरित होने लगते हैं। ये वचन (१) [**अ-पूर्व्या**]—अ-पूरण वाले अर्थात् उस प्रभु के गुणों का पूर्ण-रूप से वर्णन करने वाले तो नहीं। वह प्रभु तो शोकातीत हैं। ‘गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्’ गुरु का उस प्रभु के विषय में मौन ही व्याख्यान है। पर फिर भी (२) [**पुरुतमानि**]=(पॄ—पूरणे) अधिक से अधिक पूरण वाले हैं। अर्थात् शब्दों से

जितना संभव है उतना ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले हैं। और (३) [**शन्तमानि**]=अधिक से अधिक शान्ति को देने वाले हैं। वे उपासक स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं और उन्हें अद्भत् चित्त की शान्ति का लाभ होता है।

स्तुति का स्वरूप :—ये उपासक उस प्रभु के लिये गुणों का गान करते हैं जो कि

(१) [**महे**]=महनीय—पूजनीय है।

(२) [**वीराय**]=विशेष रूप से शत्रुओं को (वासनाओं को) कम्पित करने वाला है।

(३) [**तवसे**]=बलवान् के लिए

(४) [**तुराय**]=त्वरा सम्पन्न के लिए। जब वे प्रभु चाहते हैं, एक क्षण में कार्य कर लेते हैं।

(५) [**विरप्शिने**]=महान् के लिए (नि. ३४, २२)।

(६) [**वज्रिणे**]=दुष्टों के लिए वज्रहस्त के लिए। वे प्रभु दुष्टों को दण्ड देते हैं।

(७) [**अस्मै स्थविराय**]=इस स्थिर कूटस्थ निर्विकार स्थाणु रूप प्रभु के लिए।

इन गुणों से उस प्रभु का स्मरण करता हुआ उपासक भी इन गुणों को अपनाना चाहता है। जिन नामों से स्मरण करना स्वयं भी उस चीज को अपने अन्दर धारण करना ही तो सच्ची उपासना है। इस सच्ची उपासना को करने वाला (सुशोभना होत्रा स्तुतिः praise या speech) 'सुहोत्र' इस मंत्र का ऋषि है। इस सच्ची उपासना से शक्ति सम्पन्न बनने के कारण वह 'भरद्वाज' है (भरत्+वाज)

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम शांति लाभ करें। और उत्तम उपासक बनते हुए वीर बनें।

* * *

॥ ४ ॥ ऋषिः—१ २, ४ द्युतानः, ३ बृहदुक्थः; ५ वामदेवः; ६, ८ वसिष्ठः; ७ विश्वामित्रः; ९ गोरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१–५, ७—९ त्रिष्टुप्, ६ त्रिपदा विराट् अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—५, ७—९ धैवतः; ६ गान्धारः ॥

ज्ञान नदी से दूर

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो
३ १ २ ३ १ २ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३
दशभिः सहस्त्रैः। आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्त-
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
मप स्नीहितिं नृमणा अधद्राः ॥१॥३२३॥

[**द्रप्सः**]=(Dripping) जो व्यक्ति बारम्बार विषयसमुद्र में डूब जाता है, प्रयत्न करता है—परन्तु फिर-फिर असफल हो जाता है वह 'द्रप्सः' है (To err is human) गिर जाना तो मानव का स्वभाव हो बन गया है। यह 'द्रप्स' [**अंशुमतीम्**]=ज्ञान की किरणों वाली, ज्ञानरूप जल की धारा वाली इस नदी से [**अव**]=दूर ही [**अतिष्ठत्**]=ठहरता है। यह तो [**ईयानः**]=इधर-उधर भटकता ही रहता है चूंकि [**दशभिः सहस्त्रैः**]=दसों हजारों अर्थात् अनन्त वासनाओं से यह सदा [**कृष्णः**]=आकृष्ट होता रहता है 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।' वासनाओं में उलझा हुवा वह ज्ञान की ओर झुकाव वाला नहीं होता। इसे तो विषय ही 'अंशुमान्'=प्रकाश वाले चमकते नज़र आते हैं। यह उन्हीं पर लट्टू हुवा रहता है—उन्हीं का शिकार बन जाता है।

जब कभी यह ठोकर लगने पर इनसे ऊपर उठने का निर्णय करता है तो [**शच्या**]=(शची—प्रज्ञा व कर्म) अपनी शक्ति व ज्ञान के अनुसार [**धमन्तं**]=हाथ पैर पटकते हुए को, आलस्य को छोड़कर तपस्वी बनते हुए [**तम्**]=उसको

[**इन्द्रः**] = वह परमैश्वर्यशाली प्रभु [**आवत्**] = बचाता है—इन वासनाओं के आक्रमणों से सुरक्षित करता है। 'God helps those who help themselves' जीव प्रयत्न करता है तो प्रभु भी भी सहायता करते हैं।

[**अध**] = अब, जीव के प्रयत्न करने पर ही [**नृमणाः**] (नृषु मनो यस्य) = अपने को आगे ले चलने वालों पर कृपादृष्टि करने वाले प्रभु [**स्नीहितिम्**] = इन कतल करने वाली कामादि वासनाओं को [**अध-द्राः**] = दूर भगा देते हैं। स्मर हर की उपस्थिति में स्मर का क्या काम? नमुचि-निषूदन के होने पर नमुचि का संभव कैसे।

प्रभु की उपस्थिति का अभिप्राय प्रभु के ज्ञान को अपने में द्योतित करने वाला व्यक्ति 'द्युतान' है। इस ज्ञान को अपने में उत्पन्न करने के लिये यह प्राणों की साधना करता है। प्राण 'मरुत्' हैं सो यह 'मारुत' कहलाता है।

भावार्थ— विषयों में फंसे रह कर हम ज्ञान से दूर ही रहेंगे ज्ञान प्राप्ति के लिए इनसे ऊपर उठ कर हम प्राणों की साधना करें।

(मरुतों = प्राणों से हमारी मित्रता हो)

षाण्मातुर कार्तिकेय

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा
२ ३१र २र ३ १ २ ३ १ २
अजहुर्ये सखायः। मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते
३ २ ३२उ ३ १ २
अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥२॥३२४॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि ज्ञान के आवृत कर लेने वाले इस कामरूप [**वृत्रस्य**] = वृत्र के [**श्वसथात्**] = प्रबल उत्तप्त श्वासों से [**ईषमाणाः**] = परे भागते हुए [**विश्वेदेवाः**] = सब दिव्यगुण [**त्वा**] = तुझे [**अजहुः**] = छोड़ गये [**ये**] = जो [**सखायः**] = आज तक तेरे मित्र थे। वस्तुतः वासना के प्रबल होने पर सब उत्तम गुण नष्ट हो ही जाते हैं। 'जिस समय कामदेव महादेव के अन्दर वासना को जन्म देने के लिये चलते हैं तो किस प्रकार धर्म वेद व सब प्रशस्त भावनायें पर्वत, कन्दराओं में जा छिपती हैं' इसका काव्यमय वर्णन तुलसीदास रामायण में करते हैं। कामाक्रान्त व्यक्ति को धर्माधर्म कुछ भी नहीं सूझता। सब देव मानो उसका साथ छोड़ जाते हैं।

इस स्थिति में प्रभु जीव से कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**] = इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव [**मरुद्भिः**] = प्राणों के साथ [**ते**] = तेरा [**सख्यं**] = मित्रता [**अस्तु**] = हो! [**अथ**] = और [**इमाः**] = इन [**विश्वाः**] = सब [**पृतनाः**] = संग्रामों को [**जयासि**] = तू जीत लेता है। प्राण साधना का ही परिणाम है कि चित्तवृत्ति का निरोध होकर पांचों ज्ञानेन्द्रियां बड़ी परिष्कृत हो जाती हैं। इस निरुद्ध मन व स्थिर ज्ञानेन्द्रिय पंचक से उस शक्ति का अभ्युदय होता है जो कि सब आसुर वृत्तियों का कर्तन-छेदन व भेदन होकर फिर से दैवी वृत्तियों का विजय हो जाता है। यह विजय कराने वाला, कर्तन के कारण ही 'कार्तिकेय' कहलाता है। मन + पांच ज्ञानेन्द्रियों से इसका जन्म होने के कारण यह 'षाण्मातुर' कहलाता है।

अध्यात्म में मूलाधार चक्र की समाप्ति पर पड़ी कुण्डलिनी शक्ति का प्राणोष्णिमा से उत्थान होता है और उसका मेरुपर्वत (back-bone) के शिखर पर स्थित (इन्द्र) महादेव से सम्बन्ध होता है। इसी महादेव-पार्वती के परिचय के परिणाम रूप कार्तिकेय का जन्म होता है। राम का सीता से सम्बन्ध भी हनुमान (पवनपुत्र) के द्वारा होता है। हमारा भी सारी दैवी संपत् से सम्बन्ध प्राणसाधना से ही होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करें और हमारा देवों से फिर सम्बन्ध हो जाय।

नश्वरता असारता का चिन्तन

३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १
विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ
जगार। देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या
३ २ ३ १र २र
ममार स ह्यः समान ॥३॥३२५॥

गत मंत्र में 'प्राणों की साधना के द्वारा पांच ज्ञानेन्द्रियां व मन की स्थिरता से वह वृत्ति उत्पन्न होती है जो कि सब आसुर वृत्तियों को पराजित कर देती हैं इन शब्दों में अभ्यास का वर्णन हुआ था। प्रस्तुत मंत्र में अभ्यास के साथी 'वैराग्य' का उल्लेख करते हैं। यह वैराग्य जिस विवेक से उत्पन्न होता है वह विवेक शरीर के स्वरूप का ही विवेक है। विवेकी पुरुष देखता है कि —

(१) [**विधुम्**] = चन्द्र के समान सुन्दर बालक को, बालक चन्द्रमा के समान सुन्दर है यह तो प्रत्यक्ष ही है। चन्द्र के समान ही क्या? बालक का मुख तो चन्द्रमा से भी अधिक है। चन्द्र सकलंक है, यह अकलंक। इसका अंग-प्रत्यंग चन्द्र के समान गोल है। चन्द्र के समान यह प्रिय लगता है और वस्तुतः उसका सौंदर्य उस व्यक्ति को बींधता सा है जिसे कि वह अप्राप्य होता है। चन्द्रमा भी विरही पुरुषों को बींधने से 'विधु है, यह भी जिनके लिये अप्राप्य है उन्हें बींध कर 'विधु' कहलाता है। "लावण्य" में भी भावना काटने वाली की है (लूञ् छेदने)। अब यह बच्चा बड़ा होता है, चलने-फिरने लगता है, और।

(२) [**बहूनां**] = बहुतों के माता-पिता व अन्य सगे सम्बन्धियों के [**समने**] = उत्सुकता के निमित्त [**दद्राणम्**] = नाना प्रकार की निरन्तर (खूब) चेष्टाओं को करते हुए को। सूरदास के वर्णन में यशोदा कृष्ण के चलने को देखने के लिए कितनी उत्सुक है। बच्चों की चहल-पहल घर को किस प्रकार शोभा वाला कर देती है। इनकी चहल-पहल के बिना तो घर शून्य वन सा प्रतीत होता है। अब यह और बड़ा होकर भरपूर युवा अवस्था में आता है, और

(३) [**बहूनां**] = न जाने कितने व्यक्तियों की [**समने**] = उत्कण्ठा के निमित्त [**युवानं सन्तं**] = युवा होते हुए को। निखरी जवानी वाला युवक जिधर से निकल जाय उधर ही लोगों के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। लड़कियों वाले उसे अपना दामाद बनाना चाहते हैं और यह युवती हो तो उसे लड़कों वाले अपनी बहू बनाने के लिये इच्छुक होते हैं। सभी उसे आदर देते हैं। बभ्रुवाहन की ओर कृष्ण का भी ध्यान खिंचता है।

('समने बहूनां' शब्द देहली दीप न्याय से दोनों ओर सम्बद्ध हो जाते हैं)।

(४) इतने सुन्दर भी इस युवक को समय आता है कि [**पलितः**] = बुढ़ापे की सफेदी [**जगार**] = निगल लेती है। और वह सारा सौंदर्य का आकर्षण समाप्त हो जाता है। वह युवति जो चन्द्र से भी अधिक सुन्दर प्रतीत होती थी, अब अपने सौंदर्य का स्मरण ही जैसे-तैसे कर पाती है। धीरे धीरे बुढ़ापा प्रबल होता है और एक दिन हम कहते हैं कि :—

(५) [**अद्या ममार**] = आज वह मर गया [**सः**] = जो कि [**ह्यः**] = कल ही [**समान**] = बड़ी अच्छी प्रकार जीवन धारण करता था। यह मृत्यु हमें बड़ी विचित्र प्रतीत होती है, कुछ भयंकर सी लगती है और इसे चाहते नहीं। हमारी इच्छा होती है कि हम सदा बने रहें। परमेश्वर ने यह मृत्यु बना कर क्या ही मूर्खता की है?' ऐसा हमारा विचार होता है। परन्तु [**महित्वा**] = पूजनीय बुद्धि से श्रद्धा की भावना से यदि हम मृत्यु पर विचार करेंगे तो हमारा विचार बदल जायगा। अत्यन्त वृद्धावस्था में हम एकदम पराधीन हो जाते हैं, सब इंद्रिय वृत्तियां शिथिल हो जाती हैं, हम प्रिय मित्रों के भी करुणा के पात्र मात्र रह जाते हैं। सब घर वाले हमारी सेवा से तंग आ चुके होते हैं, वे भी दिल से हमारे चले जाने की ही कामना कर रहे होते हैं। ऐसे समय में [**देवस्य**] = प्रभु की भेजी हुई मौत तो ऐ जीव! यदि तू [**पश्य**] = देखे तो सचमुच [**काव्यम्**] = एक बड़ी सुन्दर वर्णनीय वस्तु ही हो जाय। (A thing worthy to be described).

इस प्रकार जीवन के क्रमिक परिवर्तनों को देखता हुआ यह ऋषि उस प्रभु का खूब ही (बृहत्) गुणगान (उक्थ) करता है, अतएव

'बृहदुक्थ' कहलाता है। जीवन के क्रमिक इस क्षय को देखता हुआ कहीं भी आसक्त न होने से यह सुन्दर दिव्य गुणों वाला बन कर 'वामदेव्य' बनता है।

भावार्थ—जीवन की नश्वरता का चिन्तन हमें उचित मार्ग से ले चलने वाला हो। हम अनासक्त रह कर वासनाओं के शिकार न बनें।

ब्रह्मलोक के लिए

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो
३ १२ ३ १र २र ३ १र २र
अभवः शत्रुरिन्द्र । गूढे द्यावापृथिवी अन्व-
३२ ३ १२ ३ १२
विन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ॥
४॥३२६॥

जिस समय मनुष्य अभ्यास और वैराग्य को अपने जीवन में स्थान देता है, उस समय प्रभु कहते हैं कि [**त्वं**]=तू [**ह**]=निश्चय से [**त्यत्**]=उन प्रसिद्ध [**सप्तभ्यः**]= योग की सात भूमिकाओं से [**जायमानः**]=अपना प्रादुर्भाव करते हुए ऐ [**इन्द्र**]= शत्रुओं का विदारण करने वाले जीव [**अशत्रुभ्यः**]=उन कामादि का, जिनका कि कोई भी नाश करने वाला नहीं हुआ (न शातयिता येषां) [**शत्रुः अभवः**]=शातयिता हुआ है। तू ने योग मार्ग पर आगे-आगे बढ़ते हुए कामादि का विध्वंस कर डाला है। योगमार्ग में अगली २ भूमिका में पहुंचने में तेरा अधिक और अधिक विकास हुआ है। सात भूमिकाओं को पार कर 'समाधि' में स्थित होने पर तू रजोगुण को पूर्णरूप से जीत चुका है। ये संसार के राग अब तुझे अनुरक्त नहीं कर पाते। इनके आक्रमण से तू ने अपने को सुरक्षित कर लिया है। वेद के शब्दों में [**गूढ़े**]=सुसंवृत-सुरक्षित [**द्यावापृथिवी**]=(मूर्ध्नो द्यौः, पद्भ्यां भूमिः) मस्तिष्क से पावों तक अंगों से [**अन्वविन्दः**]=तू ने अपने को प्राप्त कराया है। तेरे शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं, मन पर राग-द्वेष-मोहादि का व मस्तिष्क में कुविचारों का उत्थान नहीं। तू ने आपादमस्तक (from tip to toe) पावों से सिर तक अपने सम्पूर्ण अंगों को सुरक्षित कर लिया है। मनु के शब्दों में 'यस्य वाङ् मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा' तू ने अपने को सुगुप्त करने का प्रयत्न किया है। और अब 'स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्' इन शब्दों के अनुसार इसने अपने जीवन को सफल बनाया है और यह [**भुवनेभ्यः**]=उन लोकों के लिए जो कि [**विभुमद्भ्यः**]=उस सर्वव्यापक प्रभु के लोक हैं अर्थात् ब्रह्मलोक के लिए [**रणं**]=(delightfully) आनन्दपूर्वक [**धाः**]=अपने को स्थापित करता है, 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयन्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'। ये विगत रजोगुण वाले लोक उस अमृत अव्ययात्मा पुरुष के लोक में पहुंचा ही करते हैं।

मंत्र का ऋषि 'द्युतान मारुत' ही है, जिसने कि प्राणों की साधना की है और अपने में दिव्यता को विस्तृत करने का प्रयत्न किया है।

भावार्थ—हम अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनोनिरोध करते हुए अपने को पवित्र बनायें और ब्रह्मलोक के लिए प्रस्थान करने वाले बनें।

सब क्रियाओं का केन्द्र 'प्रभु'

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मेंडि न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरुधस्मानं
३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र
वृषभं स्थिरप्स्नुम् । करोष्यर्यस्तरुषीर्दुवस्यु-
२र ३ १ २ ३ १ २
रिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे ॥५॥३२७॥

यह संसार एक अन्नगाहने के फर्श के (threshing flour) समान है। उसमें यह जीव अन्न गाहने वाले बैल के तुल्य है। यह निरन्तर चल रहा है—'इसकी क्रियाओं का केन्द्र क्या हो?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मंत्र में इस प्रकार देते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ! [**मेंडि न**]=केन्द्रीभूत कीले की तरह [**त्वा**]=तेरे ही

चारों ओर [**वज्रिणं**]=गति करने वाले को (वज्-गतौ), जिसकी सब क्रियाओं के केन्द्र आप ही होते हो अर्थात् क्रियामात्र को करता हुआ जो कभी भी आपको भूलता नहीं, [**भृष्टिमन्तं**]=अतएव जो वासनाओं का भंजन कर डालता है अथवा अपने तप के द्वारा ठीक परिपाक कर लेता है और इस प्रकार [**पुरुधस्मानं**]=नाना प्रकार से अपना धारण (नियमन holding) करता है (धा से धस्=धारण) और किसी भी इंद्रिय को विषयों का शिकार नहीं होने देता जो परिणामतः [**वृषभः**]=शक्तिशाली है, विषयों में फंसकर वह शक्तिशाली बनता ही है, स्वयं शक्तिशाली बन कर जो औरों पर सुखों की वर्षा करने वाला है, इसी उद्देश्य से [**स्थिरप्स्नुं**]= जो स्थिर भोजन को करता है (प्सा भक्षणे)। 'स्थिर' शब्द सात्विक भोजन के विशेषणों का यहाँ प्रतीक है। सात्विक भोजन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह 'पौष्टिक' है, न उत्तेजक है न मोहक। इस प्रकार के भोजन करने के द्वारा [**द्युक्षं**]=सदा प्रकाशमय लोक में निवास करने वाले और [**वृत्रहणं**]=वासना को नष्ट करने वाले व्यक्ति को ऐ प्रभो ! आप [**गृणीषे**]=आदर देते हो। जैसे आचार्य अपने योग्य विद्यार्थी की प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार यह उल्लिखित विशेषणों से विशिष्ट व्यक्ति प्रभु से आदृत होता है।

परन्तु जैसे वहां वह शिष्य आचार्य के द्वारा ही योग्य बनाया जाता है इसी प्रकार यहां भी यह 'वामदेव' प्रभु कृपा से ही सब सुन्दर दिव्य गुणों को पा सका है, प्रभु ने ही उसे वह शक्ति प्राप्त करायी जिससे कि वह 'गोतम=अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियों वाला बना। मंत्र में कहते हैं कि [**दुवस्युः**]=वे प्रभु सबके हित की कामना वाले हैं। अमन्तुओं को भी वह निवास के देने वाले हैं, प्रभु किसी का कल्याण न चाहें ऐसी बात नहीं है। ये प्रभु ही [**अर्यः**]=(ऋ गतौ) शत्रु के प्रति जाने वाला उन पर आक्रमण करने वाला और [**तरुषीः**]=उनको तैर जाने वाला [**करोषि**]=हमें बनाते हैं। यह सब प्रभु कृपा से ही होता है। इस प्रकार प्रभु ही हमें उदात्त बना कर अपना प्रेम प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम संसार की सब क्रियाओं को करते हुए प्रभु को न भूलें।

औरों के लिए गतिशील बन

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
प्र वो महे महे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं
२ १ २ ३ १र २र
कृणुध्वम् । विशः पूर्वीः प्र चर चर्ष-
३ २
णिप्राः ॥६॥३२८॥

[**वः**]=तुम्हारी [**महेवृधे**]=महान् वृद्धि के लिये [**महे**]=उस महान् प्रभु के लिए [**प्रभरध्वम्**]=नमन का सम्पादन करो। उस प्रभु के प्रति प्रातः-सायं नमन की वृत्ति को धारण करते हुए प्राप्त होवो 'उपत्वाग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्धियावयम् नमो भरन्त एमसि'। उस प्रभु के जितना ही हम सम्पर्क में रहेंगे उतना ही हमारा जीवन 'सत्य, शिव व सुन्दर' बनेगा। 'देवान् देवयजो यान्ति यान्ति मद् याजिनोऽपि माम्'= देवों के उपासक देवों को और प्रभु के उपासक प्रभु को प्राप्त होते हैं। देवताओं की उपासना से वृद्धि होती है तो उस महादेव की उपासना से महान् वृद्धि होती है।

इस प्रातः-सायं के समय प्रभु नमन के साथ दूसरी आवश्यक बात यह है कि [**प्रचेतसे**]=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए [**सुमतिम्**]=कल्याणी मति को [**प्र-कृणुध्वम्**]=प्रकृष्टतया सम्पादित करो। जिस समय मनुष्य नाम मात्र भी बदले की भावना से किसी के भी प्रति कुछ अकल्याण की भावना से चलता है तो उसकी चेतना कुछ विलुप्त सी हो जाती है, उसकी क्रियायें कुछ उन्माद को लिए हुए प्रतीत होती हैं। इस समय मनुष्य की सारी दिमागी शक्ति ऐसे बमों (bombs) को बनाने में लगी है जो कि एकदम लाखों व करोड़ों को समाप्त कर दें,

क्या ये क्रियायें एक स्वस्थ दिमाग की उपज कही जा सकती हैं ? हमारी बदले की भावना वे सब क्रियायें जो (revenge) की (spirit) में की जाती हैं उनमें हमारा दिमाग स्वस्थ नहीं रहता । हम सदा अपनी मति को कल्याणी बनाये रखें ताकि हमारा मस्तिष्क ठीक रहे, हमारी चेतना उत्कृष्ट बनी रहे ।

इस प्रकार अपने जीवन को उन्नत बना कर और अपने मस्तिष्क को स्वस्थ रखते हुए मनुष्य को चाहिये कि वह [**चर्षणिप्राः**]=मनुष्यों का पूरण करने वाला बने (चर्षणि=मनुष्य, प्रा-पूरणे) और इसी उद्देश्य से [**पूर्वीः विशः**]=अपना पूरण करने वाली जिनमें उन्नत होने की भावना है उन प्रजाओं में [**प्रचर**]=प्रचार को कर । जिस प्रकार जिसको भूख नहीं लगती उस मनुष्य को भोजन देने से कुछ लाभ नहीं इसी प्रकार जो प्रजायें उन्नति की भावना से रहित हैं उन्हें उत्तम उपदेश व्यर्थ लगते हैं । डाक्टर को चाहिये कि पहले भूख पैदा करे और फिर भोजन दे, इसी प्रकार मानस चिकित्सक को भी चाहिये कि पहले लोगों में ज्ञान की पिपासा पैदा करे और फिर ज्ञान दे । ज्ञान पिपासा के अभाव में दिया हुआ उत्तम से उत्तम ज्ञान निरादृत होता है, बुद्ध के शिष्यों ने शीत व क्षुधा से मरणासन्न व्यक्ति को 'अहिंसामृत-पान' कराना चाहा । उस मुमूर्षु को वह नहीं रुचा । बुद्ध ने उसे वस्त्र व भोजनादि देकर स्वस्थ मन का किया और अब वही उपदेश दिया । उसने उसे अत्यन्त उत्सुकता से ग्रहण किया, अब वह उसके सुनने के लिए तैयार था । सो प्रचारक को पहले क्षेत्र तैयार करना और फिर ही ज्ञान-बीज को बोना चाहिये ।

इन तीनों बातों को अपने जीवन में निरन्तर लाता हुआ यह ऋषि 'वसिष्ठ' है—बड़े संयम से चलने वाला है । इसी संयम के लिये यह 'मैत्रावरुणि'=प्राणापान की साधना करता है ।

भावार्थ—(१) प्रभु नमन से हम अपनी महान उन्नति करें ।

(२) कल्याणी मति से अपने मस्तिष्क को स्वस्थ रखें ।

(३) लोगों को ज्ञान के लिए उत्सुक बना कर उन्हें ज्ञान दें ।

नृतम (The best leader)

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३
शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं
१ २ ३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
वाजसातौ । शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं
३ १ २ ३ २ ३ १ २
वृत्राणि सञ्जितं धनानि ॥७॥३२९॥

गत मंत्र में अन्तिम शब्द था 'चर्षणिप्राः'=मनुष्यों का पूरण करने वाला । यह 'चर्षणिप्राः' विशः प्राचर=प्रजाओं में विचरता हुआ प्रचार करता है । उनको उत्तम प्रेरणा देता हुआ यह उन्हें आगे और आगे ले चलता है, आगे ले चलने के कारण यह 'नृ' है (नृ नये one who leads) 'तम' यह अतिशय द्योतक प्रत्यय है । इस [**नृतमम्**]=नृतम को हम [**हुवेम**]=पुकारते हैं, जो कि :—

(१) [**शुनम्**]=(शुन् गतौ) गतिशील है । नेता के अन्दर सबसे पहला गुण यह होना चाहिये कि इसका जीवन क्रियामय है । आलसी व्यक्ति कभी नेतृत्व नहीं कर सकता । लोकहित के अंदर लगा हुआ व्यक्ति ही जनप्रिय हो सकता है । वही स्वयं क्रियामय होता हुआ अपने आदर्श से औरों को भी आगे ले चल सकता है ।

(२) [**मघवानम्**]=इस नेता की क्रिया (मा+अघ)=पाप से शून्य होती है । उसमें स्वार्थ की गन्ध नहीं होती । (ख) साथ ही वह ऐश्वर्य वाला होता है, वह निजी आवश्यकताओं के लिए पराश्रित नहीं होता और दूसरों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की शक्ति रखता है ।

(३) [**इन्द्रम्**]=यह जितेन्द्रिय होता है 'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'=जो स्वयं जितेन्द्रिय है वही तो औरों का नेतृत्व कर सकता है । अजितेन्द्रिय व्यक्ति औरों की दृष्टि

में शीघ्र गिर जाता है।

(४) [**अस्मिन् भरे**]=इस संसार संघर्ष रूप युद्ध में [**वाजसातौ**]=शक्ति की प्राप्ति के निमित्त हम इस [**नृतमम्**]=उत्तम नेता को [**हुवेम**]= पुकारते हैं। वस्तुतः नेता ने करना ही क्या है? उसने 'लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्'=लोगों को एकत्रित कर फिर २ निराश होते हुए इन लोगों को उत्साहित करना है। दशम गुरु श्री गोविन्द सिंह के शब्दों में 'चिड़ियों को वाज बना देता है।' एक नेता की सफलता इसीमें है कि वह अनुयायियों के अन्दर रहने वाली इस उत्साह शक्ति को मन्द नहीं पड़ने देता। स्वं महिमानम् आयजताम्=वह उनके अन्दर आत्मगौरव की भावना को भरने का ध्यान करता है।

(५) [**शृण्वन्तम्**]=यह सुनता है, नेता वही ठीक है, जो अपने अनुयायियों की बात को सुने। जो अपने ऐश्वर्य व ठाटबाट के कारण निचलों के लिए अनभिगम्य हो जाय वह देर तक नेता नहीं बना रह सकता।

(६) [**उग्रम्**]=यह उदात्त प्रकृति का होता है। इसके किसी व्यवहार में कमीनेपन की गन्ध नहीं आती।

(७) [**ऊतये**]=यह सबकी रक्षा के लिये होता है, यह स्वयं अग्रभाग में स्थित होता हुआ औरों का रक्षक बनता है। यह रणाँगण से कोसों दूर बैठा हुआ तार को नहीं खैंचा करता। नैपोलियन के शब्दों में इसका सूत्र होता है 'At the head of army."

(८) [**समत्सु**]=युद्धों में यह [**वृत्राणि**]= हमारी उन्नति को आवृत करने वाले शत्रुओं को [**घ्नन्तं**]=मारने वाला होता है और (९) [**संजितं धनानि**]=उपादेय धनों का जीतने वाला होता है।

इन उल्लिखित विशेषताओं से बढ़ कर इसकी विशेषता यह होती है कि यह पक्षपात शून्य होकर सभी के हित की भावना से क्रियाशील होता है, सो यह 'विश्वामित्र' कहलाता है। और इस प्रकार प्रभु की क्रियात्मक दृश्य स्तुति करने वाला अपने चरित्र से प्रभु का गायन करने वाला 'गाथिनः' है।

भावार्थ—प्रभु करें कि हम अपने जीवन को उन्नत व प्रकृष्ट ज्ञान वाला बना कर औरों को उत्तम नेतृत्व देने वाले वन सकें।

ज्ञान, उपासना व कर्ममय जीवन

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया
१२ २२ ३ १ २ ३ १ २
वसिष्ठ। आ यो विश्वानि श्रवसा ततानो-
३ २ ३ १ २ ३ १ २
पश्रोता म ईवतो वचांसि ॥८॥३३०॥

'श्रवस्' शब्द के ज्ञान, यश व श्री तीनों ही अर्थ हैं, 'य' प्रत्यय इच्छा अर्थ में आता है। [**श्रवस्या**]=ज्ञान, यश व श्री की इच्छा से [**ब्रह्माणि**]=वेद मंत्रों को [**उ**]=निश्चय से [**उद्ऐरत**]=उच्चारण करो ही। वेदमंत्रों का अभ्यास यहां स्वाध्याय का द्योतक है। स्वाध्याय के बिना ज्ञानादि का सम्भव नहीं। भोजन के बिना जैसे अन्नमय कोष का पोषण नहीं, उसी प्रकार स्वाध्याय के बिना अन्नमय कोश व विज्ञानमय कोप की स्थिति है।

ऐ [**वसिष्ठ**]=सर्वोत्तम निवास को चाहने वाले अथवा वशियों में श्रेष्ठ! तू सम् अर्ये= उत्तम जितेन्द्रिय बनने के निमित्त [**इन्द्रं**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को [**महया**]=पूज। उस प्रभु का गुणगान तुझे वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित रखेगा। जहां महादेव, वहां कामदेव कहां? वहां तो कामदेव 'भस्मावशेष' ही हो जाते हैं। स्मरहर ने स्मर को हरना ही है। 'समर्ये का दूसरा अर्थ 'स-मर्ये' (सह मर्याः यत्र) जहां घर के सब व्यक्ति इकठ्ठे हों वहां प्रभु की पूजा कर अर्थात् प्रातः-सायं मिल कर प्रभु-उपासना करनी।

[**यः**]=जो प्रभु [**श्रवसा**]=अपनी सर्वज्ञता से व श्री से [**विश्वानि**]=इन सब लोक-लोकान्तरों को [**आततान**]=विस्तृत करता है

वह प्रभु [**ईवतः**]=(ई=गमन) गमनशील [**मे**]=मेरे [**वचांसि**]=वचनों को [**उपश्रोता**]=समीप से श्रवण करता है। यदि मैं स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, केवल प्रार्थना ही प्रार्थना करता हूं तो मेरे वचन व्यर्थ हैं, वे प्रभु के दरबार में सुने नहीं जाते। प्रभु का साहाय्य तो मुझे तभी प्राप्त होता है जबकि मैं स्वयं क्रियाशील बनता हूं।

इस प्रकार एक आदर्श जीवन के अन्दर 'ज्ञान, उपासना व कर्म' तीनों को ही उचित स्थान प्राप्त होता है। ज्ञान और कर्म के मध्य में यहाँ उपासना को इसलिये रखा गया है कि ज्ञान पूर्वक कर्मों से ही वह साध्य होती है। और वस्तुतः उपासना से ज्ञान उज्ज्वल होता है तो कर्म पवित्र होते हैं।

केवल ज्ञानी ज्ञानदैत्य बन जाता है, केवल भक्त 'अन्धभक्त' (fanatic) हो जाता है, और केवल कर्म मनुष्य को अनन्त रीतियों (rituals) के जंजाल में फंसा देता है। इन तीनों के समन्वय से उसका जीवन अत्युत्तम बनता है और इस उत्तम निवास वाला यह 'वसिष्ठ' होता है। इस ज्ञान उपासना व कर्म की त्रयी को अपने में घटित करने के लिए ही यह 'मैत्रावरुणि' प्राणापान की साधना करने वाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से प्राणसाधना करते हुए हम इस ज्ञान, कर्म व उपासना की त्रयी से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

यज्ञचक्र—इष्टकामधुक् हो

३ १र २र ३ १र २र ३ १र २र ३ १र
चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्वि-
२र ३ १र २र ३ २उ ३ २ ३
च्चच्छद्यात् । पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो
१र २ ३ १ २
गोष्वदधा ओषधीषु ॥९॥३३१॥

कालिदास ने क्या ही सुन्दर वर्णन किया है कि दिलीप पृथ्वी का दोहन करके यज्ञों के द्वारा द्युलोक को भरने में लगा था और इन्द्र वृष्टि करके द्युलोक को खाली करके पृथ्वी को सस्यपूर्ण बनाने में तत्पर था। एवं गीता के 'देवान् भावयतानेन, ते देवाः भावयन्तु वः, परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इस श्लोक के अनुसार दिलीप और इन्द्र का यह परस्पर भावन का चक्र चलता था। गीता ने इस यज्ञचक्र का वर्णन करके स्पष्ट कहा है कि 'एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ सजीवति' जो इस चक्र को चलाता नहीं उसका जीवन पापमय इन्द्रियासक्ति का और व्यर्थ है। यह [**यत्**]=जो [**अस्य**]=इस जीव का (प्रजापति से सृष्टि के प्रारम्भ में दिया हुआ) [**चक्रम्**]=यह चक्र है वह [**अप्सु**]=कर्मों में [**आ**]=सर्वथा [**निषत्तम्**]=स्थित है आश्रित है। 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'=यज्ञ कर्म से ही तो होने वाला है। कोई भी यज्ञ कर्म के बिना संभव नहीं। [**अस्मै**]=इस क्रियाशील के लिए [**तद्**]=यह यज्ञ चक्र [**उतउ**]=अब निश्चय से [**मधुइत्**]=माधुर्य को ही [**च्चच्छद्यात्**]=खूब चाहे अर्थात् इस यज्ञ से उसकी सब इच्छायें पूर्ण होकर उसका जीवन माधुर्य से परिपूर्ण हो। प्रजापति ने यज्ञ को देते हुए कहा ही था कि 'एष वः अस्तु इष्टकामधुक्=ये तुम्हारे सब मनोरथों को परिपूर्ण करने वाला हो। 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'=अयज्ञ का न इस लोक में कल्याण है, न परलोक में। यज्ञमय जीवन वाले को मोक्ष तो प्राप्त होता ही है, उसका यह लोक भी अत्यन्त मधुर बनता है। इस लोक में उसे क्या-क्या प्राप्त होता है?' इस प्रश्न का उत्तर मंत्र के उत्तरार्ध में इस रूप में दिया है कि :—

(१) [**पृथिव्याम्**]=इस पृथ्वी पर [**अतिषितं**]=अति—पूजायाम्, (सितं-बन्धुत्व)=उत्तम बन्धनों=सम्बन्धों, बन्धु-बान्धवों वाला [**यत्**]=जो [**ऊधः**]=(The apartment where the friends are invited) सुरक्षित घर है तथा (२) [**गोषुपयः**]=गौवों में जो दूध है और (३) [**ओषधीषु पयः**]=औषधियों में जो रस है ये तीन चीजें [**अदधाः**]=इसका धारण करती हैं।

दूसरे शब्दों में इसे मित्रों व बन्धुओं से भरा घर प्राप्त होता है, इसे गौवों के दूध की कमी नहीं होती और इसके घर में ओषधियों का रस सदा सुलभ रहता है। संक्षेप में, मित्र हैं और उत्तमोत्तम खान-पान के पदार्थ हैं और इस प्रकार घर एक छोटा-सा स्वर्ग बना हुआ है। संसार में बन्धु शून्यता व मित्रों का अभाव अत्यन्त चुभने वाला होता है। और परिवार भरपूर हो तो निर्धनता एक अभिशाप के समान प्रतीत होती है। परन्तु जहां मित्र हैं, श्री है—वहां तो स्वर्ग ही बन जाता है। यह यज्ञ चक्र का प्रवर्तक अपने मित्रों के साथ 'गोदुग्ध व ओषधियों के मधुर रसों' का सेवन करता हुआ 'गौर=वीतिः' उज्ज्वल शुभ्र सात्विक भोजन का करने वाला है (वीति=भोजन)। सात्विक भोजन से शान्त प्रकृति वाला होने के कारण-वासनाओं से दूर रहता हुआ यह शाक्त्य=शक्ति संपन्न है।

भावार्थ—यज्ञचक्र को चलाते हुए हम अपनी सब मधुर इच्छाओं को प्राप्त करें।

* * *

॥५॥ ऋषिः—१ अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः; २ भरद्वाजः; ३ वसुकृद् वासुक्रः विमदो वा; ४—६, ९ वामदेवः; ७ विश्वामित्रः; रेणुः; १० गोतमः ॥ देवता—१ तार्क्ष्यः; २—६, ८—१० इन्द्रः; ७ इन्द्रापर्वतौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

एक नेता का निजूजीवन, अरिष्टनेमि—तार्क्ष्य

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं
१ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
रथानाम् । अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये
१ २ ३ १ २
तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥३३२॥

[**त्यम्**]=उसको [**उ**]=निश्चय से [**इह**]=यहां अपने जीवन में [**आहुवेम**]=सब ओर से अर्थात् सब मिल कर [**हुवेम**]=पुकारते हैं अर्थात् प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमें ऐसा नेता प्राप्त कराइये :—

(१) [**सुवाजिनम्**]=जो उत्तम गति वाला है (वज् गतौ) जिसका जीवन क्रियाशील है और क्रिया करने का प्रकार भी ऐसा मधुर है कि उसकी क्रिया से किसी की हानि नहीं होती उसका ध्यान रहता है कि 'मधुमन्मे निष्क्रमणं, मधुमन्मे परायणम्' मेरा जाना भी मधुर हो, आना भी मधुर हो।

(२) [**देवजूतम्**]=वह अपनी क्रियाओं में देवताओं से प्रेरणा को प्राप्त करता है। सूर्य-चन्द्रमा की तरह नियमित गति से चलता है तो पृथिवी के समान क्षमाशील बनता है और समुद्र के समान गम्भीर होता है। अग्नि के समान तेजस्वी और जल के समान रसमय। इस प्रकार देवांशों से ही उसका जीवन बना हुआ प्रतीत होता है।

(३) [**सहोवानम्**]=यह बलवाला हो। निर्बल चाहता हुआ भी कुछ नहीं कर सकता। अशक्त जीवन कुछ भी करने में शक्त नहीं।

(४) [**रथानाम् तरुतारम्**]=प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर रूप रथ पर आरूढ़ हुआ-हुआ आगे और आगे बढ़ रहा है। यह उन सब रथों को लांघ जाने वाला है। उन्नति पथ में सबसे आगे बढ़ जाने वाला है। 'अतिसमं क्राम' इस उपदेश को यह क्रिया में अन्वित करता है।

(५) [**अरिष्टनेमिं**]=इसके जीवन चक्र की परिधि कभी हिंसित नहीं होती। अर्थात् इसका जीवन बहुत ही मर्यादित होता है। यह कालिदास के शब्दों में 'नेमिवृत्ति' होता है। धर्म के मार्ग से रेखामात्र भी यह व्यतिक्रम को नहीं करता।

(६) [**पृतनाजम्**]='पृतना' संग्राम का नाम है। वासनाओं से चल रहे सनातन संग्राम में यह अज=गतिशीलता से वासनारूप शत्रुओं को परे फेंकने वाला होता है।

(७) [**आशुम्**]=यह कार्यों में शीघ्रता से व्याप्त होने वाला होता है। 'प्रमाद, आलस्य, निद्रा' इसके समीप नहीं फटकते। यह प्रत्येक कार्य को स्फूर्ति के साथ करता है (promptly)

(८) [तार्क्ष्यम्]=(तृक्ष गतौ) हम उस नेता को पुकारते हैं जो कि गतिशील है—गति का ही पुंज है, गति जिसका स्वभाव बन गयी है।

ऐसे नेता को हम इसलिये चाहते हैं कि [**स्वस्तये**]=हमारी स्थिति उत्तम हो – हमारा कल्याण हो।

यहां प्रारम्भ में 'सुवाजिनम्' शब्द है, समाप्ति पर 'तार्क्ष्यम्'। दोनों की भावना 'गति' है। वस्तुतः उत्तम जीवन का प्रारम्भ भी गति है—समाप्ति भी गति है। गतिमय जीवन ही उत्तम है—उत्तम क्या? गतिमयता ही जीवन है। गति नहीं—जीवन नहीं। आर्य शब्द का अर्थ भी तो 'गतिशील' ही है। सो हम गतिमय 'तार्क्ष्य' तो हों हीं, परन्तु इस गतिमयता में 'अरिष्टनेमि' हों=अहिंसित मर्यादा वाले हों। सदा मर्यादित गति वाले हों। यह मर्यादित गति वाला 'अरिष्टनेमि तार्क्ष्य' ही इस मंत्र का ऋषि है।

वह महान् नेता

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं
२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
शूरमिन्द्रम् । हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं
३ २ ३ १ २ ३ १ २
हविर्मघवा वेत्विन्द्रः ॥२॥३३३॥

उस [**इन्द्रं**]=शत्रुओं के दूर भगाने वाले परमैश्वर्यशाली प्रभु को [**हुवे**]=पुकारता हूं जो कि:—[**त्रातारम्**]—रक्षा करने वाले हैं। हमारे मन रूप पात्र को सुरक्षित करने वाले हैं। इस पात्र को वे प्रभु ईर्ष्या-द्वेष आदि की मलिनताओं से भर जाने से बचाते हैं। इस प्रकार मलिन भावनाओं से भरे जाने से यह पात्र सुरक्षित रहता है—पर क्या यह खाली रहता है? नहीं—

[अवितारम् इन्द्रम्]=(अव् भागदुघे) इसे वे प्रभु अपने अंश से पूरित करते हैं (दुह् प्रपूरणे) प्रभु स्मरण से इसमें दिव्यता का अंश अवतीर्ण होता है और धीमे-धीमे यह दिव्यता से भर जाता है। [हवे-हवे]=जब-जब इन वासनाओं का हमारे पर आक्रमण होता है और इसके साथ हमारा संग्राम चलता है तो उस-उस संग्राम (हव) के अवसर पर ये प्रभु [**सुहवम्**]=सम्यक्तया पुकारने योग्य हैं। हम प्रभु को पुकारते हैं—उस पुकार को सुनकर ही वासनायें भाग जाती हैं। [**शूरम् इन्द्रम्**]=वे प्रभु (शॄ = हिंसायाम्) इन वासनाओं की हिंसा करने वाले हैं। इस इन्द्र को [**नु**]=अब हम [**हुवे**]=पुकारते हैं। [**पुरुहूतं**]=इसका आह्वान निश्चय से हमारा पालन करने वाला है (पॄ=पालने)। लौकिक नेता को हम पुकारें—वे अपनी ओर से भरसक भी हमारी मदद करें तो भी हो सकता है कि हमारा ठीक-ठीक पालन न हो। पर प्रभु के पुकारने पर यह न हो, यह नहीं हो सकता। वे प्रभु सुहवम्=सुगमता से पुकारने योग्य हैं—लौकिक नेता तो कार्यान्तर व्यापृत होने से संभवतः हमारी मदद को न भी आयें—पर प्रभु तो पुकारते ही आयेंगे ही। ये प्रभु [**शक्रम्**]=समर्थ हैं। हमारे संग्राम में अवश्य विजयी बनाने वाले हैं। यह ठीक है कि हमारे अन्दर विजय की प्रबल इच्छा हो और हम भी कुछ हाथ-पैर मारें। फिर वे प्रभु हमें सब कुछ बना सकते हैं—सब कुछ प्राप्त करा सकते हैं। एक व्यक्ति तैरना सिखाने में अत्यन्त निपुण है। पर वह मुझे तैरना सिखा तो तभी पायेगा जबकि मैं तैरने का इच्छुक हूंगा और पानी में कुछ हाथ-पैर मारूंगा। लौकिक नेता से प्रभु में यही तीन महान् अन्तर हैं (१) प्रभु सुहव हैं (२) प्रभु पुरुहूत हैं और (३) प्रभु शक्त हैं।

यह [**इन्द्रः**]=परमैश्वर्यशाली प्रभु [**मघवा**]=पापांश से शून्य ऐश्वर्य वाले प्रभु तेरे में [**इदं**]=इस [**हविः**]=दान की वृत्ति को (हु=दान) [**वेतु**]=उत्पन्न करें (वी=प्रजनने)। मेरे में दान की वृत्ति होगी तो मैं भोगों के अन्दर

प्रसित ही कैसे हूंगा । इन भोगों से बचकर मैं अपनी शक्ति को सुरक्षित कर 'भारद्वाज' बनूंगा । वासना रूप आवरण को नष्ट करके दीप्त ज्ञान वाला 'बृहस्पति' बनूंगा । 'वार्हस्पत्यो भारद्वाजः' यही इस मंत्र का ऋषि है ।

एवं सम्पूर्ण मंत्र का निष्कर्ष यह है कि (१) मैं वासनाओं से बचूं (२) इनसे बचने के लिये दान की वृत्ति को अपनाऊं (३) वासनाओं से बचकर 'वार्हस्पत्य भारद्वाज' बनूं ।

भावार्थ—हम उस प्रभु को ही सदा अपना महान् नेता समझें ।

किसको हम आदर देते हैं ?

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
यजामह इन्द्रं वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्याँ३
१ २ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
विव्रतानाम् । प्र श्मश्रुभिर्दोधुवदूर्ध्वधा भुवद्वि
२र ३ १ २ ३ १र २र
सेनाभिर्भयमानो वि राधसा ॥३॥३३४॥

जैनियों में केवली मुक्ति प्राप्त जीव ईश्वर माने जाते हैं । 'केवली मुक्ति प्राप्त' का अभिप्राय यही है कि जो आत्मा इन्द्रिय और मन में भी उलझा न रहकर उनसे ऊपर उठ गया है । इन्द्रियमनोयुक्त होकर यह भोक्ता होता है परन्तु जिस दिन इनसे अपने पार्थक्य को समझ लेता है उस दिन इनमें न उलझा रहने के कारण यह 'केवली मुक्ति प्राप्त' हो जाता है । यह लोकहित के लिये उनका पथप्रदर्शन करता है । और हम सब [**यजामहे**]=इसका आदर करते हैं । किसका ?—

(१) [**इन्द्रम्**]=जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है (२) [**वज्रदक्षिणम्**]=(वज् गतौ, दक्षिण=(Dexterous) प्रत्येक कार्य को कुशलता से करता है । 'योगः कर्मसुकौशलम्'=यह बात जिसके जीवन व्यवहार से स्पष्ट होती दिखती है । (३) जो [**विव्रतानाम्**]=विविध व्रतों वाले [**हरीणां**]=इन्द्रिय रूप घोड़ों का [**रथ्यं**]=उत्तम नियन्ता है । आंख कान इत्यादि इन्द्रियां भिन्न-भिन्न कार्यों में व्यापृत हैं, इन सबको जो सुन्दरता से संयत करता है (४) [**श्मश्रुभिः**]=(श्मनि श्रितं) शरीर में आश्रित प्राण मन व बुद्धि से जो [**प्रदोधुवत्**]=वासनाओं को कम्पित कर दूर भगा देता है (५) [**ऊर्ध्वधा भुवत्**]=अपने को सदा विषयों से ऊपर रखने वाला होता है; और अन्त में (६) [**राधसा**]=योगसिद्धियों के द्वारा (राध=सिद्धि) और [**सेनाभिः**]=(स, इन=प्रभु) प्रभु सहित विचारधाराओं के द्वारा [**वि**]=विशेष रूप से [**भयमानः**]=शत्रु सेनाओं को डराने वाला होता है । योगसिद्धि व सदा प्रभु—स्मरण अशुभ विचारों को सदा दूर भगाने वाले हैं । 'योगसिद्धि' अभ्यास है; विचार 'विषय वैराग्य' को पैदा करने वाला है । अभ्यास और वैराग्य के होने पर मन विषयवासनाओं में थोड़ा ही फंसता है ?

यह व्यक्ति बिलकुल मद व अहंकार से दूर होने के कारण 'विमद' है । इन्द्र=परमात्मा का, न कि प्रकृति का होने से 'ऐन्द्र' है । इसने अपने अन्दर उत्तमोत्तम भावनाओं को जन्म देकर 'वसुओं' का निर्माण किया है सो यह 'वसुकृत्' है । प्राकृतिक भोगों को छोड़कर इसने दिव्य योगसिद्धियों को उत्तम विचारशक्तियों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है सो यह 'वासुक्र' है—उत्तम विनिमय वाला ।

भावार्थ—हम भी यथासंभव केवली मुक्ति प्राप्त जीव बनने का प्रयत्न करें ।

आदरणीय व्यक्ति के १३ गुण

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं
३ १ २ २ ३ २ २ १र २र ३ २उ ३ १ २
सुवज्रम् । हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता
३१ २ ३ १ २ ३ १ २
मघानि मघवा सुराधाः ॥४॥३३५॥

गत मंत्र की 'यजामहे' क्रिया ही यहां भी अनुवृत्त होती है=हम आदर करते हैं, किसका ?

(१) [**सत्राहणं**]='सत्र' शब्द उन यज्ञों का

नाम है जो कि १३ दिन से लेकर १००, १०० दिन तक चलते हैं। इन यज्ञों के प्रति जो निरन्तर जाने वाला है (हन्=गतौ)। 'हन्' का प्रसिद्ध अर्थ हिंसा है परन्तु गति अर्थ भी तो इस धातु का है ही। सो यहां हमने गति अर्थ ही लिया है। 'गोघ्न'=वाणी रूप गौ को जिसे प्राप्त कराते हैं वह अतिथि। यहां भी हन् का अर्थ गति ही उपयुक्त है। जो व्यक्ति यज्ञों के प्रति निरन्तर चलता है वह 'सत्राहन्' है।

(२) [**दाधृषिम्**]=यज्ञों के प्रति निरन्तर गतिशील होने से ही वह वासनारूप शत्रुओं का बुरी तरह से धर्षण (crushing defeat) करने वाला दाधृषि होता है। अन्धकार को दूर करने का सर्वोत्तम साधन सत्राहन् बनना है।

(३) [**तुग्रम्**]=(Impelling) आत्मप्रेरणा देने वाला। यह सत्राहन् दाधृषि इन शब्दों में आत्मप्रेरणा देता है कि 'अहमिन्द्रः'=मैं इन्द्र हूं 'न पराजिग्य इद् धनम्'=में अपने ऐश्वर्य के कारण पराजित नहीं होता हूं 'न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन'=मैं कभी मृत्यु के लिये स्थित नहीं होता हूं। इस प्रकार अपने को प्रेरणा देता हुवा यह सचमुच ही—

(४) [**इन्द्रम्**]=जितेन्द्रिय बनता है (५) [**महाम्**]=यह अपने हृदय को विशाल बनाता है (६) [**अपारम्**]=यह कभी भी कर्मों को समाप्त नहीं करता (पार=कर्म समाप्तौ)। अर्थात् सदा क्रियाशील बना रहता है। और इसी का परिणाम है कि (७) [**वृषभं**]=यह शक्तिशाली बना रहता है (८) यह क्रियाशील होता है परन्तु इस बात का सदा ध्यान करता है कि [**सुवज्रम्**]=यह सदा उत्तम गतिशील बना रहे (९) इस उत्तम गतिशीलता के द्वारा [**यः**]=जो [**वृत्रम्**]=ज्ञान की आवरणभूत वासना को [**हन्ता**]=नष्ट करता है (१०) [**उत**]=और वासना के नष्ट होने पर [**वाजं**]=अपने धन को सनिता संविभाग पूर्वक खाने वाला होता है (११) धीमे-धीमे यह प्राजापत्य यज्ञ में आगे बढ़ता हुवा अपने [**मघानि**]=धनों का [**दाता**]=देने वाला होता है। (१२) परन्तु क्या इस धन के देने से उसका धन घट जाता है ? नहीं। [**मघवा**]=वह तो और अधिक पवित्र धन वाला हो जाता है। यह वह स्थिति है जबकि वह (१३) [**सु-राधाः**]=प्रत्येक कार्य में उत्तम सफलता प्राप्त करता है। इसके अन्दर प्रभु की सुन्दर दिव्यता का अधिकाधिक अवतार होकर यह 'वामदेव' बनता है प्रशस्त इन्द्रियों वाला होने से गौतम होता है।

यहां मंत्र में वामदेव का चित्रण १३ विशेषणों से हुवा है। सत्र १३ दिन में ही पूर्ण होता है वामदेव का जीवन सत्र भी इन सत्य के १३ आकारों में पूर्णता पाता है। व्यास के शब्दों में 'सत्याकाराः त्रयोदश'=सत्य के १३ ही आकार हैं। गीता में दैवी सम्पत्ति १३×२=२६ शब्दों में वर्णित हुई है और कहा गया है कि इसमें 'अतिमानिता' का विष न मिलने देना।

भावार्थ—मैं भी सत्य के इन १३ आकारों को अपने जीवन में स्थान दे पाऊं।

आधिभौतिक संग्राम

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
यो नो वनुष्यन्नभिदाति मर्त्त उगणा वा
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३
मन्यमानस्तुरो वा। क्षिधी युधा शवसा वा
१ २ ३ १ २ ३ १ २
तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोताः ॥५॥३३६

ऊपर के मंत्रों में विस्तार से आध्यात्मिक संग्राम का चित्रण हुवा है। वस्तुतः बाह्य शत्रुओं से आन्तर शत्रुओं के विजय का महत्व निर्विवाद अधिक है। सेनाओं को जीतने के स्थान में जो अपने क्रोध को जीत पाता है—वह बड़ा विजेता है, आध्यात्मिक संग्राम में विजय श्रेय का मार्ग है, जबकि बाह्य शत्रुओं का विजय प्रेय मार्ग की ही एक मंजिल है। बाह्य शत्रुओं को जीत कर ही हम 'राज्य, भोग और सुखों' को पा सकते हैं। इनके विजय से आत्मिक उन्नति का संभव नहीं।

एवं, बाह्य संग्राम से अध्यात्म संग्राम उत्कृष्ट

Kangri Col. Deoband. In Public Domain

है, पर बाह्य संग्राम का भी मानव जीवन में स्थान है। मनुष्य केवल आत्मा से बना हुवा नहीं। यह शरीर के अन्दर रहने वाले आत्मा का नाम है। शरीर व शारीरिक वस्तुओं की रक्षा के लिये बाह्य संग्राम भी आवश्यक ही है। सो वेद में कहते हैं कि [**यः**]=जो [**नः**]=हमें [**वनुष्यन्**]=(win) पराजित करना चाहता हुआ [**मर्तः**]=मनुष्य [**अभि**]=आगे-पीछे व दायें बांयें [**दाति**]=काट छांट करता है। जो [**उगणाः**]=उदायुधगणोपेताः=सूती हुई तलवारों वाले सैनिकों से युक्त हुआ (with drawn swords), [**वा**]=या [**मन्यमानः**]=अपने बल के गर्व से अभिमानी बना हुआ, [**तुरःवा**]=इसीलिए हिंसक मनोवृत्तिवाला बनकर जो हमारा घातपात करने में प्रवृत्त होता है, ऐ प्रभो? आप उसे [**क्षिधी**]=क्षीण कर दें, नष्ट कर दें। ऐलिजवेथ के राज्यकाल में स्पेन का आरमेडा इंग्लैण्ड पर आक्रमण करता-करता रह गया। एक तेज झक्खड़ आया और आरमेडा बहुत कुछ तितर-बितर हो गया। एलिजवेथ के काव्यमय शब्दों में 'परमेश्वर ने फूंक मारी और शत्रु उड़ गया।' मुहम्मद का विजय भी तो एक तेज आंधी के आ जाने के कारण हो गया था। इस प्रकार प्रभु ही युद्ध की स्थिति को समाप्त कर दें तब तो कितना ही अच्छा है। परन्तु यदि ऐसा न हो और युद्ध आवश्यक हो जाय तो यह 'वामदेव गौतम' कहता है कि ऐ [**इन्द्र**]=शत्रुओं के दूर भगाने वाले प्रभो! [**युधा**]=युद्ध के द्वारा [**शवसावा**]=और अपनी शक्ति के द्वारा [**त्वा ऊताः**]=तेरे से रक्षा किये जाते हुए हम [**वृषमणः**]=शक्तिशाली उत्साह भरे मनों वाले होते हुए [**तम्**]=उस शत्रु को [**अभीष्याम**]=पूर्णरूप से अभिभूत करने वाले हों।

'वृषमणः' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि उत्साह के अभाव में विजय का सम्भव नहीं। पांडवों में उत्साह है, कौरवों में उत्साह का अभाव। यह उत्साह का अभाव ही कौरवों की पराजय का कारण बना। पाण्डवों के उत्साह के कारण ही दुर्योधन को कभी धृष्टद्युम्न, कभी भीम व कभी कृष्ण और अर्जुन युद्ध का नेतृत्व करते प्रतीत होते हैं।

'त्वोताः' शब्द की भावना सुव्यक्त है कि विजय प्रभु की सुरक्षा से ही होनी है, हमारी अपनी शक्ति हमें विजय नहीं प्राप्त करा सकती। सो हमें विजय का गर्व भी क्यों हो। विजयी होकर भी उस विजय के गर्व से पराजित न होने में ही तो उस विजय का सौंदर्य है।

'क्षिधी' शब्द की भावना भी स्पष्ट है कि युद्ध जहां तक टल सके उतना ही ठीक। इन्द्र=सेनापति के दिन के आ जाने पर भी बाण न गिरे इससे अधिक सुन्दर और क्या हो सकता है? युद्ध की पूरी तैयारी हो जाने पर भी कृष्ण सन्धि के लिये जाते हैं। zero hour के आ जाने पर भी युधिष्ठिर भीष्म से आशीर्वाद मांगने के द्वारा, विचित्र सी स्थिति पैदाकर युद्ध को समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं। पर आवश्यक ही हो जाने पर युद्ध तो करना ही है। कायर थोड़े ही बनना है। युद्ध में शत्रुओं को जीत कर अभ्युदय की सिद्धि भी तो धर्म ही है। क्रोध का विजय निःश्रेयस देता है तो क्रोधी को विवशता में समाप्त करके हम अभ्युदय को सिद्ध करने हैं। क्रोध को जीतना 'ब्रह्म' का परिणाम है, क्रोधी को समाप्त करना 'क्षत्र' का। 'ब्रह्म क्षत्र' का समन्वय ही ठीक है। यह समन्वय ही हमें 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणों वाला बनाता है। यह ठीक है कि 'क्षत्र' ब्रह्म से नियन्त्रित होना चाहिये पर यह ठीक नहीं कि क्षत्र का अभाव ही हो जाय। क्षत्र के अभाव वाली कोई भी संस्कृति पनप नहीं सकती।

भावार्थ —मैं अपने जीवन में ब्रह्म और क्षत्र का समन्वय करने वाला बनूं।

जिसे सभी पुकारते हैं

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
यं वृत्रेषु क्षितयः स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुर-
२ ३ १ २ १र २र ३ २ ३ १र २र ३
यन्तो हवन्ते । यं शूरसातौ यमपामुपज्मन्
१र३ २र ३ १ २ ३ १र २र
यं विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः ॥६॥३३७॥

नि २-१०-२७ में वृत्र धन का नाम है। वृत्र जो वरा जाता है—धन को कौन नहीं वरता। अध्यापन याजन व प्रतिग्रह से ब्राह्मण धन को लेने में लगा है, क्षत्रिय तो हाकिम ही है वह तो औरों से धन ले ही लेता है। वैश्य का लक्ष्य ही धन है—शूद्र भी ८ आने के लिए इतनी मेहनत कर रहा है। धन के बिना किसी का काम नहीं चलता। सो [**क्षितयः**]=इस पृथिवी पर निवास करने वाले (क्षि=निवास) सभी मनुष्य-विशेषतः वैश्य [**स्पर्धमानाः**]=परस्पर स्पर्धा करते हुए एक दूसरे से अधिक और अधिक धन जुटा पाने की कामना करते हुए [**वृत्रेषु**]= धनों के निमित्त [**यं**]=जिसको [**वाजयन्तः**]= धन को अपनाने के लिए चाहते हुए [**हवन्ते**]= पुकारते हैं सः=वह इन्द्रः=प्रभु हैं परमैश्वर्यशाली हैं। प्रत्येक वैश्य प्रभु स्मरण के साथ अपने कार्य को प्रारम्भ करता है- प्रार्थना करता है कि 'येन धनेन प्रपणं चरामि, धनेन देवाः धनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु माकनीयः'=मेरा व्यापार में लगा धन बढ़ता ही चले।

[युनक्त सीराः]=हलों को जोतो इस वेदाज्ञा को क्रियान्वित करते हुए कृषक हलों को जोतते हैं और [**युक्तेषु**]=हलों के जोते जाने पर [**तुरयन्तः**]='तुर तुर' ध्वनि से बैलों को चलाते हुए (वाजयन्तः)=अन्न की कामना वाले ये कृषक [**यं**]=जिसको [**हवन्ते**]=पुकारते हैं सः=वह इन्द्रः=वृष्टि का अधिष्ठातृ देव इन्द्र है। कृषक का तो मंत्र ही है कि रामजी बरसेंगे तभी तो अन्न प्राप्त होगा।

शूरसातौ=संग्रामों में [**यं**]=जिसको [**वाजयन्तः**]=शक्ति की कामना करते हुए पुकारते हैं [**सः**]=वह [**इन्द्रः**]=शत्रुओं का विद्रावण करने वाले प्रभु हैं।

अन्त में [**विप्रासः**]=ब्राह्मण लोग [**वाजयन्तः**]=त्याग की भावना को अपने में उत्पन्न करना चाहते हुए [**अपाम्**]=कर्मों के [**उपज्मन्**]=(striding, stepping upon) करने के समय [**यं**]=जिसको [**हवन्ते**]=पुकारते हैं [**सः**]=वह[**इन्द्रः**]=सब शक्तिशाली कर्मों का अधिष्ठातृ देव परमात्मा है। एक ब्राह्मण वस्तुतः यह समझता है कि कर्मों की शक्ति प्रभु की है, मैं तो निमित्तमात्र हूं। सो वह 'ब्रह्मणि आधाय कर्माणि'=सब कर्मों को ब्रह्म में आहित करके चलता है।

क्या वैश्य क्या कृषक और क्या क्षत्रिय और क्या ब्राह्मण सभी अपने-अपने धन, अन्न, बल व त्याग आदि उपादेय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रभु को ही पुकारते हैं। प्रभु को न भूलने वाला 'वामदेव व गौतम'=उत्तम गुणों वाला व प्रशस्त इन्द्रियों वाला बना रहता है।

भावार्थ—कोई भी कर्म करते हुए हम प्रभु को न भूलें।

सूचना—मंत्र के 'वाजयन्ते' पद का अर्थ लट् के स्थान में शतृ करके 'वाजयन्तः' रूप में किया है। लोक में 'वाजयमानाः'=होता है।

इन्द्र और पर्वत क्या करें ?

१ २ ३ १र २ ३ २उ ३ १ २
इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुवीराः । वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां
३ १र २र ३ १ २
गीर्भिरिडया मदन्ता ॥७॥३३८॥

'इन्द्र' शक्ति की देवता है। यास्क लिखते हैं कि 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' सब बल के कर्म इन्द्र के हैं। 'पर्वत' शब्द का अर्थ आचार्य दयानन्द य.

३५'१५में 'ज्ञान व ब्रह्मचर्य' करते हैं। आचार्य के द्वारा ज्ञान की एक-एक पर्व(Layer)विद्यार्थी के मस्तिष्क में स्थापित की जाती है सो ज्ञान का नाम 'पर्वत' हो गया। इन दोनों देवताओं को सम्बोधन करके कहते हैं कि ऐ[**इन्द्रापर्वता**]=बल व ज्ञान की देवताओ? [**बृहता**]=वृद्धि शील (वृहि वृद्धौ) [**रथेन**]=शरीर रूप रथ के हेतु से इस दृष्टि से कि यह हमारा शरीर रूप रथ आगे और आगे बढ़ता ही चले [**वामीः**]=सुन्दर व सात्विक दिव्य गुणों को जन्म देने वाले तथा[**सुवीराः**]=उत्तम वीरता को जन्म देने वाले [**इषः**]=अन्नों को[**आवहतम्**]=प्राप्त कराओ। संक्षेप में, हम सदा सात्विक व सारप्रद अन्न का ही सेवन करें।

इन अन्नों को भी एक दम स्वयं खा न लें। अपितु, ऐ [**देवाः**]=बल व ज्ञान की देवताओ! [**अध्वरेषु**]=यज्ञों में इनका विनियोग करते हुए [**हव्यानि**]=देने से बचे हुए अन्नों को ही (हु=दान—अदन) [**वीतम्**]=खाओ। यज्ञशेष अमृत है—अमृत का सेवन ही देवों को शोभा देता है।

इस प्रकार सात्विक पौष्टिक अन्नों का यज्ञशेष में सेवन करते हुए पति-पत्नी [**गीर्भिः**]=वेदवाणियों के द्वारा[**वर्धथाम्**]=वृद्धि को प्राप्त हों। वेदवाणियों के दृष्टिकोण से वृद्धि को प्राप्त करने का अभिप्राय यह है कि वे उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ायें, और यथासंभव वेदानुकूल अपने जीवन को बनायें।

जीवन के अन्दर नीरसता को ले आना यह वेद का अभिप्राय नहीं है। [**मदन्ता**]=जीवन को बड़े आनन्द पूर्वक बिताओ। परन्तु वे हमारे सारे आनन्द [**इडया**]=कानून (वेदवाणी) के अनुसार हों। (इडा A Law, वेदवाणी)। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु की ओर से जो ज्ञान दिया गया उस ज्ञान के अनुकूल ही हम जीवन के आनन्दों का उपयोग करें। आनन्द की देवता 'काम' है—और धर्माविरुद्ध काम हमारे में प्रभु का ही रूप है 'धर्माविरुद्धः कामोस्मि भूतेषु भरतर्षभ'।

इस प्रकार सात्विक अन्नों को यज्ञशेष के रूप में सेवन करते हुए—वेद ज्ञान को बढ़ाते हुए—जीवन के उचित आनन्द का ही सेवन करते हुए हम किसी का घातपात नहीं करते। सभी के साथ प्रेम से चलते हुए हम 'विश्वामित्र' होते हैं और प्रभु के वास्तविक गुणगान करने वाले हम 'गाथिन' बनते हैं।

भावार्थ—हम सात्विक पौष्टिक अन्न के सेवन से 'ज्ञान' व 'बल' की देवताओं का अपने में पोषण करें।

'रेणु वैश्वामित्र' का जीवन

१ २ ३   २ ३   १ २   ३ १र   २ ३
इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गाः अपः प्रैरयत्
१ २   ३ १ २   १र   २र   ३ २ ३ १ २
सगमस्य बुध्नात्। यो अक्षेणेव चक्रियौ शची-
३ १ २ ३   १ २   ३ २ ३ २
भिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥८॥३३९

रीङ् गतौ धातु से रेणु शब्द बना है—दरिया की तरह निरन्तर गतिशील बना रहने वाला यह रेणु है। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच' जैसे परमेश्वर की क्रिया स्वाभाविक है इसी प्रकार क्रिया इसका स्वभाव बन गया है। यह सब का मित्र है—सभी का भला चाहने वाला है। 'क्रियाशील रहना और सबका भला चाहना' ही मनुष्यत्व है। इस रेणु के जीवन में निम्न बातें हैं:—

(१) यह [**इन्द्रस्य**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए [**अ-निशित-सर्गाः**]=न ही ननूभूत (Thinned) हुई है रचना जिनकी (शो-तनूकरणे) उन [**गिरः**]=वाणियों को सदा [**प्रैरयत्**]=मुख से उच्चारण करता है। सोते जागते खाते उठते बैठते प्रभु का नाम इसे विस्मृत नहीं होता।

(२) यह [**सगरस्य**]=हृदयान्तरिक्ष के [**बुध्नात्**]=मूल से[**अपः**]=कर्मों को [**प्रैरयत्**] प्रेरित करता है। अर्थात् यह कोई काम अधूरे दिल से नहीं करता। कार्य में जब दिल होता है तो कार्य का संपादन अत्यन्त सुन्दर हो जाता है। भाषण

वही सुन्दर होता है जिसके शब्द दिल से निकल रहे होते हैं। दिल से सुना पढ़ा झट याद हो जाता है। दिल से युद्ध करने वाले क्षत्रिय विजयी होते हैं।

(३) [**यः**]=जो [**अक्षेण इव**]=जैसे धुरे से (axle) [**चक्रियौ**]=दोनों चक्रों को इसी प्रकार [**शचीभिः**]=शक्तियों व प्रज्ञानों के द्वारा [**पृथिवी**]=शरीर को [**उत**]=और [**द्याम्**]=मस्तिष्क (मूर्ध्नो द्यौः) को [**विष्वक्**]=दोनों ओर (वि) अत्यन्त (सु)पूजित रूप से (अञ्च पूजायाम्) [**तस्तम्भ**]=धारण करता है। यह रेणु शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही समान रूप से ध्यान करता है। यह शरीर रथ है तो अन्नमय कोश और विज्ञानमय कोश दोनों ही तो उसके चक्र हैं। एक चक्र के ठीक होने से कैसे काम चल सकता है?

भावार्थ—हम भी सदा प्रभु नाम का जप करें, दिल से कार्य करें, शरीर व मस्तिष्क दोनों का ध्यान करें।

इस मंत्र का आधिदैविक अर्थ यह है—उस प्रभु के लिये निरन्तर न ढीली पड़ी भक्ति से गायन करो जो कि अन्तरिक्ष लोक से जलों को प्रेरित करता है और जो अक्ष से चक्रों की तरह पृथिवी व द्युलोक का धारण करता है।

आधिभौतिक अर्थ—उस राजा के लिए सदा प्रशंसात्मक वाणियों को बोलो जो कि प्रजाओं को दिल से उत्तम मार्ग पर प्रेरित करता है और जो लोगों की शारीरिक व पार्थिव उन्नति की ओर उतना ही ध्यान देता है जितना कि उनको ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराने की।

एक आदर्श घर (पारिवारिक जीवन)

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
आ त्वा सखायः सख्या ववृत्युस्तिरः पुरू
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
चिदर्णवाञ्जगम्याः । पितुर्नपातमा दधीत
३ २ ३ १र २र ३ १र २र
वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः ९॥३४०॥

आदर्श घर वह है जिसमें कि सब व्यक्ति (१) [**त्वा सखायः**]=प्रभुरूप मित्र वाले होते हुए [**सख्या**]=परस्पर मित्ररूप से [**आ**]=सर्वथा [**ववृत्युः**]=वर्ताव करते हैं। परस्पर मित्रभाव रखने के लिये आवश्यक यह है कि सब उस प्रभु को अपना मित्र बनायें। जब हम प्रभु को मित्र बनाकर चलते हैं तो आपस में भी मित्रता से चल पाते हैं—आपस का माधुर्य बना रहता है। पर ज्यूंही प्रभु के स्थान में हमने धनादि को रखा त्यूंही माधुर्य का स्थान कटुता लेने लगती है, और परस्पर प्रेमभाव कम हो जाता है। (२) इस घर में रहकर गृहस्थ [**तिरः**]=प्राप्त परन्तु [**पुरूचित्**]=निश्चित रूप से पालक व पूरक [**अर्णवान्**]=कामों को (कामोहि समुद्रः) [**जगम्याः**]=प्राप्त हो। गृहस्थ में यद्यपि 'कामात्मता न प्रशस्ता'=कामात्मता ठीक नहीं है तो भी न चैवेहास्त्यकामता=बिल्कुल काम शून्यता का भी संभव नहीं। औरों के भोगों को देखकर जलना तो ठीक नहीं, पर प्राप्त (तिरः) भोगों के सेवन में पाप नहीं बशर्ते कि वे नाशक न होकर पुरूचित्=पालक व पूरक हों। धर्माविरुद्ध काम प्रभु का ही रूप है। काम हो सृष्टि का उद्गम स्थान है। (३) इस गृहस्थ में [**वेधाः**]=मेधावी प्रजापालक गृहस्थ [**पितुः**]=पिता के [**न-पातम्**]=वंश को उच्छिन्न न करने वाले सन्तान को [**आदधीत**]=धारण करे। 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'=इस वेद के आदेश के अनुसार एक सद् गृहस्थ प्रजा के द्वारा अपने को अमर बनाने का प्रयत्न करे। (४) और [**अस्मिन्**]=इस [**क्षये**]=घर में [**प्रतरां**]=खूब [**दीद्यानः**]=चमकने का प्रयत्न करे—अपने मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल बनाये।

'वामदेव गौतम' का कर्त्तव्य है कि वह अपने घर में उल्लिखित चार बातों को अवश्य उत्पन्न करे। इनके बिना घर कभी 'उत्तम घर' नहीं बन सकता। घर को उत्तम बनाने का यही तरीका है।

भावार्थ—हम प्रभु मित्रता में परस्पर मित्रता

से चलें, संसार के उचित आनन्दों को प्राप्त करें, ज्ञान से अपने को उज्ज्वल बनायें।

सामाजिक जीवन

२ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
भामिनो दुर्हृणायून्। आसन्नेषामप्सुवाहो
३ १र २र ३ २ ३ २ १ २
मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्॥
१०॥३४१॥

कोई भी व्यक्ति केवल अपने परिवार में ही अपने को सीमित करके नहीं रख सकता। उसे समाज से सम्बद्ध होना ही पड़ता है। समाज में आकर इस वामदेव गौतम का जीवन निम्न प्रकार का होता है:—(१) [**कः**]=प्रजापति [**अद्य**]= आज [**धुरि**]=अग्रभाग में [**युंक्ते**]=इसे जोतता है। वामदेव ने प्रभु को अपना सखा बनाया है (त्वा सखायः) और उस प्रभु ने प्रेरणा देकर इसे कार्यक्षेत्र में अग्रभाग में नियत किया है। सामाजिक हित के कार्य करने वालों का यह मुखिया बनता है। (२) [**ऋतस्य गाः**] (युंक्ते)=प्रभु इसके साथ सत्य की वाणियों को जोड़ते हैं। यह कभी असत्य की ओर झुकाव वाला नहीं होता। यह प्रिय सत्यों का ही उच्चारण करता है। (३) [**शिमीवतः**]=नि २-१-२४ में 'शिमी' कर्म का नाम है—उन कर्मों का जिनमें कि मनुष्य व्यग्र न होकर शान्त रह पाता है। वामदेव के अनुयायी लोग सदा अव्यग्रता से महान् से महान् कार्य को करने वाले होते हैं। (४) [**भामिनः**]=ये तेजस्वी होते हैं (५) [**दुर्हृणायून्**]=ये बुराई के लिये लज्जा अनुभव करते हैं। (हृणीय—feal ashamed at) (६) [**एषां**]=इनके [**आसन्**]=मुख में प्रभु [**युंक्ते**]=उन वाणियों को जोड़ते हैं जो कि [**अप्सुवाहः**]=उन्हें कर्मों में ले चलने वाली हैं और [**मयोभून्**]=कल्याण को जन्म देने वाली हैं। अर्थात् इनकी वाणी किसी का हृदय दुःखी करने के लिये तो कभी उच्चरित होती ही नहीं; ऐसा भी नहीं होता कि वह वाणी वाणी ही रह जाय और क्रियारूप में परिणत न हो।

इस प्रकार के जीवन वाले व्यक्ति ही समाज का हित कर सकते हैं। [**यः**]=जो [**एषां**]=इन व्यक्तियों की [**भृत्याम्**]=दासता को [**ऋणधत्**] =प्राप्त होता है [**स जीवात्**]=वह ही जीये। अर्थात् जीवन तो उस ही व्यक्ति का सफल है जो कि इस प्रकार के लोगों का दास बनता है—ऐसे ही लोगों का अनुगामी बनता है।

भावार्थ—हमारा सामाजिक जीवन निम्न प्रकार का हो:—हम सदा कार्यों में लगे रहें सत्यवादी हों—अव्यग्र तेजस्वी व बुराई से शर्म करने वाले हों। हमारी वाणी कल्याणकर व क्रिया में परिणत होने वाली हो।

● ● ●

द्वितीयाऽर्धे

॥ १ ॥ ऋषिः—१ मधुच्छन्दाः; २ जेता माधुच्छन्दसः; ३, ६ गोतमः; ४ अत्रिः; ५, ८, ९ तिरश्चीः; ७ काण्वो नीपातिथिः; १० शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सभी तेरा गुणगान करते हैं

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥१॥
३४२॥

वेद चार हैं परन्तु मंत्र तीन ही तरह के हैं। या ते वे ऋग्मंत्र हैं, या यजुः, या फिर साम। इसीलिये 'त्रयीविद्या' यह शब्द प्रचलित है। 'त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः' 'त्रैविद्याः' इत्यादि शब्द इन्हीं त्रिविध मंत्रों का संकेत करते हैं। 'ऋच् स्तुतौ' धातु से बना ऋच् शब्द उन मंत्रों का वाचक है जो

कि पदार्थों के गुणधर्मों का वर्णन करते हैं—यही विज्ञान है। इसीलिये 'ऋग्वेद' विज्ञानवेद=A Book of Natural Sciences है। यर्जुमंत्र यज्ञों व मानव कर्तव्यों के वर्णन करने वाले हैं। यजुर्वेद=कर्मवेद है—A Book on Social Sciences है। साममंत्र उपासनामंत्र है—इनमें जीव ने किस प्रकार प्रभु का स्मरण करना है इस बात का प्रतिपादन है। इन वेदों के समझने वाले व्यक्तियों में साममंत्रों से प्रभु का गायन करने वाले 'गायत्री' हैं—ये मंत्र गान करने वालों का चूंकि त्राण करते हैं। प्रभु का स्मरण इन्हें वासनाओं के आक्रमण से बचाये रखता है। इस तत्व को समझते हुए [**गायत्रिणः**]=साममंत्रों से प्रभु गुणगान के द्वारा अपनी रक्षा करने वाले ये व्यक्ति [**त्वा**]=ऐ प्रभो! आपको [**गायन्ति**]=गाते हैं। [**अर्किणः**]=ऋचाओं वाले वैज्ञानिक भी, यह अनुभव करते हुए कि अन्त में सूर्यादि में उस-उस शक्ति का आधान करने वाले आप ही हैं [**अर्कम्**]=अर्चना के योग्य आपकी [**अर्चन्ति**]=उपासना करते हैं। कार्यकारण भाव की शृंखला की अन्तिम कड़ी को ये वैज्ञानिक आपके सिंहासन से ही जुड़ा हुवा पाते हैं। विज्ञान का प्रारम्भिक ज्ञान उनको आपके प्रति श्रद्धा से शून्य करे भी तो विज्ञान का गम्भीर अध्ययन उनकी आपके प्रति अटूट श्रद्धा का कारण बनता है। [**ब्रह्माणः**]=यज्ञों के करने वाले ब्रह्मा आदि ऋत्विज (होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा) भी [**शतक्रतो**]=ऐ सैंकड़ों यज्ञों के करने वाले प्रभो! [**त्वा**]=आपको ही [**उद्येमिरे**]=उन्नत करते हैं [**इव**]=जैसे कि अपरिमित [**वंशम्**]=ध्वजदंड को। अर्थात् ये याज्ञिक भी कदम-कदम पर आपकी महिमा का अनुभव करते हैं। किस प्रकार अग्नि की शिखा सदा ऊपर ही जाती है? अग्नि के अन्दर हव्यद्रव्यों को किस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों में विभक्त करने की शक्ति है? अग्नि में डाली हुई आहुति किस प्रकार सूर्य तक पहुंचती है? "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते" (**मनु**) इस प्रकार ये याज्ञिक यज्ञों के अन्दर भी आपकी महिमा का अनुभव करते हैं। इनके अनुभव का यही सार है कि आप 'सर्वोपरि' हैं।

क्या कर्मकाण्डी, क्या ज्ञानकाण्डी, क्या उपासनाकाण्डी सभी प्रभु के गुणगान में लगे हैं। प्रभु का यह गुणगान ही इन्हें सदा मधुर इच्छाओं वाला='मधुच्छन्दाः' बनाये रखता है। यह प्रभु का उपासक किसी का वैरी न होकर "वैश्वामित्रः"=सभी का स्नेही होता है।

भावार्थ—हम 'कर्म, ज्ञान व उपासना' किसी भी क्षेत्र में विचरते हुए उस प्रभु को न भूलें।

इतना ही जानना पर्याप्त है

२ ३ १ २ ३ १२ ३ १२
इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्॥
२॥३४३॥

[**विश्वाः**]=सब चाहें वे वाणियां ऋग्रूप हैं, चाहे यजूरूप और चाहे सामरूप, वे सब [**गिरः**]=वाणियां [**इन्द्रं**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को [**अवीवृधन्**]=बढ़ाती हैं। सभी उसकी महिमा का वर्णन करती हैं। उपनिषद्कार प्रभु का प्रतिपादन इसी रूप में करते हैं कि 'सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति'=सारे वेद जिस गन्तव्य का वर्णन करते हैं वही प्रभु है। परन्तु क्या वेदवाणियां उस प्रभु का पूर्ण वर्णन कर डालती हैं? नहीं? वे प्रभु तो 'अनाद्यनन्तं' अनादि व अनन्त हैं। [**समुद्रव्यचसम्**]=समुद्र के समान विस्तार वाले हैं। जैसे समुद्र मध्यस्थ पुरुष को समुद्र का ओर व छोर दिखाई नहीं देता इसी प्रकार प्रभु के गुणधर्मों का अन्त नहीं है। वस्तुतः वे प्रभु 'अधोक्षज' हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियजन्य ज्ञान उनसे नीचे है। वे किस रूप में इस ब्रह्माण्ड का निर्माण धारण व प्रलय करते हैं? कितने दिन में करते हैं? इत्यादि बातें हमारे लिये अज्ञेय हैं—उनका जानना अत्यावश्यक भी तो नहीं है। किस प्रकार कौन से कर्म का क्या फल मिल रहा है? यह जानना गहन व अनावश्यक

है। इतना ही जानना पर्याप्त है कि वे प्रभु (१) [**रथीतमं रथीनां**]=रथी जो जीव हैं उनके वे रथीतम हैं—सर्वोत्तम सारथि हैं। यदि हम अपने इस रथ की वागडोर प्रभु के ही हाथ में दिये रखेंगे तो इसके कहीं टकराने व नष्ट-भ्रष्ट होने का खतरा न होगा। परन्तु यदि हठात् हम वागडोर अपने हाथ में ले लेंगे अथवा औरों के ही हाथ में दे डालेंगे तब तो अवाञ्छनीय परिणाम होकर ही रहेगा। (२) वे प्रभु [**वाजानां पतिम्**]=गति (वज् गतौ) शक्ति (वाज=Strength), त्याग (वाज=Sacrifice), व ज्ञान (वज्=गति=ज्ञान) के पति हैं। मैं प्रभु से सम्पर्क बनाता हूं तो वे प्रभु मेरे अन्नमय कोश को गतिमय बनाये रखते हैं, मेरी सब इन्द्रियां शक्तिशाली बनी रहती हैं, मेरा मानस त्याग की भावना से पूर्ण होता है और मेरी बुद्धि ज्ञान से दीप्त हो उठती है। और फिर वे प्रभु (३) [**सत्पतिम्**]=सज्जनों के पति हैं। मैं सज्जन बनूं तो प्रभु की रक्षा का पात्र बनूंगा ही।

संसार में Unknowable बहुत है, knowable बहुत कम। हम इस रहस्यमय संसार को थोड़ा ही जान सकते हैं—प्रभु को तो बहुत ही थोड़ा। परन्तु उल्लिखित तीन बातें जान लेना ही बड़ा पर्याप्त है। हमारे चरित्रों के निर्माण में इन बातों का ही सर्वप्रधान स्थान है, हम प्रभु को इस रूप में समझते हुए अपने रथ की वागडोर प्रभु को ही सौंपे रखेंगे। तो क्या हम संसार में विजयी न होंगे? अवश्य होंगे और अवश्य ही ब्रह्म की गोद में पहुंच पायेंगे। इस विजय के कारण ही इस मंत्र का ऋषि 'जेता' कहलाया है। यह माधुच्छन्दस है=अत्यन्त मधुर इच्छाओं वाला है—ऐसा भी क्यों ना? इसकी तो सब इच्छायें प्रभु प्रेरणा से प्रेरित हो रही हैं।

भावार्थ—हम प्रभुरूप सारथि वाले हों, सज्जन बनकर प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

ऋत के सदन में

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्। शुक्रस्य
३क २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
त्वाभ्यक्षरन् धारा ऋतस्य सादने ॥३॥३४४॥

ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! [**इमं सुतं**]=(शुक्रम्) इस उत्पन्न वीर्यशक्ति को [**पिब**]=तू अपने अन्दर पान करने का प्रयत्न कर। यह (१) [**ज्येष्ठम्**]=प्रशस्यतम वस्तु है—इससे उत्तम वस्तु संसार में और कोई नहीं। यह तेरे जीवन को भी प्रशस्यतम बना देगी। (२) [**अमर्त्यम्**]=इससे तू अमरता को प्राप्त करेगा 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'=इन सोमबिन्दुओं के धारण से ही जीवन धारित होता है और इनके नाश से मृत्यु हो जाती है। (३) [**मदम्**]=इनसे जीवन में (मदी हर्षे) उल्लास होता है! जीवन सदा हर्षमय बना रहता है।

प्रभु कहते हैं कि [**त्वा**]=तुझे [**शुक्रस्य**]=इस पवित्र, दीप्त व स्फूर्तिमय सोम की [**धाराः**]=धारण शक्तियां [**ऋतस्य सादने**]=ऋत के स्थान में [**अभ्यक्षरन्**]=पहुंचा दें (टपका दें)। इस वीर्यशक्ति की रक्षा से जहां जीवन उत्तम बनता है, जहां अमरता प्राप्त होती है और जहां जीवन उल्लासमय बनता है, वहां यहां सुरक्षित सोम हमारे योगमार्ग में आगे बढ़ने का भी साधन बनता है। योग भूमिकाओं में आगे और आगे बढ़ते हुए हम सप्तम भूमिका में पहुंचते हैं जहां कि 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' (योग) सत्य का पोषण करने वाला ज्ञान प्राप्त होता है जिसे 'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' इस क्रम में सत्यलोक यह नाम दिया है। यहां पहुंच कर मनुष्य सर्वज्ञकल्प हो जाता है।

एवं सोम रक्षा के ऐह लौकिक लाभ ये हैं कि (१) हमारा जीवन ऊंचा उठता है (२) हमें दीर्घायुष्य प्राप्त होता है और (३) हमारा जोवन उल्लासमय बना रहता है। इस सोमरक्षा का आध्यात्मिक लाभ यह है कि यह हमें योगमार्ग

की अन्तिम मंजिल तक पहुंचा कर सर्वज्ञकल्प बना देती है। हम सब मलों से ऊपर उठ कर पूर्ण पवित्र बन जाते हैं। मलों को छोड़ने वाला 'राहू' (रह् त्यागे) है, उनमें भी मूर्धन्य गिना जाने वाला 'राहूगण' है। निर्मल होकर अत्यन्त पवित्र इन्द्रियों वाला होने के कारण यह 'गोतम' है।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा ऐहिक जीवन को हम पवित्र, दीर्घ व उल्लासमय बनायें और पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत्यलोक में पहुंचने वाले बनें।

वह धन जो मेरे पास नहीं ?

१ २ ३ २उ ३ १ २
यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः।
२ ३ १ २ ३ १ २
राधस्तन्नो विद्वदस उभयाहस्त्या भर ॥४॥
३४५॥

ऐ [**इन्द्र**]=सब शक्तियों के स्वामिन् [**चित्र**]=(चित्+र) सब ज्ञानों वाले व ज्ञानों के देने वाले प्रभो! [**यत्**]=जो [**राधः**]=धन [**इह**]=यहां इस जीवन में [**मे**]=मेरा [**न अस्ति**]=नहीं है और जो धन ऐ [**अद्रिवः**]=न विदारण के योग्य (अ+दृ) तथा आदरणीय (आदृ) प्रभो! [**त्वा आदातम्**]=आपसे सर्वथा ग्रहण किया गया है [**तत् राधः**]=उस सिद्धि (राध्=सिद्धि) के देने वाले धन को [**नः**]=हमें ऐ [**विदद्वसो**]=वसुओं के प्राप्त कराने वाले। [**उभया हस्त्या**]=दोनों हाथों से [**आभर**]=दीजिये।

इस मंत्र में प्रभु को 'इन्द्र व चित्र' शब्दों से स्मरण करके यह संकेत हुआ है कि यह प्रभु शक्ति के पुंज हैं व ज्ञान के समुद्र हैं। जीव ने ग़लती से भोग मार्ग को (Enjoyment) अपना कर शक्ति को तो क्षीण कर ही लिया वह ज्ञान से भी शून्य हो गया, कामना ने उसके ज्ञान पर भी परदा डाल दिया। चाहिये था कि वह योग मार्ग पर चल कर प्रभु से अपना मेल बनाता। चला वह भोग के मार्ग पर और परिणामतः प्रभु से दूर हो गया। जीव अभ्युदय साधन में ही उलझा रहा, निःश्रेयस का उसे स्मरण ही न रहा। प्रेय मार्ग को उसने पसन्द किया—श्रेय उसे रुचिकर न हुआ। प्रकृति ने उसे आकृष्ट किया—प्रभु को वह उसकी चकाचौंध में देख न पाया। शरीर को ही उसने 'मैं' समझा, अपना वास्तविक स्वरूप उससे ओझल ही रहा। धन ही उसके लिए सब कुछ हो गया, धनाध्यक्ष का उसे ध्यान ही न आया। स्थूल आनन्दों में उलझा हुआ वह सूक्ष्म आनन्दों को भूल गया। शरीर के लिए खाना तो आवश्यक था, पर उसका शरीर नहीं अपितु मन खाने में लग गया। 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'=केवल शरीर कर्म को करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त करता। परन्तु जब वह 'स्वादु अत्ति'=स्वाद से खाने लगा, तो वह दण्ड का पात्र हो गया। इन प्रकृति के भोगों में फंस कर ज्ञान और शक्ति को गंवा बैठा। उसके पास न ज्ञान रहा, न शक्ति।

अब वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि मुझे वह धन दीजिये जो कि मेरे पास नहीं है। प्रभु ने भोगों को स्वीकार नहीं किया। जबकि जीव 'जुषमाणोऽनुशेते'; उस समय परमात्मा 'जहाति एनाम्'। इसीसे प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुंज बने रहे और इसी का परिणाम था कि वह 'न-विदारण के योग्य (शक्ति) तथा आदरणीय (ज्ञान) बने हैं।

उस प्रभु ने ही हमें भी इन दोनों वसुओं को प्राप्त कराना है। ये ही राध हैं—सिद्धि के देने वाले हैं। प्रभु एक हाथ से मुझे ज्ञान दें तो दूसरे से शक्ति, इन दोनों को अलग-अलग करके मैं अपना कल्याण सिद्ध नहीं कर सकता। इनके समन्वय में ही मेरे सारे कष्टों की समाप्ति है, मैं ज्ञान और शक्ति का पुंज बन कर त्रिविध तापों से ऊपर उठूंगा, 'अ–त्रि' हूंगा। मैं उस दिन अपनी इस मातृभूमि का सच्चा पुत्र हूंगा—'भौम' बनूंगा।

भावार्थ—मैं भी उस ज्ञान व शक्ति का स्वीकारनेवाला बनूं, जिनको स्वीकार प्रभु ने किया।

क्या करूं कि पुकार सुनी जाय

३ १ २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥५॥
३४६॥

'तिरश्ची: आंगिरस:' मंत्र का ऋषि है। तिर: अञ्चति=अपने अन्दर ही गति करता है—बाह्य विषयों में नहीं भटकता रहता। [**तिरश्च्या:**]=इस अंतर्मुख यात्रा करने वाले की [**हवं**]=पुकार को [**श्रुधि**]=सुनिये। उस तिरश्ची की [**य:**]=जो कि ऐ [**इन्द्र**]=ऐ परमैश्वर्यशाली प्रभो! [**त्वा**]=आपको [**सपर्यति**]=पूजता है, वस्तुत: मनुष्य भटकता तो हो प्राकृतिक भोगों की दुनियां में और पुकार लगाये उस अन्त:स्थ प्रभु को, तो उसकी प्रार्थना क्या सुनी जानी। प्रार्थना तो उसीकी सुनी जाती है जो कि अन्तर्मुख यात्रा वाला हो। बाह्य विषयों में न रम कर जो हृदयस्थ प्रभु के समीप प्रतिदिन बैठने का प्रयत्न करता है, प्रभु का वही प्रिय बनता है।

इस तिरश्ची की प्रार्थना भी बाह्य धनों के लिए न होकर आन्तर धनों की होती है। यह कहता है कि [**राय:**]=धन का [**पूर्धि**]=हमारे में पूरण करिये, परन्तु कौन से धन का? (१) [**सुवीर्यस्य**]=जो उत्तम शक्ति वाला है, और (२) [**गोमत:**]=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों वाला है। शक्ति+ज्ञान की प्रार्थना ही सर्वोत्तम प्रार्थना है। सर्वोत्तम इसलिए कि इनके अभाव में हमारे हृदय संकुचित बन जाते हैं। [**महां असि**]=प्रभु महान् हैं। ज्ञान व शक्ति से संपन्न बन कर मैं भी महान् बनता हूं, ज्ञान की कमी के साथ संसार में संकुचित हृदयता दिखती है। ईसा के दृष्टिकोण में सभी मनुष्य भाई-भाई हैं पर उसके अनुयायियों में एक प्रकार विशेष से पूजा करने वाला ही स्वर्ग में जा पायेगा, बाकी सब तो नास्तिक हैं। इसी प्रकार प्राय: सभी मतों में दिखता है। सुधारक का दृष्टिकोण विशाल है—अनुयायियों का तंग हो गया है। इसी प्रकार अशक्त व्यक्ति निकृष्टता (meanness) तक उतर आता है। वह छोटी-छोटी बातों को भूल नहीं पाता। शक्तिशाली का ध्यान उन तुच्छ बातों की ओर जाता ही नहीं। उदार व महान् ही धर्म है, प्रभु महान् हैं—मैं भी महान् बनने का प्रयत्न करता हूं—और इसीलिये ज्ञान व शक्ति की याचना करता हूं। शक्तिसंपन्न बन कर मैं आंगिरस होता हूं, तिरश्ची बनकर मैं ज्ञानी बना था। आत्मनिरीक्षण से ही सभी ज्ञान उपलभ्य है।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति का संपादन करके मैं महान बनूं।

ज्ञान व शक्ति का संपादन कैसे हो?

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि।
१ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रज: सूर्यो न रश्मिभि:
॥६॥३४७॥

प्रभु 'सुवीर्यस्य गोमत: रायस्पूर्धि' इस प्रार्थना को सुनकर जीव से कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव [**ते**]=तेरे लिए [**सोम:**]=सोम-वीर्यशक्ति [**असावि**]=उत्पन्न कर दी गई है। ऐ [**शविष्ठ**]=गतिशील, और ऐ [**धृष्णो**]=कामादि शत्रुओं का धर्षण करने वाले [**आगहि**]=तू उस सोम को प्राप्त कर। सोम की रक्षा के लिये दो ही साधन हैं। (१) एक तो—[**शविष्ठ**]=सदा कर्म में लगे रहना। खूब क्रियाशील होना। यह क्रियाशीलता मनुष्य की वासनाओं से बचाने में सर्वमहान् साधन है। (२) दूसरा (धृष्णो) हम वासनाओं का धर्षण करने वाले बनें। हम अपने वातावरण को ऐसा बनायें कि वह वासनाओं को कुचलने वाला हो। वासनाओं के प्रतिकूल हो। हमारा भोजन सात्विक हो, अध्ययन सात्विक हो, संग सात्विक हो। इस प्रकार वासनाओं को अवसर न देकर हम अपने सोम की रक्षा करेंगे तो प्रभु कहते हैं कि (१) [**त्वा**]=तुझे [**इन्द्रियं**]=शक्ति

[**आपृणक्तु**]=सर्वथा प्राप्त हो—शक्ति का तेरे साथ संपर्क हो। तथा तेरा (२) [**रजः**]=यह हृदयान्तरिक्ष [**रश्मिभिः**]=ज्ञान की किरणों से [**आपृणक्तु**]=संपृक्त हो—उसी प्रकार [**न**]=जैसे कि [**सूर्यः**]=सूर्य प्रकाश से युक्त है। संक्षेप में—सोम की रक्षा से तू शक्तिशाली हो और तेरा हृदय ज्ञान के प्रकाश से आभासित हो। 'रश्मि' शब्द प्रकाश की किरण के अतिरिक्त लगाम का भी वाचक है। सो जैसे सूर्य ने अपनी रश्मियों से लोकों को अपनी ओर आकृष्ट किया हुआ है, उसी प्रकार हमारा हृदय मन रूप लगाम के द्वारा सब इन्द्रियों को आकृष्ट किये रहे। और हम आत्मवश्य इन्द्रियों से ही संसार में विचरण करें। इस प्रकार विचरण करते हुए विषयों के त्यागने वाले हम 'राहूगण' बनें (रह त्यागे) हमारी इन्द्रियां विषय पंक में न फंसे और हम 'गौतम' प्रशस्त इन्द्रियों वाले हों।

भावार्थ—निरन्तर क्रियाशीलता व वासनाओं को नष्ट-भ्रष्ट करने के द्वारा हम सोम की रक्षा करने वाले बनें।

प्रसाद नकि प्रासाद

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥

॥७॥३४८॥

ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ? [**हरिभिः**]=अपनी इन्द्रियों के द्वारा [**कण्वस्य**]=मेधावी पुरुष की [**सुष्टुतिम्**]=उत्तम स्तुति को [**उपआयाहि**]=समीपता से प्राप्त हो। मेधावी पुरुष की स्तुति को तो करना—मेधावी की स्तुति न करना। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि जैसे सामान्यतः प्राकृत लोग 'बृहन्तं क्षयं असमं जनानाम्' आदि शब्दों में कोठियों की प्रार्थना करते हैं, 'न कंचनोच्छिषः'=एक भी हमारा शत्रु न बचे ऐसा चाहते हैं ऐसी मूर्खता भरी प्रार्थनायें न करके तू 'तयामामघमेघयाग्ने मेघाविनं कुरु'-मेधा की प्राप्ति के लिए प्रार्थना कर। मेधा के होने पर उतना धन तो प्रसंगवश ही मिल जाता है जितना कि परिवार उद्दर व अतिथि के लिये पर्याप्त होता है। इस प्रकार मेधावी पुरुष की प्रार्थनाओं को करता हुआ तू [**अमुष्यदिवः**]=उस प्रकाशमय [**शासतः**]=प्रकृति का शासन करते हुए और जीव का भी हृदयस्थ रूप से अनुशासन करते हुए उस प्रभु के [**दिवं**]=प्रकाशमय लोक को [**यय**]=प्राप्त हो। [**दिवावसो**]=प्राप्त तू तभी होगा जब कि ज्ञान को ही तू धन समझेगा।

उपनिषद् के अन्दर एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्यः नद्याः स्यन्दन्ते' इत्यादि शब्दों में तथा 'भयादस्याग्निस्तपति' आदि वाक्यों में प्रकृति पर प्रभु के शासन का उल्लेख है अन्तर्यामि प्रकरण में स्पष्ट है कि हृदयस्थ रूप से वह जीव को भी अनुशासन प्राप्त करा रहा है। वह प्रभु सब लोक-लोकान्तरों को प्रकाश प्राप्त कराते हुए स्वयं प्रकाशमय हैं—'स्वज्योति' हैं। जीव जब मेधावी बन कर प्राकृतिक वस्तुओं की प्रार्थना न कर के ज्ञान की रुचि वाला होता है, तो उस प्रभु को वह प्राप्त करता है। नचिकेता की तरह यदि वह दीर्घजीवी पुत्रों में, ज़मीनों, पशुओं, सोने-चाँदी व सवारियों में अब यह नहीं उलझता तो आत्मा को प्राप्त करता ही है। वह इस जीवनयात्रा में आगे बढ़ता हुआ एक दिन इस अचिन्त्य, अप्रमेय, नीप (Deep) 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम' उस गुह्य प्रभु का अतिथि बनता है। यह नीपातिथि ही इस मंत्र का का ऋषि है। यही काण्व मेधावी है।

भावार्थ—प्रासादों की याचना ही न करता रहूं—प्रभु के प्रसाद को पाने का प्रयत्न करूं।

(धर्मंजिज्ञासमानानां) प्रमाणं परमं श्रुतिः

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
अभि त्वा समनूषत गावो वत्सं न धेनवः ॥

॥८॥३४९॥

अपने अन्दर गति करने वाला ऋषि तिरश्ची है। यह अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन करता है और उसे प्रभु कहते हैं कि ऐ [**गिर्वणः**]=वेदवाणियों का सेवन करने वाले तिरश्ची—[**त्वा**]=तुझे [**गिरः**]=ये वेद वाणियां [**सुतेषु**]=उस-उस उत्पन्न धर्म संकट के समय [**रथीः इव**]—सारथियों की तरह, मार्गदर्शकों की तरह [**आ अस्थुः**]=समन्तात् प्राप्त हों। यह तेरी जीवनयात्रा में तेरे चारों ओर तेरी परिरक्षिकाओं के रूप में स्थित हों। यह तेरी समस्याओं को हल करने वाली हों [**गावः**] =ये वेदवाणियां (गमयन्ति अर्थात्) [**त्वा**]=तुझे [**अभि**]=दोनों ओर अन्दर व बाहर पाठमात्र-स्वरूप में और विशदार्थरूप में [**सम्**]=अच्छी तरह [**अनूषत**]=प्राप्त हों (नु=to go) तथा प्राप्त होकर तेरे जीवन को प्रशंसित बना दें (नु= to praise)। उसी प्रकार प्रशंसित बना दें [**न**] =जैसे कि [**धेनवः**]=नवसूतिका गायें [**वत्सम्**] =बछड़े को। नवसूतिका गौ चाट-चूट कर बछड़े की बाह्य त्वचा को शुद्ध कर डालती है और पौष्टिक दूध पिलाकर उसे पुष्ट बनाती है। इसी प्रकार ये वेदवाणियां पाठमात्र से उच्चारण की जाकर भी हमें असद् व्यसनों से बचाकर आध्यात्मिक दृष्टि से नीरोग बनाती हैं और अर्थज्ञान हो जाने पर तो हमारे मस्तिष्क व मन पर एक विशेष प्रभाव डालती हुई हमारे जीवनों को ऊंचा बनाती है।

जब कभी हमारे सामने कोई धर्मसंकट उपस्थित होता है तो उस समय ये वेदवाणियां हमें उस उलझन से निकलने में सहायक होती हैं। 'क्या धर्म है?' इस प्रश्न का उत्तर यही है कि 'जिसकी वेद प्रेरणा दे रहा है।' धर्म संकट की स्थिति सब के जीवनों में उपस्थित होती है। यदि हम वेदवाणियों का सेवन नियमित रूप से करते होते हैं तो ये वाणियाँ हमारी पथप्रदर्शक बनती हैं। उनके अनुसार मार्ग का आक्रमण करके हम भोगमार्ग से बचे रहते हैं—परिणामतः रोगों से भी बचते हैं—इन्द्रिय शक्तियां हमारी जीर्ण नहीं होतीं और हम 'आंगिरस' बने रहते हैं।

भावार्थ—धर्म ज्ञान के लिए हम प्रभुवाणी को परम प्रमाण मानने वाले हों।

क्या मैं प्रभुभक्त हूं?

२ ३   २ ३   १ २   ३ २   ३ २ ३   १   २
एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
३ २ ३   १   ३   १ २   ३ २ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु ॥
९॥३५०॥

सबके साथ स्नेह करने वाले विश्वामित्र कहते हैं कि [**एत उ**]=निश्चय से चारों ओर से आओ ही। जहां कहीं भी होवो, इस प्रभु प्रार्थना के समय एक स्थान में एकत्रित हो जावो। [**नु**]=अब [**इन्द्र**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का हम [**स्तवाम**]=स्तवन करें, जोकि [**शुद्धम्**]=पूर्ण शुद्ध हैं—किसी भी प्रकार की मलिनता का जिनसे संपर्क नहीं।

उस प्रभु के स्तवन का प्रकार क्या है? :—(१) [**शुद्धेन साम्ना**]=शुद्ध शान्ति की मनोवृत्ति से। हमारे मनों में किसी के प्रति कोई द्वेष की भावना न हो। हमारे हृदय शुद्ध हों और शांति की मनोवृत्ति से परिपूर्ण हों। (२) [**शुद्धैः उक्थैः**]= शुद्ध वचनों से [**वावृध्वांसं**]=बढ़ने वाले उस प्रभु का हम स्तवन करें! हमारे शुद्ध वचनों से प्रभु की महिमा बढ़ती है। ऋत और सत्य को बोल कर ही तो हम अपने जीवनों से ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। (ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिव्यामि-सत्यं वदिष्यामि)। प्रभु सत्य हैं और हमारे छलशून्य सत्य वचनों से ही ब्रह्म का प्रतिपादन हो पाता है। (३) प्रभु के उपासक को चाहिए कि [**शुद्धैः**]=शरीर इन्द्रिय मन और बुद्धि इन सब उपकरणों को शुद्ध बना कर आशीर्वान्=सबके लिये शुभ इच्छाओं वाला होता हुआ (with blessings for all) [**ममत्तु**]=सदा प्रसन्न मन वाला होकर विचरे। उसके चेहरे पर मानसप्रसाद की झलक हो।

संक्षेप में, जो प्रभु का उपासक है—उसके

गुणगान करने वाला 'गाथिन' है—(१) उसका मन सबके प्रति शान्ति वाला होता है, उसके वचन छल शून्य ऋजु व सत्य होते हैं और (३) उसके चेहरे पर प्रसाद की झलक होती है—उसका जीवन उल्लासमय होता है।

भावार्थ—निर्द्वेष मन, सत्यवाणी व प्रसन्न वदन ही प्रभु भक्त के लक्षण हैं।

रयि और प्राण

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
यो रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः।
१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
सोमः सुतः स इन्द्रतेऽस्ति स्वधापते मदः॥
१०॥३५१॥

आत्मनिरीक्षण करने वाला तिरश्ची यह अनुभव करता है कि सोम की रक्षा होने पर उसका जीवन उल्लासमय होता है और सोम रक्षा के अभाव में उसे निराशा व उदासी सी प्रतीत होती है। वस्तुतः शरीर व्याधियों का घर बन जाय और मन आधियों से आक्रान्त हो तो जीवन में निराशावाद ही आ जाता है। इस शरीर को व्याधिशून्य व मन को आधिशून्य बनाने का एक ही उपाय है कि हम शरीर की रयि व प्राण दोनों शक्तियों को सुरक्षित करें। प्रश्नोपनिषद में सारे जगत् का उत्पादन व धारण 'रयि और प्राण' से ही है। सो यहां तिरश्ची ऋषि कहते हैं कि [**वः**]=तुम्हारा [**यः**]=जो [**रयिं रयिन्तमः**]=रयियों के रयि अर्थात् सर्वोत्तम रयि है और [**यो**]=जो तुम्हारा [**द्युम्नैः**]=(प्राणो वा आदित्यः) आदित्य के समान ज्योतियों से [**द्युम्नवत्तमः**]=सर्वाधिक चमकता हुआ प्राण है [**सः**]=वह वस्तुतः [**सुतःसोमः**]=उत्पन्न हुआ यह सोम ही है। रयि प्रश्नोपनिषद् में अपान का वाचक है। स्थूल दृष्टि से अपान दोषों के दूर करने की शक्ति है और प्राण बल का संचार करने वाली शक्ति है। इन दोनों प्राणापानों का मूल 'सोम'–वीर्यशक्ति है। प्रभु ने आहार से रस आदि के क्रम द्वारा इसके उत्पादन की व्यवस्था की है। ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव [**सः**]=वह सोम [**ते**]=तेरे लिये अर्थात् तेरी उन्नति के लिए [**अस्ति**]=है।

इस सोम के धारण से तू स्व=अपना धाः=धारण करने वाला बनता है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार अपना धारण करते हैं वे सब स्वधा हैं। इनमें भी धुरन्धर बनने वाले ऐ [**स्वधापते**]=स्वधारकों के मुखिया जीव [**मदः**]=तू हर्षयुक्त हो, तेरा जीवन उल्लासमय हो। इस स्वधापति ने अपने जीवन को इस प्रकार सोम रक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनाया है और इसी से यह 'आंगिरस' कहलाया है। अन्तर्मुख यात्रा वाला व्यक्ति 'आंगिरस' होना ही चाहिये। बहिर्मुख यात्रा में ही भोगविलास में फंसकर मनुष्य जीर्ण शक्ति होता है, अन्तर्मुखयात्रा में नहीं।

भावार्थ—हम स्वधापति बनें और अपने जीवन को उल्लासमय बनायें।

● ● ●

॥२॥ ऋषिः—१ भरद्वाजः; २ वामदेवः शाकपूतो वा; ३ प्रियमेधः; ४ प्रगाथः; ५ श्यावाश्व आत्रेयः; ६ शंयुः; ७ वामदेवः; ८ जेता माधुच्छन्दसः ॥ देवता—१—४, ६, ८ इन्द्रः; ५ मरुतः; ७ दधिक्रावा अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

पीछे कदम न रखने वाला

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चादध्वने नरः॥१॥
॥३५२॥

[**अस्मै**]=इसके लिए [**प्रति**]=प्रत्येक व्यक्ति के लिए [**नरः**]=(ना का द्वितीया बहुवचन) =आगे ले चलने की भावनाओं को [**भर**]=परिपूर्ण करिये। किसके लिए :—

(१) [**पिपीषते**]=जो रयि और प्राण शक्ति की वृद्धि के लिए सोम पान करना चाहता है। इस

सोमपान से उसमें रयि=चन्द्रमा व प्राण=आदित्य तत्वों का मेल होता है। यह व्यक्ति आदित्य के समान अन्धकार को दूर करता है, परन्तु उस अन्धकार को दूर करने की प्रक्रिया में प्रखर (तेज) नहीं बनता, चन्द्र की तरह आह्लादमय बना रहता है।

(१) [**विश्वानि**]=हमारे न चाहते हुए भी अन्दर प्रविष्ट हो जाने वाली काम, क्रोध व लोभ आदि की भावनाओं को [**विदुषे**]=अच्छी प्रकार समझने वाले के लिए। लोकहित में लगे हुए व्यक्ति को इन भावनाओं को समझना ही चाहिये। हम शत्रु को समझेंगे ही नहीं तो उसे जीतेंगे कैसे? इन भावनाओं को न समझने वाला व्यक्ति इनके लिए उचित क्षमा भी तो लोगों को नहीं दे सकता। वह इनकी दुरन्तता को समझता है तो लोगों को उनकी कमियों के लिए क्षमा भी कर पाता है। उनकी धर्ममार्ग पर धीमी गति से अधीर भी नहीं हो उठता।

(२) [**अरंगमाय**]=(अरं=वारण) यह लोगों के दु:खों व अज्ञानों को दूर करने के लिए गतिशील होता है, तथा अपने इस कार्य में (४) [**जग्मये**]=निरन्तर क्रियाशील बना रहता है। कार्य के गौरव व आयुष्य की सीमितता को समझता हुआ यह आलसी हो ही कैसे सकता है? (५) [**अपश्चादध्वने**]=यह अपने जीवन में पीछे कदम नहीं रखता। जब लोकहित के मार्ग को अपनाता है तो लोभ से, काम से व क्रोध से वह अपने मार्ग से विरत नहीं होता। लोगों के अपशब्द, लोगों के पत्थर व विषदान भी उसे अपने कार्य से उपरत नहीं कर पाते।

यह शरीर में अपने को शक्ति (वाज) संपन्न बनाता है, इन्द्रियों को क्रियाशील (वाज=क्रिया) मन को त्याग की भावना से युक्त (वाज=sacrifice) और बुद्धि को ज्ञान परिपूर्ण (वाज=ज्ञान) बनाता हुआ यह 'भारद्वाज' निरन्तर लोकहित के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है। यह ज्ञान का पुंज 'बार्हस्पत्य' बनकर औरों के अज्ञान को भी दूर करता है।

भावार्थ—हम 'बार्हस्पत्य भारद्वाज' बनकर औरों को भी आगे ले चलने वाले बनें। इस कार्य में सफलता के लिए हम अपने में चन्द्र व सूर्य दोनों तत्वों का प्रकाश व माधुर्य का समन्वय करें।

नोट :- नेता की तो यही भावना होनी चाहिये कि "न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम् कामये दु:खतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्"।

क्या उपादेय है क्या हेय है

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
आ नो वयो वय:शयं महान्तं गह्वरेष्ठाम्।
३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
महान्तं पूर्विणेष्ठामुग्रं वचो अपावधीः ॥२॥
॥३५३॥

ऐ प्रभो! [**न:**]=हमें [**आ**]=सर्वथा [**अवधी:**]=(हन्=प्राप्त करना) प्राप्त कराइये। क्या-क्या?

(१) [**वय:**]—(क) Sacrificial food=यज्ञिय भोजन। सात्विक भोजन जीवन निर्माण का मूल है। (ख) Energy, strength=सात्विक भोजन से हमें उत्तम शक्ति प्राप्त हो। (ग) soundness of constitution=हमें स्वस्थ शरीर प्राप्त हो। संक्षेप में सबसे प्रथम प्राप्य वस्तु यह है कि हम सात्विक भोजन के द्वारा शक्ति को प्राप्त करके स्वस्थ शरीर वाले बनें।

[**वय:शयम्**]—(शय=couch=बैठने की जगह)—हमें वे चीजें प्राप्त हों जिसका कि यह स्वस्थ शरीर शय=आधार है। ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार प्रभु ने देवताओं के निवास के लिए इस शरीर को बनाया है। देवताओं ने भी इसे पसन्द किया 'अयं नो वत सुकृतेति' और सारे देवता इसमें निवास करने लगे 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'। सूर्य आंखों में, दिशाएं कानों में, अग्नि मुख में इसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में देव रहने लगे। हमें इन देवों को प्राप्त कराइये। हमारो

सब इन्द्रिय शक्तियां ठीक हों।

यद्यपि मन व बुद्धि भी इन देवों के अन्दर समाविष्ट हैं तो भी विशेषता प्रदर्शन के लिए 'ब्राह्मणा आयाताः वसिष्ठोऽप्यायातः' इस न्याय से मन और बुद्धि का अलग उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (३) [**महान्तं गह्वरेष्ठाम्**]=हृदय रूप गुहा में ठहरने वाले (हृत्प्रतिष्ठम् महान्तं)=मन को (महान् ही मन है, मन महान् होना ही चाहिये) प्राप्त कराइये। हमारा मन हृत् प्रतिष्ठा=श्रद्धा रूपी मूल वाला हो और महान् हो।

(४) [**महान्तं पूर्विणेष्ठाम्**=पूर्विणे=पुराण तत्व आत्मा के लिए इस शरीर रूप रथ पर स्थित होने वाले इस बुद्धि तत्व को हमें प्राप्त कराइये। आत्मा रथी है—उसका सारथि बुद्धि है। समष्टि में जो महान् तत्व है, वही व्यष्टि में बुद्धि है। इस प्रकार आत्मा की उन्नति के साधनभूत बुद्धि की यहाँ प्रार्थना है।

चार चीजें उपादेय रूप से कही गई हैं—स्वस्थ शरीर सब दिव्य शक्तियां—उत्तम इंद्रियां, महान् मन और आत्मा की सारथिभूत बुद्धि। इन चार चीजों को उपादेय रूप से कह कर हेय वस्तु का संकेत इन शब्दों में करते हैं कि [**नः**]=हमारे से [**उग्रंवचः**]=तेज शब्दों को कटु वाक्यों को [**अपअवधीः**]=दूर करिये। हम कभी भी कड़वी वाणी न बोलें।

इन सब उपादेय वस्तुओं की प्राप्ति व हेय वस्तु का त्याग इसी बात पर निर्भर करता है कि हम सात्विक भोजन (वय) को अपनायें। इसे अपनाने वाला व्यक्ति 'शाकपूतः'=शक्ति देने वाले वानस्पतिक भोजनों से अपने को पवित्र करने वाला ही इस मंत्र का ऋषि है। यह दिव्य गुणों वाला तो बनता ही है सो 'वामदेव' होता है।

भावार्थ—हम सात्विक भोजन का सेवन कर सात्विक वाणी का ही उच्चारण करें।

वह महान् रथ

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि।
३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥३
॥३५४॥

इस मंत्र का ऋषि 'प्रियमेध' है, जिसे मेधा=ज्ञान प्रिय है। यह प्रियमेध कहता है कि ऐ प्रभो! [**त्वा**]=आपको [**रथं वर्तयामसि**]=अपनी जीवन यात्रा के रथ के रूप में वर्तते हैं। मैं अपनी जीवन यात्रा का आधार प्रकृति को न बनाकर प्रभु को बनाता हूं। यह मैं इसलिये करता हूं कि:—

(१) [**यथोतये**]=मैं अपनी यथायोग्य रक्षा कर पाता हूं। प्रभुमूलक जीवन बनाने पर मेरा खान-पान न चले ऐसी बात कभी नहीं होती। 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'=इन नित्याभियुक्तों का योगक्षेम तो प्रभु चलाते ही हैं। मनुष्य वासनाओं का शिकार बनने से भी बचा रहता है। और परिणामतः [**सुम्नाय**]=सुख के लिए मैं प्रभु को अपना रथ बनाता हूं। मेरी सब इंद्रियां (ख) उत्तम (सु) बनी रहती हैं। उनमें असुरों के आक्रमण से कोई विकार नहीं आ जाता। उदाहरणार्थ वाणी अशुभ शब्द नहीं बोलने लगती, कान अशुभ शब्द नहीं सुनने लगते।

हम उस प्रभु को अपने जीवन का रथ बनाते हैं जाकि (१) [**तुविकूर्मिम्**]=महान् धारक कर्मों वाले हैं (२) [**ऋतीषहम्**]=दुर्गति का पराभव करने वाले हैं (३) [**इन्द्रं**]=शत्रुओं का द्रावण करने वाले हैं (४) [**शविष्ठ**]=अत्यन्त शक्तिशाली हैं और (५) [**सत्पतिम्**]=सज्जनों के पालक हैं।

इस प्रकार के प्रभु को रथ बनाने का अभिप्राय स्पष्ट है कि हम स्वयं ऐसा बनने का प्रयत्न करते हैं। हमारे सब कर्म औरों का धारण करने वाले होते हैं—हम दुर्गति को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अपने काम-क्रोधादि को दूर भगाने के लिए

यत्नशील होते हैं, शक्तिशाली बनते हुए सज्जनों के रक्षक बनते हैं।

यहां मंत्र में 'सत्पतिम्' तथा 'ऋतीषहम्' शब्द विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं। जहां सज्जनों की रक्षा के नाश' का उल्लेख है वहां दुर्जनों के नाश की जगह 'दुर्गति का उल्लेख है। बुरे व्यक्ति को हमने नहीं मार डालना, बुराई को मारने व हटाने की कोशिश करनी है।

इस प्रकार अपने जीवन को बिताकर ही हम यात्रा को पूर्ण कर सकते हैं। यही बुद्धिमत्ता है, यही 'प्रियमेध' बनना है। यह प्रियमेध' अलिप्त रह कर आंगिरस तो बनता ही है।

भावार्थ—हम अपनी जीवन-यात्रा का रथ प्रभु को बनायें।

जिसने उस रथ को अपनाया

२ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र २ ३
स पूर्व्यो महोनां वेनः क्रतुभिरानजे। यस्य
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
द्वारा मनुः पिता देवेषु धिया आनजे ॥४॥
॥३५५॥

[**सः**]=वह प्रभु को अपनी जीवन-यात्रा का रथ बनाने वाला (१) [**महोनां**]=तेजस्वियों का [**पूर्व्यः**]=प्रथम होता है। वस्तुतः प्रभु को आधार बना कर चलने वाला व्यक्ति कभी भी भोगमार्ग की ओर नहीं जाता, परिणामतः क्षीण शक्ति भी नहीं होता और तेजस्वियों का मूर्धन्य बना रहता है। (२) [**वेनः**]=मेधावी होता है। जैसों के समीप उठते-बैठते हैं वैसी ही हमारी बुद्धि बन जाती है। सर्वज्ञ के समीप बैठने से यह मेधावी क्यों नहीं बनेगा? (३) [**क्रतुभिः**]=यज्ञों से यह अपने जीवन को [**आनजे**]=अलंकृत करता है। प्रभु की समीपता में यह उत्तम ही कर्म तो करेगा? इस प्रकार प्रभु रूप रथ में आरूढ़ होने पर इसका शरीर तेजस्वी होता है, मन यज्ञिय भावनाओं से परिपूर्ण होता है और मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से जगमगाता है। इस प्रकार इसके जीवन का ठीक परिपाक हो जाता है।

अब अपने जीवन को परिपक्व कर लेने पर इसने किसी शान्त कन्दरा में नहीं पहुंच जाना। अपितु संसार में रहते हुए ही लोगों में ज्ञान का प्रकाश करना है। यह परमेश्वर का निमित्त (agent) बनता है और वह [**मनुः**]=ज्ञान का देनेवाला सर्वज्ञ [**पिता**]=सबका रक्षक परमात्मा [**यस्य द्वारा**]=जिसके द्वार से [**देवेषु धियः**]=३३ देवों=प्रकृति शक्तियों व ३४ वें आत्मदेव विषयक ज्ञान को (विषय सप्तमी) [**आनजे**]=लोगों को प्राप्त कराता है। एवं स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति प्रभु के दूत बन कर लोगों को वह रोशनी देते हैं जोकि उन्हें प्रभु से प्राप्त होती है।

'यस्य द्वारा' ये शब्द स्पष्ट कह रहे हैं कि सब करने वाला परमात्मा ही है, ये व्यक्ति तो उसके निमित्त मात्र बना करते हैं। इस भावना को जागरित रखने से वे अहंकार से बचे रहते हैं। वे अपनी बुद्धि को प्रभु की ही विभूति के अंश के रूप में जानते हैं।

यहां मंत्र में यह भी द्रष्टव्य है कि जीवन को परिपक्व करने के लिये जो मंत्रांश है वह तीन वाक्यों से बना है और परिपाक के बाद ज्ञान फैलाने का काम एक वाक्य में कहा गया है। इस प्रकार यह संकेत हुआ है कि परिपाक में ७५ वर्ष तथा प्रचार में २५ वर्ष उपयुक्त होते हैं। मनुष्य को परिपाक के लिए तीन ध्यान करना तो प्रचार के लिये एक ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ ये तीनों ही साधना के आश्रम हैं और संन्यास अकेला प्रचार के लिए इस। प्रकार अपने जीवन को उपयुक्त करने वाला व्यक्ति ही वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता है, 'प्रगाथ' है। ऐसा बनना ही 'काण्व'=मेधावी बनना है।

भावार्थ :—हम भी प्रभु को जीवनाधार बनाकर तेजस्वी, मेधावी व यज्ञशील बनें।

यहां और वहां

२ ३ १२ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २
यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा ।
१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ र
पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥५
॥३५६॥

'शरीर रूप रथ में इन्द्रियरूप घोड़े जुते हैं' इस उपनिषद् के रूपक का मूल यही मंत्र है। [**रथेषु**] = शरीर रूप रथों में जुते हुए ये घोड़े [**यत्**] = जब [**ई**] = अवश्य [**आवहन्ति**] = सर्वथा हमें लक्ष्य की ओर ले चलते हैं, तो वहां लक्ष्य स्थान पर पहुंचाकर हमारे यश का कारण बनते हैं। 'ये घोड़े कैसे हैं?' (१) [**आशवः**] = (अश्नुते अध्वानम्) मार्ग को शीघ्रता से व्यापने वाले हैं। कर्मेन्द्रियां रूप ये घोड़े बड़े (active) चुस्त हैं, तीव्र गति से हमें लक्ष्य की ओर ले चलते हैं। (२) [**भ्राजमानाः**] = (भ्राजृ-दीप्तौ) ये दीप्त हैं चमकते हैं। ज्ञानेन्द्रियां रूप घोड़े अपने ज्ञान प्राप्ति रूप व्यापार को अच्छी तरह करते हुए इस रथ को सदा प्रकाशमय रखते हैं। दो ही प्रकार के घोड़े हैं—शीघ्रता से कार्य करने वाले व चमकने वाले। इन्हें ही कर्मेन्द्रियां व ज्ञानेन्द्रियां कहा जाता है। पहले शक्ति की वृद्धि का कारण बनते हैं तो दूसरे ज्ञान की वृद्धि का। वस्तुतः जीवन के निर्माण में ये ही दो मुख्य तत्व हैं—शक्ति और ज्ञान। ये ही 'ब्रह्म व क्षत्र' कहलाते हैं। संसार भी तो इस दृढ़ (शक्तिशाली) पृथिवी व उग्र = तेजस्वी = प्रकाशमय द्युलोक में ही समाप्त हो जाता है। यहां 'रथ' शब्द रंह धातु से बन कर, 'वहन्ति' क्रिया स्वयं तथा 'आशवः' विशेषण 'अश्व्याप्तौ' से बन कर गतिशीलता का उपदेश दे रहे हैं। ज्ञान के लिये भी तो कर्म आवश्यक है।

इस प्रकार अपनी इस जीवन यात्रा में जब हम इस सुन्दर रथ पर बैठकर उन उत्तम घोड़ों के द्वारा आगे बढ़ते हैं तो हमें चाहिये कि [**पिबन्तो मदिरं मधु**] = आनन्द के देने वाले मधु का पान करते हुए आगे बढ़ें। शहद की मक्खी फूल पर बैठती है परन्तु क्या वहां वह उसकी आलोचना करने लगती है या उसके कांटे गिनने लगती है? नहीं। उसके सारभूत रस को लेकर आगे बढ़ जाती है। न फूल की शक्ल को बिगाड़ती है, न अपना समय नष्ट करती है। परिणामतः कितने सुन्दर 'शहद' = मधु को तैयार करती है। इसी प्रकार हमें भी जिस-जिस के सम्पर्क में आयें उसके गुण को ग्रहण करते हुए आगे बढ़ चलना चाहिये। 'पिबन्तः' में पीते हुए यह continuous की भावना हमें यही तो कह रही है कि रुको नहीं। किसी को हानि पहुंचाने का तो हमें स्वप्न भी न हो। उसके दोषों को ढूंढ़ निकालना हमारे जीवन का लक्ष्य न बन जाय। मधु लेते हुए चलेंगे तो हम भी उन मधुमक्षिकाओं की तरह किसी उत्तम वस्तु का निर्माण कर पायेंगे। और ऐसा करनेवाले ही [**तत्र**] = वहां परलोक में प्रभु चरणों में लौटने पर [**श्रवांसि**] = यशों को [**कृण्वते**] = करते हैं। उनकी कीर्ति होती है। परलोक में कीर्ति ही इस प्रकार जीवन बनाने का लाभ नहीं, यहां भी यह जीवन 'मदिरम्' आनन्दमय होता है। वस्तुतः इस मनोवृत्ति वाला मनुष्य ही जीवन में आनन्द का अनुभव करता है। दोषैकदृक् तो ईर्ष्यालु असूयु बन कर बदला लेने की आयोजनाओं में ही उन्निद्र बने रहते हैं। उनको न रात चैन होती है न दिन में। सो इहलोक को आनन्दमय व परलोक को कीर्तिमय बनाने का मार्ग यही है कि हम इस अपने रथ को दृढ़ व दीप्त बनायें और सब स्थानों से गुण ग्रहण करते हुए आगे और बढ़ते चलें।

हमारे इन्द्रिय रूप अश्व श्याव (श्यैङ्-गतौ) गतिमय हों और हम 'श्यावश्व' बनें। तथा काम-क्रोध तथा लोभ से ऊपर उठ कर हम 'अ-त्रि' (आत्रेय) बनें।

भावार्थ—गुण ग्रहण करते हुए हम चलते चलें।

नर कौन है ?

१२ ३ १२ ३१र २र३ १२ १२
त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम् । इन्द्रं
३ २३ २३ १२ ३१२
विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥६॥
॥३५७॥

प्रभु कहते हैं कि [**वः**]=तुम्हारे में से [**त्यम् उ नरं**]=उस ही मनुष्य को [**गृणीषे**]=स्तुत करता हूं आदर देता हूं अर्थात् वही मेरे प्रेम का पात्र होता है जो कि :—(१) [**शवसः पतिम्**]=बल का पति है परन्तु [**अप्रहणं**]=हिंसा करने वाला नहीं है। शक्ति होते हुए हिंसा न करना यह सज्जनता का महान् लक्षण है। भर्तृहरि के शब्दों में 'शक्तिः परेषां परिपीडनाय खलस्य=दुष्ट की शक्ति दूसरे के उत्पीड़न के लिए होती है। 'अघ्नता'=हमारा सम्पर्क न हिंसा करने वाले क्षत्रियों से हो ऐसो स्वस्ति मंत्रों में प्रार्थना की गई है। 'अहिंसा' ही यम-नियमों में प्रथम स्थान में है। परन्तु निर्बल की विवशता वाली अहिंसा शोभा नहीं पाती। सबल होते हुऐ अहिंसक होना शक्ति को रक्षा के लिए विनियुक्त करना ही नर बनना है। (२) [**इन्द्रं**]=परमेश्वर्य वाला है परन्तु उसे धन का मद नहीं। अभिमान में आकर छोटी-छोटी बातों पर तैश में नहीं आ जाता। [**विश्वासाहम्**]=सब बातों को सहने वाला है नौकर से गलती हो गई, किसी ने कुछ ऊंच-नीच कह दिया तो भी विनीत बना रहता है, क्षमा की वृत्ति वाला होता है। 'अभ्युदये क्षमा'—यही तो महात्माओं का स्वभाव होता है कि संपन्नता में भी विनीत क्षमाशील बने रहते हैं। (३) ये [**विश्ववेदसम्**]=सर्वज्ञ होते हैं विश्व=सब कुछ जानने वाले होते हैं। परन्तु सर्वज्ञकल्प होते हुए भी कर्म को ये हेय नहीं समझते। [**शचिष्ठं**]=अधिक से अधिक क्रियाशील होते हैं। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'=यह ब्रह्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ क्रियावान् है। ये क्रिया को अपनी प्रतिष्ठा ज्ञान के प्रतिकूल नहीं समझते। और कर्म को भ्रमवश ज्ञान का विरोधी तत्व नहीं मानते अपितु ज्ञान को कर्म का पूरक समझते हैं चूंकि ज्ञान कर्म में पवित्रता ले आता है। यही वस्तुतः सच्चा ज्ञानी है 'बार्हस्पत्य' है। इसी का जीवन शान्ति से युक्त होता है अर्थात् यह अपने जीवन को शान्ति से युक्त करता है। इसीसे यह 'शंयु' कहलाता है।

भावार्थ—हम भी इन बातों को अपनायें—शक्तिशाली हों परन्तु शक्ति का विनियोग रक्षा में करें, सम्पन्न होकर भी विनीत बने रहें, सर्वज्ञकल्प होकर सतत क्रियाशोल हों।

मधुर भाषण व दीर्घ जीवन

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत्
॥७॥३५८॥

मैं [**अकारिणम्**]=स्तुति करता हूं। किस प्रभु की ? जो कि (१) [**दधिक्राव्णः**]=दधत् क्रामति जो धारण करता हुआ चलता है अर्थात् जिसकी प्रत्येक क्रिया धारण करने वाली है। वस्तुतः इस रूप में प्रभु की स्तुति करते हुए मुझे भी संसार में धारणात्मक ही कार्य करने चाहियें। पिछले मंत्र में अप्रहणम् शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा था कि मैं किसी को हिंसा करने वाला न बनूं। (२) [**जिष्णोः**]=मैं उस प्रभु की स्तुति करता हूं जो जिष्णु है, विनयशील है। 'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये' मैं इन्द्र हूं सो कभी पराजित नहीं होता हूं। मुझे भी प्रभु का स्मरण करते हुए सदा विजयशील बनना है, जब तक विजय न हो तब तक युद्ध में स्थिर रहना है (३) [**अश्वस्य**]=(अशूव्याप्तौ) मैं उस प्रभु को याद करता हूं जो कि सर्वव्यापक है। उस सर्वव्यापक को याद करके भी अधिक से अधिक व्यापक बनने का प्रयत्न करता हूं। मैं सबके साथ एकता को अनुभव करने की साधना करता हूं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अपना

सिद्धान्त बनाता हूं। (४) [**वाजिनः**]=शक्तिशाली प्रभु की मैं उपासना करता हूं। इस उपासना को करता हुआ मैं भी शक्तिशाली बनता हूं। एवं मेरा जीवन धारणात्मक क्रियाओं वाला, विजयशील व्यापक मनोवृत्ति वाला और शक्तिशाली बनता है।

इस प्रकार अपने जीवन को बनाकर हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे [**नः मुखा**]=हमारे मुखों को [**सुरभि करत्**]=सुगन्धित करें। हम सदा मधुर ही बोलें। यह सुभाषित रस तो ऐसा है कि इसके सामने सुधा भी भयभीत हो स्वर्ग को भाग गई, शर्करा पत्थर बन गई और द्राक्षा म्लान मुखी हो गई। मधुर भाषण के लिए ही प्रभु ने हमें भेजा है। मधुर भाषण ही हमारे संसार को मधुर बनाता है। इस मधुर भाषण से प्रभो ! [**नः**]=हमारी [**आयूंषि**]=जीवनों को [**प्र तारिषत्**]=बढ़ाइये। मधुर भाषण से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है चूंकि यह हमें शान्त रखता है।

एवं मनुष्य के कर्तव्य निम्न हैं कि—वह रचनात्मक ही कार्य करे तोड़-फोड़ के नहीं। विजयशील हो, विजय प्राप्ति तक कार्य करने वाला हो, उदार हो। शक्ति का सम्पादन करे। मीठा बोले। और इन कर्तव्यों का पालन करते हुए इसी जीवन में भवसागर को तैर जाय। इन सुन्दर गुणों को अपने में धारण करने वाला यह 'वामदेव' है। यही प्रभु का सच्चा स्तोता है इसकी सब इन्द्रियां प्रभु का गुणगान करने में लगी रहती हैं सो प्रशस्त बनी रहती हैं और इसे 'गौतम' बना देती हैं।

भावार्थ—हम भी दधिक्रावा बनें।

असुर पुरियों का विध्वंस

३ २ ३ १र २र ३ १र २र
पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥
॥८॥३५६॥

जीव तीन दीवारों वाले एक किले के अन्दर कैद है। इनको ही 'स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर, व कारण शरीर' कहा जाता है। स्थूल शरीर तो समय पाकर स्वयं ही समाप्त हो जाता है और कारण शरीर प्रकृति रूप होने से इतना व्यापक है कि वह बन्धन रूप प्रतीत नहीं होता। बीच का सूक्ष्म शरीर जो कि 'इन्द्रियों, मन और बुद्धि' से बना है वह ही जीव के बन्ध का सबसे बड़ा कारण है। 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्य (कामस्य) अधिष्ठानमुच्यते' इस गीता वाक्य के अनुसार इन्द्रियां मन और बुद्धि ही असुरों के आक्रमण से आक्रान्त होकर असुरपुरियां बन जाती हैं और जीव का बन्धनागार हो जाती हैं। जीव का कर्तव्य है कि वह इन काम-क्रोध लोभ को जीते और इस प्रकार इन असुरपुरियों का विध्वंस कर दे। जिष्णु तो इसने बनना ही है, इन पुरियों का विदारण करके ही तो ऐसा बनेगा। मंत्र में कहते हैं कि [**पुरां भिन्दुः**]=इन असुरनगरियों का भेदन करने वाला ही [**इन्द्रः**]=इन्द्र है। इन्द्र के साथ ही सब असुरों के विध्वंस का वर्णन है। इन्द्र देव सम्राट् है—असुरों का संहार करने वाला है।

इस असुर-संहार के लिए ही इसने [**युवा**]=(यु=मिश्रण, अमिश्रण) बुराई को अपने से दूर करना है और अच्छाई को अपने से जोड़ना है। 'सं मा भद्रेण पृंक्तम् विमापाप्मना पृंक्तम्'। इसके लिए यह तभी संभव होगा यदि यह [**विश्वस्य कर्मणो धर्ता**]=सबके हित के कर्मों का धारण करने वाला बनेगा। जितना-जितना स्वार्थ कम होकर परार्थ का अंश इसमें बढ़ता जायगा उतना-उतना भद्र से युक्त और अभद्र से दूर होकर युवा बनता जायगा।

भद्र से मेल व अभद्र से पार्थक्य साधन के लिये इसे [**कविः**]=क्रान्तदर्शी बनना है। चीजों के तात्विक विवेचन से ही यह दुरितों से दूर और सुवितों के समीप होगा। धर्माधर्म का विवेक ही इसके अन्दर अधर्म के प्रति वैराग्य को पैदा कर सकता है। कवि बनकर यह [**वज्री**]=निरन्तर

क्रियाशील भी बनता है। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां-वरिष्ठः'=ज्ञानियों में श्रेष्ठ क्रियावान् तो होता ही है। कवि संसार के इस तत्व को समझ लेता है कि क्रियाशीलता ही संसार है। संसार के इस तत्व को समझने वाला यह कवि [**वज्री**]=गति-शील क्यों न होगा ?

इस प्रकार तत्वज्ञान के कारण भोगमार्ग से सदा दूर रहने के कारण यह [**अमितौजाः**]=अनन्त शक्ति वाला [**अजायत**]=बनता है (अ-मित=ओजस्)। और इस अनन्त शक्ति से [**पुरुष्टुतः**]=सदा स्तुत होता है। अथवा इस अनन्त शक्ति के लिये यह सदा (पुरुस्तुतं यस्य) प्रभु की स्तुति में लगा रहता है। प्रभु से दूर होना ही तो इसे प्रकृति में फंसाकर निर्बल कर देता है।

इस प्रकार सदा प्रभु के साथ रहने वाला यह विजयी तो बनता ही है सो 'जेता' कहलाता है और सदा उत्तम इच्छाओं वाला बने रहने के कारण यह 'मधुच्छन्दस्' होता है।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि असुर पुरियों का विध्वंस करके मुक्त हो सकें।

* * *

।। ३ ।। ऋषिः—१, ३, ५ प्रियमेधः; २, १० वामदेवः; ४ मधुच्छन्दाः; ६ भरद्वाजः; ७ अत्रिः; ८ प्रस्कण्वः; ९ आप्त्यस्त्रितः ।। देवता—१ - ७ इन्द्रः; ८ उषाः; ९ विश्वेदेवाः; १० ऋक्सामौ ।।
छन्दः—अनुष्टुप् ।। स्वरः—गान्धारः ।।

सबके साथ मिलकर

१ २   ३ २ ३ १ २   ३ १ २   ३ १   २   ३   १
प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं वन्दद्वीरायेन्दवे । धिया
२   ३ १ २   ३   २ ३   १   २
वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ।।१।।३६०।।

प्रियमेध आंगिरस उस प्रभु की [**प्र प्र विवासति**]=खूब ही स्तुति करता है जो कि [**वः**]=तुम्हारे [**त्रिष्टुभम्**]=तीनों दुःखों को समाप्त करने वाला है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक सभी सन्तापों का हरण करता है। अथवा जो प्रभु तीनों काम, क्रोध व लोभ को रोक देता है। उस प्रभु की स्तुति करता है जो कि [**इषम्**]=निरन्तर प्रेरणा देने वाला है। वह प्रभु हृदयस्थ होकर सदा सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करते ही हैं।

'प्रियमेध' इस त्रिविध दुःखों व वासनाओं के हरने वाले व निरन्तर धर्म की प्रेरणा देने वाले प्रभु की उपासना इसलिये करता है कि :—(१) [**वन्दद्वीराय**]=सदा स्तुत्य शक्ति की प्राप्ति के लिये अर्थात् 'उसे यशस्वी बल प्राप्त हो' इस भावना से वह प्रभु की आराधना करता है। प्रभु का उपासक जहां प्राकृतिक भोगों में न फंसने से शक्ति का लाभ करता है, वहां वह सभी के साथ बन्धुत्व को अनुभव करता हुवा, उस बल का रक्षण में विनियोग करता हुवा, स्तुति का भी पात्र होता है। उसका बल स्तुत्य होता है। यह वन्दद्वीर बनता है—अभिवादनीय व स्तुत्य वीर होता है। (२) [**इन्दवे**]=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये। अवम ऐश्वर्य तो–धनधान्य तो—प्रकृति के उपासक भी आसानी से प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु ज्ञान व भक्ति आदि का उत्कृष्ट ऐश्वर्य तो प्रभु से ही प्राप्त होता है। (३) [**धिया**]=बुद्धि के द्वारा [**वः**]=तुम सबके [**मेधसातये**]=(मेधृ संगमे) मिलकर सेवन के लिये (साति=संभजन=सेवन)। प्रभु का उपासक एक व्यापक कुटुम्ब की भावना को अपनाने के कारण अकेला खा ही नहीं पाता। उसका सिद्धान्त 'केवलाघो भवति केवलादी' का होता है। वह अकेला खाने को पाप मानता है। (३) और अन्त में [**पुरन्ध्या**]=वह पालक व पूरक बुद्धि के लिये प्रभु की उपासना करता है। संसार में विचारशील पुरुष उपनिषदों के इस तत्व को तो समझ लेता है कि सुखी वही है जिसने कि

"नैराश्यमवलम्बितम्"=निराशा को अपनायां है। वस्तुतः संसार में आशाओं से चलना दुःख का कारण तो है ही। निराशा की प्रथमावस्था मनुष्य को सन्मार्ग पर ले चलती है, संसार में फंसने नहीं देती—संसार को ही उद्देश्य नहीं बनने देती। निराशा की प्रबलता भोगों में फंसा देती है—मनुष्य सदा नशे में रहना चाहता है। इसी निराशा को अत्यन्त प्रबलता Suicide=आत्मघात की ओर ले जाती है। प्रभु का उपासक निराशा की प्रथमावस्था में रहता हुवा सदा पालक बुद्धि को अपनाता है। वह घात पात करके अपने राज्य सुखों व भोगों को बढ़ाने की फिक्र नहीं करता।

एवं यह प्रभु का उपासक सांसारिक भोगों का शौकीन न हो 'प्रियमेध'=बुद्धि व ज्ञान को प्रिय वस्तु समझने वाला होता है। अ-विनष्ट-शक्ति होने से 'आंगिरस' तो होता ही है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनकर स्तुत्य बल वाले, ज्ञानरूप परमैश्वर्य वाले, सबके साथ मिलकर खाने वाले और पालक बुद्धि वाले बनें।

मुक्तात्मा व परमात्मा

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य ॥२॥
॥३६१॥

जो व्यक्ति क्रान्तदर्शी बनकर वस्तुओं के तत्व को देखता है यह 'पश्यक' होता हुवा 'कश्यप' कहलाता है। यह कश्यप आपात रमणीय विषयों में फंसता नहीं—यह उनकी पर्यन्त-परितापिता को भी तो देखता है। यह जीता हुवा भी, विषयों में विचरता हुवा भी, उनमें आसक्त न होने से मुक्त होता है और जीवन्मुक्त कहलाता है। इसके अतिरिक्त प्रभु तो सदा अपने देदीप्यमान रूप में ही विद्यमान हैं सो वे प्रभु 'स्वर्विद्' हैं। (स्वर्=to radiate) उस प्रभु से ही प्रकाश चारों ओर फैल रहा है 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' [**धीराः**]=धीर, ज्ञानी पुरुष [**कश्यपस्य**]=मुक्तात्मा के और [**स्वर्विदः**]=इस सदा देदीप्यमान रूप में अवस्थित प्रभु के [**ययोः**]=इन दोनों के [**विश्वम् अपि**]=सब ही [**व्रतम्**]=नियमों को तथा [**यज्ञं**]=लोकहित के लिये किये जाते हुए कर्मों को [**निचाय्य**]=सम्यक्तया विवेचन करके [**यौ**]=इन दोनों को [**आहुः**]=कहते हैं हैं कि [**सयुजो इति**]=ये तो समुज् हैं—एक ही श्रेणी में स्थित हैं। प्रभु सर्वज्ञ हैं तो यह कश्यप भी 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्'=सूर्य नाड़ी में संयम करके सब भुवनों के ज्ञान को प्राप्त करने वाला बना है। प्रभु अन्तर्यामी हैं, यह भी दूसरों के हृदय को बातों को जान लेता है। प्रभु ईश हैं, यह भी सब भूतों का ईश्वर बना है—उनमें फंसता नहीं। जल के भी तो ऊपर आराम से चल सकता है। अणिमादि अष्टसिद्धियों को प्राप्त करके यह परमेश्वर जैसा ही तो बन गया है। प्रभु के सयुज् होने से इसे सायुज्य मुक्ति प्राप्त हो गई है। हां, यह ठीक है कि यह 'जगद् व्यापारवर्जम्'=नयो दुनियां की सृष्टि नहीं कर सकता। इसका बाकी सब ऐश्वर्य तो परमात्मा के बराबर ही है।

इस मुक्तात्मा का निजू जीवन व्रतमय होता है—नियमों में चलता है और अतएव शुद्ध बना रहता है। इसके अतिरिक्त इसका सामाजिक जीवन यज्ञमय होता है। यह सदा लोकहित में प्रवृत्त रहता है। परमात्मा तो पूर्ण व्रती अतएव पूर्ण शुद्ध हैं और यज्ञरूप ही हैं। यह जीवन्मुक्त परमात्मा का ही एक छोटा रूप होता है। परिमाण में अन्तर होते हुए भी यह गुणों में प्रभु जैसा ही होता है।

सब सुन्दर ही सुन्दर गुणों वाला होने के कारण यह 'वाम-देव' है। इसकी सब इन्द्रियां प्रशस्त हैं, सो यह 'गौतम' है।

भावार्थ—हम भी इस स्वर्विद प्रभु के साथी कश्यप बनें।

पञ्चायतन पूजा

१ २ ३   १   २   ३ १ २   ३ १ २
अर्चत प्रार्चता नरः प्रियमेधासो अर्चत ।
१ २   ३ २ ३ २उ ३ २   ३क २र
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्णवर्चत ।।३।।
।।३६२।।

प्रस्तुत मंत्र में गतमंत्र के मुक्तात्मा के बनने के साधन का उल्लेख है। 'अर्च पूजायाम्' धातु से बनी क्रिया का इस मंत्र में ५ बार प्रयोग उस पूजा का संकेत कर रहा है। [**नरः**]=ऐ आगे बढ़ने की वृत्ति वाले व्यक्तियो ? [**प्रियमेधासः**]=जिन्हें बुद्धि प्रिय है ऐसे व्यक्तियो ? [**अर्चत**]=पूजा करो। पूजा का क्रम निम्न है :—

(१) [**अर्चत**]=पूजा करो, आदर करो। 'मातृदेवोभव' इस उपनिषद् वाक्य को अपने जीवन में मूर्त रूप दो। यदि दौर्भाग्य वश माता उत्तम शिक्षित न हो अथवा पुत्र माता का कहना मानने वाला न हो तो उसके मौलिक चरित्र में ही कुछ कमी रह जाती है। चरित्र का निर्माण मातृ कृपा से ही होता है।

(२) [**प्रार्चता**]=खूब आदर करो। पिताजी जिस प्रकार निर्देश करें उसी प्रकार सभा-समाजों में अपने उठने-बैठने का ध्यान करो। इन निर्देशों की अवहेलना से हम अपने जीवनों में शिष्ट न बन पायेंगे। हम कुछ ill-mannered (अशिष्ट) से अभद्र से बने रहेंगे।

(३) इसके बाद हम [**अर्चत**]=आचार्यों का आदर करें। हम उनको उचित आदर देकर उनके प्रिय बनाते हैं और ऊंचे से ऊंचे ज्ञान को प्राप्त करने वाले होते हैं। द्रोणाचार्य का आदर जैसे अर्जुन ने किया वैसे भीम ने नहीं। परिणामतः भीम उतना उत्तम धनुर्धर न बन पाया जितना कि अर्जुन। विश्वामित्र का आदर लक्ष्मण ने उतना नहीं किया जितना कि राम ने; इसीलिये बला और अतिबला विद्याओं को राम ने जैसे सीखा वैसे लक्ष्मण ने नहीं।

(४) [**उत**]=अब गृहस्थ में आने पर विद्वान् अतिथियों के [**पुत्रकाः**]=पुत्र तुल्य ये गृहस्थी [**अर्चन्तु**]=उन व्रती विद्वानों का आदर करें। उनका आदर करने से घर स्वर्गतुल्य बना रहता है। परस्पर वैमनस्य उत्पन्न नहीं होता और जीवन में माधुर्य विद्यमान रहता है। यही जीवन रूप चित्र का finishing touch है। इस अर्चन से कुलधर्म नष्ट नहीं होते।

(५) इन सब पूजाओं के अतिरिक्त [**इत्**]= निश्चय से [**पुरं**]=उस पूरण करने वाले सब प्रकार की न्यूनताओं को दूर करने वाले [**धृष्णु**] =सब काम, क्रोध, लोभ आदि की वासनाओं का धर्षण करने वाले प्रभु की [**अर्चत**]=उपासना करो। इस प्रभु की उपासना के अभाव में हम भद्र होते हुए भी अभद्र से रह जाते हैं- हम काम से ऊपर नहीं उठ पाते। यह काम हमारे जीवन को कुछ अन्धकारमय अशक्त व उत्साह शून्य बना देता है।

'प्रियमेध आंगिरस' तो वही बन सकता है जो कि ५ वर्ष तक माता, ८ वर्ष तक पिता, २५ वर्ष तक आचार्य, ५० वर्ष तक अतिथियों व अग्रिम जीवन में प्रभु के निर्देशों के अनुसार जीवन को बिताने का ध्यान करे।

मातृअर्चन से चरित्र, पितृ अर्चन से शिष्टाचार, आचार्यार्चन से बुद्धि व ज्ञान, अतिथि अर्चन से कुलधर्म का और अविनाश प्रभु अर्चन से पालन पूरण तथा वासना धर्षण सिद्ध होता है।

भावार्थ—पंचायतन पूजा हमारे जीवन को सर्वांग सम्पूर्ण बनाने वाली हो।

सख्य–भाव (पांचवें आयतन की पूजा)

३ १र   १र ३ २ ३ १ २   ३ १ २ ३ १र
उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे । शक्रो
२र   ३ १ २   ३ १ २ ३ १ २
यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च ।।४।।
।।३६३।।

[**उक्थम्**]=स्तोत्र या स्तुतिवचन [**इन्द्राय**]

=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये [**शंस्यम्**]=उच्चारण करना चाहिये। चूंकि यह उक्थ सब प्रकार से [**वर्धनम्**]=हमारी वृद्धि का करने वाला है। ये प्रभु के स्तोत्र हमें विषय-वासनाओं से बचाकर हमारी शारीरिक शक्ति को ठीक रखते हैं, परस्पर बन्धुत्व अनुभव कराने से हमारे मनों को रागद्वेष शून्य करते हैं और साथ ही विषय वासनाओं व रागद्वेष के अभाव में हमारा मस्तिष्क ठीक कार्य करता है। इस प्रकार ये प्रभु के स्तोत्र हमारी शारीरिक शक्ति को, हमारे मानस नैर्मल्य को व हमारे मस्तिष्क की उज्ज्वलता को बढ़ाकर सब प्रकार से हमारा वर्धन करते हैं।

हमें उस प्रभु की स्तुति करनी चाहिये जो कि [**पुरुनिःषिधे**]=पुरु-पालक और पूरक हैं तथा हमारे पर आक्रमण करने वाली सब असुर वृत्तियों का संहार करने वाले हैं। [**शक्रः**]=(शक्नोति) करने का सामर्थ्य तो सब उस प्रभु में ही है। हमें चाहिये कि हम सदा स्तोत्रों के द्वारा उस प्रभु के सम्पर्क में रहें ताकि उस प्रभु का सामर्थ्य नैर्मल्य व ज्ञान हमारे में भी प्रवाहित हो। विद्यार्थी को ज्ञानी बनाने का सामर्थ्य तो आचार्य में ही है, परंतु आचार्य की समीपता में रहना विद्यार्थी का भी तो कर्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार जीव प्रभु का समीपता से ही शक्ति सम्पन्न, निर्मल व ज्ञानी बनेगा।

हमें चाहिये कि हम अपने जीवनों को ऐसा बनायें कि [**यथा**]=जिससे वे प्रभु [**नः**]=हमारे [**सुतेषु**]=शक्ति के उत्पादन के कार्यों में तथा लोकहित के लिए किये जाते हुए किन्हीं भी निर्माणात्मक कार्यों में [**च**]=और [**सख्येषु**]=प्रभु के साथ मित्रत्व के स्थापन में [**रारणत**]=(खूब ही) अत्यन्त प्रसन्न हों (रण्=to rejoice)। 'यः प्रीणयेत् सुचरितैः पितरं स पुत्रः'=जो सुचरितों से पिता को प्रसन्न करे वही तो पुत्र है। हम भी अपने को शक्ति सम्पन्न बनाते हुए, निर्माणात्मक कार्यों में लगते हुए, तथा उस प्रभु को ही अनन्य मित्र समझते हुए उनको प्रसन्न करने वाले बनें। 'प्रभु की मित्रता' से ऊंची मनुष्य की स्थिति नहीं हो सकती। इस स्थिति में हमारे मनों में किसी प्रकार की अशुभ इच्छाओं के आने का संभव नहीं। हम 'मधुच्छन्दाः'=मधुर इच्छाओं वाले होंगे। 'वैश्वामित्रः=सभी के हित चाहने वाले होंगे।

भावार्थ—मैं प्रभु के प्रति अपने सख्य भाव को दृढ़ करने वाला बनूं।

मैं प्रभु का सखा बनूँ। प्रभु को प्राप्त करने वाला बनूं। पर यह भी तो प्रभु कृपा से ही होता है। 'यमेवैष वृणु तेन लभ्यः'=प्रभु हमें वरेंगे तो हम प्रभु को प्राप्त करने वाले बनेंगे। 'प्रभु किसे वरते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मंत्र में है।

प्रभु किसे वरते (पुकारते) हैं

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १२
विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
१२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥५॥
॥३६४॥

एक पिता उस लड़के को, जो कि प्रथम विभाग में उत्तीर्ण होता है, अपने समीप बुलाकर शाबाश देते हैं, ठीक इसी प्रकार हम सब जीवों में से भी कोई योग्य ही प्रभु से अपने समीप पुकारा जाता है। प्रभु कहते हैं कि [**वः**]=तुम्हारे में से [**हुवे**]=मैं उसे पुकारता हूं जो कि :—

(१) [**शवसः**]=शक्ति का [**पतिम्**]=पति है। कैसी शक्ति का? (क) [**विश्वानरस्य**]=सबको आगे ले चलने वाली का। जिस शक्ति का विनियोग सबकी उन्नति के लिये होता है। (ख) [**अनानतस्य**]=जो दबना नहीं जानती। दबाव में आकर किया गया कर्म कभी ठीक नहीं होता। भद्र कर्म का पहला लक्षण यही है कि 'अदब्धासः'=जो दब कर नहीं किये गये। आचार्य के शब्दों में मनुष्य ही वह है जो न दबे न दबाये। आचार्य का प्रिय वाक्य यही तो था "निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः"=न हम स्तुति-निन्दा से दवें न धन व निर्धनता से और ना ही जीवन-मरण से। प्रभु का प्रिय वही बनता है जो कि 'सबकी उन्नति की साधक तथा न दबने वाली शक्ति का पति बनता है।'

(२) प्रभु [**चर्षणीनां**]=(चर्षणि=कर्षणि) कृषि करने वालों की अर्थात् उत्पादक श्रम करने वालों की [**एवैः**]=गतियों से, क्रियाओं से हमें अपने समीप पुकारते हैं। प्रभु के प्रिय हम तब बनते हैं जबकि हम सदा गतिशील होते हैं और हमारी सारी गति निर्माण में व्यय होती है।

(३) प्रभु के प्रिय बनने का तीसरा साधन [**रथानाम् ऊती**]=शब्दों से कहा गया है। शरीर रूप रथों के रक्षण से प्रभु हमें अपने समीप पुकारते हैं। इस शरीर रूपी रथ के रक्षण के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात 'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा' इस गीता श्लोक में कही गई है कि हमारी सब क्रियायें 'खाना, पीना, सोना, जागना' आदि मपी-तुली हों। तथा साथ ही 'मनः प्रसादः' इस सर्वोच्च तप का ध्यान करते हैं हम सदा सब स्थितियों में संतुष्ट रहें। प्रभु की दी हुई यह चादर बिना फाड़े-फूड़े व मैला किये लौटायेंगे तभी तो प्रभु के प्रिय हो सकेंगे।

उल्लिखित तीन बातें हमें प्रभु का प्रिय बनायेंगी। शक्ति, गति व स्वास्थ्य को स्थिर रखने वाला यह व्यक्ति 'आंगिरस' तो है ही, परन्तु यह ऐसा बन तभी पाया है चूँकि 'प्रियमेध' है।

भावार्थ—शक्ति, गति, व स्वास्थ्य का ध्यान करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें।

प्रभु का कौन है ? जो द्वेष से दूर है

२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्त्तस्य शमतः।
३ १र २र ३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति॥
॥६॥३६५॥

[**सः**]=वह [**नरः**]=मनुष्य [**यः**]=जो [**द्विषः**]=द्वेष की भावनाओं से (द्वेषणं द्विट्) [**अंहो न**]=पापों की तरह अर्थात् इनको बड़ा भारी पाप समझता हुआ [**तरति**] तैर जाता है, [**घा**]=निश्चय से [**दिवः ते**]=ज्ञान स्वरूप आपका है। 'हम प्रभु से अपने समीप पुकारे जांय', यह तभी होगा जबकि हम द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठेंगे। यह द्वेष की भावना से ऊपर उठने वाला व्यक्ति ही नरः=नर है, अपने को आगे प्राप्त कराने वाला है। द्वेष त्यागे बिना आगे बढ़ने का संभव नहीं। यह नर [**धिया**]=बुद्धि से समझदारी से हमेशा द्वेषों से दूर रहने का प्रयत्न करता है चूँकि इनमें उलझने से बढ़कर मूर्खता क्या? इनसे चित्त सदा अशान्त रहता है, मनुष्य अन्दर सड़ता रहता है और कभी-कभी कुछ क्षणों के लिए बदला ले सकने पर कुछ प्रसन्नता का अनुभव करता है। पर कितनी देर तक? वह द्वेष की भावना किसी और रूप में फिर प्रबल हो उठती है और वही अशान्ति फिर से अनुभव होने लगती है। यह समझदारी से चलने वाला मनुष्य इसलिए द्वेषों से ऊपर उठता है कि :—

(१) [**मर्तस्य शमतः**]=इस मर्त को मरणधर्मा मनुष्य को भी कुछ शान्ति प्राप्त हो सके। शम-तः=शम के दृष्टिकोण से। द्वेष से नहीं दूर होगा तो उन भावनाओं में सदा झुलसता रहेगा। द्वेष से ऊपर उठा और शान्ति का अनुभव हुआ।

(२) [**ऊती**]=यह समझदारी से चलनेवाला मनुष्य इसलिये भी द्वेष से ऊपर उठता है कि इससे ऊपर उठ कर ही वह अपने शरीर की रक्षा कर पायेगा। जैसे एंजिन बहुत गर्म होकर फट पड़ता है, उसी प्रकार द्वेषाग्नि में मनुष्य का शरीर रूप रथ भी जल जाता है। 'उस समय मनुष्य का रक्तचाप बढ़ जाना, स्नायु संस्थान का विकृत हो जाना' आदि कितने ही रोगों से पीड़ित हो जाता है।

(३) [**सः**]=वह [**बृहतः**]=वृद्धि के कारण-

भूत [**दिवः**]=प्रकाश के दृष्टिकोण से द्वेषों से ऊपर उठता है। द्वेष की भावनायें मनुष्य के मस्तिष्क को चकराये रखती हैं। यह द्वेष में डूबा हुआ मनुष्य कभी स्वस्थ विचार वाला नहीं होता।

भावार्थ—इस प्रकार यदि हम द्वेष से ऊपर उठेंगे तो (क) परमेश्वर के प्रिय बनेंगे (ख) हमारे मन शान्त होंगे (ग) हमारे शरीर स्वस्थ होंगे (घ) और हमारा मस्तिष्क सदा सुलझा हुआ होगा।

विश्व की नागरिकता (world citizenship)

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो।
१ २ ३ १ २
अथा नो विश्वचर्षणे द्युम्नं सुदत्र मंहय ॥७॥
३६६॥

गत मंत्र की भावना के अनुसार जो व्यक्ति द्वेष से ऊपर उठ जाता है उसका दृष्टिकोण व्यापक और व्यापक होता जाता है। वह समाज, नगर, प्रान्त व देश की भावनाओं से ऊपर उठ कर 'भौमः'=सारी भूमि का, सारे विश्व का चर्षणि=मनुष्य (विश्व चर्षणि) बनने का प्रयत्न करता है। वेद तो हमें अग्निहोत्र के द्वारा अन्य लोकों के प्राणियों के साथ भी बांट कर खाने का संकेत करता है। अग्निकुण्ड में डाली हुई आहुति तो सूर्य तक पहुंचती है 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते।' परन्तु उन लोकों से अभी हम सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते, तो भी हमें 'भौम' तो बनने का प्रयत्न करना ही चाहिये। मंत्र में इसी उद्देश्य से प्रार्थना है कि ऐ [**इंद्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो! [**विभोः ते**]=सर्व व्यापक आपकी [**राधसः**]=सम्यक् सिद्धि के उत्तम कार्यों की सिद्धि के साधनभूत धन की [**रातिः**]=दान भी [**विभ्वी**]=व्यापक है। उस दान के द्वारा आप ही ऐ प्रभो [**शतक्रतो**]=सैकड़ों यज्ञिय कर्मों के करने वाले हैं। वस्तुतः धन का प्रथम पति प्रभु ही है (इन्द्र) धन हमारा है ही नहीं। उस प्रभु के धन को प्रभु के प्राणियों को देते हुए हमें संकोच ही क्यों हो? यह धन उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिए ही दिया गया है (राध=संसिद्धि)। उसका विनियोग हमें सदा उत्तम कार्यों में करते रहना चाहिये। परन्तु उन कार्यों का कभी गर्व नहीं करना, चूंकि वस्तुतः शतशः कार्यों के करने वाले तो वे प्रभु ही हैं, मैं तो उनका निमित्तमात्र हूं [**शतक्रतो**]=हमारा दान देश-जाति के बन्धनों से ऊपर उठकर हो तो अच्छा है (विभ्वी रातिः)।

[**अथा**]=और [**विश्वचर्षणे**]=ऐ विश्व के नागरिक प्रभो! आप किसी देश विशेष व जाति विशेष के हों ऐसी बात तो है ही नहीं। मैं भी आपकी स्तुति करता हुआ ऐसा ही बनूं। [**सुदत्र**]=ऐ उत्तम (सु) दान (द) से रक्षा (त्र) करने वाले प्रभो! आपका दान कितना सात्विक है। उस दान में स्वार्थसाधना का लवलेश भी नहीं। ऐ प्रभो! [**नः**]=हमें भी [**द्युम्नं**]=उस धन को जिसने कि हमें पागल ही नहीं बना दिया है जिसके कारण हमारे मस्तिष्कों की द्युति नष्ट नहीं हो गई है, [**मंहय**]=देने की प्रेरणा दीजिये। हम भी आपसे प्रेरणा प्राप्त करके धन के देने वाले बनें।

राष्ट्र में राजा का भी कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र के लोगों को दान देने के लिए प्रेरित करे (दापयेत्)। यहां प्रभु से हम यही प्रार्थना करते हैं कि प्रभु हमारे से दान दिलाते ही रहें। यह देना (दा=देना) मेरी बुराइयों को नष्ट करेगा (दा=काटना) और मेरे जीवन को शुद्ध बनायेगा (दा=शोधन) शुद्ध होकर मैं त्रिविध कष्टों से ऊपर उठ कर इस मंत्र का ऋषि 'अत्रि' बनूँगा। 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़कर मैं 'भौम' बन जाऊंगा।

भावार्थ—द्वेष से ऊपर उठ कर मैं व्यापक दान की वृत्ति को अपनाने वाला बनूं।

नियमित जीवन

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि।
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥८॥
३६७॥

हम द्वेष से ऊपर उठकर शुभवृत्तिवाले बनें। इस शुभवृत्ति के लिए स्वस्थ शरीर की नितान्त आवश्यकता है। स्वस्थ शरीर में हो स्वस्थ मन रहता है। इस शरीर से स्वास्थ्य के लिए सबसे अधिक आवश्यक बात नियमित जीवन की है, उसीका उल्लेख प्रस्तुत मंत्र में है। कहते हैं कि ऐ [**उषः**]=ऐ उषाकाल—(उषदाहे) सब अन्धकार को जला देने वाले प्रभात समय! तू [अर्जुनि]=श्वेत है, धवल है। प्रकाश से तू जगमगाती है। [**वयः**]=(way) अपने नियमित मार्ग पर चलने वाले [**पतत्रिणः**]=सदा गतिशील (पत् गतौ) ये [**द्विपात् चतुष्पात्**]=पशु-पक्षी [**चित्**]=भी [**ते**]=तेरे प्रादुर्भाव के होने पर [**प्रारन्**]=प्रकर्षेण गतिमय हो जाते हैं। अपने-अपने घोंसले व गोष्ठों को छोड़कर आजीविका के अर्जन के लिए चल देते हैं। ये सदा एक नियमित गति से चलते हैं, प्रकाश में अपना कार्य करते हैं, अन्धकार होने पर सो रहते हैं। इनके सब प्राकृतिक कार्य बड़े नियमित होते हैं। इसी का परिणाम है कि ये स्वस्थ-शरीर रहते हैं। हमें भी इनसे शिक्षा लेते हुए इन अपने प्राकृतिक कार्यों को बड़ी नियमित गति से करना है। [**ऋतून् अनु**]=ऋतुओं के अनुसार ऋतुभेद से हमारे उठने व सोने के समय में, भोजन के पदार्थों में, स्नान आदि की प्रक्रिया में कुछ भेद अवश्य होगा। परन्तु उस भेद में भी नियमित गति तो दीखेगी ही। [**दिवो अन्तेभ्यः परि**]=हम द्युलोक के परले सिरे पर हों तो भी हमारा यह दैनिकचर्या का क्रम तो ठीक चलना ही चाहिये। कहीं भी हों इस समय पर कार्य करने के प्रसंग को हम पूरा करें ही। यह नियमित गति हमें स्वस्थ बनाकर स्वस्थ मन वाला भी बनायेगी। बुद्धिमत्ता इसी मार्ग को अपनाने में है। जो अपनाते हैं वे 'प्रस्कण्व' मेधावी हैं। इस मार्ग पर चलना भी तो मेधा को बढ़ाने का साधन है।

भावार्थ—मैं अपने शरीर धर्मों में ऋतुओं के अनुसार नियम से चलने वाला बनूँ।

ऋत, अमृत, आहुति

३ १र   २र ३   २ ३ २ ३   १   २ ३ २ ३ २
अमी ये देवा स्थन मध्य आ रोचने दिवः।
१ २ ३ २उ   ३ २ ३   २   ३   २ ३ १ २
कद्व ऋतं कदमृतं का प्रत्ना व आहुतिः॥
॥९॥३६८॥

गत मंत्र में नियमित जीवन=ऋत का उल्लेख हुआ था। इस मंत्र में ऋत के साथ दो अगली सीढ़ियों का भी उल्लेख करते हैं, जिनसे कि हम द्युलोक का आरोहण करके देव बन जायेंगे। असुर्य लोकों से ऊपर उठ कर हम मनुष्य बने हैं। अब इस पृथ्वी लोक से भी ऊपर उठकर हमें अन्तरिक्ष-लोक वासी देवयोनियों में पहुंचना है, और वहां से ऊपर उठ कर द्युलोक के देव बनना है। उन द्युलोक के देवों को सम्बोधन करते हुए इस मंत्र का ऋषि त्रित, जिसने कि असुर्य-मानव व देवयोनि इन तीनों लोकों को तैर जाना है (त्रि+तॄ+ड) और इन्हें तैर कर जो देवलोक को प्राप्त करने वालों में श्रेष्ठ 'आप्त्य' बनेगा (आप्त+य), देवों से कहता है कि [**अमी ये देवाः**]=वे जो देव [**दिवः**]=द्युलोक के [**आरोचने मध्ये**]=समन्तात् दीप्त मध्यभाग में [**स्थन**]=हो [**वः**]=तुम्हारा [**कत्**]=शिरः स्थान में अथवा सुखमय स्थिति में पहुंचाने वाला [**ऋतम्**]=ऋत ही तो है, [**कत्**]=उसी प्रकार तुम्हारी उच्च स्थिति करने वाला अथवा सुखी बनाने वाला [**अमृतम्**]=अमृत ही तो है। और अन्त में [**वः**]=आपकी [**प्रत्ना**]=प्राचीन होते हुए भी नवीन अर्थात् निरन्तर चलने वाली [**आहुति**]=प्राजापात्य यज्ञ में सर्व वेदस की आहुति [**का**]=आपको शिखर पर पहुंचाकर स्वर्ग प्राप्त कराने वाली हुई है।

(१) 'ऋत' का अभिप्राय नियमित जीवन है यह युक्ताहारविहार वाला नियमित जीवन हमें पृथ्वी लोक के विजय के योग्य बनाता है। ऋत का पालन करके हम इस पृथ्वी लोक पर जहां उन्नत

होते हैं वहां सुखी जीवन वाले भी होते हैं।

(२) अमृतम् का अभिप्राय है 'यज्ञशेष' (यज्ञशेषं तथामृतम्)। पञ्चयज्ञ करके बचे हुए का सेवन करने वाले हम अन्तरिक्षलोक का विजय करते हैं। हमारा जन्म किसी अन्तरिक्ष के पिण्ड में होता है। 'अपंचयज्ञो मलिम्लुचः'=पंचयज्ञ न करके हम चोर होते हैं—अन्तरिक्ष लोक में पहुंचने का तो प्रश्न ही क्या ?

(३) अन्त में प्राजापत्य यज्ञ में सम्पूर्ण धन की आहुति देकर हम 'देवलोक' में पहुंचने के अधिकारी बनते हैं। सूर्य मंडल का भेदन करने वाला यही सन्यासी होता है।

उल्लिखित प्रकार से 'ऋत, अमृत, आहुति' एक सीढ़ी बन जाती है जो कि हमें ऊपर और जाने में समर्थ करती है।

भावार्थ :—मेरा जीवन 'ऋत का पालन करे, अमृत का सेवन करे और आहुति का देने वाला हो।'

विद्या+श्रद्धा

२ ३ १ २   ३ २ ३ १ २   ३ १ २
ऋचं साम यजावहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।
१र   २र   ३ २ ३ १ २
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः ॥१०॥
३६९॥

हम अपने जीवनों में [**ऋचं**]=विज्ञान को और [**साम**]=भक्ति व उपासना को [**यजामहे**]=संगत कर देते हैं मैं मस्तिष्क को यदि ज्ञान से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करता हूं तो हृदय को भक्ति की भावना से भरने के लिए यत्नशील होता हूं। अथर्व के 'मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्' इस उपदेश के अनुसार मस्तिष्क व हृदय को सी देने का प्रयत्न करता हूं। जैसे सामवेद ऋग्वेद में समा सा गया है उसी प्रकार मैं अपने ज्ञान में श्रद्धा का समावेश करता हूं। श्रद्धाशून्य ज्ञान अणुविस्फोटकों को ही तो तैयार करता है और ज्ञानशून्य श्रद्धा तो बिलकुल अन्धी ही है। उसी अत्यन्त संकुचित हृदय वाली भक्ति ने ही इतिहास के पृष्ठों को खून से रंगा है। सो मैं ज्ञान और श्रद्धा दोनों को मिला देता हूं। ज्ञान शक्ति है, जिसे कि भक्ति क्रिया में परिणत कर दिया करती है। इस प्रकार [**याभ्यां**]=जिस ज्ञान और भक्ति से [**कर्माणि**]=कर्मों को [**कृण्वते**]=करते हैं उन ज्ञान और भक्ति को मैं अपने जीवन में संगत कर देता हूं।

[**ते**]=ये दोनों मिले हुए ही [**सदसि**]=सभा में अथवा जीव के निवास स्थान भूत इस शरीर में [**विराजतः**]=विशेष दीप्ति (शोभा) वाले होते हैं। अकेला ज्ञानी शोभा वाला नहीं लगता—वह ब्रह्म राक्षस सा प्रतीत होता है और अकेला भक्त तो कभी शोभा पाता ही नहीं।

ये ज्ञान और श्रद्धा मिल करके [**देवेषु**]=विद्वानों में [**यज्ञं**]=उत्तम कर्मों को [**वक्षतः**]=कराते हैं। 'यदेव श्रद्धया विद्यया क्रियते तदेव वीर्यवत्तरं भवति'=उपनिषद् के इन वचनों के अनुसार श्रद्धा और ज्ञान के समन्वय से ही इनमें बड़े उत्तम दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है और ये 'वामदेव' बनते हैं—प्रशस्त इन्द्रियों वाले बन कर 'गौतम' बनते हैं।

भावार्थ :—हमारे जीवनों में श्रद्धा और विद्या का समन्वय हो।

* * *

।। ४ ।। ऋषिः—१ रेभः; २ सुवेदाः शैलूषिः; ३ वामदेवः; ४, ७, ८ सव्य आङ्गिरसः; ५ विश्वामित्रः; ६ कृष्ण आङ्गिरसः ९ भरद्वाजः; १० मेधातिथिः; ११ कुत्सः ।। देवता—१—८, १०, ११ इन्द्रः; ९ द्यावापृथिवी ।। छन्दः—१—९, ११ जगती; १० महापङ्क्तिः ।। स्वरः—निषादः ।।

The Strong Swift Ship

दृढ़ तीव्रगतिवाली नौका

२ ३ १२ ३ १२३१२३१ २ ३१२
विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्ततक्षुरिंद्रं
३१२ ३१२ २३ १२ ३२३१२
जजनुश्च राजसे । क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरी-
३ १२ २२ ३१२ ३१ २
मुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥१॥३७०॥

पिछले मंत्र में 'विद्या+श्रद्धा' का उल्लेख था। इस मंत्र का ऋषि उन दोनों तत्वों का मेल करने वाला रेभ। (श्रद्धा)=स्तोता काश्यप (विद्या)=ज्ञानी है। यही गीता का 'ज्ञानी भक्त' है जो प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है। यह कहता है कि [**नरः**]=अपने को आगे ले चलने वाले मनुष्यो [**विश्वाः पृतनाः**]=सब संग्रामों में शत्रुओं को [**अभिभूतरम्**]=अत्यधिक कुचल डालने वाले [**इन्द्रं**]=उस सर्वशक्तिमान प्रभु को [**सजूः**]=आपस में मिलकर प्रीतिपूर्वक [**ततक्षुः**]=बनाओ। सृष्टि के तत्वों का विचार करते हुए उस प्रभु का कुछ विचार अपने अन्दर उत्पन्न करो। [**च**]=और उसकी सत्ता का विचार बनाकर उस विचार को [**जजनुः**]=प्रादुर्भूत करो—विकसित करो ताकि [**राजसे**]=तुम्हें दीप्ति प्राप्त हो। जिस समय प्रभु की सत्ता व महिमा का विचार हमारे हृदयों में पुष्पित होता है तो उस समय एक दीप्ति का अनुभव होता है—इस दीप्ति से इस स्तोता का चेहरा भी दीप्त हो उठता है। [**उत**]=और, इस प्रभु के विचार को विकसित करके [**वरे क्रत्वे**]=उत्तम कर्म व संकल्पों में [**स्थेमनि**]=स्थिरता के लिए [**ईम्**]=निश्चय से [**आमुः**]=उस प्रभु की ओर चलते हैं (अम् गतौ) जो मनुष्य प्रभु की ओर चल पड़ता है उसका जीवन कभी भी अशुभकर्म धारा में प्रवाहित नहीं होता।

वे प्रभु तो हमारे लिए [**तरसम्**]=एक बेड़े के रूप में हैं (तरस्=Raft) जो बेड़ा कि [**तरस्विनम्**]=शक्तिशाली दृढ़ भी है और तीव्रगति वाला भी है (Strong and Swift)। यज्ञ रूप बेड़े भी उत्तम हैं, परन्तु उपनिषद् के शब्दों में वे अदृढ़ हैं। यह प्रभु रूप नाव दृढ़ है। [**उग्रं**]=यह हमें निरन्तर आगे और आगे ले चलती है और [**ओजिष्ठं**]=हमारी वृद्धि व उन्नति का हेतु है। (ओज् to increase)। इस नाव का आश्रय करके हम कल्याणपूर्वक परले पार पहुंच जायेंगे।

भावार्थ—हम उस सर्वशक्तिमान प्रभु के विचार को अपने में उत्पन्न करें, विकसित करें और उस प्रभु की ओर चलने वाले बनें।

प्रभु का प्रिय कैसे बनूं ?

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २उ ३
श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन् यद् दस्युं
१ २ ३ २ ३ २ २ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
नर्यं विवेरपः। उभे यत्वा रोदसी धावतामनु
१ २ ३ १ २ १ २
भ्यसाते शुष्मात् पृथिवी चिदद्रिवः ॥२॥
॥३७१॥

गत मंत्र में प्रभु को अपनी जीवन यात्रा का जहाज बनाने का निश्चय 'रेभ काश्यप ने किया था। यहां वही काश्यप 'सुवेदा' नाम से कहा गया है—उत्तम ज्ञानी। यह अपने को 'शैलूषि'=वह नर समझता है जो कि उस संसार नाटक के सूत्रधार प्रभु के निर्देशानुसार अपना नृत्य करता चलता है। (१) प्रभु इससे कहते हैं कि [**ते**]=तेरे [**प्रथमाय-मन्यवे**]=इस सर्वोत्कृष्ट संकल्प के लिये (**श्रत्-दधामि**]=तुझे आदरणीय समझता हूं—श्रद्धा के योग्य मानता हूं। 'प्रभु जो नाच नचायेंगे वही नाचूंगा' यही सर्वोत्तम संकल्प है। प्रभु की नाव में ही बैठूंगा—यही निश्चय प्रशस्य है।

प्रभु कहते हैं कि मैं इसलिए भी तुझे अच्छा समझता हूं कि (१) [**यत्**]=जो तूने [**दस्युम्**]=काम-क्रोध-लोभ आदि दस्युओं को [**अहन्**]=नष्ट कर दिया। और फिर (२) [**नर्यं अपः**]=नर हित साधक कर्मों को तूने [**विवेः**]=विशेष रूप से सन्तत=विस्तृत किया। तूने औरों के भले के लिए

अपने सुख, समय व सम्पत्ति को त्याग किया और अपने जीवन को एक यज्ञ का रूप दे दिया। इसी का यह परिणाम था [**यत्द्वये रोदसी**] =कि दोनों द्युलोक व पृथिवी लोक [**त्वाअनुधावताम्**]=तेरे पीछे दौड़ कर आये। जिस किसी को भी कोई कष्ट हुआ वह तेरे समीप पहुंचा, सारी दुनिया तेरी ही तरफ दौड़ी।

प्रभु कहते हैं कि मुझे तू इसलिए भी अच्छा लगा कि (३) ऐ [**अद्रिवः**]=वज्र तुल्य शरीर वाले नर! [**ते**]=तेरे [**शुष्मात्**]=बल से [**पृथिवीचित्**]=सारी भी पृथिवी [**भ्यसात्**]= कांप उठी। तुझे अपनी रक्षा के लिए रक्षकों की आवश्यकता नहीं हुई। तू इस लोकहित के कार्य में निर्भीक होकर जुटा रह सका। शरीर के नाजुक होने की दशा में जहां तू इतना अधिक कार्य न कर सकता, वहां तुझे कितने ही कार्यों को करने में भय भी लगता। इसलिए यह भी तूने ठीक ही किया कि अपने शरीर को वज्र तुल्य बनाया।

भावार्थ—'मैं प्रभु का आदर पात्र बनूं' सो (१) प्रभु को आधार बनाने का संकल्प करूं (२) काम क्रोध आदि को कुचल डालूं (३) नरहित के कार्यों का विस्तार करूं (३) और शरीर को वज्र तुल्य बनाऊं।

सब मार्ग उसी की ओर जा रहे हैं

३ २३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १र
समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद्
२र ३ १ २ २ ३ १र २र ३
भूरतिथिर्जनानाम् । स पूर्व्यो नूतनमा-
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २
जिगीषम् तं वर्तनीरनु वावृत एक इत् ॥३॥
॥३७२॥

वामदेव ऋषि गतमंत्र की अन्तिम पंक्ति का ध्यान करते हुए सब से कहता है कि [**विश्वाः**]= तुम सब [**ओजसा**]=ओज-शक्ति के द्वारा [**दिवः पतिम्**]=उस द्युलोक के पति द्युपितर (jupiter) अथवा प्रकाशमय लोक के पति प्रभु को [**समेत**]= सम्यक्तया प्राप्त होवो। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'=वह प्रभु बलहीनों से तो प्राप्य हैं ही नहीं। और वस्तुतः प्रभु को पाने वाला जब प्रभु प्रवण होगा तो प्रकृति से दूर होने के कारण—भोगासक्ति से ऊपर उठा हुआ शक्तिशाली तो होगा ही। इसीसे प्रभु प्राप्य होते हैं। वे प्रभु [**यः**] =जो कि [**एकः इत्**]=एक मात्र ही निश्चय से [**जनानां**]=लोगों के [**अतिथिः भूः**]=सतत जाने योग्य हैं (अत्सातत्यगमने) 'सा काष्ठा सा परागतिः, वह प्रभु ही सब का अन्तिम लक्ष्य स्थान हैं। मनुष्य कहीं भी और पहुंच कर शान्तिलाभ नहीं कर पाता। प्रभु को पाकर ही 'शश्वच्छान्ति निगच्छति'=सतत शान्ति को पाता है। प्रभु को पाना इसलिए आवश्यक है कि [**सः**]=वह [**पूर्व्यः**] =पूरण करने वालों में सर्वश्रेष्ठ है। माता-पिता आचार्य व अतिथि ये सभी हमारे जीवनों में एक पूर्ति को लाने में साधक होते हैं, पर जो पूर्ति प्रभु-संपर्क से आती है वह विलक्षण ही है। उसके आते ही वह 'वीतशोक' हो जाता है, शोक मोह से ऊपर उठकर शान्ति का अनुभव करता है।

वामदेव कहता है कि ऐ मनुष्य तू निश्चय कर कि [**नूतनम्**]=स्तुति के विस्तार के योग्य उस प्रभु को [**आ**]=सर्वथा [**जिगीषम्**]=मैं जीतूंगा, उसे (win) करूंगा—अवश्य प्राप्त करूंगा। [**तम्अनु**]=उस प्रभु की ओर ही तो [**वर्तनीः**]= सब मार्ग [**वावृते**]=जा रहे हैं। मैं मार्गों में क्यों उलझूं? देर-सबेर में सभी को वहां पहुंचना है। उस प्रभु की सत्ता में विश्वास करके मैं चल दूं। वहाँ पहुंच कर प्रभु के दर्शन तो करूंगा ही। वे [**एकः इत्**]=एक ही हैं। पर यदि उधर न चल कर मैं प्रभु के स्वरूप के विषय में ही शास्त्रार्थ करने लग जाता हूं तो उसको एक रूप में नहीं देख पाता। कोई उसे कुछ समझ बैठता है, और दूसरा कुछ और। प्रभु नाना रूप में हो जाते हैं और उपासक भी भेदभाव की भावनाओं से युक्त होकर परस्पर प्रेम को गंवा बैठते हैं। चाहिये तो यह कि

'अस्ति इति'='प्रभु हैं' यह मान कर हम चल दें और 'एव उपलब्धव्य:'=उस प्रभु का साक्षात्कार करें। शास्त्रार्थ करते हुए बैठे ही न रह जांय और परस्पर लड़ते ही न रहें। उसकी ओर चलेंगे तो अधिकाधिक दिव्यता को पाकर 'वामदेव' बनेंगे। हमारी इंद्रियाँ प्रशस्त होंगी और हम 'गौतम' होंगे।

भावार्थ—प्रभु को जीतने का प्रयत्न करूं।

हम तेरे ही तो हैं

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य
१ २ २उ ३ १ २ ३
चरामसि प्रभूवसो। न हि त्वदन्यो गिर्वणो
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति तद्धर्य नो वचः
॥४॥३७३॥

[**इमे**]=ये [**ते**]=तेरे हैं [**इन्द्र**]=ऐ परमैश्वर्यशाली प्रभो! [**ते**]=तेरे हैं [**वयं**]=हम सब [**पुरुष्टुत**]=बहुतों से स्तुति करने योग्य अथवा पालक व पूरक है स्तवन जिसका ऐसे ऐ प्रभो! ऐ [**प्रभूवसो**]=पालक व पूरक धन के प्रभो। हम सब तो वे हैं [**ये**]=जो [**त्वा आरभ्य**]=तेरा आश्रय करके [**चरामसि**]=संसार में विचरण करते हैं। मनुष्य को प्रभु का ही आश्रय करके विचरण करना। प्रभु परमैश्वर्यशाली हैं अन्य न्यून ऐश्वर्य वालों की आराधना में क्यों उलझना? वे प्रभु सदा पुकार को सुनने वाले हैं उनकी पुकार हमारी पूरक है औरों के आगे तो बहुधा पुकार व्यर्थ भी जाती है, हाथ हिलाने पर वे प्रभु तो अवश्य निवास के लिए पर्याप्त धन देते ही हैं। सो बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम प्रभु को आधार बना कर चलें।

ऐ [**गिर्वणः**]=सब वेदवाणियों से सेवनीय अथवा सब वेदवाणियों का सेवन करने वाले व संविभाग करने वाले प्रभो! [**त्वदन्यः**]=आपसे भिन्न कोई भी [**गिरः**]=वेदवाणियों को [**न**]=नहीं [**सघत्**]=व्याप्त करता है। सब वेद ज्ञान को देने वाले भी तो आप हैं। आपके आश्रय से जहां धन प्राप्त होगा, वहां ज्ञान भी प्राप्त होगा, वहां ज्ञान से मैं उस धन का ठीक ही विनियोग करूंगा और उसमें आसक्त न हो जाऊंगा।

ऐ प्रभो! [**क्षोणीः इव**]=जैसे यह पृथिवी माता हमारी पुकार को सुनती है और हमारी कामनाओं को पूरा करती है। उसी प्रकार आप [**नः**]=हमारे [**प्रति**]=प्रत्येक के सबके [**तद् वचः**]=उस प्रार्थना वचन को [**हर्य**]=प्राप्त करायें अर्थात् हम सबकी प्रार्थना के अनुकूल सर्व हितकारी वस्तु को हमें प्राप्त करायें। मेरे अकेले की प्रार्थना मानी जाय, ऐसा मैं नहीं चाहता: हम सबकी प्रार्थना का ध्यान करके आप हमारी प्रार्थना को पूर्ण करिये।

जिस व्यक्ति का जीवन इस आदर्श को लेकर चलता है कि प्रार्थना भी केवल मेरी नहीं अपितु सभी की स्वीकृत हो उस व्यक्ति का जीवन तो सचमुच यज्ञमय है। वह 'सव्य'=सब अर्थात् यज्ञ करने वालों में उत्तम है। यह सव्य भोगमय जीवन से ऊपर उठा होने के कारण 'आंगिरस' तो है ही।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे जीवनों का आधार हो।

छोड़ें और पायें

३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३
चर्षणीधृतं मधवानमुक्थ्या३मिन्द्रं गिरो बृह-
२ ३क२र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
तीरभ्यनूषत। वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिर-
२ ३ १ २ ३ १ २
मर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे ॥५॥३७४॥

[**बृहतीः**]=हमारा वर्धन करने वाली [**गिरः**] वेदवाणियां [**अभ्यनूषत**]=उसी प्रभु का लक्ष्य करके स्तवन करती हैं। अर्थात् सभी वेदवाणियां अन्ततोगत्वा उस प्रभु का ही प्रति-पादन कर रही हैं। किस प्रभु का? (१) [**चर्षणीधृतम्**]=जो सब मनुष्यों का धारण करने वाले हैं। चर्षणी शब्द, उस मनुष्य का द्योतक है जो कि उत्पादक

काम में लगा हुआ है, परमेश्वर उसका धारण करते ही हैं 'God helps those who help themselves' इस लोकोक्ति में 'चर्षणीधृतं' शब्द का ही तो व्याख्यान है। (२) [**मघवानम्**]=जो प्रभु पाप के लेश से भी शून्य ऐश्वर्य वाले हैं।(३) [**उक्थ्यम्**]=स्तोत्रों के योग्य हैं। (४) [**इन्द्रम्**]=सब शक्ति के कार्यों को करने वाले हैं, असुरों का संहार करने वाले हैं। (५) [**वावृधानम्**]=अपने स्वरूप में निरन्तर वृद्धि को प्राप्त और (५) **पुरुहूतम्**=जिनकी पुकार पालक व पूरक है। (६) **अमर्त्यम्**=जो किसी भी वस्तु के पीछे मर नहीं रहे अर्थात् जो अनासक्त हैं (७) और अन्त में [**दिवेदिवे**]=प्रतिदिन [**सुवृक्तिभिः**]=उत्तम वर्जनों के द्वारा त्यागों के द्वारा [**जरमाणं**]=स्तुति किये जा रहे हैं।

स्तुति का अभिप्राय उन गुणों को अपने अन्दर धारण करने से होता है। सो हमें भी चाहिये कि हम उत्पादक श्रम में सहयोग दें, सुपथ से धनार्जन करें, स्तुतिवचनों को ही मुख से उच्चरित करें, आसुर वृत्तियों का संहार करें, छोटे न बनें अपने दिलों को छोटा न करें, हमारे प्रति किसी की भी पुकार व्यर्थ न जाय, और आसक्ति से ऊपर उठें।

उल्लिखित प्रकार से अपने जीवन को बिताते हुए हम इस तत्व को न भूलें कि हम उस २ व्यसन को छोड़ कर ही प्रभु का सच्चा स्तवन कर पाते हैं। इस प्रकार इन काम क्रोधादि की भावनाओं को छोड़ने वाला ही सबके प्रति स्नेह वाला इस मंत्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन पाता है और यही तो प्रभु का सच्चा गायक 'गाथिन' है।

भावार्थ :—हम वासनाओं को छोड़ कर प्रभु को पाने के लिए प्रयत्नशील हों।

पत्नी जैसे पति के साथ

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः सध्रीचीर्विश्वा
३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
उशतीरनूषत। परि ष्वजन्त जनयो यथा
२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥६॥३७५॥

जिसने संसार की वासनाओं से अपने को ऊपर उठा लिया है। (कृष्) बाहर निकाल लिया है, वह व्यक्ति कृष्ण है। न उलझने के ही कारण वह आंगिरस है। यह कहता है कि [**वः**]=तुम सबकी [**मतयः**[=बुद्धियां, इच्छायें [**इन्द्रं अच्छा**]=उस प्रभु की ओर चलने वाली हों [**स्वर्युवः**]=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति से अत्यन्त (यु+मेल) मेल करने वाली हों। प्रभु की ओर जाने में ही कल्याण है। प्रकृति की ओर जाना अन्त में उलझन का कारण बनकर हानि हो हानि का कारण बनता है। मनुष्य के सामने अन्त में अन्धकार होता है—वह कर्तव्याकर्तव्य को भी सोच नहीं पाता। प्रभु की ओर आने से ऐश्वर्य तो मिलता ही है चूँकि प्रभु 'इन्द्र'=परमैश्वर्यशाली हैं, साथ ही वहां 'स्वर्'—प्रकाश है अन्धकार नहीं। परमेश्वर की ओर चलने वाले को अपना कर्तव्यपथ बड़ा स्पष्ट दिखता है। इनकी मतियां [**सध्रीचीः**]=मिल कर चलने की उत्तम भावना वाली होती है। (सह अञ्च्) ये केवल अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट नहीं होते। [**विश्वाः उशतीः**]=सब प्रजाओं के हित को चाहती हुई इनकी मतियां वस्तुतः [**अनूषत**]=उस प्रभु का स्तवन करती हैं, स्पष्ट है कि प्रभु का उपासक औरों के साथ मिल कर के चलता है और सभी के हित की भावना को रखता है। यह किसी के अकल्याण को नहीं चाहता।

ये लोग [**परिष्वजन्त**]=प्रभु का आलिंगन उसी प्रकार करते हैं [**यथा**]=जैसे कि [**जनयः**]=पत्नियां [**पतिम्**]=पति का आलिंगन करती हैं। पति पत्नी प्रेम से आलिंगन कर एक हो जाते हैं, इसी प्रकार जीवरूप पत्नियां भी प्रभु का आलिंगन कर प्रभु के साथ एक हो जाती है। जीव बाहुल्य के कारण यहां' जनयः' बहुवचनान्त है, प्रभु एक हैं तो 'पतिम्' एक वचन है। कबीर इत्यादि सन्तों ने भी रहस्यवाद की कविता में जीव के पत्नीत्व व प्रभु के पतित्व की कल्पना की है। वही कल्पना यहां मंत्र में उपस्थित है। यहां अभिप्राय

प्रेम को सुव्यक्त करने से है। जैसे कि सती नारी स्वपति के अतिरिक्त किसी का चिन्तन नहीं करती, उसी प्रकार जीव प्रभु के साथ अनन्य प्रेम वाला हो, 'अनन्यचेताः यो मां स्मरति नित्यशः' इन गीता के शब्दों में यही बात कही है।

दूसरी उपमा यह दी है कि हम अपनी [**ऊतये**] =रक्षा के लिए प्रभु की ओर उसी प्रकार जायें [**न**]=जैसे कि [**शुन्ध्युं**]=शुद्ध चरित्र वाले [**मघवानम्**]=ऐश्वर्य संपन्न [**मर्यं**]=व्यक्ति की ओर लोग जाते हैं। प्रभु पूर्ण शुद्ध हैं—ऐश्वर्य संपन्न हैं इसीलिए वे अधिक से अधिक हमारा हित कर पाते हैं। जो भी व्यक्ति इसी प्रकार शुद्ध व संपन्न होता है वही लोकहित कर पाया करता है। हम अपनी रक्षा के लिए प्रभु की ओर इसी प्रकार जाते हैं, जैसे कि इन लोगों की ओर जाया जाता है।

भावार्थ :—प्रभु के प्रति मेरा अनन्य प्रेम हो। मैं सर्वभावेन उनका भजन करूं।

वे धन के समुद्र हैं

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिद्रं गीर्भिर्मदता
१ २ ३ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
वस्वो अर्णवम्। यस्य द्यावो न विचरन्ति
१ २ ३ १र २र ३ ३ १र २र
मानुषं भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत ॥७॥३७६॥

अपने जीवन को यज्ञमय बनाने वाला 'सव्य आंगिरस' इस मंत्र का ऋषि है। सवों में यज्ञों में यह उत्तम है और विषयासक्त न होने से 'शक्तिशाली' है—आंगिरस है। यह कहता है कि [**त्वं**]=उस प्रभु की [**अधि**]=ओर चलो जो कि—(१) [**मेषं**] सींचने वाले हैं, धनों की वर्षा करने वाले हैं (२) [**पुरुहूतम्**]=जिनके प्रति पुकार पालन व पूरण करने वाली है और इसीलिये जो (३) [**ऋग्मियं**] =अर्चनीय व पूजनीय हैं (४) [**इन्द्रं**]=जो परमैश्वर्यशाली हैं (५) [**वस्वो अर्णवम्**]=निवास के लिये उत्तम धनों के जो समुद्र हैं (६) [**यस्य**]= जिनके [**मानुषं**]=मानव हित के कार्य [**द्यावो न**] =सूर्य की किरणों के समान या आकाश के समान सर्वत्र [**विचरन्ति**]=विचरते हैं अर्थात् विद्यमान हैं। (७) और जो प्रभु [**भुजे**]=पालन के लिए [**मंहिष्ठं**]=दातृतम हैं। प्रभु भक्त कभी भूखे मरते हैं? आवश्यक धन उन्हें प्राप्त हो ही जाता है। वे प्रभु तो (८) [**विप्रम्**]=विशेष रूप से पूरण करने वाले हैं।

इस प्रभु को [**गीर्भिः**]=वेदवाणियों से [**मदता**] आनन्दित करो। यदि मनुष्य वेद का अध्ययन करता है—ज्ञान प्राप्ति को अपने जीवन का मुख्य अंग बनाता है तो वह सचमुच उस प्रभु को ज्ञानयज्ञ से आराधित करता है। जीवों को चाहिये कि [**अभि अर्चत**]=सब प्रकार से इस प्रभु की अर्चना को वे अपने जीवन का लक्ष्य बनायें।

भावार्थ—प्रभु का मैं भक्त बनूं, वे धन के समुद्र हैं सो मुझे क्या चिन्ता?

उत्तम व्रतों के द्वारा

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
त्यं सु मेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभुवः
३ १र २र २ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
साकमीरते। अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमिद्रं
३ १ २ ३ १ २
ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः ॥८॥३७७॥

गत मंत्र की तरह सव्य कहते हैं कि [**त्यं**]= उस [**सुमेषं**]=उत्तम बरसने वाले [**स्वर्विदम्**]= प्रकाश को प्राप्त कराने वाले प्रभु को [**महया**]= पूजो [**यस्य**]=जिसकी [**शतं**]=सैकड़ों [**सुभुवः**]=जीव को उत्तम स्थिति में लाने की प्रक्रियायें [**साकं**]=साथ-साथ [**ईरते**]=चलती हैं। प्रभु धन देते हैं, ज्ञान देते हैं और न जाने कितने अचिन्त्य प्रकारों से हमारी स्थिति को उत्तम बनाते हैं।

वे प्रभु [**अत्यम्**]=सतत गतिशील [**वाजं न**] घोड़े के समान हैं। यदि मैं प्रकृति का आश्रय न करके प्रभु का आश्रय करता हूं तो मेरी यह

जीवन यात्रा आगे और आगे बढ़ती ही चलती है। वे प्रभु तो निरन्तर गतिशील घोड़े के समान हैं, प्रभु पर मैं आरूढ़ हुआ और मेरी यात्रा पूरी हुई। वे प्रभु **[हवनस्यदं]** पुकार सुनते ही वेग से आने वाले हैं। उनके यहां मेरी पुकार व्यर्थ नहीं जाती। वे **[रथम्]**=सर्वोत्तम सारथि हैं। यदि मैं अपने रथ का सारथित्व प्रभु को सौंपता हूं तो क्या कभी कोई गलती हो सकती है? सो मैं इस कठिन जीवन यात्रा में **[अवसे]**=रक्षा के लिए **[इन्द्रं]**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर **[ववृत्याम्]**=अपने को मोड़ता हूं, आवृत्त करता हूं। प्रभु की ओर मेरी चित्तवत्ति मुड़ी और मेरा कल्याण हुआ।

यह प्रभु की ओर मुड़ना होता कैसे है? **[सुवृक्तिभिः]**=उत्तम वर्जनों के द्वारा। मैं काम को छोड़ता हूं, क्रोध को छोड़ता हूं, तो बस इस छोड़ने से ही मैं प्रभु की ओर मुड़ता हूं। इस छोड़ने की प्रक्रिया को ही व्रत ग्रहण कहते हैं। व्रत में हम किसी चीज को छोड़ते हैं। पाप को छोड़कर मैं प्रभु की ओर चलता हूं।

यह प्रभु की ओर चलना सांसारिक दृष्टिकोण से भी तो किसी प्रकार घाटे का सौदा नहीं, प्रभु प्रकाश को प्राप्त कराते हैं (स्वर्विदम्) तो धन के समुद्र भी हैं (वस्वो अर्णवम्) और बरसने वाले ही (मेषं) नहीं खूब बरसने वाले हैं (सुमेषम्)। उनकी मानव पालन की प्रक्रियायें सैकड़ों हैं, सैकड़ों ही क्या सारे आकाश में व्याप्त हैं। पालन के लिए पर्याप्त धन तो प्रभु प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—सदा उत्तम व्रतों से मैं प्रभु की अर्चना करूं।

द्यावा पृथिवी

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे
३ १ २ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
सुपेशसा। द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा
१ २ ३ २ ३ १ २
विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ॥९॥३७८॥

वेद में 'मूर्ध्नो द्यौः' इस संकेत के अनुसार मस्तिष्क के लिए द्युलोक और 'पृथिवी शरीरम्' इस संकेत के अनुसार शरीर के लिए पृथिवी शब्द का प्रयोग उपलभ्य है। एवं **[द्यावा पृथिवी]**= हमारा मस्तिष्क और शरीर कैसा हो? इसका विवेचन प्रस्तुत मंत्र में इस प्रकार है कि :—

(१) **[घृतवती]**=मस्तिष्क दीप्ति वाला हो। (घृ-दीप्ति) और शरीर सब प्रकार के मलों के (घृ-क्षरण) क्षरण-पार्थक्य वाला हो। मलों (foreign matter) के अभाव में शरीर स्वस्थ होगा और स्वस्थ शरीर में ही वस्तुतः स्वस्थ मस्तिष्क भी होगा।

(२) **[भुवनानाम्]**=लोकोंके **[अभिश्रिया]**= आश्रयणीय ये हों। हमारा ज्ञान व हमारी शक्ति लोकहित में विनियुक्त हो। विवाद में व संहार में उनका विनियोग न हो। विवाद के लिए विद्या व परपीड़न के लिए शक्ति तो दुष्टों की होती है।

(३) **[उर्वी]**=हमारा दृष्टिकोण विशाल हो। ज्ञान की वृद्धि के अनुपात में ही तो यह दृष्टिकोण विशाल होगा। **[पृथ्वी]**=हमारा शरीर भी विस्तृत हो (प्रथ=विस्तारे)। गिठमिठिया शरीर कभी प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता।

(४) **[मधुदुघे सुपेशसा]**=हमारा मस्तिष्क मधु का दोहन व पूरण करने वाला हो तो शरीर का गठन बड़ा सुन्दर हो। शरीर सु=उत्तम पेशस् आकृति वाला हो।

इस प्रकार का मस्तिष्क व शरीर **[विष्कभिते]**=तभी बने रह सकते हैं जबकि हम अपने जीवनों को **[वरुणस्य धर्मणा]**=वरुण के धर्म से ले चलें। वरुण पाशी है, बांधने वाला है। यदि हम अपने जीवनों को व्रतों के बन्धन से बांधते हैं तो हमारे ये शरीर व मस्तिष्क **[विष्कभिते]**= थमे रहते हैं। **[अजरे]**=ये जीर्ण नहीं हो जाते और **[भूरि रेतसा]**=बड़े शक्ति सम्पन्न बने रहते हैं। शरीर को शक्ति सम्पन्न बनाकर यह व्यक्ति 'भरद्वाज' कहलाता है और मस्तिष्क को

...Kangri Col. Deoband. In Public Domain

उज्ज्वल करके यह 'बार्हस्पत्यः' होता है। अव्रती जीवन भोगासक्त हो शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही क्षीण कर लेता है।

भावार्थ—मेरा जीवन व्रतमय हो और मैं अन्त तक अक्षीण शक्ति व दीप्त मस्तिष्क बना रहूं।

उषाकाल का उपकार

३ १र   २र ३   १ २   ३ २ ३   २
उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव।
३ १ २   ३ १ २ ३ १ २   ३ २
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम्।
३ १र   २र   ३ १र   २र
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्
॥१०॥३७९॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**] != इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! [**यत्**]=जो तू [**उभे रोदसी**]=दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक को अर्थात् मस्तिष्क और शरीर का (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) [**आपप्राथ**]=सब प्रकार से पूरण करता है [**उषा इव**]=उषा की तरह। अर्थात् जैसे उषःकाल अन्धेरे को नष्ट कर देता है और सारे द्युलोक को प्रकाश से भर देता है उसी प्रकार तू भी शरीर के मलों को नष्ट कर देता है और मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से भर देता है। उषा की इस प्रेरणा का परिणाम यह होता है कि ये [**त्वा**]=तुझे [**महीनां महान्तम्**]=आदरणीयों में आदरणीय बनाती है, और [**चर्षणीनां**]= श्रमशील व्यक्तियों में [**सम्राजम्**]=(सम्यक्) खूब चमकने वाला बनाती है। अपनी देदीप्यमान ज्ञान ज्योति से तू आदर का पात्र बनता है और श्रम के कारण निर्मल शरीर वाला होकर स्वास्थ्य के सौन्दर्य से तू चमक उठता है। वस्तुतः यह उषःकाल [**देवीजनित्री**] है=दिव्यगुणों को उत्पन्न करने वाली तथा ज्ञान का विकास करने वाली है। 'उषर्बुधोहि देवाः'=देव उषःकाल में जागने वाले ही होते हैं। प्रातःकाल का शान्त समय मनुष्य को भी शान्त बनाता है और उषःकाल का अरुण प्रकाश मनुष्य के मानस के तम को भी दूर कर देता है। [**अजीजनत्**]=यह उषः हमारा ऐसा विकास करे ही। यदि किन्हीं अन्य विरोधी कारणों से ये उषः हमें देव व विकसित ज्ञान वाला न भी बनाये तो भी [**भद्राजनित्री**]=यह कल्याणमय स्थिति में प्राप्त कराने वाली तो होती ही है, यह हमारी शारीरिक शक्तियों का विकास तो करती ही है। यह [**अजीजनत्**]=हमारा इस प्रकार विकास अवश्य करे। प्रस्तुत मंत्र में 'महान्तं त्वा महीनां' शब्द मस्तिष्क सम्बद्ध हैं तो 'सम्राजं चर्षणीनाम्' शरीर सम्बद्ध, 'देवी जनित्री' शब्द मस्तिष्क के दृष्टिकोण से कहे गये हैं तो 'भद्रा जनित्री' शरीर के दृष्टिकोण से। उषःकाल की प्रेरणा मस्तिष्क के लिए भी है, शरीर के लिए भी। मस्तिष्क के लिए प्रकाश से भर देने की प्रेरणा देती है और शरीर के लिए मलरूप अन्धकार को दूर कर देने की। इस प्रेरणा को प्राप्त करके तदनुसार चलने वाला व्यक्ति ही 'मेधातिथि' है समझदारी से चलनेवाला है। कण-कण करके ज्ञान व शक्ति का संचय करता हुआ यह व्यक्ति 'काण्व' है।

भावार्थ—उषः काल मुझे अन्धकारनाश व प्रकाश के प्रसार की प्रेरणा देने वाला हो।

कैसा मित्र ?

२ ३ १ २   ३ १ २   ३ २ ३   २ ३ १ २
प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा
३ १ २ ३ १ २   ३   २ ३   १ २ ३ १ २
निरहन्नृजिश्वना। अवस्यवो वृषणं वज्र-
३ १ २   ३ १ २
दक्षिणं मरुत्वन्तं सखयाय हुवेमहि ॥११॥३८०॥

(१) [**मन्दिने**]=सदा प्रसन्नता को प्राप्त कराने वाले प्रभु के लिए [**पितुमत् वचः**]=रक्षणात्मक प्रार्थना वचन [**प्र अर्चत**]=खूब उच्चारण करो, रक्षणात्मक प्रार्थना वचनों से प्रभु की पूजा करो। वस्तुतः प्रभु से सांसारिक सुख भोगों की याचना करके हम प्रभु का भी आदर नहीं कर रहे होते। 'प्रभु हमें काम, क्रोधादि आसुर वृत्तियों से सुरक्षित करें' यही सर्वोत्तम प्रार्थना है, यही

प्रभु की सच्ची पूजा भी है। इन प्रार्थनाओं को क्रियारूप में अपने जीवन में लाकर हम अपने जीवनों को प्रसादमय बना पाते हैं। प्रभु मन्दिन् तो हैं ही, हमें प्रसन्न करने वाले तो हैं ही।

(२) उस प्रभु के लिए हम रक्षणात्मक प्रार्थना वचन कहें [**यः**]=जोकि [**कृष्णगर्भाः**]=जिनके **गर्भ में** कालिमा है, उन काली अशुभ पापमयी चित्तवृत्तियों को [**ऋजिश्वना**]=सरल मार्ग से गति के द्वारा [**निरहन्**]=नष्ट करता है। अशुभों को नष्ट करने का उपाय सरल मार्ग को अपनाना ही है। 'सर्वं जिह्मं मृत्युपदं, आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'=सब कुटिलता मृत्यु का मार्ग है और सरलता ब्रह्म प्राप्ति का। सरलता के साथ पापों का सम्बन्ध ही नहीं, वे तो स्वभावतः कुटिल हैं। 'युयोधि अस्मात् जुहुराणमेनः'=हमारे से इस कुटिल पाप को दूर करिये।

(३) हमारी वृत्ति शुभाशुभ बहुत कुछ संग व साथ से बनती है। इसीलिए कहते हैं कि [**अवस्यवः**]=रक्षण को चाहते हुए हम [**सख्याय**] मित्रता के लिए [**हुवेमहि**]=पुकारते हैं। किसको ?

(क) [**वृषणम्**]=जो बरसने वाला है, जो कृपण नहीं। कृपणता के साथ शुभवृत्तियाँ नहीं रहतीं, दान चित्तवृत्ति का सर्वोत्तम शोधक है। दान का अर्थ दान के साथ 'शोधन' भी है।

(ख) [**वज्रदक्षिणम्**]=जो शरीर में वज्र-तुल्य है और मस्तिष्क में चतुर है। निर्बल शरीर वाला अधिक लोकहित नहीं कर सकता। और अचतुर व्यक्ति हमें संकटों से बचा नहीं सकता। सो मित्र का स्वस्थ व स्वस्थ मस्तिष्क वाला होना नितान्त आवश्यक है।

(ग) [**मरुत्वन्तम्**]=जो प्राणों वाला है। जिसने प्राणों की साधना की है। प्राण साधना चित्त व इन्द्रियों के मलों को दूर कर उन्हें निर्मल बनाती है। निर्मल मन वाला मित्र ही सर्वोत्तम मित्र है। सब वासनाओं को कुचल डालने से ही यह इस मंत्र का ऋषि 'कुत्स' 'कुथ हिंसायाम्' है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति मैं रक्षणात्मक प्रार्थना वचन कहूं। सरल मार्ग से चल कर हृदय की कालिमा को धो डालूं। दानी, सबल, चतुर व साधु स्वभाव मित्रों के साथ विचरूं।

* * *

॥५॥ ऋषिः—१ नारदः; २, ३ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ; ४ पर्वतः; ५—७, १० विश्वमना वैयश्वः;
८ नृमेधः; ९ गोतमः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभ ॥

महत्व की प्राप्ति

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ २
इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् । विदे
३ २ ३ १ २ ३ २
वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ॥१॥३८१॥

इस मंत्र का ऋषि 'नारद' है—नर समूह को जो शुद्ध बनाता है। (दैप् शोधने)। अपने आप शुद्ध बने बिना दूसरे को शुद्ध बनाने का संभव नहीं। अपने को अधिक से अधिक शुद्ध बना कर ही यह औरों को भी शुद्ध बनाता है—और इस प्रकार [**हि**]=निश्चय से [**सः**]=वह [**महान्**]=बड़ा बनता है। यह बड़ा तभी बनता है यदि :—

(१) [**इन्द्रं**]=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ? किस समय [**सुतेषु सोमेषु**]=सोमों के (Semen) के उत्पन्न होने पर। यदि यह शरीर में उस शक्ति के उत्पन्न होने के समय, जो कि उसके अन्दर शतशः वासनातरंगों को जन्म देती है, यह आत्मशासन कर पाता है तो यह बड़ा बनता है। आत्मसंयम यह बड़ा बनने के लिये नितान्त आवश्यक है। इसके बिना बड़ा बनने का संभव है।

नहीं। यह आत्मसंयम भी प्रथम आयुष्य में ही नितान्त आवश्यक है चूंकि धातुओं के क्षीण होने पर तो शान्ति हो ही जाती है। (प्रथमे वयसि यः शान्तः सशान्त इत्यमिधीयते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते)। प्रभु कहते हैं कि ऐ इन्द्र? तू :—

(२) **[क्रतुं पुनीषे]**—इस आत्मसंयम से मस्तिष्क में ज्ञान (क्रतु) को, हृदय में संकल्प को और (शरीर) हाथों में कर्म को पवित्र करता है। आत्मसंयम ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। यह वस्तुतः ही ब्रह्म=great महत्व की ओर चर=चलना है। शरीर में रेतस् के संभव से ज्ञान संकल्प व कर्म तीनों ही पवित्र होते हैं। Head, hands और heart तीनों की शुद्धि हो जाती है। और वस्तुतः इन तीन के अतिरिक्त मनुष्य है भी क्या? और इन तीन के अतिरिक्त उसने करना भी क्या है? पर इन तीनों को विकसित करके वह—

(३) **[उक्थ्यम्]**=स्तोत्रों में साधु होता है। उत्तम ज्ञान संकल्प व कर्मों का उसे अभिमान नहीं होता। प्रभु का स्तवन उन्नत होने पर भी उसे विनत बनाये रखता है। जितना-जितना वह ऊँचा उठता जाता है उतना-उतना ही विनीत होता जाता है। इस प्रकार प्रतिदिन विनीतता को धारण करता हुआ यह—

(४) **[वृधस्य दक्षस्य विदे]**=शरीर की वृद्धि व मानस विकास (दक्ष् to grow) व दाक्षिण्य की प्राप्ति के लिए होता है। उसका शरीर वज्र तुल्य होता है और मन व मस्तिष्क बड़ा सुलझा हुआ—दक्षता वाला होता है। अर्जुन की वृद्धि (शक्ति) व कृष्ण की दक्षता (योगेश्वरता) उसे प्राप्त होती है और परिणामतः उसमें श्री व विजय ध्रुवता से निवास करती हैं।

भावार्थ :—मैं महत्व की प्राप्ति के लिए (१) यौवन में ब्रह्मवादी बनूं (२) अपने क्रतु को पवित्र करूं (३) प्रभु स्तोत्रों को अपनाऊं और (४) वृद्धि व दक्षता का लाभ करूं।

महत्व की रक्षा

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ १ २
तमु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्। इन्द्रं
३ १ २ ३ १र २र
गीर्भिस्तविषमाविवासत ॥२॥३८२॥

गतमंत्र के आत्मसंयम, क्रतुपवित्रता, प्रभु स्तवन, व वृद्धि और दक्षता के लाभ से हमें महत्व की प्राप्ति हुई। अब इस महत्व की रक्षा के लिये इस मंत्र में कहते हैं कि महान् बने रहने के लिए उस महान् प्रभु की उपासना करो। **[तम्]**=उसको **[उ]**=निश्चय से **[अभि]**=लक्ष्य करके **[प्रगायत]**=खूब ही गायन करो। जो प्रभु कि **[पुरुहूतं पुरुष्टुतम्]**=है। जिनकी पुकार (हूतम्) व जिनका स्तवन (स्तुतम्) तुम्हारा पालक व पूरक (पुरु) है। प्रभु को पुकारने से व स्तुत करने से हमारी प्रयत्न सिद्ध महत्ता की रक्षा होगी और जो कमी होगी उसका पूरण हो जायगा। **[इन्द्रम्]**=वे प्रभु तो परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् हैं, **[तविषम्]**=महान् हैं। उस महान् प्रभु को **[गीर्भि]**=इन वेदवाणियों के द्वारा **[आविवासत]**=सर्वथा परिचित करो-पूजो। हमारी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भी वेदवाणियों का उच्चारण करने वाले हम 'गोषूक्ति' बनें। और कर्मेन्द्रियों से इनका कथन करने वाले 'अश्वसूक्तिन्'। कण-कण करके इस प्रकार वेदवाणियों को ग्रहण करने वाले वे गोषूक्ति और 'अश्वसूक्तिन्' 'काण्वायन' हैं। यदि हम इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से वेदवाणियों को समझेंगे और कर्मेन्दियों से उनको क्रियान्वित करेंगे तो क्यों न महान् बने रहेंगे? वस्तुतः महान् प्रभु के समीप रहने से हमारी महत्ता बनी ही रहेगी। हीनों के साथ मेल से मतिहीन होती है और समों के साथ सम तो विशिष्टों के साथ मेल से वह विशिष्ट भी बनती ही है। उस तविष=महान् प्रभु के संपर्क में हम भी महान् बने रहेंगे। (तु=वृद्धौ) वे प्रभु अपने प्रकाशमान स्वरूप में सदा बढ़े हुए हैं, उनके संपर्क में रहता हुआ मैं भी महान् बना

रहूंगा। जो व्यक्ति प्रभु से दूर हुआ उसी ने अपनी महत्ता को खोया। कारण यह कि प्रभु से दूर होते ही अभिमान दबा लेता है—और अभिमान पतन का कारण बन जाता है। सारी की सारी दैवी संपत्ति इस 'अतिमानिता' से नष्ट हो जाती है। इसीलिये सब कार्य करते हुए भी हम उस प्रभु को भूलें नहीं।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु को स्मरण करूं ताकि अधोगति को प्राप्त न हो जाऊं।

शूरवीर कौन है

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम्।
३ १ २ ३ ३ १ २
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥३॥३८३॥

जो व्यक्ति वीर होता है उसमें एक मद सा होता है। गर्व तो अच्छी वस्तु नहीं, परन्तु इसीका एक उत्तम रूप 'गौरव' होता है। आत्मसम्मान व (selfrespect) हेय वस्तु नहीं। 'स्वं महिमानम् आयजताम्' अपनी महिमा का आदर करो, यह वेद का उपदेश गौरव को ही अनुभव करने की बात कह रहा है। सो मनुष्य में एक मद तो होना ही चाहिये। पर कौनसा? प्रभु कहते हैं कि [**ते**]=तेरे [**तं**]=उस [**मदं**]=मद को हम [**गृणीमसि**]=स्तुत करते हैं, उत्तम समझते हैं जो कि—(१) [**वृषणं**]=बरसने वाला है। खूब दान देने वाला है। एक कायर व्यक्ति दान देने से घबराता है, वीर ही दान दे पाता है। विदुर ने वीरों की गिनती करते हुए 'दानशूराः'=दानशूरों का परिगणन किया है। (२) [**पृक्षु**]=संग्रामों में [**सासहिम्**]=शत्रुओं का पराभव करने वाला है। यहां संग्राम से अभिप्राय हृदयस्थली पर निरन्तर चलने वाले कामक्रोधादि से संग्राम का है। इस संग्राम में जो इन वासनाओं को जीतकर संयमशूर बनता है उसी का मद प्रशंसनीय है। (३) [**उ**]=और [**लोककृत्नुम्**]=जो मद लोकों का निर्माण करता है उसकी हम प्रशंसा करते हैं। निर्माणात्मक कार्यों में, परोपकार के कार्यों में लगा हुआ व्यक्ति ही शूरवीर है। और अन्त में [**अद्रिवः**]=वज्रतुल्य शरीर वाले शूर हम तेरे उसी मद की प्रशंसा करते हैं जो कि (४) [**हरिश्रियम्**]=दुःखी मनुष्यों से आश्रयणीय होता है। लोग कष्टों में होते हैं, तुझे रक्षा करने में शूर जान तेरी शरण में आते हैं तेरा श्रयण करते हैं और तू 'हरि श्रीः' कहलाता है। इस प्रकार 'हरिश्रीः' बनने में जो तू मद का अनुभव करता है, उसकी हम प्रशंसा करते हैं।

इस प्रकार के 'दानशूर, संयमशूर, निर्माणशूर, व परोपकार और शरणागत रक्षा में शूर व्यक्ति 'गोषूक्ति और अश्वसूक्तिन्' होते हैं। इनकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से उत्तम ही कथन होता है। ये अशुभ की ओर झुकी हुई नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम 'दान, संयम, निर्माण व शरणागत रक्षा' में शूर बनें। इसी शूरवीरता को वांछनीय समझें। इसमें समर्थ होने के लिए अपने शरीर को पाषाण व वज्र तुल्य दृढ़ बनायें। चूंकि निर्बल शरीर से हम इन बातों में भी शूर न बन सकेंगे।

कौन सी शूरवीरता ?

१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
यत् सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥४॥३८४॥

गत मंत्र में (अद्रिवः) शब्द से संकेत किया था कि शूरवीर के लिए वज्रतुल्य शरीर वाला होना आवश्यक है। प्रस्तुत मंत्र का तो ऋषि ही 'पर्वत' है, इसने थोड़ा-थोड़ा करके तपस्या व साधना से अपने शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनाया है सो यह 'कण्व' है। यह [**इन्दुभिः**]=(विन्दुभिः) सोमकणों से [**संमन्दसे**]=सम्यक् आनन्दित होता है। किन सोमकणों से ?

(१) ऐ (**इन्द्र**)=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव [**यत् सोमम्**]=जो सोम [**विष्णवि**]=(विष्-व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति वाले में हैं। वस्तुतः

शूर वही है जिसका कि हृदय विशाल है। छोटे दिलवाला कभी शूर नहीं होता।

(२) [**यद्**]=जो [**वा घ**]=निश्चय से [**त्रिते**]=(त्रीन् तनोति) काम की विरोधी भावना सत्य को विस्तृत करता है उस त्रित में जो वीरता है उससे तू आनन्द का अनुभव करता है।

(३) [**आप्त्ये**] परमेश्वर को प्राप्त करने वालों में जो उत्तम हैं उनमें जो वीरता है वह तेरे आनन्द का कारण होती है। और अन्त में—

(४) [**यद्वा**]=जो निश्चय से [**मरुत्सु**]=प्राण साधना करने वालों में वीरता है उससे तू आनन्दित होता है।

पिछले मंत्र में दानशूर, संयमशूर और परोपकारशूर इन चार व्यक्तियों का उल्लेख हुआ था। इस मंत्र में उदारता (विशालमनस्कता) में शूर, ब्रह्मचर्य, अहिंसा व सत्य के पालन में शूर, प्रभु प्राप्ति में शूर और प्राणसाधना में शूर का वर्णन हुआ है। ऐसा शूर बनने के लिए 'इन्द्र' इस संबोधन के द्वारा 'इंद्रियों को वश में करना' रूप साधन का वर्णन हुआ है। बिना जितेन्द्रिय बने सोम रक्षा नहीं, और बिना सोमरक्षा के उदारता इत्यादि गुणों का सम्भव नहीं। इन गुणों के पर्वों को उत्तरोत्तर धारण करते चलने से यह 'पर्वत' नाम वाला हो गया है।

भावार्थ—मैं उदारता में ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य में प्रभु प्राप्ति में और प्राणसाधना में शूर बनूं।

शूर सदावृध है

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः।
३ २उ ३ १र २र
एवा हि वीरस्तवते सदावृधः ॥५॥३८५॥

उल्लिखित सब प्रकार की वीरताओं को प्राप्त करने के लिए ऐ [**अध्वर्यो**]=जीवन को हिंसाशून्य यज्ञरूप बनाने वाले जीव? [**मधोः**]=मधु से भी पुष्प रस व शहद (सुरा) से भी [**मदिन्तरं**]=अधिक मद का अनुभव कराने वाले [**अन्धसः**]=(आध्यातव्य) सोम का [**इत् उ**] निश्चय से [**आसिञ्च**]=अपने में सेचन कर। इस सोम को नष्ट न होने दे। [**एवा**]=इस प्रकार ही [**हि**]=निश्चय से [**वीरः**]=तू वीर बनेगा। **सदावृधः**=सदा वर्धन वाला तू होगा। सोम ही वह शक्ति है जो कि सब उन्नतियों के मूल में है। इसके बिना किसी प्रकार की उन्नति का संभव नहीं। यही जड़ जगत् की सर्वोत्तम वस्तु है, जो कि चेतन जगत् की सर्वोत्तम वस्तु प्रभु को प्राप्त कराती है। वैदिक साहित्य में इसी से सोम के संयम को ब्रह्मचर्य प्रभु की ओर चलने का नाम दिया गया है। इसलिये सबसे बड़ा वीर तो वही है जो कि सोम के संयम में वीर बना है। यही वीर [**स्तवते**]=सदा स्तुत होता है—प्रभु की प्रशंसा का पात्र होता है उसकी मनोवृत्ति व्यापक होती है, सो यह 'विश्वमनाः' कहलाता है। और इसकी सब इन्द्रियां विशिष्टता को लिए हुए होती हैं सो यह 'वैयश्च' कहलाता है। यह 'सदावृध' है सदा आगे और आगे चल रहा है। पिछले दो मंत्रों के साथ मिल कर इस मंत्र तक नौ शूरवीरों का उल्लेख हो गया है। ये वीर ही प्रभु से आदर पाते हैं—प्रभु के प्रिय बनते हैं।

भावार्थ—मैं सोम के सिञ्चन में वीर बन कर सदावृध बनूं। इसके लिए मैं अध्वर्यू सदा अहिंसक अनुत्तेजित रहूं। जितेन्द्रियता और अनुत्तेजना से ही सोम के पान का संभव होगा।

सोम सेचन के लाभ

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु।
१र २र ३ २
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥६॥३८६॥

(१) [**इन्दुं**]=सोम को [**इन्द्रस्य**]=उस सर्वैश्वशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए [**आसिञ्चत**]=अपने अन्दर सींचो। अर्थात् सोम के अपने अन्दर पान का सर्वोत्तम लाभ तो यही है कि इससे मनुष्य

प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनता है। भोगमार्ग में सोम का अपव्यय है—योगमार्ग में सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, और तब उस तीव्र-बुद्धि से मनुष्य परमेश्वर का दर्शन करता है।

(२) प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'विश्वमनाः वैयश्व' इस सारी बात का ध्यान करके [**सोम्यं मधु**] = सोम सम्बन्धी मधु का [**पिवाति**]=पान करता है। अन्य मधु सोम्य नहीं है, यह सोमपान रूपी मधुपान सोम्य है—हमें सोम व विनीत बनाने वाला है। अन्य मधुओं के पान से मनुष्य गर्वित हो जाता है तो इस सोम का पान करके वह गौरव का अनुभव करते हुए भी अधिक से अधिक विनीत होता है।

(३) यह सोम [**महित्वना**]=महिमा की प्राप्ति के द्वारा [**राधांसि**]=सफलताओं को (राध्=संसिद्धि) [**प्रचोदयते**]==प्रकर्षेण प्रेरित करता है। अर्थात् सोमपान करने वाले को यह सोम सदा सफल बनाता है। सोमपान करने वाला कभी असफल नहीं होता। इसी सोम दान ने ही कृष्ण को राधा (सफलता) पति बनाया।

सोमपान के तीन लाभ हैं (१) प्रभु की प्राप्ति (२) विनीतता (३) तथा साफल्य

भावार्थ—सोमपान के द्वारा मैं सफल बनूं पर विनीत रहूं और इस प्रकार प्रभु को प्राप्त करूं।

आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्

एक ओर सारा संसार—दूसरी ओर प्रभु

२ ३ ९ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।
३ १र २र ३ २उ ३ २
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥३८७॥

सोम का शरीर में आवश्यक है। उसके लिए 'जितेन्द्रिय होना' (इन्द्र ३८४) और अध्वर्यु=अहिंसक बने रहना (३८५) उत्तेजित न होना रूप उपायों का निर्देश हो चुका है। पर सर्व महान् साधन तो 'प्रभु स्तवन' हैं उसी का प्रस्तुत मंत्र में उल्लेख है।

[**एत उ**]=निश्चय से आओ। [**नु**]=अब [**इन्द्र**]=उस प्रभु का [**स्तवाम**]=स्तवन करें। [**सखायः**]=हम सब समान रूप से प्रभु का ध्यान करने वाले सखा हैं। सच्चा सखित्व तो यही है। वह प्रभु [**स्तोम्यं**]=स्तोमों के स्तुतिसमूहों के योग्य हैं। प्रभु की ही मनुष्य को स्तुति करनी चाहिये। अन्य व्यक्तियों की स्तुति खुशामद में परिणत हो जाती है और वह हमें आगे ले चलने वाली न होकर हमारी अवनति का कारण बनती है। जब कि प्रभु [**नरम्**]=सदा हमें आगे और आगे ही प्राप्त कराने वाले हैं। प्रभु की स्तुति हमारी लक्ष्य दृष्टि को ऊंचा बनाती है और हम उसी अनुपात में उन्नत होते चलते हैं।

[**यः**]=जो प्रभु एक हैं पर [**एकः इत्**]=वे अकेले ही [**विश्वाः कृष्टीः**]=सब उद्योग में लगे मनुष्यों को [**अभ्यस्ति**]=दबा लेते हैं। सारा संसार मेरे विरोध में हो, पर प्रभु मेरे साथ हैं तो मेरा विजय निश्चित है। और इसके विपरीत सारा संसार साथ है—और मैं प्रभु से दूर होऊं तो मेरा परायव भी उतना ही निश्चित है। इसीलिए आत्मा के लिये सारी पृथिवी के त्याग का उपदेश है। जो ऐसा कर सके वे महापुरुष हो गये और न कर सके तो रावण व दुर्योधन की तरह कुछ देर चमक कर बुझ गये। इसलिये चाहिए यही कि हम स्वर्ग के राज्य के लिए इस पृथ्वी के राज्य को छोड़ने के लिए तैयार हो जायं। जिस दिन हम यह कर सके, उस दिन सोम के विनष्ट न होने से हम सचमुच आगे बढ़ेंगें।

भावार्थ—जितेन्द्रियता, अनुत्तेजना व प्रभु स्तवन इन तीन सोम पान के साधनों को क्रिया में लाकर हम आगे बढ़ने वाले नर हों।

स्तुति क्यों ?

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २
इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥३८८॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि नृमेध—आंगिरस' है—

मनुष्यों के साथ मिलकर चलने वाला शक्तिशाली। सबको अपना ही समझने वाला रागद्वेष से ऊपर उठ जाता है। इसी भावना का पूर्ण विकास प्रभु स्तवन से ही होता है। 'सब में आत्मा और सब आत्मा में' यह चिन्तन हमें एकत्व का अनुभव कराता है। इसी से नृमेध कहता है कि उस प्रभु के लिए [**बृहत्सामगायत**]=बृहत् साम का गायन करो। सामों में प्रभु के गुणों का गान है। सामों में भी 'बृहत्साम तथा साम्नाम्' इस गीता वाक्य के अनुसार 'बृहत्साम' का विशेष महत्व है। ये साम प्रभु के गुणों को हमारे सामने उपस्थित करके हमें भी उन गुणों को अपने जीवन का अंग बनाने की प्रेरणा देते हैं। उस प्रभु के लिए हम गायन करें जो कि :—

(१) [**इन्द्राय**]=परमैश्वर्यशाली हैं, सब बल के कार्यों को करने वाले हैं और असुरों का संहार करते हैं। प्रभु के संपर्क में आकर हम भी परमैश्वर्य को प्राप्त करेंगे, शक्तिशाली होंगे और आसुर वृत्तियों को समाप्त कर पायेंगे।

(२) [**विप्राय**]=विप्र के लिए। वे प्रभु वि-प्र=विशेष रूप से हमारी कमियों को दूर करने वाले हैं। जैसे एक चित्रकार अपने निर्मित चित्र को finishing touch देता है, इसी प्रकार प्रभु स्तवन हमारे जीवन चित्रों की सूक्ष्मतम न्यूनताओं को दूर कर देता है।

(३) [**बृहते**]=सदा वर्धमान के लिये। वे प्रभु हमारी न्यूनताओं को दूर करके सब प्रकार से हमारा वर्धन करते हैं। हमारी सर्वतोमुखी उन्नति होती है।

(४) [**ब्रह्मकृते**]=ब्रह्मकृत् के लिये। वे प्रभु हमारी अन्तरात्मा में स्थित हुए २ उसके अन्दर वेदज्ञान का प्रकाश करते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों को इसी प्रकार तो यह ज्ञान प्राप्त हुआ।

(५) [**विपश्चिते**]=विपश्-चित् के लिये। प्रभु के स्तोता के अन्दर भी सदा वस्तुओं को सूक्ष्मता से गहराई तक देखकर सोचने की वृत्ति उत्पन्न होती है।

(६) [**मनस्यवे**]=स्तुति को चाहने वाले के लिये। जैसे एक पिता स्वयं मान का भूखा न भी होता हुवा सन्तानों में विनीतता के लिये चाहता है कि वे 'मातृदेव व पितृदेव' हों उसी प्रकार जीवों के हित के लिये ही प्रभु चाहते हैं कि जीव उनका उपासक हो और प्रकृति की ओर झुकाव वाला न हो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हुए ऐश्वर्य व बल के स्वामी होकर असुरों का संहार करें, न्यूनताओं को दूर कर वृद्धिशील हों। अन्दर ज्ञान के प्रकाश को देखते हुए वस्तुतत्व को देखकर चिन्तन करने वाले बनें। और प्रभु प्रवण हों। यही आध्यात्मिकता है।

उस लोक के साथ यह लोक भी

२उ ३ २३१२३२३ १ २ ३१२ १२३
य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे । ईशानो
१२ ३१ २ ३ २
अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥६॥३८६॥

प्रभु का स्तवन करने वाला व्यक्ति निर्मल बनता है—प्रशस्त इन्द्रियों वाला होता है—'गोतम' कहलाता है। आत्मतत्त्व के लिये सारी पृथ्वी को छोड़ने के लिये उद्यत यह व्यक्ति [**राहूगण**]=त्यागशीलों में गिना जाने वाला तो है ही। इसका सिद्धान्त है कि गतमंत्र में वर्णित आध्यात्मिक लाभों के लिये हमें प्रभुस्तवन करना ही चाहिये। और कभी भी यह भय न करना चाहिये कि संसार यात्रा कैसे चलेगी ? चूंकि [**दाशुषे**]=दाश्वान् के लिये—प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देने वाले [**मर्ताय**]=मनुष्य के लिये [**यः**]=जो वे प्रभु [**एकः इत्**]=अकेले ही [**वसु**]=निवास के लिये आवश्यक धन [**विदयते**]=प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु ही तो [**ईशानः**]=सारे ऐश्वर्य के स्वामी हैं। और फिर [**अप्रतिष्कुतः**]=किसी से न रोके जा सकने वाले हैं। वे तो अकेले ही सारे मनुष्यों

का पराभव करने वाले हैं। वे चतुर्भुज हमें देने लगें तो हमने अपनी दो भुजाओं से सम्हालना क्या? और छीनने लगें तो बचाना क्या? [**इन्द्र**]=वे तो परमैश्वर्यशाली व सर्वशक्तिमान् हैं। [**अंग**]=ऐ प्रिय! इन शब्दों में प्रभु जीव को संबोधन करते हैं। 'अगिगतौ' से बना यह शब्द सुव्यक्त रूप से कह रहा है कि प्रभु को वही जीव प्रिय है जो कि गतिशील है। हम गतिशील बनें। धन की कोई कमी न होगी। प्रभु का उपासक क्या कभी भूखा मर सकता है?

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रकृति से दूर भागता है और प्रकृति उसके पीछे आती है।

आओ, मिलकर उसका स्तवन करें

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे ॥१०॥३९०॥

[**विश्वमनाः**]=व्यापक मन वाला [**वैयश्वः**]=उत्तम इन्द्रियरूपी घोड़ों वाला इस मंत्र का ऋषि कहता है कि [**सखायः**]=मित्रो! हम [**इन्द्राय**]=उस सर्वशक्ति संपन्न और [**वज्रिणे**]=सदा स्वाभाविक क्रिया वाले प्रभु के लिये [**ब्रह्म**]=स्तोत्र को [**आशिषामहे**]=चाहते हैं। अर्थात् हम सब मिलकर उस प्रभु का स्तवन करें। उस प्रभु के स्तवन से हमारे अन्दर भी शक्ति का संचार होगा और हम भी स्वाभाविक रूप से क्रिया करने की प्रवृत्ति वाले होंगे। अर्थात् स्वार्थ का ध्यान करते हुए क्रिया न करके परार्थ के लिये उद्यमशील बनेंगे। वज्गतौ धातु से वज्र व वज्रिन् शब्द बने हैं, 'व्रज्गतौ' से व्रज शब्द बना है। 'कृष्ण भगवान् व्रजभूमि में रहते थे' इसका अभिप्राय उनकी निष्काम कर्मशीलता से ही है।

एव विश्वमना सबको प्रेरणा देकर कहता है मैं तो [**उ**]=निश्चय से उस प्रभु का [**सुस्तुषे**]=पूजा की भावना से स्तवन करता ही हूं जो कि [**वः**]=तुम्हारा [**नृतमाय**]=सबसे अधिक आगे ले चलने वाला है और इस उन्नति के मार्ग में आने वाले शतशः विघ्नों का [**धृष्णवे**]=धर्षण करने वाला है। मैं तो उसकी स्तुति करता ही हूं।

'सब को प्रेरणा देनी, पर उसके बाद स्वयं उस कार्य में लग जाना' यही सर्वोत्तम व्यवहार का प्रकार है। क्या घर में, क्या शिक्षणालय में—इसी ढंग से चलना ही ठीक है। उत्तम प्रेरणा हम जिनको देते हैं वे हमारे सखा हैं। सर्वोत्कृष्ट सखित्व यही है।

भावार्थ—प्रभु के स्तवन के लिये मैं अपने सब साथियों को प्रेरित करूं, और प्रभु स्तवन में लग जाऊं।

● ● ●

अथ पञ्चमः प्रपाठकः

॥१॥ ऋषिः—१ प्रगाथः; २ भरद्वाजः; ३ नृमेधः; ४ पर्वतः; ५, ७ इरिम्बिठिः; ६ विश्वमनाः; ८ वसिष्ठ देवता—१—४, ६, ८ इन्द्रः; ५, ७ आदित्याः ॥ छन्दः—१—७ उष्णिक्; ८ त्रिपदा विराड् अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—७ ऋषभः; ८ गान्धारः ॥

वृत्र का हनन

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १र २र
गृणे तदिन्द्र ते शव उपमां देवतातये। यद्धंसि
३ १र २र
वृत्रमोजसा शचीपते ॥१॥३९१॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव? [**ते**]=तेरे [**तत्शवः**]=उस बल को [**गृणे**]=मैं मान देता हूं जो कि तुझे (१) [**उपमां**]=मेरे समीप लाता है। 'शव' शब्द शव गतौ से बनकर उस शक्ति का वाचक है

जो कि गतिमय है, और वस्तुत: गति से ही उत्पन्न होती है। शव मृत शरीर को भी इसी लिये कहते हैं कि वहाँ से कुछ चला गया है (प्र+इत -प्रेत)। एवं शव के अन्दर गति की भावना है। क्रियाशील (Dynemic न कि Potentiai) शक्ति को 'शव' कहते हैं। और यही हमें परमेश्वर तक पहुंचाती है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:'=यह आत्मा बलहीन से तो लभ्य है ही नहीं। (२) [**देवतातये**]=यह क्रियाशील शक्ति हमारे में दिव्यगुणों का विस्तार करने वाली होती है। वीरत्व के साथ ही Virtue का निवास है। आचार्य के शब्दों में 'विजय ही सदाचार है, पराजय ही अनाचार है'। क्रियाशील शक्ति से हम विजयी बनते हैं और इस विजय में ही दिव्यता का निवास है। देवराट् इन्द्र का लड़का (इन्द्र की कृति) 'जयन्त' है, कृष्ण का सन्तान (विस्तार) 'प्रद्युम्न'=(A great power or possessing great power) है, राम के भी सन्तान लव=शत्रुओं को छिन्न करने वाले (लू-छेदन) व कुश शत्रुओं को बुरी तरह से क्षीण करने वाले हैं। वस्तुत: शक्ति से ही दिव्यता का विस्तार होता है।

(३) प्रभु कहते हैं कि मैं तो तेरी इसी बात की प्रशंसा करता हूं कि [**यत्**]=जो तू [**ओजसा**]=शक्ति से [**वृत्रम्**]=वृत्रको ज्ञान के आवरणभूत काम को [**हंसि**] नष्ट कर देता है। वासना का विनाश भी शक्ति की अपेक्षा करता है। कमजोर को वासना भी अधिक सताती है। (४) ऐ [**इन्द्र**]!=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव मैं तो तेरी इसी लिये प्रशंसा करता हूं कि तू [**शचीपते**]=शक्ति का पति बनता है। इन्द्र की पत्नी शची ही तो है। वस्तुत: इन्द्र का इन्द्रत्व इसी शक्ति में है। कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी=(रुच् दीप्तौ) दीप्ति है—शक्ति की आभा ही है। राम की पत्नी भी सीता=मूलाधार चक्र में स्थित कुण्डलिनी शक्ति ही है। जीव शक्ति के बिना कुछ है ही नहीं। जीव में शक्ति है—नहीं, जीव शक्ति ही है। इस शक्ति से उसने (१) प्रभु के समीप पहुंचना है (२) अपने में दिव्यगुणों का विस्तार करना है (३) और ज्ञान के आवरणभूत काम का विध्वंस करना है। इस शक्ति को प्राप्त करने का साधन यह है कि वह [**इन्द्र**] इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है तो [**शचीपति**] शक्तियों का स्वामी भी बनता है। यही व्यक्ति प्रभु का सच्चा गायन करने वाला 'प्रगाथ' है, उत्कृष्ट स्वभाव वाला 'घोर' है और कण-कण करके शक्ति संचय करने से 'काण्व' है।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूं, शचीपति बनूं। प्रभु के समीप पहुंचूं, दिव्यगुणों का विस्तार करूं। और वृत्र का विनाश करूं।

शम्बर का शमन

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २
यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयन् ।
३ र१ २र ३ १र २र
अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥२॥३९२॥

प्रभु कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! [**अयं**]=यह [**सः**]=वह [**सोमः**]=वीर्य शक्ति है जो [**ते**]=तेरे लिये [**सुतः**]=उत्पन्न की गई है। तुझे चाहिये कि तू [**पिब**]=इसका पान करे। इसका अपव्यय न होने दे। यह वह सोम है [**यस्य**]=जिसके [**मदे**]=शक्ति के गौरव के अनुभव होने पर [**त्यत् शम्बरं**]=उस शंवर को [**रन्धयन्**]=तू रन्धन करता हुवा (re d) समाप्त करता हुवा होता है।

गत मंत्र में 'वृत्र विनाश' का उल्लेख था, प्रस्तुत मंत्र में 'शंवर-शमन' का प्रकरण है। शम्=शान्ति का वर=वरण कर देने वाला यह ईर्ष्या-द्वेष नामक असुर है। ईर्ष्यालु पुरुष का मन कभी शान्ति का अनुभव नहीं करता। चूंकि यह स्वास्थ्य, धन, सुप्रजा वसु-यश को पाकर भी दूसरे को कुछ आगे बढ़ा देखकर जलता ही रहता है। [**ईर्ष्यालोर्मृतं मनः**]=ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत सा रहता है। इसे तो तभी शान्ति आती है, जबकि यह दूसरे के पतन को देखता है। एक के पतन के बाद किसी

और की स्पर्धा चल पड़ती है—और फिर उसका मन उसी तरह अशान्त हो जाता है। सो इस शंवरासुर=ईर्ष्या का तो नाश करना ही है। इसका नाश सोम-पान से ही हो सकता है। सोम का पान जहां वृत्र का विनाश करता है, वहां इस शंवर का भी। संयमी पुरुष ईर्ष्या से दूर रहता है। ईर्ष्या से दूर होकर इसका मन प्रसन्न होता है। इस प्रसन्नता से दुःखों का नाश ही नहीं, अपितु बुद्धि का पर्यवस्थान भी होता है। और मनुष्य ज्ञान के प्रकाश के मार्ग में आने वाले विघ्नों को समाप्त करने वाला बनकर 'दिवोदास' कहलाता है [**दिवोदासाय**] - दिवोदास के लिये शंवर का रन्धन आवश्यक है। ईर्ष्या प्रकाश के मार्ग में सब से बड़ा विघ्न है। दिवः=प्रकाश के मार्ग में आने वाले विघ्नों को दास=नष्ट करने वाला। ईर्ष्या को नष्ट करके यह अपने ज्ञान को उज्ज्वल करता है—'बार्हस्पत्यः' कहलाता है, और शक्ति संयम करके 'भारद्वाजः' होता है।

भावार्थ—मैं सोम की रक्षा के द्वारा ईर्ष्या की वृत्ति से ऊपर उठूं।

Grand like a Mountain

पर्वत के समान पृथु

१ २ ३ १ २ ३ उर
एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य । गिरिर्न
३ १ २ ३ १र २ २र ३ २
विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥३॥३६३॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'नृमेध'=सब मनुष्यों से सम्पर्क रखने वाला='वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्ति वाला आंगिरस=एक-एक अंग में रस वाला है। वृत्र और शंवर (काम और ईर्ष्या) का विनाश करके इसे ऐसा बनना ही था। प्रभु इससे कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता [**नः**]=हमें [**आगधि**]=प्राप्त होवो, आओ हमारे पास बैठो। ऐ [**प्रिय**]=अपने काम और ईर्ष्या के विनाशरूप कर्मों से हमें प्रीणित करने वाले आओ। तू तो [**सत्राजित्**]=सचमुच विजेता है। जिसने बाह्य शत्रुओं को जीता उसने क्या विजय प्राप्त की। वस्तुतः विजय तो तेरी है तूने इन आन्तर शत्रुओं पर विजय पाई है। [**अगोह्य**]=तेरा कोई भी कर्म छिपाने योग्य नहीं। तामस कर्म ही हमारी लज्जा के कारण व छिपाने योग्य हुवा करते हैं। तेरे तो कर्म सात्विक हैं, तू तो अपने उन कर्मों को सभी से 'जाने जायें' ऐसा ही चाहता है—उनमें कुछ भी गोप्य नहीं। शुभ कर्म प्रकाश से घबराते नहीं, अशुभ कर्मों को ही अन्धकार की चाह होती है।

तूने तो अपने जीवन को ऐसा बनाया है कि [**गिरिः न**]=पर्वत के समान वह [**विश्वतः**]=सब दृष्टिकोणों से [**पृथुः**]=विस्तृत है। तेरा शरीर भो विशाल है, मन भी विशाल है और दृष्टिकोण भी विशाल है—मस्तिष्क के सोचने की दिशा में 'दीर्घं पश्यत' (दूर दृष्टि बनो) यह तेरा सूत्र है। जहां शरीर के दृष्टिकोण से तूने अंग-प्रत्यंग को शक्ति सम्पन्न बनाकर दृढ़ बनाया है और तू 'भरद्वाज' कहलाया है, वहां [**दिवः पतिः**]=तू ज्ञान का पति बना है, ऊंचे से ऊंचे ज्ञान का पति बनकर तू बार्हस्पत्य हुवा है। ऐसा बनकर तू तो हमारा बड़ा प्रिय बना है ज्ञानी तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है, सो आओ, मेरे समीप आओ। मेरे में स्थित होवो।

भावार्थ—मैं (१) जितेन्द्रिय, (२) कामादि के नाश से प्रभु को प्रीणित करने वाला, (३) सत्य विजेता, (४) प्रकाशमय कर्मों वाला, (५) पर्वत की तरह विशाल व (६) प्रकाश का पति बनकर प्रभु के पास पहुंचूं।

अत्रि निहनन

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।
२ ३ २ ३ २ २ ३ १ २
येना हंसि न्या३त्रिणं तमीमहे ॥४॥३६४॥

गत मंत्र की भावना के अनुसार पर्वत की

तरह विशाल (grand) बनकर यह 'पर्वत' ही बन गया है। यह पर्वत बनने की साधना कण-कण करके हुई सो यह 'काण्व' है। प्रभु इससे कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता और अतएव [**शविष्ठ**]=अत्यन्त शक्ति सम्पन्न जीव [**यः**]=जो [**सोमपातमः**]=सोम (Vitality) का अधिक से अधिक पान करने वाला तेरा [**मदः**]=गौरव का अनुभव [**चेतति**]=तुझे चेतनामय बनाता है—जागरित करता है, और इसीलिये तुझे प्रमाद की मदिरा को पीकर उन्मत्त नहीं होने देता, हम तो तेरे [**तम्**]=उसी मद को [**ईमहे**]=चाहते हैं। वस्तुतः प्रभु जीव से यही चाहते हैं कि वह 'इन्द्रियों का अधिष्ठाता बने, सोम का अधिक से अधिक पान करे, गौरव का अनुभव करे, शक्तिशाली बने, और सदा चेतना में रहे अपने स्वरूप को भूल न जाय।

जिस समय जीव अपने स्वरूप को भूलता नहीं तो वह चित्तवृत्तियों को अपने पर प्रबल नहीं होने देता—यह कभी क्रोध के वश में नहीं हो जाता। इसी से मंत्र में कहते हैं कि हम तेरे उस मद को चाहते हैं [**येन**]=जिससे तू [**अत्रिणं**]=अपने आधार को खा जाने वाले (अद् भक्षणे) इस क्रोध को [**निहंसि**]=निश्चय से मार डालता है। सोम का पान करने वाला शक्तिशाली पुरुष क्रोधाभिभूत होता ही नहीं। क्रोध तो उसके पांव को दबाने वाला सेवक बन जाता है। क्रोध को अत्रि कहा है चूंकि क्रोध करने वाला अपने इस क्रोध से ही शतशः नाड़ी संस्थान के रोगों से पीड़ित हो जाता है। यह क्रोध उसे खा सा जाता है। परन्तु जब मनुष्य सचमुच संयम से उत्पन्न अपने गौरव की भावना से भर जाता है तो क्रोध को कुचल देता है और प्रभु का प्रिय बनता है।

भावार्थ—मैं क्रोध को अपने गौरव से गिरा हुवा समझूं और कभी उसके वश में न होऊं।

प्रकाशमय जीवन

३ १र २र ३ २उ २ १ २ ३ : :
तुचे तुनाय तत्सु नो द्राधीय आयुर्जीवसे।
१ २ ३ १ २
आदित्यासः समहसः कृणोतन ॥५॥३९५॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'इरिम्बिठि काण्व' है—जिसका हृदयान्तरिक्ष गति के संकल्प से पूर्ण है (बिठ=अन्तरिक्ष, इर्=गतौ)। यह निरन्तर गति करता हुवा थोड़ा-थोड़ा करके अपने अन्दर प्रकाश को भरने का प्रयत्न करता है सो 'काण्व' है। यह 'इरिम्बिठि काण्व' प्रार्थना करता है कि हे [**स-महसः**]=तेजस्विता वाले [**आदित्यासः**]=आदित्यो? [**नः तत् आयुः**]=हमारे उस आयुष्य को [**जीवसे**]=उत्तम जीवन के लिये [**द्राधीयः**]=विदीर्ण अन्धकार वाला (दृ—विदारणे) [**सुकृणोतन**]=उत्तमता से करो। दीर्घ शब्द का अर्थ लम्बा है। हिन्दी में 'चल लम्बा हो' इस मुहावरे में लम्बे होने का अर्थ भाग जाना ही है। इस भावना को लेकर भी प्रार्थना का स्वरूप यही है कि हमारे जीवन को ऐसा बनाओ जिसमें से कि अन्धकार भाग गया है। आदित्यों का विशेषण 'समहसः' देकर प्रकाश के साथ तेजस्विता की याचना का भी संकेत है। हमारा जीवन प्रकाशमय व तेजस्वी हो। जीवन तो है ही वह जो कि विज्ञान व विक्रम के यशों से सम्पन्न अविरहित है। इनके बिना तो जीवन लोहार की भस्त्रा के समान है, वह भी तो श्वास लेती ही है।

हमारे बाद भी हमारा घर प्रकाश व तेज से रहित न हो, सो मंत्र में प्रार्थना करते हैं कि [**तुचे**]=हमारे पुत्रों के लिए भी प्रकाशमय जीवन को करिये। पुत्र के बाद [**तुनाय**]—पौत्र (तुन=वंश-विस्तार करने वाला) के लिए भी प्रकाश को प्राप्त कराइये। पौत्र के लिए ही क्या! 'अपत्यं पौत्र-प्रभृति गोत्रम्' इस नियम से कि पौत्र से लेकर सब सन्तान गोत्र कहलाते हैं हमारे गोत्र को आप प्रकाशमय व तेजस्वी बनाइये।

आदित्यों से प्रार्थना का अभिप्राय यह है कि

सूर्य की बारह संक्रान्तियों से जो बारह आदित्य कहलाते हैं और जिनसे बारह मास बनते हैं हम उन मासों के नक्षत्रवादी नामों से यह बोध लें कि (१) हम इस संसार वृक्ष की 'विशाखा'=विशिष्ट सर्वोत्तम शाखा बनेंगे (२) यह संकल्प ही हमें 'ज्येष्ठा' ज्येष्ठ बनायेगा (३) ज्येष्ठ बनने का अभिप्राय 'अषाढ़ा' काम आदि शत्रुओं से न पराजित होना है (४) इसके लिये आवश्यक है कि 'श्रवणा' हम विद्वानों के उपदेश का श्रवण करें (५) यही 'भद्रपदा' कल्याण का मार्ग है। (६) इस पर चलने के लिए 'अश्विनी'=कलकल की (श्वः श्वः) उपासना नहीं करनी। (६) कृत्तिका=कामादि शत्रुओं का अभी से छेदन प्रारम्भ कर देना है। (७) इनको ढूंढ २ कर इनका नाश करना है, सो हम 'मृगशिरस्'=ढूंढने वालों के मुखिया बनें। (८) इनको नष्ट करके 'पुष्य' अपना पोषण करें। (९) यथा =हमारे जीवनों में (मा-अघ) पाप का लवलेश न हो और यह निर्मलता के उस ऐश्वर्य से संपन्न हो जिससे कि (१०) संसार का ऐश्वर्य 'फल्गुनी' फोक सा प्रतीत हो और (११) चित्रा हमारे जीवनों में यह 'आश्चर्य' कर सकने वाले हम बनें।

भावार्थ—आदित्यों से प्रेरणा को प्राप्त कर के हम अपने जीवनों को प्रकाशमय बनायें।

दुर्गति से दूर व निर्मल

२ ३ १र . २र ३ १ २ ३ १ २
वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥६॥३९६॥

ऐ [**वज्रहस्त**]=(वज् गतौ) गतिशील हाथ वाले—अर्थात् सदा क्रियामय जीवन बिताने वाले? तू [**हि**]=निश्चय से [**निर्ऋतीनां**]=दुर्गतिओं के [**परिवृजम्**]=सर्वथा वर्जन को [**वेत्था**]=जानता है, अनुभव करता है। 'नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति'=कोई भी शुभ कार्यों को करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। जिसका भी जीवन क्रियाशील है वह सांसारिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता ही है, निर्धनता उसका भाग्य नहीं। 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः', उसके दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है तो बायें में विजय। 'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'=कर्म करने के लिये ही हाथ दिये गये हैं। जो भी व्यक्ति इनको क्रिया में व्याप्त रखता है, वह सदा अभ्युदय को प्राप्त करता है।

इसके साथ ही [**अहरहः**]=प्रतिदिन [**परिपदाम् इव**]=जो सदा गति वाले होते हैं उनके समान यह [**शुन्ध्युः**]=अपना शोधन करने वाला होता है। निरन्तर चलता हुआ जल शुद्ध बना रहता है। सक्रिय शरीर नीरोग रहता है। इसी प्रकार क्रियाशील व्यक्ति आत्मिक दृष्टिकोण से निर्मल रहता है, उसके मन में अशुभ विचार उत्पन्न नहीं होते। वह औरों का बुरा सोचना तो दूर रहा औरों से की जाती हुई निन्दा को भी नहीं सुनता। उसे अवकाश ही नहीं—स्तुति-निन्दा करना व सुनना तो आलसियों का काम है। इसका मन निर्मल होकर उदार बन गया है। सभी के प्रति उत्तम मन वाला यह 'विश्वमना' है—उत्तम कर्मेन्द्रियों वाला होने से 'वैयश्व' है।

भावार्थ—मैं क्रियाशील बन कर दुर्गति व मलों से दूर रहूं।

रोग कुत्सा दुर्मति का यावन

१र २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥७॥३९७॥

हे [**आदित्यासः**]=आदित्यो! निरन्तर क्रियाशीलता का उपदेश देने वाले सूर्यो? [**नः**]=हमें अपनी प्रेरणा से क्रियाशील बना कर [**अहंसः**]=कुटिलता से [**युयोतन**]=पृथक् करो। तमोगुणी आलसी पुरुष अत्यधिक बदले की भावना से चलता है, वह कुटिलता की दिशा में ही सोचता है। हम आदित्यों की प्रेरणा से क्रियाशील बन कर कुटिलता से दूर हों। कालिदास के शब्दों में सूर्य ने सृष्टि के

प्रारम्भ में एक बार ही रथ जोता है—और वह निरन्तर चल ही रहा है। सूर्य बार-बार इसे खोलेगा और जोतेगा' ऐसी बात नहीं। किस प्रकार सतत क्रियाशीलता है ? आत्मा भी तो 'अत सातत्य-गमने' सदा क्रियाशील है। क्रियाशीलता ही इसे कुटिलता से बचा सकती है।

कुटिलता से बचने के साथ क्रियाशीलता के परिणाम रूप ये आदित्य [**अमीवां**] ='रोग क्रमियों को हमारे से अपसेधत=दूर करते हैं। अकर्मण्य आलसी शरीर में ही बिमारियां आती हैं। व्यायामशील के समीप तो बिमारियां उसी प्रकार नहीं आतीं जैसे कि गरुड़ के समीप सर्प। हे आदित्यो ? [**स्रिधम्**] =कुत्सा को, हिंसा को औरों के प्रति द्वेषादि की भावना को [**अपसेधत**]=हमारे से दूर करो। स्तुति-निन्दा में वे ही व्यक्ति चलते हैं जो कि अकर्मण्य होते हैं। इसी प्रकार [**दुर्मतिम्**]=अशुभ विचारों को [**अपसेधत्**]=हमारे से दूर करो। क्रियाशील व्यक्ति का मस्तिष्क भी कभी रद्दी विचार धाराओं को अपने मस्तिष्क में स्थान नहीं देता। इसीलिये हमें 'इरिम्बिठि' बनना ही चाहिये। हम थोड़ा २ करके इस बात का अभ्यास करें कि हमारे हृदय कर्म संकल्प वाले हों।

भावार्थ—मैं आदित्यों से क्रिया की प्रेरणा को प्राप्त करके रोग-कुत्सा व दुर्गति से दूर हो जाऊं।

प्रभु का अंतिम निर्देश

२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३.१ २
पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव
३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हर्यश्वाद्रिः। सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥८॥
३९८॥

वेद के अन्दर स्थान-स्थान पर हम यह देखते हैं कि जहां कहीं शरीर, मन व बुद्धि के उत्थान की प्रार्थना है वहां प्रभु ने 'सोमपान' का निर्देश किया है। चारों वेदों की समाप्ति पर। (यस्मात् कोशाद् उदभराम वेदम् तस्मिन् अन्तः अवदध्म एनम्) अथर्व के २० वें काण्ड में 'पिब सोमं ऋतुना'=यही उपदेश है कि समय रहते सोमपान करना। युवावस्था में ही सोमरक्षा का ध्यान करना। प्रस्तुत मंत्र में भी प्रभु यही कहते हैं कि यदि तूने 'रोग-कुत्सा व दुर्गति' को दूर करना है तो ऐ [**इंद्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव तू [**सोमं पिबा**]=सोम का पान कर। यह सोम [**त्वा**]=तुझे [**मन्दतु**]=हर्षित करे। इसके कारण तेरा जीवन उल्लासमय हो। उस सोम को तू पी [**यं**]=जिसको कि [**ते**]=तेरे लिये [**हर्यश्वाद्रिः**]=(हरि=मनुष्य, अश्व=व्याप्त, अद्रि=वज्र) सब मनुष्यों के अन्तः स्थित होकर प्रेरणा देने वाले और वज्रहस्त वाले प्रभु ने [**सुषाव**] =उत्पन्न किया है। प्रभु प्रेरणा देते हैं, पर लाचारी में वज्र प्रहार भी करते हैं प्रभु के इसी वज्र से वस्तुतः जीव धर्म के मार्ग पर चलता है। इसी बात को ध्यान में रख कर शिव को रुद्र भी कहा गया है। रुद्र हैं, इसी से शिव हैं।

यह सोम [**सोतुः**]=जिसके लिये सोम का सवन हुआ है उस सोता जीव के [**बाहुभ्यां**]= हाथों से निरन्तर किये जाने वाले प्रयत्नों से (बाहृ प्रयत्ने) [**सुयतः**]=उत्तम प्रकार से नियंत्रित होता है। निरन्तर प्रयत्न में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता, और इस प्रकार सोम की रक्षा में समर्थ होता है। सोम की रक्षा करके यह [**अर्वान**]=अश्व की तरह शक्तिशाली होता है। अश्व शक्ति का प्रतीक है। यह सोमपान करने वाला भी अश्व शक्ति का पुंज बनता है।

सोम को सुयत=उत्तम प्रकार से निमंत्रित करने वाला यह सचमुच वसिष्ठ=वशियों में श्रेष्ठ है। है। इस वशित्व के लिये ही यह "मैत्रावरुणि" प्राणापान की साधना वाला बना है।

भावार्थ—'सोमपान' यह प्रभु का अन्तिम निर्देश है—मैं उसके पातन को अपना पवित्र कार्य समझूं।

नोट—सोता=जीव—जिसके लिये सोम पैदा किया गया है। सविता=परमात्मा—जो सोम के उत्पादन की व्यवस्था करता है। ●

॥२॥ ऋषिः—१—६, ९, १० सौभरिः; ७, ८ नृमेधः ॥ देवता—१, २, ४, ५, ७—१० इन्द्रः; ३, ६ मरुतः ॥ छन्दः—ककुप् ॥ स्वरः—ऋषभः॥

(जीव स्वभावतः पवित्र है) तीन प्रकार का युद्ध

३ २ ३ १र २र ३ १ २
अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सनादसि । युधेदापित्वमिच्छसे ॥१॥३९९॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि [**इन्द्र**]=ऐ जीवात्मन् [**त्वम्**]=तू [**जनुषा**]—जन्म से [**सनात्**] अनादिकाल से [**अभ्रातृव्य**]=भ्रातृव्य शत्रु से रहित [**असः**]=है [**अना**]=(नृ=नेता) नेता से रहित है और [**अनापिः असि**]=(आपि=a friend) मित्र से रहित है। संसार के अन्दर वैयक्तिक संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं और उन वैयक्तिक संघर्षों में ईर्ष्या-द्वेष यहां तक बढ़ जाता है कि भाई-भाई नहीं रह जाता, (भ्रातुर्व्यन् सपत्ने) वह भ्रातृव्य हो जाता है। शत्रु बन जाता है। इन युद्धों में पड़कर मनुष्य का जीवन अशान्त हो जाता है—उसको दूसरे के पतन में कुछ आनन्द का सा अनुभव होने लगता है। उसकी शक्ति अपने उत्थान में नहीं लगती—अपितु दूसरे को गिराने में। इन वैयक्तिक युद्धों के द्वारा वह कितने ही भ्रातृव्यों को पैदा कर लेता है।

इसी प्रकार कई बार राष्ट्रों के परस्पर हित टकराते प्रतीत होते हैं—या एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को स्वार्थवश दबाना चाहता है तो उस समय राष्ट्रीय हित की भावना (देशभक्ति=Patriotism) राष्ट्रों को परस्पर लड़ा देती है। अपने प्राणों को हथेली पर लेकर देशभक्त लोग एक दूसरे को कुचल डालने के लिए, और अपने राष्ट्र के गौरव की स्थापना में तुल जाते हैं। इस कार्य के लिये उन्हें अपना-अपना एक मुखिया=नेता चुनना पड़ता है। यह कमाण्डर-इन-चीफ (अधिनायक) जैसा-जैसा कहता है वैसा-वैसा ही ये अनुयायिवर्ग करता है। ये सब इन युद्धों के कारण 'ना'—नेता वाले हो जाते हैं।

इन दोनों युद्धों के अतिरिक्त एक युद्ध और भी है, और वह युद्ध हृदयस्थली पर चलने वाला दैवी व आसुरी वृत्तियों का संघर्ष है। इसे ही देवासुर संग्राम भी कहते हैं। हम जानते हैं कि यह धर्म है, निश्चय भी करते हैं कि ऐसा ही करेंगे परन्तु उधर हमारी प्रवृत्ति नहीं होती। अधर्म को जानकर उससे हटने का निश्चय करते हैं और उससे हट नहीं पाते। (जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः), इस देवासुर संग्राम में हमें काम बड़ा प्रमाथि व कुचल देने वाला दिखता है=क्रोध अजय्य सा प्रतीत होता है। बार-बार असमर्थ होकर हम उस अचिन्त्य शक्ति की ओर झुकते हैं और उससे कहते हैं कि "त्वया स्विद् युजावयम्" =तेरे से मिल कर ही हम इन्हें जीत सकेंगे। सचमुच इस आध्यात्मिक [**युधा इत्**]=युद्ध के द्वारा ही, प्रभु कहते हैं कि ऐ जीव? [**आपित्वम्**]=तू मेरी मित्रता को [**इच्छसे**]=चाहता है।

वैयक्तिक ईर्ष्या द्वेष की लड़ाइयों के द्वारा भ्रातृव्यों को, राष्ट्र व युद्धों के द्वारा नेताओं को और इस आध्यात्मिक युद्ध के द्वारा मनुष्य प्रभु की मित्रता को चाहता है। भ्रातृव्यों को जुटा कर क्या करना? नेताओं के पिठलग्गू बन कर 'ना' वाला बन कर भी कतल ही करना होता है। हम तो आध्यात्मिक संग्राम के द्वारा प्रभु की मित्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जिसने भी अपने जीवन में इन्हीं संग्रामों को महत्त्व दिया उसी ने वस्तुतः अपने कर्त्तव्य का उत्तम पालन किया। इस संसार नाटक में अपने कर्त्तव्य भाग का उत्तम प्रकार से भरण करने से वह 'सौभरि' कहलाया। ऐसा वह कण-कण करके कर पाया सो वह 'काण्व' हुआ।

भावार्थ—आध्यात्मिक संग्राम के द्वारा हम प्रभु के मित्र बनें।

उत्तम धनों की प्राप्ति

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ १ १ २
यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व
१ २ ३ १ २ ३ १ २
स्तुषे । सखाय इन्द्रमूतये ॥२॥४००॥

सोभरि ऋषि कहते हैं कि [**यः**]=जो प्रभु [**नः**]=हमारे लिये [**इदम् इदम्**]=इस इस प्रत्यक्ष दृश्य व प्राप्त [**प्रवस्यः**] प्रकृष्ट धन को [**आनिनाय**]=प्राप्त कराता है [**वः**]=तुम्हारे [**तम्**]=उस प्रभु को [**उ**]=ही [**स्तुषे**]=स्तुत करते हैं। हम उस प्रभु की ही स्तुति करते हैं। उस प्रभु ने हमारे शरीर की रक्षा व धारण के लिये किस प्रकार उत्तमोत्तम फलों, शाकों व अन्नों को उत्पन्न किया है। मानस उन्नति के लिये सृष्टि को विविध सौन्दर्यों से किस अद्भुत प्रकार से भर दिया है? और संसार के रहस्यों को समझाने के लिये हमें बुद्धि दी है। इस बुद्धि के उपयोग से मनुष्य ने किस प्रकार विद्युदादि तत्वों पर आधिपत्य प्राप्त करके अपने जीवन को किस प्रकार सुखमय बना लिया है?

सोभरि कहते हैं कि [**सखायः**]=ऐ मित्रो! [**इन्द्रम्**]=उस प्रभु को ही हम पूजें, ताकि [**ऊतये**]=अपनी रक्षा के लिये समर्थ हों। उस प्रभु की उपासना से दूर होने पर ये प्राकृतिक फल शाकादि भोज्य पदार्थ विविध भोगों में परिणत हो जाते हैं और हमारी इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण कर देते हैं। प्रभु की उपासना से दूर होने पर ये प्राकृतिक सौन्दर्य मन को प्रसन्नता से भरने के स्थान पर प्रलोभनों से भर देते हैं और हमारा मन हीनाकर्षण का शिकार बन जाता है। इसी प्रकार प्रभु की उपासना से दूर होनें पर हमारी बुद्धि भी रेडियो के आविष्कार के स्थान पर अणुबम्ब के निर्माण में लगती है और नाश को उपस्थित कर देती है। प्रभु की उपासना ही [**उतये**]=रक्षा के लिये है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के विना सब उत्तम वसु रक्षा के स्थान पर नाश के कारण बन जाते हैं।

दूर क्यों ?

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावनो माप स्थात
३ १ २
समन्यवः । दृढा चिद्यमयिष्णवः ॥३॥४०१॥

चूंकि प्रभु की उपासना के विनास भी उत्तमवसु धन नाश का कारण बन जाते हैं, सो [**आगन्त**]=आओ, प्रभु की उपासना में सम्मिलित होवो। सखा बनकर सब मिल कर उस प्रभु की स्तुति करो। और इस प्रकार [**मा**]=मत [**रिषण्यत**]=हिंसित होवो। प्रभु की उपासना करने पर न तो हम भोगों में फंसेंगे, न सौन्दर्य के प्रलोभनों का शिकार होंगे, और नांही बुद्धि का दुरुपयोग करेंगे।

[**प्रस्थावानः**]=ऐ उत्तम (प्र) स्थिति (स्था) वालो—शमदमादि उत्तम विचारों में स्थित साथियो [**मा अपस्थात**]=दूर मत स्थित होवो, प्रभु की स्तुति में शामिल होवो। [**स-मन्यवः**]=सदा उत्तम ज्ञान वाले बनो अथवा सदा उत्साह संपन्न होवो। [**दृढ़ाचित्**]=तुम अपने उत्तम संकल्पों में इसी प्रकार दृढ़ बनोगे और [**यमयिष्णवः**]=अपने को सदा व्रतों व नियमों के बन्धन में बांधने के स्वभाव वाले होवोगे। एवं प्रभु की उपासना से उत्साह, दृढ़ता व व्रतरुचिता प्राप्त होती है और मनुष्य का जीवन बड़ा सुन्दर व्यतीत होता है। वह आगे और आगे ही बढ़ता है सो प्रभु की उपासना से दूर क्यों होना?

भावार्थ—मैं सदा प्रभु की उपासना की रुचि वाला बनूं ताकि मेरी हिंसा न हो, मेरी शमदमादि में स्थिति बनी रहे, मैं उत्साह वाला, दृढ़ व संयमी बनूं।

प्रभु का आमन्त्रण

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ याह्ययमिन्दवेऽश्वपते गोपत उर्वरापते ।
१ २
सोमं सोमपते पिब ।।४।।४०२।।

प्रभु जीव से कहते हैं कि [**आयाहि**]=आ [**अयं**]=यह सोम [**इन्दवे**]=तेरे परमैश्वर्य के लिये होगा। ऐ [**सोमपते**]=सोम की रक्षा करने वाले या सोम के स्वामिन् जीव ! तू [**सोमं पिब**]=सोम का पान कर। यह सोम तुझे सचमुच परमैश्वर्य को प्राप्त कराने वाला होगा। इस सोम के पान से तुझे [**अश्वपते, गोपते, उर्वरापते**]=इन शब्दों से सम्बोधित किया जा सकेगा। तू अश्वपति बनेगा, तू गोपति होगा, और तू उर्वरापति कहलायेगा। कर्मों में व्याप्त होने वाली कर्मेन्द्रियां 'अश्व' कहलाती हैं। तू इनका पति बन कर इन्हें सदा यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों में व्याप्त रखेगा। [**गमयन्ति अर्थान्**]=तत्त्वज्ञान को देने के कारण ज्ञानेन्द्रियाँ 'गो' कहलाती हैं। तू इनका पति बनेगा, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का ठीक उपयोग करता हुआ तू तत्वज्ञान को प्राप्त करने वाला होगा। जैसे उर्वरा भूमि सर्वसस्याढ्य भूमि को कहते हैं। उसी प्रकार नव-नव उन्मेषशालिनी=नये-नये विचारों को सुझाने वाली अथवा विचारों को नये-नये प्रकार से प्रकट करने वाली प्रतिभा बुद्धि को यहां 'उर्वरा' कहा गया है। सोम के पान से यह जीव उर्वरापति बनेगा।

कर्मेन्द्रियों का उत्तम होना, ज्ञानेन्द्रियों का सूक्ष्मता तक देखने वाला होना, और बुद्धि का तीव्र होना यह सोमपान के लाभ हैं। यही सर्वोच्च ऐश्वर्य है। सोम के पान से यह सोभरि इस ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाला बना है। इसीलिये तो प्रभु ने उसे आमन्त्रित किया था कि वह आये और इस सोम का पान करे।

भावार्थ—हम प्रभु के आमन्त्रण को स्वीकार करके सोमपान करने वाले बनें।

जितेन्द्रियों के संपर्क में

१ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ
३ १र २र ३ १ २
ब्रुवीमहि । संस्थे जनस्य गोमतः ।।५।।४०३।।

प्रभु ने सोमपान के लिये आमंत्रण दिया। सोभरि उस आमंत्रण को सुनकर अनुभव करता है कि इस आमंत्रण के स्वीकार में सबसे बड़ा विघातक 'काम' है। उसको पराजित करना भी तो उसके लिये सुगम नहीं है। सो वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**त्वया**]=आप से [**ह स्विद्**]=निश्चय पूर्वक [**युजा**]=साथी से मिलकर [**वयं**]=हम [**वृषभ**]=शक्तिशालिन् सुखों की वर्षा करने वाले प्रभो ? [**श्वसन्तं**]=इस फुंकार मारते हुए बड़े बल के दर्प वाले इस काम रूप शत्रु को [**प्रतिब्रुवीमहि**]=युद्ध के लिये ललकार दें। उसके आह्वान का ठीक प्रत्युत्तर दे दें—उसके चैलेंज को ऐक्सप्ट करलें। ऐ प्रभो ? आपकी सहायता के बिना मेरे लिये इसे जीत सकने का संभव नहीं। इसे जीते बिना मेरे लिये सोमपान के आमंत्रण का स्वीकार भी तो असंभव है।

हां, आपकी निराकारता मुझ घबराये हुए के लिये, एक बड़ी समस्या को उपस्थित कर देती है। मैं आप के पीछे आऊं भी तो कैसे ? देखूँ, तभी तो। न आपको देख पाता हूं, और न आपका अनुगामी बन पाता हूं। ऐसी स्थिति में इसका एक ही हल है, और वह यह कि मैं उन व्यक्तियों का अनुगामी बनूं जो कि आपका साक्षात्कार करके आपके पीछे आ रहे हैं। [**गोमतः**[=प्रशस्त इन्द्रियों वाले [**जनस्य**]=लोगों के [**संस्थे**]=साथ मिलकर ठहरने में ही मेरा कल्याण है। ये लोग आप तक पहुंचेंगे तो इनके पीछे चलता हुआ मैं भी आप तक क्यों न पहुंचूंगा ? आपकी छत्र-छाया रहते हुए ये कामादि वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते, तो इनकी छत्रछाया मुझे भी इस

आक्रमण से अवश्य बचायेगी ही। वे निराकार के उपासक हैं, तो मैं इन निराकार के साकार उपासकों का साकार उपासक हूं। आपके संग से ये तैरेंगे, और इनके संग से मैं। हे प्रभो ? आपकी कृपा से इन प्रशस्तेन्द्रिय विकासशील सन्तों के संपर्क को पाकर, कामादि को जीतकर मैं आपके सोमपान के आमंत्रण को स्वीकार करने वाला बनूं। तभी तो मैंने इस अपने मानवजीवन के कर्तव्य का सुभरण किया होगा।

भावार्थ—मैं सदा प्रशस्तेन्द्रिय सन्तों के संपर्क में रहनेवाला बनूं।

जीवनयात्रा की तीन बातें

१ २   ३ १ २   ३क २र   ३ २ ३
गावश्चिद् घा समन्यवः सजात्येन मरुतः
१ २   ३ १ २   ३ १ २   ३ २
सबन्धवः। रिहते ककुभो मिथः ॥६॥
॥४०४॥

सज्जनों के संपर्क में रहते हुए हमें प्रयत्न करना चाहिए कि [**गावः**]=हमारी इन्द्रियां [**चिद् घा**]=निश्चय से [**समन्यवः**]=मन्युसहित हों। 'मन्यु' शब्द 'दैन्य, ऋतु, व क्रोध' इन अर्थों का वाचक है। 'ऋतु' के अन्दर भावना 'ज्ञान व कर्म' दोनों की समाविष्ट है। 'गावः' शब्द इन्द्रियों का वाचक है। जब 'गौ और अश्व' दोनों शब्दों का प्रयोग होता है तो उस समय गौ का अर्थ ज्ञानेन्द्रिय है, अश्व का अर्थ कर्मेन्द्रिय है। परन्तु ये दोनों शब्द अलग-अलग भी इन्द्रियों के वाचक हैं। केवल गो शब्द भी सब इन्द्रियों को कह देता है और केवल अश्व शब्द भी सब इन्द्रियों को कहता है। ज्ञान को मुख्यता देनी हो तो 'गो' कर्म को मुख्यता देनी हो तो 'अश्व'। एवं यहां कहना यह है कि हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाली हों सो 'गावः' का प्रयोग हुवा है। ये इन्द्रियां ज्ञान+कर्म को अपना ध्येय बनायें। 'विज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञ' का विस्तार करने वाली ये इन्द्रियां हों। इस जीवन में मैं कर्मशून्य थोथे ज्ञानवाला न बनूं, और ज्ञानशून्य अन्धे कर्म वाला भी न होऊं।

मैं इस बात का अनुभव करूं कि [**सजात्येन**]=समान जाति के कारण, मनुष्यत्व के नाते [**मरुतः**[=सब मनुष्य [**सबन्धवः**]=समान रूप से मेरे बन्धु हैं। इस (एकत्व का) अनुभव करके मैं शोक व मोह से ऊपर उठ जाऊं। 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुश्यतः'। एकत्व का अनुभव करके मैं किसी से भी घृणा न करूं। 'अयुतोऽहं' ='मैं सबके साथ एक हूं' यह मेरी भावना हो। एकत्व भावना का प्रतिदिन अभ्यास करते हुये मैं अन्त में इस स्थिति में पहुंचूं कि [**ककुभः**]=सब दिशा में–सब दिशाओं में रहने वाले लोग [**मिथः**[=आपस में [**रिहते**]=प्रेम से चुम्बन लेने वाले हों। सबमें इस प्रकार प्रेम हो जैसे कि 'वत्सं जातमिवाघ्न्या'=उत्पन्न बछड़े को गौ प्रेम करती है। इस प्रेम से चूम चाट कर वह बछड़े को पवित्र कर डालती है। इसी प्रकार हम प्रेम से एक दूसरे के जीवन को सुन्दर बनाने वाले हों।

जिस भी मनुष्य ने इन्द्रियों में ज्ञान व कर्म का समुच्चय किया, जिसने सभी के साथ बन्धुत्व को अनुभव किया और जिसने प्रेम से सभी के जीवन को निर्मल कर दिया वह सचमुच 'सोभरि' है। उसने अपनी जीवनयात्रा का भाग उत्तमता से पूर्ण किया है।

भावार्थ—मैं केवल ज्ञानी व केवल कर्मकाण्डी न बन जाऊं। मैं सभी के साथ एक हो जाऊं। मेरा सभी के साथ संपर्क प्रेमपूर्ण हो।

ओज-नृम्ण-सहस्

१ २   ३ २   २ ३ १ २   ३ १   २
त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो
२ ३ १ २ ३ १ २
विचर्षणे। आ वीरं पृतनासहम् ॥७॥४०५॥

ऐ [**इन्द्र**]=सर्वशक्ति संपन्न प्रभो ? [**त्वं**] =आप [**नः**]=हमारे में [**ओजः**]=शक्ति को-[**आभर**]=सर्वथा भर दीजिये। 'ओज' वह शक्ति

है जो कि (ओज़=to increase) सब प्रकार की वृद्धि का कारण हुवा करती है। यह वीर्य को भी सारभूत वस्तु है। इससे अपने को भर सकने का उपाय एक ही है कि हम भी 'इन्द्र' बनें—इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें। इन्द्र की आराधना करने वाले को इन्द्र बनना ही चाहिए। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर हम शक्ति-संपन्न बनेंगे और उस दिन उस सर्वशक्तिमान् 'इन्द्र' के सच्चे उपासक होंगे।

ऐ **[शक्रततो]**=अनन्त प्रज्ञान व यज्ञ रूप कर्मों वाले प्रभो ? **[नः]**=हमें **[नृम्णम्]**=सुख को **[आभर]**=प्राप्त कराइये। वस्तुतः सुख को प्राप्त करने के लिए हमें भी 'शतक्रतु' बनना है। हमारे सौ के सौ वर्ष क्रतुमय-यज्ञमय बीतें। किंवदन्ती के अनुसार सौ यज्ञ करने वाला स्वर्गलोक का सम्राट् 'इन्द्र' ही बन जाता है। वस्तुतः यज्ञमय जीवन होने पर हमारा घर वास्तव में ही स्वर्गतुल्य बन जायेगा। 'अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वो अस्तु इष्ट-कामधुक्'=इससे हम फलें फूलेंगे और यह यज्ञ हमारी सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाला होगा। हमारा जीवन बड़ा सुखी हो जायगा। हम 'नृम्ण' के मालिक होंगे।

ऐ **[विचर्षणे]**=विशेष रूप से देखने वाले प्रभो ? हमें **[आवीरं]**=सब प्रकार से वह वीरता प्राप्त कराइये जो कि **[पृतनासहम्]**=हमें सब मनुष्यों को सह सकने के योग्य बनाये। अर्थात् हमारे में वह शक्ति हो जो कि हमें इतना उदार बना दे कि हम अज्ञ लोगों से समय-समय पर किये जाने वाले मानापमानों को सह सकें। उनकी स्तुति-निन्दा हमें विचलित करने वाली न हो। यह गुण—यह सहनशीलता हमारे में आयेगी तभी जब कि हम 'विचर्षणि' बनेंगे—प्रत्येक चीज को सूक्ष्मता से देखने वाले बनेंगे। सूक्ष्मता से देखने वा विचारने वाला क्रोध कर ही नहीं सकता। विचार और क्रोध का कभी भी सामानाधिकरण्य नहीं—क्या कहीं तेज व तिमिर एक स्थान पर रहते हैं ? विचारशील सदा सहिष्णु होता है।

यह ओजस्वी सहनशील व्यक्ति सुखी जीवन-वाला तो होता ही है—यह औरों के साथ मिलकर चलने से 'नृमेध' कहलाता है और शक्ति-संपन्न होने से 'आंगिरस' है।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय बन कर 'ओजस्वी' बनूं यज्ञमय जीवन वाला बनकर सुख को सिद्ध करुं, और तत्वज्ञानी बनकर मानापमान व स्तुति निन्दा में सम रहूं।

मुमुक्षुत्व

२ ३क २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे
२ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ससृग्महे । उदेव ग्मन्त उदभिः ॥८॥४०६॥

[अधा]=अब, ओजस्वी यज्ञशील व सहस् वाला बनकर **[हि]**=निश्चय से **[इन्द्र]**=ऐ परमैश्वर्य शाली सर्वशक्तिमान् प्रभो ? ऐ **[गिर्वणः]**=वेद-वाणियों से वननोय—सेवनीय व जीतने योग्य प्रभो ? **[कामे]**=आपको प्राप्त करने की प्रबल इच्छा के होने पर **[ईमहे]**=हम आपको पाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं और **[त्वा]**=आपकी **[उप]**=समीप से **[ससृग्महे]**=मेल करने वाले होते हैं।

कोई भी व्यक्ति प्रभु को पाएगा कब ? जबकि उसके अन्दर प्रभु को पाने की प्रबल कामना होगी। प्रबल कामना के होने पर वह पुरुषार्थ करेगा और पुरुषार्थ के परिणाम रूप प्रभु को पाने वाला होगा। पुरुषार्थ का स्वरूप भी 'इन्द्र और गिर्वणः' इन सम्बोधनों से सूचित हो रहा है। जीव को जितेन्द्रिय बनने को प्रयत्न करना (इन्द्र) और सदा वेद वाणियों का सेवन करने वाला बनना (गिर्वणः) जितेन्द्रियता व ज्ञान प्राप्ति ही वे दो साधन हैं जिनसे कि जीव प्रभु के साथ मेल को सिद्ध कर पायेगा। जितेन्द्रियता व ज्ञानप्राप्ति के लिए जीव में प्रबल कामना होनी चाहिए। इसके होने पर वह प्रभु को उसी प्रकार पा सकेगा **[इव]**=जैसे कि

[**उदा**]=पानी की प्रबल कामना से [**उदभि:**[= पानियों के साथ [**ग्मन्त**]=मेल को प्राप्त करते हैं। जब मनुष्य प्रबल तृषार्त होकर पानी की इच्छा से प्रयत्न में लगता है तो पानी को पा ही लेता है। इसी प्रकार प्रभुप्राप्ति की प्रबल अभिलाषा मुझे प्रयत्नशील बनाकर प्रभु को प्राप्त करायेगी ही। 'यह जिज्ञासु रागद्वेष से ऊपर उठ कर सब मनुष्यों से मिलकर चलता है तो 'नृ-मेध' है, शक्तिशाली होने से 'आंगिरस' है। जो अपने सजात्य बन्धुओं से मिलकर नहीं चल पाता उसने प्रभु को क्या पाना ?

भावार्थ—मेरे में प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामना हो।

अभ्यास

१ २ ३ २ ३ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २
सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे
३ १ २ ३ १र २र
विवक्षणे। अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥९॥४०७॥

गतमंत्र में प्रभुप्राप्ति के लिये प्रयत्न का संकेत है। वह प्रयत्न ही इस मंत्र में प्रतिदिन के 'अभ्यास' के रूप में चित्रित हुआ है। कहते हैं कि [**यथा**]= जैसे [**गोश्रीते**]=इस पृथ्वी पर पके हुये [**मदिरे**] =अत्यन्त मद को देने वाले [**विवक्षणे**]= (Wax to increase) प्राण शक्ति की वृद्धि के कारणभूत [**मधौ**]=पुष्परस पर [**वय:**]=पक्षी [**सदिन्त:**]=बैठते हैं इसी प्रकार से [**इन्द्र:**]= परमैश्वर्य शाली प्रभो ? हम [**ते**]=तेरे [**गोश्रीते**]=वेदवाणियों से सेवित [**मदिरे**]= उल्लास को देने वाले [**मधौ**]=अत्यन्त माधुर्य से युक्त - जहां किसी प्रकार के रागद्वेष के लिए पोषण की संभावना नहीं उस विवक्षणे=विशिष्ट (वक्षणा =नदी) नदी वाले स्थान पर [**सीदन्त:**]=बैठे हुए [**त्वाम्अभि**]=तेरा लक्ष्य बना कर [**नोनुम:**] =खूब स्तवन करते हैं।

उपासना का स्थान कैसा होना चाहिये ? (१) जिस स्थान पर वेदवाणियों का उच्चारण हो रहा हो। (२) जहां किसी प्रकार के रागद्वेष की संभावना न हो। (३) जहां सारी प्रकृति में उल्लास ही उल्लास हो (४) और नदी आदि के रूप में शान्त जल की उपस्थिति हो। भ्रमरादि भी तो ऐसे फूल पर ही बैठते हैं जो (१) पृथ्वी पर पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है। (२) रसमय है (३) हर्ष को देने वाला है (४) और प्राणशक्ति को बढ़ाने वाला है। मंत्र में 'गोश्रीते' आदि शब्द श्लेष से दोनों अर्थों को कह रहे हैं। प्रतिदिन प्रातः उल्लिखत शान्त स्थान में प्रभु का ध्यान करते हुए हम इस निरन्तर के अभ्यास से एक दिन प्रभु को अवश्य पाने वाले होंगे ही। इस प्रतिदिन के अभ्यास को करने वाला व्यक्ति ही अपने कर्तव्य का सु-भरण करने वाला 'सोभरि' बनता है। प्रतिदिन प्रभु का ध्यान करते हुए यह धीमे-धीमे उस प्रभु जैसा बन पाता है। जिसका सतत ध्यान व जप करते हैं, वैसे ही तो बन जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए हम दैनन्दिन अभ्यास अवश्य करें।

वैराग्य

३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३
वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽव-
१ २ १ २ ३ १ २
स्यवः वज्रिश्चित्रं हवामहे ॥१०॥४०८॥

प्रभु के साथ मेल के लिये चित्तवृत्तिनिरोध आवश्यक है। चित्तवृत्तिनिरोध का ही नाम 'योग' हो गया है। इस योग के प्रमुख साधन 'अभ्यास और वैराग्य' हैं। अभ्यास का उल्लेख गत मंत्र में हुवा है। प्रस्तुत मंत्र में 'वैराग्य' का वर्णन करते हैं। प्रकृति के प्रति राग का न होना ही वैराग्य है। यह प्रकृति के प्रति वैराग्य तभी होगा जबकि हम प्रभु व प्रकृति का विवेक करेंगे। बिना विवेक के वैराग्य संभव नहीं। इसी विवेक को इस रूप में कहते हैं कि हे [**अपूर्व्य**]=न पूरण करने याग्य प्रभो ? [**वयम्**]=हम [**उ**]=निश्चय से [**त्वाम्**[=आपको [**हवामहे**]=पुकारते हैं। प्रभु

सब प्रकार से पूर्ण होने से 'अपूर्व्य' हैं। प्रभु की प्राप्ति के होने पर जीव सन्तोष व तृप्ति का अनुभव करता है। इसके विपरीत प्रकृति में एक अपूर्णता है—जो कि कभी भी पूर्ण नहीं होती। प्रकृति के कितने भी अंश को प्राप्त करके जीव अतृप्त सा ही रह जाता है। इस प्रकृति में तारतम्य है, जो तारतम्य जीव को सदा अतृप्त बनाये रखता है। शती दशशत को, सहस्त्री लक्ष को, और लक्षाधीश कोटि को चाहता है और वह भी तृप्त न होकर अयुत प्रयुत व अर्बुद को चाहता हुवा चक्रवर्तित्व की कामना करता है—वह भी मंगल का भी अधीश बनना चाहता है और इस प्रकार कहीं भी आशा की अवधि नहीं आती। पूर्णता तो प्रभु की प्राप्ति में ही है।

[**स्थूरम् भरन्तः कच्चित् न**]=कृपा हम उस स्थिर अवलम्बन भूत प्रभु का अपने अन्दर भरण न करेंगे? प्रकृति के द्रव्य से साध्य यज्ञ भी मनुष्य के अदृढ़ प्लव हैं 'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः'। प्रभु ही एक स्थिर अवलम्बन हैं। प्रभु को आश्रय बनाने वाला कभी भटकता नहीं, प्रकृति को आधार बना कर चलने वाला भटकता ही रहता है। वेदों के अर्थवादों से इनकी बुद्धि चकरायी रहती है।

[**अवस्यवः**]=रक्षा चाहते हुए हम आपको पुकारते हैं। प्रकृति की ओर जाकर तो मनुष्य उसके पांव के तले कुचला जाता है। प्रभु की शरण में रहने पर वह प्रकृति का शिकार नहीं होता। प्रभु के उपासक के प्रकृति चरण चाटती है और अपने उपासक को वह खा जाती है। 'ओ३म्' शब्द की रचना में अ (परमात्मा) की ओर जाकर (उ) हम जीव उसके मस्तक पर होते हैं, और (म्) प्रकृति की ओर तो जाने पर उसके पांव के तले रोंदे जाते हैं।

[**वज्रिन्**]=ऐ प्रभो! आप स्वाभाविक गति वाले हैं (वज् गतौ) और वह प्रकृति तो 'तम' (inert, गतिशून्य) है। आपको प्राप्त करने पर मैं गति व जीवन को प्राप्त करता हूं तो प्रकृति की ओर जाकर मैं गतिशून्यता व मृत्यु का भागी होता हूं।

[**चित्रम्**]=आप (चित्र) ज्ञान के देने वाले हैं और प्रकृति मेरे ज्ञान को नष्ट कर मुझे अन्धा बनाने वाली है। 'भग' देवता नेत्र हीन होता है, है, लक्ष्मी का वाहन उल्लू है।

एवं प्रकृति और प्रभु में विवेक करने वाला व्यक्ति कभी भी प्रकृति से आसक्त नहीं हो सकता। और यह विवेक जनित वैराग्य उसे परमेश्वर की प्राप्ति के योग्य बनाता है।

भावार्थ :—मैं प्रभु और प्रकृति में विवेक करूं। (१) प्रभु प्राप्ति में तृप्ति है प्रकृति में अतृप्ति। क्या ययाति तृप्त हुवा? (२) प्रकृति का अवलम्बन अस्थिर है, प्रभु का स्थिर। प्रकृति कभी अन्त तक साथ नहीं देती। (३) प्रभु की ओर आने में रक्षा है, प्रकृति की ओर जाने में विनाश। भोगों में रोग ही तो हैं। (४) प्रभु प्राप्ति में जीवन है—प्रकृति में मृत्यु। (५) प्रभु प्रकाशमय हैं। प्रकृति अन्धकारमय। इस विवेक के द्वारा मैं प्रकृति के प्रति अनासक्त बनूं।

● ● ●

॥ ३ ॥ ऋषिः—१=८ गोतमः; ९ त्रितः; १० अवस्युः ॥ देवता—१=८ इन्द्रः; ९ विश्वेदेवाः; १० अश्विनौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः=पञ्चमः ॥

स्वराज्य के बाद

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३क२र
स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः।
१र २र ३ १ ३ २ ३ १२ ३ २ ३
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा
२ ३ १ २ ३ १ २
वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥४०९॥

वेदवाणी का आस्वादनः— वेद में गौरी शब्द 'वाच्' का पर्यायवाची है। वाणी अन्य इन्द्रियों की भी प्रतिनिधि है। अग्नि हो तो वाणी का रूप धारण करके मुख में प्रविष्ट हुई, और अग्नि देवताओं का मुख व द्वार है। यह उन सब का 'अग्रणीः' है। एवं वाणी अन्य सब इन्द्रियों का प्रतिनिधित्व

करती है। 'यस्य वाङ्मनसे गुप्ते' इन शब्दों में मनु ने भी वाणी को सब इन्द्रियों का प्रतीक माना है। यहां 'गौर्य' इस बहुवचन का प्रयोग भी यह स्पष्ट करता है कि 'गौर्यः' शब्द से सब इन्द्रियों को ही लेना है। इन इन्द्रियों के लिये कहते हैं कि [**गौर्यः**]=मेरी सब इन्द्रियां शुद्ध बनी हुई (गौर=धवल शुभ्र) [**स्वादीः इत्था**[=सचमुच आनन्द को देने वाले [**विषूवतः**]=उस सर्वव्यापक प्रभु के [**मधोः**]=मधुरूप अत्यन्त सारभूत वेद ज्ञान का [**पिबन्ति**]=पान करती हैं। 'वेद ज्ञान रस वाला है' यह अनुभव प्रत्येक स्वाध्यायशील व्यक्ति का होता है। प्रारम्भ में अगम दुर्बोध नीरस प्रतीत होने वाले मंत्र ज़रा सा प्रवेश होने पर सरस प्रतीत होने लगते हैं। अन्त में उनका आनन्द शब्द से वर्णनीय ही नहीं रहता। उनका एक-एक शब्द महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है—उनके शब्दों का क्रम चामत्कारिक दिखता है। ये वेदवाणियां मधुरूप हैं—अत्यन्त सारभूत हैं। इनका एक-एक शब्द ज्ञान का भण्डार है। इनमें संपूर्ण ज्ञान बीजरूप से निहित है। इसलिए हम अपनी इन्द्रियों से सदा इसका पान करें।

कैसी इन्द्रियां :—परन्तु कौन-सी इन्द्रियां इसका पान करती हैं ? (१) [**याः**]=जो कि **इन्द्रेण** आत्मा के साथ [**सधावरीः**]=मिलकर चलने वाली हैं। जब इन्द्रियां आत्मा से दूर प्राकृतिक भोग्य पदार्थों में विचरती हैं, तब उनके लिए वेद-वाणियां रुचिकर नहीं होती। (२) [**वृष्णाः**]=जो शक्तिशाली हैं। आत्मा के साथ विचरने के कारण ही ये भोग मार्ग से नहीं गई, और भोग मार्ग पर न जाने का परिणाम है कि ये शक्तिशाली बनी हुई हैं। (३) [**मदन्ति**]=जो हर्षित होती हैं। एक-एक इन्द्रिय जब शक्तिशाली होती है तब जीवन के अन्दर एक उल्लास होता है। (४) [**शोभथा**]=उस समय ये इन्द्रियां शक्ति उल्लास व शक्तिजन्य उत्तम कर्मों से शोभा वाली होती हैं। ये चमकती हैं। इसी दिन इनका 'देव' नाम सार्थक होता है। (५) [**वस्वीः**]=ये उत्तम निवास वाली होती हैं। अर्थात् इन्द्रियों के आत्मा के साथ विचरने वाली, शक्तिशाली उल्लासमय व शोभायुक्त होने पर ही जीव का शरीर में उत्तम वास होता है।

कब :—अब प्रश्न यह है कि 'इन्द्रियां ऐसी बनेंगी कब' ? मंत्र में उत्तर देते हैं कि [**अनुस्वराज्यम्**]=स्वराज्य के बाद। जब मनुष्य अपना राजशासन कर पायेगा, तब ही उसकी इन्द्रियां उल्लिखित प्रकार की बन पायेंगी। आत्मनियंत्रण के बिना इन्द्रियों के उत्तम बनने का संभव नहीं। 'सर्वमात्मवशं सुखम्' आत्मा के वश होने पर ही सब 'सु-ख'=इन्द्रियों की उत्तमता होती है। स्वाधीनता में ही आनन्द है। स्वराज्य=आत्मसंयम (Selfcontrol) के बाद इस उल्लास व हर्ष को अनुभव करने वाला 'सम्मद' (उत्तम हर्ष वाला) इस मंत्र का ऋषि है। सब विषयों को त्यागकर (रह् त्यागे) ही यह ऐसा बना है। सो राहू=त्यागने वाला है। त्यागने वालों में भी प्रथम स्थान में गणनीय होने से 'राहूगण' है।

भावार्थ :—आत्मसंयम से मैं इन्द्रियों को आत्मा के साथ विचरने वाला बनाकर इससे वेदवाणियों का रस लेने वाला बनूं।

षट्क-सम्पत्ति

३ २उ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम्।
१ २ ३ १ २ २ १र २र ३
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥२॥४१०॥

जिस समय जीव की सब इन्द्रियां प्रभु की उस सारभूत रसमयी वेदवाणी का पान करती हैं तो [**इत्था**]=सचमुच [**हि**]=निश्चय से (१) [**सोमः**]=वह सोम=विनीत बनता है। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् 'विपश्यति ज्ञान से नीचे देखता है, 'विद्याददाति विनयम्'=विद्या विनय को देती है। सब इन्द्रियां जब ज्ञान का पान करेंगी तो क्या यह

विनीत न बनेगा? (२) उस समय [**इत्**]=निश्चय से [**मदः**]=इसका जीवन उल्लासमय होगा। संसार में सारे कष्ट अज्ञान के कारण हैं, दृष्टिकोण के ठीक न होने से ही सब कष्ट हैं। दृष्टिकोण के ठीक होते ही सब कष्टों का निवारण हो जाता है। मनुष्य वस्तुतः अज्ञान वश बड़ी इच्छायें व आशायें करता है और फिर उनके पूरा न होने पर दुःखी होता रहता है। (३) इस तत्त्व को समझकर यह सदा [**ब्रह्म**]=ज्ञान के [**वर्धनम्**]=बढ़ाने को चकार=करता है अर्थात् अपनी ज्ञानवृद्धि में लगा रहता है। वस्तुतः संसार में न उलझने का रास्ता ही यही है। इससे उत्तम व्यसन भी दूसरा नहीं है। (४) यह व्यक्ति [**शविष्ठ**]=अत्यन्त शक्तिशाली बनता है। विद्याव्यसनी व्यसनान्तरों से बचकर शक्तिशाली क्यों न बनेगा (५) शक्ति का सम्पादन करके [**वज्रिन्**]=यह गतिशील होता है। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'=यह ब्रह्मज्ञानी स्वार्थ के लिए निष्क्रिय सा होने पर भी परार्थ के लिए सतत क्रियाशील होता है। यह कर्मशील बने रहना ही इसे पवित्र भी बनाये रखता है। (६) इस प्रकार क्रियाशील होता हुवा यह [**ओजसा**]=ओज व शक्ति के द्वारा [**पृथिव्याः**]=अपने इस पार्थिव शरीर से [**अहिम्**]=कुटिलता को व (आहन्ति अहिः) हिंसा की भावना को [**निःशशा**]=दूर भगा देता है। इसके जीवन में सरलता होती है, सरलता ही तो ब्रह्मशक्ति का मार्ग है। 'सर्वं जिह्मं मृत्युपदं अर्जवं ब्रह्मणः पदम्'=कुटिलता मृत्यु का और सरलता ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है। ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर चलने वाला हिंसाशून्य होता है।

इस उल्लिखित षट्कसंपत्ति को यह पाता है। परन्तु पाता तभी है जबकि यह [**ननु**]=निश्चय से [**स्वराज्यम्**]=आत्मसंयम का [**अर्चन्**]=आदर करता है। आत्मसंयम की भावना के होने पर ही वह ज्ञान की रुचि वाला होगा और इस रुचि के होने पर ही उसे यह षट्क संपत्ति प्राप्त होगी। इस को प्राप्त करके वह बाह्य संपत्ति को तुच्छ समझने वाला और त्यागने वाला 'राहूगण' होगा और उल्लासमय जीवन वाला 'सम्मद' होगा।

भावार्थ—विनीतता, उल्लास, ज्ञानवर्धन, शक्ति, क्रियाशीलता, व कुटिलता व हिंसा का अभाव रूप षट्क संपत्ति को मैं प्राप्त करूं।

संयम-यज्ञ

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
२उ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र ३
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु
१ २
प्र नोऽविषत् ॥३॥४११॥

[**इन्द्रः**]=इन्द्रियों को वश में करने वाला व्यक्ति [**मदाय वावृधे**]=आनन्द के लिए बढ़ता चलता है। वस्तुतः भोग मार्ग प्रारम्भ में रमणीय है, और उत्तरोत्तर उसकी रमणीयता कम और कम होती जाती है 'आपातरम्या विषयाः, पर्यन्तपरितापिनः'। इसके विपरीत संयम मार्ग में प्रारम्भ में नीरसता व कठिनता है, परन्तु उत्तरोत्तर उसका सौन्दर्य बढ़ता जाता है "यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'। जितेन्द्रियता व संयम का पहला परिणाम यही है कि जीवन अधिकाधिक उल्लासमय होता चलता है। (२) इसका दूसरा परिणाम यह है कि यह संयमी पुरुष [**शवसे**]='क्रियाशील शक्ति के लिये (शवगतौ शवस्=बल) [**वावृधे**]=बढ़ता है। इसकी शक्ति बढ़ती चलती है और शक्ति वृद्धि के साथ यह अधिकाधिक क्रियाशील होता चलता है। और वस्तुतः यह क्रियाशीलता ही है कि जो इसे (३) [**वृत्रहा**]=वृत्रों का वासनाओं का नष्ट करने वाला बनाती है। 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये'। एक पक्षी आकाश में ऊंचाई पर पहुंच जाने पर यदि पंखों को बन्द कर दे तो वह नीचे आ रहता है, उसी प्रकार एक संयमी पूर्ण योगी बनकर कर्म बन्द कर दे तो फिर मलिन हो जाता है। क्रियाशीलता ही उसे वासनाओं के मालिन्य से

बचाये रखती है । (४) [**नृभिः**]=यह संयमी आगे और आगे बढ़ता है, परन्तु अकेला नहीं नृभिः=मनुष्यों के साथ, उन मनुष्यों के साथ जिनमें कि कुछ आगे बढ़ने की वृत्ति है (तृनये)। वस्तुतः यह संयमी पुरुष केवल अकेले अपने की मुक्ति चाहता भी तो नहीं है। यह औरों के साथ ही अपने को मुक्त करना चाहता है । अपने लिये कर्मों की आवश्यकता न होने पर भी यह औरों के लिये कर्मशील बना ही रहता है।

(५) इस संयमयज्ञ में शतशः असुरों से विघ्न किये जाते रहे हैं। उन विघ्नों को यह संयमी अकेले जीत लेना असंभव सा समझता है। सो यह कहता है कि [**तम्**]=उस सर्वव्यापक (तनु विस्तारे) प्रभु को [**इत्**]=निश्चय से [**महत्सु आजिषु**]= बड़े-बड़े संग्रामों में तथा [**अर्भे**]=छोटे-छोटे संग्रामों में भी [**ऊतिम्**]=रक्षा करने वाले को [**हवामहे**] पुकारते हैं। महाव्रत और अल्पव्रतों के रूप में बड़े-बड़े युद्ध और छोटे युद्ध हमारे जीवन में चला करते हैं। उनमें उस प्रभु की सहायता से ही हम विजयी बनते हैं। कृष्ण की सहायता के बिना क्या अर्जुन के जीतने का संभव था।

[**सः**]=वह प्रभु [**वाजेषु**]=(Battles) उत्कट युद्धों में [**नः**]=हमें [**प्र अविषत्**]= प्रकर्षेण रक्षित करे। (War=आजि, Battle, वाज)। उस प्रभु की सहायता से मैं भी इन वासनाओं के साथ होने वाले छोटे-बड़े सभी संग्रामों को जीत पाऊंगा और मेरा यह संयम यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होगा।

भावार्थ—प्रभु की सहायता से मैं अपने संयमयज्ञ को पूर्ण करूं।

उपाय-पंचक

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।
१ २ २ ३ १ २ ३२उ ३ २ ३ १र २र ३ २
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव त्यन्मायायावधीर-
३ १ २ ३ १ २
र्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥४१२॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ? ऐ [**अद्रिवः**]=(अ+दृ) अपने निश्चय से न पृथक् करने योग्य जीव, अर्थात् दृढ़ संकल्प वाले व पक्के व्रतों वाले जीव ? ऐ [**वज्रिन्**]=गतिशील जीव ? [**तुभ्यम् इत्**]= तेरे लिए ही [**वीर्यम्**]=वह शक्ति है जो कि [**अनुत्तम्**]=कभी भी परे नहीं धकेली जा सकती। जिस समय जीव इन्द्रियों को वश में कर लेता है, जब वह दृढ़ संकल्प वाला होता है और जिस समय वह सतत क्रियाशील बन जाता है तो उसे वह शक्ति प्राप्त होती है जो कि किसी भी तरह न्याय्य मार्ग से विचलित नहीं की जा सकती। इस अपराजेय शक्ति को प्राप्त करने का रहस्य यह भी है कि [**यत्**]=जो [**ह**]—निश्चय से [**त्यं**]=उस [**मायिनं मृगं**]=मायावी मृगतृष्णा के दृश्य के समान कभी भी तृष्णा को शान्त न करने वाले 'काम' को [**तव**]=तूने अपने [**त्यत्मायया**]= उस ज्ञान से [**अवधीः**]=मार डाला । यहां 'काम' को 'मायी मृग' कहा है । जैसे मारीच ने मायामृग का रूप धारण करके राम का सुदूर अपहरण किया उसी प्रकार हमारे जीवन में यह काम है। यह हमें कहां का कहां ले जाता है, परन्तु कभी हमारी तृप्ति का कारण नहीं बनता। मृगतृष्णा के दृश्य के समान यह मायामय है। 'मांयाति' 'मुझे प्राप्त हो रहा है'—ऐसी प्रतीति होती है, परन्तु प्राप्त थोड़ा ही होता है। इस काम का ध्वंस भी माया=ज्ञान से ही होता है। काम ज्ञान का शत्रु है। ज्ञान की मन्द ज्योति को काम बुझा देता है, और ज्ञान की प्रचण्ड ज्वाला में वह स्वयं भस्म हो जाता है।

इस शक्ति की प्राप्ति का पांचवां साधन 'अर्चन्ननु-स्वराज्यम्' इन शब्दों से सूचित हो रहा है कि [**ननु**] =निश्चय से तूने [**स्वराज्यम्**]=आत्मसंयम का [**अर्चन्**]=आदर किया है । आत्मसंयम को महत्व देने का ही परिणाम है कि तू उस अदम्य शक्ति को संचित कर सका है। इस अदम्य शक्ति

के कारण इसका जीवन सदा उल्लासमय है।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रियता, दृढ़ संकल्प, क्रियाशीलता, प्रचण्डज्ञान की ज्योति तथा संमय के आदर के द्वारा उस शक्ति को प्राप्त करूं जो कि कभी पराजित न हो सके।

प्रबल आक्रमण

२ ३ १ २ ३ २र ३ २ ३ १ २
प्रे ह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपो-
३ १ २ ३ १ २
ऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥५॥४१३॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि [**प्रेहि**]=प्रकर्षेण गतिवाला हो। तेरे एक-एक कदम में उत्साह टपके। एक सत्ववान् योधा की चाल में जो उत्साह है वह तेरी भी चाल में हो। [**अभीहि**]=तू अपने शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए बढ़ चल=उनकी ओर न कि उनसे दूर। तेरी चाल में किसी प्रकार का भय व आशंका न हो। इस प्रकार आक्रमण करके तू [**धृष्णुहि**]=अपने इन काम-क्रोधादि शत्रुओं का धर्षण कर। इनको तू कुचल डाल। इस आक्रमण में [**ते**]=तेरी [**वज्रः**]=गति [**न**]=नहीं [**नियंसते**]=रोकी जाती। गत मंत्र के उपायपंचक से अपराजेयशक्ति को प्राप्त करके जब यह इन शत्रुओं पर आक्रमण करता है तो इसका यह आक्रमण शत्रुओं से विहत नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र ?**]=इन्द्रियों की शक्ति से संपन्न जीव [**ते**]=तेरा [**शवः**]=बल [**हि**]=निश्चय से [**नृम्णं**]=(नृ नमन) शत्रुओं को झुका देने वाला होता है। इस प्रकार तू [**वृत्रं हनः**]=ज्ञान के नित्य बैरी इस काम को नष्ट कर देता है और [**अपः जया**]=यज्ञ रूप व्यापक कर्मों का विजेता होता है। यह तू कर इसलिये पाता है कि [**ननु**]=निश्चय से [**स्वराज्यम्**]=आत्मसंयम का [**अर्चन्**]=तू आदर करता है।

संयमी पुरुष वासनाओं को जीतता है। वासनाओं के जीतने से उसके कर्म व्यापक होते हैं। वस्तुतः इस संयम-यज्ञ के द्वारा कामादि संहार ही सर्वोत्तम युद्ध है। इस युद्ध द्वारा हम प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं।

भावार्थ—हम वृत्र का विनाश करके स्वार्थशून्य उत्कृष्ट कर्मों के करने वाले बनें।

आत्मनेपद (आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते)

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम्।
३ १ २ ३ २ २ ३ २उ ३ १र २र
युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ
३ १ २ ३ १ २
दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥६॥४१४॥

[**यद्**]=जब [**उदीरत**]=उत्पन्न होते हैं [**आजयः**]=युद्ध, तब [**धृष्णवे**]=शत्रुओं के धर्षण करने वाले के लिए [**धनं**]=आध्यात्मिक संपत्ति [**धीयते**]=धारण की जाती है। जिन व्यक्तियों के जीवन में युद्ध की भावना उत्पन्न ही नहीं होती वे कभी उन्नत नहीं होते। परिवार की आपस में लड़ाई तो तामस लड़ाई है, राष्ट्रों के युद्ध राजस हैं, परन्तु यह अध्यात्म युद्ध सात्विक है। जिसके जीवन में यह हृदयस्थली पर चलने वाला देवासुर संग्राम उत्पन्न ही नहीं होता, और जो जैसी इच्छा उत्पन्न हुई उसे पूरा कर लेता है, वह व्यक्ति कभी उन्नत नहीं हो पाता। उन्नति के लिए यह अध्यात्म संग्राम आवश्यक है—यह प्रभु-पूजा का अंग है 'इत्थं युद्धैश्च यज्ञैश्च भजामो विष्णुमीश्वरम्'। इस युद्ध से कतराने वाले व्यक्ति तमोगुण में विचरने से और चिन्ता के अयोग्य होने से अधिकस्वस्थ प्रतीत होते हैं। पर इस वराह की तरह पुष्ट हो जाने का लाभ भी क्या है? मनुष्य को तो युद्ध में प्रवृत्त होना ही चाहिए, इच्छाओं का विवेक करके अशुभ इच्छा को दबाना ही चाहिये। और इस युद्ध में जब तक पूर्ण विजय प्राप्त न हो तब तक 'युधि-ष्ठिर'=युद्ध में स्थिर

होना चाहिए। अनन्त विजय पाए बिना रुकना नहीं।

विजय को पाने के बाद इस बात का ध्यान करना कि कहीं इस विजय के क्षण में अभिमान नामक असुर का हम शिकार न हो जायं। प्रभु कहते हैं कि इस विजय के बाद तू [**मदच्युता-हरी**]=अभिमान से एक दम रहित घोड़ों (इन्द्रियों) को तू इस शरीर रूप रथ में [**युंक्ष्वा**] =जोत। 'युंक्ष्वा' यह आत्मनेपद का प्रयोग यह संकेत करता है कि मनुष्य ने अपनी उन्नति के लिए यह करना ही है। अन्यथा यह अभिमान तो न जाने [**कं**]=किस-किस को [**हनः**]=मार डालता है। [**कं**]=उस एक-आध व्यक्ति को ही यह [**वसौदधः**]=वसु में सर्वोत्तम स्थिति में धारण करता है जोकि इस अभिमान को ही कुचल डालता है। हम प्रभु से आराधना करते हैं कि [**अस्मान्**] =हमें तो ऐ [**इन्द्र**]=सर्वशक्तिमन् प्रभो? [**वसौ**] उत्तम स्थिति में ही [**दधः**]=धारण कीजिये।

भावार्थ—(१) मैं अध्यात्म संग्राम को अपने अन्दर उत्पन्न करूं (२) इसमें शत्रुओं का धर्षण करने वाला बनूं (३) विजय प्राप्ति के क्षण में अभिमान का शिकार न हो जाऊं (४) और अभिमान को भी जीतकर उत्तम निवास वाला बनूं।

उल्लिखित ४ कदमों को चलने के लिये मैं सदा कर्मशील बनूं—क्रिया को अपनाऊं।

परस्मैपद (लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि)

२ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ १ २ २
अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३क
स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा
२र ३ १ २
न्विन्द्र ते हरी ॥७॥४१५॥

योगारूढ़ व्यक्ति का चित्रण गतमंत्र में हुआ है। 'क्या यह योगारूढ़ खाता-पोता नहीं? इस प्रश्न का उत्तर मंत्र इन शब्दों में देता है कि [**अक्षन्**] =ये खाते हैं, [**अमीमदन्त**]=खूब (enjoy) भी करते हैं। शरीर धारण के लिए खाना और आमोद-प्रमोद (Relaxation) कुछ आवश्यक ही है। जैसे अन्य सामान्य लोग खाते-पीते हैं और आनन्द लेते हैं, उसी प्रकार ये योगी भी—अध्यात्म संग्रामविजेता भी, खाते हैं और आनन्द लेते हैं परन्तु ये [**प्रियाः**]=शरीर के तर्पण के लिये ही भोजनादि के चाहने वाले (प्री, तर्पण, कान्ति) प्रभु के प्यारे [**हि**]=निश्चय से [**अव अधूषत**] =वासना को कम्पित करके अपने से परे फेंक देते हैं। ये खाते हैं, परन्तु स्वाद के लिए नहीं खाते। ये भी सब कर्म करते हैं=परन्तु अनासक्त होकर।

इस प्रकार इन यज्ञरूप कर्मों से ही ये लोग [**अस्तोषत**]=प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए ये [**स्वभानवः**]=आत्मप्रकाश वाले बनते हैं। इन्हें अन्दर से ही ज्योति दिखती है, ये 'अन्तर्ज्योति' बन जाते हैं। यह अन्दर का प्रकाश इन्हें आत्मालोचन में प्रवृत्त करके [**विप्राः**] =विशेष रूप से अपना पूरण करने वाला बनाता है। ये अपनी कमियों को दूर करते हुए [**नविष्ठया-मती**]=अत्यन्त गतिशील (नव गतौ) स्तुति व ज्ञान से युक्त होते हैं। ब्रह्मज्ञानी बन कर गौरव से कह सकते हैं कि जब हमें कर्म ने बांधना ही नहीं तो कर्म से क्या घबराना? निःशंक होकर हमें तो लोकहित के लिए कर्म करना ही है। प्रभु भी कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव? तू [**ते**]=अपने इन [**हरी**]=घोड़ों को [**नु**]=निश्चय से [**योजा**]=लोकहित के लिये—औरों के भले के लिए—जोत ही। तुझे अपने लिये कुछ नहीं करना—योगरूढ़ होकर तेरी साधना पूर्ण हो गई है तो तू औरों के लिए इस रथ को चलाता ही चल।

गतमंत्र में 'युंक्ष्वा' यह आत्मनेपद प्रयोग था। वहां अपनी उन्नति के लिये कर्म करने थे। प्रस्तुत मंत्र में 'योजा' परस्मैपद है। अब उसने औरों के हित के लिए कर्म में लगे रहना है। यह परस्मैपद

और आत्मने पद के प्रयोग मात्र से कर्मतत्व का सुन्दर उपदेश वेद की ही अद्भुत शैली है।

भावार्थ—(१) मैं शरीर धारण के लिये भोजन व प्रमोद को जीवन में स्थान दूं (२) वासना को अपने से प्राप्त रखूं। (३) प्रभु का स्तोता बनूं। (४) अन्तः प्रकाश को दूर करूं। (५) मेरी स्तुति क्रियामय है। (६) लोक संग्रह की भावना से क्रियाशील बना रहूं।

हम ऐसे वैसे न हों

२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
उपो षु श्रृणुही गिरो मघवन्मातथा इव।
३ १ २ ३ १ २ ३ २३ २ ३ १ २ ३ २उ ३क
कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास इद्योजा
२र ३ १ २
न्विन्द्र ते हरी ॥८॥४१६॥

जीव प्रभु से तीन प्रार्थनायें करता है—(१) [**उप उ**]=समीपता से ही [**सु**]=उत्तम प्रकार से अच्छी तरह [**गिरः**]=हमारी वाणियों को [**शृणुहि**]=सुनिये। संसार में हम देखते हैं कि जो व्यक्ति बात ही करे और करे कुछ नहीं, तो फिर उसकी बात सुनने की इच्छा नहीं होती और साथ ही जो असम्बद्ध सी बातें करें उसकी भी बात सुनने की तबीयत नहीं होती। सो मंत्र में असाक्षात् रूप से यह प्रार्थना करते हैं कि ऐ प्रभो? हम केवल वाग्वीर न हों और नां ही असम्बद्ध बातें करने वाले हों ताकि हमारी प्रार्थनायें सुनी जांय। (२) दूसरी प्रार्थना यह है कि [**मघवन्**]=ऐ पापशून्य ऐश्वर्य वाले प्रभो? [**मा अतथा इव**]=हम भी ऐसे वैसे जीवन वाले न हों। हम वैसे ही बनने का प्रयत्न करें जैसे कि आप हैं, आप का अंश ही तो मुझे बनना चाहिए। "Afterty own image" आपकी प्रतिमूर्ति ही मैं बनूं। आप की प्रतिमूर्ति बनता हुवा मैं भी प्रयत्न करूं कि मेरी कमाई पाप के लवलेश से रहित हो और मैं भी 'मघवा' बनूं। कोई भी व्यक्ति यह न कह पाये कि 'अरे वह तो ऐसा वैसा ही है'। मेरा जीवन निर्मर्याद न हो। (३) तीसरी बात जीव यह चाहता है कि [**कदा**]=कब [**नः**]=हमें [**इद्**]=सचमुच [**सूनृतावतः**]=(सू+ऊन्+ऋत) उत्तम, दुःख-परिहाण करने वाली, सत्य वाणी वाला [**करः**]=आप करेंगे। ऐ प्रभो [**इत् अर्थयासे**]=आप मेरे से यही याचना किए जाते हैं। मैं कभी भी रुशतीं-जलाने वाली वाणी को न बोलूं, भद्रा वाणी ही मेरे मुख में निहित हो। मेरी वाणी दुःखी को सान्त्वना देकर उसके दुःख को कम करने वाली हो। मेरी वाणी कभी भी असत्य न हो।

जीव की इन तीन प्रार्थनाओं को सुनकर प्रभु कहते हैं कि ऐ [**इन्द्र**]=जितेन्द्रिय तू [**नु**]=अब [**ते हरी**]=अपने इन इन्द्रिय रूप घोड़ों को [**योजा**]=परहित के लिए इस शरीर रूप रथ में जोत। परहित तेरे जीवन का ध्येय बन जाय और तू लोक संग्रह के लिए सदा कर्म में लगा रह। परहित में लगने से तेरी तीनों उल्लिखित इच्छायें अवश्य पूरी होंगी। और इस प्रकार परार्थ से तू स्वार्थ को सिद्ध कर रहा होगा। तेरी प्रार्थनायें अवश्य सुनी जायेंगी, तेरा जीवन व्यर्थ का न होगा, तेरी वाणी सारभूत होगी।

भावार्थ—हम परहित परायण होकर अपने जीवन को सुन्दर बनायें।

दो महत्वपूर्ण बातें

३ १ २ ३ २ १र २र३ १ २ २ ३ २
चन्द्रमा अप्स्वा३न्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
१ २ २ ३ २
न वो हरिण्यनेमयः पदं विन्दन्त विद्युतो
३ १ २ ३ १ २
वित्तं मे अस्य रोदसी ॥९॥४१७॥

हमारे जीवन में दो बातें महत्वपूर्ण हैं। पहली तो यह कि [**चन्द्रमाः**]=हमारा मन (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) [**अप्सु**]=व्यापक कर्मों के [**अन्तरा**]=बीच में सदा स्थित रहे। तथा दूसरी यह कि [**सुपर्णः**]=अपना पालन करने वाला जीव [**दिवि**]=प्रकाशमय ज्ञान में [**धावते**]

गतिशील होता है और उसमें सदा स्नान करता हुआ अपने को पवित्र करता है। 'चन्द्रमा' शब्द का अध्यात्म में अर्थ मन होता है (मन = Moon), इंगलिश का moon शब्द इसका स्पष्ट आभास दे रहा है। यहां चन्द्रमा शब्द का प्रयोग इस उद्देश्य से भी किया गया है कि (चदि आह्लादे) हम जिन कार्यों को करें उनको बड़े आह्लाद पूर्वक करें। 'हमारा मन सदा कार्यों में व्याप्त रहे' इतना ही नहीं अपितु हम उन कार्यों को करने में सदा प्रसन्नता का अनुभव करें। प्रसन्नतापूर्वक किया हुआ कार्य ही उत्तम फल को पैदा करता है। दिन भर बोझ उठाता हुवा कुली अपने शरीर को सुन्दर नहीं बना पाता, जब कि एक युवक दिल से weight lifting को व्यायाम के रूप में करता हुवा शरीर को कितना सुगठित बना लेता है। दिन भर कार्यों में प्रसन्नता पूर्वक रमे रहने से हम वासनाओं के भी शिकार नहीं होते।

जीवात्मा का नाम 'सुपर्ण' है चूंकि वह उत्तम प्रकार से आसुरवृत्तियों के आक्रमण से अपने को बचाने का प्रयत्न करता है। कामादि से अपने पालन के लिए ही वह ज्ञान की नदी में स्नान करता है और अपने को शुद्ध बनाता है।

प्रभु कहते हैं कि ऐ जीवो ? [**वः**]=तुम्हारे में से [**हिरण्यनेमयः**]=स्वर्ण की परिधि वाले लोग, जो कि धन के चक्र में ही फंसे हुए हैं, जो धन के लक्ष्य से ऊपर नहीं उठ पाते वे [**विद्युतः**]=उस विशेष ज्ञानी के [**पदं**]=स्थान को [**न विन्दन्ति**]=नहीं प्राप्त कर पाते। अर्थ में आसक्त को धर्म का ज्ञान नहीं होता। धन तो अन्धा है।

जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**मे रोदसी**] =मेरे द्युलोक और पृथिवी लोक तो, अर्थात् मेरा शरीर व मस्तिष्क तो [**अस्य वित्तम्**]= इस पद को अवश्य पाने वाले हों। ज्ञानी का पद 'ज्ञानी त्वामैव में मतम्'=प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय बन जाता है। मैं अपने सब कोशों की ऐसी साधना करूं कि मैं भी प्रभु का ज्ञानी भक्त बन सकूं। यह ज्ञानी भक्त ही प्रभु को प्राप्त करने वालों में सर्वोत्तम है—'आप्त्य' है, यह काम-क्रोध-लोभ सभी को तैर चुका है 'त्रि-त' बन गया है। सब त्रिविधि कष्टों से भी यह ऊपर उठ गया है। ज्ञान कर्म उपासना तीनों का इसने अपने में विस्तार किया है।

भावार्थ—मेरा मन सदा प्रसन्नतापूर्वक कर्मों में लगा रहे और मैं ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सतत यत्नशील रहूं।

रथ का सजाना

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
३ १ २ ३ २ ३ १ २३ ३ २ ३
स्तोता वामश्विनावृषिः स्तोमेभिर्भूषति प्रति
२ ३ १ २ ३ १ २
माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥१०॥४१८॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'अवस्यु' है जो कि अपने शरीर आदि की रक्षा की कामना वाला है। वह अपने प्राणापानों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे [**अश्विनौ**]=प्राणापानो ? [**वाम्**]=आप के [**स्तोमेभिः**]=एकत्रींकरण के द्वारा (assemblage)—अथवा आपकी सम्पत्ति के द्वारा (स्तोमं=riches) [**स्तोता**]=प्रभु का स्तवन करने वाला, [**ऋषिः**]=तत्वद्रष्टा [**प्रियतमं**] =इस अत्यन्त प्रिय–तर्पण के योग्य [**वृषणं**]= शक्तिशाली [**वसुवाहनम्**]=अष्ट वसुओं के वाहनभूत [**रथं**]=इस शरीर रूप रथ को [**प्रतिभूषति**]=अंग-प्रत्यंग में अलंकृत करता है। यह शरीर प्रभु की ओर से दिया गया रथ है जिससे कि जीव ने अपनी जीवनयात्रा पूरी करनी है। यह रथ तर्पण के योग्य है (प्री-तर्पण) इसमें होने वाली कमी को तत्काल दूर करना चाहिए। शरीर

की इच्छा को पूरा करना ही चाहिए। वह तो शरीर की आवश्यकता है; मन की इच्छा का संयम करना आवश्यक है चूंकि उसके पूरा करने में लगें तो हम शरीर को हानि पहुंचा लेते हैं। मनः संयम व शरीर तर्पण से यह शरीर रूप रथ शक्तिशाली (वृषणं) बनता है। उसी समय यह अष्ट वसुओं का उत्तम चोज़ों का वाहन है। अष्ट धातुएं—रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा व वीर्य तथा ओजस् ही आठ वसु हैं जिनका कि यह शरीर वाहनभूत है। इस शरीर को प्रभु का स्तोता व तत्वज्ञानी व्यक्ति प्राणों की साधना के द्वारा स्वास्थ्य व सौन्दर्य से अलंकृत करता है। जहां कहीं भी प्राणों का संयम किया वहीं उसके अंग निर्मल व स्वस्थ हो जाते हैं। प्रभु की भक्ति से दूर गया हुवा व्यक्ति प्राण साधना की ओर नहीं झुकता। साथ ही प्राणों के तत्व को समझने वाला ही प्राणायाम यज्ञ में प्रवृत्त होता है। यह स्तोता ऋषि जब एक अंग में प्राणों को एकत्रित करता है उस प्राणों के स्तोम से (प्राणायामैर्दहेत् दोषान्) उस स्थान में उत्पन्न दोषों को जला देता है। और वे अंग स्वास्थ्य की ज्योति से चमक उठते हैं। एवं ये प्राणापान कितने ही महत्वपूर्ण-मधुर व सुन्दर हैं। अवस्यु कहता है कि [**माध्वी**]=ऐ मधुर प्राणापानो ? मधुतुल्य महिमा वाले प्राणापानो। [**मम हवं प्रति श्रुतम्**]=मेरी इस प्रार्थना को सुनो। मैं तुम्हारी कृपा से इस रथ को शक्तिशाली व वसुओं का वाहन बना पाऊं। अपने मन को प्रभु के स्तवन में लगाऊं और मस्तिष्क को ज्ञानज्योति से परिपूर्ण करके तत्व द्रष्टा बन पाऊं। यह सब प्राणसाधना से ही होता है। प्राणसाधना करने वाला ही 'अवस्यु' बन पाता है।

भावार्थ—मेरी प्राण-साधना मेरे शरीर को दृढ़, मन को प्रभुप्रवण, मस्तिष्क को तीव्र ज्ञान-ज्योति से जगमगाता हुआ बनाये।

* * *

॥४॥ ऋषिः—१, ७ वसुश्रुतः; २, ४ विमदः; ३ सत्यश्रवाः; ५, ६ गोतमः; ८ अंहोमुग्वामदेव्यः॥
देवता—१ २, ७ अग्निः; ३ उषाः; ४ सोमः; ५, ६ इन्द्रः ८ विश्वेदेवाः॥ छन्दः—१—७ पङ्क्तिः;
८ उपरिष्टाद् बृहती॥ स्वरः—१—७ पञ्चमः; ८ मध्यमः॥

एक कदम और

(स्तोता को भी आगे चलने की प्रेरणा दीजिए)

३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवीषं
३ २ ३ १ २
स्तोतृभ्य आ भर॥१॥४१९॥

ऐ [**अग्ने ?**]=प्रकाशमय प्रभो—आगे और आगे ले चलने वाले परमात्मन् ? [**ते**]=तेरी उस समिधा को हम [**आ इधीमहि**]=सर्वथा दीप्त करते हैं जो कि [**द्युमन्तं**]=प्रकाशमय है और [**देव**]=ऐ ज्योतिर्मय प्रभो ? [**अजरम्**]=न जीर्ण होने वाली है। ब्रह्मचर्य सूक्त में पृथिवी, अन्तरिक्ष, व द्युलोक रूप तीन समिधाओं का उल्लेख है। अध्यात्म में ये शरीर, मन, व मस्तिष्क हैं। पृथिवी 'शरीर' है, अन्तरिक्ष 'मन' है और द्युलोक 'मस्तिष्क' है। गतमंत्र में शरीर के शक्तिशाली, मन के स्तोता व प्रभु प्रवण और मस्तिष्क के 'तत्वद्रष्टा' बनाने का संकेत है। प्रस्तुत मंत्र में मस्तिष्क को ज्ञानाग्नि से दीप्त करने पर बल दिया है। यह प्रकाशमय (द्युमान्) तो है ही, यह अजरम्-कभी जीर्ण न होने वाली है—इसका क्षय नहीं होता। देने से यह बढ़ती ही जाती है (व्यये कृते-वर्धत एव नित्यम्)। शरीर के नष्ट होने पर भी यह ज्ञान हमारे साथ ही जाता है। सो ऐ प्रभो ?

हम आपकी उस समिधा को दीप्त करते हैं [**यत्**]=जो [**ह**]=निश्चय से [**ते**]=तेरी [**पनीयसी**]=स्तुत्य [**समित्**]=समिधा है। जो [**द्यवि**]=मस्तिष्क रूप द्युलोक में दीदयति=चमकती है। शरीर की वृषणता=शक्तिशीलता उत्तम व आवश्यक है, मन की प्रभु प्रवणता उत्तमतर है परन्तु इन दोनों से भी बढ़ कर मस्तिष्क की ज्ञान-ज्योति है—यह सर्वोत्तम है, यही स्तुत्य है।

शरीर को शक्तिशाली बना कर तो बिरले ही व्यक्ति होंगे जो अपने को कृतकृत्य मान लें परन्तु मन के अन्दर स्तुति की भावना के आते ही कृतकृत्यता की भावना उत्पन्न होने लगती है। सो मंत्र में कहते हैं कि [**स्तोतृभ्यः**]=इन स्तोताओं के लिए [**इषं**]=प्रेरणा को [**आभर**]=सर्वथा प्राप्त कराइए कि ये यहीं दूसरी सीढ़ी पर रुक न जायें। ये एक कदम और भी आगे बढ़ायें, और ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। गीता में पहला कर्मकाण्ड का कदम छठे अध्याय पर समाप्त होता है। भक्त के लक्षणों के साथ १२ वें अध्याय पर भक्तिकाण्ड का दूसरा कदम समाप्त हुवा है और १३-१८ तक ज्ञान काण्ड का तीसरा कदम है जिसका करने वाला ज्ञानयज्ञ से प्रभु का उपासक कहा गया है 'ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः'। प्रस्तुत मंत्र में प्रभु यही चाहते हैं कि उनका स्तोता ज्ञान को ही अपना धन समझने वाला 'वसुश्रुत' (श्रुतम् एव वसु यस्य) है, यह आत्रेय=काम, क्रोध, लोभ तीनों से ऊपर उठा हुआ है। ज्ञानशून्य भक्ति कुछ विचित्र परिणाम को पैदा करने वाली हो जाती है—ज्ञानी भक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय है।

भावार्थ—हम शरीर को शक्तिशाली बनाकर, मन को प्रभुप्रवण बनायें परन्तु यहां ही रुक न जायं। एक कदम और आगे बढ़ कर उस स्तुत्यतम ज्ञान की समिधा को उद्दीप्त करें।

उल्लास व विकास

१र २र ३ १ २
अग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३ १ ३ ३ १
शीरं पावकशोचिषं वि वो मदे यज्ञेषु स्तीर्ण-
२ ३ १र २
बर्हिषं विवक्षसे ॥२॥४२०॥

[**न**]=जैसे [**स्ववृक्तिभिः**]=अपने कुछ वर्जन व त्याग से [**अग्निं**]=अग्नि को वरते हैं अर्थात् कुछ घृतसामग्री आदि में व्यय करके जैसे हम अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों को करते हैं, उसी प्रकार हम [**होतारं**]=सर्वस्व दान करने वाले [**त्वा**]=आपको [**स्ववृक्तिभिः**]=अपने कामादि दोषों के वर्जन से तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों के भी आप में समर्पण से [**आवृणीमहे**]=हम आपका वरण करते हैं। प्रभु होता हैं - अपने को भी जीवहित के लिए दे डालने वाले हैं (आत्मदा) हम प्रभु का वरण दान द्वारा ही कर सकते हैं। अपने सब कर्मों का प्रभु में समर्पण ही वह महान् त्याग है जिससे हम प्रभु का वरण करते हैं। 'तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च'=यही वेद का उपदेश है कि कर्म करो और प्रभुचरणों में उसका त्याग कर दो। अपना अहंभाव न रखो—यही 'स्ववृक्ति'='अपने को छोड़ना' है। वे प्रभु [**शीरं**]=(शायिनं, आशिनंवा) सब में निवास करने वाले व सब में व्याप्त है। मैं भी उस हृदयस्थ प्रभु को अनुभव करने का प्रयत्न करूं। वे प्रभु तो [**पावकशोचिषं**]=पवित्र करने वाली ज्ञानदीप्ति वाले हैं। उस ज्ञानाग्नि में मेरा जीवन और पवित्र हो उठेगा।

वे प्रभु [**यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषं**]='यज्ञों में बिखेर दी है—व्याप्त कर दी है हमारी वृद्धि (बृहि वृद्धौ) जिन्होंने ऐसे हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञों को उत्पन्न करके प्रभु ने यही तो कहा कि 'इससे फलो फूलो, यह तुम्हारी सब इष्ट कामनाओं को पूरा करे'। ये यज्ञ [**वः**]=तुम्हारे [**विमदे**]=विशेष

उल्लास के निमित्त हैं और [**विवक्षसे**]=विशेष उन्नति के साधन हैं। (वक्षस्-growth)। यहां 'विमदे व विवक्षसे' इन दोनों शब्दों में निमित्त सप्तमी है। यज्ञों के द्वारा हमारा जीवन उल्लासमय व विकासमय बनता है। प्रातः का अग्निहोत्र सायं तक और सायं का प्रातः तक चित्त को प्रसन्न रखता है। यज्ञों के बिना किसी भी विकास का तो संभव ही नहीं।

एवं हमारा जीवन यज्ञमय हो, हम उस महान् होता के उपासक बन कर एक छोटे होता ही बनें। पर हमें उस होतृत्व का मद=गर्व न हो। उस यज्ञ को भी प्रभु चरणों में अर्पित कर हम 'वि-मद' (मदशून्य) ही बने रहें।

भावार्थ—हम भी उस महान् होता का नामस्मरण करते हुए छोटे से होता ही बनें। उस होतृत्व के मद से शून्य हों।

कहां जायें

३१ २ ३१ २ ३ १ २ ३२ ३१ २
महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
१ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १र
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये
२र३ १ २
सुजाते अश्वसूनृते ॥३॥४२१॥

ऐ [**दिवित्मती उषः**]=ऐ उषः तुम प्रकाशवाली हो। [**नः**]=हमें [**अद्य**]=आज [**महेराये**]=महान् ऐश्वर्य के लिए [**बोधय**]=जागरित करो। तुम्हारे से मुझे ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि [**यथाचित्**]=जिससे निश्चयपूर्वक [**नः**]=हमें तुम [**अबोधयः**]=इन-इन चीज़ों में जगाओ। हम सदा तुम्हारे से प्रेरणा प्राप्त करके सदा प्रयत्नशील हों। किन वस्तुओं में? (१) [**सत्यश्रवसि**]=सत्यज्ञान की प्राप्ति में। वेद सब सत्य विद्याओं का (पुस्तक) भण्डार है। हम सदा इन सत्य विद्याओं की प्राप्ति के लिए प्रमादरहित होकर प्रयत्न में लगे रहें। हमारा मस्तिष्क व विज्ञानमय कोण सब सत्यज्ञानों के नक्षत्रों से चमकने वाला हो। (२) [**वाय्ये**]=विस्तार में, सन्तान (फैलाव) में हम सदा जागरित हों। हम अपने मनों को संकुचित न होने दें। हमारा मन विशाल और विशाल होता जाय। (३) [**सुजाते**]=उत्तम प्रादुर्भाव में—उत्तम विकास में हम अप्रमत्त हों। प्राणमयकोश में स्थित इन इन्द्रियों को विकसित करने में हम सदा सावधान हों, ये असुरों के आक्रमण से आक्रान्त होकर नष्ट न हो जांय। इनके विकास व उत्तमता में ही सब सुख (सु-ख=उत्तम इन्द्रियां) निहित हैं। (४) [**अश्वसूनृते**] व्यापक उत्तम दुःखों को न्यून करने वाले न्याय्य कर्मों में हम अपने इस शरीर को सदा व्यापृत रखें। आलसी होकर कर्मों से दूर न हो जांय। 'अकर्मण्य हुए और पतन की ओर गये' यह हमें भूल न जाय।

उषः काल जगाता है—वह हमें भी उल्लिखित चार बातों में जागरित करे। उषःकाल से इस उचित प्रेरणा को लेने वाला ऋषि सत्यज्ञान को प्राप्त करके 'सत्यश्रवाः' बन जाता है। यह सब काम-क्रोध-लोभ की वासनाओं से ऊपर होने के कारण 'आत्रेय' है।

भावार्थ—उषाः प्रकाशमय है, मैं भी ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करूं। उषाःकाल क्षितिज को विस्तृत कर देता है, मैं भी अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाऊं। उषा में सब शक्तियां विकसित होती हैं—मैं विकासवाला सुजात बनूं। उषा से प्रेरणा प्राप्तकर सदा उत्तम कर्मों में लगा रहूं।

भलामानस न कि भोंदू

३२ ३ १२ ३ २३ १२३१र २र
भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ २३ २३
अथा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणा
२ ३ १र २र३ १ २
गावो न यवसे विवक्षसे ॥४॥४२२॥

ऐ प्रभो ? [**नः**]=हमारे [**मनः**]=मन को [**भद्रम् अपि वातय**]=भद्रता की ओर प्रेरित करिये। हमारे मन कभी अभद्रता की ओर न झुकें। कभी अशुभ का चिन्तन न करें। भद्रता के साथ [**दक्षम्**]=हमारे मन को दक्षता की ओर प्रेरित करिये। कठिन से कठिन समस्या को हम सुगमता से सुलझाने वाले हों। हमारा मन resourceful हो—उपाय का सदा चिन्तन कर सके। हम संकट में घबरा न जांय। भद्र बनें पर भोंदू न हों। जरा सी उलझन आयी और विलक्ष होकर बैठ न जांय। इस भद्रता और दक्षता के साथ [**उत क्रतुम्**]=हमारे मनों में कर्म संकल्प को भी प्राप्त कराइये। हमारा मन कभी आलस्य, तन्द्रा व निद्रा की ओर झुकाव न रखे। वस्तुतः कर्म संकल्प शून्य हृदय शक्ति शून्य घोड़े के ही तो समान है–न दूध देने वाली गाय व क्रतुशून्य हृदय समान ही तो हैं।

इस प्रकार, भद्रता दक्षता तथा क्रतुमयता की साधना के [**अथा**]=बाद [**ते सख्ये**]=ऐ प्रभो ! हम तेरी मित्रता में [**रणा**]=आनन्द का अनुभव करें। वस्तुतः प्रभु की उपासना इन तीन बातों के बिना संभव भी तो नहीं।

जिस समय जीव प्रभु से यह प्रार्थना करता है उस समय बीच में उट्टंकन करते हुए प्रभु कहते हैं कि [**वः**]=अपने [**अन्धसः**]=सोम के [**वि-मदे**]=उत्कृष्ट हर्ष में तू रणा=आनन्द का अनुभव कर। सोम की रक्षा ही मेरी उपासना है। जीव प्रभु की इस प्रेरणा को सुनता हुवा कहता है कि मैं आपकी उपासना में उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करूं। [**न**]=जैसा कि [**विवक्षसे यवसे**]=बढ़ी हुई चरी में [**गावः**]=गौवें आनन्द का अनुभव करती हैं। उस समय उनकी पीठ पर पड़ा हुवा एक-आध डंडा उन्हें दुःखी नहीं करता। इसी प्रकार एक भक्त प्रभु के प्रेम में निमग्न हुवा-हुवा कष्टों को कष्ट ही नहीं समझता।

इसी ऊंची स्थिति को प्राप्त हुवा-हुवा भी यह 'विमद'+मद शून्य, गर्व रहित बना, रहता है। यही तो इसके जीवन का सौन्दर्य है। ऊंची स्थिति में पहुंचना योग है, परन्तु वहां पहुंच कर गर्वित हो जाना योगभ्रष्ट हो जाना है। यह व्यक्ति योगभ्रष्ट नहीं होता।

भावार्थ—मेरा जीवन भद्रता, दक्षता, क्रतुमयता, प्रभु मित्रता, सोम रक्षा व गर्वशून्यता से अलंकृत हो।

सात्विक अन्न का सेवन

१ २ ३ १ २ ३ २ ३१र २र ३ १ २
क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृते शवः।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
श्रिय ऋृष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवान्
३ १ २ ३ १ २ ३ २
दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ॥५॥४२३॥

गत मंत्र में हृदय में क्रतु के होने का उल्लेख है। वस्तुतः क्रतु से ही मनुष्य की महत्ता है। [**क्रत्वा**]=कर्मशीलता से [**महान्**]=तू पूज्य होता है (मह पूजायाम्)। वस्तुतः योगारूढ़ होने तक मनुष्य निज उन्नति के लिए कर्म करता है, और योगारूढ़ होने के बाद ही उसके कर्म शुद्ध लोकहित के लिए होते हैं—वे कर्म ही उसे लोक में आदरणीय बनाते हैं। ब्रह्मवित् बन कर भी यह क्रियावान् रहता है और वस्तुतः इस लोकसंग्रहार्थ कर्म से ही प्रभु की पूजा करता है।

'यह वार्धक्य तक कर्म करता रह सके' इसके लिए अपने शरीर को यह शक्ति संपन्न बनाता है। शक्ति संपन्न बनने के लिए यह सदा सात्विक अन्न का सेवन करता है। 'स्वधा' उस सात्विक अन्न का नाम है जिससे कि यह अपना धारण करता है। [**अनुष्वधम्**]=उस सात्विक अन्न के सेवन के अनुपात में ही [**भीमःशवः**]=सब विघ्न बाधाओं को पार कर जाने वाली प्रबल शक्ति [**आ वावृते**]=प्रचुरता से प्रवृत्त होती है। राजस भोजन विद्यमान शक्ति में एक उबाल को लाता है और अवाञ्छनीय प्रतिक्रिया द्वारा मनुष्य को जीर्ण कर

देता है। परिणामतः मनुष्य अन्त तक कार्य नहीं कर सकता। इसके विपरीत सात्विक भोजन 'स्थिर' होता है, यह मनुष्य को अन्त तक शक्तिशाली बनाये रखता है।

यह [**श्रिये**]=शोभा के लिए[**ऋष्व**]=महान् बनता है। यह कहीं भी छोटेपन को प्रकट नहीं करता। कुलीनता के साथ विशालता का सम्बन्ध है। विशाल हृदय वाला बनकर सभी के हित की भावना से यह सदा कार्य प्रवृत्त रहता है।

[**शिप्री**]=शिरस्त्राण वाला बनकर तथा [**हरिवान्**]=उत्तम इन्द्रिय रूप घोड़ों वाला होकर यह [**उपाकयोः हस्तयोः**]=(उप + अञ्च्)प्रभु की ओर उसके समीप ले जाने वाले हाथों में [**आयसं वज्रम्**]=लोहे की बनी वज्र को [**नि दधे**]=धारण करता है। यह अपने मस्तिक को शुद्ध रखता है अपनी इन्द्रियों को मलिन नहीं होने देता। प्रशस्त ज्ञान व उत्ताम इन्द्रियों वाला बनकर यह अपने हाथों में अनथक (आयसं) क्रियाशीलता (वज्रं=वज्गतौ) को स्थान देता है न थकने वाले को हिन्दी में इसी रूप में कहते हैं कि इसकी तो लोहे की टांगे हैं। आयसं=लोहे शब्द 'न थकने' का सूचक है। अनथक होकर यह कर्म करता रहता है। यह कर्म ही उसे प्रभु के समीप प्राप्त करता है। इस कर्म से उसकी सब इन्द्रियां शुद्ध भी बनी रहती हैं—यह 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियों वाला होता है। आलस्य राजस व तामस भोजन तथा आराम आदि को छोड़ने के कारण यह 'राहूगण'=त्यागियों में गिनने योग्य कहलाता है।

भावार्थ—मैं ऋतु से महान् बनूं, सात्विक अन्न से स्थिर शक्ति संपादन करूं। शोभा के लिए हृदय में विशालता को धारण करूं और मेरे हाथों में अनथक क्रियाशीलता हो।

हारियोजन-पात्र

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स घा तं वृषण रथमधि तिष्ठाति गोविदम्।
१र २र ३ २ ३ १ २ १ २ ३
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्र चिकेतति
२ ३क २र २ १ २
योजा न्विन्द्र ते हरी ॥६॥४२४॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि :—

[**स**]=वह [**घा**]=निश्चय से [**तं**]=उस [**वृषणं**]=शक्तिशाली [**गोविदं**]=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने वाले [**रथम्**]=शरीर रूप रथ का[**अधितिष्ठाति**]=अधिष्ठाता बनता है, [**यः**]=जो ऐ [**इन्द्र**]=ऐ इन्द्रियों के अधिष्ठाता [**हारियोजनम्**]=(हरियोजनाय इदम्)परमेश्वर के संपर्क के लिये दिये गये इस [**पात्रम्**]=जीव के आधारभूत-रक्षा के योग्य—शरीर को [**पूर्णम्**] पूर्णतया [**चिकेतति**]=रोग शून्य करता है तथा पूर्णम् चिकेतति=इसमें पालनात्मक प्रकार से रहना जानता है (कित निवासे रोगापनयने च)। इसलिये [**नु**]=अब [**इन्द्र**]=ऐ शक्ति सम्पन्न कार्यों को करने वाले जीव तू [**ते हरी**]=तेरे इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को [**योजा**]=इस शरीर रूप रथ में जोत—सदा ज्ञानप्राप्ति में लगा रह और कार्यव्यापृत हो। न मूढ़ हो, न अलस बन।

प्रस्तुत मंत्र में शरीर को 'रथ व पात्र' शब्दों से स्मरण किया है। रथ तो इसलिये कि जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिये दिया गया है, और पात्र इसलिये कि यह आतमा का आधार है। पात्र किसी चीज का आधार ही हुवा करता है। यह रथ शक्तिशाली (वृषणं) व ज्ञान के प्रकाश वाला (गोविदम्) होना चाहिये। हमें भी चाहिये कि हम इसमें रहना सीखें और इसे नीरोग रखें (पूर्ण चिकेतति)। कभी असमय पर न खायें, तमस व तामस चीजों का सेवन न करें हम इस बात को न भूल जांय कि यह हमें इसलिये दिया गया है कि

हमने इसके द्वारा साधना को पूर्ण करके प्रभु को प्राप्त करना है। भोग भोगने के लिये यह शरीर नहीं मिला। इस का मुख्य उद्देश्य प्रभु प्राप्ति है—'इदं शरीरम् परमार्थसाधनम्।' परन्तु यह तो तभी हो सकता है यदि हम इसके अधिष्ठाता बनें रहें (अधितिष्ठाति), कहीं हम इससे अधिष्ठित न हो जांय। यदि इस शरीर रूप रथ की बागडोर हमारे हाथ में रहेगी तब तो हमारी यात्रा पूर्ण होगी, अन्यथा ये घोड़े हमें न जाने किस गर्त में ले जा गिरायेंगे। प्रभु की ओर से कितना मित्रतापूर्ण निर्देश जीव को मिलता है कि तू इन ज्ञानेन्द्रिय रूप घोड़ों को तो ज्ञानप्राप्ति में लगाये रख और कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि शुभ कर्मों में व्याप्त किये रह। इनको वश में करने का सर्वोत्तम साधन यही है। ऐसा करने पर तू अवश्य अपनी जीवन यात्रा को पूर्ण करने वाला होगा और इस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला यह शरीर रूप पात्र सचमुच हारियोजन बनेगा। इस चमकीले अत्यन्त सुन्दर सु-कृत शरीर रूपपात्र में ही वह सत्य स्वरूप आत्मा छिपा है। कल्पना की आंखों से इस पात्र की पाँचों तहों को अलग करके ही हम उस आत्मतत्व को देखेंगे। अन्नमयादि कोशों के उपभोगों को त्याग करने वाले (हम) 'राहूगण' होंगे। और निर्मलेन्द्रिय होने से गोतम होंगे।

भावार्थ—हम यह कभी न भूलें कि यह शरीर प्रभु प्राप्ति के लिये प्राप्त हुआ है।

अग्नि, अस्त व स्तोता

३ १र २र ३ २उ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
अग्नि तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन
१ २ ३ २ ३ १ २
इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥७॥४२५॥

किसी भी चीज़ को समझने का सबसे अच्छा तरीका उसका लक्षण करना है। इसी शैली पर यहाँ अग्नि, अस्त और स्तोता का लक्षण किया गया है। [**अग्नि तं मन्ये**]=मैं अग्नि उन्नतिशील उस को मानता हूं [**यः वसुः**]=जो वसु है—रहने का प्रकार जानता है। मैं एक घर में जाता हूं, यदि वहां जाले लगे हैं, सफाई की कमी है और मक्खी-मच्छरों का राज्य है तो कह उठता हूं कि इन्हें तो रहना ही नहीं आता। इसी प्रकार प्रभु ने मुझे यह शरीर रूप घर दिया है। यदि इस शरीर में रोग हैं मन में ईर्ष्या-द्वेष व मस्तिष्क में कुविचार व अन्धकार है तो मुझे भी क्या रहना आता है?' मैं वसु नहीं। परिणामतः मैं अग्नि नहीं—अग्रेणीः प्रगतिशील नहीं। प्रगतिशील वही है जो इस शरीर में रहना जानता है। सात्विक भोजन का सेवन ही एकमात्र साधन है जिससे कि मनुष्य अपने निवास को सर्वथा उत्तम बना सकता है।

'अस्त' शब्द संस्कृत में गृह का पर्याय है। [**अस्तं**]=(तं मन्ये)=घर मैं उसी को मानता हूं [**यं धनेवः यन्ति**]=जिसमें गौवें प्राप्त होती हैं। 'आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः'=यह गृहसूक्त का वाक्य सायंकाल उछलती कूदती गौवों के घर में लौटने का चित्रण करता है। गौ मनुष्य का दायां हाथ है। इसका दूध ही मनुष्य में सात्विकता की वृद्धि करता है। फिर [**अस्तं**]=घर मैं उसको मानता हूं (यं) [**आशवः अर्वन्त**]=जिसे तीव्रगति वाले घोड़े प्राप्त होते हैं। ये घोड़े उत्तम व्यायाम के साधन बनकर मनुष्य की शक्ति की वृद्धि करगे। गौवें ब्रह्म को, तो घोड़े क्षत्र को बढ़ाने वाले होंगे। इसके बाद [**अस्तं**]=घर वह है जिसमें [**नित्यासोवाजिनः**]=स्थिर वाज वाले पुरुष निवास करते हैं। सात्विक भोजनों के सेवन का परिणाम यह होता है कि उनमें स्थिर शक्ति की उत्पत्ति होती है, ये जीर्ण नहीं होते—स्थविर बने रहते हैं। एवं घर वही है जहां गौवें, घोड़े व स्थिर शक्ति वाले पुरुष हैं। प्रस्तुत परिस्थिति में जहां गोदुग्ध का सेवन है, आसनादि का उचित व्यायाम है तथा सशक्त पुरुष हैं, वे ही आदर्श घर हैं।

स्तोता वे हैं जिन स्तोतृभ्यः=अपने भक्तों

के लिये प्रभु इषं = प्रेरणा को आभर = प्राप्त कराते हैं और फिर स्तोतृभ्यः = जिनसे प्रभु इषं = प्रेरणा को आभर = लोक में समन्तात् भरते हैं। सच्चे स्तोता को प्रभु से प्रेरणा प्राप्त होती है और वह उस प्रेरणा को लोगों तक पहुंचाता है। जो प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करके आगे नहीं पहुंचाता, वह कुछ स्वार्थी व अकर्मण्य है और जो बिना प्राप्त किये प्रेरणा देने लगता है वह ठग है। सो सच्चा स्तोता वही है जो प्राप्त करता है और कराता है यही स्तोता ज्ञानधनी 'वसुश्रुत' है, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुवा आत्रेय है।

भावार्थ—हम अग्नि बनें, घरों को उत्तम बनायें, सच्चे स्तोता बनें।

न कुटिलता—न दुर्गति (मित्रता का दर्शन)

२उ ३ १ २ ३ १र २ ३ १ २
न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अति
१ २
द्विषः ॥८॥४२६॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'अंहोमुक्' है जो सुन्दर दिव्यगुणों वाला होने से 'वामदेव्य' है। इसने कुटिलता को दूर भगा दिया है। परिणामतः यह दुर्गति से भी दूर है। यह कहता है कि [**देवासः**] = ऐ देवो [**तम् मर्त्यं**] = उस पुरुष को [**न अंहः**] = न तो कुटिलता [**न दुरितम्**] ना ही दुर्गति [**अष्ट**] = व्याप्त करती है [**यम्**] = जिसको [**अर्यमा मित्रः वरुणः**] = अर्यमा, मित्र और वरुण [**सजोषसः**] = समान रूप से प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए [**द्विषः**] = द्वेष की भावनाओं से [**अति नयति**] पार ले जाते हैं।

कुटिलता और दुर्गति में कार्यकारण भाव है। कुटिलता कारण और दुर्गति उसका कार्य है। 'सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्' (कैवल्यङः) कुटिलता मृत्यु का मार्ग है। बावा आदम व हव्वा स्वर्ग में थे। सर्प के रूप में कुटिलता उन्हें स्वर्ग से गिराने वाली हुई। संसार में कुटिलता से ही हमारा जीवन कड़वा बना हुवा है। सरलता उसमें माधुर्य को ला सकती है। दुर्गति को दूर करने का मार्ग कुटिलता से दूर होना है। कुटिलता से हम दूर तब होंगे जबकि द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठेंगे।

इन द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठने के लिये निम्न ३ बातें हमारे जीवनों में होनी चाहियें।

(१) [**अर्यमा**] = 'अर्यमेति तमाहुर्योददाति' इस वाक्य के अनुसार अर्यमा 'दान' की प्रवृत्ति का प्रतीक है। (२) [**मित्र**] = 'ञिमिदा स्नेहने' धातु से बना यह शब्द 'स्नेह' का सूचक है (३) और [**वरुणः**] = वरुण का पर्याय 'पाशी' है। इसके अन्दर व्रतों के बन्धन में अपने को बांधने की भावना है। वस्तुतः 'दान, स्नेह और व्रतित्व' की भावनायें हमें निर्द्वेष बनाती हैं।

यहां प्रसंग वश यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि मित्र शब्द को मध्य में रख कर वेद ने यह संकेत किया है कि मित्रता के लिये दान व व्रतित्व दोनों बातें आवश्यक हैं। मित्र को संकट में हम सदा देने के लिये उद्यत रहें। परन्तु उस मित्र को भी चाहिये कि वह अपने को इस प्रकार व्रतों के बन्धन में बांध कर रखे कि प्रतिज्ञानुसार धन के लौटाने का अवश्य ही ध्यान करें। देने वाला दे और लौटाने वाला ठीक लौटाये तो मित्रता बढ़ती ही है, उस पर किसी प्रकार की आंच नहीं आती। लेन देन ही न हो तो मित्रता कैसी? 'ददाति प्रतिगृह्णाति' ये तो ६ लक्षणों में दो लक्षण ही हैं। मंत्रों में कहीं वरुण पहले है तो कहीं अर्यमा। मध्य में सदा मित्र को रखा है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि 'व्रतित्व व दातृत्व' दोनों ही समान रूप से आवश्यक हैं—अन्यथा मित्रता कभी चल ही नहीं सकती। पारस्परिक मित्रता जीवन को दुर्गति से बचाकर सुखमय बनाती है।

भावार्थ—मैं इस तत्व को समझूं कि कुटिलता

के साथ दुर्गति का कार्यकारण भाव है। कुटिलता से ऊपर उठने के लिए मैं द्वेष से ऊपर उठूं । द्वेष से ऊपर उठने के लिए मैं तीन भावनाओं को अपने अन्दर समानरूप से प्रबुद्ध करूं—"दान, मित्रता व व्रतित्व' ।

* * *

॥ ५ ॥ ऋषि :— १ , ३ —५ ,१० धिष्ण्या ऐश्वरयोऽग्नयः; २, ६ त्र्यरुणत्रसदस्यू; ७ वसिष्ठः; ८, ९ वामदेवः ॥ देवता —१ ६ , १० पवमानः; ७ मरुतः; ८ अग्निः; ९ वाजिनां स्तुतिः ॥ छन्दः—१, ३, ४, ५, ७, १० द्विपदा पङ्क्तिः; २, ६ त्रिपदा अनुष्टुप्पिपीलिकमध्या; ८ पङ्क्तिः; ९ पुरउष्णिक् ॥
स्वरः—१, ३—५, ७,८, १० पञ्चमः; २, ६ गान्धारः; ९ ऋषभः ॥

पवमान सोम (आध्यात्मिक दृष्टिकोण से)

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र
परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे
२र
भगाय ॥१॥४२७॥

ऐ [**सोम**]=मेरे शरीर को पवित्र बनाने वाले सोम ! तू [**इन्द्राय**]=उस सर्वशक्ति संपन्न प्रभु के लिये [**परिप्रधन्व**]=दौड़ चल—तीव्रता से मुझे प्राप्त करा। उस प्रभु के लिये जोकि [**मित्राय**]=वस्तुतः मेरा हितचिन्तक है, [**पूष्णे**]=मेरा पोषण करने वाला है और [**भगाय**]=ऐश्वर्य-वीर्य-यश-श्री-ज्ञान और वैराग्य को प्राप्त कराने वाला है। संसार के सभी मित्रों व हितचिन्तकों की अपनी सीमायें (limitations) हैं—वे उसी सीमित क्षेत्र में हमारा भला कर सकते हैं। प्रकृति से सब प्रकार का पोषण अन्ततोगत्वा प्रभु के द्वारा ही प्राप्त कराया जा रहा है। भग के स्वामी तो हैं ही भगवान्। उन्हीं की समीपता में मैं भी भग के अंश को प्राप्त करने वाला बनूंगा। प्रभु की समीपता मुझे इस सोम के द्वारा ही प्राप्त होगी। सोम मुझे निरन्तर प्रभु की ओर ले चल रहा है। यह मेरे जीवन को पवित्र कर डालता है और मैं प्रभु सामीप्य का अधिकारी बनता हूं। यह सोम मुझे प्रभु के समीप तो पहुंचाता ही है, साथ ही मेरे इस भौतिक जीवन को भी [**स्वादुः**]=मधुर बना देता है। मैं प्रभु को ही अपनी अन्तिम शरण समझता हूं और संसार में बड़ी मधुरता से वर्तता हूं।

सोम की रक्षा करने वाला यह व्यक्ति निरन्तर प्रभु की ओर चल रहा है इसलिये 'ऋण' (ऋ गतौ) कहलाता है। यह मार्ग में आने वाले विघ्नों को भयभीत करके दूर भगा देने के कारण 'त्रसदस्यु' होता है। सचमुच वासनारूप विघ्नों को कम्पित कर दूर करता हुवा यह प्रभु की ओर निरन्तर चलता चल रहा है।

भावार्थ—मैं सोम के संयम से अपने जीवन को मधुर बनाऊं और प्रभु को अपना लक्ष्य समझूं।

पवमान सोम (भौतिक दृष्टिकोण से)

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सक्षणिः । द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥२॥४२८॥

ऐ सोम ! तू [**उ**]=निश्चय से [**सु**]=बड़ी उत्तमता से [**वाजसातये**]=शक्ति की प्राप्ति के लिये [**परिप्रधन्व**]=निरन्तर आगे और आगे चलता चल। सोम की रक्षा से सबसे स्थूल लाभ यही है कि हमारी शक्ति की वृद्धि होती है। शक्ति के बिना संसार में कहीं भी हमारी कुछ भी स्थिति नहीं होती। जीर्ण होकर अपने सन्तानों से भी उचित आदर नहीं पाते—बीमारी व जीर्णता के कारण न बोल सकने वाला प्रभु भी समाज से भुला

दिया जाता है। 'धर्मार्थ काम मोक्ष' का मूलसाधन शक्ति है।

ऐ सोम ? तू [**वृत्राणि**]=मेरे ज्ञान पर परदा डालने वाले कामादि वृत्रों का [**परि सक्षणिः**]=पूर्ण पराभव करने वाला होता है। सोम का रक्षण मनुष्य को क्रोध ईर्ष्या आदि सब अशुभ वृत्तियों से ऊपर उठाता है। [**द्विषः**]=सब द्वेष की भावनाओं से [**तरध्या**]=तैरने के लिए यह सोम सहायक होता है। संयमी पुरुष शक्तिशाली बनकर द्वेष से आन्दोलित नहीं होता। ऐ सोम ? तू [**ऋणाया न**]=ऋणों को दूर करने वाला सा बन कर [**ईरसे**]=गति करता है। सोमी पुरुष पितृ-ऋण, ऋषिऋण व देवऋण आदि सभी ऋणों को चुकाने के लिए उत्साह वाला होता है। दूसरे शब्दों में यह माता पिता का सेवक, स्वाध्यायशील, व यज्ञमय जीवन वाला बनता है। इस प्रकार सोम की रक्षा से यह सांसारिक जीवन कितना सुन्दर बन गया है ? इसमें शक्ति है, यह काम-क्रोध में फंसा नहीं हुआ है, ईर्ष्या-द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठा हुआ है तथा माता-पिता की सेवा, स्वाध्याय व यज्ञों को अपना मौलिक कर्त्तव्य समझता है।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मेरा जीवन शक्ति-संपन्न व कर्त्तव्यनिष्ठ हो।

अध्यात्म उत्कर्ष

१२ ३ १ २३२ ३ २ ३२ ३
पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां
२ ३ १र २र
विश्वाभि धाम ॥३॥४२९॥

ऐ [**सोम ?**]=तू [**पवस्व**]=मेरे जीवन को पवित्र कर दे। मैं तेरी रक्षा के द्वारा शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न बन कर (१) [**महान्**]=उदार बनूँ और परिणामतः [**समुद्रः**] मेरा जीवन आनन्द से युक्त हो (स+मुद्)। 'यो वै भूमा तत्सुखं' विशालता में ही सुख है 'नाल्पे सुखमस्ति' अल्पता में सुख नहीं है। केवल शक्ति व केवल ज्ञान मनुष्य को विशाल नहीं बनाता, परन्तु शक्ति व ज्ञान दोनों चीजें एकत्रित हो मनुष्य को अल्पता से ऊपर उठा देती हैं। वह छोटी-छोटी चीजों में उलझता नहीं। परिणामतः इसका जीवन आनन्दमय बना रहता है। निर्बलता व मूर्खता में मैं खिझता हूं, और अकारण ही दुःखी बना रहता हूं। (२) यह सोम मेरे में [**देवानां पिता**]=दिव्य गुणों का जन्म देने वाला होता है और अतएव [**विश्वाधाम अभि**]—मुझे सब तेजों की ओर ले चलता है। मैं विषयों का शिकार नहीं होता और अतएव मेरी शक्तियां जीर्ण नहीं होती। मेरे अन्दर दिव्यगुण बढ़ते हैं, आसुरवृत्तियां कम होती हैं और मेरी शक्तियां सुरक्षित रहती हैं। एवं सोम की रक्षा से मेरे जीवन में दो बातें होती हैं (१) उदारता आनन्द को जन्म देती है (२) और दैवी संपत्ति तेजस्विता को।

भावार्थ—मैं सोम संयम से आनन्दमय व तेजस्वी बनूँ।

भौतिक उत्कर्ष

१२ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र
पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी
२र
धनाय ॥४॥४३०॥

ऐ [**सोम**]=तू [**पवस्व**]=मेरे जीवन को पवित्र कर ताकि [**महेदक्षाय**]=महान् दक्षता के लिए मैं समर्थ होऊं। मैं प्रत्येक कार्य को कुशलता से करूं। मेरी आत्मा अत्यन्त संस्कृत हो जिससे कि मेरा व्यवहार पूर्ण सभ्यता वाला हो। मेरे किसी भी कार्य में अनायता=अकुशलता न टपके। 'योगः कर्मसु कौशलम्'—कर्मों में कुशलता ही तो योग है। मैं इस योग को इस सोम पान के द्वारा प्राप्त करने वाला बनूं।

इस सोमपान से मेरा जीवन [**अश्वो न निक्तो-वाजी**]=(निज्=शुचि व पोषण) एक बड़े शुद्ध व पुष्ट घोड़े के समान शक्तिशाली हो। जिस घोड़े को बड़ा साफ-सुथरा रखा जाता है और जो उचित पोषण प्राप्त करता है उसकी तरह मैं इस सोमपान

से शक्तिशाली बनूं।

[**धनाय**]=यह सोमपान मुझे धन को प्राप्त करने के योग्य बनाये। स्वस्थ, नीरोग व सुन्दराकृति पुरुष धन कमाने में भी सफल होता ही है। वास्तविक बात तो यह है कि यह सोमपान करने वाला व्यक्ति प्रभु का आवाहन करता है तो दुर्गा के रूप में प्रभु प्रकृति रूप सिंह पर सवार हो कर ही आते हैं और इसे इस प्रकार प्रकृति का आवश्यक अंश भी प्राप्त हो ही जाता है।

भावार्थ—सोमपान से मुझे दक्षता, शक्ति व धन प्राप्ति की योग्यता प्राप्त हो।

उत्कर्ष की परिनिष्ठा

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र
इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कवि-
२र
र्भगाय ॥५॥४३१॥

सोम का नाम [**इन्दु**]=भी है। यह बिन्दु का ही रूपान्तर है। बिन्दु सोम कणों का नाम है—'मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्'। (इन्दति to be powerful) इन्दु नाम इसलिये पड़ा कि यह सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत है। यह [**पविष्ट**]=मेरे जीवन को पवित्र बनाता है। सोम से उत्पन्न 'शक्ति, पवित्रता व ज्ञान' ये सब तत्व मिल कर [**चारुः**]=मेरे जीवन के सौन्दर्य का हेतु होते हैं। मेरा जीवन बहुत ही सुन्दर बन जाता है। [**मदाय**]=यह जीवन मेरे उल्लास के लिये होता है। बुद्ध ने एक भिक्षु की प्रसन्न व प्रशान्त आकृति से प्रभावित होकर ही भिक्षु बनने का निश्चय किया था। सौन्दर्य के साथ उल्लास का स्वाभाविक सम्बन्ध है। यह सौन्दर्य व उल्लास से युक्त होकर [**अपाम्**]=कर्मों के [**उपस्थे**]=मध्य में विराजता है। कर्मों से घबरा कर पर्वत कन्दराओं का आश्रय नहीं करता। कर्मों को करते हुए यह कवि बन कर उनको करता है ताकि उनमें उलझ न जाय। [**कविः**]=क्रान्तदर्शी, तत्वद्रष्टा होने से उन कर्मों को यह असक्तभाव से करता चलता है। कर्म उसके लिये स्वाभाविक हो जाते हैं। यह [**भगाय**]=ऐश्वर्यादि ६ भगों की प्राप्ति के लिये समर्थ होता है। उनको प्राप्त करके भगवान् सा बन जाता है। उसमें और परमेश्वर में इतनी समता सी दिखने लगती है कि सामान्य व्यक्ति इसे परमेश्वर का अवतार कहने लगता है—विद्वान् लोग इन्हें वीर मान कर आदर देने लगते हैं। यह मनुष्य के उत्कर्ष की परिनिष्ठा होती है=उसका उत्कर्ष यहां चरम विकास पर होता है।

भावार्थ—मैं सोमपान से सुन्दर, उल्लासमय, कर्मठ, क्रान्तदर्शी व अनासक्त (वैराग्य युक्त) जीवन वाला बनूं।

सोम के अनुपात में

२ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्य-
१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
राज्ये। वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥
४३२॥

हे [**सोम**]=वीर्य शक्ति ? [**सुतं**]=उत्पन्न हुई। [**त्वा अनु**]=तेरे अनुपात में [**हि**]=निश्चय से [**मदामसि**]=हम उल्लासमय जीवन वाले होते हैं। सोमरक्षा का जीवन पर तो सबसे स्थूल प्रभाव यही है कि जीवन के अन्दर उल्लास होता है। संसार असार सा नहीं लगता रहता। उस पूर्ण प्रभु की बनाई हुई यह रचना अपूर्ण हो हो कसे सकती है? दूसरा परिणाम यह होता है कि यह सोम हमें [**महे**]=महान् [**समर्यराज्ये**]=उत्तम स्वामी के राज्य में समर्थ बनाता है। हम अपनी बुद्धि, मन व इन्द्रियों के स्वामी होते हैं—इन पर हमारा राज्य होता है। ये आत्मा के वश में होकर विषयों में विचरण करती हैं—इनकी प्रत्येक क्रिया नियमित होती है। यहां इन्द्रियों की, मन की व बुद्धि की हकूमत नहीं चलती—शासन तो आत्मा का ही होता है।

इस सोमरक्षा का तीसरा परिणाम इन शब्दों में कहा है कि [**पवमान**]=पवित्र करने वाले सोम

तू [**वाजान् अभि**]=वाजों को लक्ष्य बना कर [**प्रगाहसे**]=इस शरीर का आलोडन करता है। तेरे कारण अन्नमय कोष में (वाज=वज् गतौ) गतिशीलता क्रियामयता होती है। प्राणमय में तेरे से ही वाज=शक्ति का संचार होता है। मनोमय में यह सोम वाज=त्याग (sacrifice) की भावना को भरता है और यही विज्ञानमय में वाज=ज्ञान का भी कारण बनता है। इस प्रकार यह सोम प्रत्येक कोष को उस कोष की विभूति से अलंकृत करने वाला होता है यह व्यक्ति इस सोम से चमक उठता है।

भावार्थ—सोम मेरे जीवन में उल्लास को दे, इसके कारण मेरे शरीर में स्वामी आत्मा का राज्य हो और मेरा प्रत्येक कोश विभूति सम्पन्न हो।

ये कौन ?

२ ३क २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
क ई व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अथा
१ २
स्वश्वाः ॥७॥४३३॥

सोम के प्रभाव से अपने को श्रीसम्पन्न व ऊर्जित वाले बनाकर ये लोग जब समाज में लोकसंग्रह के लिए विचरते हैं तो सामान्य जनता कह उठती है कि [**के**]=कौन हैं ये [**ईम्**]=सचमुच [**व्यक्ताः**]=(वि अक्ताः) इस अद्भुत कान्ति वाले, [**नरः**]=नियत रूप से अपने को आगे और आगे प्राप्त कराने वाले, [**सनीडाः**]=उस प्रभु के साथ एक ही निवास स्थान में रहने वाले, [**रुद्रस्य मर्याः**]=सबको उपदेश देने वाले प्रभु के ही आदमी, [**अथा**]और सबसे बड़ी बात यह कि [**स्वश्वाः**]=उत्तम इन्द्रिय रूप घोड़ों वाले।

सोम के पान ने इनके जीवन में उपरोक्त अद्भुत प्रभाव उत्पन्न किये हैं। इन प्रभावों के कारण सामान्य जनता की दृष्टि में ये अतिमानव, परमेश्वर के अवतार और अन्ततः परमेश्वर ही बन जाते हैं। ये प्रकृति के उपासक न होकर प्रभु के उपासक होते हैं— और वस्तुतः इसी कारण प्रकृति का अन्याय्य प्रयोग नहीं करते। ये अपने को प्रभु का निमित्तमात्र मानते हैं। प्रकृति के agent तो ये बनते ही नहीं। वस्तुतः जो भी व्यक्ति प्रकृति के agent बनते हैं—वे कभी भी गबन किये बिना नहीं रहते - वे सब भोगों को स्वयं ही भोगने लगते हैं। सो प्रभु का agent बनना ही ठीक। इसी बात को मन में 'रुद्रस्य मर्याः' शब्दों से कहा गया है। इन्द्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व पाकर ही मनुष्य परमेश्वर का होता है—ये प्रभु के व्यक्ति 'वशिष्ठ' हैं 'मैत्रावरुणि' हैं।

उदारता + क्रियाशीलता

२ ३ २ ३ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १
अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदि-
१ २ ३ १ २ ३ १ २
स्पृशम् । ऋध्यामा त ओहैः ॥८॥४३४॥

ऐ [**अग्ने**]=प्रकाश व क्रिया के मूर्तरूप प्रभो ? [**तं**]=उस आपको [**अद्य**]=आज हम [**ऋध्याम**]=बढ़ाते हैं। प्रभु प्रकाश स्वरूप हैं, स्वाभाविक क्रिया वाले हैं। अग्रगति के लिए इन्हीं दो तत्वों की आवश्यकता है। क्रिया के अभाव में बढ़ने का संभव ही नहीं और प्रकाश के अभाव में गलत दिशा में चले जाने की संभावना है। प्रभु प्रकाश और क्रिया दोनों के समन्वय से निरन्तर हमें आगे ले चल रहे हैं। सचमुच के अग्नि हैं—मैं उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करूं।

वे प्रभु [**अश्वं न**]=(अशू व्याप्तौ) व्यापकता की तरह तथा [**क्रतुं नं**]=कर्म संकल्प की तरह [**भद्रं**]=हमारा कल्याण करने वाले हैं। जितनी जितनी हमारी वृत्ति व्यापकता को लिए हुए होती है और जितना हमारा हृदय कर्मसंकल्प से पूर्ण होता है उसी अनुपात में हमें कल्याण की भी प्राप्ति होती है। प्रभु की मौलिक प्रेरणायें यही दो हैं कि 'उदार बनो, क्रियाशील बनो'। उदारता के अभाव में औरों का भला करने की वृत्ति ही नहीं होती, क्रिया के अभाव में हम भला कर नहीं पाते। दोनों का मेल होते ही मनुष्य औरों का भला करने में

समर्थ होता है और ऐसा करने पर प्रभु से कल्याण प्राप्ति का अधिकारी बनता है ।

'हमारे कर्म पवित्र बने रहें' इसके लिए यह आवश्यक है कि हम उस प्रभु को [हृदिस्पृशं]=रूप में स्मरण करें । वे प्रभु हमारे हृदयों में बसे हैं, हम सोचते हैं और वे जानते हैं । 'गुहाचरन् नाम' 'हृदय रूप गुफा में विचरने वाले' यह तो प्रभु का नाम ही हो गया है । हमारी कौन सी बात उनसे छिपी है ? हमें तो भ्रम था कि हम अकेले हैं, उस हृदयस्थ पुराणमुनि को जान कर मेरा मन पाप की ओर थोड़ा ही झुकेगा ?

हम इस प्रभु को [ते स्तोमैः]=तेरे स्तुति समूहों से, जो कि [ओहैः]=उस प्रभु को प्राप्त कराने वाले हैं, [ऋध्याम]=बढ़ाते हैं । हम प्रभु के गुणों का स्मरण इस प्रकार से करते हैं कि उन गुणों को धारण करते हुए हम प्रभु के समीप पहुंचते जाते हैं । हमारे अन्दर भी सुन्दर दिव्य गुणों का विकास हो कर हमें 'वामदेव' बना देता है, इन्द्रियों की निर्मलता से हम 'गोतम' होते हैं । उदारता हमें वामदेव बनाती है तो क्रियाशीलता (गो-गच्छति) गोतम ।

भावार्थ—मैं उदारता व क्रियाशीलता को अपना कर 'वामदेव गोतम' बनूं ।

चार कदम—(स्वर्ग का विजय)

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मन् देवस्य
३ २ ३ २ ३ १ २
सवितुः सवम् । स्वर्गां अर्वन्तो जयत ॥९॥
॥४३५॥

प्रभु कहते हैं कि [मर्याः]=ऐ मनुष्यो ? [आविः]=अपना विकास करो—'उन्नति' यह तुम्हारे जीवन का लक्ष्य-शब्द हो । उन्नति का स्वरूप यह है कि तुम यह निश्चय करो कि [वाजिनः]=उस वाजी के [वाजं]=वाज को [आ अग्मम्]=प्राप्त होऊं । विज्ञानमय कोश में मैं उस वाजी=ज्ञानस्वरूप प्रभु के ज्ञान को प्राप्त करूं, मनोमय कोश में उस वाजी=त्याग के पंज—अपने को भी दे डालने वाले उस प्रभु के वाज=त्याग को अपनाऊं । प्राणमय कोश में उस वाजिनः=शक्तिमय प्रभु की वाजं=शक्ति को धारण करूं और अन्नमय कोश में वाजिनः=उस स्वाभाविक क्रिया वाले प्रभु की वाजं-क्रिया को मैं भी अपना स्वभाव बनाऊं । इसके लिए मैं उस [देवस्य]=सारी दिव्यता के निधान [सवितुः]=सदा प्रेरणा देने वाले प्रभु की [सवं]=प्रेरणा को [अग्मन्]=प्राप्त होऊं—सुनने वाला बनूं । विकास व उन्नति को लक्ष्य बनाना प्रथम कदम है—उस विकास का स्वरूप है—वाज को प्राप्त करना । उस वाज की प्राप्ति के लिए प्रभु की प्रेरणा को सुनना दूसरा कदम है । इस प्रेरणा को सुनने वाला व्यक्ति 'अर्वन्' होता है यह (अर्व to kill) काम क्रोधादि वासनाओं का संहार करता है औ [अर्वन्तः]=कामादि का संहार करते हुए तु लोग [स्वर्गं जयत]=स्वर्ग को जीतने वाले बनो । पारलौकिक स्वर्ग की बात का न भी ध्यान करें, मनुष्य ऐहलौकिक स्वर्ग का लाभ तो कर ही लेता है । क्रोधादि से ऊपर उठ जाने पर मनुष्य का जीवन कितना अद्भुत शान्ति वाला हो जाता है । बिना वासनाओं को जीते कभी मनुष्य की सुखमय स्थिति नहीं हो सकती । इसलिए आवश्यक है कि हम विकास को जीवन का लक्ष्य बनाकर 'वाज' को प्राप्त करने वाले बनें । 'वाजिनः' इस मंत्र का देवता है—मुख्य बात यह है कि हम वाज को प्राप्त करके 'वाजिन्' बनें !

भावार्थ—विकास हमारा लक्ष्य हो, वाजी हम बनें, प्रभु की प्रेरणा को सुनें, वासनाओं को नष्ट करके स्वर्ग के विजेता बनें ।

ज्योति व अमरता

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महाँ अवीनामनु-
३ २
पूर्व्यः ॥१०॥४३६॥

हे [सोम]=? [अनु पवस्व]=सोम ? तू हमारे जीवन को अनुकूलता से पवित्र कर ।

[द्युम्नी]=ज्ञानाग्नि का ईंधन बन कर हमारे मस्तिष्क को द्युतिमय-ज्योतिर्मय कर। **[सुधा-रः]** हमें अमृतत्व को देने वाला हो। 'जीवनं बिन्दुधारणात्'—इस तत्व को समझ कर हम तेरा पान करने वाले बनें और अमृतत्व का लाभ करें। **[महान्]** =तेरे धारण से हमारे हृदय तुच्छता से दूर और विशालता से सम्पन्न हों। तू **[अवीनाम् पूर्व्यः]**= रक्षकों में सर्वप्रथम है। सोम की रक्षा होने पर शरीर को रोग पीड़ित नहीं कर सकते, इन्द्रियों को निर्बलता आक्रान्त नहीं कर पाती, मन ईर्ष्या-द्वेष वाला नहीं होता और बुद्धि कुण्ठता को प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार यह सोम प्रत्येक कोष की रक्षा करने वाला है।

मस्तिष्क में यह ज्योति को प्राप्त करता है तो शरीर में नीरोगता को। मन में विशालता को प्राप्त कराता है तो इन्द्रियों में शक्ति को। वस्तुतः सोम ही जीवन का आधारभूत तत्व है। इसी से जीवन का धारण व उत्थान होता है।

भावार्थ—हम सोम की महिमा को समझें और उसके धारण को महत्व दें।

◆ ◆ ◆

(द्वितीयोऽर्धः)

॥ १ ॥ ऋषिः—१, २, ५, ६, ८—१० वामदेवः; ३, ४ अवस्युः; ७ संवर्तः ॥ देवता—१—५, ८—१० इन्द्रः; ६ विश्वेदेवाः; ७ उषाः ॥ छन्दः—द्विपदा पङ्क्तिः ॥ स्वरः=पंचम

प्रभु नाम स्तवन (विश्वतोदावन्-शविष्ठ)

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
विश्वतोदावन् विश्वतो न आ भर यं त्वा
१ २ ३ १ २
शविष्ठ मीमहे ॥१॥४३७॥

पिछली दशती में सोम की महिमा व धारण के महत्व का उल्लेख था। उसके धारण के लिए सर्वमहान् साधन 'प्रभुस्तवन' है, सो इस दशती में उसी का उल्लेख है। गत सूक्त में प्रायः मंत्रों का ऋषि 'ऋण त्रसदस्यु' थे—गतिशील अतएव भयभीत हैं दस्यु जिससे। इस सूक्त में 'ऋण' को हटा कर केवल 'त्रसदस्यु' ऋषि है। यह इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि जीव के किए क्या होगा? करना तो सब उस प्रभु ने है, प्रभु की कृपा से ही यह हो पाएगा। प्रभु के स्मरण के साथ काम क्रोधादि दस्युओं का निवास नहीं है। 'प्रभु का स्मरण किया, और दस्यु भागे' इस तत्व को समझ कर ही भक्त प्रभु का स्मरण करता है कि—

[विश्वतो दावन्]=ऐ सर्वतः दानशील प्रभो? **[विश्वतो न आभर]**=आप सर्वतः हमारा भरण कीजिए। हमारे शरीरों को नीरोगता से, इन्द्रियों को शक्ति से, मन को विशालता से तथा मस्तिष्क को ज्योति से भर दीजिए। **[यं]** =जिस **[त्वा]**=आपको **[शविष्ठं]**=सर्वाधिक शक्ति वाले को **[ईमहे]**=हम याचना करते हैं। ऐ प्रभो? आप ही सब कुछ देने वाले हैं—इस सोम की रक्षा की शक्ति भी तो आप ही देंगे। आप के सम्पर्क में आकर ही मैं शक्ति संपन्न होता हूं और शत्रुओं का संहार कर पाता हूं। आप **[विश्वतो दावन्]**=हैं, आप **[शविष्ठ]**=हैं।

भावार्थ—वे प्रभु 'विश्वतो दावन्' हैं=मुझे भी शक्ति क्यों न देंगे, 'शविष्ठ' हैं—मुझे भी शक्ति संपन्न क्यों न बनायेंगे?

सूचना—'विश्वतोदावन्' शब्द का अर्थ सब अशुभों के विध्वंस करने वाले (दाप्लवने) तथा सब प्रकार से शोधन करने वाले भी हैं (दैप्-

शोधने), यहां 'विश्वतो नः आभर' इस वाक्यांश के साथ सब कुछ देने वाले यह अर्थ किया गया है।

ब्रह्मा-ऋत्विय-इन्द्र

३ २ ३ २उ ३ २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ।
॥२॥४३८॥

[**एषः**]=ये विश्वतोदावन् प्रभु [**ब्रह्मा**]=हैं=सब तरह से बढ़े हुए हैं–प्रत्येक गुण की पराकाष्ठा हैं। अपने सखा जीव को भी सब तरह से बढ़ाने वाले हैं। ये प्रभु वे हैं [**यः**]=जो [**ऋत्वियः**]=ऋतु-ऋतु में अर्थात् सदा पुकारने के योग्य हैं। जीव को जब कभी दुःख होता है उस समय तो वह प्रभु को पुकारता ही है, परन्तु सुख के समय भी ये प्रभु पुकारने योग्य हैं ताकि हमारा मस्तिष्क स्वस्थ रहे। सन्तों की यह वाणी कितनी ठीक है कि यदि सुख के समय मनुष्य प्रभु को स्मरण रखे तो दुःख हो ही ना। वे प्रभु [**इन्द्रोनाम श्रुतः**]=इन्द्र इस नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सब असुरों के संहार करने वाले हैं—आसुरवृत्तियों को नष्ट करने वाले हैं। सर्व शक्तिमान् हैं—सबशक्ति के कार्यों का इन्द्र से ही तो सम्बन्ध है। परमैश्वर्यशाली हैं—जहां-जहां ऐश्वर्य है—वह प्रभु का ही अंश है।

इस ब्रह्मा, ऋत्विय व इन्द्र नाम से प्रसिद्ध प्रभु को [**गृणे**]=मैं स्तुत करता हूं प्रभु का स्तवन करता हुवा मैं भी ब्रह्मा व इन्द्र बनने का प्रयत्न करता हूं। मेरा जीवन ऐसा होता है कि लोग कष्ट निवारण के लिए मुझे पुकारते हैं यह तभी तो संभव है कि यदि मैं सचमुच ऐसा कह सकूं कि 'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्, कामये दुःखतप्तानां प्राणिनां आर्तिनाशनम्'।

भावार्थ—प्रभु ब्रह्मा हैं—मैं भी वर्धमान होऊं। प्रभु ऋत्विय हैं—मेरी लोकहित की वृत्ति मुझे भी ऋत्विय बनाये। प्रभु इन्द्र हैं—मैं भी आसुरवृत्तियों का संहार करने वाला शची=शक्ति का पति बनूं।

अहि-हनन

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये
२ ३ १ २
हन्तवा उ ॥३॥४३९॥

[**ब्रह्माणः**]=ज्ञानी लोग [**इन्द्रं**]=उस सब असुरों के संहार करने वाले प्रभु को [**महयन्तः**]=पूजते हुए (मह् पूजायाम्) [**अर्कै**]=(अर्च्यन्येनेनेति अर्को मंत्रः) मंत्रों से उस प्रभु को [**अवर्धयन्**]=बढ़ाते हैं। प्रभु को बढ़ाना क्या? अपने अन्दर उस प्रभु की दिव्यता की रुचि को बढ़ाना है। प्रभु न्यायकारी हैं—मैं भी न्यायकारी बनूं, प्रभु दयालु हैं—मैं भी दया की वृत्ति वाला बनूं। यही प्रभु को बढ़ाना है। यह प्रभु का वर्धन इसलिए आवश्यक है कि इसके विना हम अपने से कुटिलता की वृत्ति को दूर नहीं कर सकते। ज्ञानी लोग उस प्रभु का वर्धन [**उ**]=निश्चय से [**'अहये हन्तवा'**]=अहि के हनन के लिए करते हैं। 'अहि' कुटिलता का प्रतीक है—हिंसा का प्रतिनिधि है। प्रभु का स्मरण मुझे कुटिलता व हिंसा से दूर करता है। प्रभु से दूर होते ही मुझे यह अहि आ चिपटता है और मैं 'आदम व हव्वा की तरह ज्ञान व अमरता के वृक्ष का फल खा कर अपने को बड़ा ज्ञानी समझने लगता हूं मुझे मृत्यु भूल सी जाती है और मैं क्या देखता हूं कि मेरा स्वर्ग का जीवन समाप्त हो गया।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण मुझे इस सर्पदंश से दूर रखे ताकि मैं स्वर्ग में बना रहूं।

सफल जीवन

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ १ २
अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरु-
३ १ २
हूत द्युमन्तम् ॥४॥४४०॥

[**अनवः**]=मनुष्य [**ते**]=वे हैं जो [**रथम्**]=इस शरीररूपरथ को [**अश्वाय**]=(अश् व्याप्तौ) उस सर्वव्यापक परमात्मा के लिए [**तक्षुः**]

=बनाते हैं। वस्तुतः मनुष्य वह है जो कि प्रेय मार्ग की चमक से न उलझ कर श्रेयमार्ग का अवलम्बन करता है। प्रकृति के भोगों में न फंस कर जिसने प्रभु प्राप्ति के मार्ग का अवलम्बन किया वही मनुष्य कहलाने के योग्य है। संसार के भोगों के अन्दर उलझ कर जीवन यापन कर देना बिलकुल पाशविक जीवन है—मनुष्य जीवन नहीं। मनुष्य प्रभु की ओर चलता है—पशु प्रकृति की ओर।

[**त्वष्टा**]=निर्माता वह है जो [**वज्रं**]=अपनी क्रिया को [**द्युमन्तम्**]=प्रकाशमय (ततक्ष) बनाता है। वस्तुतः जिस क्रिया में प्रकाश है अर्थात् जो क्रिया विवेकपूर्वक की जायगी वह सदा निर्माण करने वाली होगी। परन्तु उस निर्माण का भी तो इस त्वष्टा को गर्व न होगा, चूंकि यह तो प्रभु को [**पुरुहूत**]=रूप में पुकार रहा है कि ऐ प्रभो? पूरण करने वाले तो आप ही हो। मैं तो आपका निमित्तमात्र हूं। निर्माण में गौरव है—गौरव का अनुभव करना ही चाहिए परन्तु यही गर्व में परिणत होकर हमारी विजय को पराजय में कर देता है। निर्माण का सौन्दर्य अभिमान के कालुष्य से दूषित हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चल कर मानव-जीवन को सफल करें। प्रकाशमय क्रिया वाले होकर कुछ न कुछ निर्माण करने वाले हों।

पूर्ण शान्ति व ऐश्वर्य

२ ३ २. ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
शं पदं मघं रयीषिणे ऩ काममव्रतो हिनोति
१ २ ३ २
न स्पृशद्रयिम् ॥५॥४४१॥

[**शं पदं**]=पूर्ण शान्ति के स्थान को, जो कि [**मघं**]=निर्मल ऐश्वर्य से पूर्ण है, उसे [**रयीषिणः**]=(ईष्=to give) धन को देने वाले प्राप्त करते हैं। वस्तुतः पूर्ण शान्ति का स्थान तो ब्रह्म है ब्रह्म को वही प्राप्त करता है जो धन के प्रति आसक्त नहीं होता। अनासक्ति ही दान के रूप में प्रकट होती है। जो भी व्यक्ति [**अव्रतः**]=इस दान के व्रत को धारण नहीं करता वह [**कामम्**]=बेशक कितना ही हाथ पैर मारे [**न हिनोति**]=इस शान्ति के पद को प्राप्त नहीं करता। धन के संग्रह में शान्ति है भी तो नहीं। यह अव्रत पुरुष उस ऐश्वर्यपूर्ण शान्त स्थान को प्राप्त भी क्यों कर करे [**न स्पृशत् रयिम्**]=इसने धन का दान भी तो नहीं किया। (स्पर्शनम्=दानम्)। आदमी धन का दान करे, इस प्रकार इस प्रकृति में आसक्त न हो तभी वह उस शान्त पद को प्राप्त कर सकता है।

भावार्थ—शान्ति की प्राप्ति ब्रह्मीभाव में है, यह भाव सर्वलोकहित में रत होने से प्राप्त होता है। उसी भूतहित का प्रतीक दान है।

निष्पापता

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा
२ ३ १ २
अरेपसः ॥६॥४४२॥

[**देवाः**]=देने वाले [**सदा**]=हमेशा [**अरेपसः**]=निष्पाप होते हैं। दान=देना, दान=खण्डन, दान=शोधन। दान शब्द के उल्लिखित तीन अर्थ ही दान की निष्पापता को जन्म देने की शक्ति को व्यक्त करते हैं। लोभ सब पापों का मूल है—दान उस मूल पर कुठाराघात करता हुवा पापों का उन्मूलन कर देता है। इस बात को वेद एक उदाहरण से भी इस रूप में व्यक्त करता है कि [**गावः**]=गौवें [**सदा**]=हमेशा [**शुचयः**]=पवित्र हैं। इनका मलमूत्र भी कृमिघातक होकर शोधक हो जाता है। गोमूत्र कितने ही रोगों को दूर करता है, गोमय किस प्रकार यज्ञवेदि के नैर्मल्य का कारण बनता है? गौवों की इस पवित्रता का हेतु भी वेद के दृष्टिकोण में यही है कि ये [**विश्वधायसः**]=सभी को दूध पिला कर पालने वाली हैं। गौवें जीवन देती हैं, देने से ही पवित्र हैं। मनुष्य भी देता है, तो दान से देव बन जाता

है और निष्पापता का लाभ करता है। यह निष्पापता ही तो उसके ब्रह्मीभाव का कारण बनेगी। 'ब्रह्मभूतः' शब्द का अर्थ (भू-प्राप्तौ) ब्रह्म को प्राप्त ही है। यह ब्रह्मप्राप्ति इस दान से होती है।

भावार्थ—मनुष्य वह जो प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चले। प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चलने वाला रयीष=धन का देने वाला होता है। दानी निष्पाप होता है, देव बनता है और महादेव को प्राप्त करता है।

उपासना के लाभ

१ २३ १२ ३ १र २र ३ १र
आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं
२र
यदूधभिः ॥७॥४४३॥

वन् धातु का अर्थ है—'संभक्ति'। संभजन का अभिप्राय है 'एकाग्रचित्त से प्रभु का ध्यान' जिसका गीता में वर्णन 'मच्चित्तः, मद्गतप्राणः' 'अनन्यचेताः' इत्यादि शब्दों से हुवा है। मनुष्य प्रभु के ध्यान में तल्लीन हो उसे किसी सांसारिक वस्तु का ध्यान न हो—वह योगनिद्रां गत हो—इस ध्यान को 'वनस्' कहते हैं। जब मनुष्य इस ध्यान की स्थिति में होता है तो [**वनसा सह**]=इस उपासना के साथ ऐ प्रभो? [**आयाहि**]=आप मुझे प्राप्त होइए। वस्तुतः तन्मयता के बिना प्रभु प्राप्ति संभव नहीं।

इस उपासना का परिणाम यह होता है कि [**गावः**]=इन्द्रियां [**वर्तनिं सचन्त**]=मार्ग का सेवन करती हैं जैसे दिलीप के राज्य में उसकी प्रजायें रेखामात्र भी मनुनिर्दिष्ट मार्ग से व्यतिक्रम न करती थीं, उसी तरह इस उपासक की इन्द्रियां, प्रभु का राज्य हो जाने पर, अपने मार्ग से विचलित नहीं होती। दिन में तो क्या? [**ऊद् ऊधभिः**]=जब रातों में भी इन्द्रियां मार्ग से विचलित नहीं होतीं, तब समझना चाहिए कि उपासना ठीक हुई। मेरी वाणी दिन में ही असत्य नहीं बोलती सो नहीं, रात में भी में स्वप्न में भी असत्य नहीं बोलता—यही तो उपासना की महिमा है। इससे जीवन का मार्ग ही पलट गया। असत् से सत् की ओर अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर चल पड़ने से यह ऋषि 'संवर्त' नाम वाला हुवा है। 'संवर्तते इति संवर्तः'=जो उत्तम मार्ग पर चल रहा है।

भावार्थ—मैं अनन्यभाव से प्रभु का भजन करूं। परिणामतः प्रभु दर्शन करने वाला बनूं और दिन में तो क्या? रात्रि में भी मेरी इन्द्रियां मार्ग से विचलित न हों।

मधुमान् प्रक्ष में निवास

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २
उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं
३ १ २
धीमहे त इन्द्र ॥८॥४४४॥

गीता में शरीर को 'क्षेत्र' नाम दिया है—जिसमें निवास किया जाय। इसी निवास की उत्तमता का संकेत करने के लिए, यहां 'प्रक्ष' शब्द का प्रयोग है—प्रकृष्टनिवास का स्थान। केवल निवास ही नहीं, 'क्षि=निवासगत्योः' धातु से बना यह शब्द यह निर्देश कर रहा है कि इस शरीर में हमारा उत्तम निवास हो और हम सदा गतिशील हों। इस प्रक्ष को हम 'मधुमति'=मधुमान् बनायें, हमारा सारा व्यवहार माधुर्य को लिये हुए हो। 'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'=मेरा आना जाना भी माधुर्य को लिए हुए हो। इस [**मधुमति प्रक्षे**]=माधुर्यमय शरीर में [**उपक्षियन्तः**]=निवास करते हुए और गतिशील रहते हुए हम **रयिं पुष्येम**]=धनों का पोषण करें और इन्द्र=ऐ प्रभो! [**ते धीमहे**]=आप का ध्यान करें और धारण करें।

'गतिशील रहते हुए हम धन को कमायें' इस वाक्य का अभिप्राय स्पष्ट है कि हम पुरुषार्थ-प्राप्य धन को ही उपादेय मानें। 'और यह धन हमारे जीवनों में किसी प्रकार के धब्बों को लगाने वाला

न हो जाय' इसलिए हम प्रभु का ध्यान व धारण करें। 'धनसंपन्न-प्रभुभक्त' गृहस्थ कितना अधिक सुन्दर है ? धन से सब कार्य चलते हैं और प्रभु-भक्ति उसकी किसी हानि को नहीं होने देती। प्रभुभक्ति धन की हानियों का प्रतिकार है।

एवं उल्लिखित दो मंत्रों में उपासना के निम्न लाभ परिगणित हुए हैं—

(१) प्रभु-प्राप्ति (आयाहि)। (२) इन्द्रियों का मार्ग से विचलित न होना। (३) शरीर में उत्तम निवास व गतिशीलता (प्रक्षे) (४) माधुर्य (मधुमति)। (५) ऐश्वर्य लाभ (रयिं पुष्येम)। (६) दिव्यता का धारण (ते धीमहि)।

भावार्थ—प्रभु कृपा से मेरा मन अवश्य उपासना-प्रवण होगा।

कष्टों का अन्त

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २र
अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति श्रुतो
३ १र २र
युवा स इन्द्रः ॥६॥४४५॥

अर्क शब्द का अर्थ परमात्मा है (यद् एनम्-अर्चन्ति), इसका अर्थ मंत्र है (यदनेन अर्चन्ति) इसका अर्थ अन्न है (अर्चति भूतानि)। इस प्रकार [**स्वर्काः**]=का अर्थ है उस सर्वोत्तम उपास्य देव को उत्तम मंत्रों से अर्चना करने वाले और अत एव उत्तम सात्विक अन्न का सेवन करने वाले [**मरुतः**]=मनुष्य [**अर्कम्**]=उस उपास्य प्रभु की [**अर्चन्ति**]=अर्चना करते हैं। 'य एक इत् हव्यः चर्षणीनाम्'=इत्यादि मंत्रों में मनुष्य के लिए एक मात्र उस प्रभु की ही उपास्यता का निर्देश है। जो मनुष्य सात्विक अन्नों का सेवन करते हैं और परिणामतः जिनका ज्ञान उत्तम होता है उनका जीवन इस उपासना से ओत-प्रोत हुवा करता है।

ऐसा होने पर [**सः**]=वह [**इन्द्रः**]=परमैश्वर्यशाली प्रभु जो कि [**युवा श्रुतः**]=अशुभ को दूर करने वाला (यु=अमिश्रण) और शुभ को प्राप्त कराने वाला (यु=मिश्रण) प्रसिद्ध है, [**आस्तोभति**]=इनके सब कष्टों को रोकता है। प्रभु कृपा से न इन्हें आध्यात्मिक कष्ट पीड़ित करते हैं, न आधिभौतिक कष्टों के ये शिकार होते हैं और ना ही आधिदैविक कष्टों का प्रकोप इन्हें सहना पड़ता है। संक्षेप में जीव उपासक बनता है और प्रभु उसके कष्टों का निवारण करता है। उपनिषत्कार इसी भावना को इस रूप में कहते हैं कि जीव सामवेद से स्वर्ग का विजय करता है=उपासना से सुखमय स्थिति का लाभ होता है। गीता के शब्दों में प्रभु की शरण में जाने वाला उपासक संसार की दुस्तर माया को तैर जाता है।

भावार्थ—मैं प्रभु का सच्चा उपासक बनूं। यही तो सत्य मार्ग है।

शोधन-पूरण

२ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत
२ ३ १ २
यं जुजोषते ॥१०॥४४६॥

[**गाथं प्रगायत**]=गाथा का खूब गायन करो। किसके लिए ? [**वः इन्द्राय**]=तुम्हारे परमैश्वर्य को प्राप्त कराने वाले के लिये। [**वृत्रहन्तमाय**]=वासनाओं का अधिक से अधिक नाश करने वाले के लिए और [**विप्राय**]=विशेष रूप से पूरण करने वाले के लिये।

प्रभु का हम गायन करते हैं तो वे प्रभु परम ऐश्वर्य को तो प्राप्त कराते ही हैं परन्तु महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि हमारी वासनाओं का विनाश हो जाता है। वासनाओं का विनाश ही मलों का दूर होना है। उस निर्मल हृदय में प्रभु के सान्निध्य से दिव्य भावनाओं का भरण होता है। राग द्वेष का स्थान प्रेम ले लेता है, औरों को तुच्छ समझने का स्थान करुणा ले लेती है, ईर्ष्या के स्थान में आगे बढ़ने की भावना उत्पन्न होती है, अभिमान का स्थान विनय लेती है और भय के स्थान में देवपूजा की भावना उत्पन्न हो जाती है।

इस परिवर्तन को अनुभव करने वाले विद्वान् [यं] =जिस प्रभु को [जुजोषते]=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं हम भी उस प्रभु की उपासना करें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमारे हृदयों का शोधन होगा और उनमें दिव्यता का पूरण होगा।

* * *

॥ २ ॥ ऋषि:—१, ३, ४, ७, १० वामदेव:; २ बन्धु:; ५ सम्वर्त्त:; ६ भुवन आप्त्य:; ८ भरद्वाज: ॥
देवता—१, २, ३ अग्नि:; ४, ८ १० इन्द्र:; ५ उषा:; ६, ७, ९ विश्वेदेवा: ॥ छन्द:—१, ३, ४,
७ द्विपदा गायत्री; २, ५, ६ द्विपदा पङ्क्ति; ८, ९ द्विपदा त्रिष्टुप्; १० एकपदा गायत्री ॥
स्वर:—१, ३, ४, ७, १० षड्ज:; २, ५, ६ पञ्चम:; ८, ९ धैवत: ॥

अग्नि का समिन्धन

१२ ३ १र २र ३ २उ ३ १ २
अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाड् न सुमद्रथः।
॥१॥४४७॥

प्रभु अग्नि हैं। उनके सान्निध्य से जीव भी [अग्नि: अचेति]—अग्नि रूप में चैतन्य हो उठता है। ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्य रूप अग्नि से शिष्य रूप अग्नि समिद्ध होती है 'अग्निनाग्नि: समिध्यते'। यह प्रभु का उपासक भी उसी प्रकार उस महान् अग्नि के संपर्क में आकर अग्नि रूप में प्रज्वलित हो उठता है—चमक उठता है। [चिकित्ति:]=(कित निवासे रोगापनयने च) यह उत्तम निवास वाला होता है और इसका शरीर रोगशून्य होता है। प्रभु के उपासक का मस्तिष्क यदि ज्ञानाग्नि के प्रकाश वाला होता है तो उसका शरीर 'अनामय' =रोगशून्य होकर स्वास्थ्य की दीप्ति वाला होता है। [हव्यवाट् न]=हव्यों—सात्विक पदार्थों के वहन—सेवन करने वाले की तरह यह प्रभुभक्त शरीर मन व मस्तिष्क सभी में सत्वगुण प्रधान बनता है—स्वास्थ्य नैर्मल्य व दीप्ति के रूप में सत्वगुण का परिणाम उसके जीवन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। [सु-मद्-रथ:]=यह उत्तम हर्ष युक्त शरीर रूप रथ वाला होता है। इसका मन:-प्रसाद इसके वक्त्र को स्मित युक्त बनाए रखता है। इसका smiling-face (प्रसन्न-वदन) इसके अन्त: प्रसाद की सूचना देता है। यह अपने इस मन:-प्रसाद व मुस्कराहट को चारों ओर बखेरता है। एक दु:खी व्यक्ति को भी अपने इस हास्य के प्रसार से यह हिम्मत बंधाता है—उसका धारण करता है। इसी से इसका नाम 'पृषध्र' (पर्षते इति पृष:=one who sprinkles, धरति इतिध्र:) हो गया है। प्रभु के उपासक को पृषध्र होना ही चाहिए। यह पृषध्र 'सुयद्रथ'=स्वयं रमंमाण अर्थात् आत्मरति, आत्मक्रीड व आत्मतृप्त होता है—यह आनन्द के लिए बाह्य वस्तुओं पर निर्भर नहीं करता (सुमत्-स्वयं)।

भावार्थ—अग्नि के संपर्क में आकर मैं भी अग्नि बन जाऊं। आत्मानन्द का अनुभव करते हुए सब बाह्य आनन्द इसके लिए तुच्छ हो जाते हैं॥

बन्धु की उपासना

२ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २
अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो
३क २र
वरूथ्यः ॥२॥४४८॥

'पृषध्र' सब पर प्रसाद को बखेरता हुवा और उसके द्वारा सभी का धारण करता हुवा सब का 'बन्धु' बनता है। यह केवल अपना कल्याण नहीं चाहता अपितु सब के कल्याण के लिए सदा प्रवृत्त रहता है। परन्तु उस सेवा के कार्य में भी अभिमान के अंश को न उत्पन्न होने देने के लिए प्रभु का

स्मरण इन शब्दों में करता है कि [**अग्ने**]=ऐ आगे ले चलने वाले प्रभो ? [**त्वं नः अन्तमः**]= आप ही हमारे अन्तिकतम (Intimate) मित्र हो। संसार में जब सभी साथ छोड़ जाते हैं उस समय आप की मित्रता ही हमारा अवलम्बन होती है। आप से अधिक घनिष्ठ हमारा कोई नहीं। संसार के सभी मित्र 'ददाति' के साथ 'प्रतिगृह्णाति' को जोड़े हुए हैं। केवल आप ही ऐसे मित्र हैं जो कि केवल 'ददाति' का ही पाठ पढ़े हैं, आप हमारे से कुछ लेते नहीं। [**उत**]=और [**त्राता**]=आप ही हमारे रक्षक हैं। रक्षक ही नहीं [**शिवः**]= कल्याण करने वाले हैं। [**वरूथ्यः**]=आप हमारे उत्तम आवरण (Cover, Shelter) [**भुवः**]= हैं। आप ही हमारे उत्तम धन हैं (wealth)। प्रभु रूप धन की तुलना में अन्य सब धन तुच्छ हैं ही।

भावार्थ—मैं प्रभु को अपनी सम्पत्ति समझूं।

द्युलोक-पृथिवीलोक

२ ३ २ ३ २ २१ ३ २ ३ १ २ १ २
भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम्।
॥३॥४४६॥

'बन्धु' प्रभु की उपासना करता हुवा प्राणिमात्र के साथ ऐक्य का अनुभव करने वाला 'सुबन्धु' बन जाता है और अनुभव करता है कि [**अग्निः**]= प्रकाश का पुंज प्रभु [**भगो न**]=देदीप्यमान सेवनीय सूर्य की तरह [**चित्रः**]=हमें ज्ञान के प्रकाश का देने वाला है। प्रभु की उपासना से उपासक का मस्तिष्क रूप द्युलोक उसी प्रकार प्रकाशित हो उठता है जिस प्रकार की त्रिलोकी का द्युलोक सूर्य से। वह अग्नि [**महोनां**]=(मह पूजायाम्) उपासकों के इस पार्थिव शरीर में [**रत्नं दधाति**]=रमणीय सप्तरत्नों को धारण करता है। सात धातुएं जो कि शरीर को धारण करती हैं वे ही यहां रत्न हैं—इनसे शरीर रमणीय बना रहता है। पृथिवी जैसे 'वसुन्धरा' है उसी प्रकार उपासक का शरीर भी रत्नों का धारण करने वाला बनता है। इन रत्नों से शरीर दृढ़ बना रहता है।

संक्षेप में उपासक का मस्तिष्क रूप द्युलोक उग्र व तेजस्वी होता है तो उसका यह पार्थिव शरीर दृढ़ होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं उग्र व दृढ़ बनूं।

अन्तरिक्ष-लोक

१ २ ३ १ २ ३ ३ २ २ १र २र ३ २
विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो वा सन् यदि वेह
३ २
नूनम् ॥४॥४५०॥

प्रभु की उपासना से दीप्तमस्तिष्क वाला सुबन्धु 'श्रुतबन्धु' बन गया है—ज्ञान का मित्र। इस ज्ञान के बढ़ने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि वासनाओं का उसके जीवन में क्षय हो जाय। वस्तुतः यह वासनाओं का विनाश भी प्रभु कृपा से ही होता है। यह श्रुतबन्धु प्रभु की उपासना करता हुवा कहता है कि ऐ प्रभो आप ही [**विश्वस्य**]= (विशृ to enter) हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जाने वाली इन आसुर भावनाओं के [**प्रस्तोभ**]=रोकने वाले आप ही हैं। (स्तुभ् =to stop)। [**पुरो वासन्**]=यदि आप मेरे हृदयान्तरिक्ष में पहले ही मृत्यु क्षण से बहुत पूर्व ही स्थापित हुए, तब तो आप मेरी इन वासनाओं को नष्ट करके मेरे जीवन में शान्ति को प्राप्त कराते ही हो। [**यदि वेह नूनम्**]=पर यदि 'इह' =यहाँ मृत्यु क्षण में भी (स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि) आप मेरे से अपने हृदय में प्रतिष्ठित किये जाते हो तो भी नूनं=निश्चय से आप मेरी वासनाओं की समाप्ति के कारण बनते हो। कितना सौभाग्यशाली वह व्यक्ति है जो कि जीवन के यौवन में ही प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करके सब वासनाओं के लिए उस हृदयद्वार को बन्द करवा देता है। परन्तु वह भी भाग्यशाली ही है जो कि अन्तिम अवस्था में भी ऐसा करने में समर्थ हो जाता है। पहला तो ज्ञानी भक्त है और पिछला 'आर्त'। पर हैं दोनों ही

'उदार'।

भावार्थ—प्रभु कृपा से मैं अवसान से बहुत पहले ही अपने हृदयद्वार को वासनाओं के लिए बन्द करवा दूं।

उषा का उपदेश
प्रकाश व कुलीनता

३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३
उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्तयति वर्तनिं
२ ३ १ २
सुजातता ॥५॥४५१॥

अस्त होता हुवा सूर्य रात्रि को जन्म देता है और उदय होता हुवा उषःकाल को। एवं रात्रि व उषा दोनों ही बहनें हैं। उषा आती है और अपनी बहिन रात्रि के अन्धकार को दूर भगा देती है। मंत्र में इसी बात को इन शब्दों में कहा गया है कि [**उषाः**]=उषः काल [**स्वसुः**]=अपनी बहिन रात्रि के [**तमः**]=अन्धकार को [**अप**]=दूर [**संवर्तयति**]=भगा देती है। उषः काल होते ही प्रकाश हो जाता है—अन्धकार का नामोनिशान नहीं रहता। वस्तुतः उषः काल का प्रथम उपदेश ही यह है कि हम अन्धकार को दूर करके प्रकाश को प्राप्त करने वाले बनें। हमारा जीवन अन्धकार नहीं, अपितु प्रकाशमय हो।

उषा रात्रि के अन्धकार को दूर करके [**सु-जा-त-ता**]=कुलीनता पूर्वक [**वर्तनिं**]=मार्ग को संवर्तयति=तय करती है। मार्ग पर आक्रमण करती है। कुलीनता के अभाव में कुछ अभिमान व औद्धत्य की गंध आती है। सूर्य में कुछ तेज़ी है—पर उषा में? वह कितनी शान्त है—कितनी प्रसादमय है। सर्वत्र प्रकाश के साथ ताप है परन्तु उषा के प्रकाश में ताप नहीं। ज्येष्ठ मास में भी, जब कि सूर्य असह्यताप वाला हो जाता है, उषा शान्त ही बनी रहती है। हम भी अपने व्यवहार में कुलीन बनें। हमें ज्ञान व किसी भी शक्ति का गर्व न हो। हम प्रकाश व कुलीनता के साथ अपने मार्ग पर उत्तम ढंग से चलते चलें—'संवर्त' बनें। 'संवर्त'=उत्तम ढंग से चलने वाला होने के कारण ही यह 'आंगिरस' है—शक्ति संपन्न अंगों वाला है।

भावार्थ—मैं उषा से उपदेश लेकर प्रकाशमय जीवन वाला बनूं तथा मेरा व्यवहार कुलीनता का सूचक हो—उसमें meaness (कमीनापन) की गंध न हो।

Ends and means
(साध्य तथा साधन)

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च
३ २
देवाः ॥६॥४५२॥

इस मंत्र का ऋषि 'भौवनः-साधनः' है—जो भुवनों का ठीक ही स्वरूप समझता है कि वे मेरे साधन हैं—साध्य नहीं। वस्तुतः ये अनुभव करता है कि जब तक हम इन भुवनों को—सब लौकिक वस्तुओं को—साधन के रूप में ही देखते हैं तब तक हमारे में इनके प्रति आसक्ति नहीं उत्पन्न होती। परिणामतः ये हमारे दुःखों का कारण नहीं बनते। पर इसके विपरीत ज्यों ही ये हमारे साध्य बन जाते हैं तो हम इनमें आसक्त हो जाते हैं और परिणामतः हमारे व्यवहार विकृत होते हैं और हम दुःखी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—भोजन जब तक शरीर रक्षा का साधन है तब तक हम उसे क्षुधा-निवृत्ति के लिए मात्रा में खाते हैं पर जब भोजन साधन नहीं रह जाता अपितु साध्य सा हो जाता है तो हम सैंकड़ों प्रकार से उसे स्वादिष्ट बनाकर अतिमात्र सेवन करने लगते हैं और रस में फंसकर अधिक खाकर व्याधिग्रस्त हो जाते हैं। नाव को पार जाने का साधन समझने वाले लोग नाव से पार होते हैं और बिना किसी आसक्ति के उसे छोड़ चल देते हैं, परन्तु नाव जिसकी पार जाने का साधन मात्र नहीं है वह केवट नाव में ही उलझा रह जाता है। इसी प्रकार भुवनों को साधन न समझने वाला इन भुवनों में ही आसक्त रहता है। ये

उसको सुखी नहीं बनाते।

इस तत्व को अनुभव करने वाला 'भौवन साधन' कहता है कि[**इमाभुवना**]=इन भुवनों को हम [**नु**]=अब [**कं**]=सुख प्राप्ति के लिए [**सीषधेम**]=साधन बनायें। ये हमारे साध्य न बन जायं। साध्य तो [**इन्द्रश्च**]=वह परमात्मा है और [**विश्वे च देवाः**]=वे सब दिव्य गुण हैं। जितना-जितना दिव्यगुणों को मैं अपनाता जाता हूं उतना-उतना प्रभु के अंश को भी प्राप्त करता जाता हूं। दिव्यता के पूर्ण होते ही प्रभु को पा जाता हूं। दिव्य गुण वे सीढ़ियां हैं जिनको कि लांघता हुवा मैं प्रभु रूप छत पर पहुंच जाता हूं। शरीर इन्द्रियां मन व बुद्धि इन साधनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम सब दिव्यगुण व प्रभु रूप साध्य को सिद्ध करने वाले बनें।

भावार्थ—ये सब भुवन साधन हैं—इन्द्र और दिव्य गुण साध्य हैं।

दान के प्रवाह बहें

२३ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
वि स्रुतयो यथा पथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः
॥७॥४५३॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि 'तू चाहता है कि ये सब भुवन तेरे लिए साधन ही बनें रहें, ये साध्य न हो जांय' इसके लिये तू [**इन्द्रः**]=जितेन्द्रिय बन। इन्द्रियों को वश में करना ही वह कवच ढाल है जो कि मनुष्य को वासनाओं के आक्रमण से बचा पाती है। ये जितेन्द्रियता रूप ढाल तुझे इस इला=पृथिवी में ष=समाप्त न होने देगी। तू इन पार्थिव भोगों का अन्त करके 'ऐलूष' बनेगा। इस जितेन्द्रियता व अनासक्ति की वृत्ति को जगाने के लिए [**त्वद्**]=तेरे से [**रातयः**]=दान के प्रवाह उसी प्रकार [**यान्तु**]=चलें [**यथा**]=जैसे [**विस्रुतयः**]=विविध नदियों के प्रवाह [**पथा**]=मार्ग से बहते हुए चले जाते हैं।

पर्वतों से नदियों के प्रवाहों की तरह दानों के प्रवाहों के चलने पर मनुष्य इन धनादि पदार्थों में आसक्त नहीं होता। ये उसके लिये साधन ही बनें रहते हैं। दान सचमुच आसक्ति का दान=छेदन करने वाला है और दान=शोधन का कारण है। इस प्रकार यह दान जीव की कवच=ढाल बन जाता है। इस ढाल वाला ऋषि 'कवष' नाम वाला हो गया है यह सब पार्थिव भोगों को समाप्त करने के कारण 'ऐलूष' तो है ही।

भावार्थ—हम धन को साधन ही समझें और हमारे से दान के प्रवाह बहते रहें।

देवहित-वाज

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः
३ १ २
सुवीराः ॥८॥४५४॥

[**अया**]=(अनया) इस साधन को साधन समझने की भावना से हम [**देवहितम्**]=देवों के लिये हितकर [**वाजम्**]=ज्ञान को [**सनेम**]=प्राप्त करें। मनु ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते' अर्थ और काम में न फंसे हुवों को धर्म का ज्ञान होता है। जब मनुष्य अर्थ-अर्थात् धन को तथा अन्य काम्य पदार्थों को—जो कि वस्तुतः मानव उन्नति के लिये साधनभूत हैं—साधन न समझ कर साध्य बना लेता है तो उनमें फंस कर प्राप्त ज्ञान को भी नष्ट कर लेता है। मनुष्य का ज्ञान तभी कायम रहता है व विकसित होता है जब कि वह साधनों को साधन समझने की भावना से दूर नहीं होता।

अर्थ और काम साधन ही बने रहते हैं तो ज्ञान प्राप्ति के अतिरिक्त यह भी जीवन में अवश्यंभावी परिणाम होता है कि [**मदेम**]=हम आनन्द पूर्वक जीवन बिताते हैं और [**शतहिमाः सुवीराः**]=सौ के सौ वर्ष हमारे बड़े वीरता पूर्ण बीतते हैं। न हम वासनाओं के शिकार होते हैं और नां ही हमारी शक्तियां जीर्ण होती हैं। एवं साधनों को साधन समझने की भावना हमारे ज्ञान को कायम रख कर

हमें 'बार्हस्पत्य' बनाती है और शक्ति से भर कर 'भारद्वाज' बनाती है ।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूं, प्रसन्न रहूं और शक्ति शाली होऊं ।

स्नेह-व्रत-सम्पत्ति

३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ऊर्जा मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः पीवरीमिषं
३ १ २
कृणुही न इन्द्र ॥९॥४५५॥

[**मित्रः**]=स्नेह की देवता और [**वरुणः**]=(पाक्षी)व्रतों के अन्दर अपने को बांधने की भावना [**ऊर्जा**]=शक्ति से [**इडाः**]=हमारी वेदवाणियों को [**पिन्वत**]=बढ़ायें। हमारे अन्दर शक्ति हो, और शक्ति के साथ ज्ञान की वाणियों का पोषण हो। इसके लिये हम मित्र और वरुण से आराधना करें। 'मित्र' स्नेह का देवता है। हम अपने अन्दर इस भावना को प्रबुद्ध व प्रफुल्ल करें। यह उस काम की विरोधी भावना है जो कि हमारे ज्ञान को आवृत किए रखता है। स्नेह 'काम' को समाप्त कर—ज्ञान के विनाशक 'मन्मथ' का विनाश करके—ज्ञान को दीप्त करता है और शक्ति की वृद्धि का हेतु होता है। काम से शक्ति भी जीर्ण हुई थी, ज्ञान भी नष्ट हुवा था। इस स्नेह की भावना के साथ 'व्रतों के बन्धन में बांधने की भावना' तो सब उन्नतियों का मूल ही है। मर्यादा में बंधा हुवा जल वेगवान् होता है इसी प्रकार व्रतों में बंधा पुरुष शक्तिशाली होता है। वरुण व्रतों की देवता है साथ ही 'प्रचेताः' प्रकृष्ट ज्ञान वाला है। व्रतमय जीवन बुद्धि के नैर्मल्य व तीक्ष्णता के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। संक्षेप में, ये मित्र और वरुण हमारी शक्ति व ज्ञान की वृद्धि के कारण बनते हैं, और इस प्रकार हमारा अध्यातम जीवन उत्कृष्ट होता है। सामाजिक जीवन के उत्कर्ष के लिए ऐ [**इन्द्र**]=ऐ परमैश्वर्यशाली प्रभो? [**नः**]=हमारी [**पीवरीम् इषम्**]=मोटी अर्थात् पर्याप्त सम्पत्ति को [**कृणुहि**]=प्राप्त कराईये। धन के बिना कोई भी धर्म के कार्य भी तो हम नहीं कर पाते। सामाजिक स्थिति के उत्कर्ष के लिए सम्पत्ति की आवश्यकता है ही। उसके होने पर ही मैं औरों की सहायता कर पाता हूं। शक्ति व ज्ञान अध्यातम जीवन को सुन्दर बना रहे थे, तो सम्पत्ति ने उनके साथ मिलकर मेरे सामाजिक जीवन को भी ऊंचा कर दिया है। इस उच्च जीवन को—सुखी सम्पन्न व यशस्वी जीवन को—प्राप्त करके मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक इन सभी कष्टों से ऊपर उठ गया हूं—इस मंत्र का ऋषि 'आत्रेय' (अ-त्रि) बन गया हूं।

भावार्थ - मैं अपने जीवन को स्नेह वाला व व्रतों के बन्धन वाला बनाऊं।

अभिमान-निरास

२ २ १ २
इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥१०॥४५६॥

'ऊपर के मंत्र में वर्णित उच्च स्थिति को प्राप्त करके कहीं अभिमान का आक्रमण न हो जाय' इस बात का ध्यान करके प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'वसिष्ठ मैत्रावरुणि' इस बात को न भूलने का ध्यान करता है कि [**इन्द्रः**]=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही वस्तुतः [**विश्वस्य**]=सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त, सारे ऐश्वर्य का [**राजति**]=प्रभुत्व करते हैं। 'यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेववा तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसंभवम्' इस गीता वाक्य के अनुसार जहां कहीं भी किसी पदार्थ में विभूति—श्री व ऊर्जित दिखता है वह उस प्रभु के अंश का ही प्रादुर्भाव है। 'बलं बलवतां चाहम्'=बलवानों का बल वे प्रभु ही हैं, 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि, ज्ञानं ज्ञानवतामहम्'=बुद्धिमानों व ज्ञानियों की बुद्धि और ज्ञान भी वे प्रभु हैं। लक्ष्मी के पति तो वे हैं ही। इस प्रकार विचार करता हुवा वसिष्ठ इस धारणा को दृढ़मूल करता है कि सब ऐश्वर्य उस प्रभु का है मुझे तो उस

प्रभु ने अपना संपदंश का trustee मात्र बनाया है। यह विचार इसे अभिमानी नहीं बनने देता। वसिष्ठ की विनीतता अक्षुण्ण रहती है।

भावार्थ—उस इन्द्र के ऐश्वर्यशालित्व को—व भगवान् के भग को—ध्यान करता हुवा मैं उन्नति में भी विनत बना रहूं।

● ● ●

॥३॥ ऋषिः—१, १० गृत्समदः; २गौराङ्गिरसः (?, गोर आ० घोर आ० वा); ३, ५, ९ परुच्छेपः; ४ रेभः; ६ एवयामरुत्; ७ अनानतः पारुच्छेपि; ८ नकुलः॥ देवता—१, ३, ४, १० इन्द्रः; २ सूर्य्य; ५ विश्वेदेवाः; ६ मरुतः; ७ पवमानः; ८ सविता; ९ अग्निः॥ छन्दः–१, १० अष्टिः; २, ४, ६ जगती; ३, ५, ७—९ अत्यष्टिः; ८, १० अतिशक्वरी वा॥ स्वरः—१, १० मध्यमः; २, ४, ६ निषादः; ३, ५, ७—९ गान्धारः; ८, १० पञ्चमो वा॥

महान् कर्म के लिए

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १र
त्रिकद्रकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत्
२र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २
सोममबिद् विष्णुना सुतं यथावशम्। स ईं
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरु सैनं सश्च-
३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र
द्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥
॥४५७॥

[**त्रिकद्रुकेदु**]=तीनों आह्वानों के समय पर (कदि=आह्वाने)—अर्थात् प्रातः मध्याह्न और सायम् [**महिषः**]=उस प्रभु की पूजा करने वाला (मह पूजायाम्) और अतएव [**तुवि शुष्मः**]=बहुत शक्ति वाला प्रभु की उपासना से शक्तिशाली तो वह बनेगा ही—[**यवाशिरं**]=सब कर्मेन्द्रियों को पवित्र करने वाले [**सोमं**]=सोम को]**तृम्पत् अपिबत्**]=तृप्त होता हुवा अर्थात् खूब पीता है। यवं शब्द कर्मेन्द्रियों का वाचक है। [**यु**]=मिश्रण और अमिश्रण—संयोग और विभाग; इसको करने वाली ये कर्मेन्द्रियां ही हैं। इन कर्मेन्द्रियों के मल को (शृ हिंसायाम्) नष्ट करने से ये सोम 'यवाशिर' कहलाता है। स्थानान्तर में इसका विशेषण 'गवाशिरं' भी है=ज्ञानेन्द्रियों के मलों को दूर करने वाला; [**दध्याशिर**]=धारण शक्ति की कमी को दूर करनें वाला। यह सोम [**विष्णुनासुतं**]=प्रभु से उत्पन्न किया गया है—प्रभु की वस्तुतः जीव को यह महान् भेंट है। इसका अपव्यय तो स्पष्ट प्रभु का निरादर है। इस सोम का पान [**यथावशम्**]=उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में हम काम क्रोधादि वासनाओं को वश में कर पाते हैं।

जो व्यक्ति इस प्रकार इस सोम का पान करता है (१) [**स**]=वह [**ईम्**]=निश्चय से [**ममाद**]=मदयुक्त प्रसन्न होता है। इसके जीवन में एक उल्लास होता है। (२) यह व्यक्ति [**महि कर्म**]=महान् कर्म को [**कर्तवे**]=करने के लिये समर्थ होता है। इसका जीवन खाने-पीने व सोने में ही समाप्त नहीं हो जाता। (३) [**स**]=वह [**एनं**] इस [**महान्**]=महान् [**उरुम्**]=विशाल प्रभु को [**सश्चद्**]—प्राप्त होता है। महान् कर्म करने वाले ने ही तो प्रभु को पाना है। खाओ-पीओ और मौज उड़ाओ के सिद्धान्त वाला तो कभी भी उस प्रभु को पाने का अधिकारी नहीं होता। (४) [**देवः-देवम्**]=यह सोमपान करने वाला देव बन कर उस देव को पाता है। [**सत्यः सत्यम्**]=सत्य बन कर उस सत्य स्वरूप के समीप पहुंचता है। [**इन्द्रः**

इन्द्रम्]=शक्तिशाली बन कर उस शक्ति के देवता का उपासक होता है। 'इन्द्र' शब्द शरीर की शक्ति का संकेत कर रहा है। 'सत्य' मन की पवित्रता का (मनः सत्येन शुध्यति) तथा 'देव' विद्वत्ता का (विद्वांसो हि देवाः)। इन्द्र अर्थात् सबल शरीर वाला सत्य अर्थात् शुद्धमन वाला, देव अर्थात् उज्ज्वल मस्तिष्क वाला।

यह व्यक्ति 'महिषः' होने से 'गृत्स' है (गृणाति) प्रभु का उपासक है। (ममाद) उल्लासमय जीवन वाला होने से 'मद' है (माद्यति)। क्रियाशील होने से शौनकः है (शुन गतौ)=महि कर्म कर्तवे। एवं इस मंत्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है।

भावार्थ—हम भी गृत्समद शौनक बनने के लिये प्रयत्नशील हों।

हज़ारों के समान

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ
अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मतिर्ज्यो-
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तिर्विधर्म। ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयद-
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
रेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमन्तश्चिता गोः
॥२॥४५८॥

गत मंत्र में 'महि कर्म कर्तवे' इन शब्दों से महान् कर्म करने के लिए प्रेरणा दी गई थी। वही तो महान् परमेश्वर को पाने में समर्थ होता है। यह इन्द्र=शक्तिशाली बना हुवा व्यक्ति कभी यह नहीं सोचता कि 'मैं इस कार्य को कैसे कर पाऊंगा?' ये अपने को अकेला अनुभव ही नहीं करता। [**अयं सहस्र-मानवः**]=यह तो हज़ारों मनुष्यों के तुल्य है। यह एक थोड़ा ही है। [**कवीनां**]=क्रान्तदर्शियों के दृष्टिकोण से [**दृशः**]=देखने वाला है। यह केवल आपाततः किसी वस्तु को न देख कर उसके तत्व तक पहुंचने का प्रयत्न करता है। अच्छी तरह समझ कर दृढ़ निश्चय से कार्य करेगा तभी तो महान् कार्य को कर पायगा। [**मतिः**]=अपने दृष्टिकोण को ठीक रखने के लिए ही यह अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है और [**ज्योतिः**]=उस बुद्धि से मनन के द्वारा प्रकाश को पाने का प्रयत्न करता है। इस ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करके यह [**विधर्म**]=विशेष रूप से धारण करने वाला बनता है। धारण करने की प्रक्रिया में इसका शैथिल्य इसलिए नहीं होता कि यह ['**ब्रध्नः**']=महान् है (नि २, ३)। इसका हृदय इतना विशाल है कि यह सभी का उपकार करता है। यह अपने [**उषसः**]=उषः कालों को [**समीचीः**]=बड़ा सुन्दर गति वाला [**समैरयत्**]=प्रेरित करता है—अर्थात् यह अपने उषः कालों को बड़ा सुन्दर बिताता है। कैसा?

(१) [**अरेपसः**]=पाप से शून्य, यह उस प्रातः के समय किसी के भी प्रति अशुभ भावना को अपने अन्दर नहीं आने देता।

(२) [**सचेतसः**]=चैतन्यता से युक्त—यह उन उषःकालों में स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाता है।

(३) [**स्वसरे**]=घर में [**मन्युमन्तः**]=उत्साह वाली, यह उस प्रातः के समय प्रत्येक व्यक्ति में उत्साह को भरने का ध्यान करता है।

(४) [**चिता गोः**]=वाणियों से उपचित, प्रत्येक उषःकाल में यह वेदवाणियों या अन्य उत्तम वाणियों को स्मरण करने का प्रयत्न करता है। और इस प्रकार अपने मस्तिष्क को सुभाषितों का भण्डार बना लेता है। इनका उचित समय पर विनियोग करके यह समाज में ठीक प्रेरणा देता हुवा उचित आदर को प्राप्त करता है। इन वाणियों के ठीक प्रयोग से ही यह किसी भी अर्थ का निश्चय कराने वाला होने से (गमयति अर्थान् इति गौः) गौः कहलाता है, शक्तिशाली होने से 'आंगिरस'। यह किसी भी विषय का तो शिकार नहीं बना। सो यह शक्तिशाली क्यों न हो।

भावार्थ—मैं प्रत्येक उषःकाल को सुन्दर बिताऊं।

ज्ञानयज्ञों में न कि clubs में

१ २ ३ १ २ १ २ ३ १र २र ३ १
एन्द्र याह्यु प नः परावतो नायमच्छा विद-
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ १ २ ३ १ २
थानीव सत्पतिरस्ता राजेव सत्पतिः ।
१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ ३
हवामहे त्वा प्रयस्वन्तः सुतेष्वा पुत्रासो न
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये ।।३।।
।।४५९।।

ऐ [**इन्द्र**]=सर्वशक्तिमन् प्रभो ? [**परावतः**] =दूर से, दूर तक भटके हुए हमे उन सुदूर स्थानों से [**अच्छा**]=अपनी ओर [**नायम्**]=प्राप्त कराते हुए (नी=प्रापणे) आप [**नः**] =हमें [**उप आयाहि**]=अपने समीप प्राप्त कराइये। प्रभु जीव के समीप आते हैं, व जीव प्रभु के समीप आता है—परिणाम तो एक ही है। परन्तु 'जीव में प्रभु की ओर चलने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाय' यही उत्तम है; और यही भावना 'अच्छा नायम्' इन शब्दों से व्यक्त हो रही है।

ऐ प्रभो ? हमें आप अपने समीप उसी प्रकार प्राप्त कराइये, जैसे कि [**सत् पतिः**]=एक उत्तम पति (Husband) [**विदथानि**]=अपने परिवार के व्यक्तियों को ज्ञानयज्ञों में प्राप्त कराता है। ज्ञानयज्ञों में कुछ न कुछ उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है। कितना दौर्भाग्य है उस परिवार का जो कि ज्ञानयज्ञों में सम्मिलित न होकर क्लब्स में आनन्द की खोज में जा पहुंचते हैं। फिर'कहते हैं कि प्रभु उस प्रकार हमें अपने समीप प्राप्त कराइये [**इव**]=जैसे कि [**सत्पतिः**]—राष्ट्र में सज्जनों का रक्षक राजा [**अस्ता**]=लोगों को अपने घरों में प्राप्त कराता है। राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह व्यवस्था इस ढंग से करे कि लोग बहुत भटके नहीं। उन्हें घर पर ठहर कर सुप्रजा निर्माण का अवसर भी प्राप्त हो। वह व्यापारियों आदि के लिये भी ऐसे नियम बना दे कि वे दिन-रात दूकानों व कारखानों में ही न बैठे रहें।

[**त्वा**]=तुझ प्रभु को हम [**हवामहे**]=पुकारते अवश्य हैं परन्तु [**सुतेषु प्रयस्वन्तः**]=सोमरस के अभिषिव वाले यज्ञों में प्रयत्नशील होते हुए ही। 'हम प्रयत्न तो न करें परन्तु परमेश्वर को ही पुकारते रहें' यह तो व्यर्थ को बात है।

[**नः**]=जैसे [**पुत्रासः**]=पुत्र [**पितरं**]=पिता को पुकारते हैं उसी प्रकार हम [**वाजसातये**]=शक्ति की प्राप्ति के लिए उस प्रभु को पुकारें। [**मंहिष्ठं**] =वे प्रभु दातृतम हैं (मंह्=दान), हम उन्हें वाजसाति के लिए—शक्ति की प्राप्ति के लिये पुकारें ही। प्रभु की समीपता में मैं उसी प्रकार शक्ति का अनुभव करूंगा जैसे कि पुत्र पिता की समीपता में अनुभव करता है। और जैसे लोहपिण्ड अग्नि में पड़कर अग्नि की ही तरह जाज्वल्यमान हो उठता है उसी प्रकार प्रभुसामीप्य में मैं भी चमक उठता हूं। मेरा अंग-प्रत्यंग—एक-एक पर्व शक्ति वाला हो उठता है—मैं 'परुच्छेप' इस मंत्र का ऋषि बन जाता हूं। [**दैवोदासिः**]=यह होता तभी है जब कि मैं दिव्य उस प्रभु का दास बनकर जोवन बिताता हूं।

भावार्थ—मैं प्रभु का दास बनूं और शक्ति का पुंज हो जाऊं।

पवित्र ऐश्वर्य

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधा-
३ १ २ ३ १ २ १ २ १ २
नमप्रतिष्कुतं श्रवांसि भूरि । मंहिष्ठो
३ १र २र ३ १ २ ३ २ २ १ २
गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्त राये नो विश्वा
३ १ २ ३ २
सुपथा कृणोतु वज्री ।।४।।४६०।।

'रेभः काश्यपः'=ज्ञानी स्तोता इस मंत्र का ऋषि है। यह कहता है कि मैं [**तम्**]=उस [**इन्द्रं**]= परमैश्वर्यशाली परमात्मा को [**जोहवीमि**]= पुकारता हूं जो कि [**'मघवानम्'**]=पापशून्य ऐश्वर्य वाले हैं और अत एव [**उग्रं**]=उदात्त हैं। वस्तुतः

धन के बिना ऊंचे उठने का संभव नहीं। छोटे-छोटे धर्म के कार्यों के लिये भी धन की आवश्यकता पड़ती है। दूसरों की सहायता बिना धन के कुछ शाब्दिक सी ही रह जाती है। पर धन के अन्दर कमी यह है कि हम धन की दृष्टि से ऊपर उठ जाने पर अपनी उन्नति को कायम नहीं रख पाते, और सुख भोग व विलास में फँस जाते हैं। 'ऐसा न हो' इसके लिए आवश्यक है कि हमारा ऐश्वर्य 'मघ' हो—पाप से अर्जित न हो। धन में यदि पापांश न होगा तो हमारी वृत्ति उसी प्रकार अच्छी बनी रहेगी जैसे कि सात्विक भोजन से हमारी बुद्धि ठीक बनी रहती है। इसलिए हम भी 'मघवान्' बनें और 'उग्र' हों।

मैं उस प्रभु को पुकारता हूं जो कि [**सत्रादधानं**] =सचाई को धारण करने वाले हैं और [**अप्रतिष्कुतम्**]=किसी से विरोध में प्रतिशब्दित (challanged) नहीं होते। प्रभु सत्यस्वरूप हैं और परिणामतः अज्ञेय हैं। सत्य सदा विजयी होता है। हम भी सत्य पर दृढ़ होंगे तो अन्त में अवश्य विजयी होंगे।

मैं उस प्रभु को पुकारता हूं जो कि भूरि श्रवांसि-अवांसि (भृ) धारण करने वाले ज्ञानों का [**मंहिष्ठः**]=देने वाला है [**च**]=और [**गीर्भिः**]= उन वेद वाणियों से [**यज्ञियः**]=पूजा के योग्य है। मनुष्य का वस्तुतः धारण ज्ञान से होता है। और प्रभु से दिये हुए ज्ञान को धारण करने से हम प्रभु की पूजा कर रहे होते हैं।

[**आ ववर्त**]=वे प्रभु [**आ**]—सब ओर वर्तमान हैं। कौन सा स्थान है जहाँ कि प्रभु की सत्ता नहीं? वे मेरे हृदय में भी तो वर्तमान हैं। यह प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण [**नः**]=हमें [**विश्वा सुपथा**]=सब उत्तम मार्गों से [**राये कृणोतु**]= धनैश्वर्य की प्राप्ति के लिए करे-ले चले। प्रभु का स्मरण करके हम भी कुपथ से धन को कमाने में प्रवृत्त न होंगे।

धन को कमाने के सुपथ का संकेत 'वज्री' शब्द में हैं। वे प्रभु वज्री हैं—(वज् गतौ) सदा गतिशील हैं। हमें भी पुरुषार्थ से पसीना बहा कर ही धनार्जन करना चाहिये। 'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, 'पासों से मत खेलो, खेती करो' इस उपदेश में भी तो यही कहा गया है। वस्तुतः प्रभु को सर्वव्यापक रूप में स्मरण करके पुरुषार्थमय होना ही वह उत्तम मार्ग है जिससे कि हमें धन कमाना चाहिए। धन के बिना उन्नति नहीं, पर असात्विक धन से सब उन्नति की समाप्ति भी तो हो जाती है।

भावार्थ—मैं पवित्र कमाई करूं यहां धन कमाने के लिए उपदेश के वाक्य के एक ओर सर्वव्यापकता का चित्रण है (आववर्त) दूसरी ओर क्रियाशीलता (वज्री) का संकेत है। दोनों को मिलाकर सार यह है कि 'सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण करो और पुरुषार्थ में लगे रहो। इस प्रकार कमाया हुवा धन हो सात्विक है। यह धन हमारे उत्कर्ष का कारण बनेगा और हम उस उत्कर्ष को स्थिर रूप से प्राप्त करने वाले होंगे।

दैवी शक्ति का वरण

२ ३   १ २   ३ २   ३ २   ३ १ २ ३ १र
अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु
२र ३ १ २   २   २
त्यच्छर्द्धो दिव्यं वृणीमहे इन्द्रवायू वृणीमहे।
१ २   ३   २   ३ १ २ ३   १ २ ३ २ ३ १ २
यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा सन्दाय नव्यसे।
२ ३ २ ३ १र २र   ३ १ २ ३ २उ   ३
अध प्र नूनमुप यन्ति धीतयो देवाँ अच्छ
२   ३ १ २
न धीतयः ॥५॥४६१॥

ऐ प्रभो? आपकी कृपा से [**श्रौषट् अस्तु**]= मेरे जीवन में श्रवण का स्थान हो—मैं सुनने के स्वभाव वाला बनूं। वस्तुतः श्रवण ही ज्ञान प्राप्ति का सर्वोच्च साधन है। जब मैं (श्रोत्रं श्रोत्रम्) कानों को भी ज्ञान प्राप्ति का साधन बनाता हूं। तो (शिरः)=मस्तक पर्यन्त ज्ञान जल में मैं स्नान

कर रहा होता हूं। इस श्रवण से प्राप्त ज्ञान का प्रथम परिणाम मेरे जीवन पर यह होता है कि [**अग्निं**]=उस प्रकाश स्वरूप परमात्मा को [**धिया**]=ज्ञान पूर्वक [**पुरः दधे**] =मैं अपने सामने धारण करता हूं। उस प्रभु को अपना पुरोहित बनाता हूं। वे प्रभु मेरे model=आदर्श होते हैं जिनके अनुसार मैं अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करता हूं। 'Afer Thy own image'=प्रभु ने मुझे अपनी प्रतिमूर्ति ही तो बनाया है । 'ममैवांशः'=जीव प्रभु का ही तो छोटा रूप है।

इस प्रकार प्रभु को अपना आदर्श बनाकर [**आ**]=सर्वथा [**नु**]=अब [**दिव्यं शर्धः**]=अलौकिक बल को [**वृणीमहे**]=हम वरते हैं। मैं अपना लक्ष्य यह बनाता हूं कि मेरे अन्दर दिव्यता व दिव्यशक्ति का अवतार हो। यह दिव्यशक्ति क्या है? इसी का स्पष्टीकरण [**'इन्द्रवा यू वृणीमहे**] इन शब्दों में हुवा है। 'इन्द्र' सब असुरों का संहार करने वाली देवता है और [**वायु**]=(वा गतौ) गति का प्रतीक है। मैं अपने अन्दर किसी आसुर भावना को जागरित न होने दूं और सदा क्रिया शील बनूं। मेरा जीवन प्रकाशमय हो, कर्मनिष्ठ हो। प्रकाश और शक्ति व शक्तिजन्य क्रिया के समन्वय का ही नाम 'दिव्यता' है यही दैवी शक्ति है – जिसका हमें अपने में अवतार करना है।

यह दिव्यता मुझे प्राप्त होती है [**यद्**]=जब कि निश्चय से [**विवस्वते**]=(विवस्वान्=इन्द्र=सूर्य)=प्रकाश के लिए और [**नव्यसे**]=(नव्-गतौ)=गति के लिए मैं [**नाभा सन्दाय**]=केन्द्र में ध्यान को बांध कर इन्द्रियां मन और बुद्धि को रोक कर, [**क्राणा**]=उपासन को करने वाला होता हूं। प्रभु का ध्यान मुझे प्रकाश व गति प्राप्त कराता है। इन्द्र का पर्याय यहां विवस्वान् है, वायु का न व्यान् (वा=नव्=गतौ) इन्द्रवायु का वरण व 'विवस्वान् व नव्यान् का वरण' एक ही बात है।

जब मैं ध्यान को केन्द्रित कर इस प्रकार प्रतिदिन भक्ति करता हूं। तो अध=अब [**प्र**]=खूब [**नूनं**]=निश्चय से मुझे [**धीतयः**]=प्रज्ञा व कर्म [**उपयन्ति**]=समीपता से प्राप्त होते हैं। ये प्रज्ञा व कर्म मुझे उसी प्रकार प्राप्त होते हैं [**न**]=जैसे कि [**देवांअच्छ**]=ये देवों को लक्ष्य करके प्राप्त होते हैं। इन्द्र प्रज्ञा का प्रतीक है और वायु 'कर्म' का। इस प्रकार प्रस्तुत मंत्र में –

'दिव्यं शर्धः' का व्याख्यान इस प्रकार है

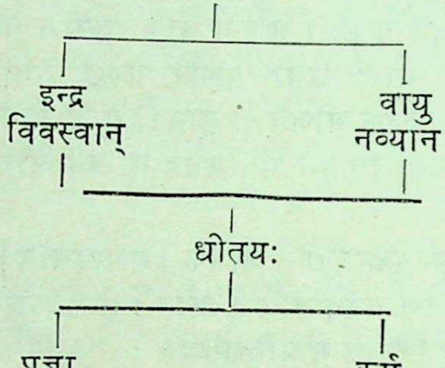

मेरा जीवन प्रज्ञा व कर्म वाला हो। यही दिव्य शक्ति की प्राप्ति मार्ग है। इस दिव्य शक्ति को प्राप्त करके मैं अंग-प्रत्यंग में शक्ति वाला बनता हूं, 'परुच्छेप' होता हूं। परुच्छेप मैं बन पाया हूं चूंकि मैं 'दैवोदासिः'—देव का दास बना हूं।

भावार्थ—मैं प्रतिदिन ध्यानाभ्यास से दिव्य शक्ति को प्राप्त करूं।

दशकं धर्मलक्षणम्

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते
३ १ २ ३ १ २ १र २र३ १र २र
गिरिजा एवयामरुत् । प्र शर्धाय प्र यज्यवे
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय
१ २
शवसे ॥६॥४६२॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'एवयामरुत् आत्रेय' है। (**एव** = लक्ष्य, या = जाना, **मरुत्**= मनुष्य') इसका अर्थ है 'लक्ष्य की ओर निरन्तर

बढ़ने वाला मनुष्य जो कि (अ+त्रि) काम-क्रोध लोभादि तीनों वासनाओं से परे है और अतएव आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक इन सभी तापों से ऊपर उठा हुवा है। वस्तुतः लक्ष्य-भ्रष्ट व्यक्ति ही त्रिविध वासनाओं का शिकार होता है और अतएव त्रिविध तापों से सन्तप्त होता है।

मानव जीवन का लक्ष्य ही प्रस्तुत मंत्र में १० शब्दों के अन्दर वर्णित हुवा है। प्रभु कहते हैं कि [**एवयामरुत्**]=लक्ष्य की ओर चलने वाले मनुष्य [**वः**]=तुम्हारी [**मतयः**]=बुद्धियां जो कि गिरिजाः=वेदवाणियों में उत्पन्न हुई हैं अर्थात् ज्ञानमूलक हैं वे [**प्रयन्तु**]=प्रकर्षेण चलें। किस ओर ?

(१) [**महे**]=(मह पूजायाम्) पूजा के लिए। मनुष्य में बड़ों के आदर की भावना हो। ५ साल तक वह 'मातृदेव' बने, ८ साल तक 'पितृदेव', २५ साल तक 'आचार्यदेव', ५१ साल तक 'अतिथिदेव' और आगे 'परमात्मदेव'। यही इस विस्तृत जीवन की 'पंचायतन पूजा' है। पूजा ही यज्ञ का प्रारम्भ है।

(२) [**विष्णवे**]=(विष् व्याप्तौ) व्यापकता के लिए, विशालता के लिए मनुष्य का हृदय विशाल हो। वस्तुतः विशालता में ही धर्म है, उदार धर्म है। अनुदार अधर्म है। विशालता में पवित्रता है, संकोच में अपवित्रता।

(३) [**मरुत्वते**]=मरुत्वान् बनने के लिए। [**मरुत प्राणाः**]=प्राण-शक्तिसंपन्न बनना आवश्यक है। 'एवामे प्राण माबिभेः' इस मंत्र भाग से स्पष्ट है कि प्राणों के साथ निर्भीकता का संबन्ध है। और 'अभयं'=निर्भीकता से ही दैवी संपत्ति का प्रारम्भ होता है। प्राण-शक्तिसंपन्न पुरुष ही अनथक होकर लोकहित में लगा रह सकता है।

(४) [**प्रशर्धाय**]=उत्कृष्ट बल के लिए। हमें उत्कृष्ट आध्यात्मिक बल प्राप्त करना है। दिव्य शक्ति की प्राप्ति तो हमारे जीवन का लक्ष्य ही होना चाहिए।

(५) [**प्रयज्यवे**]=प्रयज्यु बनने के लिए। शक्ति को प्राप्त करके हम यज्यु बनें। हमारी शक्ति का यज्ञों में विनियोग हो। यज्ञ की मौलिक भावना 'अध्वर' है—हिंसा रहित कर्म। शक्ति को प्राप्त करके हम हिंसा रहित कर्म करें। हमारे कर्मों में हिंसा की गन्ध न हो।

(६) [**सुखादये**]=उत्तम सात्विक आहार के लिये। सात्विक भोजन से हमारी बुद्धि सात्विक होगी और उसका विनियोग यज्ञों ही में होगा। 'खादि' का अर्थ आभूषण भी है, हम उत्तम आभूषण वाले हों। सर्वोत्तम आभूषण 'विद्या' है। हमारा जीवन उससे अलंकृत हो।

(७) **तवसे**]=बल के लिए। इस सात्विक भोजन व ज्ञान से हमें वह शक्ति प्राप्त होगी—क्या शरीर में और क्या मस्तिष्क में—जो कि हमारी (तु वृद्धौ) वृद्धि का ही कारण बनेगी।

(८) [**भन्दद् इष्टये**]—(भदि कल्याणे) कल्याण चाहने वाली इच्छा के लिए। हम शक्तिशाली बनकर कभी किसी के अकल्याण को चाहने वाले न हों।

(९) [**धुनिव्रताय**]='दस्युओं को कम्पित करने के व्रत के लिए। समाज का कल्याण चाहते हुए ही हम समाज से दस्युओं को दूर करने का भी व्रत लें। उनके दस्युत्व को समाप्त करने की हमारे में भावना हो।

(१०) [**शवसे**]=(शव गतौ), गतिशीलता के लिए। हमारे में गतिशीलता हो चूंकि अकर्मण्यता से तो कुछ भी साध्य नहीं 'कर्मशीलता ही जीवन है' इस तत्व को हम समझें।

भावार्थ—मैं एवयामरुत् बनूं—यह 'दशक' मेरे जीवन का लक्ष्य हो। इसे मैं जीवन में अनूदित करूं।

अ-पिशुनता (No back biting)

३ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १ २
अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २
तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः । धारा
३ १ २ २ १ २ ३ १र २र २ ३
पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः । विश्वा
२ ३ १ २ ३ १र २र १ ३ १ २ ३ १ २
यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः
॥७॥४६३॥

एवयामरुत् का जीवन जब धर्म के दस लक्षणों से युक्त होता है तो उसके चेहरे पर एक विशेष प्रकार की कान्ति होती है। उस कान्ति से वह औरों पर भी एक विशेष प्रभाव डालता है। और इस प्रकार वह उनके जीवन को पवित्र करता है। [**अया रुचा**]=इस कान्ति से, [**हरिण्या**]=जो कि सब की दुर्भावनाओं का हरण करने वाली है; और अतएव [**पुनानः**]—जो कि उनके जीवनों को पवित्र करती है यह [**सयुग्वभिः**]=मेल की-प्रेम की-वृत्तियों से [**विश्वा द्वेषांसि तरति**]=सब द्वेषों को तैर जाता है। वस्तुतः ही [**सूरो न**]=एक विद्वान् समझदार मनुष्य की तरह [**सयुग्वभिः**]=मेल व प्रेम की वृत्तियों से यह इस संसार में चलता है।

संक्षेप में, इसके बदन पर एक कान्ति होती है, यह कान्ति औरों के दुःखों का हरण करती है और इस प्रकार यह उनके जीवनों को पवित्र करता है। स्वयं भी यह विद्वानों की तरह मेल की वृत्ति से चलता हुवा द्वेषों से ऊपर उठा रहता है।

इसके जीवन की सबसे सुन्दर बात यह है कि [**पृष्ठस्य धारा**]=पीठ पीछे धारणात्मक बातें—न कि निन्दा की चर्चायें -[**रोचते**]=इसको रुचिकर होती हैं। इसके जीवन की शोभा पीठ पीछे प्रशंसात्मक बातों से पुष्ट होती है।

पुनानः=औरों की निन्दा न करता हुवा यह अपने जीवन को पवित्र रखता है। [**अ-रुषः**]=यह कभी क्रोध नहीं करता। [**हरिः**]=औरों के दुःखों के हरण में सदा प्रयत्नशील रहता है।

यह [**विश्वा रूपा**]=सब व्यक्तियों के प्रति (रूप=व्यक्ति, रूपाणि पशवः) [**परियासि**]=जाता है; जाता है [**ऋक्वभिः**]=सूक्तों से-मधुर भाषणों से। [**सप्तास्येभि ऋक्वभिः**]=उन मधुर भाषणों से जो कि समवाय व मेल की ही बातों को परितः प्रक्षिप्त करते हैं (षप् समवाये, अस् क्षेपणे) इसकी वाणी में माधुर्य होता है—इसकी वाणी मेल की ही बातों को करती है।

इस प्रकार इसका जीवन नम्रता से परिपूर्ण होता है, माधुर्यमय होता है, कठोरता से शून्य होता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह अशक्त होता है। यह [**अनानतः**]=अन्याय से कभी भी दबने वाला नहीं होता, [**पारुच्छेपिः**]=अंग-प्रत्यंग में शक्ति से पूर्ण होता है। शक्ति के साथ माधुर्य इसके जीवन को बड़ा ही सुन्दर बना देता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि कभी भी पीठ पीछे किसी की निन्दा नहीं करता।

भावार्थ—अपिशुनता समाज को अत्यन्त सुन्दर बनाने वाली है।

अनना-प्रकाश

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३
अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम-
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
र्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ।
३ २उ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि
१ २ ३ १ २ ३ १ २
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः ॥८॥
॥४६४॥

मैं [**त्यं देवं अभि**]=उस देव को लक्ष्य बना करके चलता हूं जो कि वस्तुतः [**देवं**]=इस संसार रूप क्रीड़ा का करने वाला है (दीव्यति=क्रीडति)। संसार उस प्रभु का खेल है—इसे खेल समझने पर ही यह आनन्दप्रद बना रहता है। इसके विपरीत इसमें कदम-कदम पर मुसीबत है। उस प्रभु की

ओर जो कि [**ओण्योः**]=द्युलोक व पृथिवी लोक के [**सवितारम्**]=उत्पन्न करने वाले हैं। [**कविक्रतुं**]=जिनके एक-एक कर्म में कविता निहित है—प्रत्येक कर्म बुद्धिमत्ता पूर्ण हैं। पत्ते पतले हैं—उनमें ऊपर का भाग अधिक हरा है। उसी ने तो सूर्य के संपर्क में आकर CO^2 को फाड़कर C को अपने पास रखकर O_2 को पुनः वायुमण्डल में भेजता है। पानी 4° के तापांश के नीचे संकुचित होने के स्थान में फैलने लगता है ताकि सारी झील न जम जाय, और हिम के आवरण के नीचे जल जन्तुओं का जीवन सुरक्षित रहे। इस प्रकार प्रभु की कौन सी कृति है जो कि काव्यमय नहीं है।

मैं उस प्रभु की [**अर्चामि**]=अर्चना करता हूं जो कि [**सत्यसवं**]—(हृदयस्थ होकर सदा) सत्य की प्रेरणा देने वाले हैं। [**रत्नधाम्**]=हमारे शरीरों में रमणीय रत्नों के धारण करने वाले हैं। [**अभि**]=मैं उस प्रभु की ओर चलता हूं जो कि [**प्रियं**]=तृप्ति के देने वाले हैं—जिनको पाकर जीव सन्तोष का अनुभव करता है। प्रकृति तो सारी की सारी भी एक के लिए पर्याप्त नहीं है। उसको पाकर अतृप्ति बढ़ती ही जाती है। [**मतिम्**]=वे प्रभु ज्ञान के पुन्ज हैं। यस्य=जिन प्रभु की [**भाः**]=दीप्ति [**ऊर्ध्वा**]=सर्वोच्च है और [**अमतिः**]=अ-मित है—Imnensurable अपरिमेय है। हज़ारों सूर्यों की दीप्ति संभवतः उसकी दीप्ति की तुलना कर सके उस प्रभु की ये दीप्तियां=विभूतियां [**सवीमनि**]=उत्पन्न जगत् में [**अदिद्युतत्**]=चमक रही हैं। क्या हिमाच्छादित पर्वतों में, क्या समुद्र में, क्या पृथ्वी पर और क्या आकाश को आच्छादित करने वाले तारों में उसकी महिमा दृष्टिगोचर हो रही है। कण-कण उसकी महिमा का गायन कर रहा है।

वह प्रभु 'हिरण्यपाणि' है, हितरमणीय व हाथों वाले हैं। उनका वरद हस्त हम सब के सिर पर है। [**सुक्रतुः**]=वे प्रभु सदा उत्तम कर्मों को करने वाले हैं। वे [**कृपा**]=करुणा से [**स्वः**]=स्वर्गलोक को [**अमिमीत**]=बनाते हैं। इस स्वर्गलोक को पाता वही है जोकि अपने सारे घराने में सबसे आगे बढ़ जाता है 'न—कुल' का अर्थ है—'जिसके समान कुल में कोई नहीं हैं। इस प्रकार उत्कर्ष का साधने वाला ही स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—उस प्रभु का प्रकाश अ-मित है—मेरा भी प्रकाश अमित नहीं तो परिमित तो अवश्य ही हो।

प्रभु का कृपा पात्र

३ १ २ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं सहसो
२ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य
३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २
ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वा-
३ १ २
नस्य सर्पिषः ॥६॥४६५॥

मैं [**अग्निं**]=उस प्रकाशमय हमें आगे ले चलने वाले प्रभु को जो कि [**होतारं**]=सब कुछ देने वाले हैं उनका [**मन्ये**]=मनन करता हूं—चिन्तन करता हूं। वे प्रभु [**वसोः दास्वन्तम्**]=निवास के लिए आवश्यक धन को देने वाले हैं—उत्कृष्ट सम्पत्ति को (वसु) प्राप्त कराने वाले है। [**सहसः सूनुं**]=बल को उत्पन्न करने वाले हैं—मैं प्रभु के संपर्क में आता हूं तो मेरे में बल का संचार होता है। [**जातवेदसम्**]=(जातं वेदः यस्मात्) उनके संपर्क में आने पर बल के साथ मेरे में ज्ञान का भी प्रकाश होता है। [**विप्रं न**]=जैसे कि एक ब्राह्मण के संपर्क में आने पर [**जातवेदसम्**]=मेरे में ज्ञान की वृद्धि होती है उसी प्रकार प्रभुसंपर्क मेरे जीवन को ज्योतिर्मय कर देगा।

एवं प्रभु संपर्क से मुझे उत्तम धन, शक्ति ज्ञान मिलेगा। उस प्रभु के संपर्क से [**यः**]=जो कि [**ऊर्ध्वया**[=सर्वोत्कृष्ट और सब सहारों के असफल

सिद्ध होने के बाद **[देवाच्या]**=देवों को प्राप्त होने वाली **[कृपा]**=कृपा से **[देवः]**=(दानात्) हमें सब उत्तमोत्तम पदार्थों को प्राप्त कराने वाले हैं और **[स्वध्वरः]**=बड़े उत्तम प्रकार से हमें हिंसा से बचाने वाले हैं।

संसार के सभी आश्रय जब निरर्थक सिद्ध होते हैं उस समय हमें उस प्रभु की कृपा प्राप्त होती है। सब रोगों का अन्तिम औषध प्रभु-कृपा ही है। यह कृपा हमें प्राप्त तब होती है जब कि हमारी वृत्ति दैवी बनती है। देव की कृपा का अधिकारी देव ही बन पाता है। यह कृपा हमें सब इष्ट पदार्थ प्राप्त कराती है और हमें सब प्रकार की हिंसाओं व अकल्याणों से बचाती है।

इस प्रभु का दर्शन हमें **[घृतस्य]**=मलों को दूर करने वाली ज्ञानदीप्ति (घृ क्षरण व दीप्ति) के **[विभ्राष्टिम् अनु]**=प्रकाश के होते ही हो पायेगा। जो ज्ञानदीप्ति **[शुक्रशोचिषः]**=चमकते हुए प्रकाश वाली है 'आजुह्वानस्य'=आहुति देने वाली अर्थात् त्याग की भावना वाली है तथा **[सर्पिषः]**=(सृप् गतौ) बड़ी क्रियाशील है। वास्तविक ज्ञान के होने पर मनुष्य में त्याग व क्रिया की भावना तो उत्पन्न होती ही है। यह प्रभुदर्शन करने वाला प्रभु का ज्ञानी भक्त प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय होता है—उसके संपर्क में यह अंग-अंग में शक्ति का अनुभव करता हुवा 'परुच्छेप' होता है। और यह तब तक 'परुच्छेप' बना रहता है जब तक कि **[दैवोदासि]**=प्रभु के प्रति अपने को दे डालने वाला बना रहता है।

भावार्थ—मैं देव बनूं ताकि मुझे प्रभु की कृपा प्राप्त हो।

साक्षात्कार

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २
तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि
३ २ १ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
प्रवाच्यं कृतम्। यो देवस्य शवसा प्रारिणा
१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
असु रिणन्नपः। भुवो विश्वमभ्यदेवमोजसा
३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिषम् ॥१०॥४६६॥

ज्ञान के प्रकाश से प्रभु का दर्शन करता हुवा व्यक्ति एक अद्भुत अनुभव करता है। वह इस सारे संसार को उस प्रभु को ही एक खेल देखता है। प्रभु नर्तक हैं, सारे संसार को वे नृत्य करा रहे हैं 'भ्रामयन्' सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया'=वे प्रभु सबसे महान् मायावी हैं और इस संसार को इधर-उधर घुमा रहे हैं। यह कहता है कि ऐ **[नृतो]**=संपूर्ण ब्रह्माण्ड को नृत्य कराने वाले प्रभो? **[तव]**=आप का **[त्यत्]**=वह **[अपः]**=कर्म **[नर्यम्]**=मनुष्य के लिए कितना ही हितकर है? ऐ **[इन्द्र]**=ज्ञानरूप परमैश्वर्य वाले प्रभो? आपका वह **[प्रथमं]**=सर्वमुख्य, सृष्टि के प्रारम्भ में किया गया अथवा अत्यन्त विस्तृत **[पूर्व्यं]**=सब प्रकार से हमारा पूरण करने वाला वह **[दिवि]**=प्रकाशविषयक (वैषयिक सप्तमी में 'दिवि' का प्रयोग है) **[कृतम्]**=कार्य वस्तुतः **[प्रवाच्यम्]**=अत्यन्त प्रशंसनीय है। वेदज्ञान प्रभु का **[प्रथमम्]**=सर्वमुख्य कार्य है, यह वेदज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया है तथा अत्यन्त विस्तृत है अर्थात् इसमें कोई भी आवश्यक विषय छोड़ा नहीं गया। यह वेदज्ञान-दान रूप प्रभु का कर्म सर्वोत्तम है—अत्यन्त प्रशंसनीय है।

प्रभु ने ज्ञान के साथ जीव को शक्ति भी दी ही है, वे **[सहसः सूनुः]**=शक्ति को उत्पन्न करने वाले हैं। **[यः]**=जो भी व्यक्ति **[देवस्य शवसा]**=उस प्रभु से दिये गए ज्ञान व शक्ति से **[असुं रिणन्]**=

जीवन को चलाता हुवा [**अपः प्रारिणाः**]=कर्मों को प्रेरित करता है वह **ओजसा**=ओज के द्वारा [**विश्वंअदवेम्**[=सब आदिव्य भावनाओं को [**अभिभुवः**]=दबा लेता है । [**विदेद् ऊर्जम्**] = और बल प्राणशक्ति को प्राप्त करता है, शतक्रतुः= सैंकड़ों प्रज्ञानों, संकल्पों व यज्ञमय कर्मों वाला होता है [**उ**]=और [**विदेद् इषम्**]=अपनी इच्छाओं को प्राप्त करता है अर्थात् एक आत्मतृप्ति का अनुभव करता है । अतृप्त नहीं होता ।

वेदवाणी के अनुसार कार्य करने के चार परिणाम हैं—आसुरी भावनाओं की विजय, बल की प्राप्ति, शतशः प्रज्ञानमय जीवन, व आत्म-तृप्ति, यह व्यक्ति प्रभु की स्तुति करता है, उल्लासमय जीवन वाला होता है और क्रियाशील होता है अतएव इसका नाम 'गृत्समदः शौनकः' है ।

भावार्थ—मुझे प्रभु का साक्षात्कार हो ।

सूचना—यह ऐन्द्रकाण्ड की समाप्ति है । इन्द्र के साक्षात्कार के साथ समाप्ति कितनी ही संगत है । और वह भी प्रभु कृपा से ही होती है यह प्रतिपादन कितना सुन्दर है । यही जीव का (इन्द्र का) चरम विकास है । इसी के लिये वह अपने को पवित्र बनाने का निश्चय करता है और 'पावमान काण्ड' प्रारम्भ होता है—

* * *

।। ४ ।। ऋषिः—१, ४ अमहीयुः; २ मधुच्छन्दाः; ३ भृगुर्वारुणिः; ५ त्रैतः; ६ कश्यपः; ७ जमदग्निः; ८ दृढच्युत आगस्त्यः; ९, १० काश्यपोऽसितः ।। देवता—पवमानः सोमः ।। छन्दः—गायत्री ।। स्वरः—षड्जः ।।

पावमान काण्ड

प्रभु के साक्षात्कार के साथ ऐन्द्रकाण्ड समाप्त होता है । इस साक्षात्कार की योग्यता के सम्पादन के लिए 'पावमान काण्ड' का प्रारम्भ होता है—

आकाश में होता हुवा भूमि पर

३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
ऊच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे ।
३ २उ ३ २ ३ १ २
उग्रं शर्म महि श्रवः ।।१।।४६७।।

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'अमहीयुः=आंगिरस' है—'न महीं यौति युनक्तिवा'=जो अपने साथ पृथ्वी का सम्पर्क नहीं करता—भौतिक गुणों में नहीं फंसता, और अतएव शक्तिशाली बना रहता है । इससे प्रभु कहते हैं कि [**ते**]=तेरा [**अन्धसः**] =इस आध्यायनीय सोम के द्वारा [**उच्चा जातम्**]= अत्यन्त उच्च विकास हुवा है । जो व्यक्ति सोम की रक्षा का ध्यान नहीं करता वह 'निषाद' बनता है—'निषीदति अस्मिन् पापमिति' =उसमें आसुरी वृत्तियां आश्रय करती हैं । परन्तु जब यह सोम रक्षा का निश्चय कर लेता है तो शु+उत्+र=शीघ्र शक्ति की ऊर्ध्वगति करने वाला ये 'शूद्र' हो जाता है । सोम के अंग-प्रत्यंग में प्रवेश करने पर (विश् to enter) वैश्य =विश् होता है । उस २ स्थान में क्षतों से त्राण करने के कारण ये 'क्षत्रिय' बनता है और ज्ञानशक्ति के दीप्त होने से ब्रह्म को जानने के कारण यह 'ब्राह्मण' बन जाता है । इस प्रकार सोम की महिमा से मनुष्य ऊंचा और ऊंचा उठता चलता है—इसका अत्यन्त उच्च विकास होता है । पर सौन्दर्य की बात तो यह है कि]**दिविसत्**] =द्युलोक में होता हुवा यह [**भूमि आददे**] =भूमि का ग्रहण करता है । अधिक से अधिक ऊंचा होता हुवा यह अत्यन्त विनीत होता है । दैवी सम्पत्ति का climasx=

शिखर ‘नाति मानिता’ हो तो है । ‘नम्रत्वेनोन्नमन्तः’ ये भतृहरि के शब्द इसके जीवन में घटते दिखते हैं।

[**‘उग्रंशर्म’**]—इसका आनन्द भी उदात्त होता है यह राजस व तामस सुखों में नहीं फंसता । इसका सात्विक सुख उत्तरोत्तर बढ़ता ही चलता है । उस ज्ञान के क्षेत्र में विचरता हुवा यह सांसारिक सुखों की तुच्छता को अनुभव करता है ।

[**महि श्रवः**]—चारों ओर इसकी महनीय कीर्ति फैल जाती है । इसका जीवन इतना सुन्दर बन गया है कि उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती है । लोग उसकी तेजस्विता, उसके ज्ञान व उसकी प्रशस्त मनोवृत्ति की गाथा करते अघाते नहीं ।

भावार्थ—सोम रक्षा से मनुष्य उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है । विनीत बना रहता है । सात्विक सुख में ही आनन्द लेता है और महनीय कीर्ति वाला होता है ।

‘मधुर व्यवहार’ स्वादिष्ट व मदिष्ठ वृत्ति ‘उल्लासमय जीवन’

१ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥२॥४६८॥

[**सुतः**]=‘उत्पन्न हुवा’ २ यह सोम हमारे जीवन को कैसा बनाये’ इस विषय का प्रस्तुत मंत्र में वर्णन है । कहते हैं कि ऐ [**सोम**]=तू [**स्वादिष्ठया**]=अत्यन्त स्वाद वाली—माधुर्यवाली [**धारया**]=धारा से तथा [**मदिष्ठया**]=अत्यन्त मदवाली—उल्लास वाली [**धारया**]=धारा से [**पवस्व**]=हमारे जीवन को पवित्र कर दे, हमारे जीवन के अन्दर प्रवाहित हो । सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर हमारा सामाजिक व्यवहार बड़ा मधुर होता है । हमारे व्यवहार में खिझ नहीं होती—किसी प्रकार कटुता नहीं होती । और हमारे निजू जीवन में उल्लास होता है । शक्ति बनी रहने से शरीर में क्षीणता नहीं आती । और क्षीणता के परिणाम रूप होने वाली निरुत्साहता नहीं होती ।

ऐ सोम ? तू [**इन्द्राय**]=जीव के परमैश्वर्य के लिये [**सुतः**]=उत्पन्न हुवा है । मनुष्य शक्तिशाली व स्वस्थ बनकर धन को भी कमाने में क्षम होता है, पर इससे भी बढ़ कर बात यह है कि यह सोम हमारे ज्ञानैश्वर्य को बढ़ाने वाला होता है ।

[**पातवे**]=तू रक्षा के लिए होता है । सोम के शरीर में संयत होने पर शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं होता—यह सोमशक्ति सब रोगों को दूर करती है और रोगों को होने ही नहीं देती । मन में भी सोम के परिणाम रूप आसुर वृत्तियों का पनपना नहीं होता । यह सोम मनुष्य को ईर्ष्या-द्वेष से बचाये रखता है । यह किसी प्रकार की मलिन इच्छा को मन में उत्पन्न नहीं होने देता । सोम का पान करने वाला मनुष्य ‘मधुच्छन्दाः’=मधुर इच्छाओं वाला बना रहता है, यह किसी का अहित न चाहने वाला सभी का मित्र ‘वैश्वामित्रः’ होता है ।

भावार्थ—सोम की धारण शक्ति के परिणामरूप (१) मेरा व्यवहार मधुर हो । (२) जीवन उल्लासमय हो । (३) मैं ज्ञान रूप परमैश्वर्य को पाने वाला होऊं । (४) और अपनी रक्षा कर सकूं—अपने को ईर्ष्या द्वेष से बचाये रखूं ।

दीर्घ ओजस्वी जीवन

१ २ ३ १ २ ३२ २ ३ २
वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः ।
२ २ १ २ ३ १ २
विश्वा दधान ओजसा ॥३॥४६९॥

ऐ सोम तू [**वृषा**]=शक्तिशाली होता हुवा [**धारया**]=अपनी धारण शक्ति से [**पवस्व**]=हमारे अन्दर प्रवाहित हो । सोम शरीर के अन्दर प्रवेश करता है और हमारे शरीर को शक्तिशाली बनाता है । [**च**]=यह सोम [**मरुत्वते**]=मरुत्वान् के लिए—प्राणों की साधना करने वाले के लिये [**मत्सरः**]=आनन्द को प्रवाहित करने वाला

होता है। वस्तुतः प्राण साधना के बिना सोम का पान पूर्ण रूप से होता नहीं, प्राणायाम ही मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाता है, उर्ध्वरेतस् बनने पर उसका शरीर नीरोग व सशक्त होता है और उसका मन निर्मल व आह्लादमय बनता है।

यह सोम ही [**विश्वा**]=सबको [**ओजसा-दधानः**]=ओज से धारण करने वाला होता है। सोम से केवल दीर्घायुष्य प्राप्त हो ऐसी बात नहीं—यह जीवन अन्त तक शक्तिशाली भी बना रहता है। जिस प्रकार एक परिपक्व फल पक कर अधिक और अधिक सुन्दर होता जाता है उसी प्रकार प्राणसाधना से सोम का पान करने वाला व्यक्ति वयः परिणाम में अधिकाधिक शक्तिशाली होता जाता है और अन्त में उसी प्रकार शरीर से पृथक् हो जाता है जैसे कि परिपक्व फल शाखा से।

प्राणायाम रूप तप से अपना परिपाक करके ही यह सोम का पान कर पाता है सो 'भृगु' (तपस्वी) है। इसका जीवन इस सोम पान से सुन्दर व श्रेष्ठ बनता है सो 'वारुणि' है। इसकी पाचन शक्ति अन्त तक ठीक बनी रहती है सो यह 'जमदग्नि' है।

भावार्थ—सोम पान से मैं (१) 'शक्तिशाली' बनूं। (२) उल्लासमय जीवन वाला होऊं और (३) जीवन के अन्तिम क्षण तक ओजस्वी बना रहूं।

वरेण्य-मद

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
यत्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा । देवा-
१ २ ३ २
वीरघशंसहा ॥४॥४७०॥

इस संसार के अन्दर कितने ही 'मद' हैं। धन का मद है—जो धतूरे के मद से भी कहीं बढ़कर है धतूरे का नाम भी कनक है, धन (सोने) का भी। पर धतूरा तो खाने पर हमें मद युक्त करता है, यह धन तो पाने मात्र से हो मदयुक्त कर देता है। बल का भी मद होता है—एक पहलवान कुछ इतराता सा हुवा चलता है। कई बार योग साधना करते हुए तपस्वी को अपने तप की शक्ति का भी मद हो जाता है—उसकी तो आंख से ही पक्षी 'जल जाता है'। कइयों में विद्या का मद देखा जाता है और ऐसी स्थिति में ये विद्वान् जल्पप्रधान शास्त्रार्थों में उलझे रहते हैं और अपने प्रतिपक्षी को हराना मात्र ही इनका उद्देश्य होता है। ये सब मद हेय हैं—इसका परिगणन 'काम-क्रोध, और लोभ-मोह, मद-मत्सर, इन छः शत्रुओं में है। शत्रु होने से ये मद त्याज्य हैं परन्तु प्रभु ने अन्धसा=अधिक से अधिक ध्यान देने योग्य (आध्यायनीय) सोम के द्वारा भी एक मद हमारे में उत्पन्न किया है। इस सोम के सुरक्षित होने पर इसका अनुभव होता है। प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'अमहीयु'=प्राकृतिक भोगों की कामना न करने वाला 'आंगिरस'=शक्तिशाली व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**यः**]=जो [**ते**]=तेरा [**अन्धसा**]=इस सोम के द्वारा उत्पन्न [**वरेण्यः मदः**]=वरणीय श्रेष्ठ मद है [**तेन**]=उससे आपवस्व=हमारे जीवनों को पवित्र करिये। यह सोम जनित उल्लास [**देवावीः**]=(देव-आ-वी) सब प्रकार से दिव्यता की ओर हमें ले चलने वाला है। इससे हमारे अन्दर दिव्यता का उत्तरोत्तर विकास होता है। और यह सोम [**अघशंसहा**]=पाप के नाम को भी नष्ट करने वाला है—इससे हमारे अन्दर पाप का नामावशेष भी नहीं रहता। हमारा जीवन सचमुच पवित्र व दिव्य बन जाता है।

भावार्थ—सोम जनित 'मद' सचमुच वरणीय है। (१) यह हमारे अन्दर दिव्यता को बढ़ाता है और (२) पाप को नाममात्र भी बचे नहीं रहने देता।

गर्जते हुए प्रभु आते हैं

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।
१ २ ३ १ २
हरिरेति कनिक्रदत् ॥५॥४७१॥

सोम की रक्षा करने वाले व्यक्ति के जीवन में [**तिस्रः वाचः**]=तीन वाणियां [**उदीरते**]=उच्चरित होती हैं—इसके जीवन में [**धनेवः गावः**]=(धेट् पाने) ज्ञानदुग्ध का पान कराने वाली वेदवाणी रूप गौवें [**मिमन्ति**]=शब्द करती हैं।

अर्थात् यह सदा उन वेदवाणियों का उच्चारण करता है और ये वेदवाणियां उसे तीन बातें कहती हैं—तू ज्ञानी बन, ज्ञानपूर्वक कर्म कर, इन पवित्र कर्मों को प्रभु के अर्पण करता हुवा प्रभु का उपासक बन। एवं यह सोमपान करने वाला व्यक्ति ज्ञान-कर्म—उपासना तीनों की ही अपने जीवन का ध्येय बनाता है। केवल ज्ञान तो उसे कुछ अहंकारी बना देता है। केवल कर्म अपवित्रता व रूढ़िवाद की ओर ले जाता है और केवल उपासना उसे संकुचित व क्रूर-केवल अपने को ही प्रभु का प्रिय मानने वाला बना देती है। सो यह तीनों का ही अपने जीवन में विस्तार करता है। तीनों का विस्तार करने से इसका नाम 'त्रि-त' (त्रीन्-तनोति) है। यह प्रभु के प्राप्त करने वालों में भी श्रेष्ठ होने के कारण 'आप्त्य' है। ऐसा बनने पर इसके जीवन में वह सबके दुःखों के हरण करने वाला [**हरिः**]=दुःख-हर्ता—अन्धकार के हरणकर्ता प्रभु [**एति**]=आते हैं। कैसे? [**कनिक्रदत्**]=गर्जना करते हुए। इसे सदा उस प्रभु की आवाज़ स्पष्ट सुनाई पड़ती है। जैसे दिलीप ने (रघुवंश में) सुरभि की ध्वनि को इसलिये न सुना था कि स्वतंत्रदिग्गजों से अवगाहन किया जाता हुवा आकाशगंगा का स्रोत बड़ा ऊंचा शब्द कर रहा था, इसी प्रकार हम भी उस हृदयस्थ प्रभु की ध्वनि को इसलिये नहीं सुनते कि हमारे इस धन प्रधान जीवन में इस हिरण्मय संसार की 'धनं धनं धनं' ध्वनि बड़ी ऊंची होती रहती है। परन्तु सोमपान करने वाला व्यक्ति तो इसमें उलझता ही नहीं। उसके जीवन में प्रभु का साक्षात्कार व प्रभु से आलाप ही महत्वपूर्ण होता है।

भावार्थ—सोम पान करने वाले व्यक्ति का प्रभु से साक्षात्कार होता है।

अत्यन्त मधुर बनकर (इन्दु)

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः।
३ २ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥६॥४७२॥

प्रस्तुत मंत्र में सोम को 'इन्दु' नाम से स्मरण किया है। इन्द् to be powerful धातु से बना हुवा यह शब्द बतला रहा है कि यह सोम मनुष्य को अत्यन्त शक्तिशाली बनाने वाला है। इस इन्दु को संबोधन करते हुए मंत्र का ऋषि 'कश्यप मारीच' कहता है कि ऐ [**इन्दो**]=शक्तिशाली बनाने वाले सोम तू [**'इन्द्राय'**]=जितेन्द्रिय के लिए—इन्द्रियों की आधीनता में चल कर उनको अपना उपकरण बनाने वाले और [**मरुत्वते**]=प्राणशक्ति संपन्न मेरे लिए तू [**मधुमत्तमः**]=अत्यन्त माधुर्य वाला होकर [**पवस्व**]=बह या मेरे जीवन को पवित्र कर। वस्तुतः सोम का रक्षण 'इन्दु व महान्' बनने से ही संभव है। जितेन्द्रियता व प्राणसाधना मनुष्य को ऊर्ध्वरेतस् बनाती है। 'जब जीभ ने चाहा तब हमने खा लिया' इस प्रकार के जीवन से सोम रक्षा का संभव नहीं। सोम रक्षा के लिए जीभ मेरे वश में होनी चाहिए। साथ ही प्राणायाम ब्रह्मचर्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों साधनों से मैं सोम की रक्षा करूंगा तो यह सोम मेरे जीवन को अत्यन्त माधुर्य वाला बना देगा। 'भूयासं मधुसन्दृशः' यह वेदवाक्य मेरे जीवन में घटित हुवा दिखेगा। यह माधुर्य आवश्यक है, इसके विना मैं उस 'रस'—स्वरूप परमात्मा को कैसे पा सकता हूं? सो [**अर्कस्य**]=उस अर्चनीय परमात्मा के [**योनिम्**]=स्थान व पद को [**आसदम्**]=पाने के लिए मैं मधुर बनूं ही। मधुर बनूंगा सोम रक्षा से। और सोम रक्षा होगी इन्द्र और मरुत्वान् बनने से। इन्द्र बन कर मैं सब असुरों का मारने वाला 'मारीच' बनूं और मरुत्वान् बनकर ज्ञानदीप्ति को बढ़ा कर 'कश्यप' बनूं। योगांगानुष्ठानात् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः)। संसार के स्वाद को मारना प्रभु प्राप्ति के स्वाद को पाने के लिये आवश्यक है। यह स्वाद ज्ञान से ही आयेगा।

भावार्थ—प्रभु कृपा से मैं 'इन्द्र और मरुत्वान्' बनूं—दूसरे शब्दों में 'मारीच कश्यप' बनूं।

प्रभु के स्थान में पहुंच जाऊं (अंशु)

१ २ ३१र २र ३ १र २र ३ २ ३ २उ
असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः । श्येनो
३ १ २
न योनिमासदत् ।। ।।४७३।।

सोम को यहां अंशु कहा है चूंकि यह मनुष्य को उस प्रभु का अंश ही बना डालता है । यह [**अंशु**] =मुझे परमेश्वर का ही छोटा रूप बना देने वाला सोम [**असावि**]=उत्पन्न हुवा है। यह उत्पन्न होकर (१) [**मदाय**]=मेरे जीवन में एक विशेष मद को जन्म देने वाला है—मेरा जीवन इससे सदा उत्साहमय बना रहता है। इस सोम से (२) मनुष्य [**अप्सु**]=कर्मों में [**दक्षः**]=चतुर बनता है। 'योगः कर्मसुकौशलम्'=कर्मों में कुशलता ही योग है। यह सोमी पुरुष कभी आकुल नहीं होता। यह [**गिरिष्ठाः**]=उन्नति के पर्वत शिखर पर स्थित होता है—अथवा वाणी पर इसका पूर्ण प्रभुत्व होता है। यहां वाणी उपलक्षण है अन्य सब इन्द्रियों का। इस प्रकार आत्मवश्य विधेय मन वाला [**श्येनोन**]=प्रशंसनीय गति वाले पक्षी की तरह [**योनिम्**]=उस प्रभु के स्थान को [**आसदत्**]=पा लेता है। प्रभु को पाने के लिए गत मंत्र में 'मधुमत्तमः' शब्द से (१) 'माधुर्य' का संकेत हुवा है। प्रस्तुत मंत्र में (२) उल्लास—मनः प्रसाद (मदाय) (३) कार्य-कुशलता—सिद्धि व असिद्धि में सम होकर निर्लेपता से कर्म करना (४) तथा इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनना (गिरिष्ठाः) इन नये उपायों का उल्लेख हो गया है। उस सोम की रक्षा तो साधन है ही जोकि माधुर्य आदि को हमारे जीवन में उत्पन्न करता है। इस सोम की रक्षा से यह भी परिणाम होता है कि यह शरीर यंत्र अन्त तक ठीक रहता है—मनुष्य अन्त तक 'जमदग्नि'= बना रहता है। इस सोम रक्षा में प्राणायामादि तपस्या तो आवश्यक है ही। इस तपस्या का करने वाला 'भार्गव' है। यह जमदग्नि-भार्गव प्रभु का अंश बन जाता है। ऐसा बनाने वाला यह सोम 'अंशु' है।

भावार्थ—मैं अंशु की रक्षा द्वारा प्रभु का अंश बनूं।

रत्न सप्तक (हरि)

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ १ ३
पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
३ २ ३ २ ३ १ २
मरुद्भ्यो वायवे मदः ।।८।।४७४।।

ऐ सोम ? [**पवस्व**]=मेरे जीवन में प्रवाहित हो अथवा मेरे जीवन को पवित्र कर। (१) [**दक्षसाधनः**]=तू मेरी दक्षता का सिद्ध करने वाला है। सोम के संयम से मेरा प्रत्येक कार्य कुशलता से होता है। कृष्ण ने सन्धि के कार्यसंकट को किस कुशलता व माधुर्य से निभाया ? मेरा भी प्रत्येक कार्य उसी कुशलता से हो। (२) [**देवेभ्यः**]=यह सोम मेरे जीवन में देवों के लिए होता है, अर्थात् इससे मेरे में दिव्य गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। (३) [**पीतये**]=यह सोम मेरे पान=रक्षण के लिए हो —मैं आसुर वृत्तियों के आक्रमण से बचा रहूं। (३) [हरे]=ऐ सोम तुम तो हरि हो—मेरे सब रोगों व मलों के हरण करने वाले हो। (४) [**मरुद्भ्यः**]=तुम प्राणों के लिए हितकर होते हो। अर्थात् सोम के संयम से प्राणशक्ति बढ़ती है। 'प्राणायाम से सोमरक्षा तथा सोमरक्षा से प्राणशक्ति की वृद्धि' इस प्रकार सोम और प्राण परस्परोपकारक होते हैं। (६) [**वायवे**]=(वा गतौ) प्राणशक्ति की वृद्धि के द्वारा यह सोम मेरी क्रियाशक्ति को बढ़ाने वाला होता है। मेरा जीवन कर्मठ बनता है। (७) [**मदः**]=यह सोम मेरे मद= उल्लास व उत्साह को स्थिर रखता है।

इस प्रकार दक्षता, दिव्यता, दानववृत्तिदमन, रोगहरण, प्राणवर्धन, कर्मसामर्थ्य, व उल्लास को जन्म देता हुवा यह सोम मुझे 'आग+स्त्य'= पापसमूह का नष्ट करने वाला तथा असुरों के दृढ़ से दृढ़ दुर्गों का च्यवन=नाश करने वाला 'दृढ़च्युत' बनाता है।

भावार्थ—सोम के द्वारा मैं दक्षता आदि सात रत्नों से अपने जीवन को सुशोभित करने वाला बनूं।

गिरिष्ठा व स्वान

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत्।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ॥९॥४७५॥

[सोमः]=सोम **[परि-सु-आनः]**=शरीर में सर्वत्र उत्तमता से प्राणशक्ति को बढ़ाने वाला है। ४९ प्रकार के वायु जो १० प्राणों के रूप से कहे जाते हैं—जिनमें 'प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान' ये पांच विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं और उनमें भी 'प्राण अपान व्यान' का 'भूर्भु वः स्वः' के रूप में उल्लेख किया जाता है—इन तीन का भी संक्षेप 'प्राणापान' में हो जाता है और एक शब्द में इन्हें प्राण के रूप में हम स्मरण करते हैं। यह प्राण इस सोम के रक्षण से पुष्ट होता है। यह हमें **[गिरिष्ठाः]**=उन्नति के शिखर पर पहुंचाता है—और **[पवित्रे]**=पवित्रता के निमित्त **[अक्षरत्]**=सब मलों को क्षरित करता है। 'मलों को दूर करके पवित्रता का उत्पादन' यह सोम का कार्य है। इसी से हमारे शरीर नीरोग रहते हैं, मन ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठे रहते हैं और मस्तिष्क उज्ज्वल बना रहता है। एवं यह सोम **[मदेषु]**=मद-उत्साह जनक वस्तुओं में **[सर्वधा असि]**=सर्वाधिक धारण करने वाला है। यह हमें रोगादि के जाल से ईर्ष्या-द्वेषादि के बन्धनों से मुक्त करके 'असित' बनाता है। हमारे ज्ञान को उज्जवल करके हमें 'काश्यप' बनाता है और हमारे अन्दर दिव्यता का संचार करता हुवा हमें 'देवल' बना देता है।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मैं जीवन में सोत्साह, पवित्र, व स्थिर शक्ति बनूं।

क्रान्तदर्शी सोम (कवि)

१ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३क २र ३ २
परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः।
३ १ २ ३ १ २
स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥१०॥४७६॥

यह सोम **[दिवः कविः]**=प्रकाश के द्वारा क्रान्तदर्शी है। इसके संयम से मनुष्य की बुद्धि में जो तीव्रता आती है, उससे वह प्रत्येक वस्तु को बारीकी से देखने वाला होता है। सूक्ष्मता से देखने के कारण ही वह उनके तत्व को समझता है और उनके अन्दर उलझता नहीं है। यह सोम **[कविक्रतुः]**=है। क्रान्तदर्शी बन कर कर्म करने वाला है। संयमी पुरुष क्रान्तदर्शी बनकर कर्म करता है—इसीलिये उसके कर्म अनासक्ति से चलते हैं और उसके बन्धनों का कारण नहीं बनते। **[नप्त्योः हितः]**=(न-पतंत्योः) न पतन की ओर जाने वाले द्यावा-पृथिवी का—शरीर व मस्तिष्क का यह हित करने वाला है। वस्तुतः सोम की रक्षा से जहां शरीर का आरोग्य बना रहता है वहां मस्तिष्क की तीव्रता भी बनी रहती है। ऐसा यह सोम **[स्वानैः]**=(सु आनैः) उत्तम उत्साह के संचारों द्वारा **[प्रिया वयांसि]**=प्रिय व मधुर (वी गतौ) गतियों को **[परि-याति]**=समन्तः करता है। अर्थात् यह संयमी पुरुष सदा उत्साहयुक्त होकर अत्यन्त मधुर कर्मों के अन्दर व्यापृत रहता है।

क्रान्तदर्शी होने से यह संयमी पुरुष 'काश्यप' है, न उलझने के कारण 'असित' है और अपने अन्दर दिव्य गुणों को बढ़ाने के कारण 'देव-ल है।

भावार्थ—हम सोम के संयम से ज्ञान के दृष्टि-कोण से क्रान्तदर्शी बनें, हमारे कर्म प्रज्ञापूर्वक हों, और हम शरीर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से अक्षीणशक्ति हों।

* * *

।। ५ ।। ऋषिः—श्यावाश्वः; २ त्रितः; ३, ८ अमहीयुः; ४ भृगुः; ५, ६ कश्यपः; ७ निध्रुविः काश्यपः; ९, १० काश्यपोऽसितः ।। देवता—पवमानः सोमः ।। छन्दः—गायत्री ।। स्वरः—षड्जः ।।

उत्साह-यश-श्री

१र   २र   ३ २ ३ १ २   ३ १ २
प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।
३ २ ३ १ २
सुता विदथे अक्रमुः ।।१।।४७७।।

[**सोमासः**]=सोम [**प्र**]=प्रकर्षेण (खूब) [**मदच्युतः**]=उत्साह के टपकाने वाले हों। सोम के कारण हमारा जीवन उल्लासमय हो—हम कभी निराशा की बातें न करें। ये सोम [**मघोनाम्**]=(मा अघ) पापांशशून्य ऐश्वर्य वाले [**नः**]=हमारे [**श्रवसे**]=यश के लिये हों। उत्साह संपन्न पुरुष ऐश्वर्य को प्राप्त करता ही है—वह ऐश्वर्य सुपथा अर्जित हुवा करता है। और इसके दानादि में उत्तम विनियोग से मनुष्य यश का भागी बनता है। 'जुहोत प्रच तिष्ठत'=दान दो और प्रतिष्ठा पाओ' इस वेद वाक्य के अनुसार यह संयमी पुरुष कमाता है—देता है और प्रतिष्ठा को पाता है। जितना देता है उतना ही अधिक कमाता भी है। वस्तुतः [**सुताः**]=उत्पन्न हुए-हुए ये सोम [**विदथे**]=(विद्लाभे)=धन के लिये [**अक्रमुः**]=गतिशील होते हैं। सोम मनुष्य को उस पुरुषार्थ के योग्य बनाता है जिससे कि यह सोमी खूब कमाता है। इसकी सब इन्द्रियां गतिशील बनी रहती हैं—गतिशील बने रहने से ही यह 'श्यावाश्व'=गतिशील इन्द्रिय रूप घोड़ों वाला कहलाता है (श्यैङ् गतौ)।

भावार्थ—मैं सोमी बनूं। सोम मुझे उत्साह-यश और श्री को प्राप्त कराये।

ज्ञान-कर्म-उपासना

१र   २र   ३ २   ३ १ २   ३ १ २
प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ।
१ २   ३ १ २
वनानि महिषा इव ।।२।।४७८।।

प्रस्तुत मंत्र में कार्य कारण में अभेद करते हुए सोम को ही विपश्चित् कहा गया है। सोम के संयम से मैं 'विपश्चित्' बनता हूं। 'वि-पश्-चित्'=विशेष रूप से सूक्ष्मता के साथ देख कर मैं प्रत्येक पदार्थ का चिन्तन करने वाला बनता हूं। इससे मंत्र में सोम को ही विपश्चित् कहा गया है। [**सोमासः**]=ये सोम [**प्र**]=खूब [**विपश्चितः**]=ज्ञानी हैं या मुझे ज्ञानी बनाने वाले हैं। [**ऊर्मयः**]=हमारे अन्दर उत्साह की तरंगों को भरने वाले ये सोम [**अपो नयन्त**]=हमें कर्मों को प्राप्त कराते हैं। अर्थात् सोम के द्वारा मेरा जीवन प्रकाशमय होता है और मैं बड़े उत्साह से कर्मों में—लोक संग्रह के कार्यों में प्रवृत्त होता हूं। ज्ञानी बनकर कर्मशील होता हूं। एवं ज्ञानपूर्वक होने से ही मेरे ये कर्म पवित्र होते हैं। इन पवित्र कर्मों के द्वारा ही तो मुझे प्रभु की उपासना करनी है। [**महिषा इव**]=(मह पूजायाम्) प्रभु की पूजा करने वालों के समान ये सोम मुझे [**वनानि**]=(वन्-संभक्ति) संभजनों व उपासनाओं को नयन्त=प्राप्त कराते हैं, मेरा जीवन इन पवित्र कर्मों को प्रभु चरणों में निवेदित करता हुवा उपासनामय बनता है। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः'=इन अपने कर्मों से ही तो उस प्रभु की अर्चना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

सोम के द्वारा 'ज्ञान-कर्म उपासना' इन तीनों का ही विस्तार करने से ये 'त्रित' है। प्रभु को प्राप्त करने से 'आप्त्य' है। यह 'त्रित आप्त्य' अपने जीवन में 'ज्ञान-कर्म उपासना' तीनों का ही विस्तार करता है। 'ज्ञान पूर्वक **कर्म**' करने से उपासना तो स्वतः ही हो जाती है सो यह ज्ञान और कर्म का विस्तार करने वाला 'द्वित' भी कहलाता है और

ज्ञान का विस्तार इसको क्रियावान् बना ही देता है सो ज्ञान का विस्तार करने वाला यह 'एकत' नाम वाला हो जाता है। 'एकत' का ही विस्तार 'द्वि-त' है' और 'द्वित' का 'त्रि-त'। एवं यह त्रित अपने को प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है।

भावार्थ—मैं सोमी बनूं। सोम मुझे ज्ञान कर्म उपासना का विस्तार करने वाला बनाकर 'त्रित-आप्त्य' बनाये।

शक्ति-यश-प्रेम

१ २   ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने।
२   ३ २ ३ १ २
विश्वा अप द्विषो जहि ॥३॥४७९॥

'अमहीयुः'=जो अपने साथ पृथिवी को-पार्थिव भोगों को-नहीं जोड़ता अर्थात् पार्थिव भोगों में नहीं फंसता वह 'आंगिरस'=अंग प्रत्यंग में शक्ति वाला पुरुष प्रार्थना करता है कि [**इन्दो**]=ऐ शक्ति का संचार करने वाले सोम [**पवस्व**]=तू मेरे जीवन को पवित्र कर। [**सुतः**]=उत्पन्न हुवा हुवा तू [**वृषा**]=शक्तिशाली बनाने वाला है। तू [**नः**]=हमें [**जने**]=अपने समाज में [**यशसः कृधी**]=यशस्वी कर। और [**विश्वा द्विषः**]=सब द्वेष की भावनाओं को [**अप जहि**]=हमारे से दूर कर नष्ट कर दीजिये।

सोम के संयम से जीवन पवित्र बनता है। पवित्र ही नहीं, जीवन शक्तिशाली भी होता है। इस पवित्रता और शक्ति के परिणाम रूप यह अमहीयु कोई भी ऐसा कर्म नहीं करता जो कि उसके अपयश का कारण बने। स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठ कर यह लोकहित के लिए कर्म करता है और परिणामतः इसकी यश की गन्ध चारों ओर फैलती है। यह किसी के साथ द्वेष भी नहीं करता। इसका जीवन सबके प्रति प्रेम के वर्ताव वाला होता है। भोगप्रवण मनुष्य ही द्वेष किया करते हैं।

भावार्थ—सोम के संयम से मैं पवित्र शक्ति-संपन्न, यशस्वी तथा निर्द्वेष बन जाऊं।

द्रविण (शक्ति)-दीप्ति-दर्शन

२ ३   १ २   ३ १ २ ३ १ २
वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे।
१ २   ३ १ २
पवमान स्वर्दृशम् ॥४॥४८०॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'भृगु' है—जो अपना परिपाक करता है। परिपाक से जैसे मलविध्वंस होकर पवित्रता उत्पन्न होती है इसी प्रकार यह भृगु तपः—परिपाक से अपने जीवन को पवित्र करता है। यह कहता है कि ऐ [**पवमान**]=मेरे जीवन को पवित्र करने वाले सोम तू [**हि**]=निश्चय से [**भानुना**]=दीप्ति के साथ [**वृषा**]=मुझे द्रविण (पराक्रम) संपन्न करने वाला [**असि**]=है। सोम के संयम से उत्पन्न शक्ति ज्ञान की दीप्ति से युक्त होती है। अकेली शक्ति उतनी महत्वपूर्ण नहीं, जितनी की ज्ञान की दीप्ति से युक्त शक्ति। सोम शरीर को बलवान् बनाता है तो साथ ही मस्तिष्क को भी ज्ञान की दीप्ति से युक्त करता है। शक्ति कार्य करती है तो दीप्ति कार्यों में ग़लती व मालिन्य को नहीं आने देती। भृगु कहते हैं कि ऐ सोम ? [**द्युमन्तं**]=दीप्ति वाले [**त्वां**]=तुझको [**हवामहे**]=हम पुकारते हैं। सोम को हम इसलिये चाहते हैं कि यह हमारे जीवन को 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'=अन्धकार से प्रकाश को ओर ले चलता है। पवमान=यह पवित्र करने वाला तो है ही; 'असतो मा सद् गमय'=ऐ सोम तू मुझे असत् से सत् की ओर ले चल। संयमी पुरुष कोई असत् कार्य नहीं करता। मुझे पवित्र बनाकर ऐ सोम ? तू [**स्वः**]=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को [**दृशम्**]=देखने के योग्य बनाता है। एवं सोम से मेरे जीवन में तीन परिणाम होते हैं—द्रविण, दीप्ति, व दर्शन। शक्ति (द्रविण) का संचय करने से 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यह निर्बलता की अयो

ग्यता हम अपने से दूर करते हैं। यह दर्शन ही हमारे जीवन की अन्तिम साधना है। 'मृत्योर्मा अमृतं गमय =हे सोम तू मुझे प्रभु का दर्शन कराके मृत्यु से बचाकर अमरता का लाभ कराता है। यह दर्शन मुझे इसलिये प्राप्त हुवा है कि पवमान साम ने मेरे सब मालिन्य को दूर कर दिया है।

भावार्थ—मैं प्राणसाधना करके 'द्रविण-दीप्ति-दर्शन' करने वाला बनूं।

सदा सावधान

१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ ३ २
इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः ।
३ १र २र ३ १ २
सृजदश्वं रथीरिव ॥५॥४८१॥

[**इन्दुः**]=मुझे शक्तिशाली बनाने वाला सोम [**पविष्ट**]=मुझे पवित्र बनाता है। [**चेतनः**]=यह मेरे में चेतना को उत्पन्न करता है—मैं जागरित हो जाता हूं। इस संसार की अपनी जीवन यात्रा में मैं सावधान होकर चलता हूं—नशे में नहीं हो जाता। अपने स्वरूप को पहचानता हूं—तथा अपने लक्ष्य को भूल नहीं जाता। यह सोम [**कवीनां प्रियः**]=क्रान्तदर्शियों को प्रीणित करने वाला होता है। संयमी पुरुष अपने अन्दर तृप्ति व आनन्द का अनुभव करता है। वस्तुतः आनन्द बाह्य वस्तुओं में अनुभव नहीं हो सकता। [**मतिः**]=यह सोम मुझे मननशील बनाता है—मेरी बुद्धि को तीव्र करता है। यह मननशीलता ही तो वस्तुतः मुझे न्याय्य मार्ग से भटकने नहीं देती। इस प्रकार यह संयमी न्याय्य मार्ग से न भटकता हुवा [**रथीः इव**]=उत्तम रथी की तरह [**अश्वं सृजत्**]=इन्द्रिय रूप घोड़ों को इस शरीर रूप रथ में जोतता है। उनका शरीर रूप रथ में संसर्ग करता है।

रथी सोया हुवा न हो-चेतन हो और यदि रथी तत्वज्ञानियों की दृष्टि वाला होकर अन्दर ही अन्दर आनन्द का अनुभव करता हो और यदि वह मननशील हो तो कभी भटकने की आशंका थोड़े ही हो सकती है। यह 'कश्यप' है—अपने मार्ग को देखता है और उस मार्ग में आने वाले विघ्नों को नष्ट कर डालता है। इसीलिए तो यह 'मारीच' है—सब विघ्नों को मार डालने वाला। विघ्नों को दूर कर आगे बढ़ता हुवा यह लक्ष्य स्थान पर पहुंच ही जाता है।

भावार्थ—मैं सदा जागरित रहूं—अपने लक्ष्य को भूल न जाऊं।

घोड़ों का (ज्ञान-कर्म-वीरता) रथ में जोतना

१२ ३ २ ३१ २ ३ १र ३ ३ २
असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।
३ १ २ ३ १र २र
शुक्रासो वीरयाशवः ॥६॥४८२॥

ये [**सोमासः**]=सोम [**वाजिनः**]=(वज=Knowldge) ज्ञान को दीप्त करने वाले हैं, और बाजी होते हुए ये [**गव्या**]=ज्ञानेन्द्रियों से इस शरीर रूप रथ को [**प्र असृक्षात**]=खूब संयुक्त करते हैं। ये सोम ही [**शुक्रासः**]=शीघ्रता से कार्य करने वाले होते हुए [**अश्वया**]—कर्मेन्द्रियों से इस रथ को संसृष्ट करते हैं। और अन्त में [**आशवः**]=सारे शरीर में व्याप्त होने वाले (अश व्याप्तौ) ये सोम [**वीरया**]=वोरता की भावना से युक्त करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के योग से ज्ञान में वृद्धि होती है, कर्मेन्द्रियों के योग से शक्ति की, और वीरता की भावना से हृदय में सद्गुणों की। इस प्रकार ये सोम 'ज्ञान, शक्ति व सद्गुणों' से हमें आप्यायित करने वाले होते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में शक्ति, और हृदय में वीरता व virtue ही तो त्रिविध विकास है। इस विकास का करने वाला यह 'कश्यप मारीच' है। तत्व ज्ञानी भी है, विघ्नों को मार कर आगे बढ़ने वाला भी।।

भावार्थ—मैं अपने इस शरीर रूप रथ में इन्द्रिय रूप घोड़ों को ठीक से जोड़ कर आगे बढ़ता चलूं।

स्थिरता व ध्रुवता

१ २   ३ १   २ ३ १र   २र   ३ १ २
पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
३ १र   २र ३   १ २
वायुमा रोह धर्मणा ॥७॥४८३॥

ऐ सोम तू [**'देव'**]=है—मेरे में दिव्य गुणों को जन्म देने वाला है । तू [**आयुषक्**]=निरन्तर व आयुभर आजीवन [**पवस्व**]=मेरे जीवन को पवित्र कर डाल । सोम वस्तुतः मनुष्य को सोम=शान्त बनाने वाला है इससे जीवन के अन्दर स्थिरता बढ़ती है । अशान्ति तभी होती है जब मल की अभिवृद्धि हो । रोग दूर करके यह सोम शरीर की शान्ति को देता है और मानस मलों को दूर करके यह मन की अशान्ति को दूर भगाता है । यह शान्त मानस व्यक्ति 'निध्रुवि'=निश्चय से अपने स्थान पर ध्रुवता से रहने वाला होता है । 'काश्यप'=ज्ञानी होने से यह व्यर्थ की व्यग्रता में नहीं फसता ।

अव्यग्रता व मनः=प्रसाद के साथ यह अपने जीवन-पथ पर चलता है और सोम से कहता है कि [**ते मदः**]=तेरे द्वारा उत्पन्न ये मद [**इन्द्रं गच्छतु**] (गमयतु)=मुझे परमात्मा को प्राप्त कराने वाला हो । धन का मद विलास की ओर ले जाता है, शरीर की शक्ति का मद निर्बलों पर अत्याचार की ओर, योग का बल विभूतियों के प्रदर्शन की ओर, और ज्ञान का मद विरोधी के पराजित करने की भावना की ओर । यह सोम का ही मद है जो हमें प्रभु की ओर ले चलता है ।

ऐ सोम तू [**धर्मणा**]=अपनी धारक शक्ति से [**वायुम्**] (अनु)=प्राणों की साधना के अनुपात में [**आरोह**]=ऊर्ध्वगति वाला हो । प्राणायाम के द्वारा इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है—मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बनाता है । इस मंत्र भाग का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि ऐ सोम तू अपनी धारक शक्ति से वायु पर भी आरूढ़ हो अर्थात् जीवन के लिए वायु भी आवश्यक है पर सोम का स्थान जीवन-धारण में वायु से भी अधिक है ।

भावार्थ—सोम मुझे पवित्र करे, प्रभु को प्राप्त कराये, मेरे जीवन का धारण करने वाला हो ।

लोक हितकारी ज्ञान

१ २   ३ २ ३   १र   २र ३ २
पवमानो अजीजनद् दिवश्चित्रं न तन्यतुम् ।
१ २   ३ २ ३ २
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥८॥४८४॥

[**पवमानः**]=हमारे जीवन को पवित्र करने वाला यह सोम [**दिवः**]=द्युलोक के [**चित्रं**]=अद्भुत=[**तन्यतुं न**]=विद्युत प्रकाश के समान [**ज्योतिः**]=ज्ञान के प्रकाश को [**अजीजनत्**]=उत्पन्न करता है । कौन से ज्ञान के प्रकाश को ? जो कि (१) [**वैश्वानरम्**]=(विश्वनरहितम्) सब लोकों का कल्याण करने वाला है तथा [**बृहत्**]=(बृहि वृद्धौ) लोकवृद्धि का कारण है ।

आधुनिक युग में ज्ञान की वृद्धि हो रही है । पर यह ज्ञान वृद्धि Atom bomb आदि का निर्माण करके लोक हित के लिए प्रमाणित नहीं हो रही । ज्ञान बढ़ा है—उसने सभी का भला नहीं किया । यह ज्ञान लोक वृद्धि का ही कारण न बनकर लोक संक्षय का कारण हो गया है । संयमी पुरुषों के अन्दर ज्ञान हितकर व वृद्धिकर होता है । इस संयमी को कठिन से कठिन समय में भी एक ऐसी प्रकाश की झलक दिखती है कि सब उलझन समाप्त हो जाती है । आकाश में बिजली चमकी और सूचिभेद्य तम में भी मार्ग दिख गया, इसी प्रकार संयमी के मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञान विद्युत् का प्रकाश होता है और उसे गूढ़ से गूढ़ विषय भी स्पष्ट हो जाता है । यह इन अज्ञान ग्रन्थियों को सुलझाता हुवा उस ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है जो कि सभी का हितकर व वृद्धि-

कर होता है। संयमी होने से यह उस ज्ञान का दुरुपयोग नहीं करता उसे अपने भोगों की वृद्धि का साधन नहीं बनाता। यह तो है ही 'अमहीयु' =पार्थिव भोगों को न चाहने वाला। इसी से यह 'आंगिरस' है। और इसी से यह अपने ज्ञान को 'वैश्वानर, वृहत्' बना पाया है।

भावार्थ—सोम से मुझे वह ज्योति प्राप्त हो जो सभी की अभिवृद्धि का हेतु बने।

मधु की धारा

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा।
१ २ ३ १ २
मधो अर्षन्ति धारया ॥९॥४८५॥

[**इन्दवः**]=हमें शक्तिशाली बनाने वाले सोम [**परि-सु-आनासः**]=चारों ओर सारे शरीर में, अंग प्रत्यंग में—उत्तम प्राणशक्ति का संचार करने वाले हैं। ये सोम [**बर्हणा गिरा**]—वृद्धि की कारण भूत वेदवाणी के साथ ज्ञान की वाणी के साथ—[**मदाय**]=हमारे उल्लास के लिए होते हैं। सोम से मुझे शक्ति प्राप्त होती है, मेरा प्रत्येक अंग प्राणशक्ति पूर्ण होता है, मुझे ज्ञान के साथ शक्ति प्राप्त होती है और मेरा जीवन उल्लासमय होता है। ज्ञान शून्य शक्ति व उल्लास तामस है; ज्ञान सहित उल्लास सात्विक है। सोम से यह सात्विक उल्लास प्राप्त होता है। इस उल्लास को प्राप्त व्यक्ति [**मधोः धारया अर्षन्ति**]=माधुर्य की धारा के साथ गति करते हैं। ये जिस भी व्यक्ति के संपर्क में आते हैं उसे मधुरता का ही अनुभव होता है। इनके व्यवहार में भी धारण शक्ति होती है—इनके व्यवहार से औरों का पोषण होता है। यहां धारा शब्द का प्रयोग इसलिए भी है कि जैसे जल की धारा न रुकते हुए, न चिपटते हुए, अनासक्ति से आगे और आगे बढ़ती जाती है, उसी प्रकार ये व्यक्ति भी अपने कार्यक्रम में आगे और आगे चलते जाते हैं। ये किसी भी चीज़ से बद्ध नहीं होते—ये 'अ-सित' हैं, समझदार होने से 'काश्यप' और दिव्यगुणों वाले होने से 'देवल' है।

भावार्थ—मैं मधु की धारा से बहता चलूं।

ब्रह्म-चर्य Aspiring to be great

१ २ १ २ ३ १र २र ३ १ २र
परि प्रासिष्यदत् कविः सिन्धोरूर्मावधि
२ २ ३ १र २र ३ १ २
श्रितः। कारुं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् ॥१०॥
॥४८६॥

[**कविः**]=यह क्रान्तदर्शी सोम [**परिप्रासिष्यदत्**]=मेरे जीवन में चारों ओर बहता है। मुझे तत्व को जानने वाली दृष्टि प्राप्त होती है और मेरी प्रत्येक इन्द्रिय गहराई तक पहुंचने वाली होती है। यह सोम [**सिन्धोः**]=सारे रुधिर प्रवाह को बहाने वाले मानस सरोवर में [**ऊर्मौ**]=भावना की तरंगों से [**अधिश्रतः**]=सेवित होता है। अर्थात् इस सोम के कारण मेरे मानस में ऊंची-ऊंची भावनाओं की तरंगें उठती हैं। वस्तुतः जिस व्यक्ति का हृदय तरंगित नहीं होता वह कोई महान् कार्य भी तो नहीं कर पाता। सोम मनुष्य के मस्तिष्क को तीव्र ज्ञान की ज्योति वाला बनाता है तो उसके हृदय को ऊंचे-ऊंचे संकल्पों से भर देता है। ये ज्ञान और संकल्प मिलकर उसे महान् कार्यों के करने के योग्य करते हैं।

वस्तुतः यह सोम उसी पुरुष का [**बिभ्रत्**]=धारण करता है जोकि (१) [**कारुम्**]=शिल्प पूर्ण प्रकार से चीज़ों का करने वाला होता है और [**पुरुस्पृहम्**]=महान् स्पृहा वाला होता है। 'कार्यों को कुशलता से करते चलना, और एक ऊंचे लक्ष्य वाला होना' ये दोनों बातें सोम के धारण में सहायक होती हैं। ऊंचे लक्ष्य की ओर चलना ही 'ब्रह्म-चर्य' है—बड़े की ओर चलना। 'अति समं क्राम'—'आगे लांघ जा' यह वेद का आदेश है।

'बहुलाभिमानः'—तेरे में गौरव की भावना हो। यह भावना संयम के लिए सहायक हो जाती है। महत्वाकांक्षा के न होने पर ब्रह्मचर्य व संयम कठिन है।

भावार्थ—मैं कारु व पुरुस्पृह बन कर सोम का धारण करूं।

* * *

अथ षष्ठः प्रपाठकः

(प्रथमोऽर्धः)

।। १ ।। ऋषिः—१, ८, ९ अमहीयुः; २ बृहन्मतिः आङ्गिरसः; ३ जमदग्निः; ४ प्रभूवसुः; ५ मेध्यातिथिः; ६, ७ निध्रुविः काश्यपः; १० उचथ्यः ।। देवता—पवमानः सोमः ।। छन्दः—गायत्री ।। स्वरः—षड्जः ।।

देव-लोग

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
१ २ ३ १ २
इन्दुं देवा अयासिषुः ।।१।।४८७।।

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'अमहीयु'=पार्थिव भोगों की कामना न करने वाला कहता है कि [**उप**]=समीपता से [**उ**]=निश्चयपूर्वक [**सु**]=उत्तम प्रकार से [**जातं**]=विकास करने वाले [**इन्दुं**]=सोम को [**देवाः**]=देव लोग [**अयासिषुः**]=प्राप्त करते हैं। यदि एक बालक पांच वर्ष तक माता की, आठ वर्ष तक पिता की व चौबीस वर्ष तक आचार्य की भी समीपता में निवास करता है और उसके बाद भी गृहस्थ बनने पर विद्वान् अतिथियों के सान्निध्य को प्राप्त करता है और प्रातः सायं प्रभु की उपासना करता है तो उस व्यक्ति का जीवन संयम-प्रवण रहता है और सोम उसके शरीर में व्याप्त होकर उसके उत्तम निवास का कारण बनता है। यह सोम [**गोभिः**]=ज्ञानप्रद वेदवाणियों के साथ [**अप्-तुरम्**]=उसके अन्दर कर्मों को त्वरा से-शीघ्रता से-कराने वाला होता है। मंत्र संख्या ४८२ में इन्हें 'शुक्रासः' कहा गया था—यह शीघ्रता से कार्य कराने वाले हैं। सोमी पुरुष को आलस्य नहीं व्यापता। नहीं काम-क्रोध आदि वासनायें उसके मार्ग में विघातक होती हैं। यह [**भंगम्**]=कामादि का आमर्दन करने वाला है—उन वासनाओं को कुचल डालने वाला है। और इस प्रकार [**परिष्कृतम्**]=यह जीवन को बड़ा परिष्कृत-शुद्ध बनाने वाला है।

एवं सोम के सुरक्षित होने पर जीवन में निम्न परिणाम उत्पन्न होते हैं। (१) उत्तम विकास। (२) ज्ञानपूर्वक शीघ्रता से कार्यों को करने की शक्ति। (३) वासनाओं का भंग। (४) और जीवन का परिमार्जन। इस प्रकार जीवन को उत्तम बनाने वाले इस सोम को प्राप्त वे ही करते हैं जो कि 'देवाः'=देव बनने का प्रयत्न करते हैं। 'देव बनना' यदि मेरे जीवन का लक्ष्य हो जाता है। इस ऊंचे ध्येय के कारण मुझे हीनाकर्षण नहीं सताता और मैं सोम का संयम करने में **समर्थ** बनता हूं। बिना 'पुरुस्पृह' बने कभी सोम की रक्षा

होती है ? और 'देव' बनने से बढ़कर ऊंचा लक्ष्य हो भी क्या सकता है ?

भावार्थ—देव बनने का निश्चय करूं।

ध्यान के द्वारा

३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
पुनानो अक्रमीदभिः विश्वा मृधो विचर्षणिः।
३ २ ३ १ २ ३ १
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभः ॥२॥४८८॥

[**पुनानः**]=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुवा यह सोम [**विचर्षणिः**]=बहुत सूक्ष्म दृष्टि वाला—तत्व ज्ञान की दृष्टि को उत्पन्न करने वाला—[**विश्वा मृधः**]=सब अन्दर घुस आने वाली कुचल डालने वाली (मृध्=murder) काम क्रोधादि वृत्तियों को [**अभि अक्रमीत्**]= आक्रान्त करता है। सोम की रक्षा से हमारा जीवन पवित्र होता है। वह सोम रोग कृमियों पर आक्रमण करके हमारे शरीरों को स्वस्थ बनाता है और वासनाओं पर आक्रमण करके हमारे मनों को निर्मल बनाता है। बुद्धि की कुण्ठता को दूर करके बुद्धि को यह तीव्र बनाता है। एवं यह सोम 'वि-प्र' है—हमारा विशेष रूप से पूरण करने वाला है। इस [**वि प्रम्**]=विशेष रूप से पूरण करने वाले सोम को देव लोग [**धीतिभिः**]=ध्यान के द्वारा [**शुम्भन्ति**]=अपने शरीर में सुशोभित करते हैं। इस सोम के शरीर में सुरक्षित रखने का वस्तुतः सर्वमहान् उपाय प्रभु का ध्यान ही है। सदा प्रभु का चिन्तन करने वाला व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता और सोम को सुरक्षित कर पाता है। इसकी रक्षा से यह बड़ी तीव्र बुद्धि वाला बनता है—'**सो** बृहन्मति' कहलाता है और शक्तिशाली बनने से 'आंगिरस' होता है।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु का स्मरण करने वाला बनं।

सोम का धारण करते हैं

३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र
आविशन् कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि
२र १ ३ १र २
श्रियः। इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥३॥४८९॥

इस मानवशरीर में १६ कलाओं का निवास है। अतएव पुरुष को 'षोड़शी' कहा जाता है। 'कलाः शेरते अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से शरीर 'कलश' है। [**सुतः**]=उत्पन्न हुवा-हुवा यह सोम [**कलशं**]=इस शरीर में [**आविशन्**]=समन्तात् प्रवेश करता हुवा या व्याप्त होता हुवा [**विश्वाः**] =सम्पूर्ण [**श्रियः**]=श्रियो—उत्तमताओं-शोभाओं को [**अभि अर्षन्**]=प्राप्त कराता है। वस्तुतः सोम स्वयं १६ कलाओं में केन्द्रीभूत महत्वपूर्ण कला है। इसके ठीक होने पर अन्य सब कलायें ठीक होती हैं—शरीर का अंग-प्रत्यंग शोभामय होता है :

[**इन्दुः**]=यह अंग-प्रत्यंग को शक्तिशाली बनाने वाला सोम [**इन्द्राय**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए [**धीयते**]=धारण किया जाता है। अर्थात् इस सोम का धारण इन्द्र ही करता है—वही व्यक्ति करता है जो कि इन्द्रियों का दास नहीं बन जाता। 'जीभ ने चाहा और हमने खाया' ये वृत्ति हमें सोम धारण के योग्य नहीं बनाती, मैं इन्द्र बनता हूं—सोम का धारण करता हूं और परिणामतः 'जमदग्निः'=ठीक पाचन शक्ति वाला बना रहता हूं और मेरी सब शक्तियों का परिपाक भी ठीक होता है सो 'भार्गव' होता हूं।

भावार्थ—इन्द्र=जितेन्द्रियं बनकर सोम का धारण करूं।

लक्ष्य की ओर

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ २
असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः।
१ २ ३ १ १
कार्ष्मन् वाजी न्यक्रमीत् ॥४॥४९०॥

[**यथा**]=जैसे [**रथ्यः**]=रथ में जोतने योग्य उत्तम घोड़ा होता है उसी प्रकार इस शरीर रूप

रथ में यह सोम **[असर्जि]**=जोता गया है। घोड़े के उत्तम होने पर यात्रा की पूर्ति की बड़ी आशा होती है, इसी प्रकार शरीर में सोम के होने पर हमारी जीवन-यात्रा पूर्ण हो जाया करती है। यह सोम **[पवित्रे]**=हृदय की पवित्रता के निमित्त **[सुतः]**=उत्पन्न किया गया है। शरीर में सोम के होने पर ईर्ष्या द्वेष आदि कलुषित भावनायें मन में उत्पन्न नहीं होती—मन निर्मल बना रहता है। यह सोम **[चम्वोः]**=चमुओं के निमित्त **[सुतः]**=उत्पन्न किया गया है। (चम्वोः-द्यावा-पृथिव्यौ) निघण्टु में 'चमू' नाम द्यावापृथिवी का है। जिस प्रकार दो सेनायें एक दूसरे का आह्वान करती हुई एक दूसरे के सामने खड़ी होती हैं (क्रन्दसी) उसी प्रकार ये द्युलोक व पृथिवी लोक हैं। इस पिंड में ये मस्तिष्क व शरीर के रूप में हैं—"पृथिवी शरीरम्, द्यौः मूर्धा"। सोम शरीर को दृढ़ बनाता है और मस्तिष्क को उग्र-तेजस्वी।

इस प्रकार मन को पवित्र, शरीर को दृढ़, व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता हुवा यह वाजी=सोम, सतत गति वाला होता हुवा **[कार्ष्मन्]**=(The goal of a raeecouree)=लक्ष्य स्थान पर पहुंचता है और **[नि]**=निश्चय से **[अक्रमीत्]**=पहुंचता है। 'सोम हमारे जीवन यात्रा के लक्ष्य पर हमें पहुंचाता है' यह सोम का कितना महान् लाभ है। उस लक्ष्य स्थान पर पहुंच कर हम 'प्रभु' रूप वसु=सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं और इससे बढ़ कर और अधिक उत्कृष्ट सम्पत्ति क्या हो सकती है? प्रभु की समीपता में अपने जीवन में शक्ति का अनुभव करता हुवा यह 'आंगिरस' होता है।

भावार्थ—सोम के संयम से 'पवित्र मन, दृढ़ शरीर व उज्ज्वल मस्तिष्क' बनकर मैं जीवन के लक्ष्यस्थान पर पहुंचने वाला बनं।

काले आवरण को हटाते हुए

२उ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः।
१ २ ३ २उ ३ १ २
घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ।।५।।४६१।।

[यद्]=जब **[गावोन]**=गौवों के समान या वेदवाणियों के समान **[भूर्णयः]**=भरण करने वाले ये सोम **[प्र अक्रमुः]**=गति करते हैं तो **[कृष्णां त्वचम्]**=काले आवरण को-परदे को-**[अपघ्नन्तः]**=नष्ट करते हुए गति करते हैं। सोम हमारे जीवन के भरण करने वाले हैं, उसी प्रकार जैसे कि गौवें। गौवों का दूध हमारे शरीर को नीरोग, मन को सात्विक तथा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है। वेदवाणियां भी हमारे जीवन के पोषण में पर्याप्त स्थान रखती हैं—इसी प्रकार सोम हमारा भरण करने वाले हैं। **[त्वेषाः]** ये दीप्ति वाले हैं—इनके कारण हमारा जीवन-मार्ग प्रकाशमय बना रहता है। **[अयासः]**=ये निरन्तर गतिवाले हैं। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर मनुष्य थकता नहीं। अनथक रूप से निरन्तर आगे और आगे बढ़ता चलता है। मार्ग में आनेवाली रुकावटों को यह दूर करता जाता है। ये रुकावटें ही ज्ञान के आवरण हैं। काम क्रोध लोभादि आवरण काली त्वचा के रूप में हैं—सोम इनका नाश कर देता है। विघ्नों के दूर हो जाने पर, यात्रा को पूर्ण करके यह उस मेध्य=पवित्र प्रभु का 'अतिथि' बनता है। इसका नाम मेध्यातिथि हो जाता है। यह ऐसा एक-एक कदम चलते-चलते कण-कण करके बन पाया है सो इसका नाम 'काण्व' है।

भावार्थ—हम सोम का धारण करें। ये हमारा धारण करेंगे, हमारे मार्ग को प्रकाशमय बनायेंगे, हम अनथक रूप से आगे बढ़ेंगे। सब विघ्न-बाधाओं को पार कर जायेंगे।

अदेवयु का नोदन

(Giving of a shock to अदेवयु)

३ १ २ ३ १२ ३१ २ ३ २
अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित् सोम मत्सरः ।
३१र २ २र ३ १ २
नुदस्वादेवयुं जनम् ॥६॥४६२॥

'निध्रुविः'=निश्चय से स्थिरता की मनोवृत्ति वाला काश्यप=ज्ञानी कहता है कि ऐ [**सोम**] ? =तू [**मृधः**]=कतल करने वाले कामादि को [**अपघ्नन्**]=नष्ट करता हुवा [**पवसे**]=हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है। कामादि वासनाओं को तू नष्ट करता है और उनके स्थान में [**क्रतु-वित्**=उत्तम कर्म संकल्पों को व यज्ञिय भावनाओं को प्राप्त कराता है (विद्-लाभे)। वासना की समाप्ति व भावना के उदय से यह सोम [**मत्सरः**] =आनन्द व उल्लास का जनक है।

ऐ सोम ? [**अदेवयुं**]=देव की ओर न जाने वाले--प्रभु की कामना न करने वाले [**जनं**]= मनुष्य को [**नुदस्व**]=एक धक्का लगा-उसे कुछ ऐसी प्रेरणा कर कि वह भोग की वृत्ति को छोड़ कर आत्मा की ओर झुकाव वाला बने। आत्मा की ओर झुक जाने पर इसकी चित्तवृत्ति डांवाडोल नहीं रहती—यह 'स्थित प्रज्ञ' सा बन जाता है- 'निध्रुवि' हो जाता है। वस्तुतः स्थित प्रज्ञ बनना ही ऊंचा ज्ञानी बनना है—'काश्यप' होना है।

भावार्थ—सोम (१) मेरी वासना को समाप्त करता है। (२) यज्ञिय भावना को मेरे में जन्म देता है। (३) उल्लास का कारण होता है और (४) मुझे 'देवयुः'—आत्मप्रवण बनाता है।

मानव हितकारी कर्म

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।
३ १र २र ३ २
हिन्वानो मानुषीरपः ॥७॥४६३॥

ऐ सोम तू [**अया**]=(अनया)=इस [**धा-रया**]=धारण शक्ति से [**पवस्व**]=मेरे अन्दर बह या मेरे जीवन को पवित्र कर [**यया**]=जिससे तू [**सूर्यम्**]=मेरी चक्षु को (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा) [**अरोचयः**]=दीप्त करता है। सोम से जीवन का धारण तो होता ही है। जीवन के धारण के साथ इस सोम के पान से मनुष्य की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और उसका दृष्टिकोण ठीक हो जाता है। प्रत्येक वस्तु को ठीक रूप में देखने के कारण वह किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं होता और नां ही किसी भी प्राणी के साथ द्वेष की भावना वाला होता है। दृष्टिकोण के ठीक करने के द्वारा ही यह [**'मानुषीः'**]=मानव हितकारी [**अपः**]=कर्मों को [**हिन्वानः**]=प्रेरित करता है। वस्तुतः दृष्टिकोण की विकृति ही मनुष्य को स्वार्थपूर्ण—केवल अपने प्राण पोषण के कर्मों में उलझाये रखती है। सोम के संयम का यह परिणाम है कि हमारा दृष्टिकोण ठीक बनता है और हम परार्थ में ही स्वार्थ को सिद्ध होता देखते हैं। हमें परहित के कार्यों में रस आने लगता है।

भावार्थ—सोम (१) जीवन का धारण करता है—हमें दीर्घायुष्य बनाता है, (२) हमारी चक्षु को दीप्त कर–हमारे दृष्टिकोण को ठीक करता है (३) हमारा झुकाव लोकहित के कार्यों में हो जाता है।

महान् कर्मों का वरण

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे । वव्रि-
१ २ ३ २ ३ २
वांसं महीरपः ॥८॥४६४॥

ऐ सोम ? [**सः**]=वह तू [**पवस्व**]=मेरे जीवन को पवित्र बना [**यः**]=जो तू [**आविथ**]= मेरी रक्षा करता है। यह सोम मुझे काम क्रोध आदि वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। सोमी पुरुष न क्रोध करता है न ईर्ष्यालु होता है। यह सोम [**इन्द्रं**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को

[आविथ]=(अव भागदुधे) दिव्य शक्ति के भाग--अंश-से पूरित करता है ताकि यह इन्द्र [**'वृत्रायहन्तवे**]=ज्ञान के आवरणभूत वृत्र-काम-को नष्ट कर सके।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि 'यह प्रभु की दिव्य शक्ति का अंश प्राप्त किसे होता है ?' इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि [**'महीः अपः ववि्रवांसम्**]=महान् अथवा महनीय-प्रशंसनीय-कर्मों का वरण करने वाले इन्द्र को यह दिव्यशक्ति प्राप्त हुवा करती है। जो भी व्यक्ति अपने जीवन में किसी महान् कर्म के करने की प्रेरणा लेता है और उसी को मूर्तरूप देने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है उसी व्यक्ति को प्रभु का यह दिव्यांश प्राप्त हुवा करता है। यह व्यक्ति महान् उद्देश्य से चलने के कारण पार्थिव भोगों में कभी फंसता नहीं —उनकी ओर इसका झुकाव ही नहीं होता, और इसलिए इसे 'अ-मही-यु'=पार्थिव भोगों को न चाहने वाला कहा गया है। शक्तियों के जीर्ण न होने से यह 'आंगिरस' है।

भावार्थ—मैं महान् कर्म को अपना लक्ष्य बनाऊं ताकि मेरे में दिव्यशक्ति का अवतरण हो।

नवतीर्नव का हनन या परमगति की प्राप्ति

३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २
अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा।
३ १ २ ३ १र २र
अवाहन्नवतीर्नव ॥९॥४९५॥

ऐ [**इन्दो**]=शक्ति के देने वाले सोम ? [**अया**]=(अनया)=इस [**वीती**]=मार्ग से [**परिस्रव**]=मेरे अंग-प्रत्यंग में तू प्रवाहित हो [**यः**]=जो [**ते**]=तेरा यह स्रवण-प्रवाह—[**आ**]=चारों ओर सब अंगों में [**मदेषु**]=मदों के निमित्त होता है। सोम के शरीर में व्याप्त होने पर जीवन उल्लासमय बनता है। यह सोमी पुरुष [**नवतीः**] =(नवगतौ) गतिमय-चञ्चल- [नव]=पांच ज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण चतुष्टय को (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) [**अवाहन्**]=दूर नष्ट कर देता है। चञ्चलता के हनन से चंचल इन्द्रियों का हनन हो जाता है। शत्रुता के नाश से शत्रु के मित्र बन जाने पर शत्रु नष्ट हो जाता है। चंचलता के नष्ट हो जाने पर ये नवती=अत्यन्त अस्थिर इन्द्रियां भी नष्ट हो जाती हैं और उनके स्थान में अवस्थित इन्द्रियों व मन का उदय होता है। 'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह, बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमांगतिम्'=इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार यही परमगति है। अमहीयु पुरुष ही इस परमगति को जानता है। पार्थिव भोगों की कामनायें तो मनुष्य को अत्यन्त चंचल बनाये रहती हैं।

यहां 'नव' से ५ ज्ञानेन्द्रियां व ५ कर्मेन्द्रियों का भी ग्रहण हो सकता है। इसमें वाक् या जिह्वा ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में समान होने से वस्तुतः संख्या ९ ही है।

भावार्थ :—मेरा जीवन सोम के द्वारा उल्लासमय हो और इन अस्थिर इन्द्रियों को स्थिर करने वाला बनूं।

सच्चे स्तोता की सम्पत्ति

१ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
परि द्युक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा।
३ १ २ ३ २ ३ २
स्वानो अर्ष पवित्र आ ॥१०॥४९६॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'उचथ्य आंगरिस' है=उत्तम स्तोता जो कि शक्ति संपन्न है। यह प्रभु से आराधना करता है कि [**नः**]=हमारे में [**अन्धसा**]=आध्यायनीय सोम के द्वारा [**रयिं**]=सम्पत्तिको [**परिसनत्**]=अंग-प्रत्यंग में प्राप्त कराईये। कौन सी सम्पत्ति को ? जो कि (१) **द्युक्षम्**=ज्ञान में निवास करने वाली है। और (२) [**भरद्वाजं**]=हमारे में शक्ति का भरण करने वाली है।

इस प्रकार स्तोता की सम्पत्ति का चित्रण इन शब्दों में हुआ है कि 'वह प्रकाशमय है, और

शक्ति से पूर्ण है।' आदर्श मनुष्य भी तो यही है जो कि एक पहलवान के शरीर में ऋषि की आत्मा को रखता है। प्रकाश और शक्ति का चयन करने वाला ही सच्चा स्तोता है। इन दोनों ही तत्वों का सोम मूल है। इसलिये यह स्तोता सोम को अन्धस्= आध्यायनीय=मानता है। यह सोम से कहता है कि [**'स्वानः'**]=उत्तम प्रकार से मुझे प्राणित करने वाला तू सब प्रकार से ध्यान देने योग्य तू पवित्रे=पवित्रता के निमित्त [**आ अर्ष**]=समन्तात् गति कर। यह कहता है कि सोम इसके अंग-प्रत्यंग में व्याप्त हो और उसके द्वारा इसका शरीर पवित्र होकर प्राणित हो उठे। यदि मैं अपने जीवन को इस प्रकार का बनाता हूं तभी मैं प्रभु का सच्चा स्तोता होता हूं।

भावार्थ—मैं ज्ञान, शक्ति, प्राणों के बल व पवित्रता को ही सम्पत्ति समझूं।

* * *

॥ २ ॥ ऋषिः—१ मेधातिथिः; २, ७ भृगुः; ३ उचथ्यः; ४ अवत्सारः; ५ निध्रुविः काश्यपः; ६, १० असितः; ८, ९ कश्यपो मारीचः; ११ कविः; १२ जमदग्निः; १३ अयास्य आङ्गिरसः; १४ अमहीयुः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सूर्य के समान

१२ ३ २ ३ १२३ २ ३ १र २र ३ २
अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान् मित्रो न दर्शतः।
१र २र
सं सूर्येण दिद्युते ॥१॥४९७॥

सोम [**'अचिक्रदत्'**[=पुकारता है—पुकार कर मंत्र के ऋषि 'मेधातिथि' से कहता है कि कुछ मुझे अपनाकर तो देखो। देखो कि मैं किस प्रकार (१) [**वृषा**]=तुम्हारे लिये सुखों का वर्षक होता हूँ। किस प्रकार तुम्हें शक्ति सम्पन्न (वृष) बनाता हूँ। (२) [**हरिः**]=मैं तुम्हारे दुःखों का हरण करने वाला हूं—सब मलिनताओं को दूर भगाने वाला हूं। तुम्हारे शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाता हूं तो मन को निर्मल। (३) [**महान्**] मैं तेरे हृदय को (मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति से परिपूर्ण करके [**महान्**]=उदार बनाता हूं। (४) [**मित्रो न दर्शतः**]=मेरे द्वारा तू सूर्य के समान दर्शनीय होता है—तेजस्वी बनता है। सूर्य 'मित्र' है—मृत्यु से बचाने वाला है। यह सोम भी सूर्य की तरह ही रोगों से बचाकर मृत्यु से बचाता है और हमें सूर्य के समान तेजस्वी करता है।

इस सोम के द्वारा यह मेधातिथि [**सूर्येण**]=(सूर्यः चक्षुः) अपनी चक्षु से—दृष्टिकोण से—[**संदिद्युते**]=सम्यक् चमकता है। सोमी पुरुष का दृष्टिकोण बड़ा सुन्दर होता है। दृष्टिकोण की सुन्दरता इसके लिये संसार को भी सुन्दर बना देती है। यह संसार में ठीक दृष्टिकोण से चलता है—समझदारी से चलता है। मेधा के साथ चलने से यह 'मेधातिथि' कहलाता है। कण-कण करके इसने इस मेधा का संचय किया है सो यह 'काण्व' है।

भावार्थ—सोम मेरे दृष्टिकोण को सुन्दर बनाये।

दक्षता=कुशलता

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणोमहे।
२ ३ १ २ ३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥२॥४९८॥

गत मंत्र का मेधातिथि 'भृगु'=तपस्या के द्वारा अपना परिपाक करने वाला बनता है—तपस्या से

परिपक्व होकर ही तो यह मेधा का संचय करने वाला ज्ञानी बनेगा। यह हृदय को पवित्र करके अथवा अपने को व्रतों के बन्धनों में बांध करके 'वारुणि' होता है और यही मेधातिथि खाने-पीने में भी ठीक दृष्टिकोण होने के कारण 'जमदग्नि' बनता है। यह प्रभु से कहता है कि हम [**अद्या ते**] =आज ही आपके इस सोम का [**आवृणीमहे**]= सर्वथा वरण—चुनाव - करते हैं। इस सोम को ही सुरक्षित करने का ध्यान करते हैं, जो कि (१) [**दक्षं**]= मुझे दक्ष—चतुर कार्य-कुशल बनाता है। मैं संसार में भोंदूपन से नहीं चलता। यह भोंदूपन सरलता थोड़े ही है। 'मैं किसी को धोखा न दूं' यह तो ठीक है पर यह भी आवश्यक है कि मैं किसी के धोखे में आ न जाऊं। मैं संसार में नीति से चलूं। कहीं मैं दक्षता व कार्यकुशलता को छोड़कर 'देवानां—प्रिय' ही न हो जाऊं। (२) मैं उस सोम का वरण करूं जो कि [**मयोभुवं**]= स्वास्थ्य के सुख को उत्पन्न करने वाला है। सोम के संयम से मैं सब रोगों का अभिभव कर पाता हूं। रोगों से दूर हो स्वास्थ्य सुख का अनुभव करता हूं। (३) [**वन्हि**]=यह सोम मुझे सब विघ्न-बाधाओं से और अन्त में संसार से पार ले जाने वाला है (वह्=to carry)। सोम से मनुष्य में शक्ति उल्लास व ऐसे उत्साह का संचार होता है कि पहाड़ जैसे विघ्नों से भी व्याकुल नहीं होता। (४) [**पान्तम्**] =यह सोम मेरी रक्षा करता है। सोम मुझे रोगों का शिकार तो होने ही नहीं देता—प्रलोभनों का शिकार होने से भी बचाता है—इससे मेरे मन में ईर्ष्या द्वेष आदि भी उत्पन्न नहीं होते। (५) [**आपुरुस्पृहम्**]=यह सोम मेरे अन्दर महान् स्पृहा को जन्म देता है। मेरे अन्दर महान् कार्य को कर जाने की भावना उत्पन्न होती है। वस्तुतः यह 'पुरुस्पृहता' प्रलोभनों से बचने में भी तो सहायक बनती है।

भावार्थ—सोम मुझे दक्षता प्राप्त कराता है—मैं संसार में उत्कृष्टस्पृहा वाला बनता हूं।

उत्तेजना से दूर

१ २३ १२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ नय।
३ १ २ ३ १ २
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥३॥४९९॥

ऐ [**अध्वर्यो**]=हिंसा की भावना से दूर रहने वाले स्तोतः ? [**सोमं**]=तू सोम को [**आनय**] =समन्तात् अपने शरीर में प्राप्त करा। वस्तुतः सोम को शरीर में सुरक्षित रखने के लिए अध्वर्यु =हिंसादि की भावनाओं से ऊपर उठना आवश्यक है किसी भी प्रकार की उत्तेजना 'सोम-रक्षा' के लिए विघातक है। 'शोक-मोह-क्रोध' सभी ब्रह्मचारी के लिए इसी से वर्जित हैं। यह सोम ['**अद्रिभिः**']=अद्रियों-पाषाणों के हेतु से [**सुतं**] उत्पन्न किया गया है। 'अश्माभवतुनस्तनूः' इस अथर्ववाक्य के अनुसार पाषाण तुल्य दृढ़ शरीर का ही यहां 'अद्रि' शब्द से संकेत है। सोम की रक्षा से शरीर वज्रतुल्य बनता ही है। इस सोम को [**पवित्रे**]=पवित्रता के निमित्त हमें शरीर में प्राप्त कराना चाहिए। यह स्थूल शरीर में से रोगरूप मलों को दूर करता है—मन के द्वेषादि मलों को हरता है बुद्धि की कुण्ठता को भगाता है।

ऐ सोम ? तू [**पुनाहि**]=पवित्र कर और [**इन्द्राय**]=इस जीवात्मा के [**पातवे**]=रक्षा के लिये हो। सोम के संयम से अपने को पवित्र बनाकर—प्रलोभनों से अपने को सुरक्षित करके यह सचमुच प्रभु का उत्तम स्तोता 'उचथ्य' बनता है। भोगासक्ति के अभाव में यह 'आंगिरस' होता है। वस्तुतः आंगिरस=शक्तिशाली पुरुष ही उत्तेजना से दूर व 'अध्वर्यु' बनता है और सोम की और अधिक रक्षा कर पाता है।

भावार्थ—मैं सब प्रकार की उत्तेजनाओं से दूर रह कर सोम पान करने वाला बनूं।

तैरते हुए

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
२ ३ २ ३ १ २
तरत् स मन्दी धावति ॥४॥५००॥

जो व्यक्ति सोम की जो कि सारे भोजन का सार है रक्षा करता है वह 'अवत्सार' कहलाता है यह ज्ञानी='काश्यप' तो है ही । [**सः**]=वह संसार में आने वाली विघ्न-बाधाओं को [**तरत्**]=तैरता हुवा [**मन्दी**]=उल्लास वाला [**धावति**]=दौड़ता चलता है। 'धाव्' धातु के दोनों अर्थ हैं (१) गति (२) और शुद्धि । यह मार्ग में आने वाले विघ्नों का शोधन-सफाया-करता है और आगे बढ़ता हैं। यह उन विघ्नों को दौर्भाग्य समझकर उनका रोना नहीं रोने लगता । यह [**सुतस्य**]=उत्पन्न हुए हुए [**अन्धसः**]=सर्वथा ध्यान देने योग्य सोम की [**धारा**] (धारया)= धारणा शक्ति से आगे और आगे बढ़ता चलता है। ज्ञानी है, आपात रमणीय विषयों के सौन्दर्याकर्षण को समझता है, उनका प्रयोग करता हुआ भी उनमें उलझता नहीं। 'सोम की रक्षा' को अपने जीवन का आदर्श वाक्य बनाता है और इसीलिए भोगप्रवण इसका जीवन नहीं होता । [**सः**]= वह तो [**तरत्**]=तैरता हुवा तेजी से [**मन्दी**]= सदा उत्साह में स्थित [**धावति**]=आगे बढ़ता ही चलता है।

भावार्थ—(१) तैरते हुए (२) उत्साह में कमी न आने देते हुए (३) आगे और आगे बढ़ता चलूं ।

उल्लास व शक्तिमयी सम्पत्ति

१ २ ३ १ २ ३.१ २ ३ १ २
आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्य्यम् ।
३ १र २र
अस्मे श्रवांसि धारय ॥५॥५०१॥

ऐ [**सोम ? रयिं आपवस्व**]=मुझे उस सम्पत्ति को सर्वथा प्राप्त कराइये जो कि [**सहस्रिणं**]=मेरे जीवन को सदा उल्लासवाला बनाती है और [**सुवीर्यम्**]=मुझे उत्तम शक्ति वाला करती है। सम्पत्ति और समृद्धि शब्दों में यह अन्तर है कि समृद्धि जहां बाह्य वस्तु है वहां संपत्ति आन्तर वस्तु है। यह सम्पत्ति 'तेज-वीर्य-वल-ओज-मन्यु-वह सहस्' शब्दों से सूचित होती है और क्रमशः अन्नमयादि कोशों को अलंकृत करती है। सोम वस्तुतः इस सम्पूर्ण सम्पत्ति का मूल है। यहां वीर्य व सहस् दो का ही संकेत प्रतीक रूपेण है। सोम से तो सारी सम्पत्ति प्राप्त होती है। मेरे में यह सोम उत्तम वीर्य को उत्पन्न करता है तो साथ ही मेरे में यह सहनशक्ति को जन्म देकर मेरे उल्लास का भी कारण बनता है।

शक्ति और सतत प्रसाद को प्राप्त कराके ऐ सोम ? तू [**अस्मे**]=हमारे में [**श्रवांसि धारय**]=ज्ञानों व यशों को धारण कर। मेरे जीवन से ऐसे ही कार्य हों जोकि कीर्तिकर हों। वस्तुतः संयमी पुरुष का जीवनक्रम इस प्रकार सुन्दरता से चलता है कि शत्रु भी उसका यशोगान करते हैं। इसके जीवन में ऐसी एक स्थिरता होती है कि सभी उससे प्रभावित होते हैं। यह 'नि-ध्रुवि'=ध्रुव बुद्धि वाला—स्थितप्रज्ञ-होता है। सदा ज्ञानमार्ग से विचरण करने वाला 'काश्यप' होता है।

भावार्थ—सोम हमें सदा उल्लासमय-शक्तिशाली-ज्ञानी व उत्तम कीर्ति वाला बनाता है।

पुनर् यौवन (नव यौवन)

१ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः ।
३ १ ३ ३ १ २
रुचे जनन्त सूर्यम् ॥६॥५०२॥

इस सोम के संयम से [**रुचे**]=कान्ति व शोभा के लिये [**सूर्यम्**]=(सूर्यः=चक्षुः)=एक विशेष दृष्टिकोण को संयमी पुरुष अपने अन्दर [**'जनन्त'**]

उत्पन्न करते हैं। इस दृष्टिकोण का ही परिणाम होता है कि वे 'असित'=विषयों से अबद्ध रहते हैं—'काश्यप'=अपने ज्ञान को उत्तरोत्तर दीप्त करते हैं—'देवल'=दिव्य गुणों को अपने अन्दर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का जीवन बनाने से [**प्रलास आयवः**']=पुराण व बृद्ध होते हुए भी ये मनुष्य [**नवीयः पदं**]=अत्यन्त नवीन पद को -युवावस्था में—[**अनुअक्रमुः**]=शनैः-शनैः क्रमशः प्रवेश करते हैं। इनकी सब शक्तियां ठीक होकर ये फिर से नौजवान हो जाते हैं। सोम के संयम से मनुष्य धीमे-धीमे अधिकाधिक स्वस्थ होता चलता है और वस्तुतः यौवन को प्राप्त कर लेता है। आचार्य ने सोम को वह 'मंत्र-यंत्र-तंत्र माना है। जोकि सब रोगों का औषध है—वस्तुतः किसी रोग को शरीर के अन्दर आने ही नहीं देता। देवों की तरह मनुष्य कभी जीर्ण नहीं होता—अधिकाधिक युवा होता चलता है। वही स्तुत्यतम जीवन है। (नु-स्तुतौ, नवीयः स्तुत्यतम)।

भावार्थ—सोम का संयम 'पुनर्युवा' बनाने वाला है।

ऊध्र्व-गति

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्।
२ ३ २ ३ २ ३ २
सीदन् योनौ वनेष्वा ॥७॥५०३॥

ऐ [**सोम**]=तू [**द्युमत्तमः**]=मेरे जीवन को सर्वाधिक प्रकाशमय बनाने वाला है। सोम की ऊर्ध्वगति होकर यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और मेरी ज्ञानाग्नि दीप्त होकर मेरे जीवन को प्रकाशमय करती है। [**रोरुवत्**]=निरन्तर प्रभु के नामों का जय करता हुवा तू [**द्रोणानि अभि**] ऊर्ध्वगति का लक्ष्य करके [**अर्ष**]=प्रवाहित हो। 'द्रुम' (वृक्ष) शब्द में द्रुधातु है जोकि गतिवाचक है। वृक्ष में जैसे मूल में डाला हुवा जल ऊपर शिखर तक पहुंच कर पत्ते-पत्ते को हरा-भरा करने वाला होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगति वाला सोम मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को ही नहीं सभी अंशों को सबल बनाता है।

ऐ सोम ? तू [**योनौ**]=अपने उत्पत्ति स्थान इस शरीर में ही [**सीदन्**]=स्थित होता हुवा [**वनेषु**]=उत्तम संभजनीय वस्तुओं के निमित्त [**आ**]=समन्तात् शरीर में व्याप्त हो। यदि सोम शरीर में ही रहे, जहां कि वह उत्पन्न हुवा है, तो यह अपने धारक को सब सेव्य वस्तुओं का प्राप्त कराने वाला होता है। वस्तुतः शरीर में सोम उत्पन्न हुवा है, यही इसका धारण करने का सर्वोत्तम स्थान है। इसके धारण से उत्तमोत्तम गुणों की प्राप्ति होती है।

इसका धारण तप की अपेक्षा करता है—आरामपसन्दगी इसके लिए विघातक है। सो इसका धारण करने वाला 'भृगु' है—तपस्वी है, अपना परिपाक करने वाला है। उसका जीवन श्रेष्ठ होने से यह 'वारुणि' है। पूर्ण स्वस्थ होने से यह 'जमदग्नि' है—इसकी जठराग्नि दीप्त है।

भावार्थ—मैं प्रभु के नामों का जप करूं और 'ऊर्ध्वरेतस्' बनूं।

वर्षा-शक्ति-धर्म

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २
वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः।
२ ३ १ २
वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥८॥५०४॥

ऐ [**सोम**]=सोम' ? तू [**वृषा**]=हमारी सब कामनाओं का पूरक (अभिवर्षण) करने वाला होता हुवा [**द्युमान् असि**[=ज्योतिमर्य है—हमारे जीवनों को तू प्रकाशमय बनाता है। ऐ [**देव**]—हमारे जीवनों को ज्योतिर्मय करने वाले सोम ? तू [**वृषा**]=मुझे शक्तिशाली बनाता हुवा [**वृषव्रतः**]=शक्तिशाली कर्मों वाला करता है [**वृषा**] मेरी प्रवृत्ति को धर्म प्रवण करता हुआ तू

[**धर्माणि दध्रिषे**]=मेरे जीवन में धर्मों का धारण करने वाला होता है ।

सोम के संयम का पहला परिणाम मेरे जीवन में यह है कि मैं उत्तम इच्छाओं वाला होता हूं—मेरी वे इच्छायें सामान्यतः पूर्ण भी हो जाती हैं और मैं अपने जीवन में 'घृत-लवण-तण्डुल व इन्धन' की चिन्ता से ही परेशान नहीं रहता। परिणामतः यह चिन्ता मेरी बुद्धि को अव्यवस्थित करने वाली नहीं होती। दूसरा परिणाम यह होता है कि मैं शक्ति संपन्न होता हूं—मेरे सब कार्य शक्ति के चिह्नों को प्रकट करते हैं और मेरे कार्य निर्वीर्य व प्रभावशून्य नहीं होते। तीसरा परिणाम इस रूप में होता है कि मेरी प्रवृत्ति धर्म की ओर झुकी रहती है और यह प्रवृत्ति मेरे में धर्म के कर्मों के साधन का कारण बनती है। यह सुरक्षित धर्म मेरा भी धारण करता है ।

सोम मुझे द्युमान् तो बनाता ही है, सो मैं 'काश्यप' होता हूं । वासनाओं की अशुभ भावनाओं को समाप्त करने वाला होने से 'मारीच' बनाता हूं ।

भावार्थ—सोम मेरी अभिलाषाओं को पूर्ण करे, मुझे शक्तिशाली बनाये, तथा मेरी प्रवृत्ति को धर्म प्रवण करे ।

प्रभु-प्रेरणा श्रवण

३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।
१ २ ३ १र २र
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥९॥५०५॥

यह सोम मेरे जीवन में [**इषे**]= प्रभु की प्रेरणा के लिए [**पवस्व**]=पवित्रता को करे। सोम के धारण से वासनाओं का नाश होकर मेरा जीवन इस प्रकार पवित्र हो कि मुझे हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़े। यह सोम [**मनीषिभिः**] = मन को बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित करने वाले समझदार लोगों से [**धारया**]=धारण के उद्देश्य से [**मृज्यमानः**]=शुद्ध किया जाता है। मनीषी बनना—मन को बुद्धिपूर्ण रखना—सोम संयम का सर्वोत्तम साधन है। धारित होकर यह हमारा धारण करता है। [धारया]=धारण के हेतु से ही तो विद्वानों ने इसका संयम किया ।

[**इन्दो ?**]=ऐ मुझे शक्तिशाली बनाने वाले सोम ? तू [**रुचा**]=दीप्त के हेतु से [**गा अभि इहि**]=वेदवाणी की ओर चल। वेदवाणी 'ब्रह्म' है—इसकी ओर चलना 'ब्रह्मचर्य' है। वेदवाणी का अध्ययन मुझे सोम के संयम में भी सहायक होता है। इसी संयम से मैं प्रभु प्रेरणा को भी सुनने वाला बनता हूँ ।

भावार्थ—यह सोम मुझे पवित्रकर प्रभु प्रेरणा को सुनने के योग्य बनाता है ।

स्व-स्थ-ता

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः ।
२ ३ १ २ ३ २
अव्या वारेभिरस्मयुः ॥१०॥५०६॥

ऐ [**सोम ?**]=सोम ?तू [**मन्द्रयाधारया**]= उल्लासमयी धारण शक्ति के साथ [**वृषा**]=मेरे जीवन को शक्तिशाली बनाने वाला है । [**देवयुः**]=मेरे साथ दिव्यगुणों को जोड़ने वाला है। तू [**पवस्व**]=मेरे जीवन को पवित्र कर और मेरे में प्रवाहित हो । तू [**अव्या**]=रक्षण के द्वारा और [**वारेभिः**]=बुराइयों व रोगों के निवारण के द्वारा ['**अस्मयुः**[=हमें हमारे साथ जोड़ने वाला है। जब मैं अपने से जुड़ा होता हूं तो स्वस्थ' होता हूं । यह सोम मेरे स्वास्थ्य का कारण है—शारीरिक स्वास्थ्य का भी और मानस स्वास्थ्य का भी। वस्तुतः इस स्वास्थ्य के द्वारा ही यह मेरे उल्लास का कारण बनता है। रोगों के कृमियों का नाशक होने से यह मेरा धारण करता है। शक्ति का तो यह स्रोत ही है—स्रोस-

क्या ? शक्ति ही है (वृषा)। शक्ति संपन्न बना कर ही यह मेरे में दिव्यता को भरता है। virtue वीरत्व ही तो है। अशक्ति के साथ देवत्व का संबन्ध नहीं। यह सोम मेरी रोगों से भी रक्षा करता है, ईर्ष्या द्वेष से भी। रोगों का भी निवारण करता है, वासनाओं का भी। इस सारी प्रक्रिया के द्वारा यह हमें हमारे साथ जोड़ता है—हमें 'स्व-स्थ बनाता है। यह सोमी पुरुष 'असित' विषयों से अबद्ध, 'काश्यप'=ज्ञानी और देवलः=दिव्य गुणों का उपादान करने वाला होता है। सोम 'देवयु' तो है ही।

भावार्थ—सोम का संयम मुझे स्वस्थ बनाये।

सोम का महान सुकर्म

३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३क २र
अया सोम सुकृत्यया महान्त्सन्नभ्यवर्धथाः।
३ १र २र
मन्दान इद् वृषायसे ॥११॥५०७॥

गत मन्त्र का 'काश्यप' यहां 'कवि' है—यह क्रान्तदर्शी है, यह भार्गव=तपस्या से अपना परिपाक करने वाला है। यह सोम से कहता है कि ऐ [**सोम** ?]= ऐ सोम तू [**अया**[=इस [**सुकृत्यया**]=उत्तम कर्म के द्वारा—मेरे जीवन को उल्लासमय शक्तिशाली व दिव्य गुण युक्त बनाने के द्वारा—तू [**महान् सन्**]=(मह पूजायाम्) मुझे पूजा प्रवण बनाता हुवा [**अभि अवर्धथाः**]=सब दृष्टिकोणों से बढ़ाता है। संयमी पुरुष का जीवन प्रभु पूजा की ओर से बढ़ाता झुकाव वाला होता है और उसका जीवन शरीर मन व मस्तिष्क सभी दृष्टिकोणों से उन्नति वाला होता है।

ऐ सोम ? तू [**मन्दानः इद्**]=निश्चय से मुझे उल्लासमय बनाता हुवा [**वृषायसे**]=शक्तिशाली के रूप में मेरे जीवन में आचरण करता है। मेरा जीवन निर्बल नहीं होता। सब प्रकार की निर्बलता मेरे जीवन से दूर चली जाती है निर्बल व्यक्ति प्रभु को थोड़े ही पाया करता है, सब प्रकार की निर्बलता से दूर होकर आज मैं प्रभु के पाने के योग्य बना हूं।

भावार्थ—सोम के द्वारा मेरी सर्वांगीण उन्नति होती है।

सदा चेतन

३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति।
३२ १र २र ३ २
हिन्वान आप्यं बृहत् ॥१२॥५०८॥

[**अयं**]=यह सोम [**विचर्षणिः**]=मुझे विशेष रूप से द्रष्टा बनाता है। मैं क्रान्तदर्शी बनकर प्रत्येक चीज़ को उसके असली रूप मे देखता हूं। इसी का परिणाम है कि उस २ वस्तु की आपातरमणीयता मुझे उलझा नहीं पाती। इस प्रकार यह सोम [**हितः**]=मेरे लिए हितकर होता है। मेरा कल्याण इस सोम से सिद्ध होता है। [**पवमानः**]=यह मुझे पवित्र करने वाला है और [**सः**]=वह [**चेतति**]=चेतनामय है। इस सोम के संयम से मैं मोहमयी प्रमादमदिरा को पीकर बेसुध नहीं हो जाता, अपितु मेरी चेतना कायम रहती है। मोह से स्मृतिविभ्रम होकर बुद्धि व नाश प्रणाश हुआ करता है। चेतना के उपस्थित रहने पर मनुष्य विनाश के मार्ग पर जाता ही नहीं।

इस प्रकार यह सोम मुझे [**बृहत्आप्यं**]=उस सर्वमहान् प्राप्त करने योग्य प्रभु की ओर [**हिन्वानः**]=सदा प्रेरित करता हुवा होता है। प्राप्त करने योग्य वस्तु 'आप्यम्' है, सर्वोत्तम आप्य प्रभु हैं। उस सर्वोत्तम आप्य की प्राप्ति के लिए मुझे यह स्मृति सदा बनी ही रहनी चाहिए कि 'कोऽहं, किमिहागतः'=मैं कौन हूं, यहाँ क्यों आया हूं ? सोम इस चेतना को स्थायी रखता है और मुझे प्रभु दर्शन कराता है। प्रभु दर्शन के लिए दो बातें आवश्यक हैं—(१) शक्ति (२) चेतना।

गतमंत्र में सोम के लिये कहा था कि वृषायसे= यह मुझे शक्तिशाली बनाता है और प्रस्तुत मंत्र में कहा है कि सचेतति= यह मेरी चेतना को कायम रखता है। शक्ति का तत्व 'जमदग्नि' बनने में है, मेरी जाठराग्नि सदा तीव्र रहे—'जमत्+अग्नि' मैं बना रहूं। जाठराग्नि ठीक रहने पर ही सब धातुओं का ठीक उत्पादन होकर मेरी शक्ति स्थिर रहती है। चेतना के लिए 'भार्गव'=तपस्वी बनना है। मैं आराम पसन्द हुवा और मुझे मेरा उद्देश्य विस्मृत हुवा।

भावार्थ—'जमदग्नि भार्गव' बन कर 'शक्ति व चेतना' का सम्पादन करके मैं प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी बनता हूं।

अनथक

१ २ ३ १ २र ३ १र २र
प्र न इन्द्रो महे तु न ऊर्मि न बिभ्रदर्षसि।
३ २ ३ २ ३ १ २
अभि देवाँ अयास्यः ॥१३॥५०९॥

ऐ [**इन्दो ?**]=हमें शक्ति शाली बनाने वाले सोम ? तू [**नः**]=हमारे [**महे तुने**]=महनीय —प्रशंसनीय ज्ञान रूप धन के लिए [**ऊर्मि न बिभ्रत्**]=हृदय में तरंग-सी को धारण करता हुवा [**प्र अर्षसि**]=खूब गतिशील होता है। सोम के धारण से गम्भीर ज्ञान के लिए हृदय उस प्रकार उत्साह होता है जैसा कि समुद्र में तरंगें उमड़ती हैं।

ज्ञान प्राप्ति के अतिरिक्त यह सोम हमें निरन्तर [**देवांअभि**]=दिव्य गुणों की ओर ले चलता है। इससे हमारे अन्दर दैवी संपत्ति की वृद्धि होती है।

यह [**अयास्यः**]=अनथक होता है। संयमी पुरुष कभी थकता नहीं। उसके शरीर में शक्ति होती है जो उसे निरन्तर कार्य करने समर्थ बनाती है।

सोम का मस्तिष्क पर परिणाम गम्भीर ज्ञान के लिए सामर्थ्य है, हृदय में दैवी गुणों का विकास है, तथा शरीर को यह अनथक काम करने के योग्य बनाता है। मंत्र का ऋषि ही 'अयास्य-आंगिरस' है—न थकने वाला शक्तिशाली पुरुष।

भावार्थ—सोम मुझे अयास्य बनाये।

उ-ऋणता (Repayment of the debt)

३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः।
२ ३ १ २ ३ २
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१४॥५१०॥

यह [**सोमः**]=सोम हमारे जीवनों में [**पवते**] =प्रवाहित होता है। क्या करता हुवा ? (१) [**मृधः अपघ्नन्**]=कातिलों (murderer,-मृधर्) को दूर नष्ट करता हुवा। सोम के संयम से मानव जीवन से 'काम क्रोध लोभ' दूर हो जाते हैं। ये कामादि ही मनुष्य के सर्वमहान् शत्रु हैं। ये उसका कतल करने वाले हैं। उसकी आत्मा का हनन करने वाले हैं। काम का तो नाम ही मार है। 'क्रोधोहि शत्रुः प्रथमो नराणां'=क्रोध शत्रु है (Shatterer) नष्ट करने वाला है। संयमी पुरुष इनकी घातक प्रवृत्ति से ऊपर उठ जाता है। यह सोम [**अराव्णः**]=(दा दाने) व देने की वृत्तियों को [**अप**]=दूर करता है। सोम का संयम मनुष्य को उदार बनाता है—इसके जीवन में कृपणता को स्थान नहीं मिलता।

इस प्रकार कामादि के संहार तथा आदान वृत्ति के परिहार से यह जीव [**इन्द्रस्य**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के [**निष्कृतम्**]=आनृण्य को [**गच्छन्**]=जाता है। प्रभु के अनन्त उपकार हैं, उन उपकारों की उऋणता का प्रकार एक ही है कि लोभादि से बचें और प्रभु से दिये धन को लोकहित में विनियुक्त करें। प्रभु ने वस्तुतः धन दिया तो इसीलिए है—उसका प्रभु की इच्छानुसार विनियोग ही प्रभु की उपासना है—यही प्रभु के

उपकारों का प्रत्युपकार है। प्रभु पूर्ण हैं; मैं प्रभु के प्राणयों की यत् किञ्चित् पूर्णता के लिए प्रभु से दी हुई शक्तियों का प्रयोग करूं। स्वयं भोगों में न फंस जाऊं—'अ-मही-यु'=पार्थिव भोगों के प्रति अनासक्त बनूं। इससे मैं 'आंगिरस'=शक्तिशाली भी तो बन पाऊंगा।

* * *

॥ ३ ॥ ऋषिः—भरद्वाजः कश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः ॥ देवता—पवमानः सोमः छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

सप्त-ऋषि

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो
२ ३ १ २
हिरण्ययः ॥१॥५११॥

[**सोम**]=ऐ सोम ? [**धारया**]=धारण के हेतु से [**पुनानः**]=मेरे शरीर को पवित्र कर डालता है। इस शरीर में तू मलों का संचय नहीं होने देता, न रोग होते हैं न शक्ति क्षीण होती है। उत्तरोत्तर शक्ति का संचय होकर मैं 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरने वाला बनता हूं। शक्ति के साथ मस्तिष्क की पवित्रता से मैं ज्ञान संपन्न 'बार्हस्पत्य' बनता हूं। मेरे स्वस्थ शरीर में मन भी स्वस्थ होता है। मेरा दृष्टिकोण ठीक होता है, मैं संसार के तत्व को देखता हूं 'कश्यप' बनता हूं। आराम आलस्य इत्यादि की भावनाओं को मारने वाला 'मारीच' होता हूं। ऐसा व्यक्ति सारे संसार को क्रियाशील देखता हुवा, क्रिया को ही संसार का मूलतत्व समझता हुवा, [**'अपो वसानः अर्षसि'**]= कर्मों को धारण करता हुवा गति करता है। 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'=ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ क्रियावान् होता ही है।

ऐ सोम ? तू [**आ**]=सब ओर-सब इन्द्रियों में—[**रत्नधा**]=रमणीयता को धारण करने वाला है। मेरी एक-एक इन्द्रिय को तू रमणीय बनाता है। रमणीय इन्द्रियों वाला मैं 'गोतम'= प्रशस्तेन्द्रिय कहलाता हूँ। इन्द्रियों के सब दोषों का त्याग करने वाला यह त्यागियों में गिनने योग्य 'राहूगण' (रह त्यागे) बनता है।

ऐ सोम तू [**ऋतस्य**]=ऋत के [**योनिम्**]= उत्पत्ति स्थान परमात्मा में [**सीदसि**[=स्थित होता है। 'ऋत और सत्य प्रभु के दीप्त तप से ही तो उत्पन्न होते हैं। यह सोम का संयम करने वाला भौमः=इस भूमि का व्यक्ति होता हुवा भी 'अत्रि'=काम क्रोध लोभ तीनों से ऊपर उठकर तीनों कष्टों से अतीत प्रभु के अंक का आश्रय करता है।

[**उत्सः**]=यह सोमी पुरुष तो एक प्रेम का स्रोत-झरना ही है। इसको किसी से द्वेष नहीं, यह 'विश्वामित्र' है। यही प्राणिमात्र से प्रेम ही तो सच्चा प्रभु का गायन है। इस गायन को करने वाला यह 'गाथिन' है।

[**देवः**]=तू दीप्त है, तू ज्ञान से सभी को द्योतित करने वाला है (देवो दीपनात् वा द्योतनाद्वा)। दीप्त ज्ञानाग्नि वाला यह 'जमदग्नि' है — इसकी ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। यह भार्गव=ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करने वाला होता है।

[**हिरण्ययः**]=इसका जीवन स्वर्णिम (Golden) हो जाता है। यह किसी भी अति (Extreme) में न पड़कर सदा मध्यमार्ग से चलता है—यही तो वास्तविक संयम है। इस संयम का पुतला यह 'वसिष्ठ' है—सर्वोत्तम वशी।

इस प्रकार सोम मेरे सभी ऋषियों को बड़ा ठीक रखने वाला है।

भावार्थ—सोम के संयम से मैं सप्तऋषियों का आराधन करूं।

सोम को व्याप्त करना

२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २
परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः।
३ १र २र ३ २उ ३ २ ३
दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव
२ ३ १ २
सोममद्रिभिः ॥२॥५१२॥

[**परीतः**[=(व्याप्तः) जिस प्रकार सोम सारे शरीर में व्याप्त रहे इस प्रकार इस [**सुतं**]=उत्पन्न हुए-हुए सोम को [**सिञ्चत**]=सिक्त करो। [**सोमः**]=उस सोम को [**यः**]=जो [**उत्तमं-हविः**]=सर्वोत्तम आदान करने योग्य वस्तु है। (हु=आदान अथवा अदन)। यह सोम सचमुच सर्वोत्तम अदन-भक्षण के योग्य है। (ब्रह्म=महत्-उत्तम, चर=भक्षण) यही ब्रह्मचर्य है। यह धारण किया हुवा सोम [**दधन्वान्**]=हमारा धारण करने वाला है। [**यः**]=जो सोम [**नर्यः**]=नरों के लिए हितकर है। सोम से बढ़कर हितकर अन्य वस्तु तो है ही नहीं।

हम यदि चाहते हैं कि सोम का हम धारण कर सकें तो 'अप्सु आ अन्तरा'=हमें सदा कर्मों में स्थित रहने का प्रयत्न करना। 'कर्मों में लगे रहना मनुष्य को वासना से बचाता है। और वासना से ऊपर उठकर मैं सोम की रक्षा कर पाता हूं। 'कर्मों में लगे रहना' साधन है, 'सोम-रक्षा' साध्य। प्रभु ने [**सोमं**]=सोम को [**सुषाव**]=उत्पन्न किया है। क्यों? [**अद्रिभिः**]=न विदरण के योग्य—स्थिर-शरीर मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से। सोम रक्षा के द्वारा शरीर स्थिर व दृढ़ बनता है, मन स्थिर व वासनाओं से अभ्रान्त बनता है तथा मस्तिष्क भी बड़ा परिशुद्ध व स्थिर विचारों वाला होता है। एवं 'सोमरक्षा' साधन है और 'शरीर मन मस्तिष्क की स्थिरता' साध्य।

भावार्थ—सोम के धारण के लिये मैं सदा कर्ममय रहूं यह सोम मेरे शरीर मन व मस्तिष्क को स्थिर बनायेगा। सोम के धारण के लिये उसे सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त रखना आवश्यक है।

अदृश्य सोम

१ २ ३ १र २र ३ १र १र ३
आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्य-
१ २ २ ३ २ २र २क २र ३ १ २ २ ३
व्यया। जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो
१ २
वनेषु दध्रिषे ॥३॥५१३॥

ऐ सोम तू [**अद्रिभिः**]=अविदरणीय—स्थिर शरीर मन व मस्तिष्क के द्वारा [**'आ सु आनः'**]=सारे शरीर को उत्तमता से प्राणित करने वाला है। जब यह सोम सारे रुधिर में परीत-व्याप्त हो जाता है तो [**तिरः**]=अदृश्य हो जाता है। सारे पानी में घुला हुवा नमक दिखता नहीं इसी प्रकार रुधिर में व्याप्त सोम की भी स्थिति होती है। सारे शरीर में व्याप्त हुवा-हुवा सोम दिखे बेशक नहीं, परन्तु यह [**'वाराणि'**]=रोग के निवारणों को करता है। सोम के शरीर में स्थिर होने पर रोग आ ही नहीं पाते, आ भी जायें तो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। 'अव्यया' इस सोम को प्रभु ने हमारे रक्षण के उद्देश्य से शरीर में रखा है। यह वासनाओं के आक्रमण से हमारे मन को बचाता है। वार होने से शरीर को नीरोग रखता है, और अ वि अय होने से मन को निर्वासन।

[**जनः न**]=जैसे एक मनुष्य [**पुरि**]=नगरी में

प्रवेश करता है उसी प्रकार यह सोम [**चम्वोः-विशत्**]=द्यावा पृथिवी में अर्थात् शरीर व मस्तिष्क में प्रवेश करता है। शरीर में प्रवेश कर यह उसे दृढ़ बनाता है, मस्तिष्क में प्रवेश करके यह उसे तेजस्वी बनाता है। [**हरिः**]=शरीर व मन के मलों का हरण करके यह उन्हें नीरोग व निर्मल करता है। [**सदा उ**]=सदा निश्चय से [**वनेषु**] = वननीय — सेवनीय उत्तम चीज़ों में [**दध्रिषे**]=यह उन्हें धारण करता है।

सोम मलों को दूर करता है—सेवनीय वस्तुओं को प्राप्त कराता है। 'घृत' का ऋणात्मक कार्य मलों का क्षरण है और धनात्मक कार्य 'दीप्ति को प्राप्त कराना' (घृ क्षरण दीप्त्योः)। इसी प्रकार सोम का ऋणात्मक कार्य 'मलों का हरण' और धनात्मक कार्य 'वननीय वस्तुओं का प्रापण है'। बुराई को दूर करके अच्छाई को यह प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोम मेरे शरीर व मस्तिष्क को दृढ़ व उज्ज्वल बनाये।

आनन्दमय कोश की ओर

१ २ ३ १ २ ३ २र ३ १ २ ३ १ २
प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।
३ १र २र ३ १र २र ३ २ ३ १ २
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं
३ १ २
मधुश्चुतम् ॥४॥५१४॥

ऐ [**सोम** ?]=ऐ सोम तू [**देववीतये**]=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए होता है (वीतिं=प्राप्ति)। [**प्र**]=अपने इस कार्य को तू ख़ूब प्रकर्ष के साथ करता है। तेरे संयम का परिणाम होता है कि संयमी पुरुष दिव्य गुणों से इस प्रकार [**पिप्ये**]=आप्यायित हो जाता है [**न**]=जैसे [**सिन्धुः**]=समुद्र [**अर्णसा**]=जलों से। जैसे समुद्र जलों से भरता चलता है' उसी प्रकार संयमी पुरुष दिव्य गुणों से पूर्ण होता जाता है। राम का जीवन इसी संयम से दिव्य बन गया, संयम के अभाव ने ही रावण के जीवन अदिव्य कर दिया। दिव्यता को भरता हुवा यह सोम धीमे-धीमे मनुष्य को देव ही बना डालता है। जीव उस महादेव का ही छोटा रूप बन जाता है—अंश (miniature) हो जाता है। इसी कारण सोम को अंशु=अंश बनाने वाला कहा गया है। [**अंशोः**]=इस सोम की [**पयसा**]=(पय गतौ)=शरीर में सर्वत्र गति से [**मदिरो न**]=मनुष्य मदिर सा (उन्मत्त सा) हो जाता है। उसके जीवन में ऐसा उल्लास होता है कि सामान्य मनुष्य उसे स्वस्थ नहीं समझता। [**जागृविः**]=यह संयमी जागरित होता है। दुनिया सोयी है—पर यह जागता है। 'मैं कौन हूं ?, यहां क्यों आया हूं ?, मुझे कहां जाना है ?' इत्यादि प्रश्न सामान्य मनुष्य के अन्दर उत्पन्न ही नहीं होते। इस संयमी के सामने ये प्रश्न सदा रहते हैं। यह उनको कभी भूलता नहीं, परिणामतः अपने को भी नहीं भूलता। सदा चेतना में रहता है—जब कि बाकी दुनियां कुछ प्रमाद-मदिरा को पीकर उन्मत्त सी हो गयी है। यह योगी तो निरन्तर [**मधुश्चुतं कोशं**]=मधु को टपकाने वाले—आनन्दमय कोश की [**अच्छा**]=ओर चला आ रहा है। सामान्य लोगों की बहिर्मुख यात्रा है, इसकी यात्रा अन्तर्मुख है। लोग बाहर जा रहे हैं,—यह अन्दर की ओर। लोग विषयों की ओर, ये विषयों से दूर आत्मा की ओर। विषयों में अशान्ति है, आत्मा में शान्ति।

भावार्थ—सोम संयम से मेरे में दिव्यगुण उत्पन्न हों, मैं मदिर व जागृवि बनूं, आनन्दमय कोश की ओर चलूं।

नीरोगता व उल्लास

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १
सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिर-
२ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वीनाम् । अश्वयेव हरिता याति धारया
३ १ २ ३ १ २
मन्द्रया याति धारया ॥५॥५१५॥

[**सोमः**]=सोम [**उ**]=निश्चय से [**सु-आनः**]=उत्तम प्राणशक्ति का संचार करने वाला है। [**सोतृभिः**]=सोम के उत्पन्न करने वालों से अथवा उत्पादक कार्य करने वालों से और [**अवीनां स्नुभिः**]=रक्षकों के प्रवाहों से यह सोम [**अधियाति**]=ऊपर की ओर जाता है। वस्तुतः सोम की रक्षा का उपाय उत्पादक कार्यों में लगे रहना ही है। जो व्यक्ति अपने को आसुर भावनाओं से बचाते हैं, उन लोगों के अन्दर इस सोम का प्रवाह ऊर्ध्वगति वाला होता है। एवं सोम-रक्षा के उपाय दो हैं। (१) उत्पादक कार्यों में लगे रहना और (२) वासनाओं से अपनी रक्षा करना।

यह सुरक्षित सोम [**अश्वया**]=संपूर्ण शरीर में व्याप्त [**इव**]=सी (अशू व्याप्तौ) [**हरिता**]=सब रोगों व मलों का हरण करने वाली [**धारया**]=धारण शक्ति से [**याति**]=शरीर में गति करता है। जब यह सोम सुरक्षित रहता है तो सारे रुधिर में व्याप्त होकर सब रोगों को दूर करने वाला बनता है। यह सोम [**मन्द्रया-धारया**]=उल्लासमयी धारण शक्ति से [**याति**] संयमी को प्राप्त होता है तो मन भी स्वस्थ व सानन्द चलता है। 'शरीर में नीरोगता व मन में उल्लास' ये सोम के परिणाम हैं।

भावार्थ—सोम मेरे जीवन में नीरोगता व उल्लास को भर दे, उसके लिए मैं उत्पादक कार्यों में लगा रहूं और यथासंभव वासनाओं से अपने को बचाऊं।

चक्करों से दूर

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २उ
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधीँ
३ १ १
रति ताँ इहि ॥६॥५१६॥

ऐ [**सोम ?**]=सोम ? [**अहं**]=मैं [**तव**]=तेरी [**सख्ये**]=मित्रता के निमित्त [**रारण**]=प्रभु के नामों का जप करता हूं। वस्तुतः सोम की मित्रता का साधन प्रभु के नाम का जप ही है। प्रभु नाम स्मरण से मनुष्य वासना से बच पाता है और सोम की रक्षा में समर्थ होता है। ऐ [**इन्दो** ? [=मुझे शक्तिशाली बनाने वाले सोम [**दिवे-दिवे**]=प्रतिदिन [पुरूणि]=बहुत वासनायें [**माम्**]=मुझे [**निचरन्ति**]=नीचे दबाती हैं (trample upon me) ऐ [**बभ्रो ?**]=मेरा भरण करने वाले सोम ? तू मुझे [**अव**]=उनसे सुरक्षित कर। प्रभु नाम का स्मरण मुझे वासनाओं से बचायेगा, वासनाओं से बच कर मैं सोम की रक्षा कर पाऊंगा और सोम रक्षा से ईर्ष्या द्वेष आदि की सब भावनायें मुझे दबा न सकेंगी।

इस संसार में मनुष्य एक चक्र में फंस जाता है। कोई धन के, कोई विलास और कोई प्रमाद के। ये उसका घेरा बन जाती हैं—इन्हें परिधियां कहते हैं। 'नेमि' परिधि का ही पर्य्याय है। 'हिरण्य-नेमयः' वे पुरुष हैं जो धन के ही चक्र में हैं। ऐ सोम तू [**तान् परिधीन्**]=उन परिधियों को [**अति इहि**]=पार कर जा।

'दिवे-दिवे' शब्द की भावना 'प्रतिदिन' है। मनुष्य भोजन प्रतिदिन खाता है, मस्तिष्क की सबलता के लिए दैनिक स्वाध्याय आवश्यक है। 'नैतियकेनास्त्यनध्यायः' इसमें अनध्याय=छुट्टी नहीं होती। इसी प्रकार सोम की रक्षा के लिए भी

दैनिक कल्प आवश्यक है। प्रतिदिन का संकल्प ही हमें सोम रक्षा में समर्थ बनाएगा।

भावार्थ—वासनायें मुझे दबाती हैं—संयमी बन इनको मैं कुचल दूं।

पिशंग-रयि की प्राप्ति (प्रभु की वाणी का श्रवण)

३ १ २ ३ १र २र
मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि
॥७॥५१७॥

यह सोम [**सुहस्त्या**]=शोभन कर्मों के द्वारा—कर्मों को कुशलता से करने के द्वारा [**मृज्यमानः**]=शुद्ध किया जाता है। मनुष्य कर्मों में लगा रहे और कर्मों को भी उत्तमता से करे। ऐसा करने से वह वासनाओं का शिकार नहीं होता और उसका सोम शुद्ध बना रहता है। ऐ सोम? शुद्ध रहता हुवा तू [**समुद्रे**]=(स-मुद) प्रसन्न 'निर्मल' हृदयान्तरिक्ष में [**वाचं**]=वाणी को [**इन्वसि**]=प्रेरित करता है। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को हम तभी सुनते हैं जब कि हमारा मन सब तरह से निर्मल हो। इस वाणी के श्रवण के योग्य बनाने के द्वारा ऐ सोम? तू [**रयिं**]=उस ज्ञानरूप संपत्ति की [**अभि**]=ओर [**अर्षसि**]=गति करता है जो कि (१) [**पिशंगं**]=हमें सब प्रकार से पापशून्य बनाती है (पिश=free from sin)। ज्ञान हमारे सब कर्मों को पवित्र तो करता ही है, ज्ञानाग्नि अपवित्रता को भस्म कर देती है। (२) [**बहुलं**]=यह ज्ञान रूप सम्पत्ति बहुल है—विशाल है (३) [**पुरुस्पृहं**]=यह ज्ञान रूप संपत्ति मेरे में महती स्पृहा को पैदा करने वाली है—मेरे जीवन का लक्ष्य अत्यन्त ऊंचा बनता है। यह सोम [**पवमानः**]=पवित्र करने वाला है। पवित्र करने वाला होने से ही हमें यह हृदय की वाणी को सुनने योग्य बनता है। कलुषित हृदय में प्रभु वाणी सुन नहीं पाती। प्रभु वाणी के सुनने के योग्य होने पर हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जो पापशून्य, विशाल व उच्चाकांक्षा वाला है।

भावार्थ—मैं सोम के संयम से प्रभु की वाणी को सुनने वाला बनूं।

उत्साह का संचार

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो
३ १ २
मदच्युतः ॥८॥५१८॥

[**समुद्रस्य**]=प्रसाद गुण युक्त हृदय के [**अधिविष्टपे**]=स्थान में अर्थात् निर्मल अन्तःकरण में [**मनीषिणः**]=मन का शासन करने वाली बुद्धि वाले [**मत्सरासः**]=उल्लासमय जीवन वाले [**मदच्युतः**]=मद व उल्लास का सारे समाज में संचार 'वर्षा' करने वाले [**सोमासः**]=सोम की रक्षा के द्वारा सोम के पुंज बने हुए [**आयवः**]=गतिशील मनुष्य [**मद्यं**]=मद-मस्ती से युक्त [**मदं**]=उल्लास को [**अभिपवन्ते**]=सर्वत्र प्रवाहित करते हैं।

'कामो हि समुद्रः' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार समुद्र का अर्थ है काम। उस काम का स्थान है 'हृदय'। समुद्र शब्द उस हृदय के लिए भी प्रयुक्त होता है जो कि उल्लासमय है। इस उल्लासमय कामना के अधिष्ठान हृदय में जो मनीषी लोग हैं अर्थात् जो मन को पूर्ण संयम करने वाले हैं—अतएव उल्लासमय हैं—औरों के जीवनों में भी उत्साह का संचार करते हैं। इनका जीवन गतिशील तो है ही। ये सोम के पुंज लोग सर्वत्र एक मस्ती वाले उल्लास को प्रवाहित करते हैं। न ये स्वयं निराश होते हैं न इनके जीवन के संपर्क में आने वाले लोग निराश हुवा करते हैं।

भावार्थ—हम संयमी बनें, और हमारे जीवन में एक मस्ती हो।

हमारा जीवन माधुर्यमय हो

३ १ २३ १२३२ ३ २३ १२ ३ २
पुनानः सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः ।
१र २र ३ १ २ ३१
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञं
२
मिमक्ष णः ॥६॥५१६॥

ऐ [**सोम**] = ऐ सोम तू [**पुनानः**] =हमारे जीवनों को पवित्र करता है [**जागृविः**] =तू हमारी चेतना को कायम रखता है । संयमी पुरुष 'अपने स्वरूप व अपने जीवन के लक्ष्य' को कभी भूलता नहीं । उसका उद्देश्य सदा उसके सामने होता है और इसी का यह परिणाम होता है कि वह कभी भी सांसारिक प्रलोभनों में फंसता नहीं । यह सोम [**अव्या**] = रक्षण के द्वारा, सब प्रकार के राग द्वेषादि अशुभ भावों से तथा [**वारैः**] = सब रोगों के निवारणों के द्वारा [**परि-प्रियः**] = हमारे शरीर में सर्वत्र तृप्ति व कान्ति को पैदा करने वाला है (प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च) । जिस समय मनुष्य ईर्ष्या द्वेषादि से दूर होता है तथा शरीर में उसके जब किसी प्रकार का रोग नहीं होता उस समय मनुष्य एक अद्भुत सन्तोष को अनुभव करता है ।

इस प्रकार ऐ सोम ? [**त्वं**] =तू [**विप्रः-अभवः**] =विशेष रूप से मेरा पूरण करने वाला है । मेरी सब प्रकार की न्यूनताओं को दूर करने वाला है । तू [**अङ्गिरस्तमः**] =मुझे अत्यन्त मेधावी बनाने वाला है । अथवा 'ये अंगाराः आसन् ते अंगिरसोऽभवन्' इस वाक्य के अनुसार तू हमें प्रज्वलित अंगारे के समान देदीप्यमान व शक्ति-संपन्न बनाने वाला है । प्रभु के 'वरेण्य भर्ग' = वरणीय तेज को प्राप्त करके जीव प्रभु के समान ही चमकने लगता है ।

इतना तेजस्वी हो जाने के बाद सौन्दर्य तो इसी में है कि हमारा जीवन नम्र हो । सो मंत्र में कहते हैं कि ऐ सोम तू [**नः**] =हमारे [**यज्ञं**] = जीवन यज्ञ को (पुरुषो वाव यज्ञः) [**मध्वा**] = माधुर्य से [**मिमिक्ष**] =सिक्त कर दे । हमारा जीवन माधुर्यमय हो । हमारी कोई भी क्रिया किसी के लिए कटता को लिए हुवे न हो ।

भावार्थ—मैं तेजस्वी व मधुर बनूं ।

सहस्रधार सोम का शोधन

१ २ ३२३ १ २ ३१२ ३२
इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।
३१२ ३ १र २र ३ १२ ३
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमीं मृजन्त्या-
१ २
यवः ॥१०॥५२०॥

[**सोमः**] =सोम [**इन्द्राय**] =जितेन्द्रिय के लिए [**मदः**] =उल्लासजनक होकर [**पवते**] = शरीर में प्रवाहित होता है । सोम के संयम के लिए इन्द्रियों को वश म करना आवश्यक है । सोम की रक्षा के लिए सबसे मुख्य साधन जितेन्द्रियता ही है । रसना का संयम किए बिना क्या कभी ब्रह्मचर्य का संभव है ? 'इन्द्र' प्रातः—मध्याह्न व सायं तीनों सवनों में सोम का पान करता है अर्थात् बाल्य यौवन व वार्धक्य में सोम को सुरक्षित रखता है और इसीलिये उसका जीवन मद-उल्लास को लिये हुवे है । यह सोम [**मरुत्वते**] =प्राण वाले के लिये [**सुतः**] =उत्पन्न किया गया है । वस्तुतः प्राणसाधना करने वाला पुरुष ही इस सोम की ऊर्ध्वगति कर पाता है । इस साधना के अभाव में यह सोम उत्पन्न हुवा या न हुवा बराबर ही हो जाता है । उत्पन्न होकर भी नष्ट हो गया तो उसका लाभ ही क्या ?

धारण किया हुवा यह सोम [**सहस्रधारः**] = हज़ारों प्रकार से धारण करने वाला होता है । जीवात्मा की यह सभी शक्तियों को विकसित करने

वाला होता है। यह सोम [**अव्यम्**]=रक्ष करने वाले पुरुष को [**अति अर्षति**]=अतिशयेन प्राप्त होता है। प्रतिदिन कण-कण करके भी संचित होकर यह राशीभूत हो जाता है। [**तम्**]=उस [**ईम्**]=निश्चय से इस सोम को [**आयवः**]=गतिशील पुरुष [**मृजन्ति**]=शुद्ध करते हैं। गतिशीलता से वासना को स्थान नहीं मिलता, और वासना के अभाव में यह सोम शुद्ध बना रहता है। शुद्धता के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है।

भावार्थ—मैं सहस्रधार सोम का शोधन करूं। इसके लिये क्रियाशील बना रहूँ।

सब वरणीय वस्तुओं की प्राप्ति

१२ ३ १२३ १र २र ३ १ २
पवस्व वाजसातमोऽभिविश्वानि वार्या ।
१ २३१ २३१र २र ३१ २
त्वं समुद्रः प्रथमे विधर्मन् देवेभ्यः सोम
३२
मत्सरः ॥११॥५२१॥

ऐ [**सोम**]=सोम तू? [**वाजसातमः**]=सर्वाधिक शक्ति को प्राप्त कराने वाला है। [**विश्वानि वार्या**]=सब वरणीय वस्तुओं की ओर [**अभिपवस्व**]=हमें ले चल। सोम के संयम से शक्ति मिलती है, शक्ति ही नहीं सभी वरणीय वस्तुएं प्राप्त होती हैं। ऐ सोम [**त्वं**]=तू [**समुद्रः**]=उल्लास से युक्त है। [**विधर्मन्**]=विशेष रूप से धारण करने वाली वस्तुओं में [**प्रथमे**]=तू प्रथम स्थान में स्थित है। धृति क्षमा दम आदि धर्म के सभी अंग मनुष्य का धारण करने वाले हैं। पर उन सबका भी तो मूल यह 'सोम' ही है। जितने वरणीय गुण है उन्हें प्राप्त कराने वाला यह सोम ही है। दैवी सम्पत्ति हमारा धारण करती है—दैवी सम्पत्ति को हमें सोम प्राप्त कराता है। एवं मुख्य धारक यही है। ऐ सोम? [**त्वं**]=तू [**देवेभ्यः**]=देवों के लिये—दैवी सम्पत्ति को प्राप्त व्यक्तियों के लिये [**मत्सरः**]=उल्लास को देने वाला है। वस्तुतः मन के अन्दर दिव्यता के होने पर जीवन उल्लासमय होता ही है। मैं सोमी बनकर जीवन के अन्दर एक मस्ती से चलता हूं, मुझे संसार निराशामय उदास नहीं प्रतीत होता।

भावार्थ - मैं सोम के संयम के द्वारा शक्ति को वरणीय वस्तुओं को, प्रसन्नता को व एक विशेष उल्लास को प्राप्त करूं।

पवित्रता

१२ ३१३२३ १२
पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया ।
३१२ ३१२३ १र २र ३ २३१र
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि
२र
प्रयांसि च ॥१२॥५२२॥

[धारया]=धारण के उद्देश्य से (हेतु में तृतीया) इसलिये कि सोम हमारे शरीर में ही संयत रहे और उसका नाश न हो, ये [**पवमानाः**]=पवित्र करने वाले सोम [**अतिपवित्रं असृक्षत**]=बहुत पवित्र बनाये गये हैं। वासना जनित उष्णता ही इन्हें अपवित्र करती है। उससे इन्हें शून्य रखने का प्रयत्न किया गया है। यदि सचमुच हम इन पवमानों को पवित्र बनाये रखें तो ये (१) [**मरुत्वन्तः**]=हमारी प्राण शक्ति को बढ़ाने वाले होते हैं—प्रशस्त प्राणों वाला ये हमें बनाते हैं। (१) [**मत्सराः**]=ये हमारे अन्दर उल्लास को जन्म देते हैं। हमारा जीवन एक विशेष मस्ती वाला होता है (२) [**इंद्रियाः**]=ये सोम हमारी एक-एक इन्द्रिय को शक्ति संपन्न बनाते हैं (इन्द्रियं=बलम्) (४) [**हयाः**]=(हय गतौ) सोम के संयम से हमारी गतिशीलता बढ़ती है हम स्फूर्ति सम्पन्न होते हैं। (५) [**मेधाम् अभि**]=ये सोम हमें मेधाबुद्धि की ओर ले चलते हैं

[च]=और (६) **[प्रयांसि अभि]**=इनके द्वारा हम इस योग्य बनते हैं कि 'काम क्रोध लोभ' का नियमन कर सकें। 'नियन्त्रित काम क्रोध लोभ' हमारे उत्थान का कारण हैं। नियन्त्रित काम से ही वेदाधिगम व यज्ञादि कार्य हुवा करते हैं। नियंत्रित क्रोध से ही हमें पाप के प्रति घृणा होती है। और नियंत्रित लोभ हमें सद्गुणों के अर्जन में कभी संतुष्ट होकर रुकने नहीं देता। इस प्रकार सोम के हमारे जीवन पर ये आश्चर्यकर परिणाम है।

भावार्थ—मैं सोम को सदा पवित्र रखूं ताकि सोम मुझे पवित्र बनाने वाला हो।

* * *

॥ ४ ॥ ऋषिः—१, ९ उशना काव्यः; २ वृषगणो वाशिष्ठः; ३, ७ पराशरः शाक्त्यः; ४, ६ वसिष्ठो मैत्रावरुणिः; ५, १० प्रतर्दनो दैवोदासिः; ८ प्रस्कण्वः। देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

कामयमान क्रान्तदर्शी

१र २र३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ र ३ र
प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो
३ १र २र २ ३ १ २ ‹ १ र ३ र
अभि वाजमर्ष। अश्वं न त्वा वाजिनं मर्ज-
३ १ २ ३ १ २ ३ १ र
यन्तोऽच्छा बर्हीं रशनाभिर्नयन्ति ॥१॥५२३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उशना काव्यः' है—यह कामना वाला है परन्तु क्रान्तदर्शी है। क्रान्तदर्शी होने से ही इसकी कामना पवित्र है। यह सोम को सम्बोधन करते हुए कहता है कि ऐ सोम ? **[तु]**=नष्ट होने की बजाय तू **[प्र-द्रव]**=प्रकृष्ट गति वाला हो--तेरी अधोगति न होकर ऊर्ध्वगति हो। और इस प्रकार **[कोशं परि निषीद]**=तू इस पर कोशमय शरीर में ही सर्वतः स्थित हो। **[नृभिः]**=मनुष्यों से **[पुनानः]**=पवित्र किया जाता हुआ तू **[वाजम्]**=वाज को **[अभि अर्ष]**=लक्ष्य करके गति वाला हो। अन्नमय कोष में तू गति (वाज गतौ) को प्राप्त करा, प्राणमय कोश में शक्ति को (वाज=power), मनोमय कोश में त्याग की भावना को (वाज—sacrifice) तथा विज्ञानमय कोश में ज्ञान को (वाज=ज्ञान) देने वाला तू हो। **[अश्वं]**=शक्तिशाली घोड़े की **[न]**=(इव) तरह **[वाजिनं]**=शक्तिशाली **[त्वा]**=तुझको **[मर्जयन्तः]**=शुद्ध करते हुए **[रशनाभिः]**=लगामों व संयमों के द्वारा **[बर्हिः अच्छा]**=हृदयान्तरिक्ष की ओर **[नयन्ति]**=ले जाते हैं। घोड़े को लगाम से उदिष्ट स्थान पर ले जाया जाता है। इसी प्रकार 'वाग्, मन व कार्य' के संयमों से सोम को हृदयान्तरिक्ष की ओर अर्थात् ऊर्ध्वगति वाला किया जाता है। उस हृदय में यह सोम हमें प्रभु दर्शन के योग्य बनाता है। सोम की रक्षा संयमों से हो सम्भव है 'रशनाभिः' यह बहुवचन उन्हीं वाणी, शरीर व मन के संयम का उल्लेख कर रहा है। इस संयम के लिये ही कामना को शुद्ध रखना आवश्यक है। और कामना की शुद्धि बिना क्रान्तदर्शित्व के सम्भव नहीं। सो 'उशना-कांव्य' ही सोम की ऊर्ध्वगति कर पाता है।

भावार्थ—मैं संयम से सोम को ऊर्ध्वगति वाला करूं।

धार्मिक जीवन

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
विवक्ति । महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा
२ ३ २ ३क २र ३ १ ३
वराहो अभ्येति रेभन् ॥२॥५२४॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'वृषगणो 'वासिष्ठः' है—(वृष=धर्म) जिसका जीवन धर्ममय है इतना धर्ममय की वह धर्म ही मानो शरीरबद्ध हो गया है—धर्म का वह पुंज है । धर्मात्माओं में विशेष रूप से उसकी गिनती होती है । वह उत्तम वशी है—अथवा शरीर में सर्वोत्तम निवास करने वाला है । इस व्यक्ति के जीवन में हम निम्न बातें देखते हैं ।

(१) [**उशना इव काव्यं प्रब्रवाणः**]=चाहता हुआ प्रभु के अजरामर काव्य-वेद का उच्चारण करता है । मनुष्यकृत काव्य समय पाकर मध्यम दीप्ति वाले हो जाते हैं । चौसर व भास शेक्सपीयर व कालिदास के आने पर अप्रसिद्धि में चले गए । यह वेद रूप काव्य अजरामर है—इसकी दिप्ति शाश्वत है । धर्म के ज्ञान का यही स्रोत है 'धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' वेद के अन्दर जिसकी प्रेरणा दी गई है वही तो धर्म है 'चोदना लक्षणो धर्मः' यह धार्मिक जीवन वाला व्यक्ति इस वेद के पठन को अपना प्रथम धर्म समझता है ।

(२) [**देवः**]=वेद का स्वाध्याय उसके जीवन में पवित्रता को लाता है । अपने जीवन में दिव्य गुणों को बढ़ाता हुवा यह 'देव' बन पाता है ।

(३) [**देवानां**]=सूर्यादि ३३ देवों के—सभी प्राकृतिक पदार्थों के [**जनिमा**]=प्रादुर्भाव व विकास को [**विवक्ति**]=यह विशेष रूप से उच्चरित करता है । इन पदार्थों के विकास में यह उस निर्माता प्रभु की महिमा को देखता है । वेद ज्ञान से सम्पूर्ण विज्ञान को भी यह जान पाता है—और यह विज्ञान उसे प्रभु की सत्ता में दृढ़ विश्वासी बनाने वाला होता है ।

(४) [**महिव्रतः**]=यह अपने जीवन में किसी न किसी महान् व्रत को लेकर चलता है । व्रती जीवन ही वस्तुतः धर्ममय जीवन हुवा करता है । बिना व्रतग्रहण के हम कभी धार्मिक नहीं बन सकते ।

(५) [**शुचिबन्धुः**]=यह पवित्र धन वाला होता है । (बन्धु=धनम् नि २-१०-२१) सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक धर्म 'शुचि बन्धुत्व' ही है । यजुर्वेद में अन्तिम निर्देश 'नयसुपथाराये' ही है—धन को उत्तम मार्ग से कमाना । मनु ने इसी को शुचिता माना है—'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः न मृद्वारि शुचिः शुचिः' ।

'शुचिबन्धु' शब्द का अर्थ पवित्र मित्रों वाला भी है । वस्तुतः जीवन के निर्माण में मित्रों का बड़ा हाथ होता है । अच्छे जीवन को अच्छा बना देते हैं—और बुरे बुरा ।

(६) [**पावकः**]=यह जिनके भी सम्पर्क में आता है उनके जीवन को पवित्र बना डालता है । अग्नि में सोना निखर उठता है सो अग्नि पावक कहलाता है, इसके सम्पर्क में आकर लोगों का जीवन पवित्र हो जाता है ।

(७) [**पदा वराहः**]=गति शीलता के द्वारा यह सुन्दर दिन वाला (वर+अहन्) होता है, । 'सुदिनत्वमह्नाम्' दिन की भद्रता जीवन का कितना श्रेष्ठ द्रविण है ?

(८) यह [**रेभन्**]=स्तुति करता हुआ [**अभ्येति**]=उस प्रभु की ओर चलता है । सदा प्रभु के स्मरण से इसके सामने लक्ष्य दृष्टि बनी रहती है, और इससे वह मार्ग से विचलित न होकर प्रभु रूप लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है ।

भावार्थ—वेदाध्ययन को प्राथमिक धर्म बनाकर मैं अपने जीवन को धर्म प्रधान बनाऊं ।

प्रभु के मार्ग पर

३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १र
तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं
२र ३ २ १ २ ३ १ २
ब्रह्मणो मनीषाम् । गावो यन्ति गोपतिं
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः
॥३॥५२५॥

'परा शृणाति इति पराशरः'=शत्रुओं को सुदूर नष्ट करने वाला शक्त्य=शक्ति का पुत्र अर्थात् शक्ति का पुंज यह ऋषि [**वह्निः**]=सब वेद-वाणियों का धारण करने वाला [**तिस्रो वाचः**]=ऋग् यजु साम रूप तीनों वाणियों को [**प्रईरयति**] प्रेरित करता है। स्वयं उनका निरन्तर उच्चारण करता है और लोगों में उनका प्रचार करता है। लोगों को ज्ञान-कर्म-व उपासना तीनों का बड़ा सुन्दर उपदेश देता है। [**ब्रह्मणः**]=उस प्रभु को (**ऋतस्य धीतिं**) =सत्य का धारण करने वाली (**मनीषां**)=बुद्धि को ज्ञान को [**प्रेरयति**]=प्रचारित करता है। प्रभु से दी हुई यह वेद वाणी सत्य का ही धारण करने वाली है—यह मनुष्य को नियमित जीवन बिताने का (ऋत का) उपदेश देती है। यह पराशर स्वयं उस वेदवाणी का धारण करके औरों को उसका उपदेश देता है।

(१) [**गावः**]=वेद वाणियां [**गोपतिं**]=इन्द्रियों के पति को (गावः=इन्द्रियाणि) [**पृच्छमानाः**]=पूछती हुई [**यन्ति**]=प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पूछते २ किसी के घर जा पहुंचता है, उसी प्रकार ये वेद वाणियां जितेन्द्रिय के समीप पहुंच जाती हैं। दूसरे शब्दों में, यदि मैं जितेन्द्रिय बनूंगा तो ये वेद वाणियां मुझे प्राप्त होंगी, इनके अर्थ को समझने के लिए जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। जब वह व्यक्ति वेद वाणियों को प्राप्त करता है तब यह अधिकाधिक नम्र होता जाता है। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'=ज्ञान से मनुष्य नीचे देखता है विनीत बनता है। यह विनीत [**मतयः**]—मननशील मनुष्य [**वावशानाः**]=प्रभु प्राप्ति की प्रबल इच्छा वाले [**सोमं यन्ति**]=उस 'सोम' नामक प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु सोम है, सोम बनकर ही मनुष्य भी उसे प्राप्त करने वाला होगा। प्रभु को प्राप्त करने के लिये यहां तीन उपायों का संकेत हुआ है (१) सोम-विनीत-वनना (२) मननशील होना। (३) प्रबल इच्छा वाला होना।

प्रभु की प्राप्ति के मार्ग में विघ्न तो कदम २ पर आयेंगे ही। यह पराशर उन विघ्नों को दूर विनष्ट करता हुआ प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता चलता है। यह शाक्त्य है—कोई भी विघ्न ऐसा नहीं जिसे यह अपनी शक्ति से दूर न कर पाये।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय बनूं ताकि वेद वाणियों का आश्रय होऊं।

इस घर से=उस घर में

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः
१ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
समपृक्त रसम् । सुतः पवित्रं पर्येति रेभन्
३ २ ३ १ २ ३ २ १ २
मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥४॥५२६॥

'वसिष्ठ मैत्रावरुणि' प्रस्तुत मंत्र का ऋषि है—उत्तम निवास वाला अथवा वशिष्ठों में श्रेष्ठ जो प्राणापान की साधना करता है। यह [**अस्य प्रेषा**]=इस प्रभु की प्रेरणा से और [**हेमना**=(हि गतौ) गतिशीलता-क्रियाशीलता के द्वारा [**पूयमानः**]=अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ [**देवः**] मनुष्य से देव बन आता है। जीवन की पवित्रता के लिए दो साधन हैं, (१) प्रभु की —अपनी अन्तरात्मा की—आवाज को सुनना और (२) क्रियाशील जीवन बिताना। धर्मज्ञान का अन्तिम साधन 'स्वस्य च प्रियम् आत्मनः' ही तो है—जो अपनी आत्मा को—अर्थात् प्रभु को—ठीक लगे। उस आवाज को सुन कर क्रिया में लगे

रहना ही दिव्यता की प्राप्ति का मार्ग है। "कर्म छोड़ा" और अपवित्रता आई । मनुष्य ने अपवित्रता से बचने के लिए कर्म में तो लगना ही है—साथ ही इन कर्मों को उस अन्तरात्मा की प्रेरणा के अनुसार करना है। इस प्रेरणा को सुनने का अभ्यास 'यदि नेष्टात्मनः पीड़ा या सञ्जि भवता जने=Do to others as you wish be to done by=इस सिद्धान्त को जीवन में क्रियान्वित करने से हो सकता है।

इस मार्ग पर चलने से पवित्र और पवित्रतर होता हुआ यह देव बनता है । और **[देवेभिः]**= इन दिव्य गुणों के द्वारा **[रसम्]**=(रसौ वै सः) उस आनन्दमय प्रभु के **[समपृक्त]**=सर्म्पक में यह आता है। देवो 'देवेभि आगमत्' (ऋ) वह प्रभु देव हैं—देवाधिदेव हैं। वे दिव्य गुणों से ही हमें प्राप्त होते हैं।

[सुतः]=प्रेरणा को प्राप्त हुवा २ वह व्यक्ति **[रेभन्]**=सदा उस प्रभु का स्तवन करता हुआ **[पवित्रं]**=उस पूर्ण पवित्र प्रभु को **[पर्येति]**= सर्वथा प्राप्त होता है। उसी प्रकार प्रभु को प्राप्त होता हैं **[इव]**=जैसे **[होता]**=दान पूर्वक अदन करने वाला **[मिता]**=माप कर—स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से आवश्यक लम्बाई-चौड़ाई से बनाये हुए **[पशुमन्ति]**=गौ आदि (अश्व, अजा, अवि) पशुओं वाले **[सदम्]**=घरों को प्रवेश करता है।

यहां उपमा के द्वारा घरों के विषय में दो बातें कही गई हैं :—(१) वे ठीक माप से बने हुए हों (२) तथा गौ इत्यादि उत्तम पशुओं की उसमें स्थिति हो। 'उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः' घर में गौवें, बकरी व भेड़ें हों। 'सनः पवस्व शं गवे शंजनाय शमर्वते'—गौओं और घोड़ों से हमारे घर शान्ति की वृद्धि वाले हों। एवं घरों का संकेत करके घर में रहने वालों के लिए 'होता' शब्द से बड़ी महत्वपूर्ण बात कही गई है कि वे दान पूर्वक अदन करने वाले हों—यज्ञशेष के खाने वाले हों। केवल अपने लिए पकाने वाले न हों 'अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्'।

यह होता का जीवन भी तो प्रभु प्रेरणा को सुनने पर ही बनेग.।' पृणीयात् इत् नाधमानाय तव्यान्' 'शक्तिशाली होता हुआ याचक के लिए दे ही' यही लो प्रभु का प्रेरणा है। होता बनकर यह इस घर को बड़ा सुन्दर बनाता है। और परिणामतः इस जीवन की समाप्ति पर इस घर से यह उस प्रभु रूप वास्तविक घर में प्रवेश करता है।

भावार्थ :—मैं प्रभु प्रेरणा को सुनूं—पवित्र बन कर पवित्र प्रभु को प्राप्त करूं। इस घर से उस घर में प्रवेश करूं। वास्तविक घर तो मेरा प्रभु ही है।

सोम हमें मनुष्य बनाता है, मनुष्य ही नहीं देव बनाता है

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १
सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो
२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २र
जनिता पृथिव्याः। जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य
३ १ २ ३ १र २र
जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥५॥५२७॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'प्र-तर्दन' है=प्रकर्षेण विघ्नों का हिंसन करने वाला। यह 'दैवोदासि' है—देव का—उस प्रभु का अनन्य दास है, भक्त है। यह प्रभु भक्ति के द्वारा संयमी जीवन वाला बनता है। इसके जीवन में **[सोमः]**=सोम—वीर्यशक्ति—Vitalaity **[पवते]**=प्रवाहित होती है और उसके जीवन को पवित्र बनाती है। यह **[मतीनां]**=मननशक्तियों की **[जनिता]**=उत्पन्न करने वाली होती है। वस्तुतः इसके अभाव में मनुष्य पशुओं की तरह **पश्यति**=देखता है—कार्यों को विचार पूर्वक नहीं करता। उपाय-अपाय को सोचकर कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता। 'मत्वा

कर्माणि सीव्यति इति मनुष्यः' इस यास्क के कथन के अनुसार सोम मनुष्य को मनुष्य बनाता है। इसके अभाव में तो वह पशु ही था । [**जनिता दिवः**'] =यह सोम दिव्यता का जन्म देने वाला होता है मनुष्य से भी ऊपर उठाकर हमें देव बनाता है। हमारा जीवन प्रकाशमय होता है। देव बनाने का मुख्य अभिप्राय यह है कि [**जनिता पृथिव्याः**] यह सोम हमारे अन्दर विस्तार (प्रथ—विस्तारे) को उत्पन्न करता है । हम संकुचित मनोवृत्ति से नहीं चलते । एवं मननशीलता, दिव्यता—प्रकाश और विस्तार—उदारता ये गुण समुदित होकर हमारे वैयक्तिक जीवन को बड़ा ही सुन्दर बना देते हैं।

अब यह व्यक्ति वैयक्तिक जीवन को सुन्दर बनाकर सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश करता है। और यहां सोम उसमें [**जनिता अग्नेः**] =अग्नि को जन्म देता है—उसे उष्णक उत्साह-वाला बनाता है। वह शीतक (अग्नि तत्व के अभाव वाला)—अलस नहीं होता। समाज में उत्साही व्यक्ति ही आशा व उन्नत भावनाओं का संचार कर सकता है। उन्नत व उत्साहमयी भावनाओं के साथ यह सोम (**जनिता सूर्यस्य**) =गतिशीलता का जन्म देने वाला होता है। सूर्य की तरह इसे अनथक श्रमशील बनाता है । इन क्रियाओं में विघ्नों का आना स्वाभाविक है। यह सोम इसे इन विघ्नों का ध्वंस करने वाला बनाता है (ज**निता इन्द्रस्य**) =इसके अन्दर 'इन्द्र' तत्व का विकास करता है। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' =सब बल के कर्म इन्द्र के हैं। इन्द्र असुरों का संहार करता है। सोम के द्वारा हम भी इन्द्र बनते हैं । और विघ्न रूप आसुर वृत्तियों का विनाश करने वाले होते हैं। [**उत**] =और यह सोम [**विष्णोः जनिता**] =विष्णु का जन्म देने वाला है । 'विष्णु' धारण की देवता है। संयमी पुरुष व्यक्ति, परिवार, समाजा, रष्ट्र व संसार का धारण करने वाला होता है। 'उत्साह, गतिशीलता, शक्ति, व धारक वृत्ति' इन सामाजिक गुणों को लेकर यह प्रतर्दन सचमुच लोक संग्रह करने वाला होता है।

भावार्थ—सोम मुझे वैयक्तिक व सामाजिक उन्नति के योग्य बनाये ।

क्या पाप क्षमा होते हैं ? वरुण न कि सिन्धु, पाशों वाला, न पसीजने वाला ।

३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवा-
३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ
वशन्त वाणीः। वना वसानो वरुणो न
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ॥६॥५२८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मैत्रीवरुणि वसिष्ठ कहता है कि (**वाणीः**) =वेद वाणियाँ (वाणीः वाण्यः) = (**अवावशन्त**) =पुकार-पुकार कर कह रही हैं कि (**अभि**) =उस प्रभु की ओर चलो जो कि (१) (**त्रि पृष्ठं**) =शरीर, मन व बुद्धि तीनों का आधार है—जिस प्रभु की भक्ति से त्रिविध उन्नति का संभव होता है (२) (**वृषणं**) =जो सब कोषों में हमें शक्ति को प्राप्त कराने वाले हैं। अन्नमय कोष में तेजस्, प्राणमय में वीर्य, मनोमय में ओज व बल, विज्ञानमय में मन्यु=ज्ञान, तथा आनन्दमय में सहस् के देने वाले प्रभु ही हैं। (३) (**वयोधाम्**) =प्रभु आयु के धारण करने वाले हैं—दीर्घ जीवन को प्राप्त कराने वाले हैं। प्रभु की उपासना का अभाव ही असमय की मृत्यु का कारण बनता है । (४) [**अंगोषिणं**] =वे प्रभु दीर्घ-जीवन ही नहीं प्राप्त कराते, वे दीर्घ जीवन के साथ (**आंगूष**) =आघोष वाले हैं । हृदयस्थ रूप से हमें वेदवाणियों का ज्ञान दे रहे हैं। यह हमारा कितना दुर्भाग्य है कि हम उस वेदवाणी को सुनते नहीं। वे प्रभु तो उन वेदों के द्वारा (५) (**वना वसानः**) =हमें निरन्तर ज्ञान की रश्मियां

प्राप्त करा रहे हैं (वन=रश्मि नि० १-५-८)। हमें क्या करना है किस चीज़ से निवृत्त होना है, इसका ज्ञान प्रभु दे रहे हैं। वेद वस्तुतः सृष्टि के प्रारम्भ में कर्त्तव्याकर्तव्य का ज्ञान देने के लिए ही तो उच्चरित हुवा है। अब यदि मैं अध्ययन न करके कर्तव्याकर्तव्य को नहीं जान पाता और अकर्तव्यों में प्रसित हो जाता हूँ तो मुझे यह न भूलना चाहिये कि वे प्रभु (६) [**वरुण**]=वरुण—प्राणी हैं 'ये ते पाश्मः सप्त २ त्रेधा तिष्ठन्ति विपाशीता रुशन्तः, छिन्तु सर्वे अनृनंवदन्तं यः सत्यवादी अति तं सृजन्तु' वरुण के ये पाश अनृत की ओर जाने वाले को जकड़ते हैं, इनसे तो सत्यवादी ही बच सकता है। यदि मैं यह सोचूं कि प्रार्थना व विनती के द्वारा मैं पाप क्षमा करा लूंगा तो यह मेरा भ्रम है। वे प्रभु (७) (**न सिन्धुः**)=(**स्यन्द्-प्रस्रवणे**) पिघलने वाले नहीं। मेरी प्रार्थनायें उनके हृदय को पसीज कर मुझे पाप क्षमा प्राप्त करायेंगी यह सम्भव नहीं। इस प्रकार यद्यपि वे प्रभु कुछ क्रूर प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं। यदि मैं कर्त्तव्य का पालन करूंगा तो वे प्रभु तो (६) (**विरत्नधा**)=विशेष २ रत्नों के धारण कराने वाले हैं। सब रमणीय वस्तुओं के देने वाले हैं। दण्ड देते हुए वे 'रुद्र' प्रतीत होते हैं, तो वास्तव में हैं तो 'शिव' ही। इन दण्डों को भी वे हमारे कल्याण के लिए ही तो देते हैं। (१०) वे [**वार्याणिदयते**]=सब वरणीय वस्तुएं (desirable) हमें प्राप्त कराते हैं। पाप क्षमा नहीं, परन्तु पाप मोचन तो वे प्रभु ही कराते हैं (अहं त्वा सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः)। दण्ड आदि की व्यवस्था से वे हमारी पाप प्रवृत्ति को ही दूर कर देते हैं। निष्पाप होकर हम 'वसिष्ठ' बनते हैं उत्तम निवास वाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु वरुण हैं, न कि सिन्धु। पाप क्षमा न कर वह पाप मोचन की व्यवस्था करते हैं। दण्डाभाव तो हमें पाप में और फंसाता है न कि पाप से निकालता है।

हृदय में, मस्तिष्क में

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ ३ ३ १र
अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन् प्रजा
२र ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
भुवनस्य गोपाः। वृषा पवित्रे अधि सानो
१ २ ३ १र २र ३ १र २र
अव्ये बृहत् सोमो वावृधे स्वानो आद्रिः
॥७॥५२६॥

(**समुद्रः**)=सदा आनन्द के साथ निवास करने वाला प्रभु (**प्रथमे**)=इस अत्यन्त विस्तृत (**विधर्मन्**)=किसी भी भौतिक आधार से शून्य इस विस्तृत अन्तरिक्ष में (अस्कम्भाने=विधर्मन्=खम्भे से रहित) (**प्रजाः**)=प्रजाओं को (**जनयन्**)=जन्म देता हुआ तथा (**भुवनस्य गोपाः**)=सब भुवनों का रक्षक (**अक्रान्**)=सबको लांघ करके विद्यमान है (अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्)। वस्तुतः ही यहां अन्तरिक्ष कितना विशाल है? इसकी तो कोई सीमा ही नहीं प्रतीत होती। स्पेन्सर ने इसकी सीमा को अज्ञेय वस्तुओं में ही गिना है। और फिर इतना विशाल यह लोक बिना किसी भौतिक स्तम्भ के अपनी स्थिति में विद्यमान है। सचमुच ही ये आश्चर्य की बात है। लोक लोकांतर इसके आधार से हैं प्रश्न तो यह है कि यह किसके आधार से है? इसका आधार वस्तुतः वही सब प्रजाओं को जन्म देने वाला तथा सब लोकों का रक्षक प्रभु हैं जो कि अपनी इस सम्पूर्ण सृष्टि को भी लांघ करके मौजूद है।

वह परमात्मा [**वृषा**]=शक्तिशाली है, हमें प्रत्येक कोश की शक्ति देने वाला है। उसी से हमारा 'अन्नमय कोश' तेजस्वी होता है, 'प्राणमय'—वीर्यवान्, मनोमय बलवान् व ओजस्वी, 'विज्ञानमय' मन्युमान् तथा आनन्दमय सहस्वान्। हमारे पर शक्तियों की वर्षा करता हुआ वह (बृहत्सोमः)=सारे संसार का वर्धन करने वाला परमात्मा [**पवित्रे**]

=हमारे पवित्र हृदयों में तथा [**अधिसानो अव्ये**] =मेरु पर्वत के शिखर रूप सुरक्षित स्थान में (मस्तिष्क में) [**वावृधे**] =बढ़ता है। प्रभु का दर्शन हृदय में व मस्तिष्क में होता है। हृदय आत्मा का निवासस्थान है तो मस्तिष्क कार्यालय है। आत्मा उस प्रभु का दर्शन इन दोनों स्थानों पर ही कर सकता है। प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर जब सुषुम्णा नाड़ी से होती हुई मेरुदण्ड के शिखर पर पहुंचती है तो यही योग की परिभाषा में उमा व महादेव का परिणय कहलाता है, यहीं आत्मा का परमात्मा से मेल होता है।

वे प्रभु [**स्वानः**] =हृदयस्थ रूप से खूब ऊँचे वेदमन्त्रों का आघोष कर रहे हैं वे 'अंगोषिन्' हैं। (उच्चरत्=ज्ञान का उच्चारण हुआ) सृष्टि के आरम्भ में इसी प्रकार अग्नि आदि ऋषियों को वेद-ज्ञान दिया गया। वे प्रभु [**अद्रिः**] =अविदरण-शील-अविनश्वर है। उनका यह वेद-ज्ञान भी अनश्वर है। इसके अनुसार हम अपना जीवन बनायेंगे तो वे प्रभु हमारे लिए शिव ही शिव हैं। अन्यथा हमें उनके 'रुद्र' रूप का अनुभव करना होता है।, 'प्रार्थना से हम पाप माफ करा लेंगे'। ऐसा तो हमें भ्रम होना ही नहीं चाहिये। वे प्रभु तो अद्रि अविदरणशील हैं अपने न्याय्य मार्ग से किसी भी प्रकार विचलित नहीं किये जा सकते।

भावार्थ—उस प्रभु की वेद-वाणी को सुनने वाला व्यक्ति सब वासनाओं को दूर, नष्ट करने वाला 'पराशर' तथा शक्ति-सम्पन्न 'शाक्त्य' होता है।

शुद्ध करने वाली गौ

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन् वनस्य
३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
जठरे पुनानः। नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं
१र २र ३ १ २ ३ १ २
गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः ॥८॥५३०॥

[**आसृज्यमानः हरिः**] =उत्पन्न किया जाता हुवा वह अज्ञान का हरण करने वाला परमात्मा [**वनस्य**] =(वन् संभक्तौ) उत्तम भक्त के [**जठरे**] =मध्य में-हृदय में—[**सीदन्**] =निवास करता हुआ [**पुनानः**] = उसे पवित्र बनाने के हेतु से (हेतौ शानच्) [**कनिक्रंति**] =वेद शब्दों का पुनः पुनः उच्चारण करता है। प्रभु तो अजरामर हैं, सर्वव्यापक हैं। परन्तु हम अज्ञानियों के लिए उनका होना न होना बराबर ही होता है। परन्तु जब कभी हमारे ज्ञान-चक्षु कुछ खुलते हैं तो वे प्रभु मानो हमारे लिए भी उत्पन्न से हो जाते हैं। वे तो सदा से ही थे, पर हमारे लिये तो आज ही हुए। ये प्रभु अपने भक्तों के हृदय में निवास करते हैं तथा वहां उनको और अधिक पवित्र बनाने के लिये वेद शब्दों का पुनः पुनः उच्चारण कर उन्हें ज्ञान-जल द्वारा शुद्ध कर डालते हैं। ये प्रभु [**नृभिः**] =अपने को आगे ले चलने वाले इन भक्तों से [**यतः**] =वश में किये हुए उनके हृदयों में [**निर्णिजं गाम्**] =निश्चय से पूर्ण शुद्ध करने वाली इस वेदवाणी रूप गौ को [**कृणुते**] =करते हैं। जो भी मनुष्य जितेन्द्रिय बन अनन्यमनाः होकर प्रभु का स्मरण करते हैं वे प्रभु को अपने वश में करने वाले बनते हैं। 'दुनिया प्रभु की दास है—प्रभु अपने भक्तों के' यही सन्त वाणियों में हम बारम्बार पढ़ते हैं। भक्त प्रभु के सिवाय किसी से प्रेम नहीं करता, तो प्रभु भी भक्त को अत्यन्त प्रेम करने वाले क्यों न हों? ये तो 'आत्मैव मे मतम्'—प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय होते हैं। वेद कहता है कि ऐ मनुष्यो! प्रभु तुम्हारे हृदय में है। तुम्हें चाहिए कि--

[**अतः**] =इस प्रभु से [**स्वधाभिः**) =आत्मार्पण के द्वारा (**मतिं जनयत**) =बुद्धि व ज्ञान को [जनयत] =उत्पन्न करो। 'अतः' यह पञ्चम्यन्त प्रयोग नियम से विद्या पढ़ने में होता है। हमें बिना अनध्याय के उस महान् गुरु के चरणों में उपस्थित होना है। स्वधाः शब्द पितरों के प्रति अर्पण के लिये आता है—'पितृभ्यः स्वधा'। हमें इस प्रभु को पिता समझते हुए निःशंक भाव से—बिना झिझक के—शतशः

प्रश्न करते हुए ज्ञान को बढ़ाना है। ज्ञान 'परिप्रश्नेन' (all round questioning) शतशः प्रश्नों से ही तो बढ़ता है। हम ज्ञान के पात्र उतने-उतने अधिक होते जायेंगे जितना-जितना कि हमारा समर्पण पूर्ण होगा। कण-कण करके हमारा ज्ञान बढ़ता ही चलेगा। हम प्रस्कण्व मेधावी होंगे।

भावार्थ :—मैं अपने हृदय में उस प्रभु की सत्ता को अनुभव करूं और उनके प्रेम का पात्र बनकर ज्ञानी बनूं।

पवित्र हृदय में प्रभु

३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३
एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णः
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
परि पवित्रे अक्षाः। सहस्रदाः शतदा भूरि-
१ २ ३ २ ३ २उ ३क २र
दावा शश्वत्तमं बर्हिरा वाज्यस्थात् ॥९॥
॥५३१॥

(**एषः**)=यह (**स्यः**)=वह अर्थात् समीप से समीप, दूर से दूर वर्तमान (**सोमः**)=वह प्रभु ऐ (**इन्द्र**)=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ? (१) [**मधुमान्**]=(रसमय है) प्रभु को अपनाने पर तेरा जीवन रसमय होगा। एक अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा जो कि वाणी का विषय नहीं है। 'एतत्' शब्द समीप का और 'तत्' दूर का वाचक है। वे प्रभु सर्वत्र हैं, अधिक से अधिक दूर और अधिक से अधिक समीप। इस प्रभु का अनुभव करने पर मुझे एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव होता है। (**वृषा**)—वे प्रभु शक्तिशाली हैं, हमें सब कोशों में शक्तिशाली बनाने वाले हैं। और (**वृष्णः**)= शक्तिशाली पुरुष के (**पवित्रे**)=पवित्र हृदय में (**परिअक्षाः**)=वे प्रभु व्याप्त होते हैं। शक्ति मनुष्य को पवित्र बनाती है—पवित्र हृदय प्रभु का निवासस्थान होता है।

यदि सचमुच मैं अपने हृदय को पवित्र बनाकर उस प्रभु का निवास स्थान बनाता हूं तो वे प्रभु (३) (**सहस्रदाः**)=(स+हस्+दा) मुझे आनन्दमय जीवन को प्राप्त कराते हैं (४) (**शतदाः**)=पूरे सौ वर्ष के दीर्घ जीवन को मुझे देते हैं। और (५) (**भूरिदावा**)=आशा से भी अधिक धन के (भूरि=more) वे प्राप्त कराने वाले हैं। संक्षेपतः उपासना से आनन्द, दीर्घ जीवन व ऐश्वर्य सभी उपलब्ध होते हैं। ऐसा उपासना का लाभ देखकर कौन उस प्रभु का उपासक न बनेगा ? 'काव्य'=क्रांतदर्शी—चीजों के असली स्वरूप को देखने वाला व्यक्ति तो उस प्रभु की कामना अवश्य करेगा ही। इस कामना के करने वाला यह 'उशना':—कहलाता है। और यह कहता कि (**आवाजी**)=मुझे समन्तात्—प्रत्येक कोश में—शक्ति को देने वाला वह प्रभु (**शश्वत्तमं**)= सदा (**बर्हिः**)=मेरे पवित्र हृदय में, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, [**अस्थात्**]—ठहरे-विराजमान हो। मैं प्रभु के सामीप्य में सामीप्य मुक्ति का आनन्द तो अनुभव करूं ही।

भावार्थ—वे प्रभु मेरे जीवन को रसमय कर देते हैं। मैं उन्हीं की कामना करने वाला उशना बनूं।

दिव्यता का अवतरण

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३
पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो
३ २ २ ३ १ २ १ २ १ २ ३ १ २
अधि सानो अव्ये। अव द्रोणानि घृतवन्ति
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
रोह मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः॥१०॥
॥५३२॥

वीर्य व viliality के वाचक सोम का सदा 'आरोहण' ही होना चाहिए (उर्ध्वगमन) न कि अवरोहण। प्रस्तुत मन्त्र में अवरोहण की प्रार्थना है। सो स्पष्ट है कि यहां 'सोम' से परमात्मा का ग्रहण है। इस परमात्मा का हम अपने में अवरोहण कर पाते हैं तो कहते हैं कि—

(१) ऐ सोम ? [**पवस्व**]=हमारे जीवनों को पवित्र करिये। प्रभु के सामीप्य में पवित्रता तो अनुभव से ही सिद्ध है। (३) [**मधुमान्**]=वे प्रभु रस हैं—हमारे जीवन को भी रसमय माधुर्यमय बना देते हैं। (३) [**ऋतावा**]=प्रभु 'ऋत' का अवन करने वाले हैं। ऋत का अभिप्राय 'साम्प्रतं स्थाने'=ठीक समय पर और ठीक स्थान पर की जाने वाली क्रियायें हैं। प्रभु का उपासक प्रत्येक क्रिया को ठीक ही करता है—उसका जीवन मर्यादा वाला होता है (४) [**अधि सानो अव्ये**] =मेरु पर्वत के (रीढ़ की हड्डी के) शिखर पर सुरक्षित स्थान में-अर्थात् मस्तिष्क में [**अपोवसानः**]=यह कर्मों का धारण करने वाला है। अभिप्राय यह है कि प्रभु का उपासक सदा सोचकर कर्म करता है।

इस प्रकार प्रभु की उपासना से हमारे जीवन में पवित्रता, माधुर्य, मर्यादा तथा विवेक पूर्वक क्रियाशीलता आदि गुणों का विकास होता है। इसी से हम उस प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि ऐ प्रभो ? आप [**द्रोणानि घृतवन्ति अवरोह**]=हमारे (द्रु अभिगतौ) सदा क्रियाशील—क्रिया के द्वारा लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए, मन में मालिन्य के क्षरण—विनाश वाले तथा मस्तिष्क में दीप्ति वाले (घृ=क्षरण+दीप्ति) शरीर में अवतीर्ण होइये। प्रभु की दिव्यता का हमारे में अवतरण हो। यदि हम ऐसा कर सके तो वे प्रभु हमारे लिये (१) [**मदिन्तमः**] अत्यन्त आनन्दमय हैं—हमें आनन्द की अद्भुत अनुभूति को प्राप्त कराने वाले हैं। (२) [**मत्सरः**]=आनन्दपूर्वक क्रिया को करने वाले वे प्रभु हमें भी कर्म में श्रम नहीं अपितु विश्राम का का अनुभव कराते हैं। हमें कर्म में आनन्द आने लगता है। (३) [**इन्द्रपानः**]=वे प्रभु जितेन्द्रिय के रक्षक भी तो हैं। प्रभु की रक्षा के हम पात्र बनते हैं। प्रभु से सुरक्षित यह इन्द्र सभी आसुर वृत्तियों को कुचलता हुवा प्रतर्दन कहलाता है। और प्रभु का अनन्य भक्त होने से यह 'दैवोदासि है।

भावार्थ—मैं अपने में प्रभु की दिव्यता का अवतरण करूं। उसके लिए गति-नैर्मल्य व दीप्ति को सिद्ध करूं।

● ● ●

।। ५ ।। ऋषिः—१ प्रतर्दनः; २, १० पराशरः शाक्त्यः; ३ इन्द्रप्रमितिर्वासिष्ठः; ४ वसिष्ठो मैत्रावरुणः; ५ मृडीको वासिष्ठः; ६ नोधा गौतमः; ७ कण्वो घौरः; ८ मन्युर्वासिष्ठः; ९ कुत्स आङ्गिरसः; ११ कश्यपो मारीचः; १२ प्रस्कण्वः काण्वः ।। देवता—पवमानः सोमः ।। छन्दः—त्रिष्टुप् ।। स्वरः—धैवतः ।।

प्रभु सेनानी हैं—मैं उनका सैनिक

वह सेना और वह सेनानी

१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ २
प्र सेनानीः शूरो अग्ने रथानां गव्यन्नेति
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३ १र
हर्षते अस्य सेना। भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहवा-
२१ २ २उ ३ १ २ ३ १ २
न्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते
।।१।।५३३।।

'प्रतर्दन' प्रभु का अपने में अवतरण करता है और प्रभु अब उसके सेनापति बनते हैं वह [**सेनानीः**]=सेनापति [**शूरः**]=सब शत्रुओं का संहार करने वाले हैं। अर्जुन भीष्म-वध में हिचकिचाता है तो कृष्ण ही तो सुदर्शन चक्र ले आगे बढ़ते हैं—यह ठीक है कि प्रेरणा प्राप्त करके अर्जुन ही संहार करता है परन्तु कृष्ण की प्रेरणा की प्राप्ति के अभाव में अर्जुन शत्रु संहार में अशक्त है। जीव भी प्रभु से प्रेरित होकर ही शत्रओं का

हनन किया करता है। [**रथानां अग्रे**]=रथों को अग्र भाग में वह सेनानी स्थित है। शरीर ही रथ है, उत्तमांग उसका अग्र भाग है। 'अधिसानो अव्ये—यही मेरु पर्वत के शिखर पर सुरक्षित स्थान है। मस्तिष्क में स्थित हुए २ जीव के ज्ञान में स्थित हुए-हुए ये प्रभु [**गव्यन्**]—वेदवादियों का उच्चारण करते हुए [**प्रएति**]—गति कर रहे हैं। प्रभु ज्ञान देते हैं—जीव उस ज्ञान के अनुसार क्रियाशील होता है।

उस प्रभु के आह्वान के अनुसार चलती हुई (**अस्य सेना**)—इस प्रभु की यह सेना (**हर्षते**)—हर्ष का अनुभव करती है। प्रभु के सैनिक आनन्द में न होंगे तो कौन आनन्द में होगा। प्रेय मार्ग प्रारम्भ में चमकता हुवा उत्तरोत्तर क्षीणकान्ति होता जाता है। श्रेयमार्ग में उत्तरोत्तर आनन्द बढ़ता ही जाता है—वहां अन्त में दुःखों का पूर्ण अन्त है।

इस मार्ग पर अपने पीछे आते हुए [**सखिभ्यः**]—अपने मित्रों को उत्साहित करने के लिए [**भद्रान्**]—बड़े शुभ [**इन्द्रहवान्**]—सेनापति की पुकारों को [**कृण्वन्**]—करता है (लट्—शतृ)। प्रभु सेनापति हैं। सेनापति को सैनिकों को उत्साहित करना ही चाहिये। इस प्रकार समय-समय पर उत्साहित किये जाते हुए ये सैनिक विजयी बनते हुए लक्ष्य स्थान पर पहुंच ही जाते हैं। प्रभु सेनापति हों, और सैनिक हार जांय यह कभी संभव है? कृष्ण सेनापति हैं अर्जुन विजयी होता ही है। शल्य को सेनापति बना कर कभी कर्ण विजयी हो सकता था?

विजयी बनकर जब योद्धा अपने शिविर में पहुंचते हैं तो कवच उतार देते हैं इसी प्रकार अपने इन विजयी योद्धाओं के [**रभसानि वस्त्रा**]=इन जबर्दस्त शरीर रूप वस्त्रों को [**सोमः**]=वह परमात्मा [**आदत्ते**]=वापिस ले लेता है। शरीर 'वस्त्र' है—यह विजयी बनने तक मिलता ही रहेगा। विजय प्राप्ति के बाद प्रभु इसे वापिस ले लेंगे—यही मोक्ष है। आज सचमुच 'दैवोदासि प्रतर्दन' यह नाम सार्थक हुवा है।

भावार्थ—प्रभु सेनानी हैं—मैं हूं उनका सैनिक।

अध्यात्म संग्राम में विजय

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन् वारं यत्पूतो
३ १र २र १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अत्येष्यव्यम् । पवमान पवसे धाम गोनां
३ २ ३ १ २ ३ २
जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः ॥२॥५३४॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'पराशर शाक्त्य' है—शत्रु को दूर नष्ट करने वाला शक्ति सम्पन्न। यह काम क्रोधादि को नष्ट करने में तत्पर है। [**अव्यं**]=रक्षण करने वालों में सर्वोत्तम जो 'ज्ञान' है, उस ज्ञान के [**वारं**]=विघ्नभूत काम को यह पराशर नष्ट करने के लिए सतत प्रयत्न में लगा है। काम ज्ञान का शत्रु है—और ज्ञान काम का विध्वंस करने वाला। काम प्रबल हुआ तो गीता के शब्दों में "आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा" इस ज्ञानी के नित्य वैरी से ज्ञान आवृत रहता है जैसे कि घने बादलों से सूर्य। परन्तु ज्ञान रूपी सूर्य के चमकने पर काम शान्त हो जाता है, ज्ञानाग्नि उसे दग्ध कर देती है—ज्ञान-जल उसे कामाग्नि को बुझा देता है जैसे कि प्रचण्ड सूर्य की किरणें बादल को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। प्रभु इसे पराशर से कहते हैं कि [**यत्**]=जब [**अव्यं वारं**]=इस सर्वोत्तम रक्षक ज्ञान के विघ्नभूत (वृ=वृत्र, वार) काम को [**पूतः**]=ज्ञान से पवित्र हुवा-हुवा तू (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र महि विद्यते) [**अत्येषि**]=लांघ जाता है तो [**ते**]=तेरी [**मधुमतीः धारा असृग्रन्**]=योग की अन्तिम भूमिका में उत्पन्न होने वाली आनन्दरस के माधुर्य की स्राविणी धारायें उत्पन्न होती हैं। यह आनन्द की वर्षा तुझे और अधिक इस मार्ग में स्थिर होने

के लिये प्रेरणा देती हैं। (वर्षम् इषवः) ऊर्ध्वादिक् के प्रेरक ये वृष्टि बिन्दु ही तो हैं।

पराशर नम्रतापूर्वक प्रभु से कहता है कि ऐ प्रभो ? [**पवमान**]=आप ही तो मुझे पवित्र करने वाले हैं। (१) [**गोनां धाम पवसे**]=आप मेरी इन्द्रियों के तेज को प्राप्त कराते हैं या उसे और अधिक दीप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में मुझे तेजस्वी बनाते हैं (२) [**सूर्यं जनयन्**]=आप ही मेरे में ज्ञान-सूर्य का उदय करने वाले हैं। आपको ही की कृपा से मेरा ज्ञान सूर्य की तरह चमकता है—मेरे मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य आप से तो उदित किया जा रहा है (३) और ऐ प्रभो ? आप ही मेरे हृदय को [**अर्कैः**]=स्तुति मन्त्रों से—स्तोमों से—भक्ति की भावनाओं से [**अपिन्वः**]=भर रहे हैं—पूरित कर रहे हैं। मेरे शरीर का तेजस्विता, मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि की प्रचण्डता, तथा हृदय में भक्ति को भावनाएं सब आपसे ही तो पैदा की जा रही हैं। यह अत्यन्त विनीत पराशर प्रभु की गोद में क्यों न पहुंचेगा।

भावार्थ—मैं काम का संहार कर, प्रभु कृपा से इस अध्यात्म युद्ध का विजेता बनूं। प्रभु सेनानी हों, और मैं हार जाऊँ ? यह कैसे हो सकता है ?

मैं रसमय बनकर उस 'रस' को पाऊँ

१ २ ३क २र ३ १र २र ३ १र
प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महते
२र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १
धनाय । स्वादुः पवतामति वारमव्यमा
२ ३ १ २ ३ १र २र
सीदतु कलशं देव इन्दुः ॥३॥५३५॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'इन्द्रप्रमति वासिष्ठ' के जीवन का चित्रण है। इन्द्र जो प्रकृष्ट मति वाला है—उत्तम बुद्धि वाला है। वासिष्ठ है—काम-क्रोध को वशीभूत करने वाला है। यह ऐसा इसलिए बन पाया कि इसके जीवन के सूत्र निम्न थे—

(१) [**प्रगायत**]=उस प्रभु का खूब ही गायन करो। सोते-जागते सदा उस प्रभु का स्मरण करो। यह स्मरण और गायन हमें अधर्म से बचाएगा और हमारे सामने सदा लक्ष्य दृष्टि बनी रहेगी।

(२) [**अभ्यर्चाम देवान्**]=हम देवों की अर्चना करें। बड़े व्यक्तियों के आदर की भावना हमारे में सदा बनी रहे। 'मातृदेवोभव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथिदेवो भव, इन उपनिषद् वाक्यों को न भूलते हुए हम 'माता-पिता आचार्य व अतिथियों' के आदर करने वाले बनें—ये हमारे लिए देव हों। राम को तरह पिता व आचार्यों को कहना मानने वाले हों।

(३) [**सोमं हिनोत महते धनाय**]=ज्ञानरूप महान् धन के लिए संयमी बनकर हम सोम को अन्दर प्रेरित करने वाले हों। vitality व वीर्य शक्ति हमारे अंग-प्रत्यंग को स्वस्थ बनाने वाली होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बने। रुपये-पैसे को तो विषय-प्रसित पुरुष भी कमा ही सकता है।

(४) [**स्वादुः**]=अत्यन्त माधुर्यमय जीवन वाले बनकर हम [**अव्यं वार**[=सर्वोत्तमरक्षणीय वस्तु ज्ञान के विघ्न भूत काम को [**अति पवताम्**]=लांघ जायें। काम को जीतने का वास्तविक उपाय जीवन को मधुर बनाना ही है—प्राणिमात्र मैं माधुर्य के लिए के लिए हुए होऊं। संकुचित प्रेम ही काम है—यही व्यापक होकर माधुर्य बन जाता है। 'प्रेम' समाप्त नहीं किया जा सकता। काम भस्म होकर भी जीवित ही है। हाँ, इसे व्यापक बनाकर मैं मधु जैसा बन जाऊं। उस समय यह मेरे ज्ञान को आवृत न कर सुन्दर बनाने वाला होगा।

(५) जब मैं अपने जीवन को उल्लिखित प्रकार से बनाता हूँ तो मेरा यह शरीर सचमुच 'कलश' बनता है। कलाः शेरते अस्मिन्' इसमें सोलह की सोलह कलाओं का प्रवेश होता है। और इस [**कलशः**]=सुन्दर सकल शरीर में [**इन्दुः**

देवः]=वह सर्व शक्तिमान् सर्वैश्वर्य सम्पन्न दिव्य प्रभु [**आसीदतु**]=आकर विराजमान हों। मेरा शरीर प्रभु का निवास स्थान बने। इस दिन प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करता हुवा मैं 'प्रयति' क्यों न बनूंगा ?

भावार्थ—स्तुति, बड़ों का आदर, संयम, तथा माधुर्य मेरे जीवन को प्रभु के निवास के योग्य बना डालें।

प्रभु की ओर

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १र १र
प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं
३ १ २ २ ३ २ ३ १ ३ १
सनिषन्नयासीत् । इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशि-
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
शानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥४॥
॥५३६॥

'वसिष्ठ' काम क्रोध को वशीभूत करके उस प्रभु की ओर चलता है। इसका जीवन निम्न रूप में दिखता है—

(१) [**प्र हिन्वानः**]=यह सोम को अपने शरीर में प्रकर्षेण व्याप्त करता है। सोम को शरीर में प्रेरित करता है यह उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है। इसमें उसे रस का अनुभव होता है।

(२) [**जनिता रोदस्योः**]=यह द्यावा पृथिवी का विकास करने वाला होता है। (मूर्धा द्यौः, पृथिवी शरीरम्) यह शरीर के स्वास्थ्य का भी पूरा ध्यान करता है और मस्तिष्क के विकास वाला होता है।

(३) [**रथो न**]=शरीर को यह जीवनयात्रा के लिए रथ ही बनाये रखता है—इसे वह भोग भोगने का साधन नहीं बनाता।

(४) [**वाजं सनिषन्**]=शरीर में गति, प्राणों में शक्ति, मन में त्याग तथा बुद्धि में ज्ञान को धारण करता हुवा यह [**अयासीत्**]=आगे और आगे बढ़ता जाता है। किधर ?—

(५) [**इन्द्रं गच्छन्**]=यह उस परमैश्वर्य वाले प्रभु की ओर निरन्तर चल रहा है।

(६) [**आयुधा संशिशानः**]=इन्द्रियां मन व बुद्धि रूप आयुधों को यह निरन्तर तीव्र कर रहा है। प्रभु प्राप्ति के मार्ग में कितने ही विघ्न हैं। विभूतियां भी तो विघ्न ही हैं। पर यह उनमें भी फंसता नहीं है। आसुर भावनाओं से संग्राम के लिए यह अपने अस्त्रों को तीव्र रखता है।

(७) [**विश्वा वसु हस्तयोः आदधानः**]=संपूर्ण धनों को यह हाथों में धारण किये हुये हैं। ऐश्वर्य की कमी नहीं। परन्तु यह उसमें फंसता नहीं। राम सीता को लेकर अयोध्या चलते हैं। तो मार्ग में परशुराम विघ्न के रूप में आते हैं। लक्ष्मण तेज़ होता है, पर राम शान्त हैं। योगी भी विभूतियों को लेकर चलता है तथा कामादि असुर विघ्न रूप में उपस्थित होते ही हैं, परन्तु योगी उनमें फंसता नहीं।

भावार्थ—वसिष्ठ बनकर हम प्रभु की ओर चलें। मार्ग में विघ्नों को जीतने के लिए अपने अस्त्रों को हम तीव्र रखें।

साधन-त्रयी

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग् ज्येष्ठस्य धर्मं
३ १र २र १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
द्युक्षोरनीके । आदीमायन् वरमा वावशाना
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम् ॥५॥५३७॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'कर्णश्रुत् वासिष्ठ' है। जो संयमी है—'वासिष्ठ' है। संयमी होता हुवा 'कर्णश्रुत्' है—कानों से ध्यानपूर्वक सुनने वाला है। यह कर्णश्रुत्[**यद्**]=जब[**ई**]=ही निम्न तीन बातों को करता है तो [**आत्**]=शीघ्र ही उसके बाद [**ईम्**]=निश्चय से [**गावः**]=इसकी इन्द्रियां [**आवावशानाः**]=प्रबल कामना करती हुई [**कलशे**]=इस स-कल शरीर में उस [**वरम्**]=

सर्वोत्कृष्ट [**जुष्टं**]=प्रीतिपूर्वक सेवन के योग्य [**पतिम्**]=रक्षक [**इन्दुम्**]=सर्वशक्तिशाली प्रभु को [**आयन्**]=प्राप्त होती हैं। 'आवावशानाः' शब्द इस बात को सुव्यक्त कर रहा है कि प्रबल कामना के होने पर ही वे प्रभु मिलेंगे। कोई भी वस्तु अनिच्छा से प्रयत्न होने पर प्राप्त नहीं होती —प्रभु की प्राप्ति ने तो अनिच्छा में होना ही क्या ? 'मुमुक्षुत्व'=संसार के बन्धनों से छूटने की प्रबल इच्छा प्रभुप्राप्ति के लिए प्रथम साधन है। 'कलशे' शब्द की भावना यह है कि हम जिस शरीर में प्रभु का दर्शन करना चाहते हैं उसे 'स-कल'=सर्व कला संपूर्ण बनाने का प्रयत्न करें। वे 'षोडशी' प्रभु तभी तो मिलेंगे यदि हम भी सोलह कला संपूर्ण बनने का प्रयत्न करें। अस्तु, वे तीन बातें निम्न हैं—

(१) [**वेनतः**]=कामयमान मेधावी पुरुष से [**मनसः**]=मन से-दिल से—इच्छापूर्वक जब [**वाक्**]=वेदवाणी [**तक्षत्**]=अपने अन्दर निर्माण की जाती है। हम हृदय को पवित्र करेंगे तो ये वेदवाणियां तो हमारे हृदय में प्रभु द्वारा उच्चरित होंगी ही। हमारे अन्दर इस बात के लिए प्रबल कामना हो और हम दिल से इस वेद-ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

(२) [**ज्येष्ठस्य धर्मं**]=बड़े के धर्म को जब [**तक्षत्**]=अपने में बनाता है। बड़े का धर्म क्या है ? बड़ा बनना—क्षुद्रता=meanness—कमीनेपन से ऊपर उठना। 'उदार' ही तो धर्म है। काम क्रोध से पराजित न होना यह है—बड़प्पन।

(३) [**द्युक्षोः**]=दिव्यता में निवास करने वाले के (द्यु-क्षु) [**अनीके**]=मुख में—अग्रभाग में या शक्ति में [**तक्षत्**]=अपने को बनाता है। उत्तरोत्तर दिव्यता को अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न करने पर हम देव बनकर उस देवाधिदेव को क्यों न प्राप्त करेंगे ? 'ज्ञान को बढ़ाना' उस 'सर्वज्ञ' के समीप पहुंचने के लिए आवश्यक है ही।

भावार्थ—हम ज्ञान, धर्म तथा दिव्यता के द्वारा प्रभु की ओर बढ़ने वाले हों।

एकाग्रता व आत्मनिष्ठा

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य
३ २ ३ १२ २ ३ १ २ ३ १र २र ३
धीतयो धनुत्रीः। हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य
१ २ ३ २ ३ २ ३ २
द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥६॥५३८॥

गीता में 'यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ समदुःखसुखं धीरं सोमृतत्वाय कल्पते'। इन शब्दों में उस पुरुष को धीर कहा है जो कि इन्द्रिय विषयों के सम्पर्कों से होने वाले सुख-दुःखों से ऊपर उठ जाता है। इस [**धीरस्य**]=धीर पुरुष की [**धीतयः**]=ध्यानवृत्तियां—अन्तःकरण की वृत्तियां (१) [**'साकमुक्षः'**]=(साकम् उ क्षः) सदा साथ रहने वाली होती हैं। सामान्यतः मनुष्य का मन विविध विषयों के ध्यान में भागा रहता है —कभी पर्वतों, कभी समुद्रों और कभी दिशाओं में भटकता है (मनो जगाम दूरकम्)। परन्तु धीर पुरुष इसे इधर-उधर भागने से रोक कर एकाग्र-वृत्ति वाला बनता है उसकी चित्तवृत्ति आत्मा के साथ निवास करने वाली होती है—वस्तुतः 'स्वस्थ' तो यही पुरुष है। फिर (२) [**मर्जयन्त**]=धीर की चित्तवृत्तियां उसे (मृजू शुद्धौ) शुद्ध बनाती हैं। विषय-पंकों में न उलझकर यह शुद्ध बना रहता है। (३) [**स्व-सारः**]=धीर की चित्तवृत्तियाँ 'स्व'=आत्मा, उसकी ओर 'सारः'—चलने वाली होती हैं। और अत एव (४) [**धनुत्रीः**]=विशेष प्रेरणा को प्राप्त कराने वाली होती हैं। इन विशेष प्रेरणाओं को प्राप्त इस विशिष्ट जीवन वाले धीर पुरुष का चरित्र निम्न विशेषताओं से युक्त होता है—(५) [**हरिः**]=यह औरों के दुःखों का हरण करने वाला होता है (६) [**पर्यद्रवत्**]=यह जहां

भी कष्ट देखता है उसी स्थान पर पहुंचता है, यह **[परि]**=चारों ओर**[अद्रवत्]**=गति करता है, 'परिव्राजक' बनता है (७) उस-उस स्थान पर पहुंचकर **['सूर्यस्य जाः']**=यह ज्ञान के सूर्य का प्रकाशक होता है। लोगों के अज्ञान अन्धकार को दूर करता है। (८) **[द्रोणं]**=नानाविधि कष्टों से उप-द्रुत—पीडित संसार के प्रति **[नक्षे]**=यह जाता है, अर्थात् अपनी ही समाधि के आनन्द में न फंसकर लोगों के दुःखों व अज्ञानों को दूर करने में समय व्यतीत करता है (९) यह **[अत्यः न]**=सतत गतिशील घोड़े के समान होता है और 'स सद्य एति पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रम्'=पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक शीघ्र पहुंचने वाला होता है। आराम को तिलांजलि देकर यह लोकहित में लगा हुवा है—थकता नहीं **[वाजी]**=शक्तिशाली जो है। वस्तुतः आत्मा के साथ रहने वाली ध्यानवृत्तियों ने इसके जीवन को बड़ा शक्तिशाली बना दिया है। प्रेयमार्ग में ही क्षीणता है, श्रेयोमार्ग में शक्ति। इस शक्ति को प्राप्त करके यह 'सर्वभूतहिते रतः' है उसके लिए सतत गतिशील है।

उल्लिखित नौ बातों से युक्त जीवन वाला 'नवधा' = नोधा =है—इसी प्रभु की दृश्य नव= स्तुति को धारण करने वाला है (नू=स्तुतौ)।

भावार्थ—मेरा जीवन एकाग्रता व दिव्यशक्ति के द्वारा लोकहित में अर्पित हो।

शुभ गुणों में स्पर्धा

२ ३ १ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
अधि यदस्मिन् वाजिनीव शुभः स्पर्धन्ते
२ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३
धियः सूरे न विशः। अपो वृणानः पवते
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
कवीयान् व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म ॥७॥
॥५३९॥

[यत्]=जब **[अस्मिन्]**=इस **[वाजिनि]**=शक्तिशाली पुरुष में **[शुभः धियः]**=शुभ कर्म या शुभ प्रज्ञायें **[अधि]**=आधिक्येन **[स्पर्धन्ते इव]**=स्पर्धा सी करते हैं। सब प्रज्ञायें उस शक्तिशाली पुरुष में स्थान पाने के लिए लालायित सी रहती हैं। वस्तुतः वीरता सब शुभ गुणों का आधार है। महाभारत में व्यास ने सब पाण्डवों में एक-एक मुख्य गुण का उल्लेख किया है, परन्तु शौर्य सब पाण्डवों का सामान्य गुण है। वस्तुतः उस शौर्य को ही आधार बनाकर अमुक-अमुक गुण उस-उस पाण्डव में निवास कर रहा है। इस शक्तिशाली को आधार बनाने के लिए गुण उसी प्रकार स्पर्धा वाले होते हैं। **[नः]**=जैसे **[विशः]**=प्रजायें **[सूरे]**=सूर्य में। सूर्य के प्रकाश के लिए जैसे प्रजायें लालायित होती हैं उसी प्रकार गुण, शक्तिशाली पुरुष के लिए।

यह शक्तिशाली पुरुष **['अपो वृणानः]**=कर्मों का वरण करता है—सदा कर्मनिष्ठ होता है। **[पवते]**=कर्मनिष्ठता के द्वारा अपने को पवित्र बनाता है। **[कवीयान्]**=यह अत्यधिक क्रान्तदर्शी होता है। चीजों के तत्व को देखता है। उनकी आपातरमणीयता में उलझता नहीं। न उलझने के लिए ही काम-क्रोध को दूर करने का ध्यान करता है। **[पशुवर्धनाय]**=(कामः पशुः, क्रोधः पशुः'=काम क्रोध पशु हैं। इनके वर्धन=छेदन के लिए **[मन्म]**=ज्ञान को **[व्रजं न]**=बाड़े की तरह बनाता है। जैसे बाड़े में बन्द करके पशु को हम वश में कर लेते हैं, इसी प्रकार ज्ञानरूप बाड़े में हम काम-क्रोध को वशीभूत कर लेते हैं। वशीभूत काम पुरुषार्थ है—यह हमें लक्ष्य स्थान पर पहुंचाने के लिए आवश्यक है। घोड़ा बेकाबू होता है तो सवार को घसीटता है, पर काबू हुवा-हुवा वही उसे उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचाता है। इसी प्रकार वशीभूत काम की बात है। उच्छृंखल काम हमें कुचल डालता है—नियन्त्रित काम प्रभु-प्राप्ति में सहायक होता है। हमने काम को समाप्त कर अकामता में नहीं चले जाना। सब वैदिक कर्मयोग व वेदाधिगम काम से ही साध्य है। यह काम-क्रोध

का वशीकरण कण-कण करके, चींटी की चाल से धीमे-धीमे ही होगा। सो इसका साधक 'कण्व' कहलाता है। धीमे-धीमे जीवन इसका उदात्त व उदात्ततर और उदात्ततम होता जाता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को ऐसा बनायें कि सब गुण हमें अपना आधार बनायें।

ज्ञान की तरंगे ज्ञान का प्लावन

१२ ३२ ३ २ १ २ ३ २३ २ ३ २३
इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह
२ ३ १ २ ३ २ २ ३ १२३ १र २र ३
इन्वन्मदाय। हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं
१२ ३ २ ३१२३ १ २
वरिवस्कृण्वन् वृजनस्य राजा ॥८॥५४०॥

कामादि पशुओं के संहार के लिए जब मनुष्य ज्ञानरूप बाड़े को बनाता है तो उसका जीवन निम्न प्रकार से चलता है—(१) [**इन्दुः**]=(इन्द To be powerful) यह शक्तिशाली बनता है। कामादि वासनायें ही तो मनुष्य की शक्ति को जीर्ण करती हैं—जीर्णता के कारणों के समाप्त होते ही उसकी शक्ति उपचित होने लगती है। शक्ति के बढ़ने से यह 'इन्दु' बनता है (२) [**वाजी**]= यह शक्ति ही इसे रोगों के साथ युद्ध करने में समर्थ बनाती है। इसकी vitality वीर्य शक्ति रोग कृमियों के विरोध में युद्ध करती है (Wages a war) एवं, इसका अन्नमय कोश वज्र तुल्य दृढ़ होता है तो प्राणमय कोश रोग कृमियों के संहार की शक्ति वाला होता है। (३) [**पवते**]=इसका मन पवित्र होता है, और (४) [**गो नि ओघाः**] =इसके विज्ञानमय कोश में ज्ञान की वाणियों का प्लावन (flood) सा आ जाता है, अर्थात् इसकी बुद्धि सूक्ष्म होकर इसका ज्ञान बहुत ही बढ़ जाता है। (५) इन चारों कोशों में उत्कर्ष के साथ सबसे बड़ी बात यह होती है कि इस [**इन्द्रे**]—जितेन्द्रिय व्यक्ति में (**सोमः**)=वह शान्तरूप प्रभु [**सह**]=साथ रहते हुए [**इन्दन्**]=सदा इसे प्रेरणा देते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि [**मदाय**]=इसके जीवन में मद व उल्लास होता है।

इस शक्ति के मद में वह (६) [**हन्ति रक्षः**] =सब राक्षसी वृत्तियों को समाप्त कर देता है। [**अरातिं**]=न देने की वृत्ति को [**परिबाधते**] सर्वतः कुचल देता है। इसका जीवन अशुभ वृत्तियों से शून्य होकर पवित्र हो जाता है और यह पवित्र हृदय होकर (७) [**वरिवः**]=उस प्रभु की पूजा को [**कृण्वन्**]=करता है और [**वृजनस्य**]=सब दोषों का वर्जन करने वाली शक्ति का [**राजा**]= मालिक होता है। शक्ति से इसका जीवन चमकता है। इस प्रकार इसका जीवन सुन्दर ही सुन्दर होता है। इस जीवन की सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि 'गोन्योघाः=ज्ञान-जल के प्लावन वाला होता है। ज्ञानातिरेक से ही इसका नाम 'मन्युः'(ज्ञानी) हो गया है। यह 'वासिष्ठ' है—काम क्रोध को वश में किए हुए है।

भावार्थ—मैं ज्ञान-जल में तैरने वाला बनूं।

प्रभु ही मेरे प्राण हों

१ २ ३१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो
१ २ ३ १ २ ३ २३ २ ३ २ ३ १
सरसि प्र धन्व। ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे न रंधात्
॥९॥५४१॥

[**अया**]=इस [**पवा**]=पावन क्रिया से [**एना वसूनि**]=इन वास के साधनभूत शरीर मन व बुद्धि आदि को [**पवस्व**]=पवित्र कर डाल। गत मन्त्र में 'गोन्योघा'=ज्ञान के प्लावन वाले बनने का उल्लेख है 'सह'=परमेश्वर के साथ होने का संकेत है और 'वरिवः कृण्वन्'=उसकी पूजा करने का वर्णन है। यही वस्तुतः अपने को

पवित्र बनाने की प्रक्रिया है। इसी मार्ग पर चलने से मनुष्य इस शरीर की अंगभूत वस्तुओं को पवित्र बनाए रख सकता है 'अया पवा' में 'अया' शब्द सर्वनाम होता हुवा गतमन्त्र की पावन क्रिया का ही संकेत करता है। हमें ज्ञान व भक्ति से अपने को पूर्ण पवित्र बनाने का ध्यान करना है।

प्रभु कहते हैं कि अपने को पवित्र बनाकर ऐ [**इन्दो**]=शक्तिशाली जीव ? तू [**मांश्चत्वे**] =कर्म में तथा [**सरसि**]= (सर इति वाङ् नामे) नि १. ११. ५५ ज्ञान में [**प्रधन्व**]=प्रकर्षेण गति वाला हो। निघण्टु में (१. १४. १८) 'मांश्चत्व' का अर्थ 'अश्व' दिया है। यह अश्व कर्म का प्रतीक है। 'अनध्वाजिनांजरा' = 'न चलना' घोड़ों को बूढ़ा कर देता है। इससे 'अश्व' को कर्म का प्रतीक बनाया गया है। 'मांश्चत्व' शब्द मन् तथा चर् धातु के मेल से बना है, कर्म सदा मननपूर्वक करने योग्य है, इसलिये भी इसे 'मांश्चत्व' कहा गया है। ज्ञानाधि-देवता को 'सरस्वती' कहते हैं—सो स्पष्ट है कि 'सरस्' नाम ज्ञान का है। मनुष्य ने पवित्रता से शक्ति का सम्पादन करके मननपूर्वक कर्म में (मांश्चत्वे) ज्ञान में (सरस्) प्रवृत्ति होना है। मनुष्य नें अपना जीवन ऐसा बनाना है कि [**यस्य**]=जिसका [**ब्रघ्नः चित्**]=वह महान् परमात्मा ही उसका [**वातो न**]=प्राण की तरह हो (He must live in God) प्रभु को वह अपना जीवन समझे। प्रभु स्वाभाविकी क्रिया वाले हैं, इसका भी क्रिया स्वभाव बन जाय। वस्तुतः [**पुरुमेधाः**]=पालक पूरक बुद्धि वाला मनुष्य [**चित्**]=निश्चय से [**तकवे**]=गति के लिए [**जूर्तिं**]=वेग को [**न रन्धात्**]=कभी पृथक नहीं करता। अर्थात् बड़ी स्फूर्ति के साथ यह सदा कार्यों में लगता है, कार्यों में लगे रहने से इसके जीवन में दो परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। शरीर में यह रोगों को न उत्पन्न होने देता हुवा 'आंगिरस' बना रहता है और मन में बुरी भावनाओं को कुचलने में समर्थ होकर 'कुत्स' कहलाता है।

भावार्थ—मैं सदा मनन पूर्वक कार्य करने वाला बनूँ, ज्ञान में मैं विचरूं, तथा प्रभु ही मेरे प्राण हों।

अपां-गर्भ बनना, तीन महान कार्य

(the greatest achievement)

३ १र २र ३ १ २ ३ ३ १र
महत् तत् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽ-
२ ३ २ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १र
वृणीत देवान्। अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽ-
२र ३ २ ३ २ ३ १ २
जनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥१०॥५४२॥

[**सोम**]=सौम्य स्वभाव वाला अथवा शक्ति का पुंज [**महिषः**[=प्रभु की सदा पूजा करने वाला [**तत्**]=उस [**महत्**]=कर्म को [**चकार**] =करता है, [**यत्**]=जो [**अपां गर्भः**]=कर्म ही जिसके गर्भ में है अर्थात् सदा कर्म करने वाला बनकर [**देवान् अवृणीत**]=दिव्य गुणों का वरण करता है। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता, और परिणामतः इसकी दिव्यता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। 'अकर्मा दस्युः'=कर्म न करने वाला दिव्यता के क्षय से दस्यु बन जाता है। कर्म करने से दिव्यता की वृद्धि होती है—साथ ही शक्ति भी बढ़ती है। परन्तु यह [**पवमानः**]=अपने को पवित्र करने वाला व्यक्ति [**ओजः**]=अपनी इस शक्ति को [**इन्द्रे**]=उस प्रभु में [**अदधात्**]= स्थापित करता है। इसे उस शक्ति का गर्व नहीं होता=यह शक्ति का स्रोत उस प्रभु को ही मानता है। शक्ति की वृद्धि के साथ यह ['इन्दुः'] =शक्तिशाली अथवा परमैश्वर्य संपन्न जीव [**सूर्ये**] उस चराचर के प्राणभूत—सब गतियों के मूल प्रभु में [**ज्योतिः**]=प्रकाश को (**अजनयत्**) =उत्पन्न या विकसित करता है।

इस प्रकार इस सोम के द्वारा तीन महान् कार्य

किये जाते हैं—

(१) 'अपांगर्भः' सर्वदा क्रियाशील बनकर यह दिव्य गुणों का वरण करता है।

(२) यह अपनी शक्ति का गर्व नहीं करता, तथा

(३) प्रभु के विषय में अपने ज्ञान को अधिकाधिक विकसित करता है। अपने जीवनयात्रा के मार्ग में आये हुए विघ्नों को कुचलता हुवा 'पराशर' बनता हुवा यह 'शाक्त्य' होता है—शक्ति का पुतला बनता है।

अध्यात्मसंग्राम में सेनापति

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अर्सार्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता
३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
प्रथमा मनीषा । दश स्वसारो अधि सानो
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अव्ये मृजन्ति वह्निं सदनेष्वच्छ ॥११॥५४३

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'कश्यपो मारीचः' है—'ज्ञानी-वासनाओं का विध्वंस करने वाला'। इसके द्वारा (**यथा**)=जैसे (**आजौ**)=युद्ध में किसी सेनापति को नियुक्त किया जाता है उसी प्रकार [**रथ्ये**]=इस शरीर रूप रथ में चलने वाले (**आजौ**)=अध्यात्म संग्राम में वह प्रभु [**अर्सार्जि**) सेनापति बनाया जाता है जो कि—

(१) [**वक्वा**)=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का उच्चारण करने वाला है। इस समय भी वह उस वेदवाणी का उच्चारण तो करता है—पर मैं उसे सुन तभी पाता हूं यदि मैं 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' बनूं।

(२) [**धिया मनोता**]=जो निराकार होने के कारण बुद्धि से ही विचारा जा सकता है। 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'। 'मनीषणो मनसा पृच्छतेदु'। वह प्रभु सूक्ष्म बुद्धि से ही तथा मन से ही जाना जाता है।

(३) [**प्रथमा मनीषा**]=जो अत्यन्त विस्तृत बुद्धि व ज्ञान ही है। प्रभु ज्ञान की ही तो चरम सीमा हैं। 'तन्निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'=ज्ञान का तारतम्य जहां विश्रान्त होता है—वे ही तो प्रभु हैं।

इस प्रभु को जब हम सेनापति बनाते हैं तो वे [**दश**]=दस इन्द्रियां जो अभी तक विषयों से अभिभूत हो जाती थीं, वे विषयासक्त न होकर अब [**स्व-सारः**]=आत्मतत्व की ओर चलने लगती हैं। और हमें [**सानोः**]=मेरु पर्वत के [**अव्ये-अधि**]=अत्यन्त सुरक्षित शिखर पर पहुंचाती हैं। शरीर में मेरुदण्ड ही मेरुपर्वत है, इसके शिखर पर आत्मा का कार्य क्षेत्र है। मस्तिष्क रूप कार्यालय में स्थित आत्मा प्रभु का दर्शन करता है। इस प्रकार ये इन्द्रियां [**मृजन्ति**]=हमें अधिक और अधिक शुद्ध बनाती चलती हैं। इस शुद्धता के द्वारा वे [**सदनेषु**]=इन शरीर रूप घरों में हमें [**वह्नि-अच्छ**]=भक्तों को मोक्ष प्राप्त कराने वाले उस प्रभु की ओर ले चलती है।

भावार्थ—अध्यात्मसंग्राम में प्रभु को सेनानी बनाकर मैं विजयी बनूं।

ज्ञातुं-द्रष्टुं-प्रवेष्टुं च

(ज्ञान-दर्शन-प्रवेश)

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
सोममच्छ । नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चाच
३ २ ३ २
विशन्त्युशतीरुशन्तम् ॥१२॥५४४॥

प्रभु को सेनापति बनाने पर [**अपाम् ऊर्मयः-इव**]=जलों की तरंगों के समान [**मनीषाः**]=बुद्धियां [**तर्तुराणाः**]=सब विघ्न-बाधाओं की हिंसा करती हुई (तुर्वी हिंसायाम्) अथवा त्वरा से कार्यों को सिद्ध करती हुई (त्वर) [**इत्**]=निश्चय से [**सोमम् अच्छ**]=उस प्रभु की ओर हमें [**प्र ईरते**]=प्रकर्षेण प्रेरित करती हैं बुद्धियों के द्वारा ही हमें ज्ञान प्राप्त होता है, मन का शासन

करने वाली बुद्धि हमें प्रभुप्रवण करती है। ज्ञान के बढ़ने के साथ ज्यूं-ज्यूं हम उस प्रभु की महिमा को सर्वत्र व्याप्त देखते हैं तो हमें कण-कण में उस प्रभु की सत्ता का आभास होने लगता है—इस दर्शन का ही परिणाम होता है कि [**नमस्यन्तीः**]=उस प्रभु के प्रति हम नत मस्तक होते हैं। [**उप च यन्ति**] और अब हम उस प्रभु की ओर चल देते हैं। इस मार्ग पर आगे बढ़ते हुए भक्त एक दिन [**समाविशन्ति**]=उस प्रभु में प्रवेश कर जाते हैं। नष्ट नहीं होते-परन्तु तद्रूप हो जाते हैं—प्रभु से इनका भेद नहीं रहता। भेद में ही तो भय है—ये अभय स्थिति में पहुंच जाते हैं। पहुंचते तभी हैं यदि [**उशतीः**]=उस प्रभु की प्राप्ति की प्रबल कामना वाले बने रहते हैं। ये उस प्रभु को पाते हैं जो कि [**उशन्तम्**]=सदा अपने प्रिय मित्र जीव का भला चाहते हैं। प्रभु तो हमारा कल्याण चाहते ही हैं—उसके लिए सब आवश्यक साधन भी जुटा देते हैं। हमारी ही कामना प्रबल नहीं होती तो हम उस प्रभु के मेल से वञ्चित रह जाते हैं। प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर हमने बेशक धीमे-धीमे बढ़ना है—परन्तु रुकेंगे नहीं तो लक्ष्य तक पहुंचेंगे ही। कण-कण करके आगे बढ़ने वाला यह 'प्रस्कण्व' प्रस्तुत मंत्र का ऋषि है। थोड़ा-थोड़ा संग्रह करते चलना ही मेधाविता भी तो है—इसलिए भी यह प्रस्कण्व =मेधावी कहलाया है। उपदेशों से हमें प्रभु का ज्ञान होता है—तप, स्वाध्याय व ईश्वर-प्रणिधान से उसका दर्शन होता है और अन्त में विषयों के प्रति पूर्ण अरुचि तथा प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामना से प्रभु से मेल होता है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में भी यही ज्ञान-दर्शन व प्रवेश (मेल) का क्रम सतत चलता चले।

* * *

(द्वितीयोऽर्धः)

॥ १ ॥ ऋषिः—१ अन्धीगुः श्यावाश्विः; २ नहुषो मानवः; ३ ययातिर्नाहुषः; ४ मनुः सांवरणः; ५, ८ ऋजिष्वाम्बरीषौ; ६, ७ रेभसूनू काश्यपौ; ९ प्रजापतिर्वाच्यो वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—१—६, ८, ९ अनुष्टुप्; ७ बृहती ॥ स्वरः—१—६, ८, ९ गान्धारः; ७ मध्यमः ॥

जिह्वारस से दूर

३ १ २   ३ १ २   ३ १ २   ३ १ २
पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे।
२ ३   १ २   ३ १ २   ३क
अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजि-
२र
ह्वयम् ॥१॥५४५॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'अन्धीगुः श्यावाश्विः' है। अन्ध उस संन्यासी को कहते हैं जिसने कि इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में किया है। 'अन्धस्य गावोयस्य' उस साधु की तरह है ज्ञानेन्द्रियां जिसकी ऐसा यह व्यक्ति 'अन्धीगुः' है+'अन्धीगु' बनने के लिए ही वस्तुतः इसने (श्यैङ्गतौ) सदा कर्मेन्द्रियों को कर्मव्यापृत रखा है। यह अन्धीगु [**अन्धसः**]=आध्यायनीय सोम के [**पुरोजिती**]=(जित्या)=पूर्ण विजय के हेतु कहता है कि ऐ

[**सखायः**]=मित्र ? [**वः**]=तुम्हारे [**दीर्घजिह्व्यम्**]=दीर्घ जिह्वा वाले [**श्वानं**]=कुत्ते को [**अपश्नथिष्टन**]=अपने से दूर हिंसित कर दो। 'जहि श्वयातुम्' मंत्र भाग में भी यही कहा गया है कि कुत्ते के मार्ग को छोड़ दो। कुत्ता जिह्वालौल्य का प्रतीक है—वह एक टुकड़े को अपने सजातीय से छीनने के लिए लड़ता है। वान्त का भी अशन कर जाता है। जो व्यक्ति हर वकत चरता रहता है वह कुत्ते की तरह ही तो है। इस जिह्वा के असंयम का परिणाम उपस्थ का असंयम है। जिह्वा के रस में फंसा हुवा व्यक्ति कभी भी सोम का पूर्ण संयम नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी के लिए इसीलिये शास्त्रों में शतशः भोजन विषयक प्रतिबन्ध हैं। भोजन का प्रतिबन्ध शरीर में शक्ति प्रतिबद्ध करने में सहायक होता है।

पर प्रश्न तो यह है कि इस सोम के संयम की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि (१) [**सुताय**]=उत्पादन के लिए सोम का संयम आवश्यक है। संयमी पुरुष ही कुछ निर्माण का कार्य कर सकता है। स्वामी दयानन्द, ईसा आदि के महान् कार्यों के करने का रहस्य इसी बात में है। (२) [**मादयितवे**]=प्रसन्न बनाने के लिए यह संयत सोम साधक बनता है। संयमी पुरुष का जीवन उल्लासमय होता है—वह कभी मुरझाए हुए चेहरे वाला नहीं दिखता। एवं हमारा जीवन सदा उल्लासमय हो—और 'हम कुछ न कुछ निर्माणत्मक कार्य कर पायें' इन दोनों बातों के लिए संयम की आवश्यकता है और उस संयम के लिए जिह्वारस को कुचलना ज़रूरी है। जिह्वारस से बचेंगे और कर्म में लगे रहेंगे तो ज्ञानेन्द्रियों पर अवश्य प्रभुत्व पा पायेंगे। यह पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अवस्थित करने वाला' व्यक्ति ही अन्धीगु' है—जो कि प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—मैं जिह्वा का संयम साधूँ।

नहुष-मानव (**मिलनसार मनुष्य**)

३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ॥२॥
॥५४६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नहुष मानव' है। मनन पूर्वक प्रत्येक कर्म को करने वाला यह (नह्-बन्धने) औरों के साथ अपने जीवन को सम्बद्ध करके चलता है। अपनी ही मौज में मस्त न हो के यह औरों के साथ सहानुभूति रखता है—उनके दुःख में दुःखी होता है, सुख में सुखी। स्वाभाविक है कि इसका जीवन भोग-प्रवण न हो। भोग-प्रवण न होने से ही [**अयं**]=यह [**पूषा**]=अपने स्थूल शरीर को ठीक पुष्ट रख पाता है—इसका शरीर दुर्बल नहीं होता। भोग ही तो रोगों व क्षीणता के कारण होते हैं—और उनसे यह दूर ही है इसका प्राणमयकोश [**रयिः भगः**]=चान्द्रमस तत्व व सौर तत्व की शक्ति वाला होता है प्रश्नोपनिषद् में इन्हें रयि और प्राण के नाम से स्मरण किया है। 'भग' सूर्य है, सूर्य प्रजाओं का प्राण है। सो प्राण के स्थान में 'भग' का प्रयोग ठीक ही है। इन दोनों तत्वों के समन्वय पर ही स्वास्थ्य का पूर्ण निर्भर है। शरीर का विकास व दोषों का दूरीकरण' 'रयि और भग'ने ही तो करना है। दोषों के दूरीकरण व नैर्मल्य का परिणाम यह होता है कि यह [**सोमः**]=सौम्यता को धारण करता है—अभिमान से शून्य होता है और अपने मनोमय कोश को [**पुनानः**]=पवित्र करता हुवा [**अर्षति**]=(ऋष् गतौ) ऋषि बनता है– तत्व द्रष्टा होता है। अब इस तत्व ज्ञान को प्राप्त करने के उपरान्त यह [**विश्वस्य**]=सब [**भूमनः**]=(यौ वै भूमा तत्सुखम्)=सुख का [**पतिः**]=पति होता है। विज्ञानमय कोश में ज्ञान की दीप्ति के उपरान्त ही आनन्दमय कोश

में सुखानुभव होता है।

इस प्रकार अपने पञ्चकोशों का ठीक विकास करता हुवा यह 'नहुष' [**उभे रोदसी**]=दोनों द्युलोक व पृथ्वी लोक को [**व्यख्यत्**]=प्रकाशित करता है। इसके यश का प्रकाश सर्वत्र फैलता है, इतना ही नहीं, यह सब जगह ज्ञान के प्रकाश को फैलाता है। ज्ञान के प्रकाश द्वारा अन्धकार को दूर कर सभी के जीवनों को सुखी व उन्नत बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को सुन्दर बनाकर औरों के मंगल में प्रवृत्त हों।

हम दिव्यता में आनन्द लें

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
३ १ २ ३ १ २ ३
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो
१ २
मदाः ॥३॥५४७॥

औरों के साथ अपने जीवन को सम्बद्ध करके चलाने वाला 'नाहुष' सदा गतिमय रथ वाला (वायोरिव रथं 'याति' यस्य स) 'ययाति' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। इन ययातियों का जीवन निम्न प्रकार का होता है—

(१) [**सुतासः**]=ये सदा निर्माणात्मक ही कार्य करते हैं, इनका जीवन ध्वंस के लिए नहीं होता। अ-ध्वर=यशमय जीवन हिंसा व तोड़-फोड़ से रहित होना ही चाहिये।

(२) [**मधुमत्तमाः**]=ये अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए होते हैं। इनकी वाणी से कभी कोई कटु शब्द उच्चरित नहीं होता। वे मधुर ही मधुर शब्दों का प्रयोग करते हैं। 'न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्' इस मनु वाक्य को ये सदा क्रियान्वित करते हैं।

(३) **सोमाः**=ये सौम्य, विनीत व अतिमानिता से दूर होते हैं। अभिमान इनकी दिव्यता को कभी कलंकित नहीं करता। नम्रता से ये सदा उन्नत बने रहते हैं। अभिमान के कारण ये लोगों के द्वेष्य नहीं बन जाते।

(४) [**इन्द्राय**]=सौम्य बने रहने के लिए ये सदा उस परमैश्वर्यवान् प्रभु के लिए (मन्दतेः स्तुतिकर्मणः) स्तुति करने वाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु की स्तुति ही इनकी उदात्तता को स्थिर रखती है।

(५) [**पवित्रवन्तः**]='नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इस गीता वाक्य के अनुसार ज्ञान पवित्र है। ये ययाति ज्ञान वाले बनते हैं। ज्ञान के कारण ही तो ये सुखों में फंसकर स्वार्थी नहीं हो जाते।

(६) [**अक्षरन्**]=ज्ञान के द्वारा ये मलों को अपने से दूर करते हैं। उत्तरोत्तर पवित्रता का साधन ही इनके जीवन का उद्देश्य होता है। ये अपवित्र वस्तुओं में आनन्द का अनुभव नहीं करते। प्रभु के इस आदेश को ये नहीं भूलते कि [**वोमदाः**] तुम्हारे आनन्द [**देवान् गच्छन्तु**]=दिव्य गुणों की ओर चलें अर्थात् तुम अच्छी चीजों में आनन्द लेने का प्रयत्न करो। इसीलिये यह 'ययाति नाहुष' जीवन की साधना, दिव्यगुणों की प्राप्ति व निर्माणात्मक कार्यों में आनन्द लेने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—मैं दिव्यता की वृद्धि में आनन्द लेने वाला बनूँ।

A right choise (ठीक चुनाव)

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥४
॥५४८॥

पिछले मंत्र की समाप्ति पर कहा गया था कि हम दिव्यता में आनन्द लेने का प्रयत्न करें। वस्तुतः संसार में दो ही मार्ग हैं—एक दिव्यता का और दूसरा भौतिकता का। ये ही मार्ग उपनिषदों में

श्रेय व प्रेय कहे गये हैं। हमें इनमें चुनाव करना है। उपनिषद् कहती है कि 'तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः'=धीर पुरुष इनका सब दृष्टिकोणों से विवेक करता है और विवेक करके श्रेय का ग्रहण करता है। प्रस्तुत मंत्र का ऋषि भी 'मनु' है—विचारने वाला है और विचार का ही परिणाम है कि यह 'सांवरण' है=सम्यक्-उत्तम-वरण वाला है—प्रेय को न चुनकर यह श्रेय का ही वरण करता है। यह श्रेयोमार्ग पर चलने वाला अपने जीवन को निम्न प्रकार से बनाता है—

(१) [**सोमाः**]=ये सौम्य होते हैं—विनीत होते हैं—विनीतता से ही तो ये उन्नत हैं। अभिमान से इनकी दिव्यता कलंकित नहीं होती।

(२) [**पवन्ते**]=ये गतिशील होते हैं और अपने को पवित्र बनाते हैं। वस्तुतः गतिशीलता ही इनके जीवन को पवित्र करने वाली है।

(३) [**इन्दवः**]=पवित्रता के कारण—भोग-प्रसित न होने के कारण ये शक्तिशाली हैं।

(४) [**अस्मभ्यं गातुवित्तमाः**]=हमारे लिए बड़े उत्तम प्रकार से मार्ग का ज्ञान देने वाले व मार्ग को प्राप्त कराने वाले हैं। इनके शब्द ही नहीं इनका जीवन हमारे लिए पथप्रदर्शन का काम करता है।

(५) [**मित्राः**]=ये सचमुच हमारा हित चाहने वाले होते हैं। हित चाहने के कारण ही इनके वाक्यों का हमारे हृदयों पर विशेष प्रभाव होता है।

(६) [**स्वानाः**]=(सु+आनाः) ये अपने उपदेशों से हम सबके अन्दर उत्साह का संचार करते हैं 'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः'=अत्यन्त पतित भी इनके संपर्क में आकर उत्साह से पाप को तैरने में प्रवृत्त होता है।

(७) [**अरेपसः**]=स्वयं इनका जीवन निर्दोष होता है। तभी तो औरों को प्रभावित कर पाता है।

(८) [**स्वाध्यः**]=जीवन को निर्दोष बनाने के लिए ये उत्तम ध्यान वाले होते हैं। (सुष्ठु ध्यानवन्तः) प्रभु का ध्यान इन्हें पापों से बचाए रखता है।

(९) [**स्वर्विदः**]=ये उस स्वर्=स्वयं प्रकाश ब्रह्म को प्राप्त (विद्) करने वाले होते हैं—ब्रह्मनिष्ठ होते हैं। ब्रह्मनिष्ठ ही गुरु गुह्य अन्धकार—हृदय के अज्ञान को—रुद्ध करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम संसार में श्रेय का ही वरण करें। प्रेय का वरण कर भटकते ही न रह जांय।

उत्तम सांसारिक जीवन

३ १ २ ३ . १ २ ३ १ २ ३ १ २
अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम्॥५॥
॥५४९॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'अम्बरीषो वार्षागिर ऋजिष्वा भरद्वाजः' है। (अम्ब् to sound) ये आये गये का 'आइये, बैठिये' इत्यादि मधुर शब्दों से स्वागत करता है अतएव 'अम्बरीष' है। इसकी वाणी (गिर्) माधुर्य की वर्षा करने वाली होने से ये 'वार्षागिर' है। (ऋजु) सरल मार्ग से सदा चलने (श्वि) के कारण यह 'ऋजिष्वा' है-इस मार्ग पर चलकर अपने में शक्ति संचय करने वाला यह 'भारद्वाज' है। यह प्रभु से आराधना करता है कि [**इन्दो**]=ऐ परमैश्वर्यशालो प्रभो ? [**नः**]=हमें [**रयिम्**]=सम्पत्ति की [**अभि**]=ओर [**अर्ष**]=ले चलिये। सम्पत्ति के बिना यह आतिथ्य भी तो नहीं कर सकता। कोई भी लोकहित का कार्य यह सम्पत्ति से ही तो करेगा। सब सम्पत्ति के वस्तुतः मालिक तो वे प्रभु हैं—वे मुझे अपनी सम्पत्ति का अंश लोकहित के कार्यों के लिए प्राप्त करायें।

पर यह सम्पत्ति कहीं अपने काले पहलू को

लेकर हमारे पास न आ जाय। यह हमारे लिये सदा—

(१) [**वाजसातमम्**]=(सन्=प्राप्त कराना)—शक्ति को प्राप्त कराने वाली हो। सम्पत्ति को प्राप्त करके मैं कर्म करना न छोड़ दूं। मेरा सारा कार्य मेरे भृत्य ही करेंगे तो मैं तो क्षीणशक्ति हो ही जाऊंगा। सम्पत्ति को प्राप्त करके भी मैं कर्म करूं और शक्तिसंपन्न बना रहूं।

(२) [**शतस्पृहम्**]=हमारी संपत्ति शतशः पुरुषों से स्पृहणीय हो। मैं सम्पत्ति का अर्जन परपीडन से न करूं और उसका विनियोग सार्वजनिक कार्यों के लिए भी करूं ताकि लोगों से मेरे लिए इसी प्रकार के शब्द उच्चरित हों कि 'संपत्ति हो तो इस पुरुष की संपत्ति जैसी ही हो'।

(३) [**सहस्रभर्णसम्**]=मेरी संपत्ति से सहस्रों पुरुषों का भरणपोषण चलता हो। मैं 'केवलादी' बनकर 'केवल+अघ (पाप)' न बन जाऊं।

(४) **तुवि द्युम्नं**]=महान् ज्योति को लिए हुए मेरी संपत्ति हो। सामान्यतः 'सरस्वती व लक्ष्मी' में विरोध समझा जाता है। मेरी संपत्ति ज्ञान की सहायिका हो। संपत्ति मेरे घर को एक सुन्दर पुस्तकालय से अलंकृत कर दे।

(५) [**विभाहम्**]=ज्ञान को प्राप्त करा कर ये मुझे क्षमाशील बनाये। धन के मद में मैं अहंकार में रत न हो जाऊं। औरों की कमियों को सह सकूं—क्षमा की वृत्ति को अपनाने वाला बनूं।

भावार्थ—मैं सम्पन्न होकर भी शक्ति संपन्न, न्याय्यमार्ग पर चलने वाला, औरों का पोषण करने वाला ज्ञान प्रवण और क्षमाशील बना रहूं।

अ-हिंसा

३ १ २   ३ १ २ ३ १र   २र ३ १ २
अभी नवन्ते अद्रुहः प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
३ २उ   ३ १२   ३ १ २   ३ १ २
वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः ।

॥६॥५५०॥

प्रस्तुत मंत्र के ऋषि रेभ=स्तोता, सूनु=प्रेरणा को सुनने वाले तथा काश्यप ज्ञानी हैं। ये [**अद्रुहः**]=सब प्रकार के द्रोहों से ऊपर उठते हुए किसी की हिंसा न करना चाहते हुए, सभी के मंगल की भावना से [**प्रियम्**]=जीव मात्र के साथ प्रेम करने वाले [**इन्द्रस्य काम्यं**]=जितेन्द्रिय जीव से चाहने योग्य उस प्रभु के प्रति [**अभीनवन्ते**]=जाते हैं, (नव् गतौ)=उसकी स्तुति करते हैं (नु स्तुतौ) या उसके प्रति नतमस्तक होते है (नम्)। सदा प्रभु का स्तवन करने वाला कभी भी किसी के प्रति द्वेष की भावना को नहीं कर सकता। प्रभु का भक्त तो 'सर्वभूत हितेरत' होता है। और जब प्रभु कृपा से वह सांसारिक दृष्टिकोण से सम्पन्न होने के कारण सांसारिक घृत लवण-तण्डुलेन्धन की की चिन्ताओं से ऊपर है तो उसे प्रभु के प्राणियों के कल्याण में प्रवृत्त होना ही चाहिये। गत मन्त्र में एक [**शुचीनां श्रीमतां गेहे**']=का 'पवित्र+धन सम्पन्न घर का' चित्रण किया था। प्रस्तुत मन्त्र में उस घर में उत्पन्न 'योग-प्रवण' (प्रभु-भक्त) का चित्रण करते हैं कि 'वह किसी से भी कभी द्वेष नहीं करता'।

'क्या पापी से भी हमें घृणा न हो?' इस प्रश्न का उत्तर वेद इस प्रकार से देता है कि [**न**]=जिस प्रकार [**जातं**]=उत्पन्न हुए-हुए [**पूर्व आयुनि**]=प्रथम अवस्था में वर्तमान [**वत्सं**]=बछड़े को [**मातरः**]=उसकी मातायें-गायें—[**रिहन्ति**]=चाटती हैं। बछड़े का शरीर मलिन होता है—पर उसकी माता उससे घृणा न करके चाट-चूट कर सब शुद्ध कर देती है। इसी प्रकार हमें भी प्राणों से घृणा न करके बड़े कोमल उपायों से उसको शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिये। वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता' =धर्म को चाहने वाला मधुर एवं चिकनी वाणी का प्रयोग करे। कठोरता से हम कभी शुद्धि नहीं कर सकते। कटुता काटती है—न कि आकृष्ट करती है। **हम पाप को दूर करने का प्रयत्न करें न कि पापी**

को समाप्त करने का । पाप को दूर करना ही वस्तुतः पापी को समाप्त करना है । गौ को जैसे बछड़े से प्रेम है, उसी प्रकार प्रेम की भावना से पूर्ण होने पर मैं पापी को अपनी ओर आकृष्ट करके पाप को समाप्त कर पाऊंगा ।

भावार्थ—मैं अहिंसा वृत्ति का पोषण करूँ—तदर्थ प्रभु का स्तोता बनूं ।

आत्मरूप शर वाला धनुष (प्रणवो धनुः)

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम् ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १र २र
शुक्रा वि यन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे
३ १ २
महीयुवः ॥७॥५५१॥

[**शुक्राः**]=जो व्यक्ति अपने जीवन को (शुत्र् दीप्तौ) शुद्ध बनाते हैं या शक्तिशाली (शुक्र=वीर्यम्) बनाते हैं वे [**हर्यताय**]=(हर्य=कान्ति) कामना के योग्य—जीव से चाहने योग्य [**धृष्णवे**]=हमारे कामादि शत्रुओं का धर्षण करने वाले प्रभु के लिये [**पौंस्यं**]=(पूञ् + तुमुन्) पवित्र की हुई आत्मरूप तीर वाले [**धनुः**]=धनुष को [**आतन्वन्ति**]=खूब तानते हैं । उपनिषदों में इस धनुष का रूपक इस रूप में दिया है कि 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्,=ओंकार धनुष है आत्मा ही वाणी है ब्रह्म उसका लक्ष्य है । बड़ी सावधानी से उसका वेध करना चाहिये । शर जिस प्रकार लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है इसी प्रकार आत्मरूप भी ब्रह्म रूप लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाय । वास्तव में ही [**शुक्राः**]=अपने को शुद्ध बनाने वाले ये उपासक [**असुराय**]=(असून् राति) प्राणों के प्राण, प्राणों के दाता उस प्रभु के लिए [**वियन्ति**]=विशेष रूप से जाते हैं और उसी में प्रवेश कर जाते हैं (अभिसं विशन्ति) । इस प्रभु में प्रवेश के द्वारा वे [**निर्णिजे**]=पूर्ण रूप से अपने शोधन के लिए समर्थ होते हैं (णिजिर्=शुद्धि । वे प्रभु सहस्र-धार पवित्र हैं उनमें यह उपासक सर्वथा शुद्ध हो जाता है ।

इस प्रकार अपना शोधन करने वाले ये व्यक्ति [**विपाम् अग्रे**]=मेधावियों के प्रमुख होते हैं । [**अमहीयुवः**]=ये भौतिक सुखों की आसक्ति से ऊपर उठ चुके होते हैं, । उस महनीय प्रभु से मेल को चाहने वाले के लिये यह आवश्यक ही है ।

भावार्थ—मैं प्रणवरूप धनुष के द्वारा आत्म-रूप शर से ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेध करूं ।

ठीक चुनाव, ठीक प्रगति

२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
२ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १र
यो देवान् विश्वा इत् परि मदेन सह
२र
गच्छति ॥८॥५५२॥

'अम्बरीष'=आये गये का मधुर शब्दों में स्वागत करने वाला 'वार्षा गिर'=जिसकी वाणी से माधुर्य टपकता है, वह अपने जीवन को उस व्यक्ति जैसा बनाता है [**यः**]=जो कि [**विश्वा देवान्**]=सब दिव्य गुणों को [**इत्**]=सचमुच [**मदेनसह**]=आनन्द के साथ [**परि गच्छति**]=जाता है । उत्तमता की ओर चलने में आनन्द लेने वाला व्यक्ति उस उत्तम मार्ग पर उत्साह से चलता ही है और अवश्य लक्ष्य स्थान पर पहुंच जाता है । पर यह प्रसन्नतापूर्वक इस मार्ग पर चलना तभी हो सकता है जबकि हम अपने जीवन में ठीक चुनाव करलें । इसी ठीक चुनाव का उल्लेख मंत्र के पूर्वार्ध में है । ये लोग [**त्वं**]=उस [**हर्यतम्**]=काम्य-कामना करने के योग्य=चाहने योग्य [**हरिं**]=सब दुःखों के हरने वाले तथा [**बभ्रुं**]=भरण-पोषण करने वाले प्रभु के [**वारेण**]=वासनाओं के कारण के द्वारा [**परिपुनन्ति**]=(think out) ज्ञान का विषय बनाते हैं=उस प्रभु का चिन्तन करते हैं । प्रभु सर्वव्यापक होने से हमारे अन्दर भी विद्यमान हैं ही, पर सामान्यतः हमें उस प्रभु का आभास नहीं होता । परन्तु जब काम क्रोधादि का निवारण करके हम अपने ज्ञान को आवृत्त नहीं होने देते तो उस प्रभु की हमें प्रतीति होती है उसमें जो आनन्द व शान्ति

प्राप्त होती है, वह सांसारिक ऐश्वर्यों से भरपूर होने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती। यह व्यक्ति विचार कर अब ठीक निश्चय करता है। और प्रेय के बजाय श्रेय मार्ग को ही चुनता है। इस ठीक चुनाव को करने के बाद वह आनन्दपूर्वक इस दिव्यता की प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ता है। संसार की चकाचौंध से इसकी आंखें चुंधयाती नहीं, यह प्रसिद्धि व यश का भूखा नहीं बनता। अप्रसिद्धि में ही रहकर, चुपचाप लोक-सेवा करता हुवा, यह दिव्यता के मार्ग पर आगे और बढ़ता ही जाता है।

भावार्थ—मेरा चुनाव ठीक हो, और तब उस श्रेय मार्ग पर मैं प्रसन्नता से आगे बढ़ूं।

महान् विघ्न का अपाकरण

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र २ ३
प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः । अप
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥९॥५५३

गतमंत्र प्रेय और श्रय में ठीक चुनाव करने वाले व्यक्ति का उल्लेख था। उसने संसार की चमक को देखकर अपने मन में लालच को नहीं उत्पन्न होने दिया। यह अपने उपास्य प्रभु का अनुकरण करके, छोटे पैमाने पर, 'प्रजा-पति' बना, औरों का रक्षक बना। सभी का मित्र होने से 'वैश्वामित्र' कहलाया, सभी से प्रशंसा को प्राप्त करके 'वाच्य' (one who is praised) हुआ। यह कहता है कि [**भृगवः**] = (भ्राज् पाके) अपना परिपाक करने वाले तपस्वियो ! [**अराधसं**] = सिद्धि के न होने देने वाले—सिद्धि की विघ्नभूत [**श्वानम्**] = लोभवृत्ति को [**उ**] = निश्चय से [**अप हत**] = दूर (विनष्ट) करो। [**न मखम्**] = यज्ञिय भावना को नहीं। स्वार्थ व लोभ मनुष्य को आगे नहीं बढ़ने देता। वह सिद्धि के मार्ग का सर्वमहान् विघ्न है—उसका अपाकरण सिद्धि के लिये आवश्यक है। जितना-जितना हम लोभ को जितते हैं उतना-उतना सिद्धि के समीप पहुंचते हैं। प्रभु यज्ञ हैं, उन्हें हम यज्ञिय भावना को अपने अन्दर विकसित करके ही तो पा सकेंगे।

[**ऐ मर्त्तः**] = ऐ मनुष्यो ! [**अन्धसः**] = आध्यातव्य परमात्मा के [**प्रसुन्वानाय**] = अपने अन्दर खूब विकास करने वाले के लिये [**तद्वचः**] = वेदों के वे अर्थवाद रूप वचन, जिनमें कि विविध यज्ञों की फल श्रुतियों का उल्लेख हुवा है, [**न वष्ट**] = रुचिकर-काम्य—नहीं होते। वह अर्थवाद वाक्यों में फंसकर सांसारिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये उन-उन साधनों को नहीं जुटाता रहता। गीता के शब्दों में वह 'वेदवाद रत' नहीं बनता—श्रोतव्य व श्रुत से वह ऊपर उठ जाता है। वह तो प्रभु का ध्यान करता है—प्रभु के प्राणियों का हित करता है। लोभ से दूर रहता है—यज्ञिय भावना को नष्ट नहीं होने देता। परिणामतः सिद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ :—लोभ को दूर करके मैं लक्ष्य का लाभ करने में समर्थ होऊं।

* * *

॥२॥ ऋषिः—१—३, ५ कविर्भार्गवः; ४, ६ ऋषिगणः; ७ रेणुर्वैश्वामित्रः; ८ वेनो भार्गवः; ९ वसुर्भारद्वाजः; १० वत्सप्रीः; ११ अत्रिर्भौमः; १२ पवित्र आङ्गिरसः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

कवि भार्गव का जीवन

२ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२उ
अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो
३ २ ३ १ २ १र २र ३ २ ३ २उ ३
अधि येषु वर्धते । आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि
२ ३ १ २ २ ३
रथं विष्वञ्चमरुहद् विचक्षणः ॥१॥५५४॥

कवि शब्द का अर्थ है क्रान्तदर्शी—ब्रह्मा के उपरले पृष्ठ को ही न देख कर गहराई तक देखने वाला। इसी भावना को मंत्र की समाप्ति पर 'विचक्षणः' शब्द से कहा गया है—[**वि**] = विशेष रूप से विविध दृष्टिकोणों से, बारीकी से [**चक्षणः**] = देखने वाला। यह विचक्षण अपना जीवन निम्न प्रकार से बिताता है :—

(१) [**चनो हितः**]=(चनस्=Delight, satisfaction, pleasure) सदा आनन्द में निहित हुवा हुवा, गीता के शब्दों में 'यत्वात्मरतिरेव स्यादात्म तृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टः' जो सदा आत्मतृप्त है, वह [**प्रियाणि नामानि**]=प्रिय लगने वाले नामों को [**अभिपवते**]=पवित्र करता है—निरन्तर विचार के द्वारा, 'तदर्थ भावन द्वारा' उन्हें परिमार्जित कर डालता है। अथवा अन्तर्भावितण्यर्थ पवते का प्रयोग होने पर अर्थ इस प्रकार होगा कि उन नामों से अपने को [**अभि**]=अन्दर बाहर दोनों ओर से [**पावयति**]=पवित्र कर डालता है। किन-नामों के द्वारा? [**यह्वः**]=वह सब से जाया गया और पुकारा गया प्रभु (याताश्च हूतश्च) [**येषु**]=जिनमें अधिवर्धते=अधिकाधिक बढ़ता है—अर्थात् जिन नामों के अन्दर उस प्रभु की-भूरि भूरि महिमा वर्णित हुई है। वस्तुतः इन नामों का निरन्तर अर्थभावन से ही तो वह अपने जीवन के भी तो लक्ष्य को स्थिर कर पाया है और उस लक्ष्य की ओर चल कर अपने जीवन को पवित्र कर सका है। उसने क्या किया है?

(२) [**रघं अधि अरुहत्**]=रथ पर अधिष्ठातृरूपेण आरूढ़ हुवा है। यह शरीर ही रथ है—इस पर वह अधिष्ठाता बन कर बैठा है। अर्थात् वह पूर्णरूपेण उसके वश में है। इसी का परिणाम है कि यह रथ

(क) [**सूर्यस्य**]=सूर्य का हुवा है अर्थात् अत्यन्त प्रकाशमय है। इसकी छत के समान मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हुवा है। इसने विचक्षण व कवि होने के नाते प्रत्येक वस्तु को ठीक ही रूप में देखा है।

(ख) [**बृहतो बृहन्**]=यह रथ बड़े से बड़ा है—खूब बढ़ा हुवा है। इसका हृदय रूप मध्य विशाल है उसमें सभी के बैठने के लिये स्थान उपलभ्य है तभी तो यह सम्पूर्ण वसुधा को ही अपना कुटुम्ब बना पाया है।

(ग) [**विष्वञ्चम्**]=यह रथ विविध दृष्टिकोणों से उत्तम प्रकार से पूजित है (वि षु अञ्चम्) अर्थात् इसमें किसी एक अंग का विकास किया गया हो ऐसी बात नहीं है। इसका एक-एक अंग सुन्दर बना है, और इसीलिये सब ने इसे सराहा है।

इस प्रकार इस शरीर रूप रथ में इस कवि का मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से जगमगा रहा है, इसका मन विशाल और विशालतर हो गया है और इसने इसके प्रत्येक अंग को सबल बनाया है।

भावार्थ—कवि प्रभु के नामों का जप करता है और अपने जीवन को अधिकाधिक सुन्दर बनाता है।

कवि की कान्त-कामना

३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २
अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र स्वानासो
३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३
बृहद् देवेषु हरयः। वि चिदश्नाना इषयो
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अरातयोऽर्यो नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः॥
२॥५५५॥

कवि इस प्रकार कामना करता है कि—

(१) [**नः**]=हमारे [**इन्दव विन्दवः**]=सोम-वीर्य के कण [**अचोदसः**]=(not excited, restrained, calm, prevented) अनुत्तेजित हुए-हुए, संयम में रखे हुए-हुए शान्त व निरुद्ध होकर [**प्र-धन्वन्तु**]=उच्चता की ओर गति करने वाले हों और इस प्रकार हमें पवित्र बना डालें।

(२) [**हरयः**]=हमारी इन्द्रियां (हरणात् हरयः) 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः' =वे इन्द्रियां जो कि प्रबल हैं, न ध्यान देने पर (प्रसभं) मन को विषयों में हर ले जाती हैं—वे इन्द्रियाँ [**देवेषु**]=दिव्यगुणों में [**बृहत् प्रस्वानासः**]=खूब गर्जने वाली हों। हमारी इन्द्रियों से दिव्यगुणों का उच्चारण हो रहा हो अर्थात् एक-एक इन्द्रिय शुभ ही कार्य में प्रवृत्त हो।

(३) इषयः (इष्=विष्=wish)=नाना

प्रकार की इच्छायें, कामनायें जो कि [**अरातयः**] = अपनी ही आवश्यकतायें बढ़ जाने से हमें दान भी नहीं देने देतीं (अविद्यमाना रातिः याभ्यः) और अतएव हमारी शत्रु हैं, वे वासनायें [**चित्**] = निश्चय से [**वि-अश्वाना**] = विहीन भोजन वाली हों। इनको भोजन न प्राप्त हो और ये भूखी ही मर जायें। 'विषया विधिवर्तनो निराहारस्य देहिनः' (गीता) निराहार देही के विषय निवृत्त हो ही जाते हैं। यही तो उपवास का दर्शन है। यह उपवास वासनाओं से दूर कर हमें प्रभु के उपसमीप [**वास**] = निवास देने वाला होता है।

(४) [**नः अर्यः सन्तु**] = उल्लिखित प्रकार से वासनाओं को दूर करके हमारे सब व्यक्ति स्वामी (अर्य) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय हों। और अन्त में—

(५) [**नः**] = हम सबकी [**धियः**] = बुद्धियां [**सनिषन्तु**] = संविभाग पूर्वक सेवन करने के विचार वाली हों। जितेन्द्रिय ही संविभाग के विषय का पालन कर सकता है। अजितेन्द्रिय की तो अपनी ही भूख समाप्त नहीं होती। उसने क्या संविभाग करना ?

यह पंचविध कामना कितनी सुन्दर है ? पर इसको कवि ही कर सकता है जिसने कि आपातरमणीय विषयों की गहराई तक जाकर उनके खोखलेपन को देख लिया है। दूसरों को तो विषयों की चमक आकृष्ट कर ही लेती है।

भावार्थ—कवि की उपर्युक्त कान्त-कामना की ही हम भी कामना करें।

कवि का निवास स्थान व कार्यप्रणाली

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो
१ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
वपुषो वपुष्टमः । अभ्यृ३तस्य सुदुघा
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति पयसा च धेनवः ॥

॥३॥५५६॥

(१) [**एषः**] = यह कवि प्र-कोशे—सर्वोत्कृष्ट आनन्दमय कोश में निवास करता हुवा [**मधुमान्**] = अत्यन्त माधुर्य वाला होता है। वेद के शब्दों में 'भूयासं [**मधुसदृशः**] = यह मधु जैसा ही हो जाता है। अन्नमयादि कोश ही तो हमें द्वैत में रखते हैं। आनन्दमय कोश में पहुंचकर यह एकत्व का दर्शन करता है और शोक-मोह से ऊपर उठकर किसी से भी यह घृणा नहीं करता (ततो न विजुगुप्सते)—

(२) [**अचिक्रदत्**] = यह प्राणिमात्र के कल्याण के लिये सदा प्रभु का आह्वान करता है (Sends his constant prayers into God) (क्रद्+यङ् का लुङ्) इसका जीवन प्रार्थनामय होता है और अतएव वासना शून्य। वासनाओं को तो मानो ये रुला देता है कि हम कहां रहेंगी ? इसी का परिणाम है कि :—

(३) [**इन्द्रस्य वज्रः**] = यह इन्द्र बनता है। जितेन्द्रिय–इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है। इसका शरीर वज्रतुल्य दृढ़ हो जाता है (इत्थं वज्रभाद दे)। यह शरीर वपुषो वपुष्टमः = शरीरों में सुन्दरतम शरीर होता है। यह तो हुवा कवि का निजू जीवन। यह इसके सामाजिक जीवन में [**वाश्राः अभी अर्षन्ति**] = इसकी आवाजें (उपदेश वाणियाँ) चारों ओर तीव्रता से पहुंचती हैं (अर्ष=rush) यह परिव्राट् जो हुवा। इसका शरीर वज्र कहलाया है—(वज् गतौ) गतिशील। कैसी वाणियां ? (क) [**ऋतस्य**] = सत्य की। यह असत्य तो कभी बोलता ही नहीं है। (ख) [**सुदुघा**] = उत्तम पूरण करने वाली। इसकी वाणी जले पर नमक छिड़कने वाली न होकर घावों को भरने वाली होती हैं। (ग) [**घृतश्चुतः**] = दीप्ति का श्रावण करने वाली अर्थात् उत्साह को भरने वाली अथवा ज्ञान को देने वाली है। (घ) [**च**] = और [**पयसा आध्यायन**] = वृद्धि के द्वारा [**धेनवः**] = पान कराने वाली– तृप्त करने वाली। इसको वाणियां वृद्धि का ही कारण बनती हैं, ह्रास का नहीं। मनु के शब्दों में यह धर्म का प्रचार

अत्यन्त श्लक्षण व मधुर वाणी से करता है ।

भावार्थ—कवि सदा आनन्दमय कोश में निवास करता है, और मधुर ही शब्दों को बोलता है ।

सिकता निवावरी

१   २   ३ २ ३ १ २   ३ २उ   ३ २ ३ १र
प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न
  २र   ३ १२   १२   ३ २ ३ १ २
प्र मिनाति सङ्गिरम् । मर्यइव युवतिभिः सम-
 ३ १ २ ३१२३१२   ३ २
र्षति सोमः कलशे शतयामना पथा ॥४॥५५७

'सिकता' शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में 'रेतः' का पर्याय है । यह ऋषि का शक्ति का अपने को पुंज बनाती है, और इसी उद्देश्य से [**निवावरी**]=निश्चय से प्रभु का [**वनन**]=उपासन-संभजन करती है । प्रभु उपासना से वासनायें दूर रहती हैं और शक्ति की रक्षा का संभव होता है । यह तो इसी निश्चय पर पहुँची है कि (१) [**इन्दुः**]=(विन्दुः) शक्ति का धारण करके शक्ति का पुंज बनने वाला व्यक्ति ही [**उ**]=निश्चय से [**इन्द्रस्य**]=प्रभु के [**निष्कृतं**]=परिमार्जित शुद्ध पद को अथवा उऋणता को [**प्र आयसीत्**]=प्रकर्षेण प्राप्त होता है । (२) [**सखा**]=यह प्रभु का मित्र [**सख्युः**]=अपने मित्र प्रभु की संगीरम्=उत्तम वाणी को अथवा प्रभु के साथ किये गये वायदे को [**न प्रमिनाति**]=नहीं तोड़ता है । जीव गर्भावस्था में तो प्रतिज्ञायें करता ही है परन्तु यहां बाहर आकर और बड़ा होकर आपत्ति आने पर भी प्रतिज्ञा किया करता है और यदि सच्चा मित्र बनता है तो उस प्रतिज्ञा को तोड़ता नहीं । (३) यह [**मर्यइव**]=उस मनुष्य की तरह जोकि [**युवतिभिः समर्षति**]=युवतियों के साथ गति करता है और उनके साथ होने से उचित modesty मर्यादित नम्रता से चलता है, उसी प्रकार [**सोमः**]=सोम व विनीत होता है तथा (४) [**शतयामन पथा**]=शतशः नियंत्रणों वाले, प्रतिदिन लिये जाने वाले अल्पव्रतों के नियम वाले पथा=मार्ग से चलता है । [**कलशे**]=कलश में । यह शब्द १६ कलाओं के आधार बनने के कारण शरीर का वाचक है 'कलाः शेरते अस्मिन्' । इसी शरीर में यह दृढ़ नियंत्रण से चलता है । इसने कितने ही व्रतों में अपने को संयत किया हुवा होता है । यह [**संयम**]=बन्धन ही तो इसके बन्धन छेद का कारण बनता है । यह संयम ही इसके शरीर को भी १६ कला संपन्न बना 'कलश' इस सार्थक नाम वाला करता है ।

भावार्थ—शक्ति का धारण, प्रभु से की गई प्रतिज्ञाओं का पालन, उचित विनीतता व व्रतमय जीवन ये चार बातें हमें परम-पद को प्राप्त कराने में साधन होती हैं ।

कवि का कार्य क्षेत्र

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवाना-
 ३ २ ३ १ २   १ २   ३ २उ   ३ १र
मनुमाद्यो नृभिः । हरिः सृजानो अत्यो न
 २र ३ २ ३ १ २   ३ २
सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा ॥५॥
५५८॥

(१) यह कवि [**दिवः**]=ज्ञान का [**धर्ता**]=धारण करने वाला होकर [**पवते**]=अपने को पवित्र करता है—और गतिमय होता है । ज्ञान के द्वारा यह अपने जीवन को तो पवित्र बनाता ही है, साथ ही गतिशील होता हुवा उस प्रकाश को सर्वत्र फैलाता है । (२) [**कृत्व्यः**]=यह सदा क्रियाशील होता है । कर्म करने वालों में उत्तम ।' क्रियावानेष ब्रह्म विदां वरिष्ठः' । यह वासनाओं से निवृत्त होता है—कर्म से नहीं । (३) [**रसः**]=इसकी कार्य प्रणाली में माधुर्य होता है । इसकी क्रियायें व उपदेश सभी रसमय होते हैं । (४) [**देवानाम् दक्षः**]=विद्वानों में भी निपुण । अपने कार्य को दक्षता से करता है यह भोंदू नहीं होता । जनता में कार्य करने वाले को दक्ष होना ही चाहिए 'विविध वृत्ति वाले लोगों से कैसे कैसे=वर्तना'

यह वह खूब समझता है। (मोतीलाल जी नेहरू के रिपोर्ट को दबाया जाय या जलाया जाय के प्रश्न) पर (४) [अनुमाद्योनृभिः]=मनुष्यों से यह सदा अनुमाद्य होता है। यह ऐसी दक्षता से कार्य करता है कि मनुष्य आनन्द ध्वनियों से गूंज उठते हैं। (These are always ioud cheers whenever he speaks) मनुष्य उसे देख प्रसन्न होते हैं (Man are delighted to see him) (५) [हरिः]=इसका लक्ष्य सदा जन दुःख हरण होता है। दुःख हरण से ही यह हरि कहलाता है। (६) [सृजानः]=इसीलिये यह स्वभावतः निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहता है। तोड़-फोड़ के कार्यों से कभी प्रजा का कल्याण हुवा है? (७) [**अत्यो न सत्वभिः**]=यह इतना कार्य इसलिये कर पाता है कि यह बल में घोड़े के समान होता है। 'अनध्वा वाजिनां जरा'=न चलना घोड़े के बुढ़ापे का कारण होता है। इसी प्रकार कार्य के अभाव में यह निरानन्दता अनुभव करता है। यह निरन्तर गतिशीलता में ठीक रहता है (अत् सातत्यागमने)। (८) यह अपना कार्य क्षेत्र [**आ नदीषु**]=(Crying with pain) चारों ओर दुःख से कराहती प्रजाओं के अन्दर बनाता है। यह हिमालय कन्दराओं में जाकर समाधि का आनन्द नहीं लेने लगता। इन प्रजाओं के अन्दर यह [**पाजांसि**]=अपनी शक्तियों को [**कृणुते**]=विनियुक्त करता है। और इस कार्य में [**वृथा**]=यह अनायास ही प्रवृत्त होता है। प्रजाओं के विरोधों से यह थक नहीं जाता। और साथ ही अपने किसी निज लाभ के लिये यह उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। वेफ़ायदा ही लगा रहता है।

भावार्थ—कवि निःस्वार्थ भाव से जनहित के कार्यों में सदा प्रवृत्त रहते हैं।

Crossing of 3 rivers

बुद्धि के धनी का प्रभु में प्रवेश

१ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां
३ १र २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २
प्रतरीतोषसां दिवः। प्राणा सिन्धूनां कलशां
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्याविशन्मनीषिभिः ॥६॥
५५९॥

'सिकता निवावरी' समझती है कि (१) [**मतीनां**]=बुद्धियों की [**वृषा**][=शक्ति वाला [**पवते**]=अपने जीवन को पवित्र बनाता है। (२) [**विचक्षणः**]=यह विशेष-सूक्ष्म दृष्टि वाला होता है अतएव [**सोम**]=विनीत होता है। ज्ञान के ये दो परिणाम निश्चित ही हैं—पवित्रता तथा विनीतता। (३) यह पवित्र व विनीत व्यक्ति [**अह्नाम्**]=(अ+हन्) जिनका नष्ट करना कठिन है उन अभिमान की भावनाओं का [**उषसाम्**]=(उष् दाहे) अन्दर ही संतप्त करने वाली कामवासनाओं का तथा [**दिवः**]=लोभ के कारण उत्पन्न द्यूत वृत्ति का [**प्रतरीतः**]=तैर जाने वाला होता है। ज्ञान के कारण यह अभिमान काम व लोभ का शिकार नहीं होता! (४) इन वासनाओं का शिकार न होकर यह [**सिन्धूनां प्राणा**]=(सिन्धूनां=अपाम्=रेतसाम्) वीर्य शक्तियों का अपने अन्दर (प्रा=पूरणे) पूरण करने वाला होता है। इस प्रकार अपने जीवन को 'ज्ञानमय' पवित्र, विनीत, निर्वासन व शक्ति संपन्न' बनाकर यह (५) [**कलशान्**]=शरीर धारियों के प्रति [**अचिक्रदत्**]=पुकार २ कर धर्म का उपदेश देता है। और इस प्रकार लोकसंग्रह करता हुवा (६) [**मनीषिभिः**]=सदा मननशील विद्वान्-मित्रों के साथ चर्चा करता हुआ इन्द्रस्य उस प्रभु के [**हार्दि**]=हृदय में [**आविशत्**]=प्रवेश करता है। वैसे तो प्रभु सभी के हृदयों में सदा से हैं परन्तु इस ज्ञानी विनीत का हृदय तो वासनाओं का

निवास स्थान न रहकर प्रभु का ही निवास स्थान हो जाता है। और यह सदा इस प्रभु के हृदय में प्रवेश करता है। इस अन्तिम वाक्य का अर्थ इस रूप में भी कर सकते हैं कि वह प्रभु के रहस्य को समझने लगता है।

सूचना:—इस मंत्र में 'अहन् उषस् व दिव्' तीन शब्दों का प्रयोग अत्यन्त प्रसिद्ध अर्थ में न होकर अभिमान, काम व लोभ के लिये हुआ है।

भावार्थ—हम 'अभिमान' काम व लोभ' के समुद्रों को तैरने वाले बनें।

रेणु: वैश्वामित्र:

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं
३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३
परमे व्योमनि। चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे
१ २ ३ २ ३ १र २र
चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥७॥५६०॥

इस मंत्र का ऋषि [**रेणु**]=गतिशील, नदी की तरह स्वाभाविक, सरल, निरन्तर गति वाला, सदा नीचे और नीचे अर्थात् अधिक और अधिक विनीत बनता हुआ यह व्यक्ति [**वैश्वामित्र**]= सभी के साय स्नेह वाला है। यह स्वाभाविक नम्रता पूर्णगति और प्रेम उसको इस योग्य बनाते हैं, कि [**सप्त धेनवः**]=सात द्वन्द्वों में चलने वाली ये वेदवाणियां (ज्ञान दुग्ध का पान कराने से ये वेदवाणियां धेनु हैं) [**अस्मै**]=इस वैश्वामित्र रेणु के लिये [**त्रि**]=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक भेद से तीन प्रकार से [**सत्याम्**]=सत्य [**आशिरम्**]=वासनाओं के शीर्ण करने वाले ज्ञान को परमे [**व्योमनि**]=उत्कृष्ट मूर्धा रूप द्युलोक में [**दुदुह्रिरे**]=पूर्ण करती हैं (दुह प्रपूरणे) गति नम्रता और सभी के साथ स्नेह ये तीन ऐसे उत्तम गुण हैं जो रेणु के मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण कर देते हैं। गति से भूलोक को, नम्रता से भुवर्लोक को तथा सबके साथ स्नेह को व्यापक बना देने से यह स्वर्लोक को जीतता है। अब [**चत्वारि अन्या भुवनानि**]=चार दूसरे, महः, जनः, तपः, सत्यम्' लोकों को [**निर्णिजे**]=शोधन व पोषण करने के लिये यह रेणु [**चारुणि**] सुन्दर कर्मों को [**चक्रे**] =करता है और [**यत्**]=जब यह [**ऋतै**]= बिलकुल ठीक समय स्थान पर क्रियाओं के द्वारा [**अवर्धत**]=बढ़ता है, तो उन लोकों का आक्रमण करता ही है। अन्त में वह सत्यलोक में पहुंचता है। यह सत्यलोक वास ही उसका अन्तिम कदम होता है। बिना ऋत के पालन के यहां कैसे पहुंचा जा सकता है?

भावार्थ:—हम रेणु वत वेदवाणी के द्वारा ज्ञान का दोहन कर, सुन्दर कर्मों को करते हुये और ऋत को पालते हुये सत्यलोक में अवस्थित हैं।

वेनो भार्गव:

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३
इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्रवापामीवा भवतु
१ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३
रक्षसा सह। मा ते रसस्य मत्सत द्वयानिनो
१ २ ३ २ ३ १ २
द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥८॥५६१॥

'वेन' शब्द का अर्थ 'प्रबल इच्छा वाला' है। प्रभु प्राप्ति की प्रबल इच्छा होने के कारण यह [**भार्गवः**]=अपना उत्तम परिपाक करने वाला है। यह 'वेन भार्गव' अपनी शक्ति को सम्बोधित करता हुवा कहता है कि (१) ऐ सोम? तू [**सुषुतः**]=उत्तम भोजनों से उत्पन्न हुआ-हुआ [**इन्द्राय**]=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये [**परिस्रव**]=मेरे अंग-प्रत्यंग में परिस्रुत हो। मैं तेरा विनियोग सांसारिक सुखों की प्राप्ति में न करके प्रभु प्राप्ति में ही करूं। (२) प्रसंगवश [**अमीवा**]=सब रोग व रोगों के germs [**अपभवतु**]=दूर हों। वीर्यशक्ति रोग कृमियों का संहार करके मुझे रोगों से बचाने वाली हो। (३) [**रक्षसा सह**]=सब राक्षसी वृत्तियों के साथ मेरे रोग दूर भाग जायें। वीर्य के अपव्यय में जहां शरीर के अन्दर रोग उत्पन्न हो जाते हैं, वहां मन

के अन्दर भी अशुभ विचार आ जाते हैं। मनुष्य अपने रमण के लिये औरों का क्षय करने लगता है। यह रमण के लिये क्षय ही 'रक्षस्' वृत्ति कहलाती है। संयमी जीवन के होने पर ये अशुभ वृत्तियां हमारे अन्दर नहीं पनपतीं।

इस [**ते**] = तुझ सोम के [**रसस्य**] = रस का [**द्वयाविनः**] = प्रभु व लोक दोनों की ओर जाने की कामना वाले लोग [**मा मत्सत**] = आनन्द न प्राप्त कर सकें। वस्तुतः संसार की कामना के साथ प्रभु का ध्यान सांसारिक वस्तुओं की वृद्धि के लिये ही होता है। यह सकाम 'प्रभु का ध्यान' उसे विषयों से बचा नहीं पाता। अपितु भ्रमवश यह उन विषयों की प्रभु की कृपा का चिह्न समझने लगता है। पर क्या यह सचमुच प्रभु की कृपा है? क्या ये सांसारिक सुख-भोग सचमुच द्रविण हैं? वेद कहता है कि नहीं। [**इह**] = इस संसार में [**इन्दवः**] = सोम कणों को अपने में सुरक्षित करके शक्तिशाली बनने वाले लोग ही 'द्रविणस्वन्सः' = उत्तमद्रविण वाले [**सन्तु**] = हों। उन्होंने ही उत्कृष्ट परमार्थ धन को कमाया है। द्वयावी पुरुषों को प्रभु से भोगादि सामग्री प्राप्त होती है; परन्तु इन्दुओं को तो प्रभु ही प्राप्त हो जाते हैं। वेन की प्रबल कामना यही तो थी कि मैं प्रभु को पा सकूं। आज उसकी यह इच्छा परिपूर्ण हुई है। उसने अपना परिपाक भी तो किया था।

भावार्थ—हमारे में प्रभु-प्राप्ति के लिये प्रबल कामना हो, और उसके लिये हम अपना परिपाक करें। परिपाक का साधन सोमरक्षा ही है।

वसुः भारद्वाजः

१ २ ३ १ २   ३ २उ   ३ २ ३ १ २   ३ २
असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो
३ १र ३र   ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
अभि गा अचिक्रदत्। पुनानो वारमत्येष्यव्ययं
२ १र   २र ३ १ २ ३ १ २
श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत् ॥९॥५६२॥

'**वसुः**' शब्द का अर्थ है 'उत्तम निवास वाला' और 'भारद्वाजः' का अर्थ है जिसने मस्तिष्क में ज्ञान को, मन में त्याग को तथा शरीर में क्रियाशीलता को भरा है। इसका जीवन कैसा है?

(१) [**असावि**]—(He has grown) यह उत्तम विकास कर चुका है, उन्नति के शिखर पर पहुंच चुका है। परन्तु इतना उन्नत होते हुए भी यह [**सोमः**=विनीत है। उन्मत परन्तु नत।

(२) [**अरुषः**] = यह क्रोध से शून्य है। कभी क्रोध में नहीं आता। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह निर्बल है। कवि लोग कहा करते हैं कि क्षमावान् का एक ही दोष है कि इसे मनुष्य अशक्त मानते हैं। पर यह वसु तो क्रोध न करता हुवा [**वृषा**] = अत्यन्त शक्तिशाली है। वस्तुतः शक्तिशाली होने से ही वह क्षमाशील अक्रोधी है।

(३) [**हरिः**]—यह औरों के दुःखों का हरण करने वाला है। [**राजा इव**] = जैसे एक राजा प्रजा के दुःखों को दूर करना अपना व्रत समझता है, और इसी में अपने नाम का चारितार्थ समझता है 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'। उसी प्रकार यह औरों के दुःखों को दूर करने में लगा रहता है।

(४) [**दस्मः**] = 'औरों के दुःखों को दूर कर सकूं' इसीलिये यह सब विषय-विकारों को अपने से दूर रखता है (वसु उपक्षये)—सर्व विकारों का यह उदक्षेप्ता होता है। शतरंज आदि का चस्का लग जाने पर मनुष्य का समय उन्हीं में समाप्त हो जाता है - वह लोकहित नहीं कर पाता।

(५) [**अभि**] = विषय विकारों को दूर करने को लक्ष्य में रखकर ही यह [**गाः अचिक्रदत्**] = वेदवाणियों का उच्चारण करता है। वस्तुतः शुभ शब्दों व वाक्यों का उच्चारण मन को शुभ बनाता है। [**तज्जपः, तदर्थभावनम्**] = प्रभु के नाम का जप व उसके अर्थ का चिन्तन इसी प्रकार मन को शुद्ध रखता है।

(६) [**पुनानः**]—सदा शुभ वेदवाणियों का उच्चारण करता हुवा यह अपने जीवन को पवित्र बना लेता है। प्रभु और जीव में यही तो भेद था

कि प्रभु शुद्ध और अपापविद्ध थे तो जीव मलिन कर्मों को भी कर बैठता था। आज वसु ने अपने को शुद्ध कर डाला है। शुद्ध करके यह (वारम्)= (भेदम्, वृङ् संभक्तौ—division) भेदक पंक्ति को [**अत्येषि**]=लांघ गया है। प्रभु जैसा ही बन गया है।

(७) [**श्येनो न**]=प्रशंसनीय गति वाला होकर—सदा उत्तम कर्मों में लगा हुवा होकर यह [**योनिम्**]=जगत् के मूलकारणभूत प्रभु की गोद में [**आसदत्**]=बैठा है। जो गोद (अव्ययम्)= अव्यय है—जिसमें पहुंच जाने पर फिर विविध योनियों में आना नहीं होता। (अ+वि+अय) तथा (घृतवन्तम्)=जो दीप्तिमय से (घृदीप्तौ) जहां प्रकाश ही प्रकाश है—अन्धकार नहीं। यही तो शुक्लमार्ग की 'चरम सीमा' है।

भावार्थ—हम भी वसु की तरह उन्नत होकर नम्र बनें, क्रोध न करते हुए शक्तिशाली हों। औरों के दु:खों का हरण करें। व्यसनों से दूर रहें। मंत्रों को मुख से उच्चरित करें। पवित्र होकर प्रभु जैसे बनें और उसकी प्रकाशमय गोद में पहुंचें।

वत्सश्रीः भालन्दः

२ ३२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव
२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ न धेनवः। बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
परिस्रुतमुस्रिया निर्णिजं धिरे ॥१०॥५६३॥

[**वदतीति वत्सः**]=वेदवाणियों का उच्चारण करता है—प्रीणाति इति प्रीः=इस प्रकार प्रभु को प्रसन्न करता है। और इस प्रकार [**भालं ददाति**]= प्रभु-दर्शन को देता है—अपने व्याख्यानों से प्रभु का जीवित जागरित चित्रण करता है। यह भालन्द सदा——

(१) (प्र-देवम्)= उस प्रकृष्ट महान् देव की [**अच्छा**]=ओर गति वाला होता है। (२) [**मधुमन्तः**]=ये सदा माधुर्य वाले होते हैं—ये कभी भी अपने व्यवहार में कटुता नहीं आने देते। (३) [**इन्दवः**]=शक्तिशाली होते हैं (इन्द्र= To be powerful) (४) (धेनवः गावः न)=नव सूतिका गौवों के समान औरों को पोषण करते हुए (धेट् पाने)(आ असिष्य दन्त)=बड़ी स्निग्ध गति वाले होते हैं। जैसे एक चश्मा स्वभावतः शान्ति से बहता चलता है उसी प्रकार ये बिना किसी को ठोकर लगाये शान्तिपूर्वक जीवन-पथ पर चढ़ते चले जाते हैं।(५) (बर्हिषदः)=ये उस हृदय में निवास करने वाले होते हैं जो कि वासनाओं को उखाड़ देने से 'बर्हि' नाम वाला हुवा है। अर्थात् ये सदा निर्मल हृदय में आसीन होते हैं। (६) (वचनावन्तः)=ये अपने वचनों के बड़े पक्के होते हैं।(७) [**उस्रियाः**]=ज्ञान की रश्मियों वाले ये लोग [**ऊधभिः परिस्रुतम्**]=रसों से चूते हुए [**निर्णिजं**]=शोधन को, [**धिरे**] धारण करते हैं। अर्थात् ये व्यक्ति सदुपदेशों व सन्मंत्रों द्वारा औरों के जीवनों को भी पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु इनके वे उपदेश माधुर्य को टपकाने वाले शब्दों में दिये जाते हैं। इनकी वाणी से रस चू रहा होता है। रस प्रस्ताविणी वाणियों से ये सब मलों को स्रुत करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—हमारी एक-एक क्रिया हमें प्रभु की ओर ले जा रही हो, हम माधुर्य वाले पर शक्तिशाली हों। औरों का भी पालन करें। पवित्र हृदय वाले हों—वचन के पक्के हों। औरों को धर्म का ज्ञान रसस्राविशब्दों में दें।

अलंकृत करते हैं

३ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३
अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति
२ ३क २र १ २ ३ २ ३ १ २
मध्वाभ्यञ्जते। सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्त-
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते ॥११॥
५६४॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'गृत्समद शौनक' है। (गृणाति इति गृत्सः, माद्यति इति मदः, शुनति इति शुनः स एव शुनकः) प्रभुस्तवन करता है, प्रसन्न रहता है, और गतिशील होता है। ये गृत्समद शौनक लोग [**अञ्जते**]=अपने जीवनों को अलंकृत करते हैं, (वि-अञ्जते)=विशेष रूप से अलंकृत करते हैं और (समञ्जते)=सम्मक्तया पूर्णरूपेण अलंकृत करते हैं।

जीवनों को अलंकृत करने के लिये वे (ऋतुँ रिहन्ति =यज्ञ का स्वाद लेते हैं। यज्ञ कहते हैं 'लोकहित के कर्मों को' उन कर्मों में ये लोग आनन्द लेते हैं। प्रसन्नतापूर्वक उन्हें करते हैं। मनुष्य कर देता है— वह भी लोकहित का कार्य है। परन्तु मनुष्य को वह देना पड़ता है-–उसमें उसे आनन्द नहीं, कष्ट का अनुभव होता है। जब इन कार्यों में हम आनन्द लेने लगते हैं, हमारा जीवन अलंकृत हो जाता है। यह दान की वृत्ति, व्यसनवृक्ष की मूलभूत लोभवृत्ति को काट डालती है और जीवन में एक सौन्दर्य आ जाता है।

अब, इन अपने जीवनों को विशेषरूप से अलंकृत करने के लिये वे (मध्वा)=माधुर्य से (अभ्यञ्जते)=वे समन्ततः पूर्णरूपेण अपने को लिप्त कर लेते हैं। इनका आना-जाना बोलना, सब माधुर्यमय हो जाता है। क्रोधरूप राक्षस का वहां नामावशेष भी नहीं रहता उनका मनः प्रसाद चेहरे पर भी झलकता है और उनका जीवन कितना ही सुन्दर हो जाता है।

जीवन के सौन्दर्य को Finishing touch देने के लिए पूर्णता तक पहुंचाने के लिये ये लोग [**पशुम्**]=काम को (कामःपशु) [**अप्सु**]=कर्मों में (गृभ्णते)=निग्रहीत करते हैं। सदा कर्मव्यापृत रहकर काम को जीत लेते हैं। उस काम को जोकि सिन्धोःरस स्पन्दनशील जीव के नाना योनियों में विचरण करने वाले प्राणी के (उच्छ्वासे)=श्वास लेना प्रारम्भ करने पर ही (पतयन्तम्)=आ टपकता है और (उक्षणम्)=उसे सींच डालता है, अर्थात् उसकी रग २ में व्याप्त हो जाता है। बाल्यकाल के प्रारम्भ में विन्दु रूप वह काम यौवन में उसके अन्दर उन्हें मारने लगता है। बीज रूप वह काम एक महान् वृक्ष बन जाता है। इस काम को हिरण्यपावा, हिरण्यं वै ज्योतिः, हिरण्यं होमः, सोम=शक्ति व ज्ञान का पान करने वाले लोग सदा कार्यव्यापृत रहने के द्वारा वफा करने के लिये यत्नशील होते हैं।

यज्ञों से ये लोभ को जीतते हैं, माधुर्य से क्रोध को, और कार्यव्यापृतता से काम को। इन तीन नरकद्वारों को जीत कर ये अपने जीवनों को अत्यन्त सुन्दर बना लेते हैं।

भावार्थ—हम भी गृत्स बन कर—प्रभु के न कि प्रकृति के स्तोता बन कर लोभ के विजेता बनें। मद-सर्वदा प्रसन्न बन कर क्रोध को जीतें। शुनक-सदा क्रियाशील होकर काम को समाप्त कर दें।

पवित्र आंगिरस

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३
पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि
१ २ ३ १ २ १ २ ३ २उ ३ १ २
पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते
३ २ ३ १र २र ३ १र २र
शृतास इद् वहन्तः सं तदाशत ॥१२॥५६५॥

काम-क्रोध व लोभ से अपनें को रहित करके [**पवित्र**]=बना हुआ 'हिरण्यपावा' बनकर 'आंगिरस' शक्तिशाली हुवा हुवा यह पवित्र आंगिरस प्रार्थना करता है कि हे ब्रह्मणस्पते=ज्ञान के पति प्रभो ? [**ते**]=आपका [**पवित्रम्**]=पवित्र करने वाला स्वरूप [**विततं**]=चारों ओर व्याप्त है—विस्तृत है। आप प्रभुः=अत्यन्त प्रभाव वाले हैं। स्वयं पूर्णपवित्र होते हुए औरों को पवित्र करने वाले हैं। [**विश्वतः**]=सब ओर से [**गात्राणि पर्येषि**]=हमारे शरीरों को व्याप्त किये हुये हैं अपनी पवित्रता को निरन्तर हमारे में संचरित कर रहे हैं। प्रभु के संपर्क में आने वाला व्यक्ति

उसी प्रकार पवित्र हो जाता है जैसे कि गंगा की तीव्र धारा में गिरा गन्दा नाला पवित्र हो जाता है। पर, [**अतप्ततनू**]=जिसने अपने शरीर को तपाया नहीं, जो अपने जीवन को तपस्वी नहीं बना पाया और अतएव [**आमः**]=अपरिपक्व है वह [**तद्**]=उस पवित्र प्रभु को न [**अश्नुते**]=नहीं पाता। [**तृतासः इत्**]=केवल वे ही जो कि (शृ पाके) अपना पाक करते हैं, वे [**संवहन्त**]= उत्तम प्रकार से जीवन यात्रा को चलाते हुये (तद्) =उस प्रभु को [**आशत**]=प्राप्त होते हैं।

यह परिपक्व उन्हें उसी प्रकार पवित्र कर देता है जैसे कि भट्टी की अग्नि सोने को, जिस प्रकार कि उबलता पानी वस्त्र की स्निग्धता को और जैसे कि अग्नि कोयले की कालिमा को। परिपक्व होने पर ही मनुष्य प्रभु को पाता है और फिर आवागमन के चक्र से उसी प्रकार छूट जाता है, जैसे कि पकी रोटी तवे पर लोटे पोटे जाने से और जिस प्रकार कि पक कर टूटा हुआ घड़ा फिर गुन्धकर घड़ा बनाये जाने से।

भावार्थ—हम पवित्र प्रभु में समाकर पवित्र हो जांय। इस समा जाने के लिये ही अपने को तीव्र तपस्वी बनायें।

* * *

॥३॥ ऋषि—१, ७, ११ अग्निश्चाक्षुषः; २ चक्षुर्मानवः; ३, ४, ९, १० पर्वतनारदौ; ५ त्रित आप्त्यः; ६ मनुराप्सवः; ८, १२ द्वित आप्त्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

परमकल्याण के लिये

२ ३१ २ ३ २ ३१र २र ३ १ २ ३ २
इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः। श्रुष्टे
३ २३ १ २ ३ १ २
जातास इन्दवः स्वर्विदः ॥१॥५६६॥

प्रस्तुत मंत्र का छन्द 'उष्णिक्' है (उत् स्निह)— उत्कृष्ट स्नेह का यह संकेत कर रहा है। वस्तुतः उत्कृष्ट स्नेह के द्वारा ही हमने संयमी बनना है। हीनाकर्षण हमें सोम की रक्षा से दूर ले जाता है। 'उत्कृष्ट स्नेह' करने वाला व्यक्ति ही 'अग्नि'= आगे बढ़ने वाला होता है। जीवन का सूत्र 'आगे बढ़ना' यही होना चाहिये। ऐसा सूत्र बनाने वाला सफल तभी होता है जब वह 'चाक्षुष्य' होता है— बारीकी से सूक्ष्मता से प्रत्येक चीज को देखता है। इस व्यक्ति का ध्येय यह होता है कि [**इमे**]=ये [**सुता**]=सात्विक भोजन से उत्पन्न हुए-हुए सोम [**इन्द्रम् अच्छ**]=उस प्रभु की ओर [**यन्तु**]= चलें। जो प्रभु [**वृषणम्**]=शक्तिशाली हैं— हमारे पर सुखों की वर्षा करने वाले हैं। इस सोम का अन्तिनाम साध्य हमें उस 'वृहत् सोम'=परमात्मा से मिलता ही तो है।

ये सोम [**हरयः**]=हमारे सब दुःखों का हरण करने वाले हैं। शरीर में रोगों को ये उत्पन्न ही नहीं होने देते—उत्पन्न रोग कृमियों का ये संहार कर हमारी व्याधियों का ये हरण करते हैं। शक्तिशाली बनाकर हमारे मनों को भी ये निर्मल कर देते हैं। बुद्धि की कुण्ठता को दूर करते हुए ये सचमुच [**श्रुष्टे**]=हमारे परमकल्याण के लिये ही (श्रुष्टी=सुख नि०) [**जातासः**]=आविर्भूत हुए हैं। इनका उत्पादन प्रभु ने हमारे परमसुख के लिये ही किया है। हमारे जीवनों को ये सुखी बनाते हैं चूंकि [**इन्दवः**]=ये हमें शक्तिशाली बनाने वाले हैं। पवित्रता और शक्ति का परस्पर सम्बन्ध है। सोम हमें पवित्र भी करते हैं, सशक्त भी बनाते हैं। और इस प्रकार ये [**स्वः विदः**]= उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को हमें प्राप्त कराने वाले होते हैं। प्रभु को मैं प्राप्त करूंगा यदि पवित्र व शक्तिशाली बनूंगा। ये ही बातें इस सोम के संयम के प्रभाव से मेरे में उपस्थित होती हैं—और मैं प्रभु का उपासक होता हूं।

भावार्थ—सोम मुझे 'बृहत् सोम' को प्राप्त कराये।

ज्योतिर्मय बल

१ २ ३ १२३ १ २ ३ १ २
प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परि स्रव।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्युमन्तं शुष्ममा भर स्वर्विदम् ॥२॥५६७॥

प्रत्येक वस्तु के तत्व को देखने वाला 'चक्षुः' इस मंत्र का ऋषि है। यह 'मानव'—ज्ञानी तो है ही। यह सोम को सम्बोधन करते हुए कहता है कि ऐ सोम? तू [**प्रधन्वा**]=प्रकृष्ट गति वाला हो। तेरी गति दक्षिण व निचले मार्ग की ओर न होकर उत्तर व उत्कृष्ट मार्ग की ओर हो। इसी साधना को करता हुवा मैं 'उत्तरायण' (उत्तर मार्ग) में ही अपने अन्तिम क्षण को भी बिताऊं। यह उत्तरायण ही 'शुक्ल मार्ग' है—प्रकाशमय है। [**सोम**]=ऐ सोम तू [**जागृविः**]=इस प्रकाशमय मार्ग में मुझे स्थापित करता हुवा सदा चेतनामय=जागरित बनाये रख। मैं मोहमयी प्रमाद मदिरा के नशे में उन्मत न हो जाऊं। मुझे अपनी जीवन-यात्रा का लक्ष्य सदा स्मरण रहे। ऐ इन्दो? मुझे शक्तिशाली बनाने वाले सोम तू [**इन्द्राय**]=उस प्रभु के प्राप्ति के लिये [**परिस्रव**]=परिस्रुत हो। तू मुझे निरन्तर उस प्रभु के समीप और समीप प्राप्त कराने वाला हो।

इस लोकयात्रा में तू [**शुष्मम्**]=कामादि सब अन्तः शत्रुओं का शोषण करने वाली उस शक्ति को मेरे में [**आभर**]=भर दे जो कि [**द्युमन्तम्**]=प्रकाशमय है। मेरा बल ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो। ऐसा ही बल तो [**स्वर्विदम्**]=मुझे उस प्रभु को प्राप्त करायेगा। प्रभु 'स्वर्' हैं—स्वयं राजमान हैं। मैं भो ज्ञान से राजमान होकर प्रभु को पाता हूं।

भावार्थ—संयम के द्वारा मनुष्य सोम की रक्षा करता है। यह सोम संयमी को 'ज्योतिर्मय बल' प्राप्त कराता है जिससे कि यह अन्त में उस परम ज्योति में लीन हो पाता है।

निश्छल निर्मल जीवन मिलकर प्रभु का गान

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत।
२ ३ २ ३ १र २र ३ २
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥३॥५६८॥

पवित्रता से ही प्रभु की प्राप्ति होती है। निरन्तर पवित्रता का अपने अन्दर पूर्ण करने वाला (पर्व पूरणे) 'पर्वत' प्रस्तुत मंत्र का ऋषि है। अपने को पवित्र बनाकर अन्य नरों को भी यह पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है सो 'नारद' कहलाता है (नरसमूहं-नारं-दायति शोधयति)। जीवन की पवित्रता के सम्पादन के लिये यह प्रस्ताव करता है कि [**सखायः**]=मित्रो [**आ**]=चारों ओर से आकर [**नि**]=नीचे नम्रता से [**षीदत**]=(सीदत), बैठो। [**पुनानाय**]=उस पवित्र करने वाले प्रभु के लिये [**प्रगायत**]=खूब ही गान करो, प्रभु के गुणों का गान हमारे जीवनों को पवित्र बनायेगा। वस्तुतः प्रभु गुण-गान अर्थात् प्रभु का स्तवन हमारे सामने एक लक्ष्य दृष्टि को उत्पन्न करता है, और अपने जीवन के लक्ष्य के विस्मरण न होने से हम मार्गभ्रष्ट नहीं होते। दूसरे शब्दों में, हमारा जीवन पवित्र बना रहता है मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य को भूला, और व्यसनों में फंसा। स्तुति इस लक्ष्य को ही तो सदा हमारे सामने उपस्थित रखती है। अपने जीवन को [**शिशुं न**]=बच्चे की तरह (Child like) निश्छल, निश्छिद्र, निर्दोष बनाने का एकमात्र मार्ग यही है। इस मार्ग की खूबी यह है कि यह हमारे से बच्चे के अज्ञान को तो दूर करता है और उसकी निष्कपटता को हमें प्राप्त कराता है। हमें childish न बनाता हुवा child like बना देता है। बच्चे की कमी को यह मार्ग हमारे से दूर करता है और बच्चे की खूबी को हमारे में भर देता है।

पर्वत ऋषि के मुख से प्रभु कहलवाते हैं कि ऐ मित्रो ? इस प्रकार तुम [**यज्ञैः**]=स्वार्थपरता से शून्य कर्मों के द्वारा अपने जीवनों को [**श्रिये**]= शोभा के लिये [**परिभूषत**]=अलंकृत करो। प्रभु यज्ञरूप हैं—उन्होंने तो 'आत्मदा'—अपने को भी जीव हित के लिये दे डाला है, प्रभु का कोई भी कर्म नाममात्र भी स्वार्थ को लिये हुए नहीं है। प्रभु की स्तुति करते हुए हम भी अपने को यज्ञिय कर्मों के द्वारा ऊपर उठाने वाले बनें। स्वार्थ शून्यता ही मेरे अन्दर दिव्यता को भरेगी और मेरा जीवन अधिकाधिक श्रीसम्पन्न बनेगा। तभी तो मैं औरों को भी उस श्री का प्रकाश प्राप्त करा पाऊंगा।

भावार्थ—यज्ञों से मेरा जीवन श्रीसम्पन्न हो।

प्रभु-प्राप्ति-रसास्वादन

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥४॥५६९॥

पर्वत ऋषि पुनः कहते हैं कि [**सखायः**]= मित्रो [**तं पुनानं**]=उस निरन्तर पवित्र करते हुए प्रभु का [**वः मदाय**]=तुम्हारे उल्लास के लिये [**अभिगायत**]=सदा गायन करो। प्रभु का गायन हमें पवित्र बनाता है। योगदर्शन इसीलिये प्रभु नाम के जप का आदेश करता है (तज्जपः, तदर्थ भावनम्) जितना जपूंगा, उतना ही पवित्र बनूंगा। यह पवित्रता मेरे जोवन को उल्लासमय बनायेगी। माता की गोद में बैठा बालक अव्याकुलता से सदा मुस्कराता रहता है। गोद से दूर हुवा और रोने लगा। इसी प्रकार जोव प्रभु की गोद से दूर होकर घबरा जाता है—संसार के संघर्ष उसे निराश कर देते हैं—कई बार तो इस निराशा में वह अपने को समाप्त भी कर लेता है। प्रभु से दूर होते ही मनुष्य कमजोर हो जाता है। कमजोरी में उल्लास व उमंग कहां ? उल्लास ही नहीं, प्रभु से दूर होने पर पवित्रता भी नहीं रहती—कई बार मनुष्य अपने जीवन पर विचार करके घबरा ही उठता है और उस विचार को दूर करने के लिये—भुलाने के लिये—सदा नशे की अवस्था में रहना चाहता है। शराब आदि उसके जीवन में इसीलिये प्रमुख स्थान ले लेते हैं। परन्तु इसके विपरीत, प्रभु के स्मरण मेरा जीवन [**शिशुं न**]= बच्चे की तरह पवित्र बना रहता है।

इस सभी बात का ध्यान करते हुए समझदार व्यक्ति [**हव्यैः**]=(यज्ञैः) अपने जीवन को हव्य बनाने के द्वारा—अपनी संपत्तियों को लोकहित के यज्ञ में आहुति करने के द्वारा तथा [**गूर्तिभिः**]= (स्तुतिभिः) प्रभु के गुणों के गान द्वारा [**स्वदयन्त**]=उस प्रभु की प्राप्ति के आनन्द का रस लेते हैं। प्रभु की समीपता में ये एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—निःस्वार्थ लोक सेवा व प्रभु स्तवन मेरे जीवन को रसमय बना दें।

अध द्विता (ज्ञान के बाद)

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥५॥५७०॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'त्रित'=ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों का विस्तार करने वाला है और अतएव यह 'आप्त्व' प्रभु को प्राप्त करने वालों में साधु है। यह [**शिशुः**]=(शो तनूकरणे) बुद्धि को सूक्ष्म करने का प्रयत्न करता है। सात्विक भोजन व आसनों के व्यायाम को यह इसी उद्देश्य से अपनाता है कि बुद्धि को तीव्र कर सके। बुद्धि को तीव्र करके यह [**महीनां**]=महनीय महत्वपूर्ण वेदवाणियों का (मही=वाणी) [**प्राणा**]=अपने में भरने वाला होता है (प्रा=पूरणे)। इन वेदवाणियों को अपनाने का परिणाम है कि यह [**ऋतस्य दीधितिम्**]=सत्य की किरणों को [**हिन्वन्**]=प्राप्त करने वाला व अपने में बढ़ाने

वाला होता है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इस प्रार्थना को यह अपने जीवन में मूर्त रूप दे पाता है।

इस प्रकार प्रकाश के क्षेत्र में पहुंचने से यह कटुता के जगत् से ऊपर उठ जाता है। यह माधुर्यमय संसार में प्रवेश करता है। [**विश्वा परिप्रिया भुवत्**]=चारों ओर सबका प्रिय बनता है। 'प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्'=यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी का प्रिय होता है। अज्ञान के कारण ही तो सारी कटुता व लड़ाई है--अज्ञान गया—कटुता गई। वेद कुरान, व बाइबल पढ़ने वाले परस्पर नहीं लड़ते। इन पर केवल श्रद्धा वाले परस्पर घृणा से भरे रहते हैं। यह 'त्रित' बुद्धि को तीव्र करके वेदवाणियों के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाता है।

[**अध**]=अब ज्ञान को खूब बढ़ाने के बाद यह [**द्विता**]=(द्वौ तनोति) कर्म और उपासना का विस्तार करने वाला बनता है। ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म पवित्र होते हैं, और इन्हीं पवित्र कर्मों के द्वारा प्रभु की उपासना होती है (सकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः)। ज्ञानपूर्विका श्रद्धा कभी भी मनुष्य को मनुष्य से लड़ाने वाली नहीं होती। यह मनुष्यों की परस्पर प्रेम करना सिखाती है। इसीलिये यहां मंत्र में ज्ञानपूर्वक कर्म व उपासना पर बल दिया गया है। ज्ञानपूर्वक ही कर्म और उपासना जीवित होते हैं उससे रहित होकर ये मृत हो जाते हैं।

भावार्थ—हमारे कर्म व हमारी उपासना ज्ञान से अनुप्रमाणित हो।

दिव्यता का प्रापक 'सोम'

१२ ३१२ ३ २ ३ १२ ३ १२ २
पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा। आ
३ २ ३ १२
कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥६॥५७१॥

गत मंत्र में ज्ञान प्राप्ति पर बल दिया गया है—उसी के लिये सर्वमहान् साधन का वर्णन प्रस्तुत मंत्र में है। ज्ञान प्राप्ति का मूल ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से सुरक्षित सोम हमारी ज्ञानाग्नि को सूर्य के समान स्रोतित करता है। इसलिये विचारशील पुरुष 'मनु' सदा इसी मार्ग पर चलता है। वह कहता है कि [**इन्दो**]=ऐ मुझे शक्तिशाली बनाने वाले सोम? तू [**धाराभिः**]=अपनी धारण शक्तियों से तथा [**ओजसा**]=विकास के मूल कारणभूत ओज के द्वारा [**देववीतये**]=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये [**पवस्व**]=हमारे जीवनों में प्रवाहित हो तथा उन्हें पवित्र कर। सोम से ही जीवन का धारण है—'मरणं विन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात्।' यही हमारे शरीर में सब प्रकार की उन्नतियों के विकास का हेतु है। इससे हमारे में दिव्यता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

दिव्यता की वृद्धि करने के साथ यह सोम [**मधुमान्**]=माधुर्य वाला है। यह हमारे जीवनों को मधुर बनाता है—इसके कारण हमारे परस्पर के व्यवहार में कटुता नहीं आ पाती। सो मनु कहता है कि [**सोम**]=ऐ सोम तू [**नः**]=हमारे [**कलशं**]=इस १६ कलाओं के आधारभूत शरीर में [**आसदः**]=समन्तात् स्थित हो। यह सोम शरीर में ही व्याप्त हो जाय। शरीर के ही धारण व विकास में व्यथित होकर यह उसे १६ कला सम्पूर्ण बनाने वाला हो। प्रभु षोडशी हैं—मुझे भी यह सोम षोडशी (१६ कलाओं वाला) बनाकर प्रभु के समीप प्राप्त कराने वाला हो।

मनु इस सोम का संचय 'आप्सव' बनकर करता है। 'अप्सु कर्मसु भवः आप्सवः'=जो सदा कर्मों में लगा रहता है वह 'आप्सव' है। कर्म व्यापृत रहना ही वासना से बचने का उपाय है।

भावार्थ—मैं कर्म व्यापृत होकर सोम की रक्षा करूं। यह सोम मुझे दिव्यता प्राप्त कराये।

ज्ञान के शिखर पर

१ २ ३ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं वि धावति ।
३ २ ३ १र २र ३ १ २
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ॥७॥५७२॥

जो भी व्यक्ति संसार के घटनाचक्र को बारीकी से देखता है वह 'चाक्षुष' है। यह किसी भी चोज में न उलझता हुवा आगे बढ़ता जाता है, 'अग्नि' है। यह [**सोमः**]=शक्ति का पुंज तथा विनीत [**पुनावः**]=अपने को निरन्तर पवित्र बनाने के स्वभाव वाला [**ऊर्मिणा**]=अपने हृदय में उत्कर्ष को प्राप्त करने की उमंगों से [**अव्यं**]=(अवनं अवः, तत्र साधुः) रक्षण करने वाली चीजों में सर्वोत्तम ज्ञान की [**वारम्**]=रुकावट को अर्थात् कामादि वासनाओं को [**विधावति**]=विशेष रूप से शुद्ध कर डालता है। यह कामादि का सफाया कर देता है। इन वासनाओं को समाप्त करके ही तो यह [**वाचः अग्रे**]=वाणी के ज्ञान के शिखर पर पहुंचता है। ज्ञान के शिखर पर स्थित हुवा-हुवा यह [**पवमानः**]=औरों को भी पवित्र बनाने के हेतु से [**कनिक्रदत्**]=उन ज्ञानवाणियों का खूब ही उच्चारण करता है—इस ज्ञान का औरों को भी उपदेश देता है।

भावार्थ—स्वयं ज्ञानी बनकर औरों को ज्ञान प्राप्त कराना ही मानव का लक्ष्य होना चाहिये।

गुरु शुश्रूषा

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वंच उच्यते । भृतिं
२र ३ १ २ ३ १ २
न भरा मतिभिर्जुजोषते ॥८॥५७३॥

[**प्र पुनानाय**]=ज्ञान के द्वारा हमें खूब पवित्र करने वाले [**वेधसे**]=मेधावी—ब्रह्मा के समान निर्माण के कार्य में लगे हुए [**सोमाय**]=सौम्यता के पुंज आचार्य के लिये (आचार्यो मृत्युः वरुणः सोम ओषधयः पयः) [**वचः उच्यते**]=प्रशंसा के शब्द हमारे से कहे जाते हैं। आचार्य सदा शिष्य के जीवन को पवित्र करने के लिये प्रयत्नशील होता है। ब्रह्मा की तरह वह भी एक महान् निर्माण के कार्य में लगा है—मनुष्य के निर्माण का इस पर उत्तरदायित्व है। अत्यन्त उन्नत ज्ञान में स्थित होता हुवा भी यह विनीत है। शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु के लिये सदा प्रशंसात्मक शब्दों का उच्चारण करे। गुरु-निन्दा करना तो दूर रहा—उसका श्रवण भी पाप है। वस्तुतः गुरु-निन्दा में लगे व्यक्ति ने ज्ञान भी क्या प्राप्त करना? एवं सत् शिष्य गुरु की प्रशंसा करता है—प्रशंसा ही नहीं [**भृतिं न भरा**]=एक भृत्य की तरह सेवा का भरण करने वाला होता है। [**न**]=इव—तरह नकि एवं=ही भृत्य ही नहीं बन जाता। हर समय सेवा ही सेवा में लगा रहकर ज्ञान-संपादन के कार्य को गौण नहीं कर देता। 'गुरु शुश्रूषा' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—सेवा व गुरु से सुनने की इच्छा। सच्छिश्य सेवक होता है—ज्ञान के श्रवण में प्रमाद नहीं करता। एवं, सेवा व सुनना दोनों का ही विस्तार करने से यह 'द्वित' है। ऐसा ही शिष्य ज्ञान प्राप्त करने वालों में उत्तम होता है सो यह 'आप्त्य' है। यह शिष्य उस आचार्य की सेवा करता है जो कि [**मतिभिः**]=ज्ञानों के द्वारा [**जुजोषते**]=शिष्य का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। आचार्य की शिष्यपूजा यही है कि उसे पुत्रवत् प्रिय समझे और उसे ज्ञान प्राप्त कराने में तत्पर रहे। ऐसे ही गुरुओं की पूजा शिष्य को संसार सागर से तराने वाली होती है। गुरु ने 'पंचाक्षरी मंत्र' कान में फूंका और चेला चिलम ही सदा गुरुजी की भरता रहा तो कल्याण की आशा कहां?

शिष्य भी 'द्वित' हो—सेवा करे और सुने। गुरु भी 'द्वित' हो—प्रेम की भावना वाला हो और ज्ञान का सतत विकास करे। इस प्रकार दोनों द्वित होंगे तो ज्ञान को प्राप्त करने कराने वाले ये 'आप्त्य' कहलायेंगे।

भावार्थ—'सेवा भी सुनना भी' यह शिष्य के जीवन का सूत्र है।

मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य

१ २ ३ १ २ ३ १ २
गोमन्न इन्दो अश्ववत् सुतः सुदक्ष धनिव ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय ॥९॥५७४॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'पर्वत'=अपने ज्ञान का पूर्ण करने वाला तथा 'नारद'=नरसमूह को पवित्र करने वाला है। ये 'काश्यप्यौ=ज्ञानी तथा 'अप्सरसौ'=सुन्दर रूप वाले अथवा निरन्तर कर्मों में सरण करने वाले हैं और अत एव 'शिखण्डिन्यौ' (शिखाम्=अयति)=शिखर तक पहुंचने वाले हैं। इस शिखर तक पहुंचने के लिये इन्होंने सब उन्नतियों के मूल 'संयम' को अपनाया है और संयमी बनने का प्रयत्न करते हुए ये 'सोम' से कहते हैं कि ऐ [**इन्दो**]=हमें शक्तिशाली बनाने वाले सोम ? तू [**सुतः**]=उत्पन्न हुवा २ [**नः**]=हमारे लिये [**गोमत्**]=प्रशस्त्र ज्ञानेन्द्रियों वाला तथा [**अश्ववत्**]=प्रशस्त कर्मेन्द्रियों वाला होकर [**धनिवः**]=हमारे शरीर में गति कर। जब सोम का व्यर्थ में व्यय नहीं होता तो यह शरीर में सारे रुधिर में व्याप्त हो जाता है और हमारी एक-एक इन्द्रिय को निर्मल व शक्तिशाली बनाता है। 'गमयन्ति' अर्थात् इस व्युत्पत्ति से ज्ञानेन्द्रियां 'गो' शब्द वाच्य हैं और 'अस्तुवते कर्मसु' इस व्युत्पत्ति कर्मेन्द्रियां अश्व हैं। इन दोनों को ही शक्तिशाली बनाता है। यह सोम [**'सुदक्ष'**]=उत्तम बल वाला है। सोम का संयम करने वाला मनुष्य संसार में दक्षता से चलता है।

ऐ सोम ? तू [**गोषु**]=हमारी ज्ञानेन्द्रियों में [**शुचिं वर्णं**]=दीप्त रूप को [**अधि-धारय**]=आधिक्येन धारण कर। तू उन्हें खूब चमका दे। इन सुन्दर रूप वाली इन्द्रियों को धारण करने वाला यह सचमुच अप्सरस्=सुन्दर रूप वाला है। यह सोम जीवन को सुन्दर बनाकर मनुष्य को उन्नति के शिखर पर पहुंचाता है—उसे 'शिखंडिन्' बनाता है। ज्ञानेन्द्रियों को प्रशस्त करके यह उसे 'काश्यप' बनाता है, कर्मेन्द्रियों को प्रशस्त करके 'अप्सरस्' (अप्=कर्म, सर=चलना)।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर हमें उन्नति के शिखर पर ले जाने वाला हो।

प्रभु के रंग में रंगा जाना

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि ॥१०॥५७५॥

प्रस्तुत मंत्र के ऋषि उपरले ही मंत्र के ऋषि हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि किस प्रकार प्रभु ने सोम के उत्पादन के द्वारा उन्हें उत्तम ज्ञानेन्द्रियां, उत्तम कर्मेन्द्रियां, उत्तम दक्षता=बल, तथा उज्ज्वल रूप प्राप्त कराया है। ये सब चीजें हो (वसु)=निवास के लिये अत्यन्त उत्तम हैं। अतः ये कहते हैं कि [**अस्मभ्यं**]=हमारे लिये [**वसुविदं**]=उत्तम पदार्थों को प्राप्त कराने वाले [**त्वा**]=आपको [**वाणीः**]=वेद की वाणियां [**अभि-अनूषत**]=सब और से, सब पहलुओं से—भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से स्तुत करती हैं। वेदों में विविध रूपों में उस प्रभु के गुणों का गान है। ऋषि लोग उन वाणियों के अर्थों का विचार करते हुए कहते हैं कि ऐ प्रभो ? [**गोभिः**]=तत्वज्ञान को देने वाली इन वेदवाणियों के द्वारा [**ते वर्णम्**]=तेरे वर्ण को [**अभिवासयामसि**]=सर्वतः धारण करने का प्रयत्न करते हैं। तेरे रूप से अपने को आच्छादित करने के लिये यत्नशील होते हैं। 'तेरे रंग में रंगे जायें' यही हमारी कामना होती है।

प्रभु का वर्ण=रूप क्या है ? "आदित्यवर्णम्"=मैं उस प्रभु को 'आदित्य' के समान वर्ण वाला जानता हूं। 'ब्रह्म सूर्य समं ज्योतिः'=ब्रह्म ही सूर्य के समान ज्योति है। उस ब्रह्म के ज्योतिर्मय रूप को वरेण्य भर्ग को—मैं भी धारण करता हूं। प्रकाशमत मार्ग पर चलना ही मानव जीवन का'

लक्ष्य है। यही गीता का 'शुक्ल मार्ग' है—उत्तरायण है—मोक्षमार्ग है। ब्रह्म 'विशुद्धाचित्' हैं—मैं भी ज्ञानी बनूं।

भावार्थ—वेदवाणियों का अध्ययन करता हुवा मैं प्रभु के 'ज्ञानमय दीप्तरूप' का धारण करने वाला बनूं।

सरलता न यशोयुक्त वीरता

१२ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या। अभ्यर्ष
३ १ २ ३ २ ३ १ २
स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥११॥५७६॥

[**हर्यतः**]=जाने योग्य और चाहने योग्य (हर्य गतिकानयोः) वह [**हरिः**]=सब दुःखों का हरण करने वाले प्रभु [**रंह्या**]=बड़े वेग से अर्थात् शीघ्र ही [**ह्वरांसि**]=कुटिलताओं के [**अतिपवते**]=पार ले जाते हैं। वह प्रभु हम सब की अन्तिम शरण हैं 'साकाष्ठा सा परागतिः।' संसार में अन्य सब शरण नश्वर हैं, केवल प्रभु ही अन्त में सहायक होते हैं। इसलिये वे ही जानने योग्य हैं—वे ही चाहने योग्य हैं। इस प्रभु का स्मरण करने वाला व्यक्ति छलछिद्र से दूर रहता है। 'सर्व जिह्मं मृत्युपदं आर्जवं ब्रह्मणा पदम्'=कुटिलता मृत्यु का तथा सरलता ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है। प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'चाक्षुष' है—सब मार्गों को ठीक प्रकार से देखने वाला है। वह कुटिलता व सरलता के मार्गों का ठीक निरीक्षण करके सरलता के मार्ग को अपनाता है, और इसीलिये ये 'अग्नि'=आगे और आगे बढ़ता जाता है। यह प्रभु से आराधना करता है कि [**स्तोतृभ्यः**]=अपने स्तोताओं के लिये [**वीरवद् यशः**]=वीरता से पूर्ण यश को [**अभ्यर्ष**]=प्राप्त कराइये। स्तोता वीर होता है और वीरता के सदुपयोग से यशस्वी होता है।

एवं मंत्र का सार यह है कि सच्चा स्तोता वह है जो कि (१) प्रभु को ही चाहने योग्य बनाने योग्य मानता है (२) जो प्रभु को सब दुःखों के दूर करने वाला जानता है (३) प्रभु का स्मरण करता हुवा कुटिलता से दूर रहता है (४) वीरता का यशस्वी उपयोग करता है।

भावार्थ—मैं अपने अन्दर सच्चे स्तोता के लक्षणों को धारण करने का प्रयत्न करूं।

सरसता, सौम्यता, स्तुति

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
परि कोशं मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २
अभि वाणीर्ऋषीणां सप्ता नूषत ॥१२॥५७७॥

शरीर में आनन्दमय कोश का नाम ही 'मधुश्चुत् कोश' है। [**सोमः**]=शक्ति व सौम्यता का पुंज बनने वाला व्यक्ति [**पुनानः**]=अपने को पवित्र बनाता हुवा [**मधुश्चुतं कोशे**]=माधुर्य का क्षरण करने वाले आनन्दमय कोश की ओर [**परि अर्षति**]=सब प्रकार से गति करता है। अन्नमय कोश से ऊपर उठकर प्राणमय में, प्राणमय से ऊपर उठकर मनोमय में, मनोमय से ऊपर विज्ञानमय में और उससे भी ऊपर उठकर आनन्दमय-कोश में स्थित होने का यह प्रयत्न करता है। 'शक्ति सौम्यता व पवित्रता' इस अन्तर्मुख यात्रा के पाथेय हैं—मार्ग के भोजन हैं। ये यात्रा को पूर्ण कर सकने के लिये शक्ति देते हैं।

इस आनन्दमय कोश में स्थित होने वाले [**ऋषीणां**]=तत्वद्रष्टा लोगों की [**सप्तावाणीः**]=सप्त द्वारों में (कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखम्) अवतीर्ण वाणी [**अभि अनूषत**]=सदा स्तुति ही करती है। ये कभी किसी के लिये भी निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं करते। ये आनन्दमय कोश में रहते हैं और आनन्दप्रद शब्दों को ही बोलते हैं।

पिछले मंत्र भाग का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि इनकी सात छन्दों में उच्चारण की

जाती हुई वाणियां सदा उस प्रभु का स्तवन करती हैं। एवं यह आनन्द में रहता है, और उस आनन्दमय प्रभु का स्तवन करता है। इन दोनों तत्वों को विस्तृत करने वाला यह सचमुच 'द्वित' है। द्वित होने से ही यह 'आप्त्य'=प्रभु को प्राप्त कराने वालों में उत्तम भी है।

भावार्थ—निचली भूमिकाओं से ऊपर उठकर उच्च भूमिकाओं में विचरने वाले हम बनें।

* * *

॥ ४ ऋषिः—१ गौरवीतिः शाक्त्यः; २ ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरसः; ३ ऋजिश्वा भारद्वाजः; ४ कृतयशा आङ्गिरसः; ५ ऋणञ्चयः; ६ शक्तिर्वासिष्ठः; ७, ८ उरुराङ्गिरसः ॥ देवता=पवनमानः सोमः ॥ छन्दः—१ ४, ६ ककुबुष्णिकः, ५ यवमध्या गायत्रीः ७, ८ काकुभः प्रगाथः (७ ककुबुष्णिक्ः ८ सतोबृहती) ॥ स्वरः—१—४, ६ ऋषभः; ५ षड्जः; ७, ८ मध्यमः ॥

सोम-स्तवन

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो
१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मदः। महि द्युक्षतमो मदः ॥१॥५७८॥

गत मंत्र में ऊपर और ऊपर उठने का उल्लेख था। उस ऊपर उठने के लिये प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'गौरवीति'=सात्विक भोजन वाला और अतएव 'शाक्त्या' शक्ति का पुतला, सात्विक भोजन से उत्पन्न 'सोम'=vitality को सम्बोधन करता हुवा कहता है कि [**सोमाः**]=ऐ शक्ते! तू [**इन्द्राय**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करने वाले मेरे लिये [**मधुमत्तमः**]=अत्यन्त माधुर्य वाला होकर [**पवस्व**]=मेरे शरीर में प्रवाहित हो। शरीर में तेरी व्याप्ति के द्वारा मेरा जीवन अत्यन्त माधुर्यमय हो। सोम सम्पन्न पुरुष कभी कड़वी वाणी का प्रयोग नहीं करता—इसका कोई भी व्यवहार कटुता को लिये हुए नहीं होता। ऐ सोम! तू [**क्रतुवित्तमः**]=मुझे अधिक से अधिक क्रतु=कर्मशक्ति, संकल्पशक्ति तथा ज्ञान को प्राप्त कराने वाला है। सोम के रक्षण से मेरा मस्तिष्क ज्ञानपूर्ण होता है, मेरा हृदय उत्तम संकल्पों से भर जाता है तथा मेरा अंग-प्रत्यंग अधिक कार्यक्षम होता है। [**मदः**]=इस सोम से मेरा जीवन उल्लासमय बना रहता है—मैं कभी निराशा व निरुत्साह में नहीं डूब जाता। [**महि**]=यह सोम मुझे (मह्=पूजायाम्) पूजा प्रवण बनाता है—मेरा झुकाव 'देवपूजा' की ओर रहता है। [**द्युक्षतमः**]=इसके द्वारा मेरा जीवन सदा प्रकाश में (द्यु) स्थित (क्षि) होता है। यह मुझे सदा ज्ञान में निवास करने वाला बनाता है। इस प्रकार [**मदः**]=मेरा जीवन सदा हर्ष, आनन्द व रस से परिपूर्ण रहता है।

भावार्थ—सोम के संयम से मैं सदा 'ज्ञानावस्थित-चेताः' बनूं।

ऊर्ध्व-सद्मा

३ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव
३ २ १र २र ३ १ २
देवयुम्। वि कोशं मध्यमं युव ॥२॥५७९॥

गत मंत्र में सोम के लाभों का वर्णन करते हुए गौरवीति ने कहा था कि यह सोम मुझे ज्ञानावस्थित चित्त वाला बनाता है। ज्ञान में स्थित यह व्यक्ति ऊपर और ऊपर उठता हुवा 'ऊर्ध्व-सद्मा' बनता है। यह अपना घर अन्नमय कोश का न बनाकर आनन्दमय कोश को बनाता है।

वैसे भी इस पार्थिव लोक में ही जन्म न लेकर 'अन्तरिक्ष लोक' में जन्म लेता है, उससे भी ऊपर उठकर द्युलोक में और उससे भी ऊपर उठकर यह 'ब्रह्मलोक' में पहुंचता है। इसका शरीर—अंग-प्रत्यंग—सदा लोच-लचक वाला रसमय बना रहता है। यह 'आंगिरस' होता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि :—

(१) [**अभिद्युम्नं**]=मुझे ज्योति की ओर ले चलिये। मैं अधिकाधिक प्रकाश को प्राप्त करने वाला बनूं 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'=अन्धकार से प्रकाश की ओर।

(२) [**बृहद् यशः**]=मुझे सदा यशस्वी जीवन प्राप्त कराईये। मेरी विद्या विचार के लिये न होकर ज्ञान के लिये हो, मेरा धन मद के लिये न होकर दान के लिये हो और मेरी शक्ति पर—पीडन न कर पीड़ितों के रक्षण में विनियुक्त हो।

(३) [**इषस्पते**]=ऐ प्रभो! आप सब प्रेरणाओं के पति हैं। मुझे आप अपनी प्रेरणाओं का सुनने वाला बनाईये।

(४) [**देव**]=सब दिव्यगुणों से संपन्न प्रभो! [**देवयुम्**]=आप देव को अपने साथ जोड़ने की कामना वाले मुझको आप [**दिदोहि**]=सब बन्धनों से मुक्त करिये। इन बन्धनों से मुक्त होकर ही तो मैं आपसे मिल सकूंगा।

ऊर्ध्वसद्मा की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु उसे प्रेरणा देते हैं कि [**मध्यमं कोशं**]=अपने मध्यम कोश को अर्थात् मनोमय कोश को [**वि युव**]=अधर्म से पृथक् करके धर्म में विशेष रूप से संयुक्त कर। 'संमा भद्रेण पृङ्क्तम्, वि मा पाप्मना पृङ्क्तम्'=इस प्रार्थना को तू अपने जीवन के अन्दर मूर्त्त रूप दे। मन की साधना से ही तेरी ऊपर की प्रार्थनायें पूरी होंगी।

भावार्थ—ऊर्ध्वसद्मा अपने जीवन के अन्दर ज्ञान, यश, प्रभु-प्रेरणा व दिव्यगुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

प्रभु की भावना से अपने को ओत-प्रोत करो

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
रजस्तुरम्। वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥३॥५८०॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'ऋजिश्वा भारद्वाजः' है—सरलमार्ग से चलने वाला, अतएव कुटिलता से दूर। कुटिलता से दूर होने के कारण ही वस्तुतः यह 'भारद्वाज' है—अपने में शक्ति को भर पाया है। कुटिल व्यक्ति का मस्तिष्क व मन सदा चिन्ताओं से पूर्ण रहता है अतएव उसमें नैसर्गिक रूप से ही शक्ति की कमी हो जाती है। कुटिल व्यक्ति प्रकृति की ओर चलता है—ऋजु प्रभु की ओर। यह तो अपने सब मित्रों को यही प्रेरणा देता है कि [**आ**]=सर्वथा [**सोता**]=उस प्रभु की भावना को अपने में उत्पन्न करो—उसका चिन्तन करो, [**परिषिञ्चत**]=उसके चिन्तन ही अपने को खींच लो—तुम्हारी रग-रग में प्रभु की भावना समायी हो। उस प्रभु को तुम सदा याद करो जो कि—

(१) [**अश्वं**]=(अश्व व्याप्तौ) सर्वव्यापक है। सर्वज्ञ विद्यमान होता हुवा यदि वह हमारे कर्मों का सतत द्रष्टा है तो हमें आच्छादित करके हमारी रक्षा भी कर रहा है। उस प्रभु का स्मरण करो जो कि—

(२) [**नः स्तोमम्**]=हमारा स्तुति करने योग्य है। प्रभु की स्तुति से हमारे सामने हमारे जीवन का लक्ष्य सदा उपस्थित रहता है और हम अपने जीवन में उत्थान के करने वाले होते हैं।

(३) [**अप्तुरम्**]=वे प्रभु हमें उत्तम कर्मों की (अप्) प्रेरणा देने वाले हैं। वस्तुतः उसको दयालु रूप में स्मरण करना हमें दया की भावना से अपने को भरने के लिए प्रेरित करता है और इसी प्रकार उसका न्यायकारित्व हमें न्यायकारी बनने का ध्यान कराता है।

(४) [**रजस्तुरम्**]=वह प्रभु हमें प्रकाश को प्राप्त कराते हैं– ताकि उस प्रकाश में हम सदा उत्तम कर्म करने वाले बनें।

(५) [**वनप्रक्षम्**]=(**वन**=संविभाग)—वे प्रभु संविभाग की भावना से हमारा संपर्क करने वाले हैं। 'हम सब उस एक प्रभु के पुत्र हैं'—यह भावना ही हमें संविभाग का पाठ पढ़ाती है। हम सब तो एक हुए—जब वे प्रभु हम सब के पिता हैं तो एक घर में रहने वाले हम क्या मिलकर न खायेंगे ?

(६) [**उदप्रुतम्**]=वे प्रभु अपनी करुणा से हमारे अन्दर भी करुणा जल (उद्) को उद्धृत करने वाले हैं (प्रु)। प्रभु का स्मरण हमें 'करुणार्द्र-हृदय' बनाता है।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु में निवास करूं।

उस वसुओं के धारण करने वाले को

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवोदु-
२ २ ३ १ २ ३ १ २
हम् । विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥४॥५८१॥

प्रभु को (अश्वं=सर्वव्यापक रूप में स्मरण करने वाला ऋजिश्वा सदा यशस्वी ही कार्य करता है सो वह इस मंत्र का ऋषि 'कृतयशाः' बन जाता है। भोगासक्त न होने से, यह सदा 'आंगिरस' रसमय वाला बना रहता है। इसी से यह कहता है कि स्मरण करो—[**एतम्**]=इस प्रभु को [**उ**]=निश्चय से [**त्यं**]=उसे जोकि [**मदच्युतम्**]=हर्ष की हमारे में वर्षा करने वाले हैं। [**सहस्रधारम्**]=हजारों प्रकार से हमारा धारण करने वाले हैं। [**वृषभम्**]=हमारे पर सुखों की वर्षा करने वाले हैं—हमें शक्तिशाली बनाने वाले हैं। [**दिवोदुहम्**]=शक्ति के साथ हमारे में प्रकाश का (दिवः) दुहम्=पूरण करने वाले हैं।

वेद में प्रायः सर्वत्र शक्ति के साथ ज्ञान जुड़ा हुवा है। अकेली शक्ति ग्राम्य लगती है और अकेला ज्ञान अशक्त होता है। एवं अकेली शक्ति भी ठीक नहीं अकेला ज्ञान भी। इन दोनों को अपने में जोड़ने वाला 'भारद्वाज बार्हस्पत्य' है अथवा 'कृतयशा (यशः=ज्ञान आंगिरस) है। इन दोनों को संगत करने के द्वारा ही वे प्रभु [**विश्वावसूनिबिभ्रतम्**]=हमें सब उत्तम पदार्थों के—निवास के लिए आवश्यक साधनों के—प्राप्त कराने वाले हैं।

भावार्थ—प्रभु स्मरण से मैं सब वस्तुओं का धारण करने वाला बनूं।

प्रभु के शिक्षणालयों में

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडा-
२ ३ १ २ ३ २
नाम् । सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥५॥५८२॥

'ऋणंचय' प्रस्तुत मंत्र का ऋषि है–यह 'ऋण' (ऋगतौ) प्राप्तव्य वसुओं का (वसुओं का) चय=संग्रह करता है। 'राजर्षि' अपने जीवन को बड़ा नियमित (Regulated) बनाता है और ऋषि—तत्वद्रष्टा बनता है। इस प्रकार ऋणंचय राजर्षि बन कर यह आंगिरस तो होता ही है। यह कहता है कि हमारे से [**सः**]=वह प्रभु [**सुन्वे**]=अपने में उत्पन्न किया जाता है—स्मरण किया जाता है [**यः**]=जो कि [**वसूनां**]=सब उत्तम पदार्थों का [**आनेता**]=प्राप्त कराने वाला है। जैसे एक आचार्य ज्ञान देकर विद्यार्थी का निर्माण करता है इसी प्रकार वे प्रभु सब उत्तम पदार्थों को प्राप्त करा हमारा निर्माण करते हैं। [**यः**]=जो प्रभु [**रायाम्**]=निर्माण के लिए आवश्यक धनों के प्राप्त कराने वाले हैं। भौतिक शरीर के निर्माण व धारण के लिए इन भौतिक संपत्तियों की आवश्यकता है ही। [**यः**]=जो [**इडानाम्**]=(इ-डा=A law) विधान की प्रतिपादिका वेदवाणियों के प्राप्त कराने वाले हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देकर उस प्रभु ने हमें उन वस्तुओं व धनों के यथोचित प्रयोग का भी

निर्देश किया ताकि इनका अयोग व अतियोग कहीं हमारी हानि का ही कारण न बन जाय। इस प्रकार वे प्रभु ऐसे हैं [**यः**]=जो [**सुक्षितीनाम्**]=उत्तम भूमिकाओं के [**सोमः**]=निर्माण करने वाले हैं। अन्नमय कोश आदि पंचकोश ही इस जीवन-भवन की भूमिकायें=मंजिले हैं। प्रभु इनके अत्यन्त सुन्दर निर्माण की व्यवस्था करते हैं। क्षिति का अर्थ 'मनुष्य' भी है। प्रभु अपने शिक्षणालय में 'वसु' धन व 'वेदज्ञान' को प्राप्त कराके उत्तम मनुष्यों का निर्माण करते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य ही होगा कि यदि हम उस शिक्षणालय में प्रविष्ट नहीं होते?

भावार्थ---मैं प्रभु के शिक्षणालय का विद्यार्थी बनूं।

मैं उत्तीर्ण घोषित किया जाऊं

२ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
त्वं ह्यां३ङ्ग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युम-
२ ३ १ २ ३ १ २
त्तमः। अमृतत्वाय घोषयन् ॥६॥५८३॥

प्रभु के शिक्षणालय में अपने जीवन को शक्ति-संपन्न बनाकर यह 'शक्ति' नाम वाला ही हो गया है। यह काम-क्रोध को जीतने के कारण 'वासिष्ठ' है। यह प्रभु से निवेदन करता है कि [**त्वं**]=ऐ प्रभो आप (Thou) ही [**हि**]=निश्चय से [**अंग**]=(अभि गतौ) मेरे जीवन में सब उत्कृष्ट गति के साधक हैं। [**पवमान**]=आप के स्मरण से ही मेरा जीवन पवित्र होता है। आप [**द्युमत्तमः**]=सर्वाधिक प्रकाशमय हैं। आचार्य ने विद्यार्थी के जीवन में 'पवित्रता व ज्ञान प्रकाश को ही भरना होता है। परमेश्वर से उत्कृष्ट आचार्य का संभव ही कहां? इस शिक्षणालय में रहकर जो प्रभु के प्रति अर्पण के द्वारा अपने जीवन की उत्तमता के लिये अनुकूलता पैदा करते हैं, उनका जीवन अधिक और अधिक दिव्य बनता चलता है। यदि सचमुच इनके अन्दर दिव्यता—दैवी संपत्ति का विकास हो जाता है तो इनको अन्य जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इन [**दैव्यं जनिमानि**]=दिव्यता के जनिम=विकास वाले मनुष्य को वे प्रभु [**अमृतत्वाय घोषयन्**]=अमरता के लिए उद्घोषित करते हैं। ये व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र से ऊपर उठकर मुक्त हो जाते हैं ब्रह्मसंस्थ होकर अमरता को पा लेते हैं।

भावार्थ—मैं सदा उत्तीर्ण होता हुवा अमरता की ओर बढ़ूं।

विशालता

३ १र २र ३ २ ३ १ २
एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते
३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २
मदिन्तमः। क्रीळन्नूर्मिरपामिव ॥७॥५८४॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'ऊरुः आंगिरस' है। ऊर्णुज् 'आच्छादने' धातु से यह शब्द बना है, यह प्राणिमात्र को अपने प्रेम से आच्छादित करने का प्रयत्न करता है। अपने प्रेम को विशाल बनाकर ही यह वासना से ऊपर उठकर 'आंगिरस'=शक्तिशाली हुवा है। यह निश्चय पर पहुंचा है कि [**एषः**]=यह [**स्यः**]=वह प्रसिद्ध [**सोम**]=वीर्य=vitality [**धारया**]=जीवन के हेतु से [**सुतः**]=उत्पन्न किया गया है। इसको शरीर में ही खपा कर हमें अपने अंग-प्रत्यंग को 'स्वस्थ' सबल व सशक्त' बनाना है। इस प्रकार यह हमारे दीर्घ जीवन का हेतु होता है—'मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात्'। यह सोम [**अव्या**]=रक्षण में सर्वोत्तम ज्ञान के [**वारेभिः**]=(Bars) रुकावटों से [**पवते**]=हमें परे ले जाता है—उनसे हमें ऊपर उठा देता है। वस्तुतः यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बन कर उसे दीप्त कर देता है। ज्ञान की प्राप्ति के साथ [**मदिन्तमः**]=यह हमें अत्यंत मद व उल्लास को प्राप्त कराने वाला है—इसकी रक्षा से जीवन सदा आह्लादपूर्ण बना रहता है। [**इव**]=जैसे [**अयामूर्मिः**]=जलों की तरंग [**क्रीड़न्**] जैसे क्रीड़ा करती हुई होती है उसी प्रकार यह मनुष्य भी सारी क्रियाओं को 'गुणागुणेषु वर्तन्ते'

=गुणों की परस्पर होती हुई क्रीड़ा ही समझता है। क्रीड़ा में उत्साह है—निराशा नहीं। गिर कर भी तो तरंग फिर से ऊपर उठती है, इसी प्रकार सोम सम्पन्न व्यक्ति भी कभी उत्साह शून्य नहीं होता।

भावार्थ—प्रेम को विशाल बनाकर हम वासना पर विजय पायें।

प्रभु रूपी कवच वाला

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र
य उस्त्रिया अपि या अन्तरश्मनि निर्गा
२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अकृन्तदोजसा । अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं
३ १ २ ३ १ २
वर्मीव धृश्णवा रुज ॥८॥५८५॥

ऋजिष्वा=सरल मार्ग से आगे बढ़ने वाला शक्ति सम्पन्न पुरुष 'भारद्वाज' [**गाः**]=वेद, वाणियों को [**निर् अकृन्तत्**]=खूब विश्लिष्ट करता है, एक-एक शब्द को छांट-छाँटकर उसमें निहित भाव को देखने की कोशिश करता है। यह वेदवाणियों का तर्क ऋषि के द्वारा अध्ययन करता है। तर्क से अनुसन्धान करता हुवा यह उन [**उस्त्रियाः**]=ज्ञान की किरणों को प्राप्त करता है [**ये**]=जो [**अपियाः**]=उस प्रभु की ओर (**या**) प्राप्त करने वाली हैं। ये ज्ञान किरणें तो हैं जो [**अन्तः अश्मनि**]=(अश्या भवतु नस्तनूः) ऋजिष्वा के प्रमाणतुल्य दृढ़ शरीर के अन्दर निवास करती हैं। ऋजिष्वा का यह ज्ञान 'ओजसा' =ओज के साथ होता है।

एवं ऋजिष्वा (१) तर्क द्वारा वेदाध्ययन करता हुवा ज्ञान की उन किरणों को प्राप्त करता है जो कि उसे प्रभु को प्राप्त कराती हैं (२) उसका शरीर प्रमाण तुल्य दृढ़ हो होता है (३) और यह ओजस्वी होता है। इस प्रकार का जीवन बना सकना इसके लिये इसलिये संभव हुवा कि यह [**व्रजं**]=एक वाड़े को [**अभितत्निषे**]=विस्तृत करता है, जो वाड़ा [**गव्यं**]=ज्ञानेन्द्रिय रूप गौओं को घेरने के लिए है, और जो वाड़ा [**अश्व्यं**]=कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को घेरता है। यह इन्द्रियों को उस-उस विषय से एक कर आत्मवश में लाने का प्रयत्न करता है। इस जितेन्द्रियता ने ही तो ऋषि का मस्तिष्क तथा एक मल्ल का शरीर प्राप्त कराया है। अब यह ऋजिष्वा ज्ञान के कवच को (ब्रह्म वर्ममसान्तरम्) पहन कर कामादि शत्रुओं का पूर्ण संहार कर पाता है। [**वर्मी इव**]=कवच वाले की तरह ऐ [**धृष्णो**]=शत्रुओं का धर्षण करने वाले [**आरुज**]=तू इनका भंग पराजय कर डाल। 'पर इस विजय का कहीं तुझे गर्व न हो जाय' सो [**ओ३म् वर्मीव**]=उस प्रभु रूप कवच वाला तू ऐ [**धृष्णो**]=धर्षण करने वाले ? [**आरुज**]=शत्रुओं का भंग कर। अर्थात् इस विजय को तू अपनी विजय मत समझ बैठ। यह सब तो उस प्रभु की शक्ति व कृपा से ही हुवा है ऐसा जान।

भावार्थ—मैं प्रभु को अपना कवच बनाकर अन्तः शत्रुओं को छिन्न-भिन्न कर दूं।

मेरा ज्ञान ओजस्विता से युक्त हो। मेरी ज्ञान की किरणों का वज्र तुल्य दृढ़ शरीर अधिष्ठान हो।

(तृतीयोऽर्धः)

।। १ ।। ऋषिः—१ भरद्वाजः; २ वशिष्ठः; ३, ६ वामदेवः; ४ शुनःशेपः; ५ गृत्समदः; ७, ८ अमहीयुः; ९ आत्मा ।। देवता—१—३ इन्द्रः; ४ वरुणः; ५, ७, ८ पवमानः सोमः; ६ विश्वेदेवाः; ९ अन्नम् ।। छन्दः—१ बृहती; २, ४, ५, ९ त्रिष्टुप्; ३, ७, ८ गायत्री; ६ एकपदा जगती ।। स्वरः—१—मध्यमः २, ४, ५, ९ धैवतः; ३, ७, ८ षड्जः; ६ निषादः ।।

गृहस्थाश्रम के बाद

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १२३
इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर ओजिष्ठं पुपुरि
१२ १र २र ३ १२३ १र
श्रवः । यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे
२र
सुशिप्र पप्राः ।।१।।५८६।।

वैदिक संस्कृति में गृहस्थ के बाद मनुष्य ने वानप्रस्थ बनना होता है । यह वानप्रस्थ 'यु'=शान्ति को अपने साथ जोड़ता है । 'बार्हस्पत्यः' ऊंचे से ऊंचा ज्ञानी बनने का प्रयत्न करता है । शहर से दूर शान्त वातावरण में यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि [**इन्द्र**] परमैश्वर्य शाली प्रभो ! [**नः**]=हमारे अन्दर उस [**श्रवः**]=ज्ञान को [**आभर**]=सर्वतः भरिये जो कि (१) [**ज्येष्ठं**]=उत्कृष्ट है । 'अपरा विद्या' जहां प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कराती है वहां यह 'पराविद्या' मुझे उस ज्येष्ठ ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कराने वाली होती है । इसी पराविद्या को मैं प्राप्त करना चाहता हूं । (२) [**ओजिष्ठं**]=यह ज्ञान मुझे अत्यन्त ओजस्वी बनाने वाला है । ब्रह्म के संपर्क में लाकर मुझे यह ओजस्वी क्यों न बनायेगा ? (३) [**पुपुरि**]=(पृ=पालन व पूरण) यह ज्ञान मेरा पालन व पूरण करने वाला है । वासनाओं के आक्रमण से मुझे बचाता है और मेरी न्यूनताओं को दूर कर मेरा पूरण करता है ।

ऐ [**वज्रहस्त**]=(वज्गतौ)=क्रियाशील हाथ वाले और [**सु-शिप्र**]=शोभन शिरस्त्राण वाले प्रभो ? आप हमें यह ज्ञान इसलिए प्राप्त कराइए [**यत्**]=कि [**दिधृक्षेम**]=हम कामादि शत्रुओं का धर्षण- पराभव करने में खूब समर्थ हों । ऐ प्रभो ? आप [**उभे रोदसी**]=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक का [**पप्राः**]=पूरण करते हों । हाथों की क्रियाशीलता पृथिवीलोक अर्थात् शरीर को शक्तिशाली बनाती है तथा शोभन शिरस्त्राण (ज्ञान की रक्षा) द्युलोक अर्थात् मूर्धा को उज्ज्वल बनाता है (येनद्यौरुग्रा पृथिवा च दृढ़ा) ।

एवं, एक वनस्थ निरन्तर ज्ञान प्राप्ति में लगा है । यह ज्ञान के द्वारा अपनी न्यूनताओं को दूर कर अपना पूरण कर रहा है । यह पूरण पूर्ण हुवा तभी तो वह 'ब्रह्माश्रमी'=(संन्यासी) बन पायेगा ।

भावार्थ—मैं उस ज्ञान को प्राप्त करूं जो मुझे शान्ति को प्राप्त करने में समर्थ बनाये ।

२ ३ २ ३ १२ ३ १र २र ३ २
इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमा
३ १२३ १२ १२ ३२३
विश्वरूपं यदस्य । ततो ददाति दाशुषे
१२३ २३२३ १२ ३ २
वसूनि चोदद्राध उपस्तुतं चिदर्वाक्
।।२।।५८७।।

'शंयु'=शान्ति प्राप्ति की साधना करता हुवा 'वसिष्ठ' बना है काम-क्रोध को पूर्ण रूप से वश कर पाया है । ऐसा कर पाने के लिए ही यह 'मैत्रा-वरुणि'=प्राणापान की साधना करने वाला बना है । यह प्रभु की स्तुति निम्न शब्दों में करता है कि [**इन्द्रः**]=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु [**जगतः**]=इस सारे ब्रह्माण्ड का—सम्पूर्ण प्राकृतिक पदार्थों का तथा [**चर्षणीनाम्**]=मनुष्यों का—श्रमशील प्राणियों का [**राजा**]=शासक है । इनका वह दीप्त करने वाला है (राज दीप्तौ) । कहीं भी, जो

कुछ भी दीप्ति दिखती है वह उस प्रभु की ही है। [**अधिक्षमा**]=इस पृथ्वी पर [**यद् विश्वरूपं**]=जो भी अनेक रूपों वाली धनधान्य संपदा है वह [**अस्य**]—इसकी ही है। सब संपत्ति का मालिक प्रभु ही है।

[**ततः**]=अपने उस संपदा के भण्डार से प्रभु [**दाशुषे**]=अपना समर्पण करने वाले के लिए [**वसूनि**]=निवास के लिए उत्तम धनों को [**ददाति**]=देते हैं। वे प्रभु [**अर्वाक्**]=नीचे, अपने प्रति समर्पण करने वाले उस जीव के लिए [**चित्**]=निश्चय से [**अवस्तुतं**]=स्तुत्य—प्रशंसनीय [**राधः**]=धन को [**चोदद्**] प्रेरित करते हैं। प्रभु से दिया गया यह धन (१) वसु के लिए पर्याप्त होता है। (२) [**उअस्तुतं**]=सदा स्तुत्य साधनों से कमाया जाता है। (३) और [**राधः**]=यह अवश्य सफलता सध=सिद्धि) को प्राप्त कराने वाला होता है। प्रभु भक्त अपने जीवन में निर्धनता अपयशः व असफलता से दूर रहता है।

भावार्थ—मैं उस प्रभु का भक्त बनूं जो मुझे सदा सफलता प्राप्त करायें।

ज्ञान किसे प्राप्त होता है ?

२ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३क २र
यस्येदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः ।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥३॥५८८॥

'प्रभु गुणों से लिप्त होते हों' सो तो है नहीं। परन्तु सृष्टि के निर्माण, धारण व प्रलय के शब्दों में प्रभु को भी रज, सत्व व तम से संयुक्त रूप में स्मरण किया जाता है। सृष्टि के निर्माण के समय वे रज से युक्त होते हैं—इसो समय निर्माण के कार्य के कारण ये 'ब्रह्मा' कहलाते हैं। सृष्टि के निर्माण के साथ वे सर्वतोन्मुख होते हुए अपने चतुर्दिक् मुखों से मानो वेदज्ञान भी अपने मानस पुत्रों को प्राप्त कराते हैं। उस [**रजोगुणं**]=रजो गुण से युक्त [**यस्य**]=जिस ब्रह्म का [**आ**]=समन्तात् विस्तृत [**इदं**]=यह ज्ञान है, वह [**तुजे-जने**]=देने वाले (तुज्=(giving) मनुष्य को प्राप्त होता है। लोभ ज्ञानप्राप्ति का महान् विघ्न है। लोभ से बुद्धि ही विचलित हो जाती है। विद्यार्थी के सप्त दोषों में लोभ भी परिगणित हुवा है। ज्ञान वस्तुतः अर्थ व काम में असक्त को ही प्राप्त हो सकता है। [**इन्द्रस्य**]=उस परमैश्वर्य-शाली प्रभु का यह ज्ञान (१) [**वनं**]=सेवनीय है—संभजनीय है। सत्य होने से उपादेय है। (२) [**स्वः**]=यह प्रकाशमय है—अथवा सुख का देने वाला है। (३) [**रन्त्यं**]=यह अत्यन्त रमणीय है। यह ठीक है कि प्रारम्भ में वह हमारे विकृत चित्तों को उतना रमणीय प्रतीत नहीं होता। परन्तु अभ्यास से वह अधिकाधिक सुन्दर लगने लगता है। (४) [**बृहत्**]=यह (बृहि वृद्धौ) हमारी सर्वतोमुखी वृद्धि का हेतु है। इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य सुन्दर दिव्यगुणों का विकास करता हुवा 'वामदेव' बन जाता है, और प्रशस्तेन्द्रिय बन कर 'गोतम' कहलाता है।

भावार्थ—तुज्=देनेवाले बनकर हम प्रभु के उस ज्ञान को प्राप्त करने वाले बनें जो हमें सुखी, सुन्दर व समृद्ध बनायेगा।

पाशों का निराकरण

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं
२ १ २ ३ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३
श्रथाय । अथादित्य व्रते वयं तवानागसो
१ २
अदितये स्याम ॥४॥५८९॥

जब मनुष्य अपने जीवन में आराम व सुख को लक्ष्य बनाकर चलता है तो यह 'शुनःशेप'=सुख का निर्माण करने वाला (शुनं=सुखं शेप्=to create) पतनगर्त की ओर चलता है—'आजीगर्ति' (अज गतौ' गर्त=गढ्ढा)। प्रारम्भ में यह मानसपवित्रता व प्रभुमहिमा के दर्शन के लिए

शास्त्रों का अध्ययन न करके आमोद-प्रमोद के लिए पढ़ने लगता है। अपने आवश्यक कर्तव्यों को भी छोड़कर पढ़ने का मजा ले रहा होता है। यह इसका 'ज्ञानसंग' कहलाता है। यह चाहे एकदम भौतिक बन्धन तो नहीं, पर है तो बन्धन ही। यही यहां 'उत्तम बन्धन' कहलाता है और पाशों के अधिष्ठाता 'वरुण' से प्रार्थना की गई है कि ऐ **[वरुण]**=अनृतवादियों को जालों में जकड़ने वाले प्रभो ? **[अस्मद्]**=हमारे से इस **[उत्तमं पाशं]**=उत्तम बन्धन को **[उत्]**=(out) बाहर करो। हमें इस बन्धन से बाहर निकाल दो।

इसके बाद आराम व सुख को लक्ष्य बनाने वाला मनुष्य नाना प्रकार की व्यवस्थाओं में लगा हुवा कभी शान्त नहीं हो पाता। कभी कुछ और कभी कुछ, वह करता ही रहता है। यह उसका 'कर्म संग' कहलाता है इसके भी दूर करने के लिये इस रूप में प्रार्थना करते हैं कि ऐ वरुण! हमारे इस **[मध्यमं]**=मध्यम बन्धन को भी **[वि-श्रथाय]**=ढीला करिये। व्यर्थ के हाथ-पैर पटकने को छोड़कर हम 'शान्त-भाव' से जीवन यापन कर सकें। भगदौड़ में न होकर 'शनैःचर' हों।

आराम की ओर बढ़ने वाला मनुष्य खूब सम्पत्ति को जुटाकर नौकरों से कार्य कराता हुवा स्वयं आराम लेने लगता है। इस समय इसका जीवन 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' में चलता है। 'खाना, सोना,' बस यही इसका कार्य रह जाता है। यह इसका निकृष्ट बन्धन है। प्रार्थना करते हैं कि **[अधमं]**=इस निकृष्ट बन्धन को भी **[अव]**=हमारे से दूर करिये।

निद्रा व आलस्य को परे फेंक कर **[अथ]**=अब ऐ **[आदित्य]**=आदान कर, खारे समुद्र से भी शुद्ध जल का ग्रहण करने वाले सूर्य ? **[वयं]**=हम **[तवव्रते]**=तेरे व्रत में चलकर—तेरे व्रत में होकर स्थिर **[अनायास]**=निष्पाप होते हुए **[अदितयो]**=बन्धनों के मोक्ष के लिए **[स्याम]**=समर्थ हों। सूर्य निष्काम वृत्ति से अपने पथ पर आगे और आगे बढ़ता चलता है। हम भी इसी प्रकार अपनी क्रिया को बनायेंगे तो इस क्रिया से देवरात 'वैश्वामित्र'=देवताओं मैं देने वाले तथा प्राणिमात्र के प्रति स्नेह वाले हो सकेंगे। 'आराम' हमारा ध्येय न होकर 'दिव्यता की प्राप्ति' हमारा ध्येय बनेगी।

भावार्थ—सूर्य के सतत-सरण रूप व्रत में चलता हुवा मैं सभी पाशों से अपने को मुक्त करा सकूं।

संग्राम में विजय के लिए

१ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र
त्वया वयं पवमानेन सोम भरे कृतं वि
२र ३ १ २ १ २ ३ १र २र
चिनुयाम शश्वत्। तन्नो मित्रो वरुणो माम-
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
हन्तामदितिः सिन्धु पृथिवी उत द्यौः
॥५॥५९०॥

'सब प्रकार के बन्धनों को तोड़ कर सूर्य के व्रत में चलता हुवा मनुष्य विजयी न हो' यह कैसे हो सकता है? सो गतमन्त्र का 'वैश्वामित्र' यहां 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) शत्रुओं का संहार करने वाला बन जाता है। 'सूर्य के व्रत में चलता हुवा' यह सूर्य की तरह ही चमकने लगता है और अंग-प्रत्यंग में रस वाला 'आँगिरस' बनता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि ऐ **[सोम]**=(स उमा)—ज्ञान के भण्डार प्रभो ? **[पवमानेन]**=अपने ज्ञान से पवित्र करने वाले **[त्वया]**=आप से मिलकर **[वयं]**=कर्म तन्तु का विस्तार करने वाले **[भरे]**=काम क्रोधादि के साथ निरन्तर चल रहे अध्यात्म संग्राम में (भृ भृयत्सने) **[शश्वत्]**=सदा **[कृतं]**=सफलता को (**विचिनुयाम**)=विशेष रूप से संचित करने वाले हों। प्रभु के आश्रय के बिना इस संग्राम में विजय का सम्भव नहीं। प्रभु अपने ज्ञान से मुझे पवित्र करते हैं, और उत्तरोत्तर पवित्र होते चलना ही इस संग्राम की विजय है। 'विजय

मुझे प्रभु ही प्राप्त करायेंगे' इसमें सन्देह नहीं। अर्जुन को कृष्ण ही विजयी बनाते हैं, विजय वहीं है 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः'=जहां योगेश्वर कृष्ण हैं। परन्तु कृष्ण केवल 'अर्जुन' को नहीं अपितु 'धनुर्धर अर्जुन' को विजेता बनाते हैं। 'यत्र पार्थो धनुर्धरः' जहां अर्जुन भी धनुर्धर है वहीं विजय है। प्रभु से प्राप्त कराई जाने वाली यह विजय बड़ी शानदार (आदरणीय) होगी यदि हम भी निम्न प्रकार से प्रयत्नशील होंगे। [**नः तत्**]=हमारी इस विजय को [**मामहन्तां**]=अत्यन्त आदरणीय बना डालें। कौन ? :—

(१) (**मित्रः वरुणः**)=प्राण और अपान। अर्थात् पहला हमारा कर्त्तव्य है कि हम प्राणापान की साधना करें। इन्द्रियों मन व बुद्धि पर आक्रमण करने वाले इन अन्तः शत्रुओं को दग्ध करने का मूल साधन प्राणायाम ही है। 'प्राणायामैः दहेत् दोषान्'='प्राणयामों से दोषों का दहन कर डालें। यह मनु का वाक्य है। इससे इद्रियों के दोष उसी प्रकार दग्ध हो जाते हैं जैसे तपायी हुई धातुओं के मल। एवं प्राणायाम ही हमारा प्रयत्न है जिससे हमने प्रभु कृपा से शत्रुओं का नाश करना है।

(२) (**अदिति सिन्धु**)=अहिंसा की वृत्ति (दो अवखण्डने), और शक्ति का सागर। दिति के लड़के दैत्य हैं जो हिंसा की वृत्ति को अपनाते हैं इसके विपरीत आदित्यों—देवों की जननी अदिति अहिंसा का प्रतीक है। यह सिन्धु=शक्ति के समुद्र के साथ है। निर्बलता के साथ अहिंसा का निवास नहीं। 'सिन्धु' जलों का वाचक है और जल अध्यात्म में शक्ति के रूप में हैं (आपः रेतो भूत्वा)। "शक्तौ क्षमा" शक्ति के साथ क्षमा हमारे जीवनों को अलंकृत करती है और हमें विजयी बनाती है।

(३) (**पृथिवी उत द्यौः**)=पृथिवी और द्युलोक। शरीर और मस्तिष्क। 'पृथिवी दृढ़ा'=दृढ़ शरीर ही शरीर है वायु के नाममात्र झोंके से हिल जाने वाला—रोग पीड़ित हो जाने वाला शरीर भी क्या शरीर है? 'द्यौ उग्रा' हमारा मस्तिष्क विज्ञान के नक्षत्रों व ब्रह्म ज्ञान के सूर्य से दीप्त हो। नक्षत्रों व सूर्य से हीन द्युलोक की कल्पना ही कठिन है--वह तो द्युलोक ही नहीं रहेगा। इसी प्रकार हमारा मस्तिष्क दीप्त है तभी वह द्युलोक का प्रतीक हो सकता है। 'हम शरीर को पृथिवी तुल्य दृढ़ और मस्तिष्क को द्युलोक के समान तेजस्वी बनायें' यही हमारा तृतीय प्रयत्न होगा और हम प्रभु कृपा से शत्रुओं को तीर्ण कर आयेंगे 'कुत्स' बन पायेंगे।

भावार्थ—प्रभु कृपा से प्राणायाम, पवित्रता व 'प्रज्ञान' में लगे हुऐ हम शत्रुओं को जीतने वाले बनें।

शक्ति का पुँज बन जायें

३ १र २र   ३ २उ ३ २
इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम् ॥६॥५९१॥

यह 'एकपाद् जगती' छन्द का मंत्र है। एक ही चरण में इसमें सारे ब्रह्माण्ड की याचना हो गई है। 'वृद्ध जरती न्याय' के अनुसार यहां एक ही वाक्य में सब कुछ मांग लिया गया है। 'मैं अपने युवा पुत्रों को सोने के पात्रों में प्रातराश करती पाऊं' इस वाक्य में वृद्धा ने (१) मृतपति का नवजीवन (२) अपना यौवन (३) उत्तम सन्तान (४) व संपत्ति सभी ही वस्तुएं मांग लीं, इसी प्रकार प्रस्तुत मंत्र में 'वामदेव गौतम' सभी सुन्दर दिव्यगुणों को तथा प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करता है कि:—

[**इमं माम्**]=इस मुझको—गतमंत्र के उत्तरार्ध में संकेतित प्रयत्नों को करने वाले मुझको—[**इत्**]=निश्चय से [**'एकं वृषणम्'**]=अद्वितीय शक्तिशाली [**कृणुत्**]=कर दो-बना दो। शक्ति-के साथ सब गुणों का निवास है ही। (virtue) वीरत्व ही है और (evil)—अवीरता। शक्ति संयम साध्य है और संयम सब गुणों का मूल है। शक्ति के होने पर सब दिव्य गुण आ ही जाते हैं इस बात का संकेत प्रस्तुत मंत्र के 'विश्वेदेवाः' देवता से भी हो रहा है। याचना शक्ति की है—

विषय 'सब दिव्य गुणों की प्राप्ति' है। शक्ति से ही तो सब दिव्य गुणों ने आकर हमें 'वामदेव' बनाना है। यह सुन्दर दिव्य गुणों वाला वामदेव ही प्रस्तुत मंत्र का ऋषि है। 'इसकी सब इन्द्रियां पवित्र हैं' सो यह 'गौतम' है।

भावार्थ—प्रभु 'तेज पुंज' हैं मुझे भी तेजस्वी बनायें। मैं भी 'तेजः पुंज' बनने का प्रयत्न करूं।

'इन्द्र, यज्यु, वरुण और मरुत्' बनना

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३१ २
स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः।
३ १र २ब
वरिवोवित् परिस्रव ॥७॥५६२॥

ऐ [**वरिवोवित्**]=उपसना की वृत्ति को (वरिवस् =पूजा) अथवा धन को (वरिवः=wealth) प्राप्त करने वाले प्रभो? [**सः**]=वे आप [**नः**]= हमें [**परिस्रव**]=यह उपासना की वृत्ति व धन प्राप्त कराइये। किन हमारे लिए ?:—

(१) [**इन्द्राय**]=इन्द्र के लिए। जो व्यक्ति इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनते हैं उनके लिये। वस्तुतः मनुष्य चित्तवृत्ति का निरोध करके ही प्रभु की उपासना कर पाता है और इस उपासक के योगक्षेम के लिए आवश्यक धन प्रभु प्राप्त कराते ही हैं।

(२) [**यज्यवे**]=यज्यु के लिए। स्वार्थ की भावना से रहित होकर कर्म करने वाले के लिये। स्वार्थ के साथ प्रकृति के प्रति आसक्ति है—वहां प्रभु की ओर झुकाव नहीं।

(३) [**वरुणाय**]=पाशों के लिए। जो व्यक्ति यम-नियम के बन्धनों में अपने को बांधता है, उसके लिए। यम-नियमों के बन्धन में जो अपने को बांधता है वह विषय बन्धन से मुक्त हो जाता है—यही तो प्रभु का सच्चा उपासक होता है।

(४) [**मरुद्भ्यः**]=मरुतों के लिए। (मरुतः प्राणः) जो प्राणापान की साधना करके प्राणों का पुंज बनने का प्रयत्न करते हैं—उनके लिए प्रभु उपासना की वृत्ति व धन प्राप्त कराते हैं। उपासना की वृत्ति मोक्ष के लिए, और धन इसलिए कि सांसारिक चिन्ता से मुक्त रह कर वे आत्मोन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ सकें।

उल्लिखित सब शब्दों के अन्दर मूल भावना पार्थिव भोगों से ऊपर उठने की है। इस प्रकार इन्द्र=जितेन्द्रिय, यज्यु=निःस्वार्थ लोकहित में लगने वाला व्यक्ति, वरुणाय=यमनियमों के बन्धनों में बद्ध, मरुत्=प्राणापान की साधना में लगा व्यक्ति स्पष्ट ही 'अ-मही-यु' है—पार्थिव भोगों से ऊपर उठा हुवा है। पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर यह 'आंगिरस' तो है ही।

भावार्थ—हम पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर ही प्रभु के सच्चे उपासक हो सकते हैं।

पूजा और विभाग

३ १र २ र ३ २उ १ ३ २ ३ १ २
एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्।
१ २
सिषासन्तो वनामहे ॥८॥५६३॥

पार्थिव भोगों में न फंसने के लिए यह 'अमहीयु' उस प्रभु को [**अर्य**]=स्वामिन्? शब्द से संबोधन करता है। इस अभिप्राय से कि वह इस अभिमान को उत्पन्न ही न होने दे कि 'उसने कमाया है, इसलिए उसका खाने का अधिकार है'। यह अमहीयु प्रार्थना करता है कि [**एना**]=इन [**विश्वानि**]=सब [**मानुषाणाम्**]=मनुष्यों के लिए हितकर [**द्युम्नानि**]=प्रकाशमय धनों को, 'जिन धनों ने हमारे दिमागों को अस्वस्थ नहीं कर दिया' उन धनों को [**सिषासन्तः**]=बांटते हुए और बांटने के द्वारा—यज्ञों के द्वारा—प्रभु की उपासना करते हुए [**वनामहे**]=सेवन करते हैं। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'=इसलिए त्याग की भावना से ही हम भोग करते हैं। हम केवलादी नहीं बनते, केवल अपने लिए पकाने वाले नहीं बनते।

जिस समय मनुष्य अमहीयु नहीं रहता उसी समय वह इस विभाग द्वारा पूजा की भावना से

दूर हो जाता है। देव लोग यज्ञ से उस यज्ञरूप प्रभु की उपासना करते हैं, परन्तु असुर तो अपने ही मुखों में आहुति देते हुए, उदरम्भरि बन प्रभु की उपासना से कोसों दूर रहते हैं। उस समय ये भोग हमारे ज्ञान पर परदा डाल देते हैं और हमारे ये धन 'द्युम्न=प्रकाशमय' नहीं रहते।

भावार्थ—संविभाग द्वारा ही हम प्रभु के उपासक वनते हैं।

वह प्रभु ही हमारा 'अन्न' हो

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो
३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
अमृतस्य नाम। यो मा ददाति स इदेवमा-
३ २उ ३ १ २ ३ १ २
वदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥९॥५९४॥

प्रस्तुत मंत्र में प्रभु कहते हैं कि [अहं] = मैं [**ऋतस्य**]=सत्य ज्ञान से परिपूर्ण वेदवाणी का [**प्रथम-जा**] = सृष्टि के प्रारम्भ में सबसे उत्पत्ति-स्थान [**अस्मि**]=हूं। प्रभु ने ही अग्नि आदि ऋषियों को हृदयस्थ रूपेण वेदज्ञान दिया। जीव का ज्ञान नैमित्तिक है—उसे ज्ञान प्राप्त करने के लिये गुरु की आवश्यकता है। हमने अपने गुरुओं से ज्ञान प्राप्त किया, और उन्होंने अपने गुरुओं से इस प्रकार यह गुरु परम्परा हमें प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ तक पहुंचाती है, जिस समय कि [**देवेभ्यः**] =सब विद्वानों से [**पूर्वं**]=पहले होने वाला वह प्रभु श्रेष्ठ—अरिप्र (निर्दोष) ऋषियों को ज्ञान देता है। वह ज्ञान जोकि [**अमृतस्य**]=मोक्ष का हमारी ओर नाम=झुकाने वाला है (नयति)।

वस्तुतः [**यो**]=जो भी [**मा**]=मेरे प्रति अपने को [**दादति**]=देता है [**सः**]=वह [**इत्**]=ही [**एव**] =इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा [**आवत्**]= अपनी रक्षा करता है। ज्ञान उसे वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। यह भोगों में फंसता ही नहीं। उस व्यक्ति के लिए तो प्रभु कहते हैं कि [**अहम् अन्नम्**]=मैं ही अन्न होता हूं—वह मेरा ही सेवन करता है=मेरा ही उपासक होता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति इन पार्थिव भोगों में फंस जाते हैं और नाना प्रकार से स्वादु अन्नों को खाने लगते हैं उन [**'अन्नम् अदन्तम्'**]=स्वाद से अन्नों को खाने में लगे हुओं को [**अद्मि**]=मैं खा जाता हूं ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रभु 'रुद्र' होते हैं और ये स्वाद से अन्नों को खाने वाले व्यक्ति अन्त में उस प्रभु से रुलाये जाते हैं।

भोगों में न फंसकर, ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हुये हम चित्त वृत्ति के निरोध से अपने स्वरूप को देखें (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्) और इस मंत्र के ऋषि 'आत्मा' बनें। वास्तविक अन्न तो यह 'आत्मा' ही है। इसी 'अन्न' का इस मंत्र में वर्णन है। इसी से मंत्र 'अन्न' देवताक है। 'इस अन्न का सेवन हमारे त्रिविध कष्टों को समाप्त करने वाला होगा' इस बात की सूचना मत्र के छन्द 'त्रि-ष्टुप्' शब्द से भी आ रही है। ((Stopping of the three)

भावार्थ—मैं आतमदर्शन करूं। आतमा ही मेरा अन्न हो—मैं उसी का सेवन करूं। इस अन्न के सेवन से मेरे त्रिविध कष्ट दूर हों।

॥ २ ॥ ऋषिः—१ श्रुतकक्षः; २ पवित्रः; ३, ४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः; ५ प्रथः; ६ गृत्समदः; ७ नृमेधपुरुमेधौ ॥ देवता—१, ३, ४, ७ इन्द्रः; २ पवमानः; ५ विश्वेदेवाः; ६ वायुः ॥ छन्दः—१, ३, ४, ६ गायत्री; २ जगती; ५ त्रिष्टुप् ७ अनुष्टुप् ॥ स्वरः=१, ३, ४, ६ षड्जः; २ निषादः; ५ धैवतः; ७ गान्धारः ॥

देदीप्यमान दूध

२ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३
त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च ।
१ २ ३ २ ३ १ २
परुष्णीषु रुशत् पयः ॥१॥५९५॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'श्रुतकक्ष'=ज्ञान को अपनी शरण बनानेवाला अतएव 'आंगिरस' शक्तिशाली है। प्रभु के प्रति अन्यार्पण के द्वारा गतमंत्र में ज्ञान प्राप्ति का उल्लेख था। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने वाले 'श्रुतकक्ष' को प्रभु कहते हैं कि [**त्वं**]=तू [**एतत्**]=इस [**रुशत्**]=देदीप्यमान [**पयः**]=आप्यावित करने वाले ज्ञान को [**अधारयः**]=सब प्रजाओं के अन्दर धारण कर। किन प्रजाओं में?

(१) [**कृष्णासु**]=जो तमोगुण की प्रधानता के कारण अन्धकार में रह रही हैं, उनमें। स्वयं ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को औरों तक पहुंचाना ही श्रुतकक्ष का उद्देश्य होना चाहिये। स्वयं ज्ञानी बनकर अकेले युक्त होने के लिये उद्यत सन्नद्ध होना भी तो ठीक नहीं। इन अज्ञान में वर्तमान प्रजाओं को जब श्रुतकक्ष मधुर शब्दों में समझने का प्रयत्न करता है तो कृष्ण-प्रजायें उसे अपना गुरु बना आदर ही देती हैं। यह भी संभव है कि वे उसका ही आदर करें, उसकी बातों का नहीं। आदर तो करें, पर करें कुछ भी नहीं। अज्ञान का रंग काला है—सो इन प्रजाओं को 'कृष्णा' नाम दिया गया है।

(२) [**रोहिणीषु**]—उन प्रजाओं में जो कि= सत्वगुण प्रधानता के कारण रोहणशील, उन्नतिशील हैं। ये ज्ञान प्राप्ति में अधिक अनुकूलता उत्पन्न करती हैं और रुचि से ज्ञान की बातों को सुनती हैं। ये भी अपने आचार्य का ज्ञानग्रहण द्वारा सम्मान करती हैं। इनके अतिरिक्त—

(३) [**परुष्णीषु**]=(कुटिलगामिनी इतियास्कः) कुटिलगामिनी प्रजाओं में भी ज्ञान का प्रचार करना है। ये रजोगुण प्रधान होती हैं और अर्थ को ही उद्देश्य बनाकर चलती हैं। नानाविधवासनाओं से आक्रान्त होने से इन्हें ज्ञान रुचिकर नहीं होता। ये ज्ञानदाता को प्रेम के स्थान में क्रोध प्राप्त कराती हैं। इनके द्वारा उसे अधिकाधिक कष्ट दिये जाते हैं—पर यह उनको ज्ञान देने के कार्य में अपने प्राणों की भी बाज़ी लगा देता है। उनका अमंगल न चाहता हुवा यह उन्हें ज्ञानदुग्ध पिलाता ही रहता है। पयः=ज्ञान है चूंकि यह आप्यायित करने वाला है। ज्ञान का पुंज होने से आचार्य भी 'पयः' कहलाया है।

भावार्थ—हम भी श्रुतकक्ष बनकर सब प्रजाओं को ज्ञान देने वाले बनें।

ज्ञान का प्रचारक

१ २ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति
१ २ ३ २ ३ १ २
भुवनेषु वाजयुः । मायाविनो ममिरे अस्य
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥२॥
॥५९६॥

'ज्ञान के प्रचारक का जीवन कैसा होता है?' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में है। यह प्रचारक (१) [**अरूरुचत्**]=खूब चमकता—स्वास्थ्य व ज्ञान की ज्योति से बड़ी शोभा वाला प्रतीत होता है (२) [**उषसः**]=अज्ञानान्धकार व वासनाओं को जला देने वाले (उष् दाहे) ज्ञान के [**पृश्निः**]

=(स्पृशतेः) स्पर्श करने वाला यह होता है। अर्थात् महादेव जी की तरह अपने ज्ञान नेत्र से यह भी काम आदि वासनाओं को भस्म करने वाला होता है (३) [**अग्रिय**]=इसका जीवन 'आगे और आगे बढ़ते चलना' इस सूत्र को अपनाने वाला होता है (४) [**उक्षा**]=(उक्ष सेचने) यह प्रजाओं पर ज्ञान की वर्षा के द्वारा सुखों का सेचन करने वाला होता है (५) [**निमेति**]=ज्ञान देने के हेतु से ही यह मन्त्रों का उच्चारण करता है (६) [**भुवनेषु वाजयुः**]=अपने सभी कोषों में यह वाज को जोड़ने का प्रयत्न करता है। 'शरीर में व्यक्ति प्राणमय में शक्ति, मनोमय में त्याग, विज्ञानमय में ज्ञान 'वाज' ही तो है।

(७) [**अस्य मायया**]=इसके ज्ञान प्रचार के द्वारा [**मायाविनः**]=बड़े-बड़े ठग भी [**मामिरे**]=कुछ बन जाते हैं। यह अहिंसा के द्वारा उपदेश देता हुवा मधुर शब्दों से अभीष्ट परिवर्तन को उनमें लाने में समर्थ होते हैं।

(८) [**नृचक्षसः**]=ये मनुष्य को बारीकी से देखते हैं। उसकी मनोवृत्ति को समझ कर ही तो ये उन्हें हृदयस्पर्शी उपदेश दे पाते हैं (९) [**पितरः**]=इस प्रकार ये सभी के पितर=रक्षक बन जाते हैं (१०) [**गर्भमादधु**]=हिरण्या नामक परमात्मा को ये सदैव अपने हृदयों में धारण करते हैं। यह प्रभु स्मरण ही इन्हें उत्कर्ष की ओर ले चलता है। यही इन्हें पवित्र बनाता है। इनका नाम ही 'पवित्र' हो जाता है। पवित्र होने से यह 'आँगिरस भी बनता है।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रचारक के उल्लिखित १० गुणों से युक्त हो।

इन्द्र कहलाने योग्य कौन ?

२ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्र इद्धर्यो सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥३॥५९७॥

गत मन्त्र का 'पवित्र' यहां मधुच्छन्दाः=मधुर इच्छाओं वाला वैश्वामित्रः=प्राणिमात्र का मित्र है। ऐसा बनने के लिए यह [**इन्द्रः**]=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव [**इन्**]=निश्चय से [**हर्योः सचा**]=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप घोड़ों को सदा साथ-साथ रखता है। शरीर रूप रथ से इधर-उधर उन्हें भटकने नहीं देता। [**संमिश्ल**]=यह इन इन्द्रियों को संम्यक् मिश्रित करने वाला होता है इन्हें सदा उत्तम कार्यों में लगाये रखता है वस्तुतः यही तो साधन है जिससे कि यह इन्द्रियों को विषयों में भटकने से रोक पाता है। [**आः**]=सर्वथा [**वचोयुज**]=यह इन इन्द्रिय रूप घोड़ों को वेदवाणी के अनुसार कर्मों में युक्त करता है। 'चोदना लक्षणो धर्म'=वेद में जिसकी प्रेरणा है वही तो धर्म है। यह मधुछन्दा भी वेद की प्रेरणा के अनुसार ही इन इन्द्रियों को कार्य व्याप्त करता है। 'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि' जैसा मन्त्रों में कहा है वैसा ही तो हमें करना है। मनु के अनुसार धर्म के विषय में 'प्रमाणं परमं श्रुतिः'=परम प्रमाण वेद ही तो है। इस प्रकार वेदानुकूल जीवन बनाने से यह ='इन्द्र' [**वज्री**]=वज्रतुल्य शरीर वाला बनता है और [**हिरण्ययः**]=मस्तिष्क में ज्योतिमय होता है। वेद की प्रेरणा के अनुसार जब जीवन बनता है तब मनुष्य तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर सत्यगुण में अवस्थित होता है और यह सत्वगुण गीता के अनुसार 'तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकनामयम्'=मस्तिष्क को प्रकाश से पूर्ण करता है और शरीर को आमय शून्य बनाता है। निरामय शरीर सारवान् बनता हुवा वज्रतुल्य दृढ़ होता है। ज्ञानी और पूर्ण स्वस्थ मनुष्य किसी से द्वेष नहीं करता। यह सचमुच 'वैश्वामित्रः' होता है। सबके लिए मंगल ही मंगल चाहता हुवा यह 'मधुच्छन्दा' कहलाता है।

भावार्थ—हम शरीर से वज्री हों, मस्तिष्क से हिरण्य।

उदात्त रक्षण

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्त्रप्रधनेषु च । उग्र
३ १ २ ३ १ २
उग्राभिरूतिभिः ॥४॥५६८॥

इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव जब इन्द्रियों को वश में करने के प्रयत्न में लगता है तो उसे गीता के शब्दों में यह अनुभव होता है कि 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः=यह कुचलने वाली इन्द्रियां तो बलात् मन को हर ले जाती हैं— 'चञ्चलं' हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढ़म्' यह मन तो अत्यन्त प्रबल है। इसको वश में करने का सम्भव कहां? इसलिए ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो! सब शत्रुओं का द्रावण करने वाले प्रभो? [**वाजेषु**]=इन वासनाओं के साथ संग्रामों में (when we wage a war against etiem) [**नः**]=हमारी [**अव**]=रक्षा कीजिए। इन्द्रियां और मन विषयों के प्रति राग वाले होकर उनकी ओर भागते हैं और मैं उनको रोकता हूं। आप मेरी रक्षा करेंगे तभी तो रोक पाऊंगा। अन्यथा मेरे रोकने का सम्भव कहां? [**च**]=और इस हिरण्य पात्र से आवृत्त चमकीले संसार के चमकते हुए विषय अपनी आपातरमणीयता से मुझे (प्रदन्धन्ति) विदारण करने में लगे हैं। सैकड़ों प्रकार से ये मेरे पर आक्रमण कर रहे हैं। इन [**सहस्त्रप्रधनेषु**]= अपना विदारण वाले इन संग्रामों में ऐ [**उग्र**]= तेजस्वी उदात्त प्रभो? [**उग्राभिः**]=उत्कृष्ट [**ऊतिभिः**]=रक्षणों से आप हमें [**अव**]=सुरक्षित कीजिये। आप ही अमृत के ऐसे आवरण हैं कि आप से सुरक्षित होकर ही मैं इन संग्रामों में विजयी हो सकता हूं। ये विषय प्रबल हैं—पर आपके संपर्क में आकर मैं प्रबल हो जाता हूं। 'काम'प्रद्युम्न=उत्कृष्टबल वाला है, पर आपकी समीपता में होने पर वह मेरे पर तो क्या आक्रमण करता है—स्वयं ही भस्म हो—जाता है। वह स्तर है, आप स्मरहर हैं। वह प्रिय लगता है, आप प्रियतम हैं। आप के साथ होने पर सब वैषविक आनन्द तुच्छ हो जाता है और मैं उसका शिकार नहीं होता। उन विषयों की प्राप्ति के लिए की जाने वाली सब कुटिलताओं से ऊपर उठकर मैं 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्र' हो जाता हूं। वस्तुतः काम व्यापक होकर विश्व प्रेम का रूप धारण कर लेता है। वही तो आदर्श जीवन होता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से मैं अध्यात्म संग्रामों में विजयी बनूं।

रमणीयतर स्वरूप

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषा
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
हविर्यत्। धातुर्द्युतानात् सवितुश्च विष्णो
३ १र २र३ ३ १ २
रथन्तरमा जभारा वसिष्ठ ॥५॥५६९॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रथो वासिष्ठः' है। मन्त्र का प्रारम्भ भी 'प्रथ' तथा अन्त 'वसिष्ठ शब्द से हुवा है। यह अकस्मात् हो गया हो ऐसा नहीं। यह प्रथ वासिष्ठ' [**रथन्तरम्**]=अतिशयेन रमणीय रूप को अथवा उत्कृष्ट शरीर रूप रथ को [**आजभार**]=प्राप्त करता है। इसको प्राप्त करने के लिए निम्न साधना करनी होती है।

(१) [**प्रथश्च**]=(प्रथः च, प्रथ=विस्तारे) यह अपने को विशाल हृदय बनाता है। संकुचित हृदय में पवित्र मलिनतायें होती हैं—विशाल हृदय में पवित्रता। 'यहः पुनातु हृदये'=विशालता हमें हृदय में पवित्र बनाये। 'उदारं धर्ममित्याहुः'= उदार ही धर्म है। इस प्रकार [**यस्य**]=जिसके जीवन में प्रथः=विस्तार होता है। वही रमणीयता को प्राप्त करता है। परन्तु जब विस्तार के लिए आवश्यक है कि यह केवल शरीर का न होकर मन व बुद्धि का भी हो। इसी से कहते हैं कि (२) [**स प्रथः च**]=जिसके जीवन में सः=समान रूप से शरीर, मन व बुद्धि का प्रथ=विस्तार होता है **—यह सम विकास वाला व्यक्ति ही रमणीय रूप**

को पाता है। अकेला शरीर का विकास हमें केवल पहलवान बना देता है—अकेली मन की शुद्धता हमें करुणा का विषय बनाती है और अकेला ज्ञान हमें 'साक्षर' न बना 'राक्षस' बना देती है। (३) रमणीयता के लिए तीसरी आवश्यक बात यह है कि **[आनुष्टुभस्य]**=वेदवाणी के अधिष्ठाता (अनुष्टुप्=वाह्न) प्रभु का **[नाम]**=स्तवन हमारी जिह्वा पर हो। हम सदा उस प्रभु को स्मरण करें। यह प्रभु का स्मरण ही हमें अहंकारादि विकारों से सुरक्षित करेगा। (४) रमणीय वह बनता है **[यत्]**=जो (**हविषः हविः**)=हवि कामी हवि बनता है। अर्थात् अत्यन्त त्यागशील होता है। रमणीयता के लिए विकास, समविकास, प्रभु नाम स्मरण व त्याग चार ही साधन हैं। त्याग से विपरीत लोभ हमें प्रकृति पंक में निमग्न कर मलिन कर देता है।

इस रमणीय स्वरूप को **[वसिष्ठः]**=काम-क्रोध को वश में करने वाला पाता है। किससे?—

(१) **[धातुः]**=सब चीजों का निर्माण करने वाले उस धाता=विधाता=ब्रह्मा (creator) से।

(२) **[द्युतानात्]**=सृष्टि को उत्पन्न करके (द्यु)=ज्ञान का (नावात) विस्तार करने वाले से। सृष्टि की रचना करके प्रभु मनुष्य को ज्ञान देता है—जिसके अनुसार उसने अपना जीवन बनाना होता है।

(३) **[सवितुः च]**=उस सविता से जो सम्पूर्ण विकास व ऐश्वर्य का मूल है। वेद ज्ञान के द्वारा हमें सब समृद्धि की प्राप्ति का प्रभु साधन उपदिष्ट करते हैं।

(४) **[विष्णो]**=उस व्यापक परमेश्वर से। विशालता ही में तो सौन्दर्य है।

वसिष्ठ प्रभु को इन नामों से स्मरण करता हुवा स्वयं भी निर्माण, ज्ञान विस्तार, ऐश्वर्य व व्यापक मनोवृत्ति का व्रत लेता है और इन व्रतों के द्वारा अपने जीवन को अधिकाधिक रमणीय करता चलता है। विष्णु की तरह व्यापक बनने के कारण इसका नाम ही 'प्रथ' हो गया है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम भी रमणीयतर स्वरूप को प्राप्त करने वाले हों।

अग्निहोत्र करने वालों के लोक में

३ १ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
नियुत्वान् वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते।
१ २ ३ २ ३ २
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥६॥६००॥

'वायुरनिलममृतमभेदं भस्मान्तं शरीरम्' इस मन्त्र में भस्माना शरीर के विरोध में अपार्थिव (अनिल) अमृत 'वायु' का उल्लेख है। स्पष्ट ही यह आत्मा का वाचक है। आत्मा शब्द गत्यर्थक 'अत्' धातु से बना है और 'वायु' गत्यर्थक 'वा' धातु से। शरीर को धारण करने वाला आत्मा 'वायु' है। इसके इन्द्रिय रूप घोड़े 'नियत' कहलाते हैं—जिन्हें पाप से पृथक् करना है (यु=मिश्रण) और पुण्य से जोड़ना है (यु=मिश्रण)। 'मतुम्' प्रत्यय भी प्रशस्त अर्थ में यहां आया है। प्रभु इन्हें सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि ए (**वायो**? **नियुत्वान्**)=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ों वाला बनकर तू (**आगहि**)=हमारे समीप आ। (**अयं**)=ये मैं भी **[ते]**=तेरे लिये **[शुक्रः]**=शुद्ध स्वरूप का कर्त्ता होकर (**अयामि**)=तुझे प्राप्त होता हूं। जीव प्रयत्न करता है तो उसे प्रभु का साहाय्य प्राप्त होता है। जीव प्रभु की ओर चलता है, तो प्रभु भी उसे प्राप्त होते हैं। जीव इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए प्रयत्न करता है तो प्रभु भी उसकी शुचिता के करने वाले होकर उसे प्राप्त होते हैं। 'त्वया स्विद् युजा वयम्'=प्रभु से मिलकर जब यह शोधन प्रक्रिया चलती है तो जीव से प्रभु कहते हैं कि तू (**सुन्वतः गृहम्**)=सुन्वन् के घर को—यज्ञशील पुरुषों के लोक को (**गन्तासि**)=जाने वाला होगा। 'अग्निहोत्र' हुतो यत्र लोकः=जहाँ अग्निहोत्र करने वाले जाते हैं वहां तू भी जायेगा।

यह 'नियुत्वान् वायु' ही सच्ची गृत्स=प्रभु का

स्रोता है, इसका जीवन मद=आनन्दमय बनता है और शौनकः=यह गतिशील होता है।

भावार्थ—हम वायु हैं—सो नियुत्वान् बनें। अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को अशुभ से हटाकर शुभ में प्रेरित करें।

पृथिवी का प्रथव, दिव् का स्तम्भन

१र २र ३ १ २ ३ १ २ १
यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय। तत्
२ ३ १ २ ३ २ १ ३ १र २र
पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ॥७॥
॥६०१॥

प्रभु ही जीव से कहते हैं कि ऐ (**अपूर्व्य**)= अपने में प्रभु की भावना का पूरण करने वालों में उत्तम (**मघवन्**)=पाप के लवलेश से शून्य जीव (**मन्**) अब तू (**वृत्रहत्याय**)=वृत्र के नाश के लिये [**जायथाः**]=होता है (**तत्**)=तो [**पृथिवीम्**] =पृथिवी को=अपने इस पार्थिव शरीर को [**अप्रथय**]=तू विस्तृत करता है (**उत उ**)=और निश्चय से [**तद्**]=तभी ही (**दिवम्**)—द्युलोक को अर्थात् अपने मस्तिष्क को (**अस्तभ्नाः**)—स्थिर करता—स्थित यज्ञ होता है।

'वृत्र' वासना है वासना का विनाश शरीर के स्वास्थ्य के लिये भी आवश्यक है। और मस्तिष्क की तीव्रता व स्थिरता के लिए भी इस वासना के विनाश के लिये ही यह प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरने का यत्न करता है। जहाँ प्रभु की भावना है—उस हृदय में वासना कहां?

'इसमें वासना से बचने के लिए ही यह 'नृमेध व पुरुमेध' बनता है—केवल स्वार्थमय जीवन न बिताकर यह औरों के सम्पर्क में आता है और इसका संपर्क उनका पालन व पूरण करने वाला होता है। यह लोक-हित में लगना ही प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरना है। इससे शरीर स्वस्थ बनता है और बुद्धि स्थिर। यही पृथिवी का प्रथव है और द्युलोक का स्तम्भन। वैदिक साहित्य में 'पृथिवी शरीरम्, मूर्ध्नोद्यौः'—'पृथिवी' शरीर है 'द्युलोक' मस्तिष्क।

भावार्थ—मैं वृत्रहत्या के वासना विनाश के द्वारा स्वस्थ शरीर व स्थिर बुद्धि बनूं।

* * *

॥३॥ ऋषिः—१, ५, १० वामदेवः; २, ३ गोतमः; ४ मधुच्छन्दाः; ६ गृत्समदः; ८, ९, भरद्वाजो बार्हस्पत्यः; ११ हिरण्यस्तूपः; १२, १३ विश्वामित्रः॥ देवता—१ प्रजापतिः; २, ३ पवमानः सोमः; ४—६, १३ अग्निः; ७ रात्रिः; ८ वैश्वानरः; ९ विश्वेदेवाः; १० लिङ्गोक्ताः; ११ इन्द्रः; १२ आत्मा॥ छन्दः—१, ७ अनुष्टुप्; २, ३, ५, ६, ९, ११—१३ त्रिष्टुप्; ४ गायत्री; ८ जगती; १० महापङ्क्तिः॥ स्वरः—१, ७ गान्धारः; २, ३, ५, ६, ९, ११—१३ धैवतः; ४ षड्जः; ८ निषादः; १० पञ्चमः॥

वर्चस्वी, यशस्वी और पयस्वी

२ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १र २र
मयि वर्च्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।
२ ३ २उ ३ १ २ ३ १र २र
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु
॥१॥६०२॥

जीव प्रार्थना करता है कि [**परमेष्ठी**]= सर्वोच्च स्थान में स्थित, [**प्रजापतिः**]=सब प्रजाओं का रक्षक परमात्मा [**मयि**]=मेरे में [**वर्चः**]=वर्चस् को शरीर के अन्दर रोगों से युद्ध करके शरीर को स्वस्थ करने वाली शक्ति को [**दृंहतु**]=दृढ़ करें। मेरा शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो यह वज्रतुल्य हो। इस पर वायु व ऋतुओं के छोटे-मोटे आक्रमणों का प्रभाव न पड़े।

[**अथ उ**]=अब इस स्वस्थ शरीर में [**यश**] =(सत्यम्) यश का निवास हो। मेरी इन्द्रियां कोई भी ऐसा कार्य करने वाली न हों जो कि **यश**

का देने वाले वाला नहीं। मैं अपने कार्यों से चमकूं। **[अथ उ]**=इसके अतिरिक्त **[यज्ञस्य यत्]**= यज्ञ का जो वर्धन है उसे प्रभु मेरे में दृढ़ करें। औरों के क्षय के द्वारा वर्धन राक्षसी वृत्ति है। साधुवृत्ति वाला पुरुष कभी भी औरों के क्षय से अपने को बढ़ाता नहीं। इसका वर्धन यज्ञ-सम्बद्ध होता है—यह अन्यों के हित में अपना हित देखता है। ओप्याथी वृद्धौ स पयः शब्द बना है—सो इसका अर्थ वर्धन ही यहां संगत है।

ये 'वर्चस्, यशस् व पयस्' मुझे परमेष्ठो ने ही प्राप्त कराने हैं मेरा भी लक्ष्य परम-स्थान में स्थिति होने का होगा तभी तो मैं इन्हें पा सकूंगा। प्रभु 'प्रजापति' हैं=मैं भी प्रजापालन का व्रत लूंगा तभी तो मेरा वर्धन 'यज्ञ का वर्धन' होगा। परमेष्ठी प्रजापति **[इव]**=जैसे **[दिवि]**=द्युलोक में **[द्याम्]**=प्रकाशमय सूर्य को दृहंति=दृढ़ करता है उसी प्रकार मेरे में प्रभु 'वर्चस्, यशस् व पयस्' को दृढ़ करें। ऐसा हाने पर मैं 'वामदेव गौतम' बनूंगा—प्रशस्त दिव्य गुणों वाला व उत्तम इन्द्रियों वाला।

भावार्थ—प्रभु कृपा मुझे वर्चस्वो, यशस्वी व पयस्वी बनाये।

निरभिमानता (अभिमान का प्रभाव)

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्य-
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भिमातिषाहः। आप्यायमानो अमृताय सोम
३ १र २र ३ ३ १ २
दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥२॥६०३॥

मनुष्य जितना-जितना दिव्यता की ओर बढ़ता चलता है उतना-उतना बुराईयों के छोड़ने से वह 'राहूगण'=त्यागियों में गिनने योग्य हो जाता है (रह त्यागे)। अन्तिम अवगुण 'अभिमान' है इसे भी छोड़कर यह अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियों वाला 'गौतम' बन गया है। प्रभु इसे प्रेरणा देते हैं कि **[अभियातिष्महः]**=अभिमान का भी पराभव करने वाले **[ते]**=ये तेरे **[पयांसि]**=वृद्धि के कार्य **[सं]**=मिल करके हैं। अर्थात् तू केवल अपनी वृद्धि से ही सन्तुष्ट न हो, सभी की उन्नति में अपनी उन्नति समझ। **[उ]**=और **[वाजाः]**=धनादि की शक्तियां भो **[संयन्तु]**=मिल कर प्राप्त हों। शरीर का एक ही अंग रुधिर की अधिकता वाला होता है तो शरीर सुन्दर नहीं प्रतीत होता। **[वृष्ण्यानि]**=तुम्हारे शक्ति सम्पादन के कार्य भी **[सं]**=मिल कर हों। 'वृद्धि, धन, शक्ति' ये सभी तुम्हारी सम्मिलित हों। अहंकार इस कार्य में सबसे अधिक विघातक है। सो तू अभियाति को अहंभाव को पराभूत कर डाल, कुचलडाल। अत्यन्त विनीत बन। और ऐ **(सोम)**=अहंकार को नष्ट करने वाले 'गौतम'? तू **(अमृताय)**= मोक्ष के लिए इस जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठने के लिए **(आप्यायमानः)**=सब गुणों के दृष्टिकोण से उन्नति करता हुवा **(दिवि)**=प्रकाश व ज्ञान के क्षेत्र में **(उत्तमानि श्रवांसि)**=उत्तम यशों को **(धिष्व)**=धारण कर। तू ज्ञान के दृष्टिकोण से यशस्वी बन। 'धन के दृष्टिकोण से यशस्वी बनना' तृतीय विभाग में उत्तीर्ण होना है, 'पौरुष से प्रख्यात होना' मध्यम श्रेणी है और 'ज्ञान से प्रसिद्धि को पाना' उत्तम कक्षा में स्थित होता है। ज्ञान को प्राप्त करके ही तू ज्ञानधन प्रभु को पायेगा। ज्ञान के साथ अहकार का सम्पर्क नहीं। यह ज्ञानी 'अभिमातिधाट्' होता है। अहं को मार करके ही तो प्रभु की प्राप्ति संभव है। जब तक मैं है तब तक प्रभु नहीं है, प्रभु प्राप्त होते हैं तो मैं का विलय हो चुका होता है। मैं को समाप्त करके यह 'राहू गण' सब में समा गया है—तभी तो यह सबकी वृद्धि में ही अपनी भी वृद्धि को समझता है—सबका धनित्व इसे धनी बनाता है और सबकी शक्ति में यह शक्ति का अनुभव करता है—यह 'अयुत'=अपृथक् हो गया है। एकत्व को देखने वाला होकर यह प्रभु के चरणों में स्थित हो चुका है। खदी का समाप्त कर खुदा

को पा चुका है ।

भावार्थ—मैं को समाप्त कर । मैं मिलकर वृद्धि धन व शक्ति का सम्पादन करूं ।

राहूगण गोतम ने क्या किया है ?

२ ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १
त्वमिमा: ओषधी: सोम: विश्वास्त्वमपो
२ ३ २ १ २र ३ २ १ २ ३
अजनयस्त्वं गा: । त्वमातनोरुर्वा३न्तरिक्षं
१र २र ३ १र २र
त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥३॥६०४॥

प्रभु उसी राहूगण से कहते हैं कि :—(१) [**त्वं**]=तूने ऐ [**सोम** !]=विनीत ! [**इमा:**]=इन [**विश्वा:**]=सब [**ओषधी:**]=दोषदहन की प्रक्रियाओं को [**अजनय:**]=उत्पन्न किया है। अर्थात् तूने अपने अन्दर दोषों को भस्म कर दिया है (उष् दाहे) ओषधि भी ओषधि इसीलिये कहलाती है कि वह दोषों को जला देती है। (२) [**त्वम्**]=तूने [**अप:**]=व्यापक कर्मों को [**अजनय:**]=अपने में विकसित किया है। यह राहूगण 'स्वार्थमान' को छोड़ने के कारण व्यापक हित के दृष्टिकोण से ही कर्म करता है। इसके कर्म 'यदभुतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा' इस वाक्य के अनुसार अधिक से अधिक भूतों का हित करने वाले अतएव सत्य व व्यापक होते हैं। (३) [**त्वं**]=तूने [**गा:**]=अपने अन्दर वेदवाणियों को उत्पन्न किया है। राहूगण ने अपने कर्मों को पवित्र बनाये रखने के लिये ज्ञान का सम्पादन आवश्यक समझा और इस ज्ञान से ही वस्तुत: वह स्वार्थभाव से ऊपर भी उठ सका। (४) [**त्वम्**]=तूने [**उरु आन्तरिक्षम्**]=विशाल हृदयान्तरिक्ष को [**आतनो:**]=विस्तृत किया। वास्तव में एक ओर; द्वितीय स्थान में कर्म हैं, दूसरी ओर चतुर्थ स्थान में हृदय की विशालता है। इन दोनों के बीच में तृतीय स्थान में ज्ञान है। ज्ञान ने ही कर्मों को पवित्र बनाया है और हृदय को विशाल। (५) इस प्रकार ऐ राहूगण [**त्वं**]=तूने [**ज्योतिषा**]=ज्योति के द्वारा [**तम:**]=अन्धकार को [**विववर्थ**]=विवृत कर दिया है—दूर कर दिया है।

प्रथम ४ बातों में यह राहूगण 'अपने दोषों को जलाना, कर्मों को पवित्र करना, ज्ञान को दीप्त करना व हृदय को विशाल बनाना' इन बातों को सिद्ध करता हुवा अपने जीवन को सुन्दर बनाता है। इसके बाद यह ज्ञान के प्रसार से लोक के अन्धकार को दूर करने का प्रयत्न करना है। इस समय यह पूर्ण त्याग का जीवन बिताते हुए सचमुच 'राहूगण' होता है। इसे ही हम सामान्य भाषा में संन्यासी कहते हैं।

भावार्थ—हम दोषदहन, व्यापक कर्म, ज्ञान व विशाल हृदयता को सिद्ध करते हुए ज्ञान की ज्योति के प्रसार से अन्धकार को नष्ट करने के लिये प्रयत्नशील हों।

'मधुच्छन्दा' की प्रथम आराधना

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
१ २ ३ १ २
होतारं रत्नधातमम् ॥४॥६०५॥

राहूगण=त्याग की वृत्ति वाला सदा 'मधुच्छन्दा:'=उत्तम इच्छाओं वाला बनता है, यह 'वैश्वामित्र:'=सभी के साथ स्नेह करने वाला होता है। यह आराध्यदेव की स्तुति निम्न प्रकार से करता है :—

मैं [**ईडे**]=आराधना करता हूं। मैं अपने मन, वचन, कर्म से स्तुति करता हूं उस प्रभु की जो कि (१) [**अग्निम**]=अग्नि हैं। सम्पूर्ण अग्रगति के साधक हैं। जिनका स्मरण मेरी उन्नति का साधक होता है। जो प्रभु अनुकूल परिस्थिति प्राप्त कराकर तथा उत्साहवर्धक प्रेरणायें देकर मुझे उन्नत करने में लगे हैं। पर कितना मेरा दौर्भाग्य होता है जबकि मैं अनुकूल परिस्थिति को प्रतिकूल समझ असन्तुष्ट होता हूं, अर्थ को अनर्थ—व अनर्थ को अर्थ समझता हूं और दु:ख व असन्तोष में प्रेरणा को सुनने का ध्यान ही नहीं करता। (२)

[**पुरोहितं**]=वे प्रभु (पुरः) सृष्टि के पहले से (हितं) विद्यमान हैं (अग्रे समवर्तत=वे तो सभी निर्माणों से पहले से ही है (पुरः) सर्वाधिक (हितं) हित करने वाले हैं और वस्तुतः पुरा=हम सबके सामने हितं=आदर्श रूप से उपस्थित हैं। जैसे प्रभु दयालु हैं वैसे ही तो हमें भी दयालु बनना है। उन्हीं की तरह न्याय्य मार्ग पर चलते हुए सोम की साधना करनी है। (३) [**यज्ञस्य देवम्**]=वे प्रभु मेरे हृदय में यज्ञ की भावना का प्रकाश करने वाले हैं। सदा मुझे 'देवपूजा, संगतिकरण और दान, की प्रेरणा देने वाले हैं। उन्होंने प्रारम्भ में ही वेदज्ञान द्वारा मुझे सभी यज्ञों=श्रेष्ठतम कर्मों का उपदेश दिया है। (४) [**ऋत्विजम्**]=वे प्रभु समय-समय पर उपासना करने योग्य है। प्रत्येक कष्ट के आने पर तो जीव प्रभु का ध्यान करता ही है। सन्तों से वे सदा स्मरणीय हैं। (५) [**होतारं**]=वे सब उत्तम व आवश्यक पदार्थों के देने वाले हैं। हमारे शरीर मन व बुद्धियों के विकास के लिये उन्होंने प्रत्येक सहायक पदार्थ का निर्माण किया है। उन पदार्थों को हमें प्राप्त कराया है। हम अल्पज्ञता से व विपर्यय से उनका 'अयोग व अतियोग' करके उन्नत होने के स्थान में अवनत हो जाया करते हैं और उन पदार्थों को कई बार अमृत होते हुए भी विष समझते हैं। परन्तु वे प्रभु तो (६) [**रत्नधातमम्**]=रमणीय ही रमणीय पदार्थों को हमें प्राप्त कराने वाले हैं। इस अन्नमय कोश में ही उन्होंने अत्यन्त सुन्दर व्यवस्था के द्वारा अन्न से रस-रुधिरादि के क्रम से सप्त धातुओं के निर्माण की व्यवस्था की है। उनमें से एक-एक कितनी रमणीय है यह वैज्ञानिक अध्ययन हमें बतलाता है। इन रत्नों को हम प्रायः रत्न न समझ कर नासमझ किसान की तरह पत्थर समझते हुए फेंक देते हैं। यही तो हमारी मूर्खता है। प्रभु स्तवन हमें स्वस्थ मस्तिष्क बनायेगा और हम इन रत्नों को रत्न समझेंगे। ऐसा समझने पर ही हमारा जीवन रमणीय बन पायेगा।

भावार्थ—मैं भी 'मधुच्छन्दा' की तरह प्रभु की आराधना करने वाला बनूं।

मानव विकास

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र
ते मन्वत प्रथमं नाम गोनां त्रिः सप्त परमं
२र १ २ ३ २ ३क २र ३ २
नाम जानन्। ता जानतीरभ्यनूषत क्षा
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
आविर्मुवन्नरुणीर्यशसा गावः ॥५॥६०६॥

अध्ययन :—(१) [**ते**]=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के मानस पुत्रों ने [**प्रथमं**]=सबसे पहले [**गोनां**]=वेदवाणियों के [**नाम**]=वाचकता को, अर्थ को [**अमन्वत**]=मनन किया—जानने का प्रयत्न किया। एक-एक शब्द के अर्थ को समझने का प्रयत्न किया। उन अर्थों को जानने की कोशिश की जो कि इन वेदवाणियों में [**त्रिः**]=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक इन तीन दृष्टियों से [**सप्त**]=सात छन्दों में वर्णित हुए हैं। सात ही मुख्य छन्दों में वेदमंत्र कहे गये हैं और उनमें प्रयुक्त अग्नि आदि शब्द भौतिक अग्नि राजा तथा आत्मतत्व आदि के वाचक होकर त्रिविध अर्थों को प्रकट करने वाले हैं।

आत्मज्ञान :—इस प्रकार वेदवाणियों का अध्ययन करते हुए इन लोगों ने [**परमं नाम**]=वेदवाणियों के अन्तिम प्रतिपाद्य विषय उस प्रभु को [**जानन्**]=जाना। उपनिषद् कहती है कि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति'=सब वेदमंत्र अन्त में उस प्रभु का ही प्रतिपादन करते हैं। 'प्रकृति के ज्ञान के द्वारा प्रभु को जानना' यही हमारा लक्ष्य होना चाहिये। 'शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' शब्द ब्रह्म में निपुण होकर ही परब्रह्म को जाना जाता है।

स्तुति :—[**ताः जानती**]=इस प्रकार इन वेदवाणियों को अच्छी प्रकार जानने वाली [**क्षाः**]=पृथिवीस्थ प्रजायें [**अभ्यनूषत**]=उस प्रभु का

स्तवन करती हैं। इनको एक-एक प्राकृतिक रचना में प्रभु को महिमा दिखती है और ये उस महान् प्रभु के प्रति नतमस्तक हो उठते हैं। इनके मुखों से स्वभावतः ये शब्द निकल पड़ते हैं कि 'नमस्ते वायो'=ऐ सारे संसार को गति देने वाले प्रभो! तुझे नमस्कार है।

ज्ञानप्रसार :—इन प्रभु भक्तों का जीवन अकर्मण्य नहीं होता। ये पर्वत कन्दराओं में स्तोत्रों का ही उच्चारण नहीं करते रहते। अपितु, प्राप्त ज्ञान को ये फैलाने के लिये यत्नशील होते हैं। [**अरुणीः**]=प्रकाशमयी, प्रातःकालीन सूर्य के प्रकाश की तरह अन्धकार को दूर करने वाली [**गावः**]=वाणियां [**आविर्भुवन्**]=इनसे प्रकट होती हैं। ज्ञान के प्रसार के कार्य में ये मध्याह्न के प्रचण्ड प्रखर सूर्य की तरह न होकर प्रातःकालीन अरुण प्रकाश के समान होते हैं। मधुर श्लक्ष्ण (Smouth, not harsh) वाणी से ही ये ज्ञान को देने वाले होते हैं।

उत्तम कर्म :—ये प्रभु भक्त कोरे उपदेशक ही नहीं होते। [**यशसा**]=इनका अपना जीवन भी यशस्वी उत्तम कार्यों से युक्त होता है। इनके मुख से ज्ञान का प्रकाश होता है तो हाथों से उत्तम कर्मों का भी सम्पादन हुवा करता है। वाणी ज्ञान को और हाथ यश को फैलाने वाले होते हैं।

इस प्रकार जीवन को बिताने वाले ये व्यक्ति सचमुच 'वामदेव'=सुन्दर दिव्यगुणों वाले गोतम प्रशस्तेन्द्रिय बनते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन 'अध्ययन, आत्मज्ञान, स्तुति, ज्ञानप्रसार व यशोयुक्त कर्मों' वाला हो।

समान ऊर्व में निवास

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३क२र
समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यस्पृ-
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
णन्ति। तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपान्न-
२र ३ १ २ ३ १ २
पातमुप यन्त्यापः ॥६॥६०७॥

गतमंत्र में मानव जीवन के विकास का उल्लेख था। उस विकास के मार्ग पर चलने वाले मनुष्यों की संख्या विरल ही होती है। गोता में 'आश्चर्यवत्' शब्द का प्रयोग करके इस विरलता को बहुत ही स्पष्ट कर दिया गया है। प्रस्तुत मंत्र में 'अन्याः' शब्द का प्रयोग इसी भावना का द्योतक कर रहा है। [**अन्याः**]=कोई एक ही [**आपः**]=(आपो वै नर सूनवः) नर सन्तान अर्थात् मनुष्य [**संयन्ति**]=प्रभु के आदेश के अनुसार मिलकर चलते हैं। 'संगच्छध्वं संवदध्व'=यही तो प्रभु ने ऋग्वेद की समाप्ति पर प्रकृति का ज्ञान देने के बाद आदेश दिया था। 'मिलकर चलेंगे' तभी प्रकृति हमारा हित करेगी, फटकर चलेंगे तो यह प्रकृति हमें फाड़ ही तो देगी। प्रकृति में फंसकर हम एक दूसरे का विरोध करने वाले बन जाते हैं। 'मिलकर न चलना' प्रकृति में फंसे हुवों का मुख्य लक्षण है। प्रकृति में न फंसेंगे तो हमारा परस्पर मेल होगा—तभी हम प्रभु को प्राप्त करने वाले बनेंगे। मंत्र में कहते हैं कि [**अन्याः**]=ऐसे विरल पुरुष ही [**उपयन्ति**]=उस प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं। ये इहलोक में प्रभु के समीप रहते हैं—शरीर छोड़ने के बाद तो उस प्रभु के समीप पहुंच ही जाते हैं। 'इस जीवन में वे प्रत्येक क्रिया को करते हुए उस प्रभु का विस्मरण नहीं करते' यही प्रभु के समीप रहने की भावना है। सोते, खाते, पीते ये उस प्रभु का सदा नाम स्मरण करते हैं। [**नद्यः**]=सदा प्रभु के गुणों का गान करने वाले (नद् स्तुतौ) ये उपासक [**समानम्**]=वृद्धि और क्षय से रहित सदा वर्धमान (वर्धमानं स्वे दमे) [**ऊर्वम्**]=अत्यन्त विस्तृत उस सर्वव्यापक प्रभु में [**स्पृणन्ति**]=(स्पृ—to live) निवास करते हैं। प्रकृति में विचरते हुए भी ये प्रकृति में उलझते। नहीं परिणामतः प्रकृति से सदा ऊपर उठे रहते हैं और उस प्रभु में जीवन-यापन करते हैं। यही जीवन्मुक्ति कहलाती है—यही संदेह होते हुए भी विदेह होना होता है। शरीर को छोड़ने के

पश्चात् तो 'सहब्रह्मणा विपश्चिता'=ये उस ज्ञानी ब्रह्म के साथ विचरते ही हैं। मंत्र में कहते हैं कि [**तम्**]=उस [**शुचिं**]=पवित्रता ज्ञान व कर्म—पवित्र, निर्मल, अपापविद्ध प्रभु को, [**दीदिवांसं**]=ज्ञान की ज्योति से दीप्त होते हुए उस प्रभु को, [**अपां न पातम्**]=कर्मों को भी कभी न नष्ट होने देने वाले उस प्रभु को स्वाभाविकी ज्ञान बल व क्रिया वाले परमात्मा को [**ऊ**]=निश्चय से [**शुचयः**]=पवित्र जीवनों वाले [**आपः**]=ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को व्यापक विशाल बनाने वाले (आप्=व्याप्तौ) कर्मशील (आप्=कर्म) व्यक्ति ही [**उपयन्ति**]=समीपता से प्राप्त होते हैं। ज्ञान से मनुष्य का दृष्टिकोण विशाल बनता है—वह सभी में एकत्व बुद्धि से व्यवहार करने वाला होता है। इस समय इसके कर्म भी स्वार्थ की संकुचित दृष्टि से न किये जाकर सर्वभूतहित की दृष्टि से किये जाते हैं—सो व्यापकता को लिये हुए होते हैं। ये व्यापक कर्म ही इसे प्रभु का सच्चा भक्त बनाते हैं। ये प्रभु का सच्चा स्तोता होने से 'गृत्स' कहलाता है—मनः प्रसाद को अनुभव करता हुवा यह 'मद' होता है और गतिशील कर्मनिष्ठ होने से ये 'शौनक' है।

भावार्थ—हम भी उन विरल व्यक्तियों में गिने जायें जो कि मिलकर चलते हैं, प्रभु के उपासक होते हैं, प्रभु में निवास करते हैं और अपने जीवन को पवित्र ज्ञान से दीप्त व कर्मनिष्ठ बनाते हैं।

मेरे जीवन में 'रात्रि' आये

१र   २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १र   २र
आ प्रागाद्भद्रा युवतिरह्नः केतून्त्समीर्त्सति ।
१ २ ३   २   ३ १ २   ३ १ २   ३   १ २ ३   १   २
अभूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ।।
७।।६०८।।

प्रस्तुत मंत्र में वामदेव गौतम प्रार्थना करता है कि [**आ**]=सब प्रकार से [**प्र**]=खूब [**आगात्**]=आये कौन? [**रात्री**] रात। कैसी? जो (१) [**भद्रा**]=भद्र है (२) [**युवतिः**]=युवति है (३) [**अह्नः**]=अहन् के [**केतून्**]=ज्ञानों को, विचारों को [**समीर्त्सति**]=stored up कर देती है—shelved कर देती है—दाखिल दफ्तर कर देती है। दबा देती है। (४) जो [**विश्वस्य जगतः**]=सारे जगत् को [**निवेशनी**] निवेश देने वाली है—जिसमें मैं ही मैं रह जाऊं ऐसी भावना नहीं है।

'इस 'रात्री' का स्वरूप क्या है?' इस विषय में 'रात्रिर्वै संयच्छन्दः' यजु १५.५ यह वाक्य बड़ा महत्वपूर्ण है—'संयम की इच्छा (छन्द)' ही यह 'रात्री' है। 'वारुणी रात्रिः' इस ब्राह्मण ग्रन्थ के वाक्य का भी अभिप्राय यही है। वरुण 'पाशी' हैं—जो मनुष्य पाशों में—व्रतों के बन्धनों में अपने को जकड़ता है वह इस रात्रि को अपनाता है। श. ६.२.३.३० में कहते हैं कि 'रात्रिर्वै कृष्णा शुक्ल वत्सा तस्या असौ आदित्यो वत्सः'—कृष्णा=इन्द्रियों की विषयों से वापिस आकृष्ट करने वाली संयमवृत्ति ही रात्रि है, यह सफेद वत्स—पुत्र वाली है, 'आदित्य' ही इसका वत्स है। इस संयमवत्ति को अपनाने से मनुष्य उस आदित्यवर्ण प्रभु को देख पाता है। इस कारण ही ('राथन्तरी वैरात्रिः' ऐ. ५.३०) रात्रि को राथन्तरी=शरीर रूप रथ को उत्तम बनाने वाली कहा है।

भद्रा:—यह रात्रि सचमुच [**भद्रा**]=अभद्र मनुष्य का कल्याण करने वाली है। शतपथ में (१३.१.४.३) इसे 'क्षेमो रात्रिः' शब्दों में कल्याण कर प्रतिपादन किया है। यह प्रतिदिन आने वाली रात्रि भी मनुष्य का कल्याण करती है। रोगी अपनी पीड़ा को भूल जाता है, डाक्टर भी उसे सुलाने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः सब विकल्पों से मुक्त कर रात्रि मनुष्य का कल्याण करती ही है। प्रस्तुत 'संयम' रूप रात्रि भी इसी प्रकार मनुष्य का कल्याण करने वाली है।

युवतिः—यह संयमरूप रात्रि युवति है। (प्र मिश्रण=अमिश्रण)—नाना प्रकार की ईर्ष्या, द्वेष

की भावनाओं से ये हमें पृथक् कर देती है। ईर्ष्या से पृथक् करके यह हमें एक दूसरे के समीप ले आती है। दिन में चलने वाले सब भेदभाव जैसे रात्रि में आकर समाप्त हो जाते हैं उसी प्रकार संयमी पुरुष के जीवन में भी 'भेदवृत्ति' समाप्त हो जाती है। दिन में कोई धनी है, कोई निर्धन; कोई विद्वान् है कोई मूर्ख। परन्तु रात्रि में यह सब भेद समाप्त हो जाता है इसी प्रकार संयमी पुरुष के जीवन में भी भेदभाव नहीं रहता।

अहन् :—'अहन्' शब्द दिन का वाचक है। यहां यह बड़ी कठिनता से नष्ट (हन्) करने योग्य अहंकार का वाचक है। पुत्रैषणा और वित्तैषणा को जीत लेना आसान है पर लोकैषणा को जीतना सुगम नहीं। अहंभाव तो Last infirmity of the noble mind' है—बड़े-बड़े व्यक्तियों में भी यह निर्बलता उपलभ्य है। वेद में इसे 'नमुचि' नाम दिया है—पीछा न छोड़ने वाला। गीता में 'नातिमानिता' शब्द के द्वारा दैवी संपत्ति की पराकाष्ठा बतलाकर अहंकार—विजय की दुःसाध्यता का संकेत किया है। निरभिमानता को संयम की रात्रि इस अभिमान के विचारों को दबा डालती है। 'सोमो रात्रिः' (श. ३. ४.४.१५) इन शब्दों में याज्ञवल्क्य इस रात्रि को विनीत बतला रहे हैं। जैसे प्रस्तुत रात्रि में मनुष्य को अपने धनादि का अभिमान नहीं रहता उसी प्रकार इस संयम की रात्रि में भी वह इससे ऊपर उठ आता है। (संमीलने नयनयोः नहि किञ्चिदस्ति) - धन आदि का अभिमान तो रात्रि आने से पहले तक ही है।

विश्वस्य :—इस संयम-रात्रि में मनुष्य केवल अपने आनन्द का ध्यान कभी नहीं करता। यह तो सभी के आनन्द में आनन्द का अनुभव करता है। दिन में जरा मुझे कोई छूता है और मैं तेज हो जाता हूं, पर रात्रि को नहीं होता। संयम की रात्रि में भी मैं केवल अपने सुख का ध्यान नहीं करता। समय की रात्रि 'उपरमयति ध्रुवीकरोति' (निरुक्त) मुझे शान्त बनाती है, मैं डांवाडोल नहीं रहता। भोगों की इच्छा से आन्दोलित न होने से मैं सभी के सुख में सुखी होता हूं। इस प्रकार यह रात्रि मुझे उत्तम गुणों वाला बनाकर 'वामदेव' बनाती है—मैं इसके द्वारा प्रशस्तेन्द्रिय 'गोतम' बनता हूं।

भावार्थ—मैं संयम की रात्रि द्वारा कल्याण को प्राप्त करूं, औरों से एकत्व अनुभव करूं, अहंकार की वृत्ति को दबा दूं तथा सभी के सुख में सुख का अनुभव करूं।

यह रात्रि ही गीता में 'पश्यन्मुति' की रात्रि कही गयी है। असंयम के कारण मनुष्य जिन चीजों को प्राप्त करने के लिये पूर्ण पुरुषार्थी है पश्यन्मुति वहां सोया हुवा है। उन चीजों के लिये जरा भी लालायित है—यही 'संयमरात्री' है।

प्रभु के तेज की चर्चा

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ २ २ ३ १ २
प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू महः प्र नो वचो
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र३
विदथा जातवेदसे। वैश्वानराय मतिर्नव्यसे
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शुचिः सोम इव पवते चारुरग्नये ॥८॥६०९॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'भरद्वाज बार्हस्पत्य'=(Who possesses a body of an alttete and the soul of a sage) दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क वाला व्यक्ति कहता है कि [**नः**]=हमें [**विदथा**]=ज्ञानयज्ञों में उन प्रभु के [**महः**]=तेज को तू [**प्रवचः**]=निश्चय से प्रकर्षेण सुनाईये जो कि [**प्र-क्षस्य**]=(प्रकर्षेण क्षिपति) जो सर्वत्र प्रकृष्ट रूप से निवास कर रहे हैं—सर्वव्यापक हैं, [**वृष्णः**]=शक्तिशाली हैं अथवा सुखों की वर्षा करने वाले हैं, [**अरुषस्य**]=जो क्रोधशून्य शान्त हैं। इस प्रभु के तेज को हमें इसलिये सुनाइये कि हम भी इसी तेज को आपका लक्ष्य बनायें (भर्गः धीमहि) हम भी प्रभु की तरह ही व्यापक मनोवृत्ति वाले शक्तिशाली व शान्त बनने का प्रयत्न

करें। उस प्रभु को पाने का मार्ग तो उस जैसा बनना ही है। यह ठीक है कि :—

(१) [**जातवेदसे**]=उस प्रत्येक पदार्थ को जानने वाले (जातं-जातं वेत्ति) प्रभु के लिये [**मतिः**]=मननशील ज्ञानपुंज व्यक्ति ही [**पवते**]=जाता है—प्राप्त होता है। सर्वज्ञ प्रभु को ज्ञानी ही प्रिय होता है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'=प्रभु कहते हैं कि ज्ञानी तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है।

(२) [**वैश्वानराय**]=उस सब मनुष्यों का हित करने वाले प्रभु के लिये [**शुचिः**]=पवित्र स्वार्थ से शून्य पुरुष ही [**पवते**]=जाता है। प्रभु प्राणिमात्र का हित करते हैं—उस प्रभु को मैं भी 'सर्वभूतहिते रत' होकर हीं पा सकता हूं। शुचि=पवित्र—स्वार्थशून्य होकर ही तो मैं ऐसा कर सकूंगा।

(३) [**नव्यसे**]=(नु=स्तुतौ) उस स्तुत्यतम प्रभु के लिये [**सोमः इव**]=विनीतता का पुतला ही बना हुवा व्यक्ति ही तो [**पवते**]=जाता है। अभिमान में अपनी स्तुति है, न कि प्रभु की। जितना-जितना मनुष्य अभिमान से ऊपर उठता है उतना-उतना उस प्रभु की स्तुति करने वाला बनता है।

(४) [**अग्नेय**]=उस आगे और आगे ले चलने वाले प्रभु के लिये [**चारु**]=चरणशील—सुन्दर गति वाला पुरुष ही प्राप्त होता है। आगे बढ़ने की वृत्ति से ही हम 'अग्नि' नामक प्रभु को प्रसन्न कर सकते हैं।

भावार्थ—प्रभु को पाने के लिये हमें सदा प्रभु के तेज की ही चर्चा को सुनना है और मननशील, स्वार्थशून्य, विनीत, सुन्दर आचरण वाला बनने का प्रयत्न करना है।

चार कामनायें

१ २ ३ १र २र ३ १ ३ १र २ २र
विश्वे देवा मम श्रृण्वन्तु यज्ञमुभे रोदसी
३ १र २र ३ १ २ २ ३ १ २ ३
अपां नपाच्च मन्म । मा वो वचांसि परि-
१ २ ३ २उ ३ १ २
चक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम ।।
९।।६१०।।

'ऋजिष्वा भारद्वाज' प्रस्तुत मंत्र का ऋषि है। यह ऋज्=सरल मार्ग से अपने जीवन में गति करता है (श्विगतौ)। सरल मार्ग से चलने के कारण ही यह व्यर्थ की उलझनों व परेशानियों से बचा रहता है सुख की नींद सोता है और इसीलिये स्वस्थ व सबल बना रहता है—'भारद्वाज' होता है। इसके अंग-प्रत्यंग में शक्ति भरी होती है। यह अपने जीवन के अन्दर जहां ज्ञान को महत्व देता है, वहां इसके साथ इसका जीवन यज्ञमय होता है। यह प्रयत्न करता है कि इसके जीवन में कोई अयज्ञिय कर्म न हो। यह चाहता है कि (१) [**विश्वे**]=सब [**देवाः**]=भद्र पुरुष [**मम**]=मेरे [**यज्ञम्**]=यज्ञ को ही [**शृण्वन्तु**]=सुनें। उन्हें कभी ऐसा सुनने को न मिले कि मैंने कोई अयज्ञिय कर्म किया है। स्पष्ट है कि यह ऋजिश्वा सब देवों का ध्यान करते हुए इस बात को अपने लिये बड़े असम्मान की चीज समझता है कि उनकी उपस्थिति में उससे कोई अशुभ कर्म हो जाय।

(२) 'ऋजिश्वा' की दूसरी इच्छा यह है कि [**उभे रोदसी**]=दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक [**च**]=तथा [**अपां नपात्**]=प्रजाओं का पालन न होने देने वाला प्रभु मेरे [**मन्म**]=ज्ञान को [**शृण्वन्तु**]=सुनें। अर्थात् पृथ्वीलोक व द्युलोक का तो ज्ञान प्राप्त करूं ही, इनके साथ मैं उस प्रभु का भी ज्ञान प्राप्त करूं जो कि अपने स्मरण करने वाली प्रजाओं का पतन नहीं होने देते। दोनों लोकों का ज्ञान ही प्रकृतिविद्या है—तो प्रभु का ज्ञान 'ब्रह्मविद्या'। ये दोनों ही उपनिषद् की 'परा व अपरा' विद्यायें हैं। दोनों का ही मैं पारंगत बनने का प्रयत्न करूं।

(३) ऋजिश्वा की तीसरी इच्छा यह है कि मैं ऐ विश्वेदेवो ! [**वः**]=आपका बनकर [**परिचक्ष्याणि**]=त्याज्य [**वचांसि**]=वचनों को [**मा वोचम्**]=न बोलूं। अर्थात् मैं सदा शुभ ही शब्दों को बोलूं।

(४) अन्तिम इच्छा यह है कि [**वः**]=आपके [**सुम्नेषु**]=स्तुतियों में [**इत्**]=निश्चय से [**अन्तमा**]=अन्तिकतम होते हुए [**मदेम**]=आनन्दित हों। जैसे देव लोग प्रभु का स्तवन करते हैं उसी प्रकार प्रभु की स्तुति करते हुए हम उन विद्वानों के संग में आनन्द को प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी चार कामनायें हों (१) हमारा जीवन यज्ञिय हो (२) हम परा व अपरा विद्या में निष्णात हों (३) हम कभी देवों से न बोले जाने योग्य अपशब्दों को न बोलें तथा (४) प्रभु की स्तुति में निरत रहें।

यशो – लाभ यशस्वी वक्ता

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रति मुच्यताम्
३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यशस्व्या३स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्॥
१०॥६११॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'वामदेव गौतम'=प्रशस्त दिव्यगुणों वाला प्रशस्तेन्द्रिय प्रभु से प्रार्थना करता है कि (१) [**मा**]=मुझे [**द्यावापृथिवी**]=तारारूप विज्ञानों से तथा सूर्यरूप ब्रह्मज्ञान से दीप्त मस्तिष्करूपी द्युलोक तथा पाषाण व वज्रतुल्य दृढ़ पार्थिव शरीर [**यशः**]=यश को [**प्रतिमुच्यताम्**]=प्राप्त कराये। मेरा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से चमके और मेरा शरीर वज्रतुल्य दृढ़ हो। ऐसे मस्तिष्क और ऐसे शरीर के द्वारा मैं यशस्वी बनूं। (२) [**मा**]=मुझे [**इन्द्रबृहस्पती**]=सब बल के कर्मों की अधिष्ठातृ-देवता तथा ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता [**यशः**]=यश को देने वाली हो। मैं क्षत्र और ब्रह्म के कारण (बल और ज्ञान के कारण) यशस्वी बनूं। (३) मुझे [**भगस्य**]=ऐश्वर्य-वीर्य-कीर्ति-श्री-ज्ञान और वैराग्य (non-attachment) का [**यशः**]=यश [**विन्दतु**]=प्राप्त हो। इस षड्विध भाग को प्राप्त करके मैं अपने जीवन को यशोयुक्त करूं। [**यशो**]=यश ही यश [**मा**]=मुझे [**प्रतिमुच्यताम्**]=प्राप्त हो।

इस प्रकार अपने जीवन को [**यशसा**]=यशस्वी बनाकर ही मैं [**अस्या**]=इस [**संसदः**]=सभा का [**प्रवदिता**]=उत्कृष्ट वक्ता [**स्याम्**]=बनूं। यदि उपदेष्टा का अपना जीवन उत्कृष्ट व यशस्वी न हो तब उसकी वाणी का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। अपने जीवन को उत्तम बना करके ही उपदेष्टा को सभा में प्रवचन करना चाहिये। उसकी क्रिया व वाणी में संवाद हो तब तो वह प्रवचन करता हुवा शोभा पाता है अन्यथा उसका प्रवचन उसे उपहासास्पद बना देता है।

भावार्थ—मैं शरीर को उत्तम बनाऊं, मस्तिष्क को उन्नत करूं। मेरे ब्रह्म व क्षत्र का विकास हो। मैं भग के यश को प्राप्त करूं। यशस्वी बनकर ही मैं प्रभावशाली उपदेष्टा बन सकता हूं।

हिरण्यस्तूप का उपदेश

१ २ ३ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार
३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
प्रथमानि वज्री। अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र
३ १ २ ३ १ २
वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥११॥६१२॥

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि 'हिरण्यस्तूप आंगिरस' है। 'हिरण्य वैवीर्यम्'=हिरण्य वीर्यशक्ति का नाम है—उसकी ऊर्ध्वगति करने वाला 'हिरण्यस्तूप' है—यह इस वीर्य की ऊर्ध्वगति के कारण ही एक-एक अंग में रस वाला है—'आंगिरस' है। यह कहता है कि मैं [**नु**]=अब [**इन्द्रस्य**]=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के [**वीर्याणि**]=शक्तिशाली कर्मों का [**प्रवोचम्**]=प्रवचन करता हूं। [**यानि**]=जिन कर्मों को, जो कि [**प्रथमानि**]=अत्यन्त विस्तार वाले हैं—स्वार्थ के दृष्टिकोण से नहीं किये गये, [**वज्री**]=वज्रतुल्य दृढ़ शरीर वाले हिरण्यस्तूप ने [**चकार**]=किया है। जितेन्द्रिय

बनकर जीव वज्रतुल्य दृढ़ शरीर वाला तो बनता ही है (वज्री), इसके कर्म कुछ स्वार्थ से ऊपर उठे हुए होते हैं (प्रथमानि), साथ ही इसके कर्म शक्तिशाली (वीर्याणि) होते हैं।

(१) पहला कर्म तो इसने यह किया कि **[अहिम् अहन्]**=अहि को मार डाला। अहि का सामान्य अर्थ सर्प है—इसने सर्प को मार डाला। सर्प कुटिल वृत्ति का प्रतीक है। इसने अपने से कुटिल वृत्ति को दूर कर दिया। 'सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्'=कुटिलता मृत्यु का ही तो मार्ग है। सरलता ही ब्रह्म का मार्ग है (आर्जवं ब्रह्मणः पदम्)

(२) **[अनु]**=इसके बाद इसने **[अ-पः]**=(न पाति) न रक्षा करने वाले दुष्ट मन को (अजित मन को) **[ततर्द]**=नष्ट कर दिया। 'अनात्मवस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्' अजित मन हमारा शत्रु=Shatterer ही तो हो जाता है। इस हिरण्यस्तूप ने इस नष्ट करने वाले (अ-प) दुष्ट मन का दमन कर दिया है। सरल मार्ग पर चलने के लिये दुष्ट मन का दमन आवश्यक ही है।

(३) दुष्ट मन के दमन के लिये इसने **[पर्वतानाम्]**=पांच पर्वों वाली अविद्या के **[वक्षणाः]**=नदियों को, प्रवाहों को—**[प्र अभिनत्]**=विदीर्ण कर दिया है। अविद्या के नष्ट होने पर ही तो वासना नष्ट होगी—दुष्ट मन का दलन हो पायेगा। योग में जिस पंचपर्वों वाली अविद्या का चित्रण है उसे दूर करके मैं अपने मन को प्रशस्त बनाता हूं। प्रशस्त मन में छलछिद्र का निवास नहीं होता—सो मैं कुटिलता से दूर होकर सरलता को अपनाता हूं।

भावार्थ—मैं कुटिलता का, दुष्ट मन का तथा पञ्चपर्वों वाली अविद्या का नाश करके सरल सुमन, तथा सु-ज्ञ बनता हूं।

उपदेष्टा का जीवन

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३
अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुर-
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र
मृतं म आसन् । त्रिधातुरर्को रजसो विमानो-
२र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ऽजस्त्रं ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम् ॥१२॥६१३॥

गत मंत्र में हिरण्यस्तूप ने उपदेशत्रयी पर बल दिया था। (१) कुटिलता से दूर रहना (२) दुष्ट मन का दमन करना (३) तथा पञ्चावयव अविद्या के प्रवाह का उन्मूलन करना। इन उपदेशों को अपने जीवन का अंग बनाये बिना यदि वह उपदेष्टा बनता है तो उसके उपदेश का क्या प्रभाव पड़ना? अतः वह स्वयं 'हिरण्यस्तूप' बना था—उसने ऊर्ध्वरेतस् बनने का प्रयत्न किया था। चूंकि संयम ही सब उत्कर्ष की जननी है, सो वीर्य के संयम द्वारा—उसकी ऊर्ध्वगति द्वारा अपने जीवन को 'आंगिरस' बनाकर वह आज 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करने वाला और सच्चे अर्थों में 'गाथिनः'=प्रभु का स्तोता बना है। यह अपने जीवन का निर्माण, निम्न प्रकार से आत्मप्रेरणा देता हुवा, करता है—(१) **[अग्निः अस्मि जन्मना]**=मुझे प्रभु ने स्वभावतः अग्नि=आगे बढ़ने वाला बनाया है। मैं अपने स्वभाव को क्यों नष्ट करूं? 'आगे बढ़ो' यही मेरे जीवन का लक्ष्य हो। (२) क्या शरीर, क्या मन और क्या बुद्धि सभी दृष्टिकोणों से आगे बढ़ता हुवा मैं 'जातवेदा' अधिक से अधिक ज्ञानी सर्वज्ञ-कल्प बनने का प्रयत्न करूं। (३) **[घृतं मे चक्षुः]**=मेरी आंख में दीप्ति हो—सर्वप्रथम स्वास्थ्य के कारण, उससे बढ़कर मनः प्रसाद के द्वारा और वास्तव में तो ज्ञान मेरी आंख को दोप्त करने वाला हो। (४) **[अमृतं मे आसन्]**=मेरे मुख में अमृत हो। मैं उस ज्ञान का प्रचार अमृतमयी वाणी से करने वाला बनूं। (५) **[त्रिधातुः]**=सात्विक, राजस व तामस तीनों ही प्रजाओं का धारण करने वाला

मैं बनूं। अथवा शरीर, मन व बुद्धि तीनों का स्वाधीन करने वाला मैं (६) [**अर्कः**]=सूर्य के समान तेजस्वी बनूं। (७) [**रजसो विमानः**]=मैं अपने जीवन में रजोगुण का विशेष मानपूर्वक धारण करने वाला होऊं। रजोगुण के नितान्त अभाव में तो मेरी क्रियाशीलता का ही अन्त हो जायगा। रजोगुण के प्राबल्य में मेरा ज्ञान आवृत होने की आशंका है। सो उसके विशेष मानपूर्वक निर्माण से (८) [**अजस्रं ज्योतिः**]=मैं अपने जीवन को सतत ज्योतिर्मय बनाऊं। और (९) [**हविः अस्मि सर्वम्**]=पूर्णरूप से अपने को हवि बना डालूं। प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति दे दूं। मैं सतत लोकहित में लगा रहूं।

भावार्थ—मैं अपने जीवन को उन्नत करके प्राजापत्य यज्ञ में प्रवृत्त हो जाऊं।

चार आश्रम

२ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १र २र ३
पात्यग्निर्विपो अग्रं पदं वेः पाति यह्वश्चरणं
१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
सूर्य्यस्य । पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः
२र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
पाति देवानामुपमादमृष्वः ॥१३॥६१४॥

'विश्वामित्र गाथिन' जब प्राजापत्य यज्ञ में प्रवृत्त होता है तो प्रजाओं को चारों आश्रमों का उपदेष्टा, जिनमें से कि मानव जीवन ने चलना है, उपदेश निम्न प्रकार से देता है :—

(१) [**अग्निः**]=सब प्रकार की उन्नतियों का साधक, प्रकाश का प्रतीक प्रभु [**अग्रं पदं**]=अग्रगति को, उन्नति को [**पाति**]=सुरक्षित करता है। किसकी उन्नति को? (क) [**विपः**]=मेधावी की और [**वेः**]=('वी' गति प्रजनन कान्ति आसनस्वादनेषु) गति के द्वारा अपना विकास करने वाले की। मानव जीवन का प्रथम प्रमाण 'ब्रह्मचर्याश्रम' है। इसमें उन्नति तो उस प्रभु को कृपा से ही होती है, परन्तु उस प्रभु की कृपा की प्राप्ति की शर्त यह है कि हम मेधावी बनने का प्रयत्न करें। कोई भी हमारा कार्य बुद्धि के वर्धन के प्रतिकूल न हो। तथा हम क्रियाशील हों, हमारी क्रियाशीलता हमारी शक्तियों के विकास के लिये हो। हमारे में विकास के लिये प्रबल इच्छा हो—(कान्ति) विकास के विरोधी, विघ्नों को हम दूर फेंकने वाले हों (असन) तथा ज्ञान का उत्तरोत्तर भक्षण करते चलें (खादन=ब्रह्मचर्य)। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में प्रभु कृपा हमारे दो प्रयत्नों को चाहती है (१) हमसे मेधावी बनें (२) हम 'वा' बनें।

(२) अब गृहस्थाश्रम आता है। वह [**यह्वः**]=(यातश्च हूतश्च) जाने योग्य और पुकारने योग्य परमात्मा [**सूर्यस्य**]=सूर्य के समान निरन्तर स्मरण करने वाले और आलस्य से सर्वथाशून्य गृहस्थ के [**चरणम्**]=गति को, आगे बढ़ने को [**पाति**]=सुरक्षित करता है। गृहस्थ के मौलिक कर्तव्य दो हैं (क) प्रभु को सदा स्मरण करना, उसे ही अपना आश्रय समझना और (ख) आलस्य को परे फेंककर अपने कर्तव्य कर्मों में लगे रहना। सूर्य की तरह क्रियाशील होना। संस्कार में सूर्य-दर्शन कराकर यह व्रत भी तो 'युवक-युवति' से ग्रहण कराया जाता है।

(३) अब वानप्रस्थाश्रम आता है। यहां भी [**अग्निः**]=वह प्रकाश का प्रतीक प्रभु [**पाति**]=उस वनस्थ की रक्षा करता है जो कि [**नाभा**]=केन्द्र में [**सप्तशीर्षाणम्**]=अपने शिरःस्थ सातों ऋषियों को केन्द्रित रखता है। ये सात ऋषि 'दो कान, दो नासिका, दो चक्षु व मुख' हैं (कर्णादिमौ नासिके चक्षणी मुखम्)। वानप्रस्थ का मुख्य कर्तव्य 'आत्मचिन्तन' ही तो है—उसे अपनी ज्ञानेन्द्रियों को सदा उस प्रभु में केन्द्रित करने का प्रयत्न करना है। इसमें सिद्धि को प्राप्त कर वह संन्यस्त होता है। और वह—

(४) [**ऋष्वः**]=(ऋष् गतौ) अन्त में सबसे जाने योग्य वह प्रभु [**देवानाम्**]=दिव्यता को अपने अन्दर स्थापित करने वाले इन संन्यस्त पुरुषों

के [**उपमादम्**] = (उप = समीप, मद = हर्ष) अपने समीप आनन्दमय स्थिति में रहने की [**पाति**] = रक्षा करता है। एक संन्यासी चौबीसों घण्टे उस प्रभु के चरणों में स्थित है और अतएव आनन्द में भी स्थित है। सर्वोच्च मनः प्रसाद की साधना करके ही तो यह संन्यासी बना है। संन्यासी का मूल कर्तव्य 'देव' बनना, व प्रभु की समीपता से दूर न होना ही तो है।

भावार्थ—मैं ब्रह्मचर्याश्रम में विप् = मेधावी व वी = गतिशील बनूं। गृहस्थ में प्रभु को सदा पुकारता हुवा सूर्य के समान क्रिया में लगा रहूं। वानप्रस्थ बनने पर अपनी सभी इन्द्रियों को उस प्रभु में केन्द्रित करने का प्रयत्न करूं। और इस प्रकार देव बनकर प्रभु चरणों में आनन्दमय बनकर आदर्श संन्यासी बनूं।

* * *

॥४॥ ऋषिः—१, २, ८—१२ वामदेवः; ३—७ नारायणः॥ देवता—१ अग्निः; २ ऋतुः; ३—७ पुरुषः; ८ द्यावापृथिवीः ११ इन्द्रः; १० आतमन आशीः; १२ गौः॥ छन्दः—१,२ पङ्क्तिः; ३—७, ९, १० अनुष्टुप्; ८, ११, १२, त्रिष्टुप्॥ स्वरः—१, २, पञ्चमः; ३—७, ९, १० गान्धारः; ८,११, १२ धैवतः॥

प्रभु दर्शन के लिये

१ २ ३ १ २
भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चर-
३ २ ३ १ २ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र
त्यन्तरासनि स त्वं नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं
२र ३ १ २
वर्च्चो दृशेऽदाः॥१॥६१५॥

(१) प्रभु दर्शन के लिये सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि हमारी जिह्वा सदा प्रभु के नाम का जप करे। 'तज्जपः, तदर्थभावनम्' = उसके नाम का जप और उस नाम के अर्थ का चिन्तन यही तो योग में ईश्वर साक्षात्कार का प्रथम उपाय बताया है। मंत्र में कहते हैं कि ऐ [**समिधान**!] = तेज के प्रकाशमान प्रभो! [**दीदिवः**] = ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान [**अग्ने**] = सारे संसार को अग्रगति देने वाले प्रभो! [**भ्राजन्ती**] = आपके नाम स्मरण से चमकती हुई [**जिह्वा**] = रसना [**अन्तः आसनि**] = मुख में [**चरति**] = गतिशील होती है अर्थात् मैं मुख से सदा आपके नामों का उच्चारण करता हूं। प्रभु के नामोच्चारण से मेरी जिह्वा सदा चमकती रहती है। अपशब्दों से वह मैली नहीं होती।

(२) ऐ [**अग्ने**] = सब प्रकार की उन्नति के प्रापक प्रभो! [**सः त्वं**] = वे आप [**वसुवित्**] = निवास के लिये आवश्यक सब साधनों को प्राप्त कराने वाले (वसु = निवास के लिये आवश्यक पदार्थ)। आप [**नः**] = हमें [**पयसा**] = (प्यायतेः) आप्यावन वृद्धि के दृष्टिकोण से [**रयिं**] = धन को तथा [**वर्चः**] = तेजस्विता को [**अदाः**] = दीजिये ताकि हम [**दृशे**] = आपका दर्शन कर सकें। प्रभुदर्शन के लिये 'नमक, तेल, ईंधन' की चिन्ता से मुक्त होना भी आवश्यक है। जब मनुष्य ने इस भौतिक शरीर में रहते हुए प्रभु का दर्शन करना है तो आवश्यक है कि भूख-प्यास के कारण यह भौतिक शरीर ही हमारे ध्यान को अपनी ओर न खैंची रखे। 'भूखे भजन न होई' का संभवतः यही अभिप्राय है। योगभ्रष्ट को प्रभु 'श्रीमतां' = धन संपन्न घर में इसोलिये जन्म देते हैं। धन के साथ शरीर की शक्ति भी आवश्यक है। निर्बलता से शरीर रोगाक्रान्त होकर फिर हमारे ध्यान को विचलित करने वाला हो जाता है। धन और स्वास्थ्य का लाभ करके ही हम अपना आप्यायन = वर्णन कर सकते हैं। एव जहां प्रभु के नाम का जप आवश्यक है। वहां धन व

तेजस्विता भी प्रभु दर्शन के लिये सहायक हैं। मैं धन को प्राप्त करके धन में तो न आसक्त हो हो जाऊं पर इतना निर्धन भी न होऊं कि मेरी सारी शक्ति व समय पेट की व्यवस्था करने में ही समाप्त न हो जाय।

भावार्थ—उचित धन व शक्ति के साथ प्रभु स्मरण मुझे 'वामदेव गौतम'=प्रशस्त गुणों वाला, प्रशस्तेन्द्रिय बनाता है। यही इस मंत्र का ऋषि है।

रमणीयता ही रमणीयता

३ १र २र ३ १र २र ३ ३ १र
वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः। वर्षा-
२र ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
ण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिरः इन्नु रन्त्यः ॥२॥
॥६१६॥

(१) जिस दिन मेरी जिह्वा प्रभु के नाम स्मरण में ही प्रवृत्त रहने वाली हो जायगी, (२) मुझे जीवन में उन्नति के लिये आवश्यक धन के लिये किसी प्रकार की चिन्ता न होगी (३) और जब मेरा शरीर शक्ति संपन्न होने से स्वस्थ होगा उस समय मुझे सारा संसार सुन्दर ही सुन्दर लगेगा। जैसा मन होता है, वैसा ही संसार प्रतीत होता है। मन उदास है तो संसार भी उदास लगता है—और मन प्रसन्न है तो संसार भी प्रसन्न दिखता है।

संसार के चक्कर में फंसे मनुष्य को, ऊंच-नीच से विक्षुब्ध होने पर, शतशः आशाओं के भंग से मन की आकुलता के होने पर सभी ऋतुएं परेशान सा करने वाली हो जाती हैं। उसके मुख से ऐसे ही वाक्य सुनाई पड़ते हैं कि 'क्या आफ़त की गर्मी है? अरे ये झड़ तो खत्म ही नहीं होता; पतझड़ की वायुओं ने क्या शुष्कता उत्पन्न कर दी है, सरदी तो मारे ही चली जाती है, ये शिशिर तो शीर्ण ही कर देगी, वसन्त क्या आयी—कफ के उपचय व प्रकोप से ये तो हमारा अन्त कर देगी।' मन की प्रसन्नता के अभाव में सभी ऋतुएं खराब लगती हैं और मनुष्य सदा रोता ही रहता है। परन्तु स्वास्थ्य आवश्यक धन व प्रभुनाम स्मरण से प्रसन्न अन्तःकरण वाला व्यक्ति कहता है कि:—
(१) [**वसन्त इत् नु रन्त्यः**]=अब निश्चय से वसन्त ऋतु कितनी ही रमणीय है। यह कुसुमों की आकर भूत ऋतु सारे संसार में ह्रास का विकास करने वाली है। सारा संसार कैसा खुला हुवा प्रतीत होता है। (२) [**ग्रीष्म इत् नु रन्त्यः**]=वसन्त के बाद अब ग्रीष्म भी कितनी ही सुन्दर है। शरीरों से पसीने की धाराओं का प्रवाह करती हुई यह शरीरों के शोधन में लगी है। सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से सब मल व दुर्गन्ध को भस्म करके ही तो रुकेगा। (३) [**वर्षाणि**]=सूर्य के प्रचण्ड ताप के बाद ये वर्षा की बौछारें अनन्त सुन्दर लग रही हैं। भस्मीभूत मल को ये प्रवाहित करके समुद्र में ही पहुंचा कर विश्राम लेंगी। (४) [**अनु**]=अब वर्षा की शीतल बौछारों के बाद [**शरदः**]=सबको शीर्ण करने वाली यह शरद् ऋतु भी कितनी ही सुन्दर है। वर्षा में निर्मर्याद बढ़े हुए मलिन जल अब फिर मर्यादाओं में आ गये हैं और कितने ही स्वच्छ प्रतीत होते हैं। मयूरों का उग्र मद भी शान्त हो गया है—वनस्पति की अतिमात्र उपज भी परिमित हो गई है। शरद् ऋतु ने सभी को विनीत सा कर दिया है। (५) [**हेमन्तः शिशिरः इत् नु रन्त्यः**]=शरद् ऋतु के शोधन के बाद शरीर को फिर से उपचित करती हुई ये हेमन्त और शिशिर ऋतुएं सुन्दर ही तो हैं। वस्तुतः प्रभु से समय-समय पर लायी गई ये ऋतुएं असुन्दर हो भी कैसे सकती हैं। प्रभु पूर्ण हैं, तो उनका बनाया यह संसार क्या अपूर्ण होगा? नहीं, सब सुन्दर है—यदि मेरा मन भी सुन्दर है तो। सो मुझे अपने मन को ही तो सुन्दर बनाकर 'वामदेव' बनना है—अपनी इन्द्रियों को निर्मल करके 'गोतम' बनना है।

भावार्थ—मनः प्रसाद को सिद्ध करके मैं संसार में प्रसाद को—रमणीयता को देखने वाला बनूं।

संसार का निर्माता प्रभु

३ १ २   ३   १ २   ३ २ ३ १ २   १र
सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स
२र ३ १ २ ३ १ २   ३ २
भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥३॥
॥६१७॥

एक छोटी सी घड़ी का निर्माण करने वाला शिल्पी किस प्रकार कुशल व दिमाग वाला प्रतीत होता है। एक घड़े को बनाने वाला कुम्हार किस प्रकार आंख की शक्ति वाला है। किसी एक मामूली चीज के निर्माण करने वाले को भी किस प्रकार भगदौड़ करनी पड़ती है? इन सब चीजों के निर्माण करने वालों के मस्तिष्क चक्षु व पांवों की शक्ति का ध्यान करते हुए जब एक भक्त इस अनन्त से संसार के निर्माता का ध्यान करता है तो कह उठता है कि :—[**सहस्रशीर्षाः पुरुषः**]= वह प्रभु तो अनन्त सिरों वाला होगा। इस सारे ब्रह्माण्ड रूप पुर में निवास करने वाला (पुरि वसति) वह प्रभु कितने महान् मस्तिष्क वाला होगा? [**सहस्राक्षः**]=अनन्त उसकी आंखें होंगी और [**सहस्रपात्**]=अनन्त ही उसके पांव होंगे। क्या कोई ऐसा भी स्थान होगा जहां कि उस प्रभु की सोचने की शक्ति, देखने की शक्ति व चलने की शक्ति का अभाव हो। नहीं, वह तो सर्वत्र ज्ञानमय है, सर्वद्रष्टा है, तथा सर्वत्र गति की शक्ति वाला है। उस-उस प्राणी के मस्तिष्क में भी तो उसी प्रभु की शक्ति का अंश है, आंखों में उसी प्रभु की दर्शन शक्ति काम कर रही है और पांव में चलने की शक्ति भी तो उसी की दी हुई है।

इतना ही नहीं, वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड से भी तो सीमित नहीं हो गये। [**सः**]=वे प्रभु [**भूमिं**]= (भवतीति) इस उत्पन्न ब्रह्माण्ड को [**सर्वतः**]= चारों ओर से [**वृत्वा**]=आवृत करके [**दशांगुलम्**]=इस दशांगुल ब्रह्माण्ड को [**अत्यतिष्ठत्**] =लांघ करके विद्यमान हैं। गर्भ जैसे माता के एक देश में होता है उसी प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में है—वे प्रभु तो 'हिरण्यगर्भ' हैं—सारे ज्योतिर्मय पिण्डों को अपने गर्भ में लिये हुए हैं। यह सारा संसार तो उस प्रभु के सामने दशांगुल मात्र है। पंच तन्त्रात्माओं व पंचस्थूलभूतों का खेल होने से भी तो ये 'दशांगुल' है। प्रभु इस दशांगुल संसार से परे भी रह रहे हैं। जीव का हृदय भी दशांगुल कहलाता है—प्रभु का दर्शन जीव ने इस दशांगुल हृदय में ही तो करना है। प्रभु का यही 'परम परार्ध'=सर्वोत्कृष्ट निवासस्थान है।

इस प्रकार प्रभु का ध्यान करने वाला व्यक्ति प्रभु को नार-नरसमूह है अयन=निवासस्थान जिसका उस 'नारायण' के रूप में देखता है और स्वयं भी नरसमूह का शरण बनता हुवा 'नारायण' हो जाता है।

भावार्थ—नारायण का स्मरण करते हुए मैं नारायण ही बन जाऊं।

त्रिपाद् पुरुष

३   २   ३ २उ   ३   १ २ ३   १   २   ३ १ २ ३   १ २
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
२   ३   २   ३क   १र   ३ २ ३   २
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥४॥
॥६१८॥

वह परमातमा 'त्रिपात्' है—(त्रीन् जन्मजरामृत्यून् पातयति) जन्ममृत्युजरा से अतीत है, (त्रिषु कालेषु पद्यते प्राप्यते विद्यते) तीनों कालों में सदा रहने वाला है (त्रिषु लोकेषु पद्यते) तीनों लोकों में व्यापक है (त्रीणि ऋग्यजुषं साम च पादर्यात प्रापयति) ऋग्यजु साम रूप मंत्रों का ज्ञान देने वाला वह [**त्रिपात्**]=पुरुषः=सर्वव्यापक परमात्मा [**ऊर्ध्वः**]=क्लेश कर्म विपाक व आशयों से अपरामृष्ट हुवा-हुवा [**उदैत्**]=ऊपर उठता है। 'असक्तम्' वह इस संसार में सक्त नहीं है। यद्यपि वे प्रभु इस संसार में सक्त-सम्बद्ध नहीं है [**पुनः**]=फिर भी [**अस्य**]=इस त्रिपात् पुरुष की

[**पादः**]=(पद् गतौ) सारी क्रिया [**इह**]=इस त्रिगुणात्मक संसार में [**अभवत्**]=होती है। असक्त होते हुवे भी वे प्रभु 'सर्वभूत् चैव' सबका भरण करने वाले तो हैं ही। [**तथा**]=इसीलिये तो वे प्रभु [**विश्वङ्**]=(वि सु अञ्चति) सर्वतो व्याप्त हुए [**अशनानशने**]=चेतन और अचेतन खाने वाले और न खाने वाले—उभयविध जगत् को [**अभि**]=सब ओर से [**व्यक्रामत्**]=विक्रम के द्वारा अपने वश में स्थापित किये हुए हैं। प्रकृति तो पूर्ण परतन्त्र है ही, जीव भी कर्म करने में कुछ स्वतन्त्र होता हुवा भी फल भोग में परतंत्र ही है। किसी भी प्रकार की आसक्ति के न होने से ही उस प्रभु का शासन उत्कृष्टतम है। उस प्रभु के शासन में चलने पर मैं भी इस संसार में गतिशील रहता हुवा 'धर्मार्थकाम' तीनों ही पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला 'त्रिपात्' बनता हूं।

भावार्थ—त्रिपात् प्रभु का स्मरण करता हुवा मैं भी त्रिपाद् बनने का प्रयत्न करूं।

सर्वाधार प्रभु

१ २ ३ २उ ३ २ ३ २उ ३ १ २
पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
॥५॥६१९॥

[**इदं**]=यह [**सर्वं**]=सब कुछ [**यद्**]=जो [**भूतं**]=हो चुका है—सिद्ध है [**यत् च**]=और जो [**भाव्यम्**]=भविष्य में सिद्ध होना है वह सब [**पुरुषे एव**]=उस सारे ब्रह्माण्ड रूप पुर में निवास करने वाले प्रभु में ही है अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड प्रभु रूप आधार में ही स्थित है। सर्वभूत् तो वे प्रभु हैं ही, सबका भरण करने वाले वे ही तो हैं। 'हिरण्यगर्भ' होने से सब पदार्थों को उन्होंने गर्भ में धारण किया हुवा है।

[**सर्वा भूतानि**]=सब भूत [**अस्य**]=इस प्रभु के ही [**पादः**]=चतुर्थांशमात्र हैं अथवा उसी से गति दिये जा रहे हैं और अतएव उसी के पादाक्रान्त वशवर्ती हैं। [**अस्य**]=इस प्रभु का [**त्रिपाद्**]=जगद् से अश्लिष्ट 'सत् चित् आनन्द' स्वरूप [**अमृतं**]=अमृत है—अनिश्वर है और वह [**दिवि**]=सदा प्रकाश में है।

जिस दिन जीव यह समझ लेता है कि मैं उस प्रभु का ही 'पाद' हूं—उसी से गति दिया जा रहा हूं, उस दिन यह जीव सब क्रियाओं के अहंकार को छोड़कर प्रभु के त्रिपाद् रूप को धारण करने की योग्यता प्राप्त करता है। इसका जीवन भी सत्य, चैतन्यता व आनन्द को धारण करने वाला होता है।

भावार्थ—मैं प्रभु को अपने आधार के रूप में पहचानूं।

ईशान

१ २. ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।
३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥६॥
६२०॥

जितना फैला हुवा अनन्त सा यह ब्रह्माण्ड है [**तावान्**]=उतनी ही [**अस्य महिमा**]=इस सर्वाधार प्रभु की महिमा है। 'यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमद् ऊर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्'=जहां-जहां विभूति थी व ऊर्जित है, वह सब प्रभु की विभूति का अंश ही तो है। सूर्य-चन्द्र-तारे सभी उस प्रभु की दीप्ति से हो तो दीप्त हो रहे हैं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति)। वस्तुतः हिमवान् पर्वत, समुद्र, सम्पूर्ण पृथिवी ये सब उस प्रभु की महिमा का कीर्तन कर रहे हैं। वह [**पुरुषः**]=सारे ब्रह्माण्ड में निवास करने वाला प्रभु [**तवः च**]=उस सारे ब्रह्माण्ड से भी [**ज्यायान्**]=बहुत बड़े हैं। बड़े क्या वे तो अनन्त हैं, वह सान्त जगत् उस प्रभु के एकदेश में ही तो है। उस प्रभु की महिमा का क्या कोई अन्त है?

इस जन्ममृत्यु वाले संसार के जहां वे प्रभु

मालिक हैं वहां [**अमृतत्वस्य उत**]=मोक्षलोक के भी वे [**ईशानः**]=ईशान हैं। मुक्तात्मा भी स्वच्छन्दता से उस प्रभु में विचरते हुए भी एकदम अनायत्त नहीं है—वे नये जगत् के व्यापार को करने में समर्थ नहीं। उन्हें यह स्वतन्त्रता नहीं कि एक नये सूर्य को करके अलग ही दुनिया बना डालें। उस प्रभु की व्यवस्था के अनुसार परामुक्ति की समाप्ति पर उन्हें इहलोक में लौटना भी तो है।

[**यद्**]=जो कुछ [**अन्नेन**]=अन्न के द्वारा [**अतिरोहति**]=बढ़ता है उस शरीरादि का भी प्रभु ही ईशान हैं। मुझे तो उन्नति के साधन के लिये ये शरीर प्रभु ने साधक रूप से प्राप्त कराये हैं। इन पर मेरा स्वामित्व नहीं—स्वामित्व तो उस प्रभु का ही है। इस तत्व को समझ लेने पर ही मैं (निर्भयः निरहंकारः) होकर शान्ति का लाभ करने वाला बनूंगा।

भावार्थ—मैं इस तत्व को समझूं कि मेरे शरीर के भी ईशान वे प्रभु ही हैं।

विराट् की उत्पत्ति

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः। स
३ १र २र ३ २उ ३ १ २ ३ २
जातो अत्यरिच्यत पश्चादभूमिमथो पुरः ॥७॥
॥६२१॥

प्रभु ने जब प्रकृति समुद्र से ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया [ततः]=तो प्रारम्भ में एक चमकता हुवा [**विराट्**]=विराट् पिण्ड [**अजायत**]=उत्पन्न हुवा। इसी को मनु ने 'तदण्डं अभवद् ह्यैमं सहस्रांशुसमप्रभम्' इन शब्दों में 'सूर्य के समान चमकता हुवा स्वर्ण पिण्ड' नाम दिया। यही सांख्य का 'महानर' है और वैज्ञानिकों का नेब्युला (Nebula) है।

[**विराजः अधिः पूरुषः**]=इस विराट् पिण्ड का अधिष्ठाता वह सर्वव्यापक प्रभु ही था। गीता में '**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**' इन शब्दों में प्रभु से अधिष्ठित प्रकृति से ही चराचर की उत्पत्ति का उल्लेख है। [**सः**]=यह प्रभु से अधिष्ठित विराट् पिण्ड [**जातः**]=जब प्रादुर्भूत हुवा तो [**अति**]=अतिशयेन [**अरिच्यत**]=विरेचन सा करने वाला हुवा और [**पश्चात्**]=इस प्रक्रिया के होने पर [**भूमिम्**]=प्राणियों के निवासस्थान भूत (भवन्ति भूतानि यस्याम्) लोकों को [**अथो**]=और [**पुरः**]=पालन पूरण करने वाले सभी पदार्थों को उसने अपने में से विरिक्त कर डाला। अर्थात् लोकलोकान्तर और उनमें जीवन के लिये सब आवश्यक पदार्थ उत्पन्न हुए।

भावार्थ—हम प्रभु की निर्मित इस सृष्टि के निर्माण को समझें और उसकी महिमा को इसमें देखने का प्रयत्न करें।

उत्तम पालक द्यावा पृथिवी

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३
मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथा-
१ २ ३ १र २र ३ १ २ १ २
ममितमभि योजनम्। द्यावापृथिवी भवतं
३ १र २र ३ १ २
स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥८॥६२२॥

एक व्यक्ति जितना-जितना विचारता है उतना-उतना सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की रचना कौशल की महिमा का अनुभव करता है। उसे प्रत्येक व्यवस्था में प्रभु की कृपा दृष्टिगोचर होने लगती है। वह कहता है कि ऐ [**द्यावा पृथिवी**]=द्युलोक और पृथिवी लोको ? तदन्तर्गत सब पदार्थो! [**वां**]=आपको [**सुभोजसौ**]=बड़ा उत्तम पालन करने वाला [**मन्ये**]=मानता हूं। प्रकाश व वृष्टि के द्वारा द्युलोक पृथिवी में उन अन्नों व फल फूलों को जन्म देता है जिससे कि हमारा बड़ा सुन्दर पोषण होता है। वस्तुतः ये 'द्यावा पृथिवी' हमारे 'माता-पिता' ही तो हैं। माता-पिता जैसे पुत्र का पूर्ण पोषण करते हैं उसी प्रकार ये पृथिवी और द्युलोक हमारा पोषण करते हैं। 'इनमें हमारे निवास के लिये किसी प्रकार

की कमी हो' ऐसी बात नहीं। [**ये**]=जो [**अमितं**]=अनन्त [**अभियोजनम्**]=कोसों तक चारों ओर [**अप्रथेथाम्**]=फैले हुए हैं। 'हमारे लिये कभी ये कम पड़ जायेंगे' ऐसा खतरा नहीं है। पृथिवी 'वसुन्धरा' है—सभी के लिये पर्याप्त वसु इसमें विद्यमान है। यह 'रत्नगर्भा' है—यहां कोई रत्नों की कमी है ?

'वामदेव गौतम' प्रार्थना करता है कि [**द्यावापृथिवी**]=द्युलोक और पृथिवीलोक [**स्योने**]=हमें सुख के देने वाले [**भवतम्**]=हों। इनसे हमें किसी प्रकार का कष्ट न हो। ये कष्ट देने वाले थोड़े ही हैं ? पर अज्ञानवश जब हम इनका गलत प्रयोग करते हैं तो दुःख के भागी होते हैं। इनके (सुचे तुना) उत्तम ज्ञान से ही इनका यथायोग करते हुए हम सुख के भागी होते हैं।

[**ते**]=वे द्यावा पृथिवी [**नः**]=हमें [**अहंसः**]=पाप से व कष्ट से [**मुञ्चतम्**]=मुक्त करें। जब अज्ञानवश हम इनमें फंस जाते हैं और इनका अन्याय से संग्रह करने लगते हैं और इनके अतियोग में प्रसित हो जाते हैं तो हम दुःखभागी हुवा करते हैं। सुख को देने दाले द्यावा पृथिवी हमारे दुःख का कारण हो जाते हैं। पर यदि हम 'वामदेव'=सुन्दर दिव्यगुणों वाले 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियों वाले बनेंगे तो कभी भी अंहस्=कष्ट के भागी न होंगे। हम द्यावा पृथिवी को 'सुभोजसौ'=उत्तम पालन करने वालों के रूप में ही देखें। और इनकी अनन्तता का ध्यान करते हुए इनमें परस्पर शान्ति से निवास करने वाले बनें। ये इतने विशाल हैं—यहां सभी के लिये स्थान है—लड़ने की आवश्यकता ही क्या ?

भावार्थ—द्यावा पृथिवी के 'सुभोगरुच' का हम ध्यान करें।

कौन स्तुति करते हैं ?

१ २ ३ १२ ३१ २ ३२३ १२ १
हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युतो ते हरितौ हरी। तं
२ ३१२ ३१२ ३१२
त्वा स्तुवन्ति कवयः परुषासो वनर्गवः ॥६॥
६२३॥

ऐ [**इन्द्रः**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ! [**हरी**]=मेरी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां [**ते**]=तेरे [**श्मश्रूणी**]=(श्म=शरीर, श्रि=आश्रय करना) शरीर में आश्रय करने वाली हैं। इन्द्रियां 'हरी' कहलाती हैं चूंकि ये मनुष्यों का हरण करने वाली हैं—उन्हें इधर-उधर भटकाने वाली हैं और वश में होने पर ये उनके अज्ञान व कष्टों का हरण-निवारण करने वाली हैं। एक भक्त प्रयत्न करता है कि उसकी इन्द्रियाँ प्रभु में ही निवास करें और इधर-उधर न भटकें। वह भक्त कहता है कि [**उत उ**]=और निश्चय से [**हरी**]=ये मेरी इन्द्रियां [**ते हरितौ**]=तेरी ओर मुझे ले चलने वाली हैं। वस्तुतः सारी साधना यही तो है कि हम इन्द्रियों को विषयों से हटाकर उस प्रभु में स्थिर करने का प्रयत्न करें—अक्षु बनकर प्रत्यगात्मा को देखने की कोशिश करें।

ये भक्त [**त्वां**]=तुझे [**स्तुवन्ति**]=स्तुति करते हैं। कौन ?

(१) [**कवयः**]=जो क्रान्तदर्शी हैं—चीजों के असली स्वरूप को देखने का प्रयत्न करते हैं। संसार में परिवर्तन को अवश्यम्भावी समझते हुए उदास नहीं होते। चीजों की नश्वरता को समझ कर उनमें उलझते नहीं। आपात् रमणीयता ही तो उलझने वाली होती है—ये गहराई तक जाकर वस्तु के तत्व को जानते हैं, और उसका ठीक ही प्रयोग करते हैं। चीजों का ठीक प्रयोग भी तो उस प्रभु का स्तवन व आदर ही है।

(२) [**पुरुषासः**]=प्रभु का स्तवन वे करते हैं जो कि पुरुष हैं—जिनमें 'पौरुष' है। प्रभु का

भक्त कभी अकर्मण्य नहीं होता । भक्ततम वे ही तो हैं जो 'सर्वभूतहितेरत' हैं। प्रभु का हमारे में निवास 'पौरुष' के ही रूप में है । यदि मेरे में पौरुष नहीं तो प्रभु का भक्त क्या ?

(३) [**वनर्गव:**]=(वन=संभक्ति=संविभाग, गावः=इन्द्रियाणि)—प्रभु भक्त वे हैं जिनकी इन्द्रियां संविभाग का पाठ पढ़ती हैं। वे व्यक्ति जो संविभागपूर्वक खाते हैं केवल अपने लिये ही नहीं पकाते—प्रभु के भक्त हैं । प्रभु भक्त का संसार ही कुटुम्ब होता है । ऐसी स्थिति में वह संविभाग पूर्वक क्यों न खायेगा ?

एवं प्रभु भक्त क्रान्तदर्शी होता हुवा, चीजों को ठीक रूप में देखता हुवा सदा पौरुषमय जीवन वाला होता है और पौरुष प्राप्त सम्पत्ति का संविभागपूर्वक सेवन करता है। यह व्यक्ति 'वामदेव'=सुन्दर दिव्यगुणों वाला होता है और 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रियों वाला बनता है ।

भावार्थ—मैं कवि पुरुष व वनर्गु बनकर प्रभु भक्त बनूं ।

वर्चस् की प्राप्ति

२उ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
यद्वर्च्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्च्चो गवामुत ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्च्चस्तेन मां सं सृजामसि
॥१०॥६२४॥

ऐ प्रभो ! [**यत्**]=जो [**वर्चः**]=तेज [**हिरण्यस्य**]=वीर्यशक्ति का है [**तेन**]=उससे [**मा**]=मुझे [**संसृजामसि**]=संयुक्त करिये। यह शक्ति रोगों को दूर कर रमणीयता को प्राप्त करने से सचमुच 'हिरण्य' है। और वस्तुतः यही मूलशक्ति है—इसी पर अन्यशक्तियों का निर्भर है। [**वा**]=और [**यद्**]=जो [**वर्चः**]=शक्ति [**गवाम्**]=इन्द्रियों की है उससे मुझे मुक्त करिये। मेरी एक-एक इन्द्रिय आजीवन सशक्त बनी रहे। अपने-अपने कार्यों को करने में इन्द्रियों की शक्ति अन्त तक ठीक बनी रहे। संक्षेप में—शरीर नीरोग हो और इन्द्रियां सबल्य [**उत**]=शरीर व इन्द्रियों की शक्ति के साथ जो [**सत्यस्य**]=सत्य का तेज है वह मेरे मन को सबल बनाये और [**ब्रह्मणो वर्चः**]=ज्ञान का तेज मेरे विज्ञानमय कोश को उज्ज्वल करे ।

गत मन्त्र में प्रभु के स्तोता का उल्लेख था। वह अपने जीवन को जिन वर्चस् व तेजों से अलंकृत करता है उनका वर्णन प्रस्तुत मंत्र में है । 'अनुष्टुप्' छन्द के ये मंत्र संकेत कर रहे हैं कि इस प्रकार की स्तुति के परिणामरूप ही यह 'वामदेव गौतम, अपने सब शोकों को समाप्त (stop) करने वाला होता है । 'शरीर निरोग है, इन्द्रियां शक्तिशाली हैं, शक्ति के द्वारा मन पवित्र हो गया है और ज्ञान से मस्तिष्क उज्ज्वल है, इससे अधिक और चाहिये ही क्या ?

भावार्थ—मुझे शक्ति व इन्द्रियों की संसिक्तता के साथ सत्य व ज्ञान का नेत्र प्राप्त है ।

वृत्रों में शत्रु का पराभव

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३क २र २ ३ १
सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज ईशे ह्यस्य महतो
२ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
विरप्शिन् क्रतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं
३ २ ३ १ २ ३ १ २
वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः ॥११॥६२५॥

ऐ [**इन्द्र**]=परमैश्वर्यशाली प्रभो ? [**नः**]=हमें [**तत् सहः**]=वह बल-वह सहनशक्ति-व आनन्दमय कोश का बल [**दद्धि**]=दीजिये और [**ओज**]=मानसवत दद्धि=प्राप्त कराइये । ऐ प्रभो ? आप सहस् और ओज के पति हैं—मुझे भी सहस् व ओज दीजिये। 'सहस्' के द्वारा ही मेरा जीवन आनन्दमय होगा—इसके बिना जीवन के आनन्द का संभव नहीं। सहस् के अभाव में छोटी-छोटी बातें मेरे जीवन को क्षुब्ध करने वाली हो जाती हैं। मैं प्रतिक्षण खिसा सा रहता हूं और

मेरा जीवन निरानन्द हो जाता है। मानस ओज के अभाव में मेरा किसी प्रकार का उत्थान नहीं होता—सभी उन्नति इस मानस बल पर ही निर्भर है। ओज 'उन्नति' का हेतु है, 'सहस्' आनन्द का। ओज और सहस् से मेरा जीवन उन्नति पथ पर चलता है और आनन्दमय होता है। ऐ प्रभो ? आप [**हि**]=निश्चय से [**अस्य**]=इस [**महतः**]=महान् ब्रह्माण्ड के [**ईशे**]=मालिक हैं—ईश्वर हैं। प्रकृति रूप बीज से बढ़कर यह संसार रूप वृक्ष बनता है सो बढ़ने के कारण यह 'महत्' कहलाता है। प्रकृति के विकास की प्रथम सीढ़ी 'महत्' ही है (प्रकृतेर्महान्) दर्शनों की परिभाषा में 'समष्टि बुद्धि' को भी महान् कहा जाता है—प्रभु ही समष्टि रूप में बुद्धि तत्व के ईश हैं। ये बुद्धि के ईश प्रभु [**विरप्शिन**]=हैं—सृष्टि के प्रारम्भ में ही विशेष रूप से विविध विज्ञानों का उपदेश देने वाले हैं। यह निर्मल वेद ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में ही तो उच्चारण किया गया है। (तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्र मुच्चरत्)। इस प्रकार वामदेव गौतम प्रभु से 'सहस्' ओज, व ज्ञान' की प्रार्थना करता है। और कहता है कि—

(१) [**क्रतुं न नृम्णं**]=(न=इव) पुरुषार्थ के अनुसार धन बुद्धि हमें प्राप्त कराइये। नृम्ण शब्द सामान्यतः सुख का वाचक है—सुख का साधन होने से धन भी 'नृम्णं' शब्द का वाच्य हो जाता है। यदि धन में हम उलझते नहीं तो यह सुख का साधन तो बना ही रहता है—और धन में कौन नहीं उलझता जो कि धन को 'ऋतु न'=पुरुषार्थ के अनुपात में ही चाहता है—'सुपथा'=उत्तम मार्ग से ही कमाता है। और साथ ही [**'स्थविरं च वाजम्**]=ऐ प्रभो ? आप हमें स्थिर सदा वर्धमान त्याग की भावना को दीजिये (वाज=त्याग, स्थविर=स्थिर या सदा वर्तमान)। यह त्याग की भावना मुझे कभी धन का गुलाम नहीं बनाती—मैं धन का मालिक बना रहता हूं। 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'=हम धनों के पति बनें न कि अर्थस्य पुरुषोदासः'=इन शब्दों के अनुसार धन के दास हो जांय।

जिस समय मनुष्य धन का दास बन जाता है उस समय यह धन उसके ज्ञान का आवरण (परदा) बन जाने के कारण 'वृत्र' (ढकने वाला) कहलाता है—काम=विलास की इच्छा ही तो उसे ऐसा कराती है और विलास की इच्छा ही 'महान् वृत्र, है। एवं अर्थ और काम में एक ऐसा तत्व है जो कि हमारा नाश करने वाला होता है। इस नाशक तत्व को ही 'शत्रु कहते हैं—(which shatters), मंत्र में प्रार्थना है कि [**वृत्रेषु**]=इन ज्ञान पर परदा डाल देने वाले अर्थ और काम में [**शत्रून**]=जो नाशक तत्व हैं उन्हें [**'सहना'**]=सहन करने वाले—परभूत करने वाले [**नः**]=हमें [**कृधवी**]=करिये। नाशक तत्व को पराभूत करके हम 'अर्थ और काम, को शत्रु=रहने दें अपितु पुरुषार्थ में परिवर्तित कर दें। 'धर्म, अर्थ काम, मोक्ष' ये चतुर्विध पुरुषार्थ ही तो हैं, परन्तु अर्थ और काम तभी तक पुरुषार्थ रहते हैं जब तक कि वे धर्म और मोक्ष से आवृत्त रहें। मनुष्य धर्म पूर्वक इनका अर्जन करे, और मोक्ष को अपने जीवन का ध्येय बनाये। धैर्य पूर्वक अर्थ को कमाकर उचित कामों-आनन्दों-का सेवन करता हुवा ही पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे सहस्, ओज, ज्ञान, पुरुषार्थानुसार धन, स्थिर त्याग की वृत्ति तथा अर्थ और काम से आसक्ति से विरति प्राप्त कराइये।

सात्विक गोदुग्ध का सेवन

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
सहर्षभाः सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
बिभ्रतीर्द्व्यूध्नीः। उरुः पृथुरयं वो अस्तु
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
लोक इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त ॥१२॥

॥६२६॥

गत मन्त्र की प्रार्थना को कार्यान्वित करने के लिए 'वामदेव गौतम' प्रस्तुत मन्त्र में उत्तम गौवों के अभ्युदय का उल्लेख करता है ताकि उसके सेवन से सात्विक ज्ञान व सात्विक भक्त का हमारे में विकास हो। यह प्रार्थना करता है कि ऐ गौवों [**सहर्षभाः**]=उत्तम ऋषभों-बैलों सहित तथा [**सहवत्साः**]=उत्तम बछड़ों के साथ [**उदेत**]=उदय को प्राप्त होवो। गौवों की उत्तम नसल के लिये उत्तम बैलों की आवश्यकता स्पष्ट ही है। गौवों में दुग्ध प्रवर्तन ठीक होता रहे उसके लिये बछड़ों का होना आवश्यक है। गौवों! आप [**विश्वा रूपाणि**]=सब मनुष्यों को-प्राणियों को [**विभ्रती**]=धारण करती हुई [**द्व्यूध्नी**]=दुगने ऊधस् वाली आप उदित होवो। गौवों का दूध पूर्ण भोजन के रूप में बहुत ही उत्तम प्रकार से सब मनुष्यों का धारण करता है और यदि हम गौवों का उचित ध्यान करें तो वे दुगना दूध देने वाली हो जाती हैं अर्थात् उनका दूध पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया जा सकता है। इनके दूध के बढ़ाने के लिए ही यह आवश्यक है कि इनको सदा घर में ही न बांधे रखा जाय। मन्त्र में कहते हैं कि ऐ गौवों! [**व**]=तुम्हारा: [**अयं**]=यह [**उरुः**]=विशाल [**पृथुः**]=विस्तृत [**लोकः**]=लोक [**अस्तु**]=हो। अर्थात् इन्हें खुले आकाश में शुद्ध वायु में भ्रमण करने वाली गौवों का दूध अधिक प्राणशक्ति वाला होता है। इन गौवों को पीने के लिए पानी भी अत्यन्त शुद्ध ही मिलना चाहिए। [**सुप्रपाणा**]=सुख से उत्तम पीने योग्य [**इमाः आपः**]=ये जल [**इह स्त**]=यहां होवो। गौवें इच्छानुसार शुद्ध जल पी सकें। यह व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार प्रस्तुत मंत्र में ज्ञान व भक्ति के उत्कर्ष के लिए उत्तम दूध की प्राप्ति के निमित्त गौवों के लिये निम्न व्यवस्थाओं के करने का संकेत है :—

(१) उत्तम नस्ल के बैल हों, तथा बछड़े भी उत्तम स्थिति में हों।

(२) खुली हवा में विस्तृत आकाश के नीचे उन्हें भ्रमण का अवसर प्राप्त हो।

(३) उनको शुद्ध जल सुगमता से प्राप्त हो सके।

इन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य मंत्रों में 'सूयवसात्'=उत्तम चरी (fodder) की व्यवस्था का उल्लेख है। जैसा चारा व पानी होगा तदनुसार ही तो दूध का निर्माण होगा।

भावार्थ—मानव उत्कर्ष के लिये गौवों का उत्कर्ष आवश्यक है।

* * *

।। ५ ।। ऋषिः—१ शतं वैखानसाः; २ विभ्राट् सौर्यः; ३ कुत्सः; ४—६ सार्पराज्ञी; ७—१४ प्रस्कण्वः काण्वः ।। देवता—१ अग्निः पवमानः; २—१४ सूर्यः ।। छन्दः—१, ४—१४ गायत्री; २ जगती; ३ त्रिष्टुप् ।। स्वरः—१, ४—१४ षड्जः; २ निषादः; ३ धैवतः ।।

पवमान के प्रध्यान से पवित्रता

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
३ १ २ ३ १ २
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ।।१।।६२७।।

मानव जीवन में उत्पन्न होने वाली सैकड़ों बुराईयों को उखाड़ कर नष्ट कर देने वाला व्यक्ति 'शतं वैखानसः' हैं (शतं=सौ, वि=विशेष रूप से खन्=खोद डालना)। यह प्रभु से आराधना करता है कि [**अग्ने**]=सब बुराइयों को भस्म

करके उन्नति के सिद्ध करने वाले प्रभो ? आप [**नः**]=हमारे [**आयूंषि**]=जीवनों को [**पवसे**] =पवित्र करते हो। प्रभु स्मरण से आन्तर शुद्धि अनुभव गम्य है। ऐ प्रभो ? आप [**ऊर्जम्**]=बल और प्राणशक्ति को [**च**]=तथा [**इषम्**]=प्रेरणा को प्रकृष्टि-गति को [**नः**]=हमें [**आसुव**]=प्राप्त कराइये। आप की कृपा से हमारे अन्दर शक्ति हो और उस शक्ति को हम उत्कृष्ट क्रियाओं में ही नियुक्त करें। आप कृपया [**दुच्छुनां**] दुर्वृत्ति को [**आरे**]=हमारे से दूर [**बाधस्व**]=पीड़ित करिये अर्थात् हमारे से अशुभ वृत्ति को दूर भगा दीजिये। 'दुच्छुना' शब्द दुर्वृत्ति का नाम है चूंकि इसे दुष्ट भी उपायों से अपनी ही सुख-साधन अभीष्ट होता है। औरों को पीड़ित करके भी यह अपनी मौज को सिद्ध करने का यत्न करता है (दुत्=दुष्ट, शुनम्=सुख)। परन्तु प्रभु कृपा होने पर मनुष्य को उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है—अशुभवृत्तियां दूर होती हैं, शरीर में शक्ति का संचय होता है और जीवन पवित्र हो जाता है। एक-एक करके सब बुराईयां दूर हो जाती हैं और हम सचमुच 'शनं बैखानसः' बन जाते हैं।

बाह्य अग्नि धातुओं के मलों को दूर कर देती है—प्राणायाम की अग्नि इन्द्रियों के मलों का अपाकरण करती है और यह प्रभु जो कि 'अग्नि पवमान' हैं हमारे जीवनों को सचमुच पवित्र कर देते हैं।

भावार्थ—उस पवमान प्रभु के प्रध्यान से मेरे पाप दूर हों और मेरा जीवन पवित्र हो जाय।

जीवन यात्रा के ४ प्रयाण

३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
विभ्राड् बृहत् पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दध-
३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
द्यज्ञपतावविह्रुतम्। वातजूतो यो अभिरक्षति
१ २ ३ १ २ ३ १र २र
त्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा वि राजति
॥२॥६२८॥

ब्रह्मचर्य—मानव जीवन की यात्रा में प्रथम प्रयाण 'ब्रह्मचर्याश्रम' कहलाता है। इसमें मानव जीवन के कर्त्तव्य निम्न शब्दों से संकेतित हो रहे हैं (१)[**विभ्राट्**]यह विशेष रूप से (भ्राज=दीप्ति) दीप्त होने वाला चमकने वाला बने। आचार्य द्वारा इसकी ज्ञानाग्नि पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूपी तीन समिधाओं से समिद्ध की जाती है और यह ब्रह्मचारी ज्ञान की दीप्ति से चमक उठता है। अथर्व में कहा है कि 'ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः' =समिधा से समिद्ध हुवा-हुवा ब्रह्मचारी आता है। इस आश्रम का मूल कर्त्तव्य 'ब्रह्म'=ज्ञान का 'चर' =भक्षण ही तो है (२) [**बृहत्**]=(बृहि वृद्धौ) ब्रह्मचारी ने सब दृष्टि कोणों से—शरीर-मन व बुद्धि' के विचार से – वृद्धि का संपादन करना है। (३)ज्ञान की दीप्ति के लिये यथा सब दृष्टिकोणों से वृद्धि के लिये ही ब्रह्मचारी [**'सोम्यं मधु'**]=सोम सम्बन्धी मधु को [**पिबतु**]=पान करे। सोम= semen=वीर्य का नाम है, आहार का सार होने से यह 'मधु' है। (मधु शहद) भी तो सब पुष्प रसों का सार ही तो होता है। इस वीर्य रक्षा से ही यह अपनी ज्ञानाग्नि को समिद्ध करेगा। इसी से रोग कृमियों को नष्ट करके यह शरीर को निरोग बनायेगा और वीर्यवान् होने पर ही द्वेष की भावना से ऊपर उठकर यह निर्मल मन वाला होगा।

गृहस्थ—अब यह ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करता है। यहां इसने 'ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ' नामक पांच यज्ञों को करते हुए चलना है। परन्तु इन यज्ञों का स्वयं गर्व न करके इसने उस प्रभु को ही इन यज्ञों के पति के रूप में देखना है। प्रभु कृपा से ही तो यह पूर्ण होते हैं, वे प्रभु ही 'यज्ञस्व देवं'=यज्ञों के प्रकाशक हैं 'होतारम्'=वस्तुतः 'होता' प्रभु ही हैं। [**यज्ञपतौ**]=उस यज्ञों के रक्षक प्रभु में **अविह्रुतम्**]=कुटिलता शून्य [**आयुः**]=जीवन

को [**दधत्**]=धारण करता हुवा यह गृहस्थ जीवन यात्रा में आगे बढ़े। एवं, गृहस्थ के लिये तीन बातें हैं (१) यज्ञमय जीवन बिताये (२) यज्ञों का गर्व न कर प्रभु को ही यज्ञपति समझे (३) कुटिलता से दूर रहे।

वानप्रस्थ—अब यह गृहस्थ 'वनस्थ' बनता है। वानप्रस्थ वह है [**यः**]=जो [**वातजूतः**]=प्राणों से प्रेरित हुवा-हुवा [**त्मना**]=आत्मना=अपने मन के द्वारा [**अभिरक्षति**]=अपनी सर्वतः रक्षा करता है। प्राणायाम की नियमित साधना से यह चित्त वृत्ति का निरोध करता है और इस निरुद्ध चित्त के द्वारा यह अपनी रक्षा करता है। 'मन एव मनुष्याणाँ कारणं बन्धमोक्षयोः'=मन ही तो मनुष्यों के बन्ध व मोक्ष का कारण है। एवं मन मित्र भी है, शत्रु भी। मन को हमने वश में कर लिया तो यह मित्र है और मन के हम वश में हो गये तो यह शत्रु है। इस मन की वृत्ति को वशीभूत करने के लिए साधकतम 'प्राणायाम' है। एवं वनस्थ (१) प्राणायाम करता है (२) इसके द्वारा चित्तवृत्ति को वश में करने का प्रयत्न करता है (३) रक्षित चित्त के द्वारा आसुर वृत्तियों के आक्रमण से अपनी रक्षा करता है।

ब्रह्माश्रमी—उपरोक्त साधना के बाद आज यह मानव जीवन—यात्रा को अन्तिम मंज़िल में प्रवेश करता है। और यहां [**प्रजाः**]=प्रजाओं का [**पिपर्ति**]=पालन व पूरण करता है। उनको प्रभु का उपदेश देता हुवा कर्तव्यपथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। उनके दोषों को उचित प्रेरणा द्वारा दूर करने का प्रयत्न करता है। और यह [**बहुधाः**]=बहुतों का धारण करने वाला [**विराजति**]=विशेष रूप से दीप्ति होता है। इसका जीवन निजू जीवन नहीं रहा। इसने प्रजाओं से अपने को अभिन्न कर दिया है, उनके पालन में ही यह अपना पालन अनुभव करता है। और सब प्रकार के स्वार्थ से ऊपर उठ जाने के कारण यह विशेष चमक वाला होता है। सब के पालन करने वाले सूर्य की तरह चमकने से यह 'विभ्राट् सौर्यः' कहलाता है। और इस प्रकार अपनी जीवन-यात्रा को सफलता के साथ समाप्त करता है।

भावार्थ—हम अपनी जीवनयात्रा के अन्त में (१) प्रजाओं का पालन व पूरण करने वाले हों, (२) केवल अपना धारण न कर बहुतों का धारण करने वाले बनें (३) विशेष शोभा वाले हों अथवा (विराजति) अत्यन्त नियमित जीवन वाले हों (Well Regulated)

ब्रह्माश्रमी का ब्रह्मोपस्थान—उप-स्थान

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य
१ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्त-
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
रिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥
॥६२६॥

गतमंत्र का ब्रह्माश्रमी प्रजापालन के लिए सर्वत्र प्रवचन करता हुवा उस प्रभु का स्मरण इन शब्दों में करता है कि (१) [**देवानां**]=सूर्यादि सब देवों का [**चित्रं अनीकं**]=अद्भुत बल सब देवताओं को देवत्व प्राप्त कराने वाला वह प्रभु [**उदगात्**]=मेरे हृदयान्तरिक्ष में उदित हुवा है। (२) वह प्रभ [**मित्रस्य**]=द्युलोकस्थ सूर्य का [**वरुणस्य**]=अन्तरिक्षसमुद्र स्थित 'चन्द्र' का और [**अग्नेः**]=पृथिवीलोक में स्थित अग्नि देव का [**चक्षुः**]=प्रकाशक है। ये सब देव उस प्रभु के प्रकाश से ही तो प्रकाशित हो रहे हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'=उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं। (३) वे प्रभु [**द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं**]=द्युलोक पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक को [**आ प्राः**]=समन्तात् व्याप्त किए हुए हैं—वह प्रभु सर्वत्र परिपूर्ण हैं। (४) [**सूर्णः**]=

सब जड़ जगत् को वे गति दे रहे हैं और चेतन-जगत् को प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। (५) वे [**जगतः तस्थुषः च**]=जंगम और स्थावर की [**आत्मा**]=आत्मा हैं। वस्तुतः यह सारा चराचर जगत् उस प्रभु का शरीर ही तो है—वह सब के अन्दर स्थित हुवा-हुवा प्रभु अन्तर्यामिरूपेण इस सारे जगत् का नियमन कर रहा है।

इस प्रकार प्रभु का उपस्थान करने वाला यह ब्रह्माश्रमी सर्वत्र उस प्रभु की महिमा को देखता है, अपने हृदय में भी उसी को व्याप्त अनुभव करता है। उसकी अन्तर्य्यामिता को अनुभव करने के कारण यह सब दुर्भावनाओं को कुचलने वाला ब्रह्माश्रमी 'कुत्स' कहलाता है (कुथ् हिंसायाम्) सद्भावों के कारण इसके अंग-प्रत्यंग का भी सद्भाव होता है और यह 'आंगिरस' बनता है।

भावार्थ—सर्वत्र अन्दर-बाहर प्रभु की व्याप्ति का अनुभव करते हुए हम दुर्भावनाओं व दुर्बलताओं से ऊपर उठें।

जिज्ञासु

१र　　२र　　३ १ २　　३ १ २　３ २
आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
३ १ २　　३ १　२
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥४॥६३०॥

[**अयं**]=यह [**गौः**]=(गच्छति इति) पुरुषार्थशील—आलस्य से सदा दूर रहने वाला—'सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्'=विद्यार्थी और सुख का संबन्ध नहीं है—इस तत्व को समझने वाला, [**पृश्निः**]=(प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) ज्ञानप्राप्ति की प्रबल इच्छा वाला [**आ**]=समन्तात् [**अक्रमीत्**]=क्रमण करता है। वेद में पांचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्ति करने के कारण जीव को 'पञ्चौदनः' कहा है। यह पंचौदन 'पञ्चधा विक्रयताम्' 'पांचों ज्ञानेन्द्रियों से पुरुषार्थ करे' ऐसा वेद का आदेश है। यह पृश्नि=जिज्ञासु ऐसा ही करता है। ज्ञान 'परिप्रश्नेन'=(all-round questionlary) नानाविध प्रश्नों के करने से ही तो प्राप्त होता है। यह पृश्नि [**पुरः**]=सर्वप्रथम [**मातरं**]=वेदमाता को (स्तुता मयावरदा वेनमाता=प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्) [**असदत्**]=प्राप्त करता है—उसे समझने की कोशिश करता है। [**च**]=और इस वेदज्ञान के मार्ग से [**पितरं**]=उस रक्षक प्रभु को यह [**प्रयन्**]=प्रकर्षेण प्राप्त होता है, जो प्रभु कि [**स्वः**]=स्वयं प्रकाशमान हैं।

प्रभु की प्राप्ति की कामना वाले को निम्न बातें करनी चाहियें—

(१) गौः=वह गतिशील हो, 'पौरुषं नृषु'=मनुष्यों में पौरुष ही तो प्रभु का रूप है।

(२) पृश्निः=उसके अन्दर प्रबल जिज्ञासा हो। जिज्ञासु भक्त ही अन्त में ज्ञानी भक्त बन पाता है।

(३) आ अक्रमीत्=यह सब ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे। इस ज्ञान से ही इसे कण-कण में प्रभु की महिमा के दर्शन होंगे।

(४) असदत् मातरं पुरं=यह सर्व प्रथम वेद-माता को अपनाये 'सर्वे वेदाः यत् पद मामनन्ति'=सारे वेद उस प्रभु का ही प्रतिपादन करते हैं। ये वेदवाणी माता की तरह कल्याणी है—यह माता की ही तरह हमारे जीवन का निर्माण करती है। और हमारे ज्ञान को बढ़ाकर यह हमें प्रभु-दर्शन कराती है।

(५) अब हमें उस प्रभु का दर्शन होता है—वह ज्योतिर्मय रूप में हमारे हृदयों में प्रकट होता है। हमें कदम-कदम पर उस प्रभु के रक्षण विधानों का आभास मिलता है और हम उसे 'पिता' के रूप में देखते हैं।

प्रस्तुत मंत्र का ऋषि देवता 'आत्मा' है। इस आत्मा का दर्शन उसी को होता है जो कि अपने

जीवन को 'सार्प' गतिशील बनाता है और 'राज्ञी' इस गतिशीलता से अपने जीवन को दीप्त बनाता है। एवं ऋषि का नाम 'सार्प राज्ञी' हो गया है।

भावार्थ—जिज्ञासु को ही प्रभु का ज्ञान होता है।

ज्ञान का प्रकाश

३ २ १ ३ २उ ३ १ २ ३ २
अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
२उ ३ १र २र
व्यख्यनमहिषो दिवम् ॥५॥६३१॥

[**अस्य**]=इस गतमंत्र के पृश्नि के [**अन्तः**]= अन्तःकरण में [**रोचना**]=उस प्रभु की दीप्ति [**चरति**] =विचरती है। गतमंत्र में 'गतिशीलता, जिज्ञासा, पांचों ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाना, वेदमाता को प्राप्त करना' इन उपायों द्वारा प्रभुदर्शन का उल्लेख हुवा है। जिस समय इस सार्प राज्ञी के हृदय में उस प्रभु का प्रकाश होता है। तब यह रोचना=प्रभु की दीप्ति [**प्राणात्**]=प्राणशक्ति के द्वारा—शरीर में बल संचार के द्वारा—[**अपानती**] =सब दोषों को दूर करने वाली होती है। शरीर के मल दूर होकर नीरोगता प्राप्त होती है। इस नीरोगता के अनुभव से इस की प्रभु-भक्ति की भावना और प्रबल होती है और [**महिषः**]= (मह पूजायाम्) प्रभु की पूजा करने वाला [**दिवम्**]=उस प्रकाशमय प्रभु को [**व्यख्यत्**]= लोकों के अन्दर प्रकाशित करता है। अर्थात् यह उस प्रभु का प्रवचन करता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त श्रोताओं के सामने प्रभु-महिमा का व्याख्यान करता है।

निरन्तर जप

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
धीयते । प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥६॥६३२॥

इस प्रभु भक्त के हृदय में [**त्रिशंद् धाम**]= तीसों घड़ी (अत्यन्त संयोग में यहां द्वितीया है) वे प्रभु [**विराजति**]=शोभायमान होते हैं। यह सदा प्रभु का स्मरण करता है—इसका हृदय प्रभु का निवासस्थान बन जाता है। और [**वाक्**]=इसकी वाणी [**पतंगाय**]=(पतन् गच्छति) ऊपर-नीचे सब जगहों पर व्यापक उस प्रभु के लिए [**धीयते**] =धारण की जाती है। दूसरे शब्दों में यह सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते सदा उस प्रभु का स्मरण करता है। 'तज्जपः, तदर्थभावनम्'=उस प्रभु का जप इसके श्वास-प्रश्वासों के साथ सदा चलता है। इस जप के चलने से [**प्रतिवस्तोः**]= प्रतिदिन (वस्तोः=दिव) [**अहं**]=निश्चय से [**द्युभिः**]=इसका जीवन प्रकाशों से मुक्त होता है। वस्तुतः यह पृश्नि (१) सदा उस प्रभु को हृदय में धारण करता है (२) वाणी से सदा उसका जप करता है और परिणामतः (३) उसका हृदय सदा प्रकाशमय रहता है।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण करें, ताकि सदा प्रकाशमय रहें।

कामक्रोधादि का विलय

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
१ २ ३ १ २
सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥६३३॥

प्रतिदिन प्रभु के स्मरण के द्वारा जो भी व्यक्ति अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता है वही तो वस्तुतः 'प्रस्कण्व'=मेधावी है। यह धीमे-धीमे कण-कण करके अपनी ज्ञान की ज्योति को बढ़ाने वाला 'काण्व' एक दिन सूर्य की तरह ज्ञान की ज्योति से चमकने लगता है। इस [**सूराय**]= सूर्य की तरह चमकने वाले के लिये (अहम् इत् हि पितुः परि मेधाम् ऋतस्य जगृभ)। अहं सूर्य इव अननि=मैं उस परम पिता के ध्यान से उस प्रभु से सत्य ज्ञान को प्राप्त करने वाला बना हूं और

सूर्य की तरह हो गया हूं। तथा [**विश्वचक्षसे**]=केवल अपने को न देखकर सारे संसार को देखने वाले के लिए [**त्ये**]=वे [**तायवः**]=(नि ३. २४. में तायु=चोर) चोर—चोर जैसे सम्पत्ति का अपहरण करने वाले होते हैं इसी प्रकार अध्यात्म संपत्तिका उपक्षय (तसु=उपक्षये) करने वाली आसुरवृत्तियां इस प्रकार [**अपयन्ति**]=दूर व नष्ट हो जाती हैं (अप=away) [**यथा**]=जैसे [**अक्तुभिः**]=रात के समय चमकने वाले [**नक्षत्रा**] नक्षत्र। रात्रि के समय आकाश में नक्षत्र खूब चमकते हैं, इसी प्रकार मानव मस्तिष्क में भी अज्ञानान्धकार के होने पर आसुरवृत्ति रूपी नक्षत्र चमका करते हैं। परन्तु ज्यों ही वहां ज्ञानसूर्य का उदय होता है तो, आकाश में सूर्योदय होने पर नक्षत्रों के समान, ये आसुरवृत्तियां भी विलीन हो जाती हैं। मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है—वह देव बन जाता है। अपना ही ध्यान न करके वह विश्व का ध्यान करने वाला 'विश्वचक्षस्' बन जाता है। काम 'प्रेम' बन जाता है और क्रोध का स्थान 'करुणा' ले लेती है। यही 'प्रस्कण्व' =मेधावी बनना है।

भावार्थ—मेरे मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञानका उदय हो—ताकि काम-क्रोध आदि तारों की चमक शान्त हो जाय।

ज्ञान का प्रसार

१२ ३२३ २३२३ २३१२
अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु।
१२ ३१२
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥८॥६३४॥

यह प्रस्कण्व स्वयं ज्ञान को प्राप्त करके उस ज्ञान का प्रकाश औरों तक पहुंचाता है। परमात्मा के संदेश को औरों को सुनाना ही इसका कार्य हो जाता है। इसका जीवन व इसकी वाणियां औरों को प्रभु का प्रकाश प्राप्त कराती हैं। [**अस्य**]=इस मंत्र के ऋषि प्रस्कण्व की [**केतवः**]=(कित निवासे रोगापनयन च) उत्तम निवास की कारण भूत तथा रोगों को दूर करने वाली [**रश्मयः**]=ज्ञान की रश्मियां—किरणें—[**जनां अनु**]=लोगों का लक्ष्य करके [**विअदृश्रन्**]=सब चीज़ों को यथावत् दिखलाती हैं। अर्थात् प्रस्कण्व वेद में उपदिष्ट परमात्मा से दिये गये ज्ञान को लोगों के अन्दर इस प्रकार प्रचारित करता है कि लोगों का निवास-रहने का ढंग—अधिक और अधिक अच्छा होता जाय तथा चीज़ों के यथावत् ज्ञान से उनका यथायोग करते हुए—उनके अतियोग व अयोग से बचते हुए—वे रोगों के शिकार न हों और परस्पर भी उनका व्यवहार ऐसा हो कि जैसा एक उत्तम नागरिक का होना चाहिए।

वस्तुतः इस कण्व से दिये गये ज्ञान इस प्रकार के होते हैं [**यथा**]=जैसे कि [**भ्राजन्तः**]=दीप्त होती हुई [**अग्नयः**]=अग्नियां। दीप्त अग्नि जैसे सब मलों का विध्वंस कर देती हैं इसी प्रकार इस प्रस्कण्व से प्रसारित ज्ञान की रश्मियां लोगों के मनों की मलिनताओं को नष्ट कर उन्हें पवित्रमनस्क बना देती हैं। वह ज्ञान का प्रचार ही क्या है जोकि हृदयान्धकार को नष्ट न करे।

भावार्थ—हम स्वयं प्रस्कण्व=प्रकृष्ट मेधावी बनकर ज्ञानरश्मियों को इस माधुर्य से फैलायें कि (१) लोगों का निवास उत्तम हो (२) उनके रोग दूर हों (३) उनके मनों की मलिनतायें ऐसे भस्म हो जायं जैसे कि चमकती अग्नि में कूड़ा-करकट भस्म हो जाता है।

प्रचारक व प्रचार का (ढंग) प्रकार

३१२३१२ ३१२
तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
२३१२ ३२
विश्वमाभासि रोचनम् ॥९॥६३५॥

प्रभु इस कण्व से कहते हैं कि तू सूर्य तो बना है। अब ऐ [**सूर्य**]=ज्ञान की दीप्ति से चमकने वाले ? तूने यह ध्यान करना कि तू (१) [**तरणिः-असि**]=काम-क्रोधादि को तैर जाने वाला है। प्रचार-कार्य में—प्राजापत्य यज्ञ में—सैकड़ों प्रकार

के लोगों से तेरा वास्ता पड़ेगा। कोई कुछ कहेगा और कोई कुछ। तूने क्रोध में नहीं आना (२) [**विश्वदर्शतः**]=तूने सब का देखने वाला बनना, कभी अपने में ही केन्द्रित न हो जाना। मोक्ष को भी अकेले पाने के लोभ का संवरण ही करना। तेरा आदर्श यह हो कि 'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनां आर्तिनाशनम्'—राज्य स्वर्ग व मोक्ष को पाने की बजाय दुःखतप्त प्राणियों का आर्तिनाशन ही ठीक है। लोकहित में ही आनन्द लेने वाला तूने बनना। (३) [**ज्योतिःकृद्असि**]=लोकहित के दृष्टिकोण से ही तूने ज्ञान की ज्योति को चारों ओर फैलाना। अज्ञानग्रस्त व्यक्ति ही सब प्रकार के कष्टों के भाजन होते हैं। 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्'=अविद्या ही सब कष्टों की जननी है। सो इस अविद्या के नाश के लिए ही तूने सदा यत्नशील होना है (४) पर इस बात को न भूलना कि तू [**विश्वम्**]=संपूर्ण संसार को—सभी लोगों को—[**रोचनम्**]=बड़े रुचिकर ढंग से, किसी भी प्रकार की कड़वाहट के बिना—बड़ी मधुरता से [**आभासि**]=दीप्त करता है। 'अहिंसया च भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता' इन शब्दों में मनु कहते हैं कि धर्म के उपदेश में बड़ी मधुर व श्लक्ष्ण (smooth) वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए। कटुता से कल्याण का अनुशासन नहीं होता।

भावार्थ—ज्ञान के प्रचार में मधुर वाणी का ही प्रयोग करना है।

प्रभु के दर्शन के लिए उपायत्रयी

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि
१ २ ३ २उ ३ ३क २र ३ २
मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे
॥१०॥६३६॥

ऐ प्रस्कण्व तू (१) [**देवानां विशः**]=देव प्रजाओं की [**प्रत्यङ्**]=ओर जाता हुवा [**उदेषि**]=उदय को प्राप्त होता है—अपने जीवन को उन्नत करता है। मनुष्य को यही तो चाहिए कि वह प्रतिदिन दिव्यगुणों वाले लोगों को अपना लक्ष्य बनाकर अपने जीवन को भी अधिकाधिक दिव्य बनाने का प्रयत्न करे। दैवी संपत्ति का अपने में अवतारण ही मनुष्य का चरम उद्देश्य है। (२) ऐ प्रस्कण्व तू [**मानुषान्**]=जो मनुष्य हैं—humane—दयालु हैं—जिनमें क्रूर राक्षसी वृत्ति नहीं है उनकी [**प्रत्यङ्**]=ओर जाता हुवा तू [**उदेषि**]=अपने जीवन को उन्नत करता है। 'दया वह गुण है जो मनुष्य का मनुष्य बनाता है। यही गुण मनुष्य को परमेश्वर के समीप प्राप्त कराता है। (३) ऐ प्रस्कण्व तू अपने जीवन को दिव्य तथा दयालु बना कर [**विश्वं**]=संसार के सभी प्राणियों के [**प्रत्यङ्**]=प्रति जाने वाला बना। अपने ही सुख में केन्द्रित हो जाना तुझे शोभा नहीं देता। सभी के दुःखों को दूर करने के लिए तुझे सचेष्ट होना चाहिए। यही चीज़ तुझे [**स्वर्दृशे**]=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति-प्रभु—के दर्शन के लिए योग्य बनायेगी।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन उसी को होता है जो कि (१) अपने अन्दर दिव्यता को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हो (२) जो दयालु बने तथा (३) मानवहित के लिए सदा प्रयत्नशील हो।

कौन सी आंख से प्रभु दिखता है

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
१ ३ ३ १ २
त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥६३७॥

प्रभु प्रस्कण्व से कहते हैं कि :—ऐ [**पावक**]=अपने जीवन को पवित्र करने वाले, [**वरुण**]=अपने को व्रतों के बन्धनों में बांधने वाले (पाशी) और इस प्रकार अपने को श्रेष्ठ बनाने वाले प्रस्कण्व! [**त्व**]=तू [**येन**]=जिस [**चक्षसा**]

=दृष्टि से [**जनां अनुपश्यसि**] =मनुष्यों के हित का ध्यान करता है (looks after=अनुपश्यसि), उसी दृष्टि से तू [**भुरण्यंतम्**] =सभी के भरण करने वाले उस प्रभु को [पश्यसि] =देख पाता है। जिस दृष्टि से तू लोकों के हित का ध्यान करता है वही दृष्टि तुझे प्रभु दर्शन के योग्य बनाती है। 'अनु'='पीछे' यह शब्द स्पष्ट कर रहा है कि पहले 'लोकहित' और पीछे 'प्रभुदर्शन।' यदि मनुष्य लोकहित में प्रवृत्त नहीं होता तो वह प्रभुदर्शन भी नहीं कर पाता।

इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह प्रभु को 'भुरण्यन्तं'=पालन करने वाले के रूप में देखता है और अनुभव करता है कि वस्तुतः भरण तो सभी का प्रभु ही कर रहे हैं। मैं तो बीच में निमित्तमात्र बनता हूं। यह भी तो मेरा महान् भाग्य है कि मैं प्रभु के कार्य का निमित्त बन पाता हूं। इस निमित्त बन सकने के लिये आवश्यक है कि (१) मैं पावक बनूं—अपने जीवन को पवित्र बनाऊं। और (२) वरुण बनूं=व्रतों के बन्धनों में अपने को बाँधकर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाऊं। वरुण 'प्रचेताः' है—प्रकृष्ट ज्ञान वाला बनकर ही तो मैं वरुण बनूंगा। और तब निष्काम भाव से लोकहित में प्रवृत्त हुवा-हुवा प्रभुदर्शन कर पाऊंगा।

भावार्थ—लोकहित का ध्यान करने वाली दृष्टि ही प्रभु का दर्शन कराती है।

सबके हित को देखने वाला

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उद् द्यामेषि रजः पृथ्वहा मिमानो
३ १ २ २ ३ १ २
अक्तुभिः । पश्यञ्जन्मानि सूर्य
॥१२॥६३८॥

प्रस्कण्व अपने को ऊंचे से ऊंचा ज्ञानी बनाने का प्रयत्न करता है। वह ज्ञान से सूर्य की तरह चमकने लगता है और ज्ञान को प्राप्त करके सूर्य की तरह निरन्तर सरणशील, क्रियाशील भी तो बनता है। जैसे यह सूर्य द्युलोक में उदित होता है उसी प्रकार ऐ प्रस्कण्व! तू भी (१) [**द्याम् उत् एषि**] =इस मस्तिष्क रूप द्युलोक में उदय को प्राप्त होता है—अर्थात् तू अपने ज्ञान को अधिक और अधिक बढ़ाता चलता है। और इस ज्ञान विस्तार के परिणाम रूप ही तू (२) [**पृथुरजः**] =इस विस्तृत हृदयान्तरिक्ष में उदित होता है। अर्थात् तू अपने हृदय को विशाल बनाता है। तेरा मस्तिष्क यदि ज्ञान के प्रकाश से दीप्त है तो तेरा हृदय उदारता के कारण विशाल है। (३) तू [**अक्तुभिः**] =ज्ञान की रश्मियों के द्वारा अपने जीवन के [**अहा**] =दिनों को [**मिमानः**] =बड़ा उत्तम बनाने वाला होता है। 'सुदिनत्वमाह्नम्'='मुझे दिनों का शोभनत्व प्राप्त हो' यह प्रार्थना तेरे जीवन में क्रियात्मक रूप धारण करती है।

एवं, मस्तिष्क को दीप्त, हृदय को विशाल और प्रकाशमयता से दिनों को उत्तम बनाता हुवा तू [**जन्मानि**] =जन्म धारण करने वाले सब लोकों को [**पश्यन्**] =देखने वाला होता है—उन सबके हित का भी ध्यान करता है। वास्तविकता तो यह है कि अपने जीवन को उन्नत करने के बाद तुझे अपने लिये तो अब कुछ करना ही नहीं। तेरी तो सब क्रिया अब लोकहित के लिये ही है। जैसे सूर्य अपने लिये थोड़ा ही चमकता है। वह तो लोगों को प्रकाश देने के लिये अपने मार्ग पर निरन्तर चला चल रहा है इसी प्रकार तू भी तो लोकहित के लिये क्रियाशील हो रहा है—और इस प्रकार तू सचमुच ही सूर्य है।

भावार्थ—मस्तिष्क को उज्ज्वल, हृदय को विशाल व दिनों को शुभ बनाता हुवा मैं लोकहित में प्रवृत्त रहूं।

सात घोड़ों को जोतना

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३क २र
अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्र्यः ।
१ २ ३ १ २
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥१३॥६३९॥

अपने मस्तिष्क को ज्ञान ज्योति से उज्ज्वल करने वाला यह [**सूरः**]=विद्वान् [**रथस्य**]=शरीररूप रथ के [**नप्त्र्यः**]=न गिरने देने वाले—न पतन की ओर ले जाने वाले—और [**शुन्ध्युवः**]=शोधन करने वाले [**सप्त**]=सात अश्वों को [**अयुक्त**]=जोड़ता है। 'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार ५ ज्ञानेन्द्रियां मन और बुद्धि ये सात घोड़े हैं जो इस शरीररूप रथ को आगे और आगे ले चलते हैं। वश में किये हुए ये पतन के कारण नहीं बनते। अवशीभूत ही ये पतन की ओर ले जाते हैं। इनके संयत होने पर मनुष्य दोषों को प्राप्त नहीं होता। उसका जीवन शुद्ध बना रहता है। 'ये पतन के हेतु न हों और हमारे जीवन को शुद्ध बनाने वाले हों' इसी उद्देश्य से [**सूरः**]=विद्वान् समझदार व्यक्ति इन्हें उस प्रभु में लगाने का प्रयत्न करता है। [**ताभिः**]=इन [**स्व युक्तिभिः**]=(स्व=आत्मा) आत्मा में इन इन्द्रियों को लगाने की प्रक्रिया से यह समझदार (प्रस्कण्व) व्यक्ति [**याति**]=उस प्रभु को प्राप्त करता है। प्रभु को प्राप्त करने का और मार्ग ही क्या हो सकता है—सिवाय इसके कि हम इन इन्द्रियों मन और बुद्धि को उस आत्मा में लगाने का प्रयत्न करें! आत्मा में इन्हें लगाने पर ही ये पतन के कारण भी नहीं होते और हमारे जीवन को शुद्ध बनाने वाले होते हैं।

भावार्थ—मैं इन्द्रियों मन और बुद्धि को आत्मा में समाविष्ट करने का प्रयत्न करूं।

प्रभु मन्दिर में पहुंचना

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।
३ १ २
शोचिष्केशं विचक्षण ॥१४॥६४०॥

वह व्यक्ति, जो कि इन्द्रियों मन और बुद्धि को आत्मा में संयुक्त करने का प्रयत्न करता है, वह पतन की ओर न जाकर शुद्ध बनता हुवा दिव्यगुणों से युक्त होकर 'देव' बनता है। विशेष दृष्टिकोण वाला होने से 'विचक्षण' होता है, लोकहित के लिये निष्कामभाव से क्रियाशील होने के कारण 'सूर्य' होता है। ज्ञानरश्मि की दीप्ति के कारण यह 'शोचिष्केश' कहलाता है।

मन्त्र में कहते हैं कि ऐ देव, सूर्य, विचक्षण? [**शोचिष्केशं**]=दीप्त ज्ञानरश्मि वाले [**त्वा**]=तुझको [**रथे**]=इस शरीररूप रथ में [**सप्त हरितः**]=ये सात ज्ञानेन्द्रियां मन व बुद्धि रूप घोड़े [**वहन्ति**]=उस प्रभु की ओर ले चलते हैं। यह जीव अपने अन्दर उस प्रभु की प्रभा को देखता है। उसे अपने शरीररूप रथ का नियन्ता वह प्रभु ही प्रतीत होता है। इन्द्रियरूप घोड़े 'हरितः' हैं—हरण करने वाले तो हैं ही। इनको हम वश में करने का प्रयत्न करते हैं तो ये हमें उस प्रभु को प्राप्त कराते हैं। अवशीभूत होने पर हमें विषयों में जा फंसाते हैं। 'प्रस्कण्व' को तो ये प्रभु को ही प्राप्त कराते हैं। इस प्रस्कण्व की वृत्ति दैवी होती है न कि दानवी। इसका दृष्टिकोण विशेष ही होता है—संसार के विषयों को ये अपना लक्ष्य नहीं बनाता (विचक्षण)। निर्लेपभाव से सूर्य की तरह क्रियाशील बना रहता है। 'इसके ज्ञान पर कभी काम का आवरण नहीं आता' सो यह 'शोचिष्केश' कहलाता है।

भावार्थ—मेरे सात इन्द्रियरूप घोड़े मुझे प्रभु को प्राप्त करायें।

सामवेद-संहितायां पूर्वाचिकः समाप्तः

अथ महानम्न्यार्चिकः

ताण्ड्य महाब्राह्मण के त्रयोदश अध्याय के चतुर्थ खण्ड में यह आख्यायिका है :—[**इन्द्रः प्रजापतिमुपधावद् वृत्रं हनानीति**]=इन्द्र प्रजापति के पास गया कि 'ऐसा करो कि वृत्र को मार सकूं।' तस्मा एतच्छन्दोभ्यः इन्द्रियं वीर्यं निर्माय प्रायच्छद् एतेन शक्नुहीति=प्रजापति ने उस इन्द्र के लिये छन्दों में से इस शक्तिप्रद मंत्र का निर्माण करके इन्द्र को दिया कि इससे तू वृत्र को मारने में समर्थ हो। [**तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्**]=यही शक्वरियों का शक्वरीत्व है। [**सीमानमभिनत् तत् सिमा**]=इनसे इन्द्र ने वृत्र की शक्ति को नष्ट कर दिया सो ये सिमा कहलाये। [**मह्न्य मकरोत् तन्मह्न्या**]= खूब महान् कार्य हो गया ऐसा कहने के कारण इनका नाम 'मह्न्या' पड़ा। [**महान् घोष आसीत् तन्महानाम्न्यः**]=चारों ओर महान् घोष हुवा, प्रभु स्मरण किया गया सो इनका नाम 'महानाम्न्यः' पड़ा।

इन मंत्रों का ऋषि प्रजापति है—इन्द्र देवता है।

मार्ग का ज्ञान व मार्ग पर चलने के लिये शक्ति

३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
विदा मघवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः।
१ २ ३ १ २
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो
॥१॥६४१॥

इन्द्र प्रजापति से कहता है—ऐ [**मघवन् !**]= सर्वैश्वर्यशालिन् प्रजापते ! आप पापशून्य हैं (मा+अघ+मघ) अपापविद्ध है। [**विदा**]= चूंकि आप सर्वज्ञ हैं। ज्ञान के साथ ही अपापविद्धता का सम्बन्ध है। [**विदा गातुम्**]=आप मुझे भी मार्ग का (गा=गतौ) ज्ञान दीजिये। आपकी कृपा से मुझे सत्यासत्य व कर्तव्याकर्तव्य का विवेक प्राप्त हो। [**दिशः अनुशंसिषः**]=इस जीवनयात्रा में कब मुझे किस दिशा में चलना है इसका आप अनुशंसन करिये। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास इन चार मंजिलों के कर्तव्यों का आप मुझे क्रमशः उपदेश दीजिये।

इस मार्ग ज्ञान के साथ मुझे शक्ति भी दीजिये कि मैं इस मार्ग पर चल सकूं। ऐ [**पुरुवसो !**]= पालन व पूरण के द्वारा उत्तम निवास कराने वाले प्रभो ! आप [पूर्वीणां शचीनां पते]=पालक व पूरक शक्तियों के पति हैं। मुझे भी आप अपने ही समान [शिक्षा]=शक्त बनाने की इच्छा करिये। मैं भी आपके ही समान शक्त बन जाऊं। मेरी भो शक्ति संसार में सदा पालन व पूरण करने वाली हो।

एवं प्रजापति से इन्द्र ने यहां दो बातें चाही हैं। पहली तो यह कि उसे मार्ग का ज्ञान प्राप्त हो। और दूसरी यह कि उसमें उस मार्ग पर चलने की शक्ति हो। 'इन्द्रियों को निर्बल करके वश में करना' यह विचार वेदानुकूल नहीं है। इन्द्रियां तो हमारी शक्तिशाली हों पर हमारा उन पर नियंत्रण हो। यह तो ठीक है कि कमज़ोर घोड़े गलत मार्ग पर न जायेंगे पर ठीक मार्ग पर भी तो वे न चलेंगे। एवं यही ठीक है कि शक्तिशाली घोड़ों को ठीक मार्ग पर ले चलने की हमारी शक्ति हो। सशक्त घोड़ों के हम सशक्ततर सवार हों।

भावार्थ—मार्ग के ज्ञान के लिये हमारी ज्ञानेन्द्रियां ठीक हों और ठीक मार्ग पर चलने के लिये हमारी कर्मेन्द्रियां सशक्त हों।

सूर्य किरणों के समान

३ २उ ३ १ २ ३ २ २
आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वा३ऽर्न्नांशुः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
प्रचेतन प्रचेतये न्द्रद्युम्नाय न इषे
॥२॥६४२॥

प्रजापति इन्द्र से—[**अभिष्टि**]=शब्द attack=आक्रमण का वाचक है। आक्रमण मार्ग का भी होता है। प्रजापति इन्द्र से कहते हैं कि तू अपने जीवन यात्रा की चारों मंजिलों में 'पठन, पालन, पाठन व प्रचार' के कदमों को ठीक रखता चला तो [**'आभिः त्वम् अभिष्टिभिः'**]=तू इन मार्ग के आक्रमणों से [**स्वः अंशुः न**]=सूर्य किरण के समान चमकने वाला बनेगा। इतनी अधिक तेरी शोभा होगी। सो [**प्रचेतन ?**]=ऐ प्रकृष्ट चेतना वाले जीव तू [प्रचेतय]=चेत, होश में आ। मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर उन्मत्त न बना रह। तेरा भी जीवन अर्ध—चेतना वाले पशुओं की तरह 'आहार निद्रा भय मैथुन' में ही समाप्त न हो जाय। तू 'इन्द्र' है—मैंने तुझे इद्रियों का मालिक बनाया है तूने इद्रियों का दास नहीं बनना। [**द्युम्नाय**[= तुझे संसार में ज्योति को प्राप्त करने के लिए भेजा गया है [न इषे]=केवल अन्न के लिए नहीं भेजा गया। तेरी दुनियाँ खाने-पीने की ही दुनियाँ न बनी रहे। शरीर-यात्रा के लिये भोजन को करते हुए तूने जीवन का लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति को ही समझना।

'न इषे' का सन्धि-छेद 'नः इषे' भी हो सकता है। तब भावना यह होगी कि तुझे हमने [**नः**]= हमारी प्रजा को [**इषे**]=उत्तम प्रेरणा देने के लिये भेजा है। ज्ञान को प्राप्त करके तूने अपने जीवन से औरों को भी उत्तम प्रेरणा देनी है।

भावार्थ—हम खाने-पीने की दुनियाँ में ही न रमे रह जाँय। ज्ञान को प्राप्त करें।

शक्ति व दान

३ २उ ३ २ ३ १र २र
एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जस
१ २ ३ २ ३ १ २
आ याहि पिब मत्स्व ॥३॥६४३॥

ऊपर के मन्त्र में प्रभु ने जीव से कहा था कि [**'द्युम्नाय न इषे'**]=कि तुझे ज्ञान दीप्ति के लिये भेजा गया है न कि खाने-पीने के लिये। अब प्रभु कहते हैं कि [**एवाहि**]=निश्चय से इसी मार्ग पर चलने से ही तू [**शक्रः**]=शक्तिशाली बनेगा। खाने-पीने को जीवन का लक्ष्य बना देने पर तो तू भोगों में फंस जीर्ण शक्ति हो जायेगा। यह ज्ञान का मार्ग ही तुझे [राये]=उस धन के लिये ले चलेगा जो कि सदा लोकहित के लिये दिया जाता है। (शतहस्तसमाहर, सहस्रहस्त संकिर)। यही मार्ग [**वाजाय**[=तुझे शक्ति संपन्न बनाने वाला होगा। उस दिन तू सचमुच वज्र तुल्य देह वाला होकर 'वज्रिवः' इस संबोधन के योग्य होगा।

प्रभु इस वज्र तुल्य देह वाले जीव से कहते हैं कि तू वज्रिन् और [**शविष्ठ**]=अत्यन्त शक्तिशाली बनकर ही [**ऋञ्जसे**]=मेरी आराधना करता है। [**मंहिष्ठ वज्रिन् ऋञ्जसे**]=तू खूब दाता व वज्र तुल्य बनकर ही मुझे अलंकृत करता है—तू मेरा सच्चा पुत्र होता है। एवं प्रभु की आराधना 'शक्तिशाली बन कर दानशील' बनने में ही है। ऐसा बन सकने के लिए प्रभु जीव से कहते हैं कि—[आयाहि]=आ, इधर-उधर मत भटक। नाना प्रकार की वासनाओं में भटकने की बजाय तू अपनी बुद्धि को समाहित कर। इस प्रकार तू अपने में शक्ति का पान कर (पिब) और इस शक्ति को अपने अन्दर ही खपाकर तू [**मत्स्व**]=आनन्द का लाभ कर। असमाहित पुरुष भटकता है—विषयों का ध्यान करता है; परिणामतः शक्ति को भोगों में अपव्ययित कर बैठता है और अपने अन्दर एक ग्लानि (depression) का अनुभव करता है। उसका धन दान के स्थान में भोगों में लगता है। ऐसा व्यक्ति प्रभु का उपासक न होकर भोगवाद का शिकार हो जाता है।

भावार्थ—हम शक्तिशाली व उत्तम दाता बन कर प्रभु के उपासक बनें।

वीर्यवान् ही दाता बनता है

३ २ ३२ ३ २३ २ ३ १ २ ३ २ ३२ ३
विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ
१२ १२ ३ २३ १र २र ३
अनु । मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः
१ २
शूराणाम् ॥४॥६४४॥

[**राये**]=उस ऐश्वर्य के लिए जिसको कि हम उदार मनोवृत्ति से लोकहित के लिए दे डालते हैं (रा--दाने [**सुवीर्य**]=उत्तम शक्ति को [विदा]=प्राप्त कर। इस प्रभु वाक्य को सुनकर जीव प्रश्न करता है कि इस शक्ति को प्राप्त कैसे करूं? प्रभु उत्तर देते हैं कि तू [**वशां अनु**]=संयमी जितेन्द्रिय वशी लोगों के पीछे चलता हुवा [**वाजानां पतिः भवः**]=शक्तियों का पति बन। जितेन्द्रियता ही शक्तिसंपन्न बनने का एक मात्र मार्ग है। यह शक्तिसंपन्न पुरुष ही अपने शरीर को वज्रतुल्य बनाकर 'वज्रिन्' हुवा है और उदार मन वाला बन कर 'मंहिष्ठ' कहलाया है। यह वज्रिन् मंहिष्ठ ही [**ऋञ्जसे**]=प्रभु की सच्ची आराधना करता है [यः]=जो कि [**शूराणाम् शविष्ठः**]=शूरों में भी शूरतम है। वस्तुतः बिना शूरता के दानशूरता भी हमारे में आती नहीं। निर्बल व्यक्ति कृपण मनोवृत्ति का बन जाता है। वह वाणिज्य के शब्दों में सोचने लगता है-- और धन का उपासक सा बन जाता है। वह धन का त्याग करके प्रभु का आराधक बने यह उसके वश की बात नहीं रहती।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बन शक्ति का संपादन करें।

दाता ही चमकता है

१र २र ३ १ २ ३ २उ ३ २
यो मंहिष्ठो मघोनाम् अंशुर्न शोचिः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
चिकित्वो अभि नो नयेन्द्रो विदे तमु
स्तुहि ॥५॥६४५॥

[**यः**]=जो [**मघोनाम्**]=ऐश्वर्यशालियों में [**मंहिष्ठः**]=सर्वाधिकदान देने वाला है वही [**अंशुः न**]=सूर्य किरणों के समान [**शोचिः**]=चमक वाला होता है। धन स्वयं चमकीला है—इसकी चमक से मनुष्य मुग्ध हो जाता है और इसे जुटाने में जुट जाता है। पर इससे होता क्या है? इसे जुटाकर वह अपनी चमक को मध्यम कर लेता है। उससे सत्य का स्वरूप छिप जाता है। कृपण धनी की क्या संसार में कोई शोभा रहती है? हां, धनी बनकर वह खूब देने वाला बनता है, तो ऐसा बनते ही वह फिर चमकने लगता है। [**'जुहोत प्र च तिष्ठत'**]=दान दो और शोभा पावो। दान के अनुपात में ही तो शोभा बढ़ती है। यह दातृतम बनता है, और सूर्य किरणों के समान चमकने लगता है।

अब यह प्रकृति के पीछे ही भागते रहने को ठीक नहीं समझता और एक ज्ञानी से प्रार्थना करता है कि ऐ [**चिकित्वः**]=ज्ञान संपन्न गुरो? [**नः**] हमें [**अभिनय**]=धर्म के मार्ग की ओर ले चलो। इसकी इस प्रार्थना पर गुरु उसे कहते हैं कि [**इन्द्रः**]=प्रभु ही [**विदे**]=ज्ञानी हैं [**तम् उ स्तुहि**]=उसकी ही स्तुति करो। मुझे भी जितना प्रभु मार्ग दिखायेंगे, मैं भी तो उतना ही तुम्हारा पथप्रदर्शन कर पाऊंगा। अन्त में सभी के मार्ग दर्शक तो वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—हम प्रभु कृपा से उत्तम मार्गदर्शक को पाकर धनों की ममता से ऊपर उठें।

द्वेष से दूर

२ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३
ईशे हि शक्रस् तमूतये हवामहे
१ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३
जेतारमपराजितम् । स नः स्वर्षदति द्विषः
२ ३ १ २ ३ २ ३ २
क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् ॥६॥६४६॥

[**ईशेहि**[=जो निश्चय से अपना ईश होता है—अपनी इन्द्रियों का मालिक होता है वही

[**शक्रः**[=शक्तिशाली बनता है, समर्थ होता है, तथा प्रत्येक कार्य में सफलता का लाभ करता है। ऐसे ही [**जेतारम्**]=सदा काम क्रोधादि शत्रुओं को जीतने वाले तथा [**अपराजितम्**[=कभी भी कामादि से पराजित न होने वाले [**तं**[=उस राजा को [**ऊतये**]=रक्षा के लिये [**हवामहे**]=पुकारते हैं। मंत्र के इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि राजा जितेन्द्रिय होना चाहिये। बिना जितेन्द्रियता के वह राज कार्य में सफल नहीं हो सकता। यदि वह काम-क्रोधादि को नहीं जीत सकता और इनसे अभिभूत हो जाता है तो प्रजा के मनों को भी वह क्या जीतेगा? जितेन्द्रिय कामादि से अपराजित राजा ही उत्तम शासन करता हुआ प्रजाओं का रञ्जन कर पाता है।

[**सः**]=वह राजा [**नः**]=हमें [**द्विषः**]=सब द्वेष भावनाओं से [**अति स्वर्षत्**]=पार ले जाय राजा का मूल कर्त्तव्य यह है कि वह प्रजाओं में प्रेम का संचार करे सब प्रजा वर्ग प्रेम से परस्पर वर्तते हुए एक दूसरे की उन्नति में सहायक हों।

राजा की पूर्ण सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह—

(१) [**क्रतु**]=दृढ़ संकल्प वाला हो। ढिलमिल स्वभाव वाला व्यक्ति शासन में कभी सफल नहीं हो सकता।

(२) [**छन्दः**]=राजा वेद का ज्ञाता हो। ये वेद के छन्द सदा उसे पाप से बचाने वाले हों (छन्दांसिछादनात्)।

(३) [**ऋतम्**]=उसका जीवन ऋत का पालन करने वाला हो। वह सूर्य और चन्द्रमा की तरह अपने जीवन के कार्य क्रम में नियमित गति वाला हो।

(४) [**बृहत्**]=यह बढ़े हुए मन वाला हो। इसका हृदय संकुचित भावनाओं वाला न हो। अन्यथा यह विविध मनोवृत्ति वाली प्रजाओं में सबके साथ पक्षपात शून्य वर्ताव न कर सकेगा।

भावार्थ—राजा स्वयं जितेन्द्रिय हो। प्रजाओं को परस्पर द्वेष की भावना से दूर रखे।

प्रजापति का कर्त्तव्य

२ ३ १२ ३१२ ३ १२३१
इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारम-
२ १ २ ३२३ १२ १ २
पराजितम्। स नः स्वर्षदति द्विषः स नः
३२ ३ १२
स्वर्षदति द्विषः ॥७॥६४७॥

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
पूर्वस्य यत्ते अद्रिवोअंशुर्मदाय। सुम्न आ धेहि
३ १ २ ३ २उ
नो वसो पूर्तिः शविष्ठ शस्यते। वशी हि
३ २ ३ १र २र ३ १ २
शक्रो नूनं तन्नव्यं संन्यसे ॥८॥६४८॥

(१) शत्रुओं का द्रावण करनें वाला, बल युक्त कर्मों को करने वाला ऐश्वर्यशाली राष्ट्र का शासक 'इन्द्र' कहलाता है। इसका प्रथम कर्त्तव्य इन शब्दों में सूचित हुवा है कि [**इन्द्रं**]=राजा को [**धनस्य**]=धन के [**सातये**]=उचित संविभाग के लिए [**हवामहे**]=पुकारते हैं। (We call upon the king to divide the money equally) जिस भी राष्ट्र में धन कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित हो जाता है वह राष्ट्र उसी तरह रोगी हो जाता है जिस प्रकार वह शरीर जिसमें कि रुधिर किसी अंग में इकट्ठा हो जाय। आयकर, अतिरिक्त आयकर, मृत्युकर आदि व्यवस्थाओं से राजा धन को एक स्थान पर केन्द्रित नहीं होने देता।

(२) [**जेतारम्**]=उस राजा को पुकारते हैं जो कि विजयशील है, [**अपराजितम्**]=कभी पराजित नहीं होता। राजा स्वयं तो व्यसनी होना ही न चाहिये वह राष्ट्र के बाह्य शत्रुओं का भी अभिभव कर सके। (वर्तमान में गवर्नमेण्ट गोवा व काश्मीर समस्या को हल कर सकी तो क्या यह अगले चुनाव जीत सकेगी?) प्रजा बिजेता का ही साथ देती है।

(३) [**सः**]=वह राजा [**नः**]=हमें [**द्विषः**]=द्वेष की भावनाओं से [**अति**]=परे [**सु अर्षत्**]=उत्तमता से प्राप्त कराये। राष्ट्र में धर्म व जाति के नाम पर परस्पर घृणा प्रजा के लिए नाशक ही है, राष्ट्र को निर्बल करने वाली है। secular state का अभिप्राय यही है कि वह प्रभु की उपासना के प्रकार विशेष पर बल देने वाली न हो। लोगों की व्यवहार शुद्धि ही उसका ध्येय हो। भारत को छुआ-छूत व ब्राह्मण-अब्राह्मण के झगड़े नें परतन्त्र कर दिया था। इंगलैंड 'church of England' के रूप में समन्वय के हो जाने पर ही दृढ़ शक्ति बन पाया।

(४) [**पूर्वस्य**]=(पूर्व पूरणे) राष्ट्र के अंदर शिक्षा को भरने वाले ऐ [**अद्रिवः**]=ऐ वज्र वाले राजन् [**यत्**]=जो [**ते**]=तेरा [**अंशुः**]=ज्ञान किरण है—ज्ञान का सर्वत्र प्रसारण है यह[**मदाय**]=राष्ट्र के वास्तविक हर्ष का कारण बनता है। राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति अशिक्षित न रह जाय इस बात के लिये राजा ने व्यवस्था करनी ही हैं। जो माता-पिता शिक्षा के योग्य बालकों को शिक्षणालयों में न भेजें वह दण्डनीय हों। 'अद्रिवः' शब्द राजा के हाथ में वज्र देकर यही तो सूचित कर रहा है।

(५) ऐ [**वसो**]=उत्तम ढंग से प्रजा को बसाने वाले राजन् [**नः**]=हम सब को[**सुम्ने**]=सुम्न में[आधेहि]=सर्वथा स्थापित कीजिये। सुम्न शब्द का प्रथम अर्थ है—[**सु**]=उत्तम [**म्ना**]=अभ्यास, उत्तम ज्ञान की प्राप्ति है। दूसरे इसका अर्थ Hymn=स्तोत्र व प्रभुस्तवन है। और तीसरा यह joy happinees आनन्द का वाचक है। राजा को चाहिये उसकी प्रजा ज्ञानयुक्त होकर प्रभु की स्तुति करने वाली बने और इस प्रकार से आनन्द का लाभ करे।

(६) [**शविष्ठ**]=ऐ गतिशील व शक्तिशाली राजन्[पूर्तिः]=प्रजा का पालन व पूरण ही [शस्यते]=तेरा प्रशंसित कर्म है। तूने उत्तम राष्ट्र व्यवस्था के द्वारा प्रजा को पूर्णता की ओर ले चलना है। उनका शरीर स्वस्थ हो, मन निर्द्वेष हो, बुद्धि प्रकाशमय हो।

(७) [**वशी**]=जो स्वयं अपने पर काबू कर प्रजाओं को भी वश में कर सकता है [**हि**]=निश्चय से वही [**शक्रः**]=समर्थ होता है--शासन व्यवस्था चला पाता है। एवं राजा को स्वयं व्यसनों से अवश्य ऊपर उठना चाहिये।

यदि राजा इस प्रकार राष्ट्र का शासन करता हुवा अपने इन कर्त्तव्यों का पालन करता है [**तत्**]=तो वह नूनं (न ऊनं)=पूर्ण तथा नव्यं (नु स्तुतौ) प्रशंसनीय [**संन्यसे**]=प्रभु को पूजा करता है। राजा की सच्ची प्रभु पूजा यहीं है कि वह उपरोक्त राज कर्त्तव्यों में लगा रहे। (o king this is your perfect and praiseworthy worship)

Benevolent and upright

३ १र २र ३ १र २र २ ३
प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्येषु ब्रवावहै। शूरो
२उ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः ॥९॥
६४९॥

परमात्मा तो प्रभु हैं ही। वैदिक साहित्य में राजा भी परमात्मा का प्रतिनिधि होने से प्रभु कहलाता है। 'राजा चतुरों वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्' =राजा को भी चारों वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करना है। प्रभु सदा हृदयस्थ हो उत्तम प्रेरणा के द्वारा मनुष्यों की वासनाओं को नष्ट कर रहे हैं, और राजा भी राष्ट्र में उत्तम व्यवस्था के द्वारा वृत्रों का नाश करता है। राजा को चाहिये कि अश्वपति की तरह वह कह सके कि 'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणीकुतः। सो मन्त्र में कहते हैं कि [**प्रभो**]=ऐ अनन्त प्रभाव संपन्न ईश ? [**जनस्य वृत्रहन्**]=लोकों के वृत्रों (वासनाओं) के विनाशक ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि हम दोनों (पति+पत्नी) [**अर्येषु**]=स्वामियों—जितेन्द्रियों में

[संब्रवाव है] =बोले जाँय, गिनती किये जांय। अर्थात् हम जितेन्द्रिय बनें। शूरः=शूर वीर तो वही है [**यो**]=जो [**गोषु**]=इन्द्रियों पर [**गच्छति**]=आक्रमण करता है (attack=आ+टेक=गतौ, आक्रमण में क्रम=गतौ) वाह्य शत्रुओं की विजय के स्थान में आन्तर शत्रुओं का विजय करने वाला कहीं वीर है। 'इस वीर की परिभाषा क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मंत्र निम्न शब्दों में देता है (१) [**सखा**]=यह सभी के साथ स्नेह करने वाला, सभी के प्रति उत्तम हृदय वाला होता है। Benevolent Benegood-volo to wish) [**सुशेवः**]=उत्तम सुखद कर्मों के करने वाला होता है। (Beneficent, Bene-good facie=to make) (३) [**अद्वयुः**]=इसके जीवन में द्वैध नहीं होता (duplicity)। जो इसके मन में वही वचन में, वही कर्म में। एवं यह सत्य सरल पथ का अनुसरण करता है।

क्या इन तीन विशेषताओं से विशिष्ट जीवन सुन्दरतम नहीं है? किसकी इच्छा न होगी कि इस प्रकार का जीवन बने। इसी से वह अगले मन्त्र में कहता है कि :—

प्रभु व जीव का वार्तालाप

३ २　　　　१　३ १ २　　　३ १ २
एवाह्य ऽ३ऽ३ऽ३व। एवां ह्यग्ने। एवाहीन्द्र।
३ १र २ २र　　३ १र　　२र
एवा हि पूषन्। एवा हि देवाः ॥१०॥६५०॥

ऐ प्रभो? मैं तो [एवा हि एव]=ऐसा ही बनूंगा। सखा हूंगा, सुशेव और अद्वयु। ऐसा ही और ऐसा ही। जीव के ऐसे दृढ़ निश्चय को सुनकर प्रभु भी कहते हैं ऐसा तो मुझे बनना ही चाहिये। लोक में पुत्र पिता से कहता है कि पिता जी मैं तो प्रथम स्थान में आऊंगा, तो पिता यही तो कहते हैं कि ऐसा तो तुझे आना ही चाहिये। इसी प्रकार यहां प्रभु जीव से कहते हैं कि—

मनुष्य जीवन चार भागों में बंटा है। (१) ब्रह्मचर्याश्रम—इसमें जीवन में अग्नि बनना है—आगे बढ़ने वाला व अग्नि के समान तेजस्वी (२) गृहस्थ—यहां भी उसने शतशः प्रलोभनों के होते हुए इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करना है (३) वानप्रस्थ—इसमें उसने गृहस्थ में आ गई थोड़ी-बहुत कमी को परमेश्वर से अपने को गुणित करके दूर करना है। फिर से अपना पोषण करने से यहां वह 'पूषन्' कहलाता है। (४) संन्यास—यहाँ वह सब संगों का त्याग करके अत्यन्त दीप्त होता है, लोगों में प्रकाश देता है, अपना जीवन भी लोकहित के लिये दे डालता है। दीपन द्योतन व दान के कारण वह सचमुच 'देव' बन जाता है।

प्रभु जीव से कहते हैं कि ऐ अग्ने! =यदि तू प्रथमाश्रम में स्थित होने से अग्नि नाम वाला है तो भी तू यही निश्चय कर कि एक ही=ऐसा ही, अर्थात् 'सखा सुद्वव और अद्वयु' बनना है। यदि तू द्वितीयाश्रम में होकर इन्द्र उपाधि वाला हुवा है तो भी [एवा हि इन्द्र]=ऐसा ही वन। तृतीयाश्रम का पूषन् होकर भी [एवाहि]=ऐसा ही तुझे बनना है। और चौथे आश्रम में देव पदवी वाला होकर भी तूने ऐसा बनना। जिस किसी भी आश्रम में होना लक्ष्य तेरा यही हो 'सखा सुशेवो अद्वयुः'। इन्हीं तीन शब्दों का तूने जप करना, इन्हीं का चिन्तन। और इन्हीं को अपने जीवन में अनूदित करने के लिये तेरा सारा प्रयत्न हो।

यहां तीन बार ३ का अंक यह संकेत करता है कि ये तीनों बातें समवेत रूप में ही तेरे अन्दर हों, तीनों ही आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अर्य बनें, शूर हों, सखा सुशेव व अद्वयु बनना हमारा आदर्श हो। हम दृढ़ निश्चय करें कि ऐसा ही बनना है।

स्वामी सत्यव्रती जी महाराज वानप्रस्थी (भजिया मुनि)

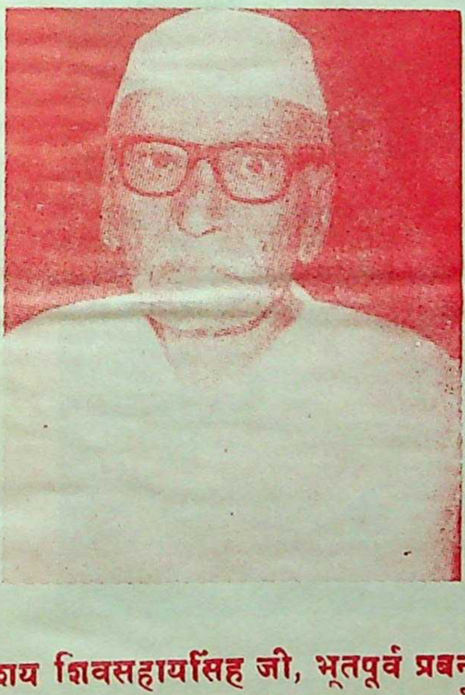

महाशय शिवसहायसिंह जी, भूतपूर्व प्रबन्धक
(आर्यकन्या पाठशाला व उपप्रधान आर्यसमाज
सुजरा, जि० मेरठ (आप श्री जगदीश सिंह वर्मा,
मंत्री आर्यसमाज रामकृष्णपुरम् तथा श्री जगतवीर
सिंह जी के पूज्य पिता हैं)

श्रीमती शकुन्तला देवी पुरी
(धर्मपत्नी श्री हरवंशलाल पुरी प्रधान, आर्यसमाज,
रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली)

महात्मा आनन्द स्वामी जी सरस्वती

श्री ईश्वरचन्द जी, आर्य
51/3 पंजाबी बाग, दिल्ली

जन्म—१९०७] [मृत्यु—१९ अगस्त १९६९

पं० जानदत्त दत्ता, आदर्श मातृ-पितृ भक्त, सरल जीवन, कर्मशील तथा अति श्रद्धालु प्रभुप्रेमी थे। समस्त जीवन समाज सेवा में बिताया। श्री पं० के डी० दत्ता जी आप ही के सुपुत्र हैं।

ओ३म्
पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् । तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥

काशक :-

आर्य समाज रामकृष्णपुरम

नईदिल्ली-२२.

भाष
हरि
सिद्धा